ॐ श्रीपरमात्मने नमः

कल्याण

सदाचार-अङ्क

[बावनवें वर्षका विशेषाङ्क]

(जनवरी १९७८)

कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर

॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥

वर्ष ५२

सदाचार अङ्क
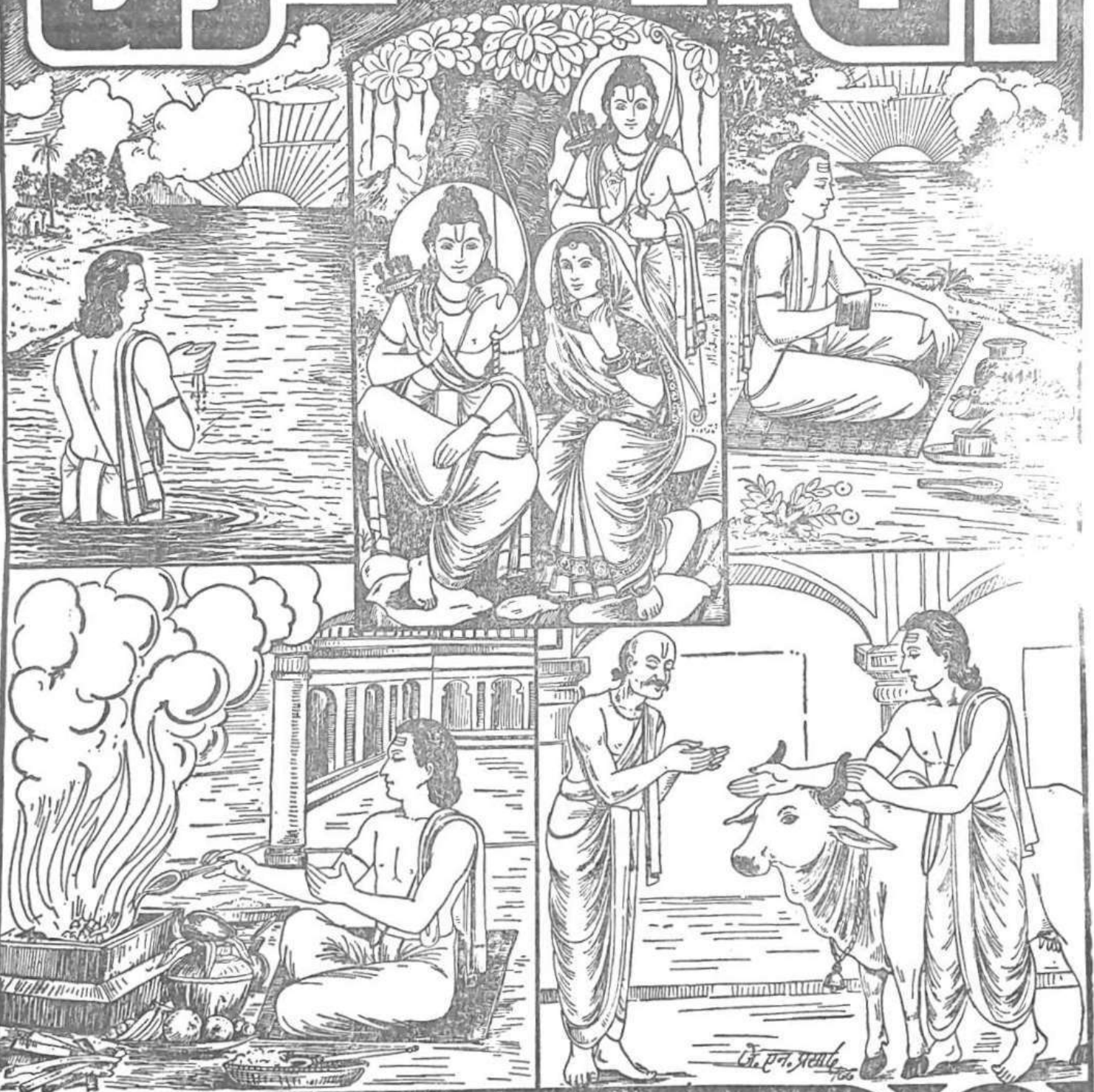
संख्या १

दुर्गति-नाशिनि दुर्गा जय जय, काल-विनाशिनि काली जय जय।
उमा-रमा-ब्रह्माणी जय जय, राधा-सीता-रुक्मिणि जय जय ॥
साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, साम्ब सदाशिव, जय शंकर।
हर हर शंकर दुखहर सुखकर अघ-तम-हर हर हर शंकर ॥
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जय-जय दुर्गा, जय मा तारा। जय गणेश, जय शुभ-आगारा ॥
जयति शिवाशिव जानकिराम। गौरीशंकर सीताराम ॥
जय रघुनन्दन जय सियाराम। ब्रज-गोपी-प्रिय राधेश्याम ॥
रघुपति राघव राजाराम। पतितपावन सीताराम ॥

(संस्करण १,५०,०००)

सदाचाराकाङ्क्षा

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ-कृपालु-कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो ॥
जथालाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
पर-हित-निरत निरंतर, मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ॥
परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर-गुन नहिं दोष कहौंगो ॥
परिहरि देह-जनित चिंता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अबिचल हरि-भगति लहौंगो ॥

—गो० तुलसीदासजी

वार्षिक मूल्य
भारतमें रु० १४.००
विदेशमें रु० २९.२०
(२ पौण्ड)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत्-चित्-आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥

इस अङ्कका मूल्य
भारतमें रु० १४.००
विदेशमें रु० २९.२०
(२ पौण्ड)

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याण
सदाचार अङ्क

श्रीहरिः
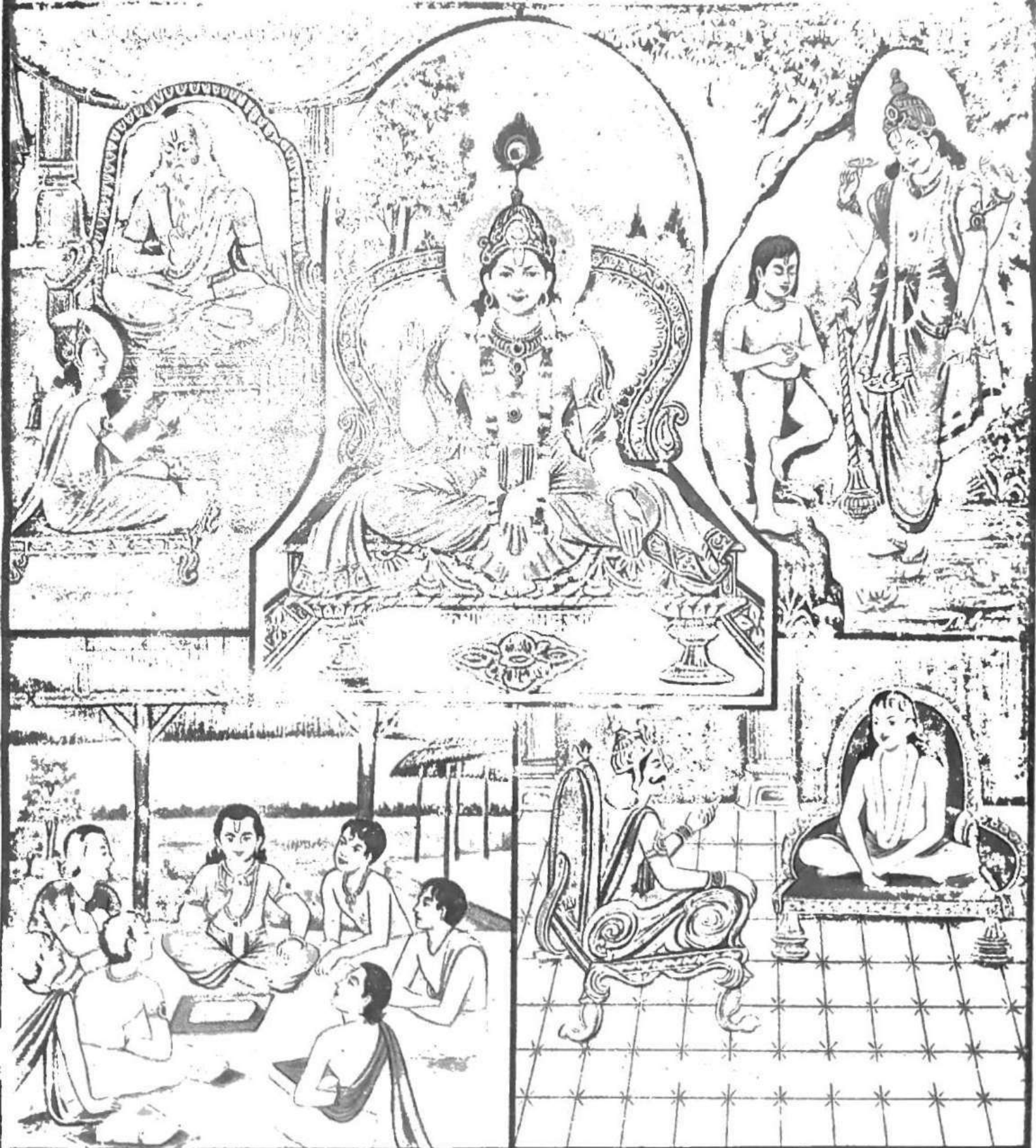
'कल्याण'के प्रेमी पाठकों और ग्राहकोंसे नम्र निवेदन

१–कल्याणका 'सदाचार-अङ्क' पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत है। इसमें ४३२ पृष्ठोंकी पाठ्यसामग्री है। सूची आदिके ८ पृष्ठ अतिरिक्त हैं। यथास्थान कई बहुरंगे चित्र भी दिये गये हैं।

२–जिन सज्जनोंके रुपये मनीआर्डरद्वारा आ चुके हैं, उनको अङ्क जानेके बाद ही शेष ग्राहकोंके नाम वी० पी० जा सकेगी। अतः जिनको ग्राहक न रहना हो, वे कृपा करके मनाहीका कार्ड तुरंत लिखकर भेज दें, जिससे वी० पी० भेजकर 'कल्याण' को व्यर्थ हानि न उठानी पड़े।

३–मनीआर्डर-कूपनमें अथवा वी० पी० भेजनेके लिये लिखे जानेवाले पत्रमें अपना पूरा पता और ग्राहक-संख्या स्पष्टरूपसे अवश्य लिखें। ग्राहक-संख्या स्मरण न रहनेकी स्थितिमें 'पुराना ग्राहक' लिख दें। नया ग्राहक बनना हो तो 'नया ग्राहक' लिखनेकी कृपा करें। मनीआर्डर 'व्यवस्थापक—कल्याण-कार्यालय'के पतेपर भेजें, किसी व्यक्तिके नामसे न भेजें।

४–ग्राहक-संख्या या 'पुराना ग्राहक' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिख जायगा। इससे आपकी सेवामें 'सदाचार-अङ्क' नयी ग्राहक-संख्यासे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्यासे उसकी वी० पी० भी चली जायगी। ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजें और उनके यहाँ पहुँचनेके पहले ही इधरसे वी० पी० भी चली जाय। ऐसी स्थितिमें आपसे प्रार्थना है कि आप वी० पी० लौटायें नहीं, कृपापूर्वक प्रयत्न करके किन्हीं अन्य सज्जनको नया ग्राहक बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिख भेजनेकी भी कृपा करें। आपके इस कृपापूर्ण सहयोगसे आपका 'कल्याण' व्यर्थ डाक-व्ययकी हानिसे बचेगा और आप 'कल्याण'के प्रचारमें सहायक बनेंगे।

५–'सदाचार-अङ्क' सब ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड-पोस्टसे जायगा। हमलोग शीघ्रातिशीघ्र भेजनेकी चेष्टा करेंगे तो भी सभी ग्राहकोंको भेजनेमें लगभग ४-५ सप्ताह तो लग ही सकते हैं। ग्राहक महानुभावोंकी सेवामें विशेषाङ्क ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार ही जायगा। इसलिये यदि कुछ देर हो जाय तो परिस्थिति समझकर कृपालु ग्राहक हमें क्षमा करेंगे। उनसे धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनेकी प्रार्थना है।

६–आपके 'विशेषाङ्क'के लिफाफे (या रैपर)पर आपका जो ग्राहक-नम्बर और पता लिखा गया है, उसे आप खूब सावधानीसे नोट कर लें। रजिस्ट्री या वी० पी० नम्बर भी नोट कर लेना चाहिये और उसके उल्लेखसहित पत्र-व्यवहार करना चाहिये।

७–'कल्याण-व्यवस्था-विभाग' तथा 'व्यवस्थापक गीताप्रेस'के नाम अलग-अलग पत्र, पार्सल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा आदि भेजने चाहिये। पतेकी जगह केवल 'गोरखपुर' ही न लिखकर 'पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)'—इस प्रकार लिखना चाहिये।

८–'कल्याण-सम्पादन-विभाग,' 'साधक-सङ्घ' तथा 'नाम-जप-विभाग'को भेजे जानेवाले पत्रादिपर भी अभिप्रेत विभागका नाम लिखनेके बाद पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)—इस प्रकार पूरा पता लिखना चाहिये।

व्यवस्थापक—कल्याण-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस (गोरखपुर) उ० प्र०

स० अं० क—

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस विश्व-साहित्यके अमूल्य ग्रन्थ-रत्न हैं। दोनों ही ऐसे प्रासादिक एवं आशीर्वादात्मक ग्रन्थ हैं, जिनके पठन-पाठन एवं मननसे मनुष्य लोक-परलोक दोनोंमें अपना कल्याण कर सकता है। इनके स्वाध्यायमें वर्ण, आश्रम, जाति, अवस्था आदिकी कोई बाधा नहीं है। आजके नाना भयसे आक्रान्त, भोग-तमसाच्छन्न समयमें तो इन दिव्य ग्रन्थोंके पाठ और प्रचारकी अत्यधिक आवश्यकता है, अतः धर्मप्राण जनताको इन मङ्गलमय ग्रन्थोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं विचारोंसे अधिकाधिक लाभ पहुँचानेके सदुद्देश्यसे 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ'की स्थापना की गयी है। इसके सदस्योंको—जिनकी संख्या इस समय लगभग चालीस हजार है—श्रीगीताके छः प्रकारके, श्रीरामचरितमानसके तीन प्रकारके एवं उपासना-विभागके अन्तर्गत नित्य इष्टदेवके नामका जप, ध्यान और मूर्तिकी अथवा मानसिक पूजा करनेवाले सदस्योंकी श्रेणीमें यथाक्रम रखा गया है। इन सभीको श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानसके नियमित अध्ययन एवं उपासनाकी सत्प्रेरणा दी जाती है। सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है। इच्छुक सज्जन परिचय-पुस्तिका निःशुल्क मँगाकर पूरी जानकारी प्राप्त करनेकी कृपा करें एवं श्रीगीताजी और श्रीरामचरितमानसके प्रचार-यज्ञमें सम्मिलित होवें।

पत्र-व्यवहारका पता—मन्त्री, श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, गीताभवन, पत्रालय—स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश), जनपद—पौड़ी-गढ़वाल (उ० प्र०)।

साधक-संघ

मानव-जीवनकी सर्वतोमुखी सफलता आत्मविकासपर ही अवलम्बित है। आत्मविकासके लिये सदाचार, सत्यता, सरलता, निष्कपटता, भगवत्परायणता आदि दैवी गुणोंका संग्रह और असत्य, क्रोध, लोभ, द्वेष, हिंसा आदि आसुरी लक्षणोंका त्याग ही एकमात्र श्रेष्ठ उपाय है। मनुष्य-मात्रको इस सत्यसे अवगत करानेके पावन उद्देश्यसे लगभग ३० वर्ष पूर्व साधक-संघकी स्थापना की गयी थी। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक-दैनन्दिनी' एवं एक 'आवेदन-पत्र' भेजा जाता है, जिन्हें सदस्य बननेके इच्छुक भाई-बहनोंको ४५ पैसेके डाक-टिकट या मनीआर्डर अग्रिम भेजकर मँगवा लेना चाहिये। साधक उस दैनन्दिनीमें प्रतिदिन अपने नियम-पालनका विवरण लिखते हैं। सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है। सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको इसका सदस्य बनना चाहिये। विशेष जानकारीके लिये कृपया निःशुल्क नियमावली मँगवाइये। संघसे सम्बन्धित सब प्रकारका पत्रव्यवहार नीचे लिखे पतेपर करना चाहिये।

संयोजक—साधक-संघ, द्वारा—'कल्याण' सम्पादकीय-विभाग, पत्रालय—गीताप्रेस, जनपद—गोरखपुर (उ० प्र०)।

श्रीगीता-रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानस मङ्गलमय, दिव्यतम जीवन-ग्रन्थ हैं। इनमें मानवमात्रको अपनी समस्याओंका समाधान मिल जाता है और जीवनमें अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है। प्रायः सम्पूर्ण विश्वमें इन अमूल्य ग्रन्थोंका समादर है और करोड़ों मनुष्योंने इनके अनुवादोंको भी पढ़कर अवर्णनीय लाभ उठाया है। इन ग्रन्थोंके प्रचारसे लोकमानसको अधिकाधिक उजागर करनेकी दृष्टिसे श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसकी परीक्षाओंका प्रबन्ध किया गया है। दोनों ग्रन्थोंकी परीक्षाओंमें बैठनेवाले लगभग बीस हजार परीक्षार्थियोंके लिये ४५० (चार सौ पचास) परीक्षा-केन्द्रोंकी व्यवस्था है। नियमावली मँगानेके लिये कृपया निम्नलिखित पतेपर कार्ड भेजें—

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, गीताभवन, पत्रालय—स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश), जनपद—पौड़ी-गढ़वाल (उ० प्र०)।

'सदाचार-अङ्क'की विषय-सूची

चित्र-सूची

(बहुरंगे)

(रेखाचित्र)

सदाचार के मांगल्य प्रदाता - भगवान गणपति

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

कल्याण

श्रीलाभसुभगः सत्यासक्तः स्वर्गापवर्गदः । जयतात् त्रिजगत्पूज्यः सदाचार इवाच्युतः ॥

वर्ष ५२ } गोरखपुर, सौर माघ, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०३, जनवरी १९७८ { संख्या १ पूर्ण संख्या ६१४

सदाचारमूर्ति भगवान् श्रीगणेश विश्वका कल्याण करें

कल्याणं वो विधत्तां करटमदधुनीलालकल्लोलमाला-
खेलद्दोलम्बकोलाहलमुखरितदिक्चक्रवालान्तरालम् ।
प्रत्नं वेतण्डरत्नं सततपरिचलत्कर्णतालप्ररोहद्-
वाताङ्कूराजिहीर्षादरविवृतफणाश्लिङ्गभूषाभुजङ्गम् ॥

(पण्डितराज जगन्नाथकृत महागणपति-स्तोत्र)

'जिनके करि-कपोलों (गण्डस्थलों)से निरन्तर (सात्त्विक) मदप्रवाहकी परम्परा (धारा) प्रस्रवित होती रहती है और जिनके चारों ओर मँडराते हुए भौरोंके मधुर गुंजनसे दसों दिशाएँ मुखरित रहती हैं, जो अनादि-सिद्ध प्राचीन गजरत्न हैं, जिनके गजकर्णोंके सदा हिलते रहनेसे उत्पन्न वायुका उनके आभूषणभूत सर्प किंचिद् फण फैलाकर पान करना चाहते हैं, वे मङ्गलमय, सदाचारमूर्ति श्रीगणेशजी आप सब लोगोंका सभी प्रकार कल्याण करें ।'

सदाचाररूप मङ्गलमय भगवान्‌का शुभस्तवन

ॐ तत्पुरुषाय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात्॥

(तैत्तिरीयारण्यक १०। १। २४)

'हम उन प्रसिद्ध श्रेष्ठ परमपुरुष गणपति देवताका ध्यान करते हैं; वे हमें सदाचारकी ओर प्रेरित करें, सत्पथपर लगायें।'

ॐ नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्॥

(तैत्तिरीयारण्यक १०। १। २७)

'हम परमपुरुष नारायणका ध्यान करते हैं, वे भगवान् विष्णु हमारी बुद्धिको सदाचारकी ओर प्रेरित करें, हमें सन्मार्गपर चलायें।'

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्। दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरंधिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥ (शुक्लयजुः, वाजसनेयिसं० २२। २२)

'ब्रह्मन्! यज्ञादि उत्तम कर्मशील हमारे इस राष्ट्र (भारत)में ब्रह्मवर्चस्वी—तेजस्वी ब्राह्मण, लक्ष्यवेधक और महारथी तथा अस्त्र-शस्त्रमें निपुण क्षत्रिय उत्पन्न हों। गायें प्रभूत दूध देनेवाली और बैल बलवान् (बोझा ढोने आदिमें क्षम), हृष्ट-पुष्ट तथा अश्व वेगवान् हों। सुन्दरी स्त्रियाँ नागरी (संस्कार-सदाचार-सम्पन्न बुद्धिमती) हों और युवक वीर, जयी, रथी तथा सभाके लिये उपयुक्त सभासद सिद्ध हों। हमारे राष्ट्रमें पर्जन्य (मेघ) प्रकाम वर्षा बरसायें और ओषधियाँ (ओषधियाँ और फसलें) फलवती होकर पकें—अन्न और फल पर्याप्त सुलभ हों। हमारे योग-क्षेम चलते रहें—अप्राप्तकी उपलब्धि और उपलब्धकी रक्षा होती रहे।'

कल्याणोल्लाससीमा कलयतु कुशलं कालमेघाभिरामा
काचित् साकेतधामा भवगहनगतिक्लान्तिहारिप्रणामा।
सौन्दर्यह्रीणकामा धृतजनकसुतासादरापाङ्गधामा
दिक्षु प्रख्यातभूमा दिविषदभिनुता देवता रामनामा॥

(शार्ङ्गधरपद्धति)

'परम कल्याण और उल्लासके मर्यादास्वरूप, श्यामल मेघके समान सुन्दर कान्तिवाले तथा साकेत—अयोध्यामें निवास करनेवाले, प्रणाममात्रसे संसारके कठिन क्लेशों (जन्म-मरणादि दुःखों)को दूर करनेवाले, अपने अनन्त सौन्दर्यसे कामदेवको लज्जित करनेवाले एवं जनकनन्दिनी भगवती सीताके नेत्रोंमें सदा निवास करनेवाले, देवताओंद्वारा अभिवन्दित एवं दसों दिशाओंमें प्रख्यात व्याप्तिवाले देवाधिदेव (परब्रह्म) भगवान् श्रीराम सदाचारपरायण समस्त विश्वका मङ्गल करें।

वेद ही सदाचारके मुख्य निर्णायक

[अनन्तश्रीविभूषित दक्षिणाम्नायश्रृङ्गेरी-शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीअभिनवविद्यातीर्थजी महाराजका शुभाशीर्वाद]

वेदोंमें ही आया है कि यदि कोई मनुष्य साङ्ग समग्र वेदोंमें पारंगत हो, पर यदि वह सदाचारसम्पन्न नहीं है तो वेद उसकी रक्षा नहीं करेंगे। वेद दुराचारी मनुष्यका वैसे ही परित्याग कर देते हैं, जैसे पक्षादि सर्वाङ्गपूर्ण नवशक्तिसम्पन्न पक्षि-शावक अपने घोंसलेका त्याग कर देते हैं। प्राचीन ऋषियोंने अपनी स्मृतियोंमें वेदविहित सदाचारके नियम निर्दिष्ट किये हैं और विशेष आग्रहपूर्वक यह विधान किया है कि जो कोई इन नियमोंका यथावत् पालन करता है, उसके मन और शरीरकी शुद्धि होती है। इन नियमोंके पालनसे अन्तमें अपने स्वरूपका ज्ञान हो जाता है। परंतु व्यवहार-जगत्‌में इस बातका एक विरोध-सा दीख पड़ता है। जो लोग सदाचारी नहीं हैं, वे सुखी और समृद्ध दिखते हैं और जो सदाचारके नियमोंका तत्परताके साथ यथावत् पालन करते हैं, वे दुःखी और दरिद्र दिखते हैं। परंतु थोड़ा विचार करने और धर्मतत्त्वको अच्छी तरहसे समझनेका प्रयत्न करनेपर यह विरोधाभास नहीं रह जाता। हिंदू-धर्म पुनर्जन्म और कर्मविपाकके सिद्धान्तपर प्रतिष्ठित है। कुछ लोग सदाचारका पालन न करते हुए भी जो सुखी-समृद्ध दीख पड़ते हैं, इसमें उनके पूर्वजन्मके पुण्यकर्म कारण हैं और कुछ लोग जो दुःखी हैं, उसमें उनके पूर्वजन्मके पाप ही कारण हैं। इस जन्ममें जो पाप या पुण्य कर्म बन पड़ेंगे, उनका फल उन्हें इसके बादके जन्मोंमें प्राप्त होगा।

इस समयका कुछ ऐसा रवैया है कि बड़े-बड़े गम्भीर प्रश्नोंके निर्णय उन लोगोंके बहुमतसे किये-कराये जाते हैं, जिन्हें इन प्रश्नोंके विषयमें प्रायः कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। औरकी बात तो अलग, राजनीतिक जगत्‌से सम्बन्ध रखनेवाले विषयोंमें भी यह पद्धति सही कसौटी-पर खरी सिद्ध नहीं होती। फिर धर्म और आचारके विषयमें ऐसी पद्धतिसे काम लेनेका परिणाम तो सर्वथा विनाशकारी ही होगा। जो आत्मा चक्षु आदिसे अलक्षित और भौतिक शरीरसे सर्वथा भिन्न है, साथ ही अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे अचिन्त्य है, उसके अस्तित्वके विषयमें संदेह उठे तो उसका निराकरण केवल बुद्धिका सहारा लेनेसे कैसे हो सकेगा? ऐसी शङ्काका निराकरण तो वेदोंके द्वारा तथा उन सद्-ग्रन्थों एवं सद्युक्तियोंके द्वारा ही हो सकता है, जो वेदोंके आधारपर रचित हैं।

इसी प्रकार यदि अज्ञानी लोग अपने विशाल बहुमतके बलपर निर्णय कर दें कि अमुक बात धर्म है तो उतनेसे कोई बात धर्म नहीं हो जाती। सदाचार वह है, जिसका वेद-शास्त्रोंने विधान किया है, जिसका सत्पुरुष पालन करते हैं। तथा जिनका जो लोग ऐसे सदाचारका आचरण करते हैं, उन्हें यह सदाचार सुख-सौभाग्यशाली बनाता है। इसके विपरीत अनाचार वह है, जो वेद-विरुद्ध हैं तथा जिसका सदाचारी पुरुष परित्याग कर देते हैं। जो लोग ऐसे अनाचारमें रत रहते हैं, उनका भविष्य कभी अच्छा नहीं होता।

विद्याध्ययनको सम्पन्नकर जब विद्यार्थी गुरुकुलसे विदा होनेको होते हैं, तब गुरु उन्हें यह उपदेश देते हैं—

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ताः, अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तत्र वर्त्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः। (तैत्तिरीयोपनिषद्, शीक्षावल्ली)

'तुम्हें यदि अपने कर्मके विषयमें अथवा अपने आचरणके विषयमें कभी कोई शङ्का उठे तो वहाँ जो पक्षपातरहित विचारवान् ब्राह्मण हों, जो अनुभवी,

स्वतन्त्र, सौम्य, धर्मकाम हों, उनके जैसे आचार हों, तुम्हें उन्हीं आचारोंका पालन करना चाहिये ।'

यह बहुत ही अच्छा होगा, यदि बच्चोंको बचपनसे ही ऐसी बुरी आदतें न लगने दी जायँ, जैसे मिट्टीकी गोलियोंसे खेलना या दाँतोंसे अपने नख काटना । विशेषतः बड़ोंके सामने बच्चे ऐसा कभी न करें । मनु (३ । ६३—६५) का कथन है कि ऐसे असदाचारी लोगोंके कुटुम्ब नष्ट हो जाते हैं । हमारे ऋषि संध्या-वन्दन और सदाचारमय जीवनके कारण अमृतत्व-को प्राप्त हुए । इसी प्रकार हम लोग भी अपने जीवनमें सदाचारका पालन करके सुख-समृद्धि और दीर्घजीवन लाभ कर सकते हैं । सदाचारके नियम मूलतः वेदोंमें हैं ।

अन्तमें यहाँ हमें हिंदुओंके, वैदिक और लौकिक—इस प्रकार जो भेद किये जाते हैं, उसके विषयमें भी दो शब्द कहने हैं । वह यह कि इस प्रकारका वर्गीकरण बहुत ही भद्दा और गलत है । हिंदू-धर्ममें ऐसा कोई वर्गभेद नहीं है । सभी हिंदू वैदिक हैं और सबको ही सदाचारके उन नियमोंका पालन करना चाहिये, जो वर्ण और आश्रमके अनुसार मूल वेदग्रन्थोंमें विहित हैं ।

सदाचारका प्रारम्भिक सोपान

[अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य पश्चिमाम्नाय श्रीद्वारकाशारदा-पीठाधीश्वर श्रीअभिनवसच्चिदानन्दतीर्थ स्वामीजी महाराजका आशीर्वाद]

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते ।
आचारप्रभवो धर्मः धर्मस्य प्रभुरच्युतः ॥

'जीवनमें आचारका बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है । अतएव **'आचारः परमो धर्मः'** कहा गया है और **'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'** **'यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः'** छः अङ्गोंके साथ चार वेदोंको पढ़ा हो, परंतु सदाचारी न हो, उस वेदपाठीको वेद भी पावन नहीं कर सकते हैं । **'आचारशुद्धौ सत्वशुद्धिः, सत्वशुद्धौ चित्तैकाग्रता, ततः साक्षात्कारः'** इस न्यायसे आध्यात्मिकादि सर्वशुद्धिके लिये सदाचार प्रथम सोपान है ।

खेद है, इधर कई सदियोंसे संस्कारहीनोंके आक्रमण, शासन, शिक्षा-प्रचार, सम्पर्क-विशेष आदिसे भारतमें दिनोंदिन आचारका ह्रास हो रहा है । कई संस्थाओंमें महात्माओंके उपदेश, प्रवचन आदि तो होते हैं, परंतु वे मात्र मोक्षकी शाब्दिक बातोंके ऊपर ही बल देते हैं, प्रारम्भमें सदाचारके स्वरूप कर्मानुष्ठानकी तरफ अङ्गुलि-निर्देश भी नहीं करते । आधुनिक शिक्षा-दीक्षा, सिनेमा, टेलीविजन आदिमें निमग्न जनताका सदाचारकी ओर ध्यान भी नहीं जाता है । शीघ्रगामी यातायात-साधन, विविध देशवासियोंका बढ़ता हुआ सम्पर्क—इत्यादिसे भारतमें प्रायः जीवनके सभी क्षेत्रोंमें महान् परिवर्तन या विकृति आ रही है । आचारके सम्बन्धमें भी वे ही बातें देखी जाती हैं । कई बातोंमें तो **'अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता'** गीता (१८ । ३२)के इस वचनानुसार कुछ लोगोंको सदाचारको दुराचार या मूर्खाचार समझते हुए भी देखा जाता है, यह कलिकी ही विडम्बना है और कुछ नहीं। आस्तिक लोगोंको तो **'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते'** **'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।'**(१६।२४)इत्यादि गीतोक्त श्रीभगवान्‌के ही वचनोंके अनुसार सदाचारका पालन करना चाहिये । यही श्रेयोमार्ग है । सदाचरण-तत्परता चारों वर्णोंको विशिष्टरूपसे शास्त्रोक्त कर्मानुसार लागू होता है । प्रकृत विषयमें **'सदाचरणतत्परः'** यह श्लोकांश अर्थगर्भित है ।

कल्याणका "सदाचार-अङ्क" सबके लिये प्रेरणादायी तथा उपयोगी सिद्ध हो, यह हार्दिक शुभ कामना है ।

सदाचारसे भगवत्प्राप्ति

[मानव-जीवनका उद्देश्य]

[अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य पूर्वाम्नाय गोवर्धनपीठाधीश्वर स्वामी श्रीनिरञ्जनदेवतीर्थजी महाराजका आशीर्वाद]

जीवनमें शान्ति भगवत्प्राप्तिसे ही हो सकती है और यह होती है—निष्काम भावयुक्त सदाचारके अनुष्ठानके द्वारा चित्तकी शुद्धि, उपासनाके द्वारा चित्तकी एकाग्रता तथा ज्ञानके द्वारा अज्ञानका नाश होनेपर। श्रीभगवान्का साक्षात्कार मनसे होता है। मनमें मल, विक्षेप और आवरण—तीन दोष हैं। पहला दोष मनकी 'मलिनता'(मल) है, जिसका कारण है—जन्म-जन्मान्तर, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तरमें किये गये शुभाशुभ कर्मोंकी वासना। मैले कपड़ेको साबुन या क्षारसे धोनेपर जैसे उसमें स्वच्छता आती है, ठीक वैसे ही मनके मलिन संस्कारोंको धोनेके लिये निष्कामभावसे शास्त्रविहित सदाचार-सद्धर्मके अनुष्ठानकी आवश्यकता है।

मनका दूसरा दोष है—'विक्षेप' अर्थात् चित्तकी चञ्चलता। उसके दूर करनेका एकमात्र उपाय है, शुभाचारयुक्त भगवान्की भक्ति—दूसरे शब्दोंमें श्रीभगवान्में शुद्ध प्रेम। प्रेम उसी वस्तुमें उत्पन्न होता है, जिसके रूप और गुणोंका ज्ञान हो। लौकिक पदार्थोंमें भी उनके रूप और गुणोंका ज्ञान होनेपर ही प्रेम उत्पन्न होता है, इसी प्रकार भगवान्में प्रेम उत्पन्न करनेके लिये भगवान्के रूप और गुणोंका ज्ञान आवश्यक है और भगवद्रूप तथा गुणोंके ज्ञानका साधन है—इतिहास-पुराणद्वारा भगवान्के पवित्र चरित्रका श्रवण अथवा पठन। भगवान्के चरित्रका जितना ही अधिक श्रवण अथवा पठन होगा, उतना ही अधिक भगवान्में प्रेम बढ़ता चला जायगा। जैसे-जैसे प्रेम बढ़ेगा, वैसे-वैसे ही भगवान्में मन भी लगने लगेगा। स्त्री-पुत्रादिमें भी प्रेम बढ़नेसे ही मन लगता है और प्रेम बढ़ानेका उपाय—जिसमें प्रेम हो, उसके रूप और गुणोंका ज्ञान ही है। अतः रामायण-महाभारत आदि इतिहास तथा पुराणोंके श्रवण अथवा पठनके द्वारा भगवान्के रूप और गुणोंके ज्ञानकी सर्वप्रथम आवश्यकता है। भगवच्चरित्र ही भगवद्भक्ति एवं सभी सदाचारोंकी जननी है—

जननि जनक सिय राम प्रेम के। बीज सकल ब्रत धरम नेम के॥

(रामच० मानस १। ३१। २)

भगवच्चरित्र-श्रवणसे भक्ति और सदाचार दोनों बढ़ते हैं। सदाचार-रहित भक्तिसे भी भगवान् प्रसन्न नहीं होते और भक्तिहीन सदाचार भी अकिंचित्कर है (नारदपुराण पूर्वभाग)। सदाचारपूर्ण भक्ति ही भगवान्को प्राप्त करनेका साधन है।

इस तरह सदाचारके बिना भगवद्भक्ति भी नहीं हो सकती और भगवद्भक्तिके बिना चित्तकी चञ्चलता नहीं मिटती। भक्ति और सदाचार—इन दोनों साधनोंसे चित्त एकाग्र हो जाता है। चित्तके एकाग्र हो जानेपर शान्त मनमें विषयोंके प्रति उपराम हो जाता है। फिर सुख-दुःख, भूख-प्यास और सर्दी-गरमीके सहन करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। क्रमशः गुरु और शास्त्रोंके वाक्योंमें श्रद्धा-विश्वास उत्पन्न होने लगते हैं, जिनसे चित्तका समाधान हो जानेपर मोक्षकी इच्छा होती है। फिर श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूप सदाचारके द्वारा भगवान्का साक्षात्कार होनेपर शाश्वत शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

यही प्राणीके जीवनका मुख्य उद्देश्य है, जिसमें सदाचार सर्वत्र परम सहायक है।

विश्वके अभ्युदयका मूल स्रोत--सदाचार

[अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशीसुमेरुपीठाधीश्वर स्वामी श्रीशंकरानन्द सरस्वतीजी महाराजका प्रसाद]

सदाचार व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्रके अभ्युदयका मूल स्रोत है। यदि समाजमें सदाचार अप्रतिष्ठित हो जाता है तो राष्ट्रमें कदाचार स्वभावतः बढ़ जाता है। सदाचार तथा कदाचार परस्परविरुद्ध हैं। सदाचारका परिणाम परस्परविश्वास, सौमनस्य, सुख एवं शान्ति है। कदाचारका परिणाम समाज या राष्ट्रमें सर्वत्र परस्पर अविश्वास, कलह, दैन्य तथा अशान्ति है। वर्तमानमें हमारा राष्ट्र शनैःशनैः कदाचार-रोगसे ग्रस्त होता जा रहा है। परिणाम भी सुस्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। अधिकतर धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक संस्थाएँ असदाचारसे ग्रस्त हैं, अतः राष्ट्रकी शान्ति भी उत्तरोत्तर भङ्ग होती जा रही है। कहींपर स्थिरता या मर्यादाका अस्तित्व नहीं रह गया है। सर्वत्र स्वार्थका नग्न-ताण्डव हो रहा है। इस अवसरपर 'गीताप्रेस' द्वारा 'सदाचार-अङ्क'का प्रकाशन अत्यन्त सामयिक एवं समुचित है।

सदाचार शब्दका शास्त्रसम्मत अर्थ—शास्त्रोंके अनुसार सज्जनोंके आचारका नाम सदाचार है—'**सतां सज्जनानामाचारः—सदाचारः**।' अथवा सत् परमात्माके प्राप्त्यर्थ शास्त्रसम्मत सज्जनोंके आचरणका नाम सदाचार है। दूसरे शब्दोंमें शास्त्रसम्मत जिन आचरणोंके करनेपर आत्मा, मन-वाणी तथा शरीरको सुसंस्कृत कर सत्-चित्-आनन्दरूप परमात्माकी उपलब्धिकी ओर उन्मुख कर असत्-रूप जगत्के राग-द्वेष-कलह आदि आसुरभावोंसे विमुक्त होकर प्राणी अभ्युदय तथा शान्तिमय वातावरणका निर्माण करता है—कर सकता है, वे कर्म, आचरण या व्यापार 'सदाचार' हैं।

विद्वेषरागरहिता अनुतिष्ठन्ति यं मुने।
विद्वांसस्तं सदाचारं धर्ममूलं विदुर्बुधाः॥

(स्कन्दपुराण, काशीखं० अ० ३५, श्लोक २५)

शरजन्मा स्कन्द अगस्त्यजीसे कहते हैं—'मुने! असूया-राग-द्वेषादि दोषोंसे विमुक्त संत एवं विद्वज्जन जिन आचरणोंका अनुष्ठान करते हैं, पण्डितलोग उन आचरणोंको धर्ममूल एवं सदाचार मानते या समझते हैं।' सदाचारके पालन न करनेसे मानव निन्दनीय, रोगी, दुःखी और अल्पायु हो जाता है—

दुराचाररतो लोके गर्हणीयः पुमान् भवेत्।
व्याधिभिश्चाभिभूयेत सदाल्पायुः सुदुःखभाक्॥

(स्कन्दपुराण काशीखं० ३५। २८)

इस विषयपर पाश्चात्त्य विद्वान् जे० मिल्ट सेवर्न नामके विचार भी मननीय हैं। वे कहते हैं—

'That one may attain to the age of one hundred years or more is no visionary statement. According to physiological and natural laws the duration of human life should be atleast five times of the period, necessary to reach full growth. This is a prevailing law, which is fully exemplified in the brute creation. The horse grows five years and lives to about twenty-five or thirty, the dog two and a half and lives to about twelve or fourteen. The camel grows eight years and lives forty. A man grows about twenty or twenty five years, hence if accidents could be excluded, his mormal duration of life should not be less than one hnndred.'

(live to Hundred, Kalpaka)

'मानव सौ वर्ष या उससे अधिक आयुतक जीवित रह सकता है, यह कोई काल्पनिक वर्णन नहीं है। शरीर-विज्ञान तथा प्राकृतिक नियमानुसार मानव-

शरीर-अवयवोंकी पूर्णता जितने वर्षोंमें होती है, उससे कम-से-कम पाँच गुनी आयु मानवकी होनी चाहिये। यह सिद्धान्त या नियम पशु-जगत्के निम्नलिखित उदाहरणोंसे प्रमाणित होता है—अश्व ५ वर्षोंतक बढ़-कर पूर्णावयवसम्पन्न हो जाता है और वह लगभग २५ या ३० वर्षोंतक जीवित रहता है। कुत्ता २॥ वर्षोंतक बढ़ता है और लगभग १२ या १४ वर्षोंतक जीवित रहता है। ऊँट आठ वर्षोंतक बढ़ता है और लगभग ४० वर्षोंतक जीवित रहता है। इसी प्रकार मानव-शरीरकी अवयवपूर्णता २० या २५ वर्षोंतक होती है, अतः यदि दैवात् कोई विघ्न या दुर्घटना उपस्थित न हो तो मानवकी आयु सौ वर्षसे कम न होनी चाहिये।'

परंतु हम देखते हैं, कोई विरला पुण्यवान् भाग्यशाली ही सौ वर्षोंतक जीवित रहता है। आदिराज मनु कहते हैं—

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचाराल्लभते कीर्तिं पुरुषः प्रेत्य चेह च॥
सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् भवेत्।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥
(४। १५२-५३)

'सदाचार-पालन करनेसे आयु तथा कान्तिकी प्राप्ति होती है। सदाचारी इहलोक एवं परलोकमें कीर्तिको प्राप्त करता है। यदि कोई विशेष गुण न भी हो; परंतु असूयारहित भगवदीय विधानपर श्रद्धालु है, सदाचारी है तो ऐसा व्यक्ति शतवर्षजीवी होता है। वेदोंके अनभ्याससे, आचारोंकी शून्यतासे, आलस्य एवं अन्नदोषसे मृत्यु विप्रोंको मारनेकी इच्छुक होती है।'

'धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्', **'शरीर-माद्यं खलु धर्मसाधनम्'** आदि सदुक्तियोंके आधारपर हम कह सकते हैं कि धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षरूप चतुर्विध पुरुषार्थप्राप्तिके लिये मनुष्यका स्वस्थ रहना अनिवार्य है। स्वास्थ्यका मूल हृदयकी पवित्रता है और हृदयकी पवित्रताके लिये जीवनमें सदाचार भी परमावश्यक है। अतएव मनु भगवान् कहते हैं—**'आचारः प्रथमो धर्मः'**—सदाचार ही प्रथम धर्म है। महर्षि वसिष्ठके अनुसार साङ्ग वेदका अध्येता व्यक्ति भी यदि सदाचारहीन है तो उसे वेद पवित्र नहीं कर सकते। सदाचाररहित व्यक्तिका वेद वैसे ही अन्तमें परित्याग कर देते हैं, जैसे पंख उग जानेपर पक्षी अपने घोंसलेका त्याग कर देते हैं। कपटी-मायावीका वेद पापोंसे उद्धार नहीं कर सकते। किंतु दो अक्षर भी यदि सदाचारितासे अधीत हों तो उसे (अध्येताको) वे पवित्र करते हैं। अतः स्वाध्यायके साथ तदनुकूल आचरण परमावश्यक है।

सारांश यह कि सदाचारके बिना प्राणीका ऐहिक एवं पारलौकिक अभ्युदय सर्वथा अवरुद्ध रहता है। निःश्रेयस तो अनन्त कोश दूर है। जिस कर्म या व्यवहारसे व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्रमें राजस-तामस वृत्तियाँ समाप्त हों, भय, कलह, विद्वेष आदि न रहें, सज्जनों-द्वारा परिपालित वे सब कर्म या व्यापार सदाचार हैं। कुछ निम्नलिखित आचार तो अवश्य पालनीय हैं। प्रातः ब्राह्ममुहूर्तमें निद्रात्याग—स्नानोत्तर जप-संध्या आदि ईश्वराराधन, पवित्र भगवत्प्रसादग्रहण, सत्य-सम्भाषण, पर-स्त्री-पर-द्रव्य-हिंसा-त्याग आदि। रात्रिमें भोजन प्रकाशमें करे। बिना मुख धोये जलपान न करे, शय्यापर या दूसरेके हाथसे जल न पिये। गुरु एवं माता-पिताकी आज्ञा माने। दुराचारियोंकी संगतिसे बचे और सत्पुरुष विद्वान्की यथायोग्य सेवा करे।

दैनिक सदाचार

[अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य तमिलनाडु-क्षेत्रस्थ काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर स्वामी श्रीचन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वतीजी महाराजका आशीर्वाद]

वेदादि शास्त्रोंमें दो प्रकारके धर्मोंका उपदेश किया गया है। उनमें एक है—प्रवृत्तिधर्म और दूसरा है निवृत्ति-धर्म। निवृत्तिधर्म ज्ञानमार्गके लिये कहा गया है। प्रवृत्तिधर्म तो जीवन और संसारकी बातोंके विषयमें कहा गया है। जो संसारमें हैं, उनको ठीक तौरपर हरेक काम करनेके तरीके प्रवृत्तिधर्म बताता है। सबेरे साढ़े चार बजेके बाद ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर दोनों हाथोंको आँखोंसे लगाकर हाथोंको देखना चाहिये। वैसे देखते समय दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वतीदेवीजीका ध्यान करना चाहिये। बादको शौच-कार्यके लिये अर्थात् मल-मूत्र-विसर्जनके लिये जाना चाहिये। उसके बाद दाँत साफ करके स्नान करना चाहिये। बादको कपड़े पहनकर भालमें विभूति या चन्दनतिलक धारण करना चाहिये। उसके बाद संध्या-जप, औपासन होम, अग्निहोत्र, पूजा-पाठ, विष्णुमन्दिरमें जाकर दर्शन करना आदि कार्य करने चाहिये। हमारे घरपर जो अतिथि आते हैं, उनको भोजन करानेके बाद स्वयं भोजन करना, तदनन्तर धर्मशास्त्र, रामायण, महाभारत-जैसे इतिहासोंको पढ़ना आदि कार्य कर्तव्य हैं। फिर थोड़ी देर ध्यान कर अगले दिनके कर्तव्योंके लिये भी तैयारी करनी चाहिये। शामको संध्या-जप, औपासन अथवा अग्निहोत्र, शिवजीके मन्दिरमें जाकर शिवजीका दर्शन, रातको मित भोजन, भगवच्चिन्तन अथवा शुभविचारोंके साथ लेटकर सोना आदि कार्य ही मानवके लिये दैनंदिन कर्तव्योंकी तरह करनेके कर्तव्य धर्मशास्त्रमें कहे गये हैं। इन कामोंको करनेके लिये अधिक-से-अधिक तत्परताकी आवश्यकता है। यही सदाचारकी क्रमप्राप्त-परम्परा भी है।

आचार दो प्रकारका होता है। एक बाह्य और दूसरा आन्तर। बाह्य आचारके अन्तर्गत दाँत साफ करना, स्नान करना, साफ कपड़े पहनना आदि हैं। आन्तर आचारमें किसीको नुकसान पहुँचानेका ध्यान न रखना, किसीको कष्ट न पहुँचाना, सत्य बोलना, हृदयमें श्रीभगवान्‌का सदा ध्यान करना, खुशीके साथ रहना, सबके साथ सद्व्यवहार करना आदि आते हैं। इस तरहके बाह्य और आन्तराचार शुद्धिके साथ नित्य कर्मोंको अच्छी तरह करना चाहिये। यही मानवको मानसिक शुद्धताके साथ चित्त-शुद्धि उत्पन्न कर आत्मज्ञानकी प्राप्ति कराता है। अतः प्रत्येक सदाचारयुक्त मानवको अपना-अपना नित्यकर्म अच्छी तरह पवित्रतासे सम्पन्न करना चाहिये।

सदाचारके बाधक बारह दोष

क्रोधः कामो लोभमोहौ विधित्साकृपासूये मानशोकौ स्पृहा च।
ईर्ष्या जुगुप्सा च मनुष्यदोषा वर्ज्याः सदा द्वादशैते नराणाम्॥
एकैकः पर्युपास्ते ह मनुष्यान् मनुजर्षभ। लिप्समानोऽन्तरं तेषां मृगाणामिव लुब्धकः॥
(महा० उ० प० अ० ४३। १६-१७)

'काम, क्रोध, लोभ, मोह, असंतोष, निर्दयता, असूया, अभिमान, शोक, स्पृहा, ईर्ष्या और निन्दा—मनुष्योंमें रहनेवाले ये बारह दोष सदा ही त्याग देने योग्य हैं। नरश्रेष्ठ! जैसे व्याध मृगोंको मारनेका अवसर देखता हुआ उनकी टोहमें लगा रहता है, उसी प्रकार इनमेंसे एक-एक दोष मनुष्योंका छिद्र देखकर उनपर आक्रमण कर देते हैं।'

धर्म और सदाचार

(लेखक—अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराज)

व्यक्ति, समाज, राष्ट्र—किं बहुना अखिल विश्वके धारण, पोषण, संघटन, सामञ्जस्य एवं ऐकमत्यका सम्पादन करनेवाला एकमात्र पदार्थ है—धर्म। धर्मका सम्यग् ज्ञान अधिकारी व्यक्तिको अपौरुषेय वेद-वाक्यों एवं तदनुसारी आर्षधर्मग्रन्थोंद्वारा सम्पन्न होता है। सभी परिस्थितियोंमें सभी प्राणी धर्मका शुद्ध ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। राजर्षि मनुका कहना है कि सज्जन विद्वानोंद्वारा ही धर्मका सम्यग् ज्ञान एवं आचरण हो सकता है। जिन सज्जनोंका अन्तःकरण राग-द्वेषसे कलुषित है, वे परिस्थितिवशात् धर्मके यथार्थ स्वरूपका अतिक्रमण कर सकते हैं, अतः ऐसे सज्जन—जिनके अन्तःकरणमें कभी राग-द्वेषादिका प्रभाव नहीं पड़ता, वे ही सही मानेमें धर्मका तत्त्व समझ सकते हैं। किंतु उनका आचरण (कर्म) भी कभी-कभी किसी कारणसे धर्मका उल्लङ्घन कर सकता है, इसलिये ऐसे सज्जन विद्वान् जिनका हृदय राग-द्वेषसे कभी कलुषित नहीं होता, वे हृदयसे वेदादिसम्मत जिस कर्मको धर्म मानते हैं, वे ही असली धर्म हैं। मनुका वचन इस प्रकार है—

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः।
हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मस्तं निबोधत॥

(मनु० २। १)

इसके अनुसार उपर्युक्त सज्जनोंके आचरणको ही सदाचार कहा जाता है—**'आचारप्रभवो धर्मः'** (महाभारत अनु० पर्व १४९। ३७)। यहाँ उसी सदाचार-धर्मका कुछ सामान्यतः दिग्दर्शन कराया जा रहा है। मीमांसककुलकमलदिवाकर कुमारिलभट्टके अनुसार वे धर्म या आचार भी वेदानुमोदित ही प्रशस्त होते हैं। सर्वत्र—सभी देशोंकी परम्परा भी प्रशस्त नहीं होती, किंतु जहाँ अनादिकालसे वर्णाश्रम, गुणधर्म आदि सभीका पालन होता आ रहा है, उसी देशकी सदाचारकी परम्परा प्रशस्त मानी गयी है। इसीलिये भगवान् मनु कहते हैं—

तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥

(मनु० २। १८)

'सरस्वती और दृषद्वती—इन देवनदियोंका अन्तराल (मध्यभाग) विशिष्ट देवताओंसे अधिष्ठित रहा, अतः यह देवनिर्मित देश 'ब्रह्मावर्त' कहा जाता है। यहाँ तथा आर्यावर्तमें उत्पन्न होनेवाले जनोंका अन्तःकरण पवित्र नदियोंके विशिष्ट जल पीनेके कारण अपने प्राचीन पितृ-पितामह, प्रपितामहादिद्वारा अनुष्ठित आचारोंकी ओर ही उन्मुख होता है, अतः वर्णाश्रमधर्म तथा संकर-जातियोंका धर्म यहाँके सभी निवासियोंमें यथावत् था। यहाँ उत्पन्न होनेपर भी जिन लोगोंका अन्तःकरण प्राचीन परम्पराप्राप्त धर्मकी ओर उन्मुख नहीं हुआ और वे लोग मनमानी नयी-नयी व्यवस्था करने लगें तो उनका भी आचार धर्ममें प्रमाण नहीं हो सकता; अतः परम्परा भी वही मान्य होगी, जो अनादि-अपौरुषेय वेद एवं तदनुसारी आर्ष धर्मग्रन्थोंसे अनुमोदित, अनुप्राणित हो।

मनुष्योंको सदा ही सदाचारका पालन और दुराचारका परित्याग करना चाहिये। आचारहीन दुराचारी प्राणीका न इस लोकमें कल्याण होता है, न परलोकमें। असदाचारी प्राणियोंद्वारा अनुष्ठित यज्ञ, दान, तप—सभी व्यर्थ जाते हैं, कल्याणकारी नहीं होते। इधर सदाचारके पालनसे अपने शरीरादिमें भी वर्तमान अलक्षण दूर होते हैं, अपना फल नहीं देते। सदाचाररूप वृक्ष चारों पुरुषार्थोंका देनेवाला है। धर्म ही उसकी जड़, अर्थ उसकी शाखा, काम (भोग) उसका पुष्प और मोक्ष उसका फल है—

धर्मोऽस्य मूलं धनमस्य शाखाः
पुष्पं च कामः फलमस्य मोक्षः ॥
(वामनपुराण १३)

यहाँ इस सदाचारके स्वरूपका कुछ वर्णन किया जाता है—सर्वप्रथम ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर भगवान् शंकरद्वारा उपदिष्ट प्रभात-मङ्गलका स्मरण करना चाहिये। इसके द्वारा देवग्रहादि-स्मरणसे दिन मङ्गलमय बीतता है और दुःस्वप्नका फल शान्त हो जाता है। वह सुप्रभातस्तोत्र इस प्रकार है—

ब्रह्मा मुरारिस्त्रिपुरान्तकारी
भानुः शशी भूमिसुतो बुधश्च ।
गुरुः सशुक्रः सह भानुजेन
कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥
सनत्कुमारः सनकः सनन्दनः
सनातनोऽप्यासुरिपिङ्गलौ च ।
सप्तस्वराः सप्त रसातलाश्च
कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥
सप्तार्णवाः सप्तकुलाचलाश्च
सप्तर्षयो द्वीपवराश्च सप्त ।
भूरादिकृत्वा भुवनानि सप्त
कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम् ॥

इस प्रकार इस परम पवित्र सुप्रभातके प्रातःकाल भक्तिपूर्वक उच्चारण करनेसे, स्मरण करनेसे दुःस्वप्नका अनिष्ट फल नष्ट होकर सुस्वप्नके फलरूपमें प्राप्त होता है। सुप्रभातका स्मरण कर पृथ्वीका स्पर्शपूर्वक प्रणाम करके शय्या त्याग करना चाहिये। मन्त्र इस प्रकार है—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले ।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥

फिर शौचादि कर्म करना चाहिये। शौच जानेके बाद मिट्टी और जलसे इन्द्रियोंकी शुद्धि कर दन्तधावन करना चाहिये। तदनन्तर जिह्वा आदिकी मलिनता दूर कर स्नान करके संध्योपासन करना और सूर्यार्घ्य देना चाहिये। केवल जननाशौच और मरणाशौचमें ही बाह्यसंध्याका परित्याग निर्दिष्ट है। उसमें भी मानसिक गायत्री-जप और सूर्यार्घ्य विहित है। किंतु अन्यत्र इन कार्योंका परित्याग कभी नहीं होता। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास—ये चार आश्रम ब्राह्मणोंके लिये ही विहित हैं। क्षत्रियके लिये संन्यास छोड़कर तीन आश्रमोंका विधान है। वैश्यके लिये ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य—दो ही आश्रम विहित हैं तथा शूद्रके कल्याणके लिये केवल एक ही आश्रम गार्हस्थ्य ही कहा गया है—

गार्हस्थ्यं ब्रह्मचर्यं च वानप्रस्थं त्रयो मताः ।
क्षत्रियस्यापि गदिता य आचारो द्विजस्य हि ॥
ब्रह्मचर्यं च गार्हस्थ्यमाश्रमद्वितयं विशः ।
गार्हस्थ्यमाश्रमं त्वेकं शूद्रस्य क्षणदाचर ॥
(वामनपुराण १४। ११६—१९)

प्रायः ये ही बातें वैखानस आदि धर्म-सूत्रों एवं स्मार्त-सूत्रोंमें निर्दिष्ट हैं। सदाचारी व्यक्तिको अपने वर्णानुसार और आश्रमानुसार धर्मका परित्याग कभी नहीं करना चाहिये। जो धर्मका परित्याग कर देता है, उसके ऊपर भगवान् भास्कर (सूर्य) कुपित हो जाते हैं। उनके कोपसे प्राणीके देहमें रोग बढ़ता है, कुलका विनाश प्रारम्भ हो जाता है और उस पुरुषका शरीर ढीला पड़ने लगता है—

स्वानि वर्णाश्रमोक्तानि धर्माणीह न हापयेत् ।
यो हापयति तस्यासौ परिकुप्यति भास्करः ॥
कुपितः कुलनाशाय देहरोगविवृद्धये ।
भानुर्वै यतते तस्य नरस्य क्षणदाचर !!
(वामनपुराण १४। ११९—२०)

महाभारतके (आश्वमेधिकपर्वके) अनुसार 'अन्तमें धर्मकी ही जय होती है, अधर्मकी नहीं; सत्यकी विजय होती है, झूठकी नहीं। क्षमाकी जय होती है, क्रोधकी नहीं', अतः सभीको—विशेषतया ब्राह्मणको सदा क्षमाशील रहना चाहिये—

धर्मो जयति नाधर्मः सत्यं जयति नानृतम् ।
क्षमा जयति न क्रोधः क्षमावान् ब्राह्मणो भवेत् ॥

सदाचरणके लिये क्षमाशीलताके साथ-साथ गो-भक्ति-परायणता, गो-सेवा तथा गो-मातापर दयाकी प्रवृत्ति भी अत्यन्त आवश्यक है। गौका महत्त्व सुनकर—उनमें भी

कपिलाका अत्यधिक महत्त्व जानकर महाराज युधिष्ठिरके प्रश्नके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णने कहा था—'कपिला गौ अग्निसे उत्पन्न हुई है। उसकी कान्ति अग्निज्वालाके समान होती है। लोभवशात् यदि कोई द्विजेतर कपिलाका उपयोग दूधके लिये करता है तो वह पतित हो जाता है और वह अत्यन्त नीचके समान है। ऐसे लोगोंसे जो ब्राह्मण दान लेता है, उसे भी उसी प्रकार दूर रखना चाहिये, जैसे महापापीको दूर रखा जाता है। कपिला गौके शृङ्गाग्रमें ब्रह्माजीकी आज्ञासे सभी तीर्थ प्रतिदिन निवास करते हैं। कपिला गौके शृङ्गका जल जो अपने सिरपर धारण करता है, उसके तीन वर्षोंतकके किये हुए पाप उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे अग्नि तृणको जलाकर नष्ट कर देती है'—

आदावेवाग्निमध्यात्तु मैत्रेयी ब्रह्मनिर्मिता।
शृङ्गाग्रे कपिलायास्तु सर्वतीर्थानि पाण्डव॥
ब्रह्मणो हि नियोगेन निवसन्ति दिने दिने।
प्रातरुत्थाय यो मर्त्यः कपिलाशृङ्गमस्तकात्॥
च्युता आपस्तु शीर्षेण प्रयतो धारयेच्छुचिः।
वर्षत्रयकृतं पापं प्रदहत्यग्निवत्तृणम्॥

(महाभा० आश्वमेधिकपर्व १०२)

प्रातःकाल कपिलाके मूत्रसे स्नान करनेसे तीस वर्षोंतकका किया हुआ पाप नष्ट हो जाता है। उसे प्रातः एक मुट्ठी घास देनेसे तीस दिन-रातका किया हुआ पाप नष्ट हो जाता है। भक्तिपूर्वक परिक्रमा करनेसे पृथ्वी-परिक्रमाका फल होता है। उसके पञ्चगव्य (गोमय, गोमूत्र, दधि, दुग्ध और घृतके मिश्रण) द्वारा स्नान करनेसे गङ्गादि सभी तीर्थोंमें स्नानका फल प्राप्त होता है। कपिलाके शृङ्गाग्रमें विष्णु और इन्द्र, शृङ्गके मूलमें चन्द्र और इन्द्र, शृङ्गके मध्यमें ब्रह्मा, दोनों कानोंमें अश्विनीकुमार, दोनों नेत्रोंमें चन्द्रमा और सूर्य, दन्तोंमें मरुत्, जिह्वामें सरस्वती, निःश्वासमें छहों अङ्ग; पद और क्रमसहित वेद, नासामें गन्ध तथा सुगन्धित पुष्प, अधरोष्ठमें वसु, मुखमें अग्नि, कक्षमें साध्यदेवता, ग्रीवामें पार्वती, पृष्ठमें नक्षत्रगण, ककुद्में आकाश, अपानमें सभी तीर्थ, गोमूत्रमें गङ्गा, गोबरमें सुप्रसन्न लक्ष्मी, नासिकामें ज्येष्ठा-देवी, श्रोणीस्थानमें पितर, लाङ्गूलमें रमादेवी, दोनों पार्श्वोंमें विश्वदेव, वक्षःस्थलमें परमप्रसन्न कुमार कार्तिकेय, जानु-जङ्घा और ऊरुमें प्राण-अपान आदि पाँच वायु, खुरोंमें गन्धर्व, खुराग्रमें सर्प और पयोधरमें चारों परिपूर्ण समुद्र निवास करते हैं। एक वर्षतक प्रतिदिन बिना भोजन किये दूसरेकी गायको एक मुट्ठी घास देनेसे भी सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। गो-सेवाकी महिमा अनन्त है।

मरे हुए अनाथ ब्राह्मणको ढोकर श्मशान ले जानेमें पद-पदपर अश्वमेधका फल होता है और जलमें स्नान-मात्र कर लेनेसे उनकी तत्काल शुद्धि हो जाती है। ब्राह्मण-द्रव्य, देवद्रव्य, दरिद्रका द्रव्य और गुरुका द्रव्य चुरानेसे प्राप्त स्वर्गभोग भी नष्ट हो जाता है और प्राणी नरकमें गिर जाता है। तपस्वी, संन्यासी आदिको छोड़कर जो दूसरे लोग सदा सर्वत्र खड़ाऊँपर ही चलते हैं, उनको देखनेसे भी पाप लगता है। उन्हें देखकर भगवान् भास्करका दर्शन करना चाहिये।* घुटनेतक पैर और केहुनीतक हाथ धोकर आचमन करके तब ब्राह्मण और अग्निका पूजन करना चाहिये।

अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनायक भगवान् भूतभावन विश्वनाथका पूजन—मिट्टीके ढेले, धूलि अथवा मिट्टीसे ही शिवलिङ्गका निर्माण कर पूजन-अर्चन करनेसे भक्तलोग रुद्र-पद पाते हैं। इसलिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी पुरुषार्थोंको देनेवाला भगवान् भूतभावन विश्वनाथका स्थान है। उसका निर्माण सर्वप्रयत्नसे करना चाहिये। जलको वस्त्रसे छानकर उससे मन्दिरका एक बार अनुलेपन करनेसे एक वर्षभर चान्द्रायण-व्रतका पुण्य होता है। दिव्य शिवलिङ्ग जिस स्थानमें प्रकट या प्रतिष्ठित होता है, वहाँसे

* अग्निहोत्री तपस्वी च श्रोत्रियो वेदपारगः। एते वै पादुकैर्यान्ति शेषान् दण्डेन ताडयेत्॥ आदिमें अग्निहोत्री, तपस्वी, वेदोंके ज्ञाता श्रोत्रियके सिवाय अन्योंके लिये पादुका धारण निषिद्ध है। (आङ्गिरसस्मृति, मोरसं० १। ६१, ६३, पूनासं०में श्लोक-सं० १०७, आपस्तम्ब९। २०)

चारों ओर आध कोसतक 'शिवक्षेत्र' कहा जाता है। शिवक्षेत्रमें प्राण छोड़नेसे शिवभगवान्का सायुज्य प्राप्त होता है। यह परिमाण स्वयम्भूलिङ्ग और बाणलिङ्गके विषयमें है। ऋषिस्थापित शिवलिङ्गमें शिवक्षेत्र बाणसे आधा और मनुष्यस्थापित शिवलिङ्ग-स्थलसे शिवक्षेत्र ऋषिस्थापित-की अपेक्षा भी आधा माना गया है। शिवक्षेत्रमें अग्नि स्थापित कर उसमें भगवान् भूतभावन विश्वनाथका पूजन कर अपने शरीरका हवन कर देनेसे परम पद प्राप्त होता है। वाराणसीमें शरीर त्याग करनेसे प्राणी पुनर्जन्म ग्रहण नहीं करता। मोक्षार्थीको तो अपना दोनों पैर तोड़कर (स्थिर होकर) शिवक्षेत्रमें निवास करना चाहिये और उससे बाहर जानेका कभी विचार भी नहीं करना चाहिये। ऐसा करनेसे प्राणी शिवस्वरूप ही हो जाता है। दूरसे शिवक्षेत्र-दर्शनसे जो पुण्य होता है, उसकी अपेक्षा सैकड़ों गुना पुण्य शिवक्षेत्रमें प्रवेश करनेसे होता है। शिवलिङ्गका स्पर्श और उसकी परिक्रमा करनेसे प्रवेशकी अपेक्षा हजारों गुना पुण्य होता है। उसकी अपेक्षा हजारों गुना पुण्य जल-स्नान करानेसे, उसकी अपेक्षा उत्तरोत्तर दूधसे स्नान, दधिसे स्नान, घीसे स्नान, मधुसे स्नान और शर्करासे स्नान करानेमें करोड़ों गुनातक पुण्य होता है। प्रातः, मध्याह्न, सायंकाल कभी भी शिवलिङ्गका दर्शन करनेसे अश्वमेध आदि यज्ञोंका फल होता है। भगवान् शंकरके मन्दिरमें जाकर पवित्र होकर तीन प्रदक्षिणा करनेसे पद-पदपर अश्वमेधका फल होता है—

प्रदक्षिणत्रयं कुर्याद् यः प्रासादं समंततः।
पदे पदेऽश्वमेधस्य यज्ञस्य फलमाप्नुयात्॥

(शिवपुराण)

भगवान् शिवकी परिक्रमा भी दो प्रकारकी कही गयी है—(१) सव्यापसव्य और (२) सव्य—

'प्रदक्षिणप्रकारस्तु द्विविधो वेदसम्मतः।'

(श्रीतत्त्वनिधि)

पश्चिमाभिमुख लिङ्ग हो तो प्राग्द्वारपर वृष (नन्दी)की और नैर्ऋत्यकोणमें चण्डकी स्थापना होती है। पूर्वाभिमुख लिङ्ग हो तो चण्डका स्थान ईशानमें होता है। महेशके उत्तर तरफ सोमसूत्र (प्रणाली) होता है। पश्चिमाभिमुख लिङ्गमें सोमसूत्र पूर्वकी ओर रहता है। जहाँ चण्डकी स्थापना होती है, वहाँ वृषस्थानपर बैठकर फिर वहाँसे चण्डस्थान जाना चाहिये। फिर वृषस्थान आकर सोमसूत्रतक जाना चाहिये। पुनः वृषतक जाकर वहाँसे चण्डेशतक जाना चाहिये। फिर वहाँसे वृषतक आकर सोमसूत्रतक जाना चाहिये और उसका उल्लङ्घन न करते हुए चण्डस्थान आकर वृषतक जाना चाहिये। यह एक प्रदक्षिणा हुई। इसका नाम सव्यापसव्यप्रदक्षिणा है।

सर्वदिक्षु महाभाग विभोः कुर्यात् प्रदक्षिणम्।
सोमसूत्रादिनियमो नास्ति विश्वेश्वरालये॥

काशी विश्वनाथ-मन्दिरमें सव्य ही परिक्रमा है। वहाँ 'सोमसूत्रादि'का नियम नहीं है। सूतसंहिताका वचन है—

ज्योतिर्लिङ्गे रत्नलिङ्गे स्वयम्भुवि तथैव च।
द्रव्यचण्डादिनियमः सुरेश्वरि न विद्यते॥

(सू० यज्ञवैभवखण्ड)

'ज्योतिर्लिङ्गमें, रत्नलिङ्गमें, स्वयम्भूलिङ्गमें चण्डका अधिकार न होनेसे वहाँ सीधी-सीधी परिक्रमा है।' मन्दिरका मार्जन आदि वस्त्रपूत जलसे ही करना चाहिये। जल फेनरहित हो और वस्त्र क्षालित हो तो वह पवित्र होता है। अतः सभी कार्य वस्त्रपूत जलसे ही करना चाहिये। भगवान् शंकरका पूजन कमल और विल्वपत्रसे सदा करना चाहिये। सुवर्णनिर्मित कमल बराबर चढ़ाना चाहिये। सुवर्णके अभावमें चाँदीका कमल और उसके अभावमें ताम्रका कमल भी प्रयुक्त हो सकता है। ये कमल नित्य चढ़ानेपर भी निर्माल्य नहीं होते। इन्हें धोकर बराबर ही चढ़ाया जा सकता

है। विल्वपत्रमें लक्ष्मीका निवास सदा रहता है, अतः विल्वपत्रसे भगवान् शंकरका पूजन नित्य करना चाहिये। बिना विल्वपत्रके भगवान् शंकरका पूजन नहीं करना चाहिये। भगवान् शंकरका पूजन न्यायोपार्जित द्रव्यसे करना चाहिये—

मिथ्योपेतानि कर्माणि सिद्ध्येयुर्यानि भारत।
अनुपायप्रयुक्तानि मा च तेषु मनः कृथाः॥
(महाभारत, उद्योग० विदुरप्रजागर)

'महाराज धृतराष्ट्र! जो काम झूठ बोलनेसे बन रहा हो, अथवा जो सम्पत्ति झूठ बोलनेसे मिल रही हो अथवा जो सम्पत्ति असत्-उपायसे मिल रही है, ऐसी सम्पत्तिकी ओर आँख उठाकर देखनेकी तो बात दूर, मनसे भी उसे नहीं ग्रहण करना चाहिये। ऐसी सम्पत्तिके सम्पर्कसे प्राणी अशुचि हो जाता है। अशुचि होकर देवपूजा, पितृपूजा, यज्ञ, दान आदि कभी नहीं करना चाहिये। किंतु जल और मिट्टीकी पवित्रता मुख्य पवित्रता नहीं, अपितु पैसेकी पवित्रता मुख्य पवित्रता है—

योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः।
(मनु० ५। १०६)

अतः सदा पवित्र होकर ही पवित्र कर्मद्वारा अर्जित धनसे शुभ–पुण्य कार्य करना चाहिये। थोड़ा भी ऐसा करनेसे प्राणी बहुत बड़े पुण्यका भागी बनता है। (वस्तुतः भीतरी-बाहरी शुद्धि रखते हुए वेद-स्मृति, पुराणादि-प्रतिपादित आचार-धर्मका पालन ही सदाचारका वास्तविक स्वरूप है। इस प्रकारके सदाचारसे सबका कल्याण होता है।)

दीन-आर्तके सेवा-सदाचारसे पुण्य-लाभ

ग्रासमात्रं तथा देयं क्षुधार्ताय न संशयः।
दत्ते सति महत्पुण्यममृतं सोऽश्नुते सदा॥
दिने दिने प्रदातव्यं यथाविभवविस्तरम्।
वचनं च तृणं शय्यां गृहच्छायां सुशीतलाम्॥
भूमिमापस्तथा चान्नं प्रियवाक्यमनुत्तमम्।
आसनं वसनं पाद्यं कौटिल्येन विवर्जितः॥
आत्मनो जीवनार्थाय नित्यमेवं करोति यः।
इत्येवं मोदतेऽसौ वै परत्रेह तथैव च॥

(पद्मपु० भूमि० १३। ११–१४)

'भूखसेपीड़ित मनुष्यको भोजनके लिये अन्न अवश्य देना चाहिये। ऐसे दीनोंको अन्न देनेसे महान् पुण्य होता है। इससे दाता मनुष्य सदा अमृत (सुख-सौभाग्य)का उपभोग करता है। अपने वैभवके अनुसार प्रतिदिन कुछ-न-कुछ दान करना चाहिये। सहानुभूतिपूर्ण मधुर वचन (स्वागत-वचन) तृण (काष्ठादि भी), शय्या, घरकी शीतल छाया, पृथ्वी, जल, अन्न, आसन, वस्त्र या निवासस्थान और पाद्य (पैर धोनेके लिये जल)—ये सब वस्तुएँ जो सदाचारी आतिथेय प्रतिदिन अतिथिको सौजन्यके साथ सरलतासे अर्पित करता है, वह इस लोक और परलोकमें भी आनन्दका अनुभव करता है।'

अनाचारकी हेयता और सदाचारकी उपादेयता

(लेखक—ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

भारतीय संस्कृतिका आधार उसकी आध्यात्मिकता है। यहाँ ऐहिक तथा पारलौकिक सभी विषयोंपर आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे ही विचार किया जाता है। यहाँके धर्म, आचार-व्यवहार, यहाँकी राजनीति, समाजनीति, युद्धनीति, समाजव्यवस्था, शिक्षापद्धति, शासनपद्धति, रहन-सहन तथा वेश-भूषा, आहार-विहार —सब कुछ आध्यात्मिकभित्तिपर स्थित है। हमारी आध्यात्मिकताका आधार जीवनका सदाचार है। अतः मनुष्यको अपना जीवन सदाचारमय बनाना चाहिये। यह मानव-जीवन बड़ा ही अमूल्य है। यदि इसे हम सदाचारमय बनाकर अपना उद्धार नहीं कर लेते तो हम अपने शत्रु हैं। यदि हम अपना पतन नहीं होने देना चाहते तो हमें अपना उद्धार अपने आप करना चाहिये। वस्तुतः हम अपने-आपके मित्र और शत्रु भी हैं। भगवान्‌ने भी यही कहा है—

> उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्‌ ।
> आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
> (गीता ६ । ५)

परंतु आजकल हमारी प्रवृत्ति अधिकतर पतनकी ओर ही होती जा रही है। नैतिक, सामाजिक और धार्मिक—सभी दृष्टियोंसे हमारा उत्तरोत्तर पतन होता जा रहा है और वर्तमानकालमें तो बहुत ही पतन हो गया है। लोगोंमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी और चोरबाजारी इतनी बढ़ गयी कि प्रतिशत एक व्यक्ति भी शायद ही इससे अछूता रहा हो। भ्रष्टाचारका बोलबाला हो चला है। यह शुभ लक्षण नहीं है। अतः यहाँ संक्षेपमें कुछ ऐसी बुराइयोंपर विचार किया जाता है, जिनका त्याग समाजके लिये आध्यात्मिक, धार्मिक, नैतिक और आर्थिक सभी दृष्टियोंसे परम आवश्यक है।

रहन-सहन—समय, वातावरण तथा परिस्थितिके अनुसार रहन-सहनमें परिवर्तन तो होता ही है, परंतु ऐसी कोई बात नहीं होनी चाहिये, जो हमारे लिये घातक हो। इस समय हम देखते हैं कि समाजकी रहन-सहन बहुत तीव्र गतिसे पाश्चात्त्य ढंगकी होती चली जा रही है। पाश्चात्त्य रहन-सहन बहुत अधिक खर्चीली होनेसे हमारे लिये आर्थिक दृष्टिसे तो घातक है ही, हमारी सभ्यता और सदाचारके विरुद्ध होनेसे आध्यात्मिक और नैतिक पतनका हेतु भी है। उदाहरणके लिये— जूता पहने घरोंमें घूमना, एक साथ बैठकर खाना, खानेमें काँटे-छुरीका उपयोग करना, टेबुल-कुर्सियोंपर बैठकर खाना, जूतियोंके कई जोड़े रखना, रोज चर्बीमिश्रित साबुन लगाना, खाने-पीनेकी चीजोंमें संयम न रखना, भोजन करके कुल्ले न करना, मल-मूत्र-त्यागके बाद मिट्टीके बदले साबुनसे हाथ धोना या बिल्कुल ही न धोना, फैशनके पीछे पागल रहना, बहुत अधिक कपड़ोंका संग्रह करना, बार-बार पोशाक बदलना आदि हैं। इन सबका त्याग करना आवश्यक है। इन सबके कारण सदाचार भूलता जा रहा है और उपेक्षित हो रहा है।

खान-पान—खान-पानकी पवित्रता और संयम आर्यजातिके लोगोंके जीवनके प्रधान अङ्ग हैं। आज इनपर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। रेलोंमें देखिये, हर किसीका जूठा सोडावाटर, लेमन पीना और जूठा खाना आमतौरपर चलता है। इसमें अपवित्रता तो है ही, एक दूसरेकी बीमारीके कीटाणु और दो विचारोंके भिन्न परमाणु भी एक दूसरेके अंदर प्रवेश कर जाते हैं। होटल, हलवाईकी दूकान या चाटवाले खोमचेके सामने, जूते पहने, खड़े-खड़े खाना, हर किसीके हाथसे खा लेना, मांस-मद्यका आहार करना, लहसुन-

प्याज-अण्डोंसे युक्त बिस्कुट, बाजारकी चाय, तरह-तरहके पानी, अपवित्र आइसक्रीम और बर्फ आदि चीजें खाने-पीनेमें आज बहुत ही कम हिचक रह गयी है। सोचनीय बात है कि निरामिषभोजी जातियोंमें भी डाक्टरी दवाओंके द्वारा और होटलों तथा पार्टियोंके संसर्ग-दोषसे अण्डे और मांस-मद्यका प्रचार हो रहा है। मांसमें प्रत्यक्ष हिंसा होती है। मांसाहारियोंकी बुद्धि तामसी हो जाती है और स्वभाव क्रूर बन जाता है, नाना प्रकारके रोग तो होते ही हैं। फिर भी अधिकतर लोग अपने आचार खोते चले जा रहे हैं और पश्चिमी रहन-सहनमें अपनी सदाचारी आदर्श संस्कृतिको तिलाञ्जलि दे रहे हैं!

इसी प्रकार आजकल बाजारकी मिठाइयोंके बननेमें भी बड़ा अनर्थ होने लगा है। असली घी तो मिलना कठिन है ही, बेजिटेबुल (नकली घी) भी असली नहीं मिलता, उसमें भी मिलावट शुरू हो गयी है। खोवा, बेसन, मैदा, चीनी, आटा, मसाले, तेल आदि वस्तुएँ भी शुद्ध नहीं मिलतीं। हलवाईलोग भी अधिक पैसोंके लोभसे खाद्य पदार्थोंमें नकली चीजें बरतते हैं। समाजके स्वास्थ्यका ध्यान न तो उन दूकानदारोंको है, न हलवाइयोंको। हो भी कैसे और क्यों? जब बुरा बतलानेवाले ही बुरी चीजोंका लोभवश प्रचार करते हैं, तब बुरी बातोंसे कोई कैसे परहेज रख सकता है। आज तो लोग आप ही अपनी हानि करनेको तैयार हैं। यही तो मोहकी महिमा है।

अन्यायसे कमाये हुए पैसोंका अपवित्र तामसी वस्तुओंसे बना हुआ, अपवित्र हाथोंसे बनाया और परोसा हुआ, अपवित्र स्थानमें रक्खा हुआ, हिंसा और मादकतासे युक्त, विशेष खर्चीला, अस्वास्थ्यकर पदार्थोंसे युक्त, सड़ा हुआ, अपवित्र और उच्छिष्ट भोजन, धर्म, बुद्धि, धन और स्वास्थ्य तथा सभ्यता और संस्कृति—सभीके लिये हानिकर होता है। इस विषयपर सबको विशेषरूपसे ध्यान देना चाहिये। परंतु खेद है कि इसे उपेक्ष्य समझा जा रहा है!

वेष-भूषा—वेष-भूषा सादा, कम खर्चीला, सुरुचि उत्पन्न करनेवाला, पवित्र और संयम बढ़ानेवाला होना चाहिये। आजकल ज्यों-ज्यों फैशन बढ़ रहा है, त्यों-त्यों खर्च भी बढ़ रहा है। सादा मोटा वस्त्र किसीको पसंद नहीं है। जो खादी पहनते हैं, उनमें भी एक तरहकी बनावट आने लगी है। वस्त्रोंमें स्वच्छता और पवित्रता होनी चाहिये। विदेशी और मिलोंके बने वस्त्रोंमें चर्बीकी माँड लगती है। यह बात सभी जानते हैं। देशकी हाथकी कारीगरी मिलोंकी प्रतियोगितामें नष्ट होती जा रही है। इससे गरीब मारे जा रहे हैं। इसलिये मिलके बने वस्त्र नहीं पहनने चाहिये। विदेशी वस्त्रोंका व्यवहार देशकी दरिद्रताका प्रधान कारण है। रेशमी वस्त्र जीवित कीड़ोंको उबालकर उनसे निकाले हुए सूतसे बनता है, वह भी हिंसायुक्त होनेसे अप्रयोजनीय है। वस्त्रोंमें सबसे उत्तम हाथसे काते हुए सूतकी हाथसे बनी खादी है। परंतु उसमें फैशन नहीं आना चाहिये। खादी हमारे संयम और स्वल्प व्ययके लिये है—फैशन और फिजूलखर्चीके लिये नहीं। खादीमें फैशन और फिजूलखर्ची आ जायगी तो इसमें भी अपावनता आ जायगी। मिलके बने हुए वस्त्रोंकी अपेक्षा तो मिलके सूतसे हाथ-करघेपर बने वस्त्र उत्तम हैं; क्योंकि उसकी बुनाईके पैसे गरीबोंके घरमें जाते हैं और उसमें चर्बी भी नहीं लगती। अतः भरसक खादी और खादी न हो सके तो हाथ-करघेके वस्त्रोंका ही प्रयोग करना चाहिये।

विवाह आदिमें शास्त्रीय प्रसङ्गोंको कायम रखते हुए जहाँतक हो सके, रस्में कम-से-कम रखनी चाहिये और वे भी ऐसी, जो सुरुचि और सदाचार उत्पन्न करनेवाली हों, कम खर्चकी हों और ऐसी हों जो साधारण गृहस्थोंके द्वारा भी आसानीसे सम्पन्न की जा

सकें। अवश्य ही, देनेके वस्त्र और अलंकार भी ऐसे हों, जिनमें व्यर्थ धन व्यय न हुआ हो। सौ रुपयेकी चीज किसी भी समय अस्सी-नब्बे रुपये कीमत तो दे ही दे। दस-बीस प्रतिशतसे अधिक घाटा हो, ऐसा गहना गढ़ाना तो जान-बूझकर अभाव और दुःखको निमन्त्रण देना है। इसके साथ अन्य वस्तुएँ भी अधिक संख्यामें न हों और फैशनसे बची हुई हों। सादगी और मितव्ययता रहनी चाहिये।

गुजरात और महाराष्ट्रमें विवाहके अवसरपर हरि-कीर्तनकी बड़ी सुन्दर प्रथा है। हरिकीर्तनमें एक कीर्तनकार होते हैं जो किसी भक्तचरित्रको गा-गाकर सुनाते हैं—बीच-बीचमें नाम-कीर्तन भी होता रहता है। सुन्दर मधुर स्वरके वाद्योंका सहयोग होनेसे कीर्तन सभीके लिये रुचिकर और मनोरञ्जक भी होता है, उससे बहुत अच्छी शिक्षा भी मिलती है। उत्तर और पश्चिम भारतके धनी लोग भी नाचकी प्रचलित कुप्रथाओंको छोड़कर इस प्रथाको अपनावें तो बड़ा अच्छा हो। (भगवान् शंकरके विवाहादि प्रकरणके आधारपर नाम-संकीर्तन कितना सुन्दर हो सकता है।)

चरित्रगठन और स्वास्थ्य—असंयम, अमर्यादित खान-पान और गंदे साहित्य आदिके कारण हमारे समाजके चरित्र और स्वास्थ्यका बुरी तरहसे ह्रास हो रहा है। बीड़ी-सिगरेट पीना, दिनभर पान खाते रहना, दिनमें पाँच-सात बार चाय पीना, भाँग, तंबाकू, गाँजा, चरस आदिका व्यवहार करना, उत्तेजक पदार्थोंका सेवन करना, विज्ञापनी वाजीकरण दवाएँ खाना, मिर्च-मसाले, चाट तथा मिठाइयाँ खाना, कुरुचि उत्पन्न करनेवाली गंदी कहानियों और उपन्यास-नाटकोंका पढ़ना, श्रृङ्गारके काव्य-नाटक, उपन्यास और कोकशास्त्रादिके नामसे प्रचलित काम-सम्बन्धी साहित्य एवं पुस्तकोंको पढ़ना, गंदे समाचार-पत्र पढ़ना, अश्लील चित्रोंको देखना, पुरुषोंका स्त्रियों और स्त्रियोंका पुरुषोंमें अमर्यादित आना-जाना, सिनेमा देखना, श्रृङ्गारी गाने सुनना और प्रमादी, विषयी, अनाचारी-व्यभिचारी तथा नास्तिक पुरुषोंका सङ्ग करना आदि कई दोष समाजमें आ गये हैं। कुछ पुराने तो थे ही, कुछ नये भी सभ्यताके नामपर आ घुसे हैं, जो समाजरूपी शरीरमें घुनकी तरह लगकर उसका सर्वनाश कर रहे हैं। सिनेमा देखना, सिनेमामें युवक-युवतियोंके श्रृङ्गारका अभिनय करना और निःसंकोच एक साथ रहना तो आजकल सभ्यताका एक निर्दोष अङ्ग माना जाता है। कलाके नामपर जितना भी अनर्थ हो जाय, सभी क्षम्य माना जाता है।

लड़कपनसे ही बालक-बालिकाओंका फैशनसे रहना, अच्छे संसर्गमें न रहना, स्कूल-कालेजमें लड़के-लड़कियोंका एक साथ पढ़ना, कालेज-जीवनमें छात्रावासोंमें असंयमपूर्ण जीवन बिताना आदि चरित्रनाशमें प्रधान कारण हो रहे हैं। और आजके युगमें इन्हींका विस्तार देखा जाता है। आश्चर्य तो यह है कि ऐसा करना आज समाजको उन्नतिके लक्षणोंके अन्तर्गत माना जाता है। पर ये सब हमारी संस्कृति और आदर्श सदाचारके लिये कदापि शुभ नहीं हैं।

रातभर जागना, प्रातःकालसे लेकर दिनमें नौ-दस बजेतक सोना, चाहे सोकर खाना, ऐश-आरामकी सामग्रियाँ जुटाने और उपभोग करनेमें ही लगे रहना, विलासिता और अमीरीको जीवनका अङ्ग मानना, भद्दी दिल्लगियाँ करना, केशों और जूतोंको सजानेमें ही घंटों बिता देना, दाँतोंसे नख काटते रहना, ईश्वर और धर्मका मखौल उड़ाना, संत-महात्माओंकी निन्दा करना, शास्त्रों और शास्त्रनिर्माता ऋषि-मुनियोंकी आलोचना करना, संध्या-प्रार्थना करनेका नाम भी न लेना, माता-पिताको कभी भूलकर भी प्रणाम न करना, केवल शरीरका आराम चाहना, मेहनतका काम करनेसे जी चुराना और उससे लजाना, थोड़ी देरमें ही हो जाने लायक

काममें अधिक समय बिता देना, कर्तव्यकर्ममें आलस्य करना और व्यर्थके कामोंमें समय नष्ट कर देना आदि दोष जहाँ समाजमें फैल रहे हों, वहाँ चरित्र-निर्माण, स्वास्थ्य-लाभ, धर्म और आत्मोन्नतिकी सम्भावना कैसे हो सकती है? अत: इन सब दोषोंको छोड़कर समाज—जनता संयम और सदाचारके पथपर चले। इसके लिये सबको प्रयत्न करना चाहिये। इन बातोंके दोष बतलाने चाहिये और स्वयं वैसा आचरण करके आदर्श स्थापित करना चाहिये। केवल वाणीसे कहना छोड़कर यदि लोग स्वयं आचरण करना शुरू कर दें तो बहुत जल्दी सफलता मिल सकती है। सदाचार उपदेशकी अपेक्षा आचरणकी वस्तु है।

कुविचारोंका प्रचार—'ईश्वर नहीं है, ईश्वरको मानना ढोंग है, ईश्वरभक्ति मूर्खता है, शास्त्र और पुराणोंके रचयिता दम्भ और पाखण्डके प्रचारक थे, मुक्ति या भगवत्प्राप्ति केवल कल्पना है, खान-पानमें छुआछूत और किसी नियमकी आवश्यकता नहीं, वर्णभेद जन्मसे नहीं, केवल कर्मसे है। शास्त्र न माननेसे कोई हानि नहीं है, पूर्वपुरुष आजके समान उन्नत न थे, जगत्‌की क्रमश: उन्नति हो रही है, अवतार उन्नतविचारकों, महापुरुषोंका ही नामान्तर है, माता-पिताकी आज्ञा मानना आवश्यक नहीं है, स्त्रीको पतिके त्यागका और नवीन निर्वाचनका अधिकार होना चाहिये, स्त्री-पुरुषोंका सभी क्षेत्रोंमें समान कार्य होना चाहिये, परलोक और पुनर्जन्म किसने देखे हैं, पाप-पुण्य और नरक-स्वर्गादि केवल कल्पना हैं, ऋषि-मुनिगण स्वार्थी थे, ब्राह्मणोंने स्वार्थसाधनके निमित्त ही ग्रन्थोंकी रचना की, पुरुषजातिने स्त्रियोंको पददलित बनाये रखनेके लिये ही पातिव्रत और सतीत्वकी महिमा गायी, देवतावाद कल्पना है, उच्च वर्णोंने निम्न वर्णोंके साथ सदा अत्याचार ही किया, विवाहके पूर्व लड़के-लड़कियोंका स्वच्छन्द और अश्लील रहन-सहन अनाचार नहीं है, सबको अपने मनके अनुसार सब कुछ करनेका अधिकार है'—आदि ऐसी-ऐसी बातें आजकल इस ढंगसे फैलायी जा रही हैं, जिससे भोले-भाले नर-नारी ईश्वरमें विश्वास खोकर धर्म, कर्म और सदाचारका त्याग कर रहे हैं। यह नितान्त चिन्तनीय बात है। इस ओर सभी विचारशील पुरुषोंको ध्यान देना चाहिये। इस प्रकारके सदाचारविरोधी और चारित्रिक अवनति करनेवाले प्रचारको रोकनेके लिये प्रयास होना चाहिये। ऐसा न करनेसे अनर्थ बढ़ता जायगा।

व्यवहार-बर्ताव—प्राय: अनेक जगहोंमें मालिक-लोग नौकरों और मजदूरोंके साथ भी अच्छा व्यवहार नहीं करते, उन्हें पेट भरने लायक वेतन नहीं देते, बात-बातपर अपमान और तिरस्कार करते हैं। नौकर और मजदूर भी भले मालिकोंको कोसते और उनका बुरा चाहते हैं। भाई अपने भाईके साथ दुर्व्यवहार करता है। पिता पुत्रके साथ अच्छा बर्ताव नहीं करता। पुत्र माता-पिताका अपमान करता है। सास अपनी पुत्रवधूको गालियाँ बकती है, तो अधिकारारूढ़ पुत्रवधू अपनी सासको कष्ट पहुँचाती है। ननद-भौजाईमें कलह रहता है। माता अपनी ही संतान—पुत्र और कन्याके साथ भेदयुक्त बर्ताव करती है। धनी और गरीबोंमें, शासक और शासितमें, अधिकारी और अधिकृतमें, व्यवसायी और उपभोक्तामें—कहीं भी सौजन्य, शिष्टता या सद्भाव नहीं रह गया है। सर्वत्र असामञ्जस्य और असंतोष व्याप्त है। ब्राह्मण निम्नवर्णोंका अपमान करते हैं और निम्न वर्गके लोग ब्राह्मणोंको कोसते हैं। पड़ोसी-पड़ोसीमें भी दुर्व्यवहार और कलह है। जगत्‌में इस दुर्व्यवहार और कलहके कारण दु:खका प्रवाह बह चला है। प्राय: सभी एक-दूसरेसे शङ्कित और भीत हैं। यह दशा वस्तुत: बड़ी ही भयावनी है। इसपर भी हम प्राचीन आदर्श, आचार-विचारसे दूर हटते चले जा रहे हैं। यह चिन्त्य है। इसपर विशेष विचार करके इसका सुधार करना चाहिये।

उपर्युक्त विवेचन वर्तमान समयकी थोड़ी-सी कुरीतियों, फिजूलखर्ची और दुर्व्यसनोंका एक साधारण दिग्दर्शन-मात्र है। इनके अतिरिक्त देश, समाज तथा जातिमें और भी जो-जो हानिकर, घातक तथा पतनकारक दुर्व्यसन, फिजूलखर्ची एवं बुरी प्रथाएँ प्रचलित हैं उनको हटानेके लिये, नैतिकता, शिष्टाचार तथा सदाचारके प्रचार करनेके लिये प्रत्येक क्षेत्रमें सब लोगोंको विवेक-पूर्वक तत्परताके साथ जी-जानसे प्रयत्न करना चाहिये।

(२)

सदाचारके सामान्य नियम

यहाँ सदाचारके कुछ सामान्य नियम बतलाये जा रहे हैं, जिनके पालनसे प्रचलित चर्चित बुराइयाँ दूर होकर चरित्र-निर्माण और आध्यात्मिक उन्नतिमें बड़ी सहायता मिल सकती है—

(१) एक मिनट भी निष्फल नहीं खोना चाहिये, समयका पूरा ख्याल रखें। शरीरसे सेवा, वाणीसे भगवान्‌के नामका जप, मनसे परमात्माका ध्यान—ये तीनों क्रियाएँ साथ चलें तो बहुत ही शीघ्र कल्याण हो सकता है। (२) अपने शरीरपर खर्च बहुत कम करे। जो व्यय कम करेगा, उसे रुपयोंका दास नहीं होना पड़ेगा और जो रुपयोंका दास न होगा, उसे पाप क्यों करना पड़ेगा ? लोभ पापका जनक है। यदि हम सांसारिक पदार्थोंसे आसक्ति हटा दें, अपनी आवश्यकताएँ घटा दें तो लोभ ही क्यों होगा ? कमाई आपके वशमें नहीं, पर खर्चा तो आप घटा ही सकते हैं। शरीर-निर्वाह कम-से-कम खर्चेमें हो जाय—यह ध्यान रक्खें, ऐसी ही चेष्टा करें। मितव्ययिता एक अच्छा गुण है।

(३) अपने शरीरका काम जहाँतक हो, आप ही करें, दूसरोंके पराधीन न हों। पराधीनता बहुत ही नीचे दर्जेकी चीज है। ऋषि-महर्षि स्वयं सब कुछ करते थे—**'स्वयं दासास्तपस्विनः।'** (४) प्रत्येक व्यक्तिके साथ व्यवहारमें, प्रत्येक बातमें स्वार्थके त्यागका ख्याल रखे। इससे मनुष्यका व्यवहार उच्चकोटिका हो सकता है। खाना, पीना, सोना, व्यापार-व्यवहार—प्रत्येक काममें स्वार्थ-त्याग करे। अपने आरामका त्याग करके दूसरोंको आराम देना आरामके स्वार्थका त्याग होता है। रुपयोंके व्यवहारमें अपने 'कसर खा लेना'—घाटा सह लेना—यह रुपयोंमें स्वार्थ-त्याग होता है। अपनी अपेक्षा दूसरोंकी सुविधाका ध्यान रखना त्याग है। सदाचारमें त्यागकी महत्ता बहुत है।

(५) मन, इन्द्रियोंके साथमें सङ्ग न हो। विषयोंके सङ्गमें आसक्ति हो जाती है। आसक्ति आत्मिक अवनतिका मूल है। (६) श्रद्धा बहुत उच्चकोटिकी चीज है। परलोक, परमेश्वर और शास्त्रोंमें श्रद्धा बढ़ानी चाहिये। श्रद्धालु पुरुष सौ वर्षोंकी आयु पाता है—**'श्रद्धालुरनुसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति।'** (७) उत्तम धार्मिक कोई कार्य हो तो उसमें भाव और प्रेम बढ़ाना चाहिये। छोटा कार्य भी उत्तम भावसे ऊँचा बन सकता है। क्रिया प्रधान नहीं, भाव प्रधान है। उससे निम्न क्रिया भी ऊँची बन सकती है। (८) संसारसे मोह तोड़कर परमात्मामें प्रेम बढ़ाना चाहिये। ईश्वरके समान प्रेमके मूल्यको अन्य कोई नहीं चुका सकता प्रसिद्ध है—'जानत प्रीति रीति रघुराई।' (९) प्रमाद कभी न करे। प्रमाद सक्रिय और अक्रिय दो तरहका होता है। जैसे उद्दण्डता आदिसे उद्भूत दुर्गुणमूलक सब प्रकारकी चेष्टाएँ—पापोंकी गिनतीमें ही हैं। करनेयोग्य कामका तिरस्कार कर देना अक्रियात्मक प्रमाद है। जो नित्यकर्म कर्तव्य कर्म है, उनकी अवहेलना करना प्रमाद है। श्राद्ध-तर्पणादि कर्म न करना प्रमाद है। प्रमाद साक्षात् मृत्यु है—**'प्रमादो वै मृत्युः।'** अतः प्रमादसे बचना चाहिये। (१०) संसारके भोगोंमें फँसकर अपना जीवन नष्ट नहीं करना चाहिये। विषयोंके भोग भोगनेमें तो अमृततुल्य लगते हैं, पर परिणाममें वे विषतुल्य हैं—**'परिणामे विषमिव।'** (११) छः घंटेसे

अधिक नहीं सोना चाहिये। यदि कभी किसी कारणवश बहुत कम सोना पड़े तो दूसरे दिन कुछ अधिक सोनेका समय निकाल ले, जिससे भजनमें नींद न आये। अधिक सोना प्रमाद, आलस्यका घर होता है।

(१२) किसी समय काम, क्रोध, लोभ—ये आ करके दबायें तो भगवान्से प्रार्थना (पुकार) करनी चाहिये। जैसे डाकू घरमें आते हैं तो पुलिसको या अन्य लोगोंको पुकारते हैं और उन लोगोंके आते ही डाकू भाग जाते हैं, ऐसे ही काम-क्रोधादि भगवन्नाम सुनकर भाग जाते हैं। (१३) नित्यप्रति संध्यावन्दन, पूजापाठ और तुलसीजीका जलसे सिंचन करे तथा अतिथिसेवा और सत्सङ्ग करे। (१४) भगवदर्पण और बलिवैश्वदेव करके ही भोजन करे, तभी वह अमृत है: नहीं तो इन दोनों क्रियाओंके बिना वह पापभोजन है। गीता (३। १३) में कहा है—**'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।'**

१५—जहाँतक हो सके झूठ कभी न बोले। दुर्गुण-दुराचारोंका दूरसे ही परित्याग कर दे—जैसे प्लेग-जैसी महाबीमारीका कर देते हैं। प्लेगके रोगाणु यदि न मिटें तो प्राण ले सकते हैं और इन दुर्गुण-दुराचारोंकी बीमारी तो यदि इस जन्ममें रह जाती है तो इन दोषवालोंको अनेकानेक नारकीय योनियोंमें भटकाती रहती हैं। अत: भारी-से-भारी कठिनाई आनेपर भी दुर्गुण-दुराचारको न अपनाये। दुर्गुण-दुराचार करनेवालेका सङ्ग कभी नहीं करना चाहिये। नास्तिक, पापी, अत्याचारी दुष्टोंके सङ्गका सदा परहेज (त्याग) करना चाहिये।

१६—सद्गुण, सदाचारोंको हृदयमें धारण करे। सदाचार शरीरसे होनेवाले शुभ कर्म हैं और सद्गुण हैं। वाणीसे सत्य, प्रिय, हितकारी वचन बोलने चाहिये। हाथोंसे माता-पिता दुखियोंकी सेवा करना, सबसे प्रेमका व्यवहार करना और यज्ञ, दान, तप, तीर्थ करना—ये सब सदाचार हैं। श्रीभगवान्की भक्ति भी सदाचारसे उत्तम है। भक्ति क्या है? भगवान्के विषयकी बातें कहनी-सुननी एवं कीर्तन-नमस्कार—ये सब भक्तिके अङ्ग हैं और तीर्थ, व्रत, उपवास, परोपकार आदि ये उत्तम कर्म हैं। उत्तम कर्म करना और उत्तम गुण धारण करना चाहिये। जैसे दया, क्षमा, शान्ति, ज्ञान आदि उत्तम भाव हैं, सद्गुण हैं—इन्हें सदा बढ़ाना चाहिये।

१७—सब जगह व्याप्त भगवान्के मुखारविन्दकी तरफ देखता रहे। 'श्रीभगवान् कैसे प्रेमका व्यवहार कर रहे हैं, हँस-हँसकर भगवान् मुझसे बोल रहे हैं' मनमें इस प्रकारके भाव करके आगे बढ़ता रहे। अपने कर्तव्य-कर्मोंको भगवान्की आज्ञाके अनुसार करता रहे। (१८) रात्रिमें सोनेके समय विशेष रूपसे भगवान्के नाम, रूप, गुण, प्रभाव, लीला—इन सबकी बातें करते हुए सोये। भगवत्-चरित्र-चिन्तन अथवा गीताका पाठ करता हुआ सोये। सोनेसे पूर्व विष्णुसहस्रनामका पाठ करनेसे बड़ा लाभ होता है—इसका निजी अनुभव है। रात्रिमें पानी पीने, लघुशङ्का करने उठे तो इसकी सँभाल रखे कि नामजप या पाठ भगवान्का हो रहा है या नहीं। (१९) अपने नित्यकर्मको दामी (मूल्यवान्) बनाता रहे। गीता तथा स्तोत्रादिके पाठमें भावकी ओर विशेष ध्यान रखे। (बिना भावका पाठ—'तोता-पाठ' मात्र होता है।) (२०) किसी भी व्यवहार-कार्यको हँस-हँसकर (प्रसन्नतापूर्वक) प्रेम-सहित, दूसरेका अनिष्ट न चाहते हुए करना चाहिये। (२१) वस्त्र मोटा, सादा, बिना नीलका पहने। इससे वैराग्य होता है और पवित्रता आती है। जो मरते समय नीलका कपड़ा पहने रहता है, उसकी दुर्गति होती है। यज्ञोपवीत, व्रत, उत्सव आदि धार्मिक अनुष्ठानोंमें—नील वस्त्र या नीलयुक्त कपड़ेका व्यवहार नहीं करना चाहिये। सनातन संस्कृतिमें नीला रंग वर्जित है।

२२—चमड़ेकी वस्तुओंका व्यवहार तो कभी करे ही नहीं। उन्हें घरके भीतर न आने दे, आजकल-बिस्तरबंद, बक्सा, घड़ीका फीता और जूता आदि प्रायः हरेक चीजोंमें चमड़ेका व्यवहार होता है। जो चमड़ा कोमल होता है दुर्भाग्यवश आजकल वह अधिकांश जीवित गौओंकी यातनापूर्ण हिंसाद्वारा ही प्राप्त होता है। अतः चमड़ेका व्यवहार बहुत ही बुरा और पापको बढ़ावा देनेवाला है। उससे सदा बचना चाहिये। (२३) सौभाग्यवती स्त्रियोंको स्वर्ण या काँचकी चूड़ी पहिननी चाहिये, हाथी-दाँत या लाखकी चूड़ी नहीं पहननी चाहिये। इनसे भी जीवहिंसा जुड़ी है। (२४) भोजन एक बार ही, बार-बार नहीं तथा मौन होकर करे। भोजनमें तीन चीजसे अधिक न ले, दोसे काम चला ले तो और भी अच्छी बात है। (२५) इसी प्रकार वस्त्रोंका संग्रह भी अधिक न करे, अत्यावश्यक हो उतना ही रखे। भोग-पदार्थोंका संग्रह न करे। ईश्वरपर यह विश्वास रखे कि भगवान् उसे समयपर अपने-आप देंगे। (२६) श्रृङ्गार-शौकीनी आदि वस्तुओंका एकदम त्याग कर दे। ये नरकमें ले जानेवाली हैं। सौभाग्यवती स्त्री पतिकी इच्छाके अनुसार उनकी प्रसन्नताके लिये उनकी उपस्थितिमें ही कुछ श्रृङ्गार कर ले, पर उसकी अनुपस्थितिमें उसे श्रृङ्गार नहीं करना चाहिये।

२७—दूसरेकी वस्तु (आवश्यकता होनेपर भी बिना माँगे या बिना उसके दिये) कभी नहीं लेनी चाहिये। चोरी बहुत बुरी चीज है। अपनी वस्तु या पदार्थ दूसरोंको देनेका ध्यान रखना चाहिये, पर दूसरेसे लेनेकी भावना कभी न रखे। यह चरित्रके लिये उत्तम बात नहीं है।

अच्छे काम करने और बुरे काम त्यागनेका अभ्यास करना चाहिये। ये सदाचारके कुछ सामान्य नियम हैं। इनका पालन निष्ठासे प्रत्येकको करना चाहिये। इससे आत्मकल्याणमें बड़ी सहायता मिल सकती है।

गृहस्थोंका सदाचार

नित्यं सत्यं रतिर्यस्य पुण्यात्मा सुष्ठुतां व्रजेत्।
ऋतौ प्राप्ते व्रजेन्नारीं स्वीयां दोषविवर्जितः॥
स्वकुलस्य सदाचारं कदा नैव विमुञ्चति।
एतत्ते हि समाख्यातं गृहस्थस्य द्विजोत्तम॥
ब्रह्मचर्यं मया प्रोक्तं गृहिणां मुक्तिदं किल॥

(पद्म० भूमि० १३। २-४)

(सुमना अपने पतिसे कहती हैं—) 'हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! सदा सत्यभाषणमें जिसका अनुराग है, जो पुण्यात्मा होकर साधु-शीलताका आश्रय लेता है, ऋतुकालमें ही, अपनी (ही) स्त्रीके साथ संगत होता है, स्वयं दोषोंसे दूर रहता है और अपने कुलके सदाचारका कभी त्याग नहीं करता, वही सच्चा ब्रह्मचारी है। यह मैंने गृहस्थके ब्रह्मचर्यका वर्णन किया है। यह ब्रह्मचर्य गृहस्थोंको सदा मुक्ति प्रदान करनेवाला है।'

संयम और सदाचारसे मानवका कल्याण

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार]

हमारा प्राचीन समाज शास्त्रीय नियमोंपर ही निर्मित हुआ था। हिंदूशास्त्र प्रायः प्रत्येक मानवको ब्रह्मचर्य, सत्य, अहिंसा, इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह आदि तपका ही आदेश देते हैं। ये परिणाममें मधुर और मङ्गलमय हैं। यही कारण था कि पूर्वकालके बड़े-बड़े वैभवशाली राजर्षि अपनी लौकिक सुख-समृद्धिपर लात मारकर इनकी साधनाके लिये वनमें चले जाते थे। वे जानते थे कि इस संसारका जीवन क्षणिक है, यहाँके सुख-भोग नश्वर हैं। वे जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधिके चक्रमें फँसानेवाले हैं। इन भोग-विलासोंके मोहमें पड़कर नारी और नर ऐसे पाप-पङ्कमें निमग्न हो जाते हैं, जिससे उनका उद्धार होना कठिन हो जाता है। वे प्रायः सूकर-कूकर और कीट-पतंग आदि योनियोंमें पड़नेकी स्थितिमें आ जाते हैं।

सुख तो वही चाहने योग्य है, जो मिलकर फिर कभी खो न जाय, जो नित्य, सनातन और एकरस हो। ऐसे सुखके निकेतन हैं—एकमात्र मङ्गलमय भगवान्। अतः प्रत्येक स्त्री-पुरुषका प्रयत्न उन्हीं परम प्रभुको प्राप्त करनेके लिये होना चाहिये। वे संयम और सदाचारपूर्वक प्रेमनिष्ठासे ही प्राप्त होते हैं और उनसे शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है। इसीलिये शास्त्र संयम और सदाचारपर अधिक बल देते हैं; क्योंकि इन्हींमें जीवका कल्याण भरा है। वह प्रारम्भिक अनुष्ठानमें कठिन और दुःखसाध्य प्रतीत होनेपर भी परिणाममें परम कल्याणकारी है। अतः इनकी साधनासे साध्य प्रभुकी संनिधि प्राप्तकर शाश्वत-सुखकी प्राप्तिका प्रयास करना चाहिये।

कहा जाता है कि नयी अवस्थामें सुख-भोग और उम्र ढलनेपर धर्मका सेवन करना चाहिये, किंतु यह कौन कह सकता है कि किसकी आयु कब समाप्त हो जायगी? काल नयी और पुरानी अवस्थाका विचार करके नहीं आता। उसकी दृष्टि शिशु, तरुण, युवा, प्रौढ़ एवं वृद्ध सबपर समानरूपसे पड़ती है। आयुके समाप्त होनेपर वह किसीको एक क्षण भी अधिक जीनेका अवसर नहीं देता। फिर धर्मका कब संचय होगा और कैसे नित्य-सुखकी प्राप्ति होगी? जन्मान्तरमें पुनः मानवशरीर मिलेगा या नहीं, कौन कह सकता है? दूसरे किसी शरीरसे आत्माके लिये कल्याणकारी धर्मोंका सम्पादन सम्भव नहीं है। अतः स्त्री-पुरुष सभीको अपने, सबके परमपति परमेश्वरका स्मरण-ध्यान करते हुए संयम एवं सदाचारपूर्ण जीवन बिताना चाहिये। इसके लिये वे सद्ग्रन्थका स्वाध्याय करें, गुरुजनोंकी यथायोग्य और यथाशक्ति सेवा करें। उस सेवाको भगवान्की सेवा मानें। घरके बालकोंका लालन-पालन करें और सदा भगवान्का चिन्तन करते रहें। उन्हें भोग-विलासके साधनों तथा भड़कीले वस्त्राभूषणोंसे सदा दूर रहना चाहिये। इन्द्रियके घोड़ोंपर लगाम कसे रहना चाहिये। मनोनिग्रहपर सदैव सतर्क रहना चाहिये।

घर-परिवारका पालन, कुल-जातिकी सेवा और स्वदेशप्रेम सभी आवश्यक हैं; यथायोग्य सबको इनका आचरण अवश्य करना चाहिये, परंतु ऐसा न होना चाहिये कि अपने घर-परिवारके पालनमें दूसरोंके घर-परिवारकी उपेक्षा, अपने कुल-जातिकी सेवामें दूसरे कुल-जातियोंकी हानि और स्वदेशके प्रेममें अन्य देशोंके प्रति घृणा हो। सच्चा पालन, सच्ची सेवा और सच्चा प्रेम तभी समझना चाहिये, जब अपने हितके साथ दूसरेका हित मिला हुआ हो। जिस कार्यसे दूसरोंकी उपेक्षा, हानि या विनाश होता है, उससे

हमारा हित कभी नहीं हो सकता। भगवान् सम्पूर्ण विश्वके समस्त जीवोंके मूल हैं, भगवान् ही सबके आधार हैं, भगवान्की सत्तासे ही सबकी सत्ता है, समस्त जीवोंके जीवनरूपमें भगवान्की ही भगवत्ता काम कर रही है। इस तथ्य बातको ध्यानमें रखते हुए सबकी सेवाका, सबके हितका और सबकी प्रतिष्ठा-का विचार रखकर अपने कुटुम्ब, जाति और देशसे प्रेम करना तथा उनकी सेवा करनी चाहिये। किसीको दुःख पहुँचाकर अथवा किसीको दुःखी देखकर सुखका अनुभव करना बहुत बड़ी भूल है।

मनुष्यका शरीर इसलिये नहीं मिला है कि वह अन्यायसे, पापसे और झूठ-कपटसे धन इकट्ठा करनेका प्रयत्न करके अपने भावी जीवनको नरककी प्रचण्ड अग्निमें झोंक दें। दयासागर दीनबन्धु भगवान्ने जीवको मानव-जीवन देकर यह एक अवसर प्रदान किया है। जीव मानव-शरीरको पाकर यदि सत्कर्ममें लगता और भगवान्का भजन करता है तो वह सदाके लिये भवबन्धनसे मुक्त हो परमानन्दमय प्रभुके नित्यधाममें चला जाता है। (और यही तो मानव-जीवनका वास्तविक लक्ष्य अथवा चारितार्थ्य है।) यदि भोगोंकी आसक्तिमें पड़कर वह सारा जीवन पापमें बिता देता है तो नरकोंकी प्रचण्ड ज्वालामें झुलसनेके पश्चात् उसे चौरासी लाख योनियोंमें भटकना पड़ता है। यह मानवका महान् पतन है। क्षणिक विषय-सुखके लिये बहुत-बहुत जन्मोंतक दुःख और कष्टमें जलते रहना कहाँकी बुद्धिमानी है? परंतु हम इसके ऐसे भयंकर परिणामको जानते हुए भी ऐसी भूल क्यों करें? धर्मका पालन उस भूलका सुधार है। सदाचार और संयमका जीवन ही धर्मका पालन है। सदाचारमें सब कुछ आ जाता है—सत्य, अहिंसा, परोपकार, क्षमा, अस्तेय, शौच आदि-आदि; और संयममें इन्द्रियमनोनिग्रह, धैर्य, दम, धी-विद्या आदि-आदि। सभी भोग नश्वर और क्षणिक हैं। यह दुर्लभ मानव-शरीर भी पता नहीं, कब हाथसे चला जाय। यह समझकर अब भी चेतना चाहिये। जो समय प्रमादमें बीत गया, सो तो बीत गया, अब आगे नहीं बीतना चाहिये—**'अबलौं नसानी अब न नसैहौं। राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं॥'** (विनयप०) ऐसा निश्चय करके बुरे कर्मोंकी ओरसे मनको खींचे। इन्द्रियोंपर, मनपर नियन्त्रण करें।

अपने दोषोंको नित्य-निरन्तर बड़ी सावधानीसे देखते रहना चाहिये। ऐसी तीक्ष्ण दृष्टि रखनी चाहिये कि मन कभी धोखा न दे सके और क्षुद्र-से-क्षुद्र दोष भी छिपा न रह सके, साथ ही यह हो कि दोषको कभी सहन न किया जाय, चाहे वह छोटा-से-छोटा ही क्यों न हो। इस प्रकार प्रयास करनेपर अपने दोष मिटते रहेंगे और दूसरोंके दोषोंका दर्शन और चिन्तन क्रमशः बंद हो जायगा। अपने दोष एक बार दीखने लगनेपर फिर वे इतने अधिक दीखेंगे कि उनके सामने दूसरोंके दोष नगण्य प्रतीत होंगे और उन्हें देखते लज्जा आयगी। इसी बातको प्रकट करते हुए कबीरजीने कहा है—

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न पाया कोय।
जो तन देखा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय॥

अतएव प्रत्येक मनुष्यको आत्मसुधारके लिये प्रयत्न करना चाहिये। उन लोगोंको तो विशेषरूपसे करना चाहिये, जो समाज और देशकी सेवा करना चाहते हैं। वाणीसे या लेखनीसे वह कार्य नहीं होता, जो स्वयं वैसा ही कार्य करके आदर्श उपस्थित करनेसे होता है। स्वयंके सदाचारका प्रभाव अतुलनीय होता है। यहाँतक कि फिर उपदेशकी भी आवश्यकता नहीं होती। महापुरुषोंके आचरण ही सबके लिये आदर्श और अनुकरणीय होते हैं। इसीलिये महापुरुषोंको यह ध्यान भी रखना पड़ता है कि उनके द्वारा कोई ऐसा कार्य न हो जाय, जो नासमझीके

कारण जगत्‌के लिये हानिकर हो। इसलिये वे उन्हीं निर्दोष कर्मोंको करते हैं, जो उनके लिये आवश्यक न होनेपर भी जगत्‌के लिये आदर्शरूप होते हैं और करते भी इस प्रकारसे हैं, जिनका लोग सहज ही अनुकरण करके लाभ उठा सकें। स्वयं सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे गीतामें इसी दृष्टिसे कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है, दूसरे लोग भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वे अपने आचरणसे जो कुछ प्रमाण कर देते हैं—जैसा आदर्श उपस्थित करते हैं, सारा जनसमुदाय उसीका अनुकरण करने लगता है।'

इससे पता लगता है कि श्रेष्ठ पुरुषोंपर कितना बड़ा दायित्व है और उन्हें अपने दायित्वका निर्वाह करनेके लिये कितनी योग्यता प्राप्त करनी चाहिये एवं किस प्रकारसे स्वयं आचरण करके लोगोंके सामने पवित्र आदर्श उपस्थित करना चाहिये। सत्पुरुषोंद्वारा आचरणीय सदाचार इस प्रकार हैं—

मनका सदाचार—(१) कभी किसीका बुरा न चाहे, बुरा होता देखकर प्रसन्न न हो। (२) व्यर्थ चिन्तन, दूसरेका अनिष्ट-चिन्तन, काम-क्रोध-लोभ आदिके निमित्तका चिन्तन न करे। (३) किसीकी कभी हिंसा न करे (किसीको किसी प्रकार कष्ट पहुँचाना हिंसा है)। (४) विषयोंका चिन्तन न करके भगवान्‌का चिन्तन करे। (५) भगवान्‌की कृपापर विश्वास रक्खे। उनकी लीलाका, उनके नाम, गुण, तत्त्वका चिन्तन करे। संतोंके चरित्रोंका, उनके उपदेशोंका चिन्तन करे। (६) पुरुष स्त्री-चिन्तन और स्त्री पुरुष-चिन्तन न करे (यह सदाचार नहीं है)। (७) नास्तिक, अधर्मी, अनाचारी, अत्याचारी तथा उनकी क्रियाओंका चिन्तन न करे। (उनकी आलोचनाओंसे भी सूक्ष्म चिन्तन हो जाता है, अतः उनसे भी बचें)।

वाणीका सदाचार—(१) किसीकी निन्दा-चुगली न करे। यथासाध्य परचर्चा तो करे ही नहीं। किसीकी भी व्यर्थ आलोचना न करे। आलोचक दूसरेको तो सुधारता है, पर स्वयं दोष-दृष्टिका अभ्यासी बनकर बिगड़ता जाता है। (२) झूठ न बोले। असत्य पापोंका बाप है और नरकका खुला द्वार है। (३) कटु शब्द, अपशब्द न बोले। किसीका अपमान न करे। किसीको शाप न दे। अश्लील शब्दका उच्चारण न करे। अश्लील शब्दके उच्चारणसे सरस्वती कुपित होती हैं। (४) नम्रतायुक्त मधुर वचन बोले। मीठा वचन वशीकरण मन्त्र कहा गया है। मधुर वचनसे चारों ओर सुख उपजता है। सुख ही तो मनुष्यका साध्य है न? (५) हितकारक वचन बोले। वाणीसे भी किसीका अहित न करे। बातसे ही बात बिगड़ती है। (६) व्यर्थ न बोले। अभिमानके वाक्य न बोले। अनर्गल, अहंकारकी वाणी बोलनेवालेकी महिमा घटा देती है।

(७) भगवद्गुण-कथन, शास्त्रपठन, नामकीर्तन, नामजप करे। पवित्र पद-गान करे। स्वस्तिवाचन, मङ्गल-पाठ आदि सदा कल्याणदायक होते हैं। (८) अपनी प्रशंसा कभी न करे। आत्मश्लाघा अपने आपको तिनकासे भी हल्का बना देती है। आत्मप्रशंसककी सर्वत्र निन्दा होने लगती है। (९) जिससे गौ-ब्राह्मणकी, गरीबकी या किसीके भी हितकी हानि होती हो, ऐसी बात न बोले। यह प्रयत्न करे कि जो हितकर और प्रिय हो उसे ही बोले। (१०) आवश्यकता होनेपर दूसरोंकी सच्ची प्रशंसा भले ही करे, किसीकी भी व्यर्थ खुशामद न करे। प्रशंसा या स्तुति अच्छे गुणों और कार्योंमें प्रवृत्ति कराती है और खुशामद झूठी महिमाको उत्पन्नकर दम्भको उभारती है। (११) गम्भीर विषयोंपर विचारके समय विनोद न करे। ऐसा हँसी-मजाक न करे, जो दूसरोंको बुरा लगे या जिससे किसीका अहित होता हो। व्यर्थ हँसी-मजाक तो करे ही नहीं। हँसी-मजाकमें भी अशिष्ट एवं अश्लील शब्दोंका प्रयोग न करे। हँसी-मजाक भयंकर अनर्थके कारणतक बन जाते हैं।

शरीरका सदाचार—(१) किसी प्राणीकी हिंसा न करे। किसीको किसी प्रकारका कष्ट न दे। (२) अनाचार-व्यभिचारसे बचे। ये दोनों समाजसे और स्वर्गसे गिरा देते हैं। (३) सबकी यथायोग्य सेवा करे। सेवा धर्म है और सेवासे मेवा (परम सुख) मिलता है। (४) अपना काम अपने हाथसे करे। स्वावलम्बित्व आत्मशक्तिका सदुपयोग है। (५) गुरुजनोंको प्रतिदिन प्रणाम करे। अभिवादनसे आयु, विद्या, यश और बल बढ़ते हैं। (६) पवित्र स्थानोंमें, तीर्थोंमें, सत्संगोंमें संतोंके दर्शन-हेतु जाय। इससे संयम और सदाचारका बल मिलता है। (७) मिट्टी, जल आदिसे अपने शरीरको पवित्र रक्खे। शुद्ध जलसे स्नान करे। (८) पाखानेमें नंगा होकर न जाय। टबमें बैठकर अथवा नंगा होकर स्नान न करे। यह सब हमारे शिष्टाचारके विरुद्ध हैं। (९) मलत्यागके लिये बाहर जाय तो नदी या तालाब आदिके किनारे भूलकर भी मलत्याग न करे। मलपर मिट्टी, बालू आदि डाल दे, जिससे दुर्गन्ध न फैले। शौचाचारकी यह भारतीय पद्धति अत्यन्त उत्तम है। (१०) मल-मूत्रका त्याग करके भलीभाँति हाथ-पैर धोये, कुल्ला करे। (११) खड़ा होकर पेशाब न करे। खड़ा होकर पेशाब करनेका स्वभाव पशुओंका होता है। (१२) जहाँ-तहाँ थूके नहीं, अपवित्र, दूषित पदार्थोंका स्पर्श न करे। (१३) रोगकी, जहाँतक हो, आयुर्वेदिक चिकित्सा कराये। आयुर्वेद-चिकित्सा अपने देशकी जल-वायु और संस्कार-संस्कृतिके अनुरूप है। (१४) देशी दवाइयोंमें भी तथा आवश्यक होनेपर एलोपैथिक आदि दवा सेवन करनी पड़े तो उनमें भी जिनमें कोई जान्तव पदार्थ हो, उनका प्रयोग बिल्कुल ही न करे। प्राकृतिक चिकित्सापर, खान-पानके संयम आदिपर विशेष ध्यान रक्खे। रामनामकी दवा ले। जब नाम भवरोगका नाशक है तो साधारण रोगकी तो बात ही क्या ? पर इसके लिये नाम-प्रभावपर अटूट नैष्ठिक विश्वास होना चाहिये।

जो साधनसम्पन्न बड़भागी पुरुष अपने दोष देखने लगते हैं, उनके दोष मिटते देर नहीं लगती। फिर यदि उनको अपनेमें कहीं जरा-सा भी कोई दोष दीख जाता है तो वे उसे सहन नहीं कर सकते और पुकार उठते हैं कि 'मेरे समान पापी जगत्‌में दूसरा कोई नहीं है।' एक बार महात्मा गाँधीजीसे किसीने पूछा था कि 'जब सूरदास, तुलसीदास-सरीखे महात्मा अपनेको महापापी बतलाते हैं, तब हमलोग बड़े-बड़े पाप करनेपर भी अपनेको पापी मानकर सकुचाते नहीं, इसमें क्या कारण है ?' महात्माजीने इसके उत्तरमें कहा था कि 'पाप मापनेकी उनकी गज दूसरी थी और हमारी दूसरी है।' सारांश यह कि दूसरोंके दोष तो उनको दीखते न थे और अपना क्षुद्र-सा दोष वे सहन नहीं कर सकते थे। मान लीजिये, भक्त सूरदासजीको कभी क्षणभरके लिये भगवान्‌की विस्मृति हो गयी और जगत्‌का कोई दृश्य मनमें आ गया, बस, इतनेसे ही उनका हृदय व्याकुल होकर पुकार उठा—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमक हरामी॥

× × ×

मनुष्यको चाहिये कि वह नित्य-निरन्तर आत्म-निरीक्षण करता रहे और घंटे-घंटेमें बड़ी सावधानीसे यह देखता रहे कि इतने समयमें मन, वाणी, शरीरसे मेरे द्वारा कितने और कौन-कौन-से दोष बने हैं और भविष्यमें दोष न बननेके लिये भगवान्‌के बलपर निश्चय करे तथा भगवान्‌से प्रार्थना करे कि वे ऐसा बल दें।

यह हमेशा याद रखना चाहिये कि जिसमें दूसरेका अकल्याण है, उससे हमारा कल्याण कभी नहीं हो सकता! अतः सबके कल्याणकी भावना करते हुए इन्द्रियों और मनपर संयमका नियन्त्रण रखकर सबके साथ साधु-शिष्ट व्यवहार करना संयम और सदाचार है। इसीसे मानवका कल्याण हो सकता है।

सदाचारके लक्षण और परिभाषा

(लेखक—श्रीवैष्णवपीठाधीश्वर आचार्य श्रीविट्ठलेशजी महाराज)

इस लोकमें यश और परलोकमें परम सुख देनेवाला एवं मनुष्योंका महान् कल्याण करनेवाला आचार ही प्रथम धर्म है। आचारसे ही श्रेष्ठता प्राप्त होती है, आचारसे ही धर्मलाभ होता है, धर्मसे ज्ञान और भक्ति तथा इन दोनोंसे मोक्ष एवं भगवत्प्राप्ति होती है—ऐसा मनु, याज्ञवल्क्य आदिका मत है। आचार ही ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य और शूद्र चारों वर्णोंके धर्मका प्रहरी है। आचार-भ्रष्ट पुरुषोंसे धर्म-विमुख हो जाता है ?

चतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्मपालकः।
आचारभ्रष्टदेहानां भवेद् धर्मः पराङ्मुखः॥
(पराशर० १। ३७)

अतः आचार ही परम धर्म है, आचार ही परम तप है, आचार ही परम ज्ञान है। आचारसे क्या नहीं सिद्ध होता—

आचारः परमो धर्म आचारः परमं तपः।
आचारः परमं ज्ञानमाचारात् किं नु साध्यते॥

इसप्रकार अन्वय-व्यतिरेकसे आचार ही ऐहलौकिक-पारलौकिक श्रेयका हेतु सिद्ध होता है। महाभारतके अनुशासनपर्वमें बतलाया है कि आचारसे आयु, लक्ष्मी और कीर्ति उपलब्ध होती है। इसलिये जो अपना वैभव चाहे, वह आचारका पालन करे। आचार-लक्षण धर्म है, संत भी आचार-लक्षणसे लक्षित होते हैं। अतः साधुओंका व्यवहार ही आचारका लक्षण है। सदाचारसे विपरीत बर्ताव करनेको दुराचार कहते हैं। जैसे सृष्टिकी विचित्र रचनाविषयक और उसके कर्ता सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके अस्तित्व-विषयक ज्ञान होनेसे मनुष्य आस्तिक बन उनकी शरण होकर शान्तिरूप सुखको प्राप्त करता है, उसी प्रकार सदाचारको जानकर तदनुसार व्यवहार करनेसे वह अपने जीवनमें उत्तम प्रतिष्ठा पाकर मरणानन्तर सद्गतिको प्राप्त होता है। साधुलोग निर्दोष होते हैं। सदाचारमें सत्‌शब्द शिष्टका वाचक है। उनका जो आचरण है, वह सदाचार कहलाता है। 'हारीत-स्मृति'में कहा गया है—

साधवः क्षीणदोषाः स्युः सच्छब्दः साधुवाचकः।
तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते॥

शिष्टोंका स्वरूप बौधायनने इस प्रकार बतलाया है—

'शिष्टाः खलु विगतमत्सरा निरहंकाराः **कुम्भीधान्या अलोलुपा दम्भदर्पलोभमोहक्रोधविवर्जिताः।'**
(बौधायनधर्मसू० १। १। ५)

'ईर्ष्या-डाहसे रहित, अहंकारविहीन, छः मास (या एक वर्ष) भरके उपयोगी धान्यके संग्रही, लोलुपतारहित, पाखण्ड, अहंकार, लोभ, मोह और क्रोधसे जो विमुख हैं, वे शिष्ट कहलाते हैं। इसकी पुष्टि महाभारतके अरण्यपर्वसे भी होती है—

अक्रुध्यन्तोऽनसूयन्तो निरहंकारमत्सराः।
मानवाः शमसम्पन्नाः शिष्टाचारा भवन्ति ते॥
त्रैविद्यवृद्धाः शुचयो वृत्तवन्तो यशस्विनः।
गुरुशुश्रूषवो दान्ताः शिष्टाचारा भवन्ति ते॥
(महाभा० वनप०)

इन वचनोंसे सिद्ध होता है कि दया-दाक्षिण्य-विनयादि गुणोंसे युक्त व्यक्ति शिष्ट कहलाते हैं। श्रुति-स्मृति-सदाचार एवं आत्माकी प्रसन्नता अर्थात् जहाँ विकल्प हो, वहाँ जिसमें अपनी रुचि हो, वही कर्म-धर्मका उत्पादक है। यह चार प्रकारका धर्मका लक्षण ऋषियोंने बताया है। इसको साक्षाद्धर्मका लक्षण कहते हैं। धर्ममें चार बातें प्रमाण हैं—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥
(याज्ञ० १। १। ७)

जो मनुष्य धन और विषयोंकी आकाङ्क्षासे रहित हैं, उनके लिये धर्मका यह उपदेश है और जो धर्म तथा कामनाकी चेष्टासे संसारमें पुरुषार्थ करते हैं, उनको धर्मका फल प्राप्त नहीं होता। धर्मके जिज्ञासुओंके लिये श्रुति ही मुख्य प्रमाण है। इसे ही मनुजीने सर्वोत्तम कहा है। इससे श्रुति और स्मृतिके अनुकूल ही सदाचार एवं धर्मका आदर करना चाहिये—

श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव बलीयसी।
अविरोधे सदा कार्यं स्मृतं वैदिकवत् सताम्॥

(जाबालिस्मृति, मीमांसातन्त्रवार्तिक)

महर्षि जैमिनिने 'मीमांसादर्शन'में बतलाया है कि श्रुति-विरोधमें स्मृतिके वाक्यमूलक श्रुतिका अनुसंधान करना चाहिये और अविरोधमें स्मृतिके मूल वेदका अनुमान होता है। जो बातें वेदमें न दीखें और स्मृतिमें लिखी हों, उसे भी वेदमूलक मानना चाहिये; क्योंकि वेदोंकी किसी लुप्त शाखामें उसका प्रमाण रहा होगा। और जो पुरुष शास्त्रोंके पढ़ने और श्रवण करने—दोनोंमें असमर्थ हों तो उनके लिये सत्पुरुषोंके आचार ही प्रमाण हैं; अर्थात् जगत्‌में जो वसिष्ठ, जनक, व्यास, युधिष्ठिर आदि धर्मात्मा सत्पुरुष हुए हैं तथा जो इस कालमें दम्भ-कपटसे रहित शुद्ध चरित्रवाले धर्मात्मा विद्वान् लोग पृथ्वीपर विद्यमान हैं, उनके जो धर्म-विषयक आचरण हैं, उनको भी धर्ममें प्रमाणरूपमें जानना चाहिये—**'सदाचाराद्वा'** (बौधा० धर्मसूत्र १८)। तैत्तिरीय उपनिषद्‌में भी बतलाया गया है कि यदि कभी तुमको कर्मके विषयमें या आचरणके विषयमें संदेह हो तो उस कालमें उस देशमें जो ब्राह्मण विचारशील, शुभकर्मोंमें लगे हुए, शान्त चित्तवाले और धर्मकी कामनावाले हों वे जैसा उस विषयमें आचरण करते हों वैसा ही तुमको भी करना चाहिये।

ऋषि-मुनि आदि महात्माओंके उपदेश-वचनोंका तथा उनके धर्म-विषयक आचरणोंका ही जिज्ञासुओंको ग्रहण करना चाहिये और जो कोई प्रारब्धकर्मके योगसे उनके अनुचित आचरण हों तो उनकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिये।—**'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि'** (तैत्ति०)। अर्थात् हे शिष्य! हमारे जो अच्छे आचरण हों, उन्हींका ग्रहण-आचरण तुम्हारा कर्तव्य है, दूसरोंका नहीं। अतः जिस मार्गसे तुम्हारे पिता-पितामह आदि गये हैं, उसी मार्गसे चलो तो दुर्गतिकी प्राप्ति नहीं होगी। अतः सदा सन्मार्ग-पर ही चलना चाहिये। इससे अधर्मनाशके फलस्वरूप धर्मद्वारा प्रतिहननका भय नहीं होता—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते॥

(मनुस्मृति ४। १७८)

कृष्ण यजुर्वेदकी तैत्तिरीयोपनिषद्‌की शीक्षावल्लीमें कहा है कि जो कुछ अनिन्दित कर्म हों, उन्हींको करना चाहिये और जो निन्दित कर्म हों, उन्हें नहीं करना चाहिये; क्योंकि लोकमें अनिन्दित कर्म करनेवाला सुयश तथा सत्कारको और निन्दित कर्म करनेवाला अपयश तथा तिरस्कारको प्राप्त होता है। जिसकी लोकमें निन्दा नहीं होती—ऐसा सदाचरण अनिन्दित है और उसके विरुद्ध जो असदाचरण है, वह निन्दित कर्म कहा जाता है। हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, पवित्रता रखना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, परोपकार करना, दया रखना, मनको नियमित रखना, क्षमा रखना, किसीसे द्रोह न करना, स्त्री-पुरुषोंको मेलसे रहना, कुटुम्बको क्लेश न देना, उनका पालन-पोषण करना, बालकोंकी रक्षा करना, उनको सब प्रकारसे शिक्षित बनाना, उनके ऊपर क्रूर न होना तथा उनका अल्पायु एवं असमतामें विवाह न करना,

परस्त्री-गमन न करना, शरीरको स्वच्छ रखना, निश्छल रीतिसे आचरण करना, वृद्धजनोंकी प्रतिष्ठा रखना, छोटोंसे प्रेम करना, राज-नियमके अनुसार चलना, दुर्जनोंका सङ्ग न करना, रोगिजन तथा पङ्गुओंका उपहास न करना, उनके ऊपर दया रखना, रोगीके अपंगपनेका तथा किसीके मरनेका ताना न मारना, प्रिय वचन बोलना, भली प्रकारका उपयुक्त उद्यम करते जाना, वृथा आक्षेप न करना, वादविवाद न करना, अपनी शक्तिके अनुसार बरतना, अपने मुखसे अपनी प्रशंसा न करना, देववत् माता-पिता, गुरुजनोंकी सेवा करना, गर्व-अभिमान न करना, देशकालके अनुसार चलना, जिद्द न करना, अभिमान न रखना, अतिथि-सत्कार करना, किसीके भी उत्तम गुणोंको ग्रहण करना, दुर्गुण न ग्रहण करना इत्यादि सदाचरण अनिन्दित कर्म कहलाते हैं। आचारवान् पुरुष ही आयु, धन, पुत्र, सौख्य, धर्म तथा शाश्वत भगवद्धाम एवं यहाँपर विद्वत्समाजमें प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं।

आचारवन्तो मनुजा लभन्ते
आयुश्च वित्तं च सुतान् च सौख्यम्।
धर्मं तथा शाश्वतमीशलोक-
मत्रापि विद्वज्जनपूज्यता च॥

इसलिये जिससे अपयश और कुगति हो तथा जिससे पुण्य नष्ट हो जायँ, ऐसा कर्म कभी न करे—

अयशः प्राप्यते येन येन चापगतिर्भवेत्।
पुण्यं च भ्रश्यते येन न तत्कर्म समाचरेत्॥

वस्तुतः इन्हींमें सदाचारकी परिभाषा चरितार्थ होती है।

सदाचार-जननी भारत-संस्कृतिकी जय हो !

(रचयिता—महाकवि श्रीवनमालिदासजी शास्त्री)

यामाश्राय समस्तमस्तकमणिर्जायेत जीवोऽधमो
यस्या रक्षणरक्षितो विमलधीः स्वर्गेऽपि सम्पूज्यते।
पारे व्योम्नि विराजते च सततं यस्याः समालोचनात्
सैषा भारतसंस्कृतिर्विजयतामित्यन्तराशास्महे॥

'हम सभी भारतीयजन अपने अन्तर्हृदयसे इस बातकी सदैव अभिलाषा करते रहते हैं कि हमारी यह लोकोत्तर भारतीय संस्कृति (सदाचारकी परिपाटी) सदैव विजय (उत्कर्ष)को प्राप्त करती रहे। जिसको भलीभाँति अङ्गीकार करके अधम जीव भी समस्त जनोंका शिरोमणि बन सकता है एवं जिसकी सुरक्षासे सुरक्षित होकर निर्मल बुद्धिवाला स्वर्गमें भी पूजित होता रहता है तथा जिसके निरीक्षण—ध्यान रखने एवं प्रचारके कारण वैकुण्ठमें भी निरन्तर विराजमान रहता है, ऐसी सदाचारमयी भारतीय संस्कृतिकी सदैव जय-जयकार हो।

सदाचारके मूल तत्त्व

(श्रीमद्रामानुजाचार्य स्वामी श्रीपुरुषोत्तमाचार्य रङ्गाचार्यजी महाराज)

मीमांसादर्शनके अनुसार 'सदाचार' शब्दसे ऋषि-मुनि-देवता एवं मनुष्योंके सत् (श्रेष्ठ) आचरणोंका समुदाय ही अभीष्ट है। दूसरे शब्दोंमें धर्मानुकूल (प्राकृतिक नियमानुकूल) शारीरिक, मानस, बौद्ध एवं आत्मीय क्रिया-कलापको 'सदाचार' कहते हैं। अथवा यों कहिये कि प्रातःकालसे लेकर रात्रिमें सोनेतक जिन शारीरिक, मानस, बौद्ध और आत्मीय चेष्टाओंके करनेसे शरीर, मन, बुद्धि और आत्माकी यथार्थ उन्नति हो सकती है, उनका नाम 'सदाचार' है। प्रकृतिके नियमानुकूल चलनेसे ही स्वास्थ्य-रक्षा, मनस्तुष्टि एवं आत्मीय शान्ति, उन्नति आदि हो सकती है। संक्षेपमें इन सदाचारोंका परिगणन इस प्रकार हुआ है—उत्थापन, इष्ट-देवतास्तवन, पृथ्वी-प्रार्थना, शौचकर्म, दन्तधावन, स्नान, वस्त्रपरिधान, संध्यादि नित्यकर्म, भोजनकार्य, व्यवहार, शिष्टाचार, अर्थोपार्जन, सायंतनकर्म, शयन आदि। इनमेंसे हम यहाँ केवल कुछ सदाचारों और उनके मूल तत्त्वोंका ही प्रतिपादन करेंगे।

प्रबोध एवं शय्यात्याग—

सदाचारका सबसे पहला नियम ब्राह्ममुहूर्तमें उठना है। शारीरिक स्वास्थ्यकी दृष्टिसे तो सूर्योदयसे प्रथम उठना उपकारक है ही, इसके अतिरिक्त जो प्रातःसवनीय देवता ब्राह्ममुहूर्त्तमें हमें दिव्य शक्तियाँ प्रदान करते हैं, उनका लाभ भी एक महाफल है। सविता, अश्विनीकुमार, ब्रह्मा, ऊषा आदि 'प्रातर्यावाण' देवता अपनी प्रेरणा, चक्षुबल, ज्ञानबल, उत्साहबल बाँटते हुए त्रैलोक्यमें रश्मिप्रसार करते हैं। बुद्धियुक्तप्रधान मन ही इन प्राकृत शक्तियोंका ग्राहकपात्र है। शास्त्र कहते हैं—

'ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत स्वस्थो रक्षार्थमायुषः।'
(महा० १३ । १०४, भावप्रका० दिनचर्या०)

ब्राह्ममुहूर्तका निर्णय निर्णयामृत इस प्रकार करता है—

रात्रेश्च पश्चिमे यामे मुहूर्तो यस्तृतीयकः।
स ब्राह्म इति विख्यातो विहितः सम्प्रबोधने॥

इस शास्त्रवचनके अनुसार रात्रिका अन्तिम प्रहरका तीसरा या अहोरात्रका ५५वाँ मुहूर्त ब्राह्ममुहूर्त कहलाता है। इसके बादकी पिछली दो घड़ियाँ रौद्रमुहूर्त हैं। ढाई घड़ीका एक घंटा होता है। सूर्योदयके लगभग डेढ़ घंटा प्रथम ब्राह्ममुहूर्त होता है। उस समय उठ जाना आवश्यक है।

इष्टदेव-संस्मरण—

प्रातः उठकर सर्वप्रथम हमें अपने इष्टदेवका स्मरण करना चाहिये, जिनके अनुग्रहसे खण्ड प्रलयोपलापित तमोबहुला रात्रिके वरुणपाशसे निकलकर सृष्टिके पुण्याहकालमें हम एक नवीन जीवन-धारा प्रवाहित करनेके लिये प्रवृत्त हो रहे हैं। उसका स्वरूप इस प्रकार है—

प्रातः स्मरामि भवभीतिमहार्तिशान्त्यै
नारायणं गरुडवाहनमब्जनाभम्।
ग्राहाभिभूतवरवारणमुक्तिहेतुं
चक्रायुधं तरुणवारिजपद्मनेत्रम्॥
सप्तार्णवाः सप्त कुलाचलाश्च
सप्तर्षयो द्वीपवराश्च सप्त।
सप्तस्वराः सप्तरसातलानि
कुर्वन्तु सर्वे मम सुप्रभातम्॥

'संसारके भय एवं क्लेशनाशके लिये मैं कमलनाभ, गरुडवाहन भगवान् नारायणका स्मरण करता हूँ, जिन्होंने ग्राहसे गजकी रक्षाके लिये चक्र धारण किया था और जिनके नेत्र तरुण कमलके समान रक्ताभ हैं। उसकी कृपासे क्षीरादि सातों समुद्र, महेन्द्रादि सातों कुल पर्वत, सातों ऋषि, सातों द्वीप, सातों स्वर और सातों पाताल प्रातःकालको हमारे लिये मङ्गलमय बनायें।'

शौचकर्म—

इष्ट देवता-स्मरणान्तर शौचकर्म (मूत्र-पुरीषोत्सर्ग)-का अनुगमन आवश्यक है। यथासम्भव दिनमें शौच करते समय मुख उत्तर दिशाकी ओर और रात्रिमें दक्षिण दिशाकी ओर करना आवश्यक है। दूसरा नियम शिरोवेष्टनका है। मस्तक किसी नियत वस्त्रसे ढककर ही शौच जाना आवश्यक है। तीसरा नियम है—मौनव्रत और चौथा नियम यज्ञोपवीत-को दक्षिण कर्णपर चढ़ाकर शौच जाना। इनका मूलतत्त्व यह है कि वेदोदित इन्द्रिय-विज्ञानके अनुसार वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र एवं मन—ये पाँच इन्द्रियाँ मानी गयी हैं। दर्शनशास्त्रमें स्वीकृत इतर इन्द्रियोंका भी इन्हींमें अन्तर्भाव है। अग्निसे वागिन्द्रियका, वायुसे प्राणेन्द्रियका, आदित्यसे चक्षु इन्द्रियका भास्वर (चमकदार स्थानबद्ध) सायंतन चन्द्र (सोम)से मनका और निरायतन सब दिशाओंमें प्रतिष्ठित अतएव दिक् नामसे प्रसिद्ध सोमसे श्रोत्रेन्द्रियका विकास हुआ है। इन देवताओंसे उत्पन्न इन्द्रियोंमें दिव्य प्राण सूक्ष्मरूप विद्यमान रहते हैं। फलतः पवित्र सोममय श्रोत्रेन्द्रिय गोल्कोंसे भी पवित्र सौम्य प्राणका गमनागमन सिद्ध होता है। पुरुषका वामाङ्ग सोमप्रधान है और दक्षिणाङ्ग अग्निप्रधान है। दक्षिण कर्ण आग्नेय होनेसे अति पवित्र है। अतः वह सर्वदेवोंकी आवासभूमि भी है, इसलिये यज्ञोपवीतकी पवित्रताकी रक्षाके लिये उसे दक्षिण कर्णपर चढ़ानेका आदेश है। बृहस्पति कहते हैं—

आदित्या वसवो रुद्रा वायुरग्निश्च धर्मराट्।
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे नित्यं तिष्ठन्ति वै यतः॥

पराशरका भी यही मत है—

प्रभासादीनि तीर्थानि गङ्गाद्या सरितस्तथा।
विप्रस्य दक्षिणे कर्णे निवसन्ति हि सर्वदा॥

मूत्र-पुरीषोत्सर्ग कभी खड़े-खड़े नहीं करना चाहिये। देवालयोंके समीपकी भूमि, हरित घासयुक्त भूमि, चतुष्पथ, राजमार्ग, विदीर्ण भूमि, नदीतट, पर्वतमस्तक, प्राणिसंकुल स्थान, भूमिबिल, वल्मीकस्थान, भस्म, तीर्थ-तटों आदि स्थानोंसे दूर शौच करना चाहिये। ब्राह्मण, सूर्य, जल और गौके सामने भी शौच न करे। 'मलभाण्डं न चालयेत्' आदि आदेशको लक्ष्यमें रखते हुए शौच-कर्ममें कभी बलप्रयोग न करे।

स्नान—

नित्य नैमित्तिक काम्यादि छः स्नान कर्मोंमें प्रथम नित्य स्नानके सात विभाग माने गये हैं। ये मन्त्रस्नान, मृत्तिकास्नान, अग्निस्नान, वायुस्नान, दिव्यस्नान, जलस्नान, मानसस्नान—इन नामोंसे प्रसिद्ध हैं। इनमें 'अपवित्रः पवित्रो वा' आदि मन्त्रोंका उच्चारण कर भस्म-(यज्ञभस्म) लेप कर लेना अग्निस्नान है। गोरजका लेप कर लेना वायुस्नान है और आतप वर्षामें स्नान कर लेना दिव्यस्नान है। साक्षात् जलसे स्नान कर लेना वारुण-स्नान है तथा अन्तर्जगत्में इष्ट देवताका स्मरण करते हुए स्नानकी भावना कर लेना मानस-स्नान है। स्नान एक धर्म्य अत्यावश्यक कर्म है। केवल बाह्यमलविशोध ही इसका मुख्य लक्ष्य नहीं है, अतएव इसे नित्य कर्म माना गया है। परंतु रोगादि दशामें जल-स्नान निषिद्ध है। ऐसी दशामें स्नान न करनेसे प्रत्यवाय सम्भाव्य है। इस दोषके परिहारके लिये ही अशक्त रोगार्त मानवोंके लिये इनका (मन्त्र-स्नानादिका) विधान है। स्नान-कर्मके सम्बन्धमें निम्नलिखित अवान्तर सदाचारोंका ध्यान रखना भी आवश्यक है।

प्रातः सूर्योदयसे पहले ही स्नान करे। नग्न होकर, अजीर्णावस्थामें, रात्रिमें तथा दूसरेकी गीली धोती, सिले-फटे-मैले आदि वस्त्र पहनकर भी स्नान न करे। वर्षाऋतुमें गङ्गादि पवित्र नदियोंको छोड़कर अन्यत्र स्नान न करे। नदी न हो तो तालाबमें और तालाब न हो तो कूपपर स्नान करे। इसमेंसे कोई भी साधन उपलब्ध न हो तो घरमें ही स्नान करे। यथा-

सम्भव शीतल जलसे ही स्नान करें। जनन, मरणाशौचोंमें, संक्रान्ति-ग्रहणादि पर्वोंपर, जन्मदिनमें, अस्पृश्या स्पर्श होनेपर उष्ण जलसे स्नान न कर शीतल जलसे ही स्नान करना चाहिये। एक वस्त्र (केवल धोती) पहनकर तथा भोजन करके स्नान न करे। जिस नदी या तालाब आदिकी गहराईका पता न हो, उसमें भी स्नान न करे। मकर, सर्प, घड़ियाल आदिसे युक्त नद-नदियों तथा सरोवरोंमें भी स्नान न करे। स्नानारम्भमें यथाशक्ति **'इमं मे गङ्गे'** प्रभृति मन्त्रोंका पाठ करना चाहिये।

स्नान-सदाचारके मूल तत्त्व—प्रातःस्नान करनेसे रूप, बल, शौच, आयु, आरोग्य, लोभहीनता, दुःस्वप्न-नाश, तप और मेधा—इन दश गुणोंका लाभ होता है। इन दश गुणोंके लाभ करनेमें चन्द्र और सूर्य ही कारण हैं। रात्रिभर चन्द्रामृतसे जल पुष्ट रहता है और सूर्योदयके बाद सूर्यकिरणद्वारा वह अमृत आकृष्ट हो जाता है। अतः सूर्योदयसे पूर्व नहा-लेनेपर वह अमृत स्नान करनेवालेको प्राप्त होगा। इसी प्रकार दिनभर सूर्यरश्मिके द्वारा जो शक्ति जलमें प्रवेश करती है, वह रात्रिकी ठंडकके कारण जलमें ही रह जाती है। इसी कारण शीतकालमें प्रातः-काल जल गरम रहता है, उस जलमें सब ऋतुओंमें विशेषकर शीत-ऋतुमें स्नान करनेसे त्वचापर जरा-सा प्रभाव नहीं होता तथा विविध लाभ होते हैं। रोगके कीटाणु प्रायः जलमें ही रहते हैं, सूर्योदयके पहले वे कीटाणु गम्भीर जलमें चले जाते हैं, अतः प्रातःस्नान करनेपर रोग कीटाणुका संस्पर्श भी नहीं होता। अतः बुद्धिमान् जनोंको प्रातःकाल ही स्नान कर लेना चाहिये। स्नानके बाद संध्या, तर्पण और जपादि करना चाहिये।

भोजन-कर्म—

नित्यकर्मोंके अनन्तर आवश्यक कर्म है भोजन। प्रजापतिने देवता, पितर, असुर, पशु और मनुष्य नामकी अपनी पाँच प्रजाओंके लिये भोजनकी व्यवस्था करते हुए मनुष्योंको यह आदेश दिया कि तुम अहोरात्रमें सायं-प्रातः दो बार ही भोजन करो! इस वेदके आदेशके अनुसार हमारा यह आवश्यक कर्तव्य हो जाता है कि ऋतु अथवा प्रकृतिके अनुकूल सायं-प्रातः नियत समयपर दो बार ही भोजन करे, पशुओं या असुरोंकी तरह दिन-रात इतस्ततः खाद्याखाद्य पदार्थोंका पेषण न करते रहें। भोजन ही हमारे स्थूल-सूक्ष्म कारण शरीरोंकी प्रतिष्ठा बनाता है। इसीलिये भोज्य पदार्थोंमें और भोजन-पद्धतिमें सावधानी रखनी चाहिये।

भोजन-कर्मसे सम्बद्ध अवान्तर सदाचारोंपर भी ध्यान देना आवश्यक है। दो हाथ, दो पाँव, एक मुख—इन पाँचोंको आर्द्रकर (धोकर) ही भोजन करे। म्लेच्छ, पतित, अन्त्यज, कृपण, वैद्य, गणिका, गण (सामूहिक भोज), रोगी, नास्तिक, दुराचारी, हीनाङ्ग, अधिकाङ्ग, जुआरी, शिकारी, षण्ड, कुल्टा स्त्री, प्राड्विवाक्, (जज) राजकर्मचारी, बधिक आदिसे न तो किसी प्रकार परिग्रह ले और न इनका अन्न खाय। शुद्ध वस्त्र पहनकर और उत्तरीय लेकर हाथ-पैर और मुँह धोकर पीठासनपर बैठकर गोग्रास निकालकर अपना मस्तक ढककर, दक्षिणकी ओर मुख करके भोजन करे। पतित (पापी) सूकर, श्वान, कुक्कुट, रजस्वला, नपुंसककी दृष्टिके सामने और आधी रात बीत जानेपर ठीक दोपहरमें, प्रातः-सायंकी संध्याओंमें, गीले वस्त्र पहनकर, धोतीको ऊर्ध्वाङ्ग लपेटकर तथा एकवस्त्र होकर भोजन न करे। जलमें बैठकर, उकडू बैठकर, पैरपर पैर रखकर और जूते पहने-पहने और हथेली टेककर भोजन न करे। भोजन करते समय स्त्री, पुत्र, माता-पिता आदिसे वाद-विवाद न करे। पाँव फैलाकर, गोदमें भोजन-पात्र रखकर, स्त्री तथा पुत्रोंके साथ एक थालीमें भोजन न करे। भोजन

करते समय अट्टहास न करे, न मस्तकपर हाथ रखे और न उसे खुजलाये। अन्नकी स्तुति करके भोजन आरम्भ करे। भोजन-सामग्री सामने आ जाय तो उसे देखकर मुँह न बिचकाये। क्रोधवश भोजन-थालीको बीचमें ही छोड़कर उठ खड़ा न हो। समयपर रूखा-सूखा जैसा भी भोजन सामने आ जाय उसे साक्षात् अन्नब्रह्म मानकर उद्वेगरहित होकर ग्रहण करे। देवताओंको निवेदन किये बिना भोजन न करे। खड़े-खड़े अथवा चलते-चलते, झूलेमें बैठकर, बिना आसन-के, फटे या कार्पासके आसनपर बैठकर भोजन न करे। अनेक मनुष्योंकी दृष्टिके सामने अथवा किसी एक व्यक्तिके देखते हुए अनेक व्यक्ति भी भोजन न करे। हथेलीमें रखकर और सोता-सोता भोजन न करे। परिवारके अवर व्यक्तियोंको भोजन करानेके बाद स्वयं भोजन करे। यथासम्भव अतिथिको भोजन कराकर भोजन करे। यदि पड़ोसमें किन्हीं गो-ब्राह्मणोंपर कोई संकट आया हो तो उनकी यथाशक्ति सहायता करके ही भोजन करे। चन्द्र-सूर्य-ग्रहण तथा अजीर्णावस्थामें भी भोजन न करे। टूटे, लौह एवं तत्सम हीन बर्तनोंमें भोजन न करे। शाक, क्षीर आदिके छोटे पात्रोंको बड़ी थालीमें न रखे। धन-सामर्थ्य रहते निन्द्य भोजन न करे। द्विजाति व्यक्ति रूक्ष, प्याज, लहसुन, मसूर तथा रात्रिमें तेल, दधि न खायँ। उच्छिष्ट अन्नादिमें घृत न खाये। भोजन करते समय सूर्य, चन्द्र और तारोंको न देखे तथा वेदमन्त्रोंका उच्चारण न करे। भोजनके आदि-अन्त तीन-तीन बार आचमन करे। हाथसे हथेलीमें लवण (नमक) न ले। ताँबेके पात्रमें दूध या गन्नेका रस न पीये। नारियल-का पानी और मधु काँसी एवं ताँबेके बर्तनमें न पीये। श्रावणमें शाक, भाद्रमें दही, आश्विनमें दूध, कार्तिकमें दाल और माघमें मूली न खाये। बायें हाथसे जल न पीये। प्रतिपदाके दिन कुम्हड़ा खानेसे अर्थनाश तथा अष्टमीके दिन नारियल खानेसे बुद्धि नष्ट होती है। चतुर्दशीके दिन उड़द खानेसे आत्मा मलिन होता है।

कुक्कुट, श्वान, सूकर, रजस्वला और नपुंसक-की दृष्टिके सामने भोजन न करे। इसका मूल तत्त्व यह है कि इनकी दृष्टिमें विष रहता है, जो अन्नमें संक्रमित हो जाता है। इससे अजीर्ण रोग उत्पन्न होता है। परंतु पिता-माता, बन्धु, वैद्य, पुण्यात्मा, हंस, मयूर, सारस चकवेकी दृष्टिमें भोजन उत्तम है, इनकी दृष्टिसे भोजनका दोष दूर हो जाता है, इनकी दृष्टि अमृतमयी है। अन्नकी स्तुति करके भोजन करे। इसका मूल तत्त्व यह है कि वेद-विज्ञानके अनुसार अपने मनोभावोंका परिणाम प्रकृतिपर भी होता है, अतः अन्नपर भी अन्नकी स्तुति और निन्दाका परिणाम होना अनिवार्य है। निन्दासे अन्नगुणोंका अभिभव तथा स्तुतिसे उसके गुणोंका उद्रेक होता है, अतः उसकी स्तुति करके भोजन करे।

सूर्य-चन्द्र, ग्रहणमें भोजन न करे—इस सदाचारका मूल तत्त्व यह है कि सूर्य और चन्द्र-ग्रहणमें सूर्य और चन्द्रमाकी किरणें पार्थिव छायाके सम्पर्कसे विषमय हो जाती हैं, उनसे सम्पृक्त सब पदार्थोंमें वह विष संक्रान्त हो जाता है। अन्नके साथ वह विष हमारे शरीरमें चला जाता है, जो सात पीढ़ीतक दुश्चिकित्स्य कैंसर, कुष्ठ, भगंदर, अस्थीव्रण, अन्धत्व आदि रोगोंका जनक हो जाता है। शाक, क्षीर आदिके छोटे पात्रोंको (कटोरी आदिको) बड़ी थालीमें न रखनेका मूल तत्त्व यह है कि वेद-विज्ञानके अनुसार जड़ पदार्थोंमें भी क्षीण-ज्ञान और स्पर्धा प्रतिष्ठित है, उनका ज्ञान एक अथवा 'उद्दाम' है। 'उद्दाम' यह ज्ञान शक्तिका माप है। बड़े पात्रमें जब छोटे पात्रोंको रखेंगे तो उनमें परस्पर स्पर्धाके कारण पदार्थोंमें भी स्पर्धाभाव उत्पन्न हो

जाता है, जिसके भोजनसे भोक्ताके मन, बुद्धि आदिमें स्पर्धाभाव प्रतिष्ठित होता है। अतः छोटे पात्रोंको थालीके बाहर रखकर भोजन करना चाहिये। देवताओं (श्रीभगवान्)को निवेदन किये बिना भोजन न करे। इसका मूल तत्त्व यह है कि भोग्य पदार्थोंको भगवान्के समर्पण करनेसे उनमें दिव्यभाव जागृत होते हैं, प्रसाद-बुद्धिसे स्वीकार किया हुआ भोज्य कर्मबन्धनको काटता है। परमात्माके दिये हुए पदार्थोंको जो उनको समर्पण न करके पाता है, वह स्तेन (चोर) है—**'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।'** (गीता ३।१२)

शयन-विधि

शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्ग और स्नायुओंको विश्रान्ति न देनेसे वे चल नहीं सकते। निद्रा-अवस्थामें उन्हें शान्ति मिल जाती है। अतः निद्रा प्राणिमात्रके लिये आवश्यक है। पशु-पक्षी भी निद्रा लेते हैं। अर्धचेतन वृक्ष भी सो जाते हैं। रात्रिमें वारुणभावके कारण चेतना (ज्ञान) बीस अंश गिर जाती है। शारीरिक तीन स्तम्भोंमें निद्रा भी एक स्तम्भ है, परंतु अतिनिद्रा एक रोग है। किस प्रकार तथा किस समय सोये इसका भी विचार आर्यशास्त्रोंमें किया गया है। पाँव गीले करके न सोये। उत्तर दिशा और पश्चिम दिशाकी ओर मस्तक करके न सोये। टूटी, शिथिल, अग्नि-दग्ध, विद्युत्से दग्ध, मलिन, फटी खट्वा (शय्या) पर न सोये। हाथोंका तकिया बनाकर, उन्हें छातीपर रखकर, पैरों-को सिकोड़कर और सिरहाने तथा पैरोंके पास शैय्याके समीप दीपक रखकर न सोये। पुष्पमाला लेकर, ऋतु-कालके अतिरिक्त समयमें स्त्रीके साथ न सोये। दिनमें, प्रातः-सायं और संध्याकालमें न सोये। सब वस्त्र पहनकर अथवा नग्न होकर भी न सोये। अँगड़ाई लेता हुआ न सोये। पर्वत-मस्तकपर, नदीतटपर, नौकामें, आर्द्र स्थानपर, रात्रिमें वृक्षके नीचे तथा गवाक्षमार्ग, क्षुद्रमार्ग आदिका अवरोध करके न सोये। श्मशानभूमि, शून्यगृह, देवालयोंमें और स्त्रीसमुदायमें भी न सोये। हास्योपहासरत, चपल व्यक्तियोंके मध्यमें, खुली छतपर, अशुचि प्रदेशोंमें, पशुशालामें, ग्रहणके समय, असाध्य एवं दुःसाध्य रोगीकी परिचर्या करते हुए और वृद्ध-पूज्य कुटुम्बियों-से प्रथम न सोये। केश, कपाल, अस्थि, भस्म, अङ्गार आदिसे युक्त स्थानोंमें न विश्राम करे, न सोये। प्राणियुक्त गर्तादिके समीप, बल्मीक या चतुष्पथके समीप भी न सोये। सोनेसे पहले अपने दिनभरके शुभाशुभ कर्मोंका निरीक्षण, विहंगावलोकन करते हुए, अशुभ कर्मोंके लिये परिताप एवं आगेसे ऐसे कर्मोंको न करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए ईश्वरका संस्मरण करना चाहिये। तदनन्तर सुखशायी भगवान् शेष नारायणका स्मरण करते हुए शान्तिपूर्वक सो जाना चाहिये।

व्यवहारमें पालनीय सदाचरण

यदन्यैर्विहितं नेच्छेदात्मनः कर्म पूरुषः।
न तत् परेषु कुर्वीत जानन्नप्रियमात्मनः॥

(महा० शान्तिपर्व २५९। २०)

(भीष्मजी कहते हैं—) 'मनुष्य दूसरोंके द्वारा किये हुए जिस व्यवहारको अपने लिये वाञ्छनीय नहीं मानता, दूसरोंके प्रति भी वह वैसा बर्ताव न करे। उसे यह जानना चाहिये कि जो बर्ताव अपने लिये अप्रिय है, वह दूसरोंके लिये भी प्रिय नहीं हो सकता।

सदाचार—धर्मव्यवस्थाका अन्यतम अङ्ग

(ले०—महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीभजनानन्दजी सरस्वती)

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः
(गीता ४ । १६)

'क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य—इस विषयमें बड़े-बड़े विद्वान् भी निर्णय नहीं कर पाते,' तब फिर कोई सांसारिक मनुष्य—जिसने धर्मशास्त्रोंका स्पर्शतक भी नहीं किया है वह, अपने कर्तव्यका निर्णय कैसे कर सकेगा ? ऊपरका वाक्य श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा है। श्रीकृष्ण-जैसे उपदेशक गुरुके मिलनेपर ही अर्जुन भी कर्मका निश्चय कर सके थे। सामान्य मनुष्यके सामने फिर भी कर्तव्य-अकर्तव्यका प्रश्न वैसे ही खड़ा रहता है। समस्या केवल अर्जुनके सामने आयी हो, ऐसा भी नहीं है। उपनिषद्में दीक्षान्त उपदेश करते समय शिष्यके सामने इस तरहके उठनेवाले प्रश्नोंका समाधान करनेका प्रयास किया गया है।

'अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः, युक्ता आयुक्ताः, अलूक्षा धर्मकामा स्युः, यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः।' (तैत्ति० उप० १ । ११ । ३-४)

अर्थात् 'जब तुम्हें कर्मके अथवा जीविकाके सम्बन्धमें कुछ संदेह हो तो वहाँके लोभरहित, धर्मनिष्ठ ब्राह्मण जैसा व्यवहार करें, तुम भी उसी तरहका व्यवहार करना।' तात्पर्य यह कि विभिन्न देशभेद, कालके भेदसे आपत्काल आदिमें बहुत-से ऐसे प्रश्न उठ खड़े होते हैं, जिनके विषयमें धर्मशास्त्रकार मौन-से हैं। ऐसे अवसरोंपर केवल सदाचार (वहाँके शिष्ट पुरुषोंका व्यवहार) ही धर्मका निर्णायक होता है। उदाहरणके लिये—बलात् धर्म-परिवर्तन किये गये व्यक्तियोंको पुनः उसी धर्ममें लेनेका प्रश्न। इस सम्बन्धमें स्मृतिकारोंके स्पष्ट निर्देश न होनेपर भी मध्यकालके संतों-महापुरुषोंके द्वारा डाली गयी परम्पराओंके आधारपर आज व्यवस्था दी जाती है कि शुद्धिपूर्वक इस तरहके व्यक्ति ग्राह्य हैं।

जैसे धर्मके निर्णायक वेद और स्मृतियाँ हैं, वैसे ही सदाचार भी है। यह वेद और स्मृतिसे किसी भी तरह कम नहीं है। युधिष्ठिरने भी—**'महाजनो येन गतः स पन्थाः'** (महाभा० वन० ३ । ११३—११७) कहकर सदाचारको ही अनुसरणीय बतलाया था।

देशकी करोड़ों निरक्षर जनता सदाचारको ही (जो परम्पराके रूपमें उसे प्राप्त है अथवा समाजमें जिसे वह देखती चली आ रही है,) धर्म मानती है। यदि इस देशमें पूर्वजोंको श्रेष्ठ मानकर उनके-जैसा आचरण करनेकी प्रवृत्ति न होती तो पता नहीं यह समाज आज कहाँ पहुँचा होता। हमारा समाज मुख्यतया सदाचारपर ही आधृत है। प्रत्येक समाजमें कुछ महापुरुष होते हैं, जिनके व्यवहार वहाँ सदाचारमें गिने जाते हैं। जहाँ किसी सदाचारको मान्यता नहीं, वहाँकी उच्छृङ्खल पीढ़ी हिप्पी-समाजके रूपमें देखी जा सकती है, जो किसी नियमके अंदर नहीं रहना चाहती। ब्रिटेनका संविधान प्रायः परम्पराओंपर ही निर्भर है, अर्थात् पूर्व पुरुषोंके व्यवहारसे वे कानून-जैसे विषयोंतकका भी निर्णय करते हैं।

सत् अथवा शिष्टकी अनेक ग्रन्थोंमें विभिन्न परिभाषाएँ मिलती हैं। संक्षेपमें उन सबका सार इतना ही है कि राग-द्वेष आदिसे शून्य महापुरुष ही सत् या संत हैं। आचारके सम्बन्धमें इतना ही कहा जा सकता है कि बिना किसी विशेषणके भी आचार शब्द अच्छे आचरणके लिये ही व्यवहारमें आता है—जैसे **'आचारः परमो धर्मः'** आदिमें है। आचारकी शिक्षा देनेवालेको आचार्य कहा जाता है। **'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'** आदिमें केवल आचार शब्दसे स्मृतियोंमें प्रतिपादित आचरणका

ही ग्रहण होता है। इस तरहकी व्याख्यासे एक बात और स्पष्ट होती है कि शास्त्रप्रतिपादित व्यवहार आचार है और परम्पराओंके रूपमें चला आनेवाला श्रेष्ठ व्यवहार सदाचार। इसे ठीकसे समझनेके लिये एक बात लें। जैसे शास्त्रोंमें कहा गया—'मातृवत् परदारेषु' (पद्मपुराण १।१९।३५६, गरुडपु० १।१११।१२, पञ्चत० २।४३५, चा० नी० ६।१२, हितोप० १।१४)—परस्त्रीमें माताकी बुद्धि रखो, यह कैसे होगा? इस विषयमें कोई उदाहरण निर्दिष्ट नहीं है। इस सम्बन्धमें रामायणादि इतिहासोंमें महापुरुषोंके व्यवहार (सदाचार) हमें शिक्षा देते हैं। उदाहरणार्थ लक्ष्मणने १३ वर्षतक वनमें साथ रहते हुए भी सीताजीके मुखकी ओर नहीं देखा। कोई भी व्यक्ति स्त्रियोंके मुखकी ओर दृष्टि न रखकर चरणोंपर दृष्टि डाले तो स्वयमेव मातृबुद्धिका उदय होगा, यही सदाचारकी व्यवस्थात्मक शिक्षा है।

सदाचार एवं शीलका स्वरूप, परिभाषा एवं महत्त्व

(लेखक—पं० श्रीतारिणीशजी झा, व्याकरण-वेदान्ताचार्य)

'सत्+आचार=सदाचार' (सन् चासौ आचारः) इस विग्रह-वाक्यके अनुसार 'सदाचार'का अर्थ है—उत्तम आचरण या अच्छा व्यवहार। शास्त्रकारोंकी व्याख्याके अनुसार इस सदाचारके कई भेद हैं। स्मृतिकार हारीतने सदाचार या शीलके तेरह भेद बतलाये हैं—१—ब्रह्मण्यता (ब्राह्मणोंकी भक्ति), २—देवपितृभक्ति, ३—सौम्यता, ४—अपरोपतापिता (दूसरेको न सताना), ५—अनसूयता, ६—मृदुता, ७—अपारुष्य (कठोर न होना), ८—मैत्री, ९—मधुरभाषण, १०—कृतज्ञता, ११—शरण्यता (शरणागतकी रक्षा), १२—कारुण्य और १३—प्रशान्ति। इन भेदोंसे युक्त शीलाचारका महत्त्व शास्त्रोंमें बहुधा वर्णित है। महाभारतमें दुर्योधनसे शीलकी महिमा बताते हुए धृतराष्ट्रने कहा—'तीनों लोकोंमें ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो शीलवान्को प्राप्त न हो सके। शीलसे तीनों लोक जीते जा सकते हैं; इसमें संदेह नहीं—

> शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्या जेतुं न संशयः।
> न हि किंचिदसाध्यं वै लोके शीलवतां भवेत्॥
> (महाभारत, शान्तिपर्व १२४।१५)

शीलके बलसे कई राजाओंने पृथ्वीको एक, तीन, सात दिनोंमें ही स्वायत्त किया था—

> एकरात्रेण मान्धाता त्र्यहेण जनमेजयः।
> सप्तरात्रेण नाभागः पृथिवीं प्रतिपेदिरे॥
> एते हि पार्थिवाः सर्वे शीलवन्तो दयान्विताः।
> अतस्तेषां गुणक्रीता वसुधा स्वयमागता॥
> (महा० १२।१२४।१६-१७)

इस शील-सदाचारका संक्षेपमें लक्षण यह है कि मनुष्यका ऐसा स्वभाव होना चाहिये जिससे वह सबका प्रशंसा-भाजन बन सके। प्राणिमात्रके प्रति अद्रोहकी भावना, अनुग्रह एवं दान करनेका स्वभाव होना शील कहा गया है—

> अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
> अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते॥
> (वही, श्लोक ६६)

यद्यपि संसारमें इसके विपरीत भी कहीं कभी देखा जाता है कि शीलरहित दुराचारी लोग भी बहुत धन एवं सुख प्राप्त कर लेते हैं, किंतु इसका उत्तर महाभारतकारने ही दे दिया है—

> यद्यप्यशीला नृपते प्राप्नुवन्ति श्रियं क्वचित्।
> न भुञ्जते चिरं तात समूलाश्च न सन्ति ते॥
> (वही, श्लो० ६९)

'दुःशील लोग भले लक्ष्मीको पा जायँ, पर वे चिरकालतक उसका उपभोग नहीं कर पाते और समूल

नष्ट हो जाते हैं ।' ऐसा विचारकर मनुष्यको शीलवान् बननेका ही प्रयत्न करना चाहिये ।

मनुष्यके लिये यह शील नामक आचार जितना आवश्यक है, उतना ही स्नान-ध्यान-पूजा-पाठ आदि और शास्त्रोक्त शारीरिक आचार भी आवश्यक है । यम-नियमके लक्षण भी कुछ ऐसे ही हैं—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।
शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

अर्थात्— 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये यम हैं तथा पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरमें दृढ़ विश्वास—ये नियम हैं ।

सदाचारका फल बताते हुए मनुने कहा है—

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः ।
आचाराद् धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम् ॥
(४ । १५६)

'मानव आचारसे आयुको प्राप्त करता है, आचारसे अभीष्ट पुत्र-पौत्र आदि संतान प्राप्त करता है, आचारसे कभी नष्ट न होनेवाले धनको प्राप्त करता है, इतना ही नहीं, आचारसे वह अपने अनिष्टका निवारण भी कर लेता है ।'पर,

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥
(४ । १५७)

अर्थात्—'दुराचरणवाला पुरुष निश्चय ही समाजमें निन्दा प्राप्त करता है, दुःखका भागी होता एवं व्याधियुक्त होता है और अल्पायु भी होता है ।'

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥
(मनु ४ । १५८, महा० १३ । १०४)

अर्थात्—'समस्त शुभ लक्षणोंसे हीन होनेपर भी जो पुरुष सदाचारी तथा श्रद्धापूर्ण और ईर्ष्यारहित है, वह सौ वर्षोंतक जीवित रहता है ।'

अन्यत्र भी कहा है—

आचाराद् विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत् ॥

'सदाचारसे हीन ब्राह्मण वेदका फल नहीं पाता, पर सदाचारी होनेपर उसे सम्पूर्ण फल मिल जाता है ।'

अतएव मानव-जीवनमें सदाचारका विशेष महत्त्व है ।

सदाचारके लिये क्या सीखें ?

सर्वतो मनसोऽसङ्गमादौ सङ्गं च साधुषु ।
दयां मैत्रीं प्रश्रयं च भूतेष्वद्धा यथोचितम् ॥
शौचं तपस्तितिक्षां च मौनं स्वाध्यायमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसां च समत्वं द्वन्द्वसंज्ञयोः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ३ । २३--२४)

'पहले शरीर, संतान आदिमें मनकी अनासक्ति सीखें, फिर भगवान्‌के भक्तोंसे प्रेम कैसे करना चाहिये—यह सीखें । इसके पश्चात् प्राणियोंके प्रति यथायोग्य दया, मैत्री और विनयकी निष्कपटभावसे शिक्षा ग्रहण करें । मिट्टी-जल आदिसे बाह्य शरीरकी पवित्रता, छल-कपट आदिके त्यागसे भीतरकी पवित्रता, अपने धर्मका अनुष्ठान, सहनशक्ति, मौन, स्वाध्याय, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा शीत-उष्ण, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें हर्ष-विषादसे रहित होना सीखें ।'

वैदिक सदाचार

(लेखक—श्रीनीरजाकान्त चौधुरी देवशर्मा, विद्यार्णव, एम्० ए०, एल्०-एल्० बी०, पी-एच्० डी०)

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।

(मनु० १ । १०८)

श्रुति और स्मृतिद्वारा प्रतिपादित आचार ही उत्कृष्ट धर्म है ।

आचाराद् विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते ।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥

(मनु० १ । १०९-११०)

'आचारहीन ब्राह्मण वेदका फलभागी नहीं होता । समस्त तपस्याका मूल उत्कृष्ट आचार ही कहा गया है । सदाचार अर्थात् साधु-शिष्ट और धार्मिक लोगोंका आचार ही साक्षात् धर्मका लक्षण है ।' मनुका निदर्शनात्मक देश-परक लक्षण यह है—

तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥

(वही २ । १८)

"सरस्वती और दृषद्वती इन दोनों देवनदियोंके मध्यस्थलमें स्थित देवनिर्मित 'ब्रह्मावर्त देश' है । 'उस देशमें प्रचलित ब्राह्मणादि चार वर्णों एवं अवान्तर जातियोंका जो परम्परागत आचार है, वही सदाचार है ।' मनुने सगौरव घोषणा की है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(वही २ । २०)

'इस आर्यावर्तमें जन्म लेनेवाले ब्राह्मणलोगोंसे पृथ्वीके अन्य सब लोग अपने-अपने आचार-व्यवहारकी शिक्षा लेते थे ।'

आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात् ।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥

(वही २ । २२)

'हिमालय और विन्ध्यके बीच पूर्वसे पश्चिम समुद्रतक विस्तृत पुण्य भूमिको पण्डितलोग आर्यावर्त कहते हैं ।' नवम शताब्दीके मेधातिथिने मनुभाष्यमें कहा है—

'आर्या वर्तन्ते तत्र पुनःपुनरुद्भवन्ति । आक्रम्याक्रम्यापि न चिरं तत्र म्लेच्छाः स्थातारो भवन्ति ।'

'आर्यावर्तमें आर्यलोग रहते हैं । म्लेच्छ या अनार्यगण बार-बार इस देशपर आक्रमण करके भी यहाँ चिरस्थायी नहीं हो पाते ।' क्या ये भविष्यद्द्रष्टाके वचन नहीं हैं ? शक, हूण लोग प्रारम्भमें आकर यहाँसे चले गये । इसके पश्चात् अरब, पठान, तुर्की, मुगल, अंग्रेज और दूसरे यूरोपनिवासियोंने इस देशपर आक्रमणकर इसपर कुछ समयके लिये अधिकार तो किया, पर अन्तमें एक दिन उन्हें भी जाना ही पड़ा है ।

'आर्य' का अर्थ है—**'सत्कुलोद्भव'** (अमरकोश)' किंतु **'सदाचारेणैव नराणामार्यत्वं न धनेन न च विद्यया'**, अर्थात् धनवान् या विद्वान् होनेसे ही कोई आर्य नहीं हो सकता, महाकुलकी कुलीनताके साथ सदाचार ही आर्यके आर्यत्वका प्रधान लक्षण है । म्लेच्छ या अनार्यके आचरणको सदाचार नहीं कहा जा सकता । आजके विद्यालयोंमें पढ़ाया जाता है कि हमारे पूर्वपुरुष आर्यलोग आनुमानिक १५००से१००० ई० पूर्व बाहरके किसी स्थानसे इस देशमें आये थे; किंतु यह बात बिल्कुल झूठी है । ऋग्वेदके अनुसार तो अनार्यगण कीकट[1] देशके ही रहनेवाले थे और वे यज्ञादि कभी नहीं करते थे । भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि असुर-प्रकृतिके लोगोंमें सत्य, शौच, आचार प्रभृति कुछ नहीं होता ।

धर्मका मूल और रक्षक आचार ही है

अनेक वर्ष पहलेकी बात है । कलकत्ता यूनिवर्सिटीके इन्सिट्यूटहालमें (The University Institute Hall)

१—'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः' इत्यादि । (ऋक् सं० ३ । ५३ । १४)
कीकटदेश अनार्य-निवास है, यह महर्षि यास्कका वचन है । (निरुक्त ३ । ३२)

'कलियुगके व्यास' पञ्चानन तर्करत्न महाशयकी स्मृतिसभामें स्वर्गीय महामहोपाध्याय दुर्गाचरण सांख्य-वेदान्ततीर्थ-जीने कहा था—'आचारके बिना धर्मका रहना असम्भव है।' इसको स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था—'जिस प्रकार धानकी रक्षा उसके तुष (छिल्का)के बिना असम्भव है, उसी प्रकार धर्मकी रक्षा आचारके बिना असम्भव है। केवल चावलके बोनेसे कभी धानका पौधा नहीं उगता।' पाश्चात्य विचारधारायुक्त आधुनिक कालके पढ़े-लिखे लोग बहुधा व्यङ्ग्य करते हैं कि हिंदुओंका आचार एक विचित्र कट्टरतायुक्त असत्य और व्यर्थका क्रियानुष्ठान (Meaningless ritual of orthodoxy) है। स्वयं विवेकानन्दजी भी कहते थे कि 'हमारा धर्म आज रसोईके बर्तनमें प्रवेश कर गया है। (Religion has entered the cooking pot)' किंतु हमारे आचार और विचार सिद्धान्त-सिद्ध एवं अत्यन्त सावधानीसे स्थिर किये गये हैं। हाँ, उनपर गम्भीरतापूर्वक विचारकी आवश्यकता है।

मूलतः वर्णाश्रमी भारतीय जातिके पुरुषार्थ चार हैं —धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। शास्त्रके अनुसार धर्मके अविरुद्ध ही काम और अर्थग्राह्य हैं। इस चतुर्वर्गका चरम लक्ष्य मोक्ष अर्थात् जन्मान्तरके बेड़ेसे मुक्त होना है। यह अत्यन्त कठिन कार्य है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(गीता ७। ३, १९)

अन्य धर्मोंमें जन्मान्तर या मोक्षकी बात नहीं दीखती। कई धर्म तो स्त्रीमें आत्मा ही नहीं मानते, फिर उनका मोक्ष वे क्यों मानने लगे? पर सनातनधर्मके अनुसार अनेक जन्म-जन्मान्तरकी साधनाके फलस्वरूप करोड़ोंमें एक मनुष्य मोक्ष लाभ करता है—जैसा कि उपर्युक्त श्लोकोंमें वर्णित है।

आहारशुद्धि मोक्ष-प्रापक

आहार-शुद्धि वैदिक धर्मके सदाचारकी एक मुख्य विशेषता है। श्रुति कहती है—

'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।'
(छान्दोग्योप० ७। २६। २)

देह शुद्धिके लिये शुद्ध आहार अत्यावश्यक है। आहारसे ही रक्त, मांस, हड्डी, मेद, मज्जा आदि बनते हैं। अतः शुद्ध देहके बिना मन या चित्त किस प्रकार शुद्ध रह सकते हैं? मनके शुद्ध होनेसे तैलधारावत् सदा 'ध्रुवा स्मृति' अर्थात् श्रीभगवान्‌का स्मरण होता रहता है। यह मोक्ष लाभ करनेमें परम सहायक और एकमात्र उपाय है। इसलिये ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये आहार-शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है*। इसे कट्टरता नहीं कहा जा सकता। ब्रह्मसूत्र या वेदान्तदर्शनके **'अबाधाच्च'** (३। ४। २९) सूत्रमें भोजनके नियमोंकी रक्षापर बल दिया गया है। केवल प्राणात्ययके समय यानी जीवन-भय होनेपर ही भक्षणाभक्षणके नियम-कानून जरूरतके अनुसार शिथिल किये जा सकते हैं (मनु० १०। १०४)।

उच्छिष्ट या अमेध्य भोजन निषिद्ध

श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥
(१७। १०)

'अधपका, रस-रहित और दुर्गन्धयुक्त तथा बासी और जूठा एवं अपवित्र भोजन तामसी जनको प्रिय होता है।'

मनुने भी कहा है—

शुक्तं पर्युषितं चैव शूद्रस्योच्छिष्टमेव च।
(४। २११)

* शांकरभाष्यके अनुसार आहारके साथ श्रवण, भाषण, दर्शनादिकी भी शुद्धि परमावश्यक है।

'उच्छिष्टं भुक्तावशिष्टम्, अमेध्यं यज्ञानर्हम्।'*

उच्छिष्टका अर्थ है—अन्यके भोजनका अवशिष्ट और अमेध्यका अर्थ है—यज्ञके लिये अयोग्य। महाभारतमें अनेक जगह उच्छिष्टभोजनकी निन्दा की गयी है। **'परस्य स्पर्शादशुद्धं भुक्तोज्झितं च'** (मेधातिथि)। यहाँ तो दूसरोंके स्पर्शद्वारा अशुद्ध होनेको भी 'उच्छिष्ट' होना कहा गया है।

वैदिक जातिका आहार भी एक यज्ञ है। ब्राह्मण लोग अपने भोजनके पूर्व **'स्वाहा'** मन्त्रद्वारा पञ्चप्राणप्रभृतिको आहुति देते हैं। 'अमेध्य'का अर्थ है—जो द्रव्य भगवान्के भोगके लिये अर्पण नहीं किया जा सकता, अर्थात् अपवित्र। अतः यह आहार—शास्त्रमें निषिद्ध है। प्याज, लहसुन, कवक, कुक्कुट आदि खाद्य अमेध्य और भोजनके योग्य नहीं हैं (मनु० ५। १९)। वेदाङ्गमें कुक्कुट-भक्षणका निषेध है। किसी दूसरे मनुष्यको स्पर्श करके भोजन करनेसे भी वह उच्छिष्ट हो जाता है, यही भारतवर्षकी चिरचरित नीति है। किसी अन्य स्त्रीके साथ ही नहीं, बल्कि, अपनी धर्म पत्नीके साथ भी एक पात्रमें भोजन करना भी शास्त्रमें निषिद्ध है। यहाँतक कि स्त्रीको भोजन करते देखना भी मना है। मनु कहते हैं—

नाश्नीयात् भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम्। (४। ४३)

पाश्चात्त्य देशोंमें अवश्य ही स्त्रियोंके सहित टेबुलपर भोजनका नियम है। पर हमारे यहाँका यह आचार नहीं है।

हड़प्पा-सभ्यतामें उच्छिष्ट-प्रसङ्ग

वर्तमान समयमें भी अगर कोई हिंदू एक बार मिट्टीके बरतनको मुँह लगाता है तो वह जूठा और अशुद्ध हुआ ही समझा जाता है, लाख धोनेपर भी वह शुद्ध नहीं होता। रेलगाड़ीमें भ्रमणके समय या होटलमें मिट्टीके कुंडे (चूकड़) चाय पीनेके पश्चात् फेंक दिये जाते हैं। यह हिंदूसमाजका एक साधारण आचार है। पृथ्वीके और किसी देशमें यह धारणा या प्रचलन नहीं है। पर भारतमें यह प्रथा पाँच सहस्र वर्षोंके भी पूर्वसे प्रचलित थी, इसके प्रान्तिक प्रमाण भी मिले हैं। मोहन-जो-दड़ो आदि प्राचीन नगरके ध्वंसावशेषमें सर्व-साधारणके प्रयोगके योग्य अनेक पक्के कुएँ (ईंटों-द्वारा बने) पाये गये हैं। उन कुओंके पास मिट्टीके हजारों बर्तन (कुण्डे) पड़े हुए पाये गये हैं। यूरोपीय गवेषकोंके अनुसार उन दिनों भी वर्तमान कालके न्याय (उच्छिष्ट-बोध) लोगोंमें था और इसी कारण एक बार जलपानके पश्चात् वे फेंक दिये जाते थे।

पाणिनि-व्याकरण

पाणिनि व्याकरण वेदाङ्ग है। इसके **'शूद्राणामनिरवसितानाम्'** (२। ४। १०) सूत्रमें बहिष्कृत-अबहिष्कृत व्यक्तियोंके स्पर्शास्पर्शका उल्लेख है। भोजन बनानेमें प्रयोग किये गये बर्तनोंको माँजकर शुद्ध कर देनेकी प्रथा आज भी प्रचलित है।

मेगास्थनीजका विवरण

ई०पू०चौथी शताब्दीमें यूनानी राजदूत मेगास्थनीज सम्राट् चन्द्रगुप्तके समय पाटलिपुत्र नगरमें निवास करता था। उसने इस देशके लोगोंको अलग बैठकर खाते देखकर आश्चर्य प्रकट किया था; क्योंकि उन दिनों भी यूनानके लोगोंमें एक साथ बैठकर खानेकी प्रथा थी।

स्पर्शदोष या बोध क्रमशः शिथिल हो रहा है

वर्तमान कालमें अनेक प्रकारसे उच्छिष्ट, अमेध्य द्रव्य या आहारका व्यवहार बढ़ रहा है और इसीके साथ-साथ प्राचीन नियम भी शिथिल होते जा रहे हैं। आधुनिक कालमें चाय, काफी, पान, डबलरोटी, अंडा,

* उच्छिष्ट शब्द वेदमें भी अन्य अर्थमें है। ध्यान रहे अथर्ववेद ११। ७ आदिके उच्छिष्ट सूक्तोंमें उच्छिष्टका अर्थ ऊर्ध्वभागमें अवशिष्ट परमात्मा ही है, जिसके अन्तर्गत सभी नामरूप काल-कर्मादि निर्मित हैं।

केक आदिका आहार-व्यवहार तथा होटल, रेस्टोरेन्ट, रेल-गाड़ी और मेजपर खानेके नियमोंके चल पड़नेसे पुराने पवित्र नियम समाप्त होते जा रहे हैं। पाश्चात्य देशोंके नियमोंको हमारे देशकी जनताने आज ग्रहण कर लिया है।

अहिंसा साधारण धर्म—वेदका आदेश

वैदिक वर्णाश्रमी समाजमें अहिंसा सभी वर्ण और जातिके एक विशिष्ट साधारण धर्मकेरूपमें परिचित है। श्रुतिका आदेश है—**'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि।'** महाभारतमें अहिंसाकी बहुत प्रशंसा है।

अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते॥
(अनुशासनप० ११५। २५)

यह अहिंसाकी भावना सदाचारका एक अङ्ग है। मनसा, वाचा, कर्मणा किसी जीवका जी न दुखाना अहिंसा है।

दैहिक-शौचाचार

देहके शौच अन्तःशौच तथा चित्तशुद्धिके लिये अनिवार्य हैं। इसलिये मल-मूत्र-त्यागके पश्चात् जल और मिट्टीका व्यवहार वैदिक रीति या विशिष्ट प्रथा है। मलत्यागके उपरान्त सवस्त्र स्नान कर्तव्य है। पूर्वकालमें ब्राह्मणोंके लिये तीनों संध्याओंमें तीन बार स्नानके नियम (त्रिषवण स्नान) चालू रहा। मलत्यागके पश्चात् जल-मिट्टीका व्यवहार पृथ्वीभरमें दूसरे और किसी देश अथवा धर्ममतमें नहीं है। कलकत्तानिवासी सुप्रसिद्ध चिकित्सक डॉ० श्रीनलिनीरञ्जन सेन गुप्त, एम्० डी० ने—जो एक महापुरुष थे, नानाप्रकारके विज्ञान-सम्मत प्रमाणोंद्वारा सिद्ध किया है कि कागज- (Toilet paper) द्वारा जो पाश्चात्य जातिके लोग व्यवहारमें लेते हैं, मलस्थानोंकी पूरी सफाई नहीं होती, कुछ मैल सूक्ष्मरूपसे रह ही जाती है।

स्नान वैदिक प्रथा है

अति प्राचीन कालसे ही भारतमें स्नान प्रातःकालीन नित्यकर्म है। तेल लगानेकी प्रथा तो स्नानसे भी पहले अभिज्ञात है। आयुर्वेदमें इन दोनोंकी अनुष्ठेयता निःसंदिग्ध प्रतिपादित है। मोहन-जो-दड़ोमें आविष्कृत हड़प्पा सभ्यताकी प्राचीन नगरीमें प्रायः प्रत्येक गृहमें स्नानागारकी सुव्यवस्था थी, इसके कई प्रमाण मिले हैं। वहाँपर तेल लगानेकी प्रथाके भी लक्षण प्राप्त हुए हैं। तैलाभ्यङ्ग और स्नान हमारे आचारके अङ्ग हैं*।

पाश्चात्य देशोंमें नहानेके नियम विरले हैं

आश्चर्यकी बात यह है कि तथाकथित सुसभ्य पाश्चात्य जातियोंमें आज भी रोज नहानेकी प्रथा नहीं है। इंग्लैंडके राजप्रासाद बकिंघम पैलेसमें रानी विक्टोरियाके अभिषेककाल (१८३७ ई०) तक कोई स्नानागार न था। इंग्लैंडके प्रधानमन्त्रीके वासस्थानमें सर्वप्रथम स्नानागारका निर्माण १८९५ ई० में हुआ।

रवीन्द्रनाथके विचार

विश्वकवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुरने मात्र १७ वर्षकी आयुमें इंग्लैंड यात्रा की थी। उनका 'यूरोप प्रवासीन पत्र' 'भारती' पत्रिकामें (आनुमानिक १८७८ ई०में) इस प्रकार प्रकाशित हुआ था—"सुना गया कि विलायत देशमें नहाना फैशन हो गया है। किंतु यह बहुत कम दूरतक प्रसारित हो पाया है। हाथका जो अंश बाहरमें रहता है और मुख एवं गल-देश इनको सीमन्तिनीगण अनेक बार अति यत्नसे धोते हैं। परंतु बाकी अङ्गोंकी सफाईके विषयमें वे उतना आवश्यक ध्यान नहीं दे पाती हैं। कारण कि वे मुखके सिवाय अन्य अङ्गोंकी सफाईका महत्त्व नहीं समझतीं। एक मासमें दो बार स्पंज बाथ (Sponge Bath) इनके ख्यालसे यथेष्ट समझा जाता है। स्पंज बाथ

* Every house had its bathing place. The present custom of the Hindus is a survivel of one that was practised in India, some five thousand years or more ago. (Meekay, Further Exeavations in Mohenjodaro I, 167)

(Sponge bath)का अर्थ है—एक भिगे हुए गमछेसे शरीर पोंछ लेना, और कुछ नहीं।

"एक बार मैं कुछ दिन एक अंग्रेज परिवारके साथ रहा। जब उन्हें ज्ञात हुआ कि मैं नहाता हूँ तो वे अत्यन्त आश्चर्यमें पड़ गये। उनके पास स्नानका कोई साधन था ही नहीं। मेरे लिये उनको सब कुछ उधार लाना पड़ा था। इतना विपद् रहा।"

(शतवार्षिकीसं० १० । २९७-९८ पृ०)

सन् १८९५ ई०में स्वामी विवेकानन्दको फ्रान्सकी राजधानी पेरिस (Paris)के होटलमें स्नानागार न होनेके कारण सर्वसाधारणके लिये स्नानागारका व्यवहार करना पड़ा था। लार्ड कर्जन जब भारतके गवर्नर जनरल थे, तब उन्हें पुर्तगाल सरकारके आमन्त्रणपर गोआ जाना पड़ा और वहाँ वे गवर्नर जनरलके प्रासादमें अतिथि थे। उन्होंने अपनी पुस्तक—'A Viceroy's Notebook' में लिखा है कि स्नानघरकी तो बात दूर, स्नानके टब (Bathing Tub) तक भी लोगोंको ज्ञात न था। इसलिये उनके बैठकखानेमें शराबके पीपे-जैसे एक बर्तनमें पानी रखा गया था। वह पानी भी पीपेमें छेद होनेके कारण चू कर निकल गया। इंग्लैंडके विगत सम्राट् एडवर्ड अष्टम (Edword VIII) अपनी जीवनीमें* लिखते हैं कि जब १९१२ ई० में उन्हें आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटीके मागडलेन कालेज (Magdalen College) में दाखिल किया गया, तब वहाँपर कोई स्नानागार न था। उनके लिये (क्योंकि वे युवराज थे) केवल एक बाथ टब (Bathing Tub) उनके कमरेमें ला दिया गया था।

सर देवप्रसाद सर्वाधिकारी १९१० । १८ ई० में विलायत-भ्रमणपर रहे थे। उन्होंने लिखा है कि उनके कमरेमें बिछे कम्बलके ऊपर बाथटबमें नहानेका पानी संरक्षित किया गया था। वैसे आजकल पाश्चात्य देशोंमें दिनोंदिन स्नानागारकी व्यवस्था हो रही है। हमारा स्नानाचार दूसरे देशोंके लिये आदर्श बन रहा है।

नग्नस्नान निषिद्ध है

शास्त्रमें नग्नस्नान निषिद्ध है, पर जापानमें स्त्री-पुरुष निर्वस्त्र होकर एकत्र स्नान करते हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुरने इसे छोटी बात समझी है; क्योंकि उनके मतानुसार जापानके मनुष्य देहसम्बन्धी वासनासे मुक्त हैं, अतः उन्होंने इस स्नानमें किसी पापका परिदर्शन नहीं किया। पर साहित्य-सम्पादक सुरेश समाज-पतिने इसकी तीव्र आलोचना की है। (जापानयात्री, रवीन्द्र-रचनावली १०, पृष्ठ ५१६)

वस्तुतः स्त्री-पुरुषोंके एकत्र वा एकदम निर्वस्त्र स्नान भारतीय सभ्यता एवं आचारके सर्वथा विरुद्ध है।

उपसंहार

सदाचार एक महत्त्वपूर्ण गुण है। इस निबन्धमें इसके अंशमात्रपर ही प्रकाश डाला गया है। संसारके सबसे प्राचीन तथा सर्वश्रेष्ठ इस देशकी वैदिक वर्णाश्रमी सभ्यता इसी सदाचारके ऊपर प्रतिष्ठित है। यह वेदानु-मोदित मानव-जीवनके चरम लक्ष्य मोक्षका धारक और प्रापक है। इसको नष्ट करनेकी लगातार कोशिशें हो रही हैं, जो विज्ञान एवं बुद्धिके भी विरुद्ध है। श्रीभगवान्के चरणोंमें प्रार्थना है कि वे हमारे सदाचार और सनातनधर्मकी रक्षा करें।

---

* And I had a bath-tub and the first under ground-bathroom. I believe, to be installed at the college. (A King's Story p. 96)

गीतोक्त सदाचार

(लेखक—श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

श्रीभगवान्‌ने 'शोकसंविग्नमना' एवं 'धर्मसंमूढचेता' अर्जुनको निमित्त बनाकर हमलोगोंको सदाचारयुक्त जीवन बनाने तथा दुर्गुण-दुराचारोंके त्यागनेकी अनेक युक्तियाँ श्रीमद्भगवद्गीतामें बतलायी हैं। वर्ण, आश्रम, स्वभाव और परिस्थितिके अनुरूप विहित कर्तव्य कर्म करनेके लिये प्रेरणा करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।

(गीता ३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं।' वस्तुतः मनुष्यके आचरणसे ही उसकी वास्तविक स्थिति जानी जा सकती है। आचरण दो प्रकारके होते हैं—(१) अच्छे आचरण, जिन्हें सदाचार कहते हैं और (२) बुरे आचरण, जिन्हें दुराचार कहते हैं।

सदाचार और सद्गुणोंका परस्पर अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। सद्गुणसे सदाचार प्रकट होता है और सदाचारसे सद्गुण दृढ़ होते हैं। इसी प्रकार दुर्गुण-दुराचारका भी परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। सद्गुण-सदाचारके सत् (परमात्मा) होनेसे वे प्रकट होते हैं। 'प्रकट' वही तत्त्व होता है, जो पहलेसे (अदर्शनरूपसे) रहता है। दुर्गुण-दुराचार मूलमें हैं नहीं, वे केवल सांसारिक कामना और अभिमानसे उत्पन्न होते हैं। दुर्गुण-दुराचार स्वयं मनुष्यने ही उत्पन्न किये हैं। अतः इनको दूर करनेका उत्तरदायित्व भी मनुष्यपर ही है। सद्गुण-सदाचार कुसङ्गके प्रभावसे ढक सकते हैं, परंतु नष्ट नहीं हो सकते—जब कि दुर्गुण-दुराचार सत्सङ्गादि सदाचारके पालनसे सर्वथा नष्ट हो सकते हैं। सर्वथा दुर्गुण-दुराचाररहित सभी हो सकते हैं, किंतु कोई भी व्यक्ति सर्वथा सद्गुण-सदाचारसे रहित नहीं हो सकता।

यद्यपि लोकमें ऐसी प्रसिद्धि है कि मनुष्य सदाचारी होनेपर सद्गुणी और दुराचारी होनेपर दुर्गुणी बनता है, किंतु वास्तविकता यह है कि सद्गुणी होनेपर ही व्यक्ति सदाचारी और दुर्गुणी होनेपर ही दुराचारी बनता है। जैसे—दयारूप सद्गुणके पश्चात् दानरूप सदाचार प्रकट होता है। इसी प्रकार पहले चोरपने (दुर्गुण)का भाव अहंता (मैं)में उत्पन्न होनेपर व्यक्ति चोरीरूप दुराचार करता है। अतः मनुष्यको सद्गुणोंका संग्रह और दुर्गुणोंका त्याग दृढ़तासे करना चाहिये। दृढ़ निश्चय होनेपर दुराचारीसे दुराचारीको भी भगवत्प्राप्तिरूप सदाचारके चरम लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। श्रीभगवान् घोषणा करते हैं—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९। ३०)

'यदि कोई अतिशय दुराचारी भी अनन्यभावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही मानने योग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है अर्थात् उसने भलीभाँति निश्चय कर लिया है कि परमेश्वरके भजनके समान अन्य कुछ भी नहीं है।' वर्तमानमें साधु आचरण न होनेपर भी श्रीभगवान् विशेषरूपसे आज्ञा देते हैं कि 'वह साधु ही मानने योग्य है'; क्योंकि उसने ऐसा पक्का निश्चय कर लिया है कि किसी प्रकारके प्रलोभन अथवा विपत्तिके आनेपर भी अब वह विचलित नहीं किया जा सकता। साधक तभी अपने ध्येय-लक्ष्यसे विचलित होता है, जब वह असत्—संसार और शरीरको 'है' अर्थात् सदा रहनेवाला मान लेता है। असत्‌की स्वतन्त्र सत्ता न होनेपर भी भूलसे मनुष्यने उसे सत् मान लिया

और भोग-संग्रहकी ओर आकृष्ट हो गया। मनुष्य आज-तक उस असत् (संसार)को नहीं पकड़ पाया और न कभी पकड़ पायेगा, फिर भी आश्चर्य है कि धोखेमें आकर वह अपना पतन करता है। अतः असत्—संसार, शरीर, परिवार, रुपये-पैसे, जमीन, मान, बड़ाईसे विमुख होकर (अर्थात् इन्हें अपना मानकर इनसे न सुख लेना और न सुख लेनेकी इच्छा ही रखनी है, ऐसा होकर) इनका यथायोग्य सदुपयोग मात्र करना है तथा सत् तत्त्व (परमात्मा)को ही अपना मानना है। श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार असत् (संसार)की सत्ता नहीं है और सत् तत्त्व (परमात्मा)-का अभाव नहीं होता—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
(गीता २। १६)

जिस वास्तविक तत्त्वका कभी अभाव अथवा नाश नहीं होता, उसका अनुभव हम सबको हो सकता है। हमारा ध्यान उस तत्त्वकी प्राप्तिकी ओर न होनेसे ही वह अप्राप्त-सा हो रहा है। इस सत्-तत्त्वका विवेचन गीतामें श्रीभगवान्‌ने पाँच प्रकारसे किया है—

(१) सद्भावे (गीता १७। २६)

(२) साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।
(गीता १७। २६)

(३) प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥
(गीता १७। २६)

(४) यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
(गीता १७। २७)

(५) कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥
(गीता १७। २७)

यह सत्-तत्त्व ही सद्गुणों और सदाचारका मूल आधार है। अतः उपर्युक्त सत् शब्दका थोड़ा विस्तारसे विचार करें।

(१) सद्भावे—सद्भाव कहते हैं—परमात्माके अस्तित्व या सदा होनेपनको। प्रायः सभी आस्तिक यह बात तो मानते ही हैं कि सर्वोपरि सर्वनियन्ता कोई विलक्षण शक्ति-तत्त्व सदासे है और वह अनुत्पन्न है। जो संसार प्रत्यक्ष प्रतिक्षण बदल रहा है, उसे 'है' अर्थात् स्थिर कैसे कहा जाय? यह तो नदीके जलके प्रवाहकी तरह निरन्तर बह रहा है। जो बदलता है, वह 'है' कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि इन्द्रियों, बुद्धि आदिसे जिसको जानते, देखते हैं, वह संसार पहले नहीं था, आगे भी रहेगा नहीं—यह सभीका अनुभव है। फिर भी आश्चर्य यह है कि 'नहीं' होते हुए भी वह 'है'के रूपमें स्थिर दिखायी दे रहा है। ये दोनों बातें परस्पर सर्वथा विरुद्ध हैं। 'वह' होता, तब तो बदलता नहीं, और बदलता है तो 'है' अर्थात् स्थिर नहीं। इससे सिद्ध होता है कि यह 'होनापन' संसार-शरीरादिका नहीं है, प्रत्युत सत्-तत्त्व (परमात्मा)का है, जिससे नहीं होते हुए भी संसार भी 'है' दीखता है। परमात्माके होनेपनका भाव दृढ़ होनेपर सदाचारका पालन स्वतः होने लगता है।

'श्रीभगवान् हैं'—ऐसा दृढ़तासे माननेपर न पाप, अन्याय, दुराचार होंगे और न चिन्ता, भय आदि ही। प्रायः लोग परमात्माको मानते हुए भी नहीं मानते अर्थात् निषिद्ध आचरण करते हुए डरते नहीं। ऐसे लोग परमात्माको भी मानते हैं और दुराचार भी करते हैं। जो सच्चे हृदयसे सर्वत्र परमात्माकी सत्ता मानते हैं, उनसे दोष-पाप हो ही कैसे सकते हैं? परम दयालु, परम सुहृद् परमात्मा सर्वत्र हैं, ऐसा माननेपर न भय होगा और न चिन्ता होगी। भय लगने अथवा चिन्ता होनेपर—'मैंने भगवान्‌को नहीं माना'—इस प्रकार विपरीत धारणा नहीं करनी चाहिये, किंतु भगवान्‌के रहते चिन्ता, भय कैसे आ सकते हैं—ऐसा माने; अर्थात् भगवत्स्मृतिसे भय और चिन्ता आदि दोषोंको हटाना चाहिये। दैवी सम्पत्ति (सदाचार)के छब्बीस लक्षणोंमें प्रथम 'अभय' है। (गीता १६। १)।

(२) साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते—अन्तःकरणके श्रेष्ठ भावको साधुभाव कहते हैं। यह परमात्माकी प्राप्तिका हेतु होनेसे परमेश्वरके 'सत्' नामका वाचक हो जाता है। जितने भी श्रेष्ठभाव अपने अन्तःकरणमें दीखें, उन्हें दैव—(भगवान्—)की सम्पत्ति माननेसे अभिमान नहीं होना चाहिये; क्योंकि अच्छापन (सदाचार)के उद्गमस्थानके आधार परमकृपालु परमात्मा ही हैं। सद्गुण-सदाचारको अपना माननेसे अभिमान हो जाता है कि **'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया'** (गीता १६ । १५) मेरे समान दूसरा कौन है ? अभिमान आनेसे श्रेष्ठ भाव—सदाचार भी दुर्गुण-दुराचारका कारण बन जाता है, जो आसुरी सम्पत्ति है—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्॥
(गीता १६ । ४)

'हे पार्थ ! दम्भ, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध, कठोरता और अज्ञान भी—ये सब आसुरी सम्पदाको लेकर उत्पन्न हुए पुरुषके लक्षण हैं।' सद्गुण-सदाचार व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं हो सकते; क्योंकि जो सद्गुण-सदाचार एक व्यक्तिमें हैं, वे ही दूसरे अनेक व्यक्तियोंमें हो सकते हैं। सद्गुण-सदाचार यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति होते तो एक व्यक्तिविशेषके त्यागी-वैरागी अथवा दानी, ज्ञानी होनेपर दूसरा व्यक्ति वैसा अर्थात् उसके समकक्ष नहीं हो सकता था, किंतु यह नियम नहीं है। अतः श्रेष्ठभावको भगवत्प्रदत्त सार्वजनिक सम्पत्ति मानना चाहिये।

अन्तःकरणमें सद्गुण-सदाचारोंके प्रकट होनेसे अभिमान नहीं आता, किंतु सद्गुण-सदाचारोंमें जो कमी रहती है, उस रिक्त स्थानमें दुर्गुण-दुराचार रहते हैं (भले ही आपको जानकारी न हुई हो), उनसे ही अभिमान उत्पन्न होता है। जैसे सत्य बोलनेका अभिमान तभीतक होता है, जबतक अन्तःकरणमें असत्यताका कुछ अंश रहता है। तात्पर्य—आंशिक असत्यके रहनेसे ही सत्य बोलनेका अभिमान आता है; अन्यथा सत्यकी पूर्णतामें अभिमान आ ही नहीं सकता। अतः परमात्माकी प्राप्तिके साधन श्रेष्ठभावको व्यक्तिगत मानकर अभिमान नहीं करना श्रेष्ठ सदाचार है।

(३) प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते—'तथा हे पार्थ ! उत्तम कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग किया जाता है।' क्षमा, दया, पूजा, पाठादि जितने भी शास्त्रविहित शुभ कर्म हैं, वे स्वयं ही प्रशंसनीय होनेसे सत्कर्म हैं, किंतु इन प्रशस्त कर्मोंका श्रीभगवान्‌के साथ सम्बन्ध नहीं रखनेसे—'सत्' न कहलाकर केवल शास्त्रविहित कर्म मात्र रह जाते हैं। यद्यपि दैत्य-दानव प्रशंसनीय कर्म तपस्यादि करते हैं, परंतु असद् भाव—दुरुपयोग करनेसे इनका परिणाम विपरीत हो जाता है—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥
(गीता १७ । १९)

'जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे, मन, वाणी और शरीरकी पीड़ाके सहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेके लिये किया जाता है, वह तप तामस कहा गया है।' वस्तुतः प्रशंसनीय कर्म वे होते हैं, जो स्वार्थ, अभिमान त्यागपूर्वक **'सर्वभूतहिते रताः'** भावसे किये जाते हैं। इसी प्रकार जिस पुरुषमें साधुता होती है, वह सत्पुरुष कहलाता है और उसके आचरणोंके साथ सत् शब्द जुड़ जानेसे सदाचार कहलाता है। यह प्रशंसनीय कर्मोंका सत्‌के साथ सम्बन्ध होनेका प्रभाव है। ऐसे प्रशस्त कर्मोंके उपक्रमका भी नाश नहीं होता (गीता २ । ४०)। इस कर्मयोगमें आरम्भका अर्थात् बीजका नाश नहीं है और उल्टा फलरूप दोष भी नहीं है। बल्कि इस धर्मका थोड़ा-सा भी साधन जन्म-

मृत्युरूप महान् भयसे रक्षा कर लेता है। श्रीभगवान्के लिये प्रशस्त कर्म करनेवाले सदाचारी पुरुषका भी कभी नाश नहीं होता—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥
(गीता ६। ४०)

'हे पार्थ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें नाश होता है और न परलोकमें ही। क्योंकि हे प्यारे! आत्मोद्धारके लिये अर्थात् भगवत्प्राप्तिके लिये कर्म करनेवाला (कल्याणकारी) कोई भी मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता।'

(४)यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते— (गीता १७। २७)। 'तथा यज्ञ, तप और दानमें जो स्थिति है, वह भी 'सत्'—कही जाती है।' सदाचारमें यज्ञ, दान और तप—ये तीनों प्रधान हैं; किंतु इनका सम्बन्ध श्रीभगवान्से होना चाहिये। यदि इन (यज्ञादि) में मनुष्यकी दृढ़ स्थिति (निष्ठा) हो जाय तो स्वप्नमें भी उसके द्वारा दुराचार नहीं हो सकता अर्थात् स्वयं (अहं) 'मैं'में सदाचारका भाव हो जानेपर किसी प्रकारके कदाचारका प्रभाव नहीं हो सकता। ऐसे दृढ़-निश्चयी सदाचारी पुरुषके विषयमें ही कहा गया है—

निष्पीडितोऽपि मधु सुद्रमतीक्षुदण्डः।

'ईखको पेरनेपर भी उसमेंसे मीठा रस ही प्राप्त होता है।' इसी प्रकार सदाचारी पुरुषद्वारा भी प्रत्येक परिस्थितिमें मधुर स्नेह-रस ही प्राप्त होता है, अर्थात् सदाचारमें स्थित पुरुषसे लाभ-ही-लाभ होता है। ऐसे पुरुषकी क्रिया श्रीभगवान्के लिये ही होती है।

(५) कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते—
(गीता १७। २८)

'और उस परमात्माके लिये किया हुआ कर्म निश्चय-पूर्वक सत्—ऐसे कहा जाता है।' अपना कल्याण चाहनेवाला निषिद्ध आचरण तो कर ही नहीं सकता। जबतक अपने जाननेमें आनेवाले दुर्गुण-दुराचारका त्याग नहीं करता, तबतक वह चाहे कितनी ज्ञान-ध्यानकी ऊँची-ऊँची बातें बनाता रहे, उसे सत्-तत्त्वका अनुभव नहीं हो सकता। निषिद्ध और विहित कर्मोंके त्याग-ग्रहणके विषयमें श्रीभगवान् कहते हैं—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(गीता १६। २४)

'इससे तेरे लिये इस कर्तव्य और अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकर शास्त्रविधिसे नियत कर्म ही करने योग्य है।' निषिद्ध आचरण त्यागके बाद जो भी क्रियाएँ होंगी, वे सब भगवदर्थ होनेपर सत्-आचार (सदाचार) ही कहलायँगी। भगवदर्थ कर्म करनेवालोंसे एक बड़ी भूल यह होती है कि वे कर्मोंके दो विभाग कर लेते हैं। (१) संसार और शरीरके लिये किये जानेवाले कर्म अपने लिये और (२) पूजा-पाठ, जप-ध्यान, सत्सङ्गादि सात्त्विक कर्म श्रीभगवान्के लिये मानते हैं; जब कि होना यह चाहिये कि—जैसे पतिव्रता घरका काम शरीरकी क्रिया, पूजा-पाठादि सब कुछ पतिके लिये ही करती है, वैसे ही साधकको भी सब कुछ केवल भगवदर्थ ही करना चाहिये। भगवदर्थ सुगमतापूर्वक कर्म करनेके लिये पाँच बातें—(पञ्चामृत) सदैव याद रखनी चाहिये—(१) मैं भगवान्का हूँ, (२) भगवान्के घर (दरबार) में रहता हूँ, (३) भगवान्के घरका काम करता हूँ, (४) भगवान्का दिया हुआ प्रसाद पाता हूँ और (५) भगवान्के जनों (परिवार) की सेवा करता हूँ। इस प्रकार शास्त्रविहित कर्म करनेपर सदाचार स्वतः पुष्ट होगा। श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान् आज्ञा देते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥
(९ । २७)

'हे अर्जुन ! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है, वह सब मेरे अर्पण कर ।' यहाँ यज्ञ, दान और तपके अतिरिक्त **'यत्करोषि'** और **'यदश्नासि'**— ये दो क्रियाएँ और आयी हैं । तात्पर्य यह है कि यज्ञ, दान और तपके अतिरिक्त हम जो कुछ भी शास्त्रविहित कर्म करते हैं और शरीर-निर्वाहके लिये खाना, पीना, सोना आदि जो भी क्रियाएँ करते हैं, वे सब श्रीभगवान्‌के अर्पण करनेसे 'सत्' हो जाती हैं । साधारण-से-साधारण स्वाभाविक-व्यावहारिक कर्म भी यदि श्रीभगवान्‌के लिये किया जाय तो वह भी 'सत्' (आचार) हो जाता है । श्रीभगवान् कहते हैं—

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(गीता १८ । ४६)

'अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा उस परमात्माकी पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है ।' जैसे—एक व्यक्ति प्राणियोंकी साधारण सेवा केवल भगवान्‌के लिये ही करता है और दूसरा व्यक्ति केवल भगवान्‌के लिये ही जप करता है । यद्यपि स्वरूपसे दो प्रकारकी छोटी-बड़ी क्रियाएँ दीखती हैं, परंतु दोनों (साधकों) का उद्देश्य परमात्मा होनेसे वस्तुतः उनमें किंचिन्मात्र भी अन्तर नहीं है; क्योंकि परमात्मा सर्वत्र समानरूपसे परिपूर्ण हैं—वे जैसे जप-क्रियामें हैं, वैसे ही साधारण सेवा-क्रियामें भी हैं ।

भगवान् 'सत्' स्वरूप हैं । अतः उनसे जिस किसीका भी सम्बन्ध होगा, वह सब कुछ 'सत्' हो जायगा । जिस प्रकार अग्निसे सम्बन्ध होनेपर लोहा, लकड़ी, ईंट, पत्थर, कोयला—ये सभी एक-से चमकने लगते हैं, वैसे ही भगवान्‌के लिये (भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे) किये गये छोटे-बड़े सब-के-सब कर्म 'सत्' हो जाते हैं, अर्थात् सदाचार बन जाते हैं । इसके विपरीत—परमात्माके सम्मुख हुए बिना किसी भी व्यक्तिके लिये अपनी शक्ति-सामर्थ्यके बलपर सदाचारका पालन कर पाना कठिन है; क्योंकि केवल गुणों और आचरणोंका आश्रय रखनेपर प्रलोभन अथवा आपत्ति-कालमें पतन (कदाचार) होनेकी आशङ्का रहती है ।

श्रीमद्भगवद्गीतामें सदाचार-सूत्र[१] यही बतलाया गया है कि यदि मनुष्यका लक्ष्य (उद्देश्य) केवल सत् (परमात्मा) हो जाय, तो उसके समस्त कर्म भी 'सत्' 'आचार' (अर्थात् सदाचार) स्वरूप ही हो जायँगे । अतएव सत्स्वरूप एवं सर्वत्र परिपूर्ण सच्चिदानन्दघन परमात्माकी ओर ही अपनी वृत्ति रखनी चाहिये, फिर सद्गुण, सदाचार स्वतः प्रकट होने लगेंगे ।

१–यद्यपि गीता सर्वशास्त्रमयी है और उसमें सर्वत्र सदाचारकी ही चर्चा है, फिर भी श्रीभगवान्‌ने कृपाकर इतने छोटेसे ग्रन्थमें अनेक प्रकारसे कई स्थलोंपर सदाचारी पुरुषके लक्षणोंका विभिन्न रूपोंमें वर्णन किया है, जिनमें निम्नलिखित स्थल प्रमुख हैं—(१) दूसरे अध्यायके ५५वें श्लोकसे ७१वें श्लोकतक स्थितप्रज्ञ-सदाचारीका वर्णन, (२) बारहवें अध्यायके १३वें श्लोकसे २०वें श्लोकतक भक्तसदाचारीका वर्णन, (३) तेरहवें अध्यायके ७वें श्लोकसे ११वें श्लोकतक ज्ञानके नामसे सदाचारका वर्णन, (४) चौदहवें अध्यायके २२वें श्लोकसे २५वें श्लोकतक गुणातीत सदाचारीके लक्षण-आचरण और प्राप्तिके उपायका वर्णन और (५) सोलहवें अध्यायके पहले श्लोकसे तीसरे श्लोकतक दैवी (भगवान्‌की) सम्पत्तिरूप सदाचारका वर्णन । ये प्रकरण सदाचारकी ही विभिन्न दृष्टिकोणोंसे व्याख्या करते हैं।

सदाचारकी आधार-शिला

(लेखक—गोरक्षनाथपीठाधिपति श्रद्धेय महान्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज)

योग जीवनके प्रक्रियात्मक दर्शन (प्रेक्टिकल फिलासफी)की आचार-संहिता है, चाहे वह अष्टाङ्गयोग हो या षडङ्ग। महर्षि पतञ्जलि एवं भगवान् गोरक्षनाथ प्रभृति सभी योगाचार्योंने योगके प्रक्रियात्मक स्वरूपका ही अपनी-अपनी पृथक् शैली द्वारा प्रतिपादन किया है। जीवनके सत्प्रयोगका पर्याय सदाचार है तथा इस सदाचारकी आधार-शिला है—सत्समागम तथा सद्विचार। इन दोनोंके अभावमें सदाचार निष्प्रयोजन एवं निष्प्राण हो जाता है। वस्तुतः सदाचार आत्म-साक्षात्कारके प्रमुख लक्ष्य मोक्षकी प्राप्तिका सुगम प्रशस्त राजपथ है। इसीके लिये योगके यम-नियमोंके पालन और अभ्याससे आत्म-संस्कार किया जाता है। यम-नियम-सम्पन्न सदाचार आत्म-संस्कारका सुष्ठु एवं सुगम उपाय है। इसके द्वारा शरीर, मन और प्राणोंकी शुद्धि होती है। फिर योगद्वारा चित्तको समाधिमें संस्थित कर तथा अन्तःकरणको शुद्ध अथवा पवित्रकर मोक्षपदमें रमण सम्भव हो जाता है। महर्षि गौतमका सूत्र है—

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः। (न्यायदर्शन ४। २। ४६)

सदाचारके पूर्ण अनुष्ठानकी सम्पन्नता हो जानेसे मोक्ष अथवा कैवल्यपद सहज ही प्राप्त हो जाता है। मोक्षमें न विरति है, न सुरति; वहाँ न भोग है, न जरा-मृत्यु, और न रोग ही। वहाँ वाणी तो क्या, वाणीके मूल तत्त्व ॐकारतकका भी प्रवेश नहीं है। भगवान् गोरक्षनाथने कहा है—

निरति न सुरति जोगं न भोगं जरा-मरण नहीं तहाँ रोगं।
गोरख बोले एकंकारं नहि तहँ वाचाओंअकारं॥
(गोरखबानी सबदी ११०)

सदाचारकी पूर्णता सत्-समागम (सत्सङ्ग) तथा सद्विचारमें संनिहित है। शास्त्रोंके परिशीलन और स्वाध्यायसे विदित हो जाता है कि असत्में सत्की स्वीकृतिसे मुक्त होना ही सत्सङ्ग है। असत्की सत्ता नहीं है, पर उसमें व्यामोहित होकर हम बँध जाते हैं। सदाचारके द्वारा इस बन्धनसे छुटकारा ही सत्-सङ्गका परम फल है। सत्में परिवर्तन नहीं होता, किंतु असत् परिवर्तनशील तो है ही, नश्वर भी है। संसारके वैषयिक सुखोंके भोग-स्वादसे उत्पन्न बन्धनसे छुटकारा सत्सङ्गसे ही हो पाता है। जो उस बन्धनसे मुक्त है, वही सदाचारी है, सत्यधर्मका धर्मी अथवा पालन करनेवाला है। इस बन्धन-निवृत्तिका एकमात्र उपाय (छल एवं आसक्तिरहित) परवैराग्य है, जो सत्सङ्ग एवं सद्विचारसे प्राप्त होता है—

तत् परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्॥
(योगदर्शन २। १६)

पुरुषके ज्ञानसे, सत्यके साक्षात्कारसे अथवा सदाचारसे प्रकृतिके गुणोंमें तृष्णाका सर्वथा अभाव ही परम वैराग्य है। यह सदाचारका मूल धर्म है। सत्समागम हमें प्रेरणा देता है कि अनात्म, असत् पदार्थोंका चिन्तन मोहमय है—दुःखका कारण है। इसका परित्यागकर मुक्तिके कारण आत्मानन्दस्वरूपका चिन्तन करना ही सत्य जीवन है, सदाचार है। असत्में सत्के अनुसंधानसे, आत्मविवेककी दृष्टिसे अनात्मज्ञान मृगतृष्णाके समान सदा अदृश्य और ओझल होता जायगा। सत्के प्रकाशमें असत्का अन्धकार ठहर नहीं सकता, सदाचारके राज्यमें अधर्म और पापके लिये, अनाचार और दुराचारके लिये अवकाश ही नहीं रहता।

निःसंदेह न तो असत्का अस्तित्व है और न सत्का अभाव ही है—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
(गीता २ । १६)

सत्सङ्गकी महिमा अपार—अचिन्त्य है। यह सदाचारकी आधारशिलाओंमें शीर्षस्थानीय है। सत्सङ्गकी ही तरह सदाचारमय जीवनके लिये सद्विचारका भी असाधारण महत्त्व है। योगसाधना ही नहीं, किसी भी तरहके धर्मपालन, सदाचार और अभ्यासके पथपर सद्विचारकी पद-पदपर महती आवश्यकता है। विचारहीनता अथवा विचारशून्यताके स्तरपर मनुष्यका सदाचारपरायण होना दुर्लभ और दुष्कर ही नहीं, नितान्त असम्भव भी है। सद्विचार आत्मज्ञानकी प्राप्तिकी दिशामें प्रकाशका प्रतीक है। इस प्रकाशमें यात्रा वही कर पाता है, जो सदाचारी होता है। योगसाधनाके नामपर विचारहीनता अथवा अविवेकसे सिद्धि-प्राप्तिके मार्गमें भ्रम उत्पन्न होना स्वाभाविक है। सदाचारका पक्ष लिये बिना मन योगसाधनामें सफलता नहीं पा सकता है। सदाचार मन और हृदयकी शुचिताका साधन है—जैसा कि कहा जा चुका है।

आजका विश्वमानव मानसिक तनावसे पीडित होकर हिमालयकी ओर आशान्वित दृष्टिसे देख रहा है। वह सदाचारकी ज्योत्स्नासे आत्मतृप्तिके लिये आकुल और उद्विग्न है। अपरोक्षानुभूति अथवा सत्यके साक्षात्कारके लिये सदाचारके पथपर चलनेका उपाय सद्विचार है। सद्विचार और सत्सङ्ग दोनोंका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, दोनों एक-दूसरेके पूरक रूपमें सदाचार-पालनमें महत्त्वकी भूमिका निभाते हैं। आचरित सदाचार स्वतःसिद्ध प्रकाशसे प्रकाशित परमपदकी प्राप्तिका एकमात्र सुगम उपाय है। इसीसे स्वसंवेद्य अनुभव होता है।

भगवान् गोरक्षनाथका कथन है—

परमपदमिति स्वसंवेद्यमत्यन्तभास्वाभासकमयम् ॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ५ । २)

सद्विचारके प्रकाशमें प्राणी मनकी प्रतिकूलता और अनुकूलतामें हर्षित और क्षुब्ध हुए बिना ही अमृतपदमें सदाचारके ही सहारे स्वस्थ रहता है। निर्मल मन और सदाचारसे युक्त प्राणी सत्त्व, रज और तमोगुणसे विवर्जित, पाप-पुण्यसे परे परम सिद्धिको प्राप्त कर लेता है। सत्सङ्ग और सद्विचारसे "उपोद्बलित सदाचार जीवनको अवदात बना देता है। दोनोंका मणिकाञ्चन-योग हमें पापसे दूर रहना, सदा पुण्य संचय करते रहना, साधु-सज्जन पुरुषोंके व्यवहारको अपनाना सिखाकर कल्याणकारी जीवनमें रहनेका अभ्यासी बना देता है। यही जीवन सदाचारकी आधारशिला होकर आदर्श बन जाता है।

अद्भुत सदाचरण—सहज-ग्राहिता

एक आविस करनी नामके संत थे। जब वे नगरमें जाते, तो बालक उन्हें पत्थर मारते। वे उनसे कहते—'भाई! छोटे-छोटे पत्थर मारो; क्योंकि यदि बड़े पत्थरसे मेरी टाँगोंसे विशेष रुधिर निकला तो मैं ईश्वरकी प्रार्थना (नमाज)के समय खड़ा न हो सकूँगा।'

× × ×

मलिक दीनार नामके एक दूसरे संत थे। उनसे एक स्त्रीने कहा—'तुम कपटी हो।' तब वे बोले—'मेरा नाम यही था, पर इस नगरके लोगोंको इसका पता नहीं था, अब तुमने इसे प्रसिद्ध कर दिया, इसके लिये तुम्हें धन्यवाद!

—पारसमणि

सदाचारके सूत्र

(पूज्य श्रीडोंगरेजी महाराज)

अन्त-समय सुधारना हो तो प्रतिक्षण सुधारो।

× × ×

जीवनके अन्तिम श्वासतक सत्कर्म करते रहो।

× × ×

दृष्टिको ऐसी गुणमयी बनाओ, जिससे किसीके दोष दीखें ही नहीं।

× × ×

तन और मन दोनोंको सदैव सत्कर्ममें प्रवृत्त रखो।

× × ×

द्वेषपर प्रेमसे विजय प्राप्त की जा सकती है।

× × ×

संसारमें दूसरेको मत रुलाओ, रुलानेवालेको स्वयं रोना पड़ता है।

× × ×

जिसका स्वभाव अत्यधिक सुन्दर होता है, वह भगवान्‌को प्यारा होता है।

× × ×

दूसरेका अपमान करनेवाला स्वयं अपनी जातिका अपमान करता है।

× × ×

अधिक कुछ न बन सके तो उदास बैठे हुएको हँसाओ।

× × ×

शरीरको नीरोग रखनेके लिये कम खाओ।

× × ×

मनको नीरोग रखनेके लिये गम खाओ।

× × ×

अतिशय सादा जीवन व्यतीत करो। जिसका जीवन सादा है, वही सच्चा साधु है।

× × ×

दूसरेको ठगनेवाला स्वयं ठगा जाता है।

× × ×

किसीका अपमान मत करो, मान-दान सबको प्रिय है।

× × ×

सात्त्विक आहारके विना सहनशक्ति नहीं आती।

× × ×

निन्दा और निद्रापर विजय प्राप्त करके ही भजन किया जा सकता है।

× × ×

तुम्हारी कोई निन्दा करे तो तुम शान्तिसे सहन करो।

× × ×

फैशन और व्यसनके पीछे समय और सम्पत्ति नष्ट मत करो।

× × ×

सेवा करनेवालेपर संत और भगवान्‌की कृपा बरसती है।

× × ×

जहाँ नीति, वहाँ नारायण, जहाँ परोपकार—वहाँ प्रभु-कृपा है।

× × ×

काम करते समय भगवान्‌को मत भूलो।

× × ×

किसीका आशीर्वाद प्राप्त करो तो हानि नहीं; परंतु किसीका अन्तःकरण दुःखितकर शाप तो मत लेना।

(प्रेषक—श्रीबदरुद्दीन राणपुरी)

सदाचार—मानवका सहज धर्म

(लेखक—स्वामी श्रीसनातनदेवजी महाराज)

सदाचार मानवका स्वाभाविक धर्म है । संसारमें जितने भी जीव हैं, उनमें धर्माधर्मका विवेक केवल मनुष्यमें ही है । मानवको भगवान्‌की यही सबसे बड़ी देन है । इसी विवेकके कारण वह अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ माना जाता है । इस संसारमें अविकृत मस्तिष्कका ऐसा एक भी मनुष्य नहीं मिलेगा जिसमें यह विवेक न हो, किंतु विवेकका आदर करनेवाले बहुत कम मनुष्य मिलते हैं । विवेकका आदर करना ही साधन है और इसका आदर न करना ही असाधन है । ये साधन और असाधन मनुष्यमें ही पाये जाते हैं । मनुष्येतर जितने प्राणी हैं, वे न साधक हैं न असाधक । अन्य प्राणी अपनी-अपनी प्रकृतिके अधीन हैं और उसके अनुसार उन्हें जो करना चाहिये वही करते हैं । स्वाधीनतापूर्वक अच्छा या बुरा समझकर कुछ भी करने या न करनेकी उनमें योग्यता नहीं है । इसलिये उनकी भोग-योनियाँ कही जाती हैं । मनुष्य-योनि कर्म-योनि कही जाती है ।

पशुओंमें अपने-परायेकी बुद्धि भी नहीं होती । उन्हें भूख हो और चारा मिल जाय तो वे अपनेको उसे खानेसे रोक नहीं सकते और पेट भर जानेपर चारा रहते हुए भी उसे नहीं खाते । मनुष्यको भूख हो और सामने भोजन भी हो, किंतु उसपर अपना अधिकार न हो अथवा उसे उपवास करना हो, तो वह उसे नहीं खायगा तथा यदि उसपर अधिकार हो और उपवास करना न हो तो आसक्तिवश भूखसे अधिक भी खा सकता है । इस प्रकार विवेकका आदर और अनादर करनेमें मनुष्य स्वतन्त्र है । इस स्वातन्त्र्यके कारण ही उसका ह्रास या विकास होता है । यदि वह विवेकका आदर करता है तो पुण्यका भागी होकर विकसित होता है और यदि उसका आदर नहीं करता तो पापका भागी होकर ह्रासको प्राप्त होता है । यदि वह पूर्णतया विवेकका आदर करे तो निर्मम और निष्काम होकर पूर्णकाम हो सकता है तथा अपने एकमात्र सच्चे सम्बन्धी प्रभुमें आत्मीय भाव स्थापित कर उनका मधुमय प्रेम प्राप्त कर सकता है । इसके विपरीत यदि देहासक्तिके कारण वह विवेकका अनादर करता रहा तो नरकगामी भी हो सकता है । एक ओर विवेकका आदर करनेवाला व्यक्ति यदि देवदुर्लभ गतिका अधिकारी हो सकता है तो दूसरी ओर विवेकका अनादर करनेवाला पशुसे भी गयी-बीती गतिको प्राप्त हो सकता है ।

यह कितने भ्रम और दुःखकी बात है कि प्रभुकी इतनी उदारता होनेपर भी आजका मनुष्य निरन्तर अधोगतिकी ओर जा रहा है ! उसे विवेकका आदर अस्वाभाविक और अत्यन्त कठिन जान पड़ता है और विवेक-विरुद्ध कार्य करना उसे अपना स्वभाव-सा दिखायी देता है । किसी भी नगर या गाँवमें जाइये, वहाँ आपको हजारों और लाखों रुपये चन्देमें मिल सकते हैं, कोई उत्सव या सांस्कृतिक कार्यक्रम करना हो तो अनेक सहयोगी मिल सकते हैं, परंतु ऐसे कितने आदमी मिलेंगे जो आजन्म असत्य न बोलनेकी प्रतिज्ञा कर उसे निभा सकें ! मनुष्य धन दे सकते हैं और परिश्रम भी कर सकते हैं तथा यदि किसी प्रकारका यश या पुरस्कार मिलनेकी सम्भावना हो तो बड़ी-से-बड़ी आपत्ति और प्राण-संकटका भी सामना कर सकते हैं, परंतु सत्य या ईमानदारीके लिये प्रतिज्ञाबद्ध होना उन्हें असम्भव-सा जान पड़ता है । यह कैसी विडम्बना है !

अब देखना यह है कि क्या विवेकका आदर करना कोई कठिन बात है ? यदि थोड़ा भी विचार करें तो

मालूम होगा कि कठिनता तो विवेक-विरुद्ध चलनेमें है। यदि मनुष्य न करनेयोग्य काम न करे तो कर्तव्य-निष्ठ तो वह है ही। न करनेके लिये किसी शक्ति या बलकी आवश्यकता नहीं होती और न करनेसे बढ़कर कोई भी करना नहीं हो सकता। यदि हम बाहर-भीतर सर्वथा निष्क्रिय हो जायँ तो हम अपनेमें ही स्थित हो जायँगे और अपनेमें स्थित होकर हम उसे पा लेंगे, जो सबका सब कुछ है। अब हम कुछ ऐसी बातोंका उल्लेख करते हैं जिनसे यह निश्चय होता है कि मनुष्यके लिये अकर्तव्य (कदाचार) की अपेक्षा कर्तव्य (सदाचार) ही सुगम और स्वाभाविक है।

१—मनुष्य सर्वदा सदाचारनिष्ठ रह सकता है, किंतु उससे किसी भी कदाचार या पापका आचरण सर्वदा नहीं हो सकता। जैसे—सत्य सदा बोला जा सकता है, किंतु असत्य सर्वदा नहीं बोला जा सकता। इसी प्रकार अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि सभी कर्तव्योंका आचरण सर्वदा हो सकता है, किंतु इनके विपरीत हिंसा आदिका आचरण सर्वदा नहीं हो सकता। अतः सदाचार सनातन है और कदाचार आगन्तुक।

२—पुण्यका आचरण सभीके प्रति हो सकता है; किंतु पापका आचरण सबके प्रति नहीं हो सकता। अतः पुण्य (कर्तव्य) विभु है और पाप (अकर्तव्य) अल्प।

३—कर्तव्यनिष्ठ निर्भय होता है, उसे अपना आचरण छिपानेकी आवश्यकता नहीं होती; किंतु अकर्तव्य कर्तव्य-की ओट लेकर किया जाता है। मनुष्य अपनेको सच्चा दिखलाते हुए ही झूठ बोलता है, ईमानदारी दिखाते हुए ही बेईमानी करता है और विश्वासपात्रता दिखाते हुए ही विश्वासघात करता है। अतः कर्तव्यनिष्ठा स्वतन्त्र है और अकर्तव्य परतन्त्र।

४—कर्तव्यपालनमें क्रिया और बनावट नहीं होती, जब कि अकर्तव्यमें क्रिया और कृत्रिमता होती है। चोरी करनेके लिये कुछ करना पड़ता है और हिंसा आदिमें भी ऐसा ही समझना चाहिये। चोरी न करने, ब्रह्मचर्य रखने और अहिंसामें न कोई क्रिया है और न बनावट। अतः पुण्य कर्म स्वाभाविक है और अधर्म कृत्रिम। पुण्यकी परम्परा है, अधर्म अर्जित है।

५—आचारनिष्ठाके लिये किसी साधन या सामग्री-की आवश्यकता नहीं होती, जब कि अनाचारके लिये अन्य साधन या सामग्रीकी आवश्यकता होती है। चोरी करनेके लिये कोई सामान चाहिये, व्यभिचारके लिये कोई अन्य स्त्री या पुरुष होना चाहिये तथा हिंसा करनेके लिये कोई जीव होना चाहिये। परंतु अस्तेय, ब्रह्मचर्य या अहिंसाके लिये किसी भी अन्य वस्तु या व्यक्तिकी अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार धर्मनिष्ठा स्वाश्रित है और अधर्म पराश्रित।

इन सब बातोंपर विचार करनेसे सिद्ध होता है कि मनुष्यका सहज धर्म कर्त्तव्य अर्थात् सदाचार ही है। अकर्त्तव्य या दुराचार तो उसने स्वार्थ और आसक्तिके कारण स्वयं ही खड़ा कर लिया है। यह अपने पैरोंमें स्वयं ही डाली हुई बेड़ी है। परंतु आज उससे इसका इतना मोह हो गया है कि उससे छुटकारा पाना उसे असम्भव जान पड़ता है—किंतु यह है उसकी भ्रान्ति ही। जरा सोचिये तो एक सत्यनिष्ठ व्यक्ति क्या बड़े-से-बड़े कष्ट या प्रलोभन होनेपर भी झूठ बोल सकता है या एक निरामिषभोजी प्राण-संकट उपस्थित होनेपर भी क्या मांस भक्षण कर सकता है? और एक अहिंसक क्या अत्यन्त विपरीत परिस्थितिमें भी किसीका गला काट सकता है? साथ ही कोई झूठा व्यक्ति सर्वदा झूठ नहीं बोल सकता, कोई भी मांस-भोजी सर्वदा मांस खाकर रहना पसंद नहीं करता और कोई भी हिंसक सबका गला काटना स्वीकार नहीं

कर सकता। इस प्रकार सोचिये तो सही कि कठिनता सदाचारके त्यागनेमें है या दुराचारसे बचनेमें ?

फिर भी कारण क्या है कि आजका मनुष्य दुराचारमें ही अधिक प्रवृत्त होता है? यह केवल उसकी स्वार्थपरता और भ्रान्ति ही है। वह किसी-न-किसी सुखके लोभ या दुःखके भयके कारण ही अकर्तव्यमें प्रवृत्त होता है। किंतु क्या ऐसा करनेसे वह दुःखसे बच सकता है अथवा सुखको बनाये रख सकता है? संसारमें अबतक ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं हुआ, जिसके जीवनमें केवल सुख या केवल दुःख ही रहा हो। सभीको न्यूनाधिकरूपमें समय-समयपर सुख और दुःख दोनोंका अनुभव करना ही पड़ा है। जिस प्रकार दिन और रात्रिके आवरणमें ही कालकी गति छिपी हुई है तथा अन्धकार और प्रकाशके द्वारा ही आकाशका स्वरूप आवृत है, उसी प्रकार प्राणीका जीवन सुख-दुःखके भोगोंसे ही व्याप्त है। परंतु स्वरूपतः जिस प्रकार काल दिन-रातसे तथा आकाश अन्धकार और प्रकाशसे असङ्ग है, उसी प्रकार यह जीव भी सुख-दुःखसे असङ्ग है। अतः जीवनमें सुख-दुःखकी प्रतीति होती है तो होने दीजिये। उस प्रतीतिकी आप निवृत्ति नहीं कर सकते। किंतु वास्तवमें आप उससे असङ्ग हैं। उससे सङ्ग स्वीकार करनेके कारण ही आप सब प्रकारके अनर्थोंसे बँध जाते हैं। लौकिक दृष्टिसे यदि उनका आना-जाना अनिवार्य ही है तो उनसे डरना या बँधना क्यों? उन्हें आने-जाने दीजिये और आप उनसे असङ्ग रहकर अपने स्वरूपमें स्थित रहिये। फिर तो आपका स्वभाव ही होगा सदाचार। वह तो अब भी आपका स्वभाव ही है, केवल भ्रान्तिसे ही आपने उससे विमुख होकर अपने जीवनको अनेक आपत्तियोंसे ग्रस्त बना लिया है। आप चाहें तो इसी क्षण अपनी दिशा परिवर्तित करके अपने वास्तविक लक्ष्यकी ओर अग्रसर हो सकते हैं।

सदाचारमयी ज्ञान-दृष्टि

प्राचीन कालमें सिंहलद्वीपके अनुराधापुर नगरसे बाहर एक टीला था, उसे चैत्यपर्वत कहा जाता था। उसपर महातिष्य नामके एक बौद्ध भिक्षु रहा करते थे। वे एक दिन भिक्षा माँगने नगरकी ओर जा रहे थे। मार्गमें एक युवती स्त्री मिली। वह अपने पतिसे झगड़ा करके अपने पिताके घर भागी जा रही थी। उस स्त्रीका आचरण संदिग्ध था। भिक्षुको देखकर उन्हें अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये वह हँसने लगी।

भिक्षु महातिष्य बराबर चिन्तन करते रहते थे कि मनुष्य-शरीर हड्डी-मांसका पिंजड़ा है। उस स्त्रीके हँसनेपर भिक्षुकी दृष्टि उसके दाँतोंपर गयी। स्त्रीके सौन्दर्यकी ओर उनकी चित्तवृत्ति नहीं गयी, मात्र यह भाव उनके मनमें आया कि यह एक हड्डियोंका पिंजड़ा जा रहा है।

स्त्री आगे चली गयी। थोड़ी दूर जानेपर नगरकी ओरसे आता एक पुरुष मिला। वह उस स्त्रीका पति था। अपनी पत्नीको वह ढूँढ़ने निकला था। उसने भिक्षुसे पूछा—'महाराज! इस मार्गसे गहने पहने हुए किसी सुन्दरी युवती स्त्रीको जाते हुए आपने देखा है?'

भिक्षु बोले—'इधरसे कोई पुरुष गया या स्त्री, इस बातपर तो मेरा ध्यान नहीं गया; किंतु इतना मुझे पता है कि इस मार्गसे अभी एक अस्थिपञ्जर गया है।' (भिक्षुकी यह दृष्टि ज्ञान-भूमिकी सदाचारमयी दृष्टि है।)

आचार, विचार और संस्कार

(लेखक—श्रीबजरंगबलीजी ब्रह्मचारी)

स्वस्थ सामाजिक अथवा आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करनेके लिये सदाचार और सद्विचार—ये दोनों ही रथके द्विचक्रकी भाँति अत्यावश्यक तथा परम उपयोगी हैं। विचार और आचारकी समरसता एवं एकरूपतासे ही मानव-जीवनके अभीष्ट लक्ष्यकी प्राप्ति होती है। सद्विचारोंको सदाचारमें परिणत करके ही सुदृढ़ व्यक्तित्वका निर्माण और राष्ट्रका सर्वाङ्गीण कल्याण किया जा सकता है। इसीलिये हमारा यह पुरातन सत्य सनातन धर्म, सद्विचार और सदाचार दोनोंसे सम्पुटित होकर ज्ञान और कर्मकी समानरूपसे शिक्षा देता है। भारतीय प्राचीन गुरुकुल-शिक्षापद्धतिकी यह विशेषता रही है कि गुरुजन शिष्योंको अपने उन्हीं विचारोंको अपनानेकी सीख देते थे, जो सदाचारकी कसौटीपर कसे जा चुके थे, दूसरेकी नहीं—

'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।' (तैत्तिरीयोपनिषद्, शीक्षावल्ली)

यही उनकी सीख थी।

सद्गुरुका 'आचार्य'नाम भी सर्वथा अन्वर्थक था। महर्षि आपस्तम्बने अपने धर्मसूत्रमें आचार्यका यह लक्षण बतलाया है कि शिष्यगण जिसके चरित्रसे प्रभावित होकर अपने धर्मका, सदाचारका संचय करें—उस चरित्रवान् विद्वान्को 'आचार्य' कहा जाता है—

यस्माद् धर्मान् आचिनोति स आचार्यः।* (१।१।१४)

महर्षि याज्ञवल्क्यने शिष्योंको शौच और सदाचारकी अनिवार्य शिक्षा देना आचार्यका मुख्य कर्तव्य बतलाया है—

उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति १।१५)

महाभारतमें कहा गया है कि मनुष्यको सबसे अधिक ध्यान अपने आचरणपर रखना चाहिये। वित्त तो आता है और चला भी जाता है। वित्त क्षीण हो जानेपर भी वृत्त अर्थात् आचरण यदि ठीक हो तो मनुष्यकी कोई हानि नहीं होती। परंतु वृत्तसे हीन हो जानेपर तो उसका सर्वनाश ही हो जाता है—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥

(शान्तिपर्व)

देखा गया है कि विपुल सम्पत्तिके स्वामी और अनेक वेद-वेदाङ्गका ज्ञाता होनेपर भी सदाचार-रहित होनेके कारण रावण राक्षस† बन गया और सुयोधन दुर्योधन बन गया। सदाचारके त्यागसे कंसको कसाई कहा गया और दक्षको दम्भी कहा गया। सदाचार-युक्त स्वल्पज्ञानसे ही विभीषण राक्षस होते हुए भी राम-दास बन गया और शबरी‡ भिलनीसे बन गयी भामिनी। दासी-पुत्र नारद अगले जन्ममें देवर्षि बन गये और सदाचारकी ओर लौटते ही वाल्मीकि व्याधसे वन्दनीय आदिकवि बन गये। सदाचार-समन्वित तप एवं पुरुषार्थके द्वारा ही बृहस्पति देवगुरुके पदपर प्रतिष्ठित हुए और पवनपुत्र

---

* अन्यत्र भी कहा गया है—

स्वयमाचरते यस्तु आचारे स्थापयत्यपि। आचिनोति च शास्त्रार्थानाचार्यस्तेन चोच्यते॥

(लिङ्गपुराण २।२०।२०)

† वस्तुतः रावण, विभीषण आदिकी माता राक्षसी थी, इसीलिये ये राक्षस थे। Ethnology तथा अमरकोशके अनुसार राक्षसयोनि देवयोनिके ही अन्तर्गत है। 'रक्षो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः।' वाल्मी० उत्तर० ४।१३ में जलकी रक्षा करनेके कारण ही प्रजापतिने इन्हें राक्षस कहा था। कालान्तरमें यह देवयोनि नहीं रही।

‡ वाल्मीकीयरामायण (३।७३।२६)के अनुसार शबर स्वामीके समान शबरी व्यक्तिवाचक नाम था जाति नहीं—'श्रवणा शबरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी।

रामदूत बनाये गये। इसी प्रकार कुबेर धनाध्यक्ष और यमराज धर्मराज बने। दूसरी ओर सदाचारका उपहास-परिहास करनेके कारण ही इन्द्रासन-जैसा सम्पूर्ण प्रभुसत्तासम्पन्न आसन प्राप्त करके भी ययातिका पतन हुआ और सहस्र-भुजाधारी अर्जुनको द्विभुज परशुरामसे पराजित होना पड़ा। यह सब क्यों ? इन सबका कारण यही है कि 'धर्म'के (जो सबका धारक और उद्धारक माना जाता है उसके) मूलमें स्थित सदाचारकी इनके द्वारा उपेक्षा और अवहेलना की गयी थी। जैसे पर्वतसे नदियाँ निकलती हैं और सूर्यसे प्रकाश निकलता है, उसी प्रकार सदाचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति कही गयी है—**'आचारप्रभवो धर्मः।'** इसीलिये महाराज मनु सदाचारको सावधानीपूर्वक दृढ़तासे पालन करनेका निर्देश करते हैं—

धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः।
(मनु० ४। ४५)

आचार, विचार और संस्कारका अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इसीलिये भारतीय संस्कृतिमें संस्कारोंपर बहुत बल दिया गया है। उनकी विभिन्न संख्या धर्मशास्त्रोंमें मिलती है। गौतमधर्मसूत्रमें अड़तालीस संस्कार बतलाये गये हैं और सुमन्तुने पच्चीस संस्कार बतलाये हैं। परंतु भगवान् व्यासने अपनी स्मृतिमें इस युगके उपयोगी मुख्य सोलह संस्कारोंका ही वर्णन किया है। ये ही अधिक प्रसिद्ध तथा व्यवहार्य हैं।

संस्कारोंसे आचार-विचारमें शुद्धता और सुदृढ़ता आती है। संस्कार तीन प्रकारके होते हैं—(१) मलापनयन, (२) अतिशयाधान और (३) न्यूनाङ्गपूरक। संसारमें दो प्रकारके पदार्थ देखे जाते हैं, प्राकृत और संस्कृत। जिन्हें प्रकृतिने उत्पन्न किया है, वे प्राकृत कहे जाते हैं; किंतु वही प्राकृत पदार्थ लोकोपयोगी बनाने-हेतु संस्कारित किये जानेपर संस्कृत बन जाते हैं और उनकी सत्ता, महत्ता तथा उपयोगिता बढ़ जाती है। उदाहरणके लिये अनाजको लीजिये। प्रकृति जिस दशामें अनाजको उत्पन्न करती है, वह उसी दशामें हमारे लिये उपयोगी नहीं हो सकता। यदि हम उसे उसी दशामें खाने लगें तो हमारे दाँत ही छिन्न-भिन्न हो जायँ और हमारे उदरकी जठराग्नि भी उसे पचा न सके। रुचि और स्वादकी तो बात ही जाने दीजिये, शरीर-पोषण भी ठीक प्रकारसे नहीं हो सकेगा। इसीलिये अनुपयुक्त वस्तुएँ—भूसी, तुष आदि निकालनेके लिये जो संस्कार करना पड़ता है, उसे 'मलापनयन' संस्कार कहते हैं। उस दोषरहित अनाजमें कुछ विशेषताएँ लानेके लिये कुटाई-पिसाई, घृत, जल-मिश्रण और अग्नि-पाकद्वारा किये गये संस्कारको 'अतिशयाधान' कहते हैं। इस प्रकार अनाजके भोज्य पदार्थ बन जानेपर दाल, शाक, घृत आदि वस्तुएँ अलगसे लाकर मिलाकर उसके हीन अङ्गोंकी पूर्ति की जाती है, जिससे वह अन्न रुचिकर स्वादिष्ट और पौष्टिक बन सके। इस तृतीय संस्कारको 'न्यूनाङ्गपूर्ति' कहते हैं। इसी प्रकार वस्त्रादिके अन्यान्य उदाहरण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

जब बिना संस्कार किये हुए प्राकृतिक पदार्थतक उपयोगी नहीं बन पाते, तब फिर मनुष्यके संस्कारोंकी महिमाको कैसे नकारा जा सकता है ? बृहदारण्यक उपनिषद्में एक प्रसङ्ग आया है कि यदि कोई अपने पुत्रको पण्डित बनाना चाहे तो अमुक प्रकार-का संस्कार करे और यदि वीर बनाना चाहे तो अमुक प्रकारका संस्कार करे—इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि मनुष्यके आचार-विचारमें उपयुक्त गुण लाकर उन्हें समाजोपयोगी बना देना ही संस्कारोंका प्रमुख उद्देश्य रहा है। संस्कारोंकी समुचित व्यवस्था और सम्पन्नतासे ही आचार-विचारमें दृढ़ता और पूर्णता आती है और दृढ़ आचार-विचारवाला व्यक्ति ही अभ्युदय तथा निःश्रेयस—उभय प्रकारकी उपलब्धि कर मानव-जीवनके परम लक्ष्य-की प्राप्ति कर सकनेमें सक्षम और समर्थ बन पाता है।

सदाचार-विवेचन

(लेखक—डॉ० श्रीविद्याधरजी धस्माना, एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०, पी-एच्० डी०)

व्युत्पत्ति, परिभाषा और स्वरूप

आङ् उपसर्ग पूर्वक 'चर्' धातुसे तथा श्रेष्ठके पर्याय-वाचक 'सद्' शब्दके पूर्वसंयोगसे सदाचार शब्दकी निष्पत्ति होती है। वैयाकरणोंने 'चर्' धातु (भ्वादि ५५२)का मुख्यतः प्रयोग गति और भक्षण अर्थमें ही किया है; किंतु धातुओंके अनेक अर्थ होते हैं;* इसलिये 'चर्' धातु कर्म करनेमें भी प्रयुक्त होता है। वैदिक ऋषिने कर्म और आचारमें अभेद देखते हुए कहा—

यथाकारी यथाचारी तथा भवति।
(बृहदा० उ० ४।४।५)

जैसा करनेवाला व्यक्ति, जैसे आचरणवाला होता है, वैसा ही हो जाता है। अपने शारीरकभाष्यमें आचार्य शंकरने कर्म और आचारको समानार्थक मानते हुए लिखा है—

चरणमनुष्ठानंकर्मेत्यनर्थान्तरम्। (ब्रह्मसू० ३।१।११)

'चरण, अनुष्ठान और कर्म—ये पर्यायवाचक शब्द हैं'। मूल सूत्रकार बादरि आचार्यने आचरणके अन्तर्गत पुण्य और पाप दोनों ही प्रकारके कर्म बतलाये हैं—

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः।
(ब्रह्मसू० ३।१।११)

मनुने सदाचारसे मनुष्यको उत्तम आयु, अभीप्सित संतान और पुष्कल धन प्राप्त होने तथा शारीरिक अमङ्गलके मिटानेकी बात कही है—

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद् धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥
(४।१५६)

और, उन्होंने ब्रह्मावर्त देशके निवासियोंके परम्पराप्राप्त आचारको ही सदाचारका स्वरूप बतलाया है।

तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥
(२।१८)

'उस (ब्रह्मावर्त) देशमें सवर्णोंसे लेकर संकीर्ण जातितकके लोगोंका जो परम्परासे प्राप्त आचार है, वही सदाचार कहलाता है।' विष्णुपुराणमें और्वने राजा सगरसे कहा था—

साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः।
तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते॥
(३।११।३)

'सत् शब्द साधुका वाचक है, साधु लोग दोष-रहित होते हैं, इसलिये उनका आचरण ही सदाचार कहा जाता है।' इसके तृतीय अंशके ग्यारहवें और बारहवें अध्यायोंमें विस्तारसे गृहस्थादिके लिये जिन कर्तव्यकर्मों-का वर्णन किया गया है, उनको सदाचारकी संज्ञा दी गयी है। शंकराचार्यने शील और सदाचारमें अभेद बतलाते हुए लिखा है—

चरणं चारित्रमाचारः शीलमित्यनर्थान्तरम्।†
(ब्रह्मसू० ३।१।९ पर शांकरभाष्य)

महर्षि हारीतने अपनी स्मृतिमें तेरह प्रकारके शीलका उल्लेख किया है। वे आजकी महर्षिवपु या वृद्धहारीतस्मृतिमें नहीं मिलनेपर भी कुल्लूकभट्टकी मन्वर्थ-मुक्तावली २।६ में उपलब्ध हैं। वे हैं—

आस्तिकता, देव-पितृभक्ति, सज्जनता, किसीको कष्ट न देना, ईर्ष्या न करना, कोमलता, क्रूर व्यवहार न करना, सबसे मैत्री करना, प्रिय बोलना, कृतज्ञ होना, शरण देना, दया और चित्तकी शान्ति।

---

* १०।२१०का चर् धातु संशय अर्थमें भी पठित है। पर यहाँ 'कर्माचरण' अर्थ अभीष्ट है।

† शारीरकशांकरभाष्यके अनुसार चरण, चारित्र, आचार और शील पर्यायवाचक शब्द हैं।

महाभारतमें सदाचारको धर्मका रूप माना गया है।

वेदोक्तः परमो धर्मो धर्मशास्त्रेषु चापरः।
शिष्टाचारश्च शिष्टानां त्रिविधं धर्मलक्षणम्॥

(वनपर्व २०७। ८२)

वेदोंमें वर्णित प्रथम, धर्मशास्त्रमें वर्णित द्वितीय और सज्जनोंके सदाचारमें तृतीय—ये धर्मके तीन स्वरूप हैं। कर्ण और अर्जुनके युद्धके अवसरपर कर्णका रथ जब कीचड़में धँस गया तो उसने क्षत्रिय-धर्मके सम्बन्धसे अर्जुनको कुछ देर रुकनेको कहा, तब भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंके साथ उसके द्वारा पहले किये गये अत्याचारोंका स्मरण दिलाते हुए उसे बहुत कुछ खरी-खोटी सुनायी। उसी प्रसङ्गमें उन्होंने सदाचारके लिये धर्म शब्दका प्रयोग किया—

क्व ते धर्मस्तदा गतः। (म० भा० क० प० ९१। ३। ६)

'तब तेरा धर्म अर्थात् सदाचार कहाँ चला गया था।' वस्तुतः यहाँ 'सदाचार' समुदाचारके अर्थमें प्रयुक्त है। **तस्य धर्म्यम्** (इस पाणिनि ४। ४। ४७) सूत्रके स्पष्टीकरणमें 'काशिका'-वृत्तिमें धर्म्यका अर्थ न्यायोचित एवं 'आचारयुक्त' किया गया है* और आचार तथा धर्मको अभिन्न माना गया है। इस विवरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सदाचारका क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत है। जिस प्रकार बुद्बुद, तरंग और झाग जलके ही रूपान्तर होते हैं, उसी प्रकार शुभ कर्म, पुण्य, शील और धर्म सभी सदाचारके ही विभिन्न रूप हैं।

उद्गम स्रोत—

शास्त्रकारोंने वेद, पुराण, स्मृति, संतोंके आचार तथा शुद्ध मनको सदाचारके स्रोत बतलाये हैं। आचार्य शंकरने मनके विषयमें लिखा है—

तीनों कालोंकी वस्तुओंको ग्रहण करनेवाला मन एक है, किंतु उसकी वृत्तियाँ अनेक हैं। वृत्तिके भेदसे वह भिन्न नामोंसे कहा जाता है—मन, बुद्धि, अहंकार और चित्त, मनके ही रूपान्तर हैं। वैदिक ऋषिने कहा है—

कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव।

(बृहदा० उ० १। ५। ३)

'काम, संकल्प, संदेह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय—ये सब मनके ही आवर्त हैं।' श्रद्धाके साथ जब अलौकिक प्रेम परिपक्व होता है तो वही भक्तिरसमें परिणत हो जाता है। हृदयकी उसी रसमयी स्थितिमें इन्द्रियाँ सात्त्विक विषयोंमें प्रवृत्त होकर सदाचारको जन्म देती हैं। उसी द्रवित हृदयके वातावरणमें समस्त दैवी प्रकृति जागरूक हो जाती है और आसुरी वृत्तियोंका उन्मूलन हो जाता है। वास्तवमें भक्ति और सदाचार एक दूसरेपर आश्रित हैं। धर्मराजके अनुसार जो सदाचारी है, वही भक्त बन सकता है और जो भक्त है, वही सदाचारी हो सकता है—

अशुभमतिरसत्प्रवृत्तिसक्तः
सततमनार्यकुशीलसङ्गमत्तः।
अनुदिनकृतपापबन्धयुक्तः
पुरुषपशुर्न हि वासुदेवभक्तः॥

(विष्णुपुराण ३। ७। ३१)

'जो दुर्बुद्धि व्यक्ति निरन्तर असत्कर्मोंमें प्रवृत्त रहता है, दुश्चरित्र व्यक्तियोंका साथ करता एवं मत्त रहता है, वह पुरुष-पशु प्रतिदिन बन्धनोंमें बँधता ही जाता है, और भगवान् वासुदेवका भक्त नहीं हो पाता। यदि भक्ति और सदाचार-को एक ही पदार्थके दो पहलू कहें तो वह अधिक संगत होगा। हृदयस्थित भाव या भक्तिका ही बाह्यकर्मात्मकरूप सदाचार है। चाहे किसी भी सम्प्रदायका मनुष्य हो,

* धर्म्यं न्याय्याचारयुक्तमित्यर्थः। (काशिकावृत्ति)।

किंतु उसके सदाचारी होनेमें आस्तिकता नितान्त आवश्यक है। ईश्वरकी सत्ता और जगत्पर उसके नियन्त्रणका विश्वास करनेवालोंके द्वारा अनुष्ठित कार्य ही सदाचार है। भक्तिके सम्बन्धमें यह अवश्य बोद्धव्य है कि जहाँ वह बाह्य रूपमें कर्मको शुद्ध और पूत करके सदाचारमें ढालती है, वहीं वह आन्तरिक रूपमें ज्ञानमें परिणत होकर ब्रह्मके साक्षात्कारमें साधन सिद्ध होती है—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम्॥
(श्रीमद्भागवत ३। ३२। २३)

'भगवान् वासुदेवकी भक्तिसे वैराग्य और उससे ब्रह्मका साक्षात्कार करानेवाले ज्ञानका विकास होता है।'

सदाचारकी आवश्यकता—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥
(कठोप० १। २। २४)

'प्राणी जबतक दुराचारसे निवृत्त नहीं होता, इन्द्रिय-दमन नहीं करता और उसका चित्त शान्त नहीं होता, तबतक वह केवल ब्रह्मज्ञानसे भी परमात्माकी प्राप्ति नहीं कर सकता।' तात्पर्य यह कि गृहस्थसे लेकर संन्यासीतकके लिये सदाचारका अनुष्ठान करना परमावश्यक है। अमृत-पानेके लिये जब देवता और दानवोंने सामूहिक प्रयास किया तो उसके परिणाममें समुद्र-मन्थन सम्पन्न हुआ। सुना जाता है कि देवताओंकी अपेक्षा दानव अधिक बली एवं उद्योगी थे, फिर भी वे अमृत-पान इसलिये न कर सके कि उन्हें भगवान्का आश्रय नहीं था (श्रीमद्भा० ८। ९। २८)। इस पौराणिक उपाख्यानको आजका बुद्धिवादी मानव भले ही हँसीमें टाल दे, किंतु इसके अन्तर्निहित इस शाश्वत सत्यका साक्षात्कार किया जा सकता है कि भक्ति या सदाचारके बिना कोई भी अमृत-पान नहीं कर सकता तथा वह अपने द्वारा किये गये परिश्रमका फल भी नहीं प्राप्त कर सकता।

सदाचारके सोपानपर चढ़कर मानव दानवतापर अधिकार प्राप्त कर सकता है। यदि मानव आचारको तृण मानकर स्वच्छन्द कर्म करता है तो उसके वे कर्म पाशविकचर्यासे भिन्न नहीं हैं। उसके बाह्य व्यवहारमें हस्तीके दन्तसे प्रदर्शनके दम्भ, बुद्धिमें शृगाल-सा प्रवञ्चनात्मक चातुर्य और भाषणमें सर्पकी-सी दो जिह्वाओंके व्यापार भले ही विद्यमान हों, पर अन्तर्हृदयमें निर्मलता और सच्ची श्रद्धा आदि सदाचारके बीज वर्तमान नहीं हैं और वह सच्चे अर्थमें मानव या मनुष्य नहीं हैं। वस्तुतः सदाचारका अनुष्ठान मानवके अन्तर्हृदयसे अत्यावश्यक है।

इन्द्रियसंयम—मनका सदाचार

अवान्तरनिपातीनि स्वारूढानि मनोरथम्।
पौरुषेणेन्द्रियाण्याशु संयम्य समतां नय॥
(योगवासिष्ठ)

'मनोमय रथपर चढ़कर विषयोंकी ओर दौड़नेवाली इन्द्रियाँ वशमें न होनेके कारण बीचमें ही पतनके गर्त्तमें गिरनेवाली हैं, अतः प्रबल पुरुषार्थद्वारा इन्हें शीघ्र अपने वशमें करके मनको समतामें ले जाइये।'

सदाचारका वास्तविक स्वरूप और उसका प्रतिदान

(लेखक—पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा, सारस्वत, विद्यावाचस्पति, विद्यावागीश, विद्यानिधि)

धर्मके लक्षणोंको बतलाते हुए सर्वमान्य (भार्गवीय) 'मनुसंहिता'में कहा गया है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥
(२।१२)

'वेद, धर्मशास्त्र, सदाचार और वैकल्पिक विषयोंमें अपनी आत्माकी प्रियता—ये चार धर्मके साक्षात् लक्षण हैं।'

यहाँ मनुजीने धर्मके चार प्रकारके लक्षण बतलाये हैं। इनमें पहला है—वेद, दूसरी है स्मृति, तीसरा है सदाचार और चतुर्थ वह है—जो अपने आत्माको प्रिय है। किंतु आत्माको प्रिय तो निषिद्ध वस्तुएँ भी हो सकती हैं, अतः यहाँ इसका वास्तविक तात्पर्य कुछ और है। बात यह है कि धर्ममें कभी-कभी कई विकल्प भी हुआ करते हैं, जैसे—स्मृतियोंमें कहा गया है कि ब्राह्मणका यज्ञोपवीत जन्मसे ८वें वर्षमें भी किया जा सकता है और गर्भसे ८वें वर्ष भी—**गर्भाष्टमेऽष्टमे वाऽब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम्।** (याज्ञवल्क्य १।२।१४)। मनुके 'आत्मप्रिय'का तात्पर्य इन दो वैकल्पिक धर्मोंमें जो आत्माको प्रिय हो, उसीके अनुसरण करनेसे है, सर्वथा मनकी मौजसे नहीं—**'स्वस्य च प्रियमात्मनः'**का यही रहस्य है। इसे याज्ञवल्क्यस्मृतिकी 'मिताक्षरा' आदि व्याख्याओंमें विस्तारसे देखा जा सकता है।*

धर्मके साक्षात् लक्षणोंमें वेद एवं स्मृतिके बाद तृतीय स्थान 'सदाचार'को दिया गया है। 'सदाचार' की दो प्रकारकी व्युत्पत्तियाँ हैं—(१) **'सताम् आचारः सदाचारः** (सत्पुरुषोंका आचार) तथा (२) **'सत् (अ०) आचारः** (अच्छा आचार) **सदाचारः**।' अच्छे आचारसे भी श्रुति-स्मृतिसे अविरुद्ध आचार ही इष्ट है। भट्ट कुमारिल आदिके अनुसार सत्पुरुषोंके जिस-किसी भी आचारके 'सदाचार' होनेपर भी शास्त्रविरुद्ध होनेकी दशामें वह अनुसरणीय नहीं माना जाता। इसीलिये सत्पुरुष युधिष्ठिर-द्वारा आचरित द्यूत श्रुति-स्मृतिविरुद्ध होनेसे आचरणीय नहीं माना गया। सदाचारको मनुस्मृति आदिमें 'आचार' शब्दसे भी कहा गया है। इस आचारका गौरव मनुस्मृति-के निम्न श्लोकोंमें भी देखिये—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥
(१।१०८)

यहाँपर श्रुति तथा स्मृतिसे समर्थित होनेपर ही आचारको अनुसरणीय कहा गया। यदि यहाँ **'श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च'** न कहा जाता तो पाण्डव सत्पुरुष थे, अतः एक स्त्रीसे पाँचोंका विवाह भी सबके लिये अनुसरणीय हो जाता, पर ऐसा नहीं किया जाता। अब विलोमतासे भी आचारकी प्रशंसा देखिये—

आचाराद् विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत्॥
(१।१०९)

यहाँ कहा गया है कि 'आचारसे पतित ब्राह्मण वेदके फलको प्राप्त नहीं होता।' क्या रावण वेदका विद्वान् न था? अवश्य था; परंतु उसने आचारकी अवहेलना कर दी थी। अतः उसका कहीं भी आदर नहीं रहा। किसी भी सत्समाजमें उसका नाम प्रशंसासे नहीं लिया जाता। इसलिये कोई भी पुरुष अपने लड़केका नामतक 'रावण' नहीं रखना चाहता। आचारसे युक्त

* स्वस्य चात्मनः प्रियं, वैकल्पिके विषये, यथा—'गर्भाष्टमेऽष्टमे वाब्दे।' (याज्ञ० १।१४की मिताक्षरा)

पुरुषकी सर्वत्र प्रशंसा होती है। उसको वेदके समग्र फलकी प्राप्ति कही गयी है। उपसंहारमें मनुजी इसको अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्॥
(१।११०)

यहाँपर आचारको मुनिलोगोंद्वारा सब तपस्याओंका मूल बताया गया है। तपस्याकी महिमा शास्त्रोंमें इस प्रकार आयी है—

यद् दुस्तरं यद् दुरापं यद् दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥
(मनु० ११। २३८, विष्णुस्मृति ९५। १७, विष्णुधर्मो० महापु० ३। २६६। ३०, महा० १३। १२०। ७)।

भाव यह है कि जिस ग्रहदोषसे सूचित आपत्तिको पार नहीं किया जा सकता, तपस्या उसे तार सकती है। जिस पदार्थका मिलना सर्वथा दुर्लभ है, तपस्या उसे भी सुलभ करा सकती है। जिस सुमेरु-पर्वतपर दुःखसे जाया जा सकता है, तपस्या वहाँ सुखसे पहुँचा सकती है और जिसका आचरण करना बड़ा कठिन है, तपस्या उसे सुकर बना देती है; परंतु तपस्याका अतिक्रमण कभी नहीं किया जा सकता। साथ ही ऐसी तपस्या भी आचारसे ही प्राप्त होती है। यदि आचारहीनता हो जाय तो वह तपस्या भी विध्वस्त हो जाती है। यह सुप्रसिद्ध है कि शाप भी तपस्यासे दिया जा सकता है, पर वही तपस्या एक निरपराधको शाप देनेपर ध्वस्त हो जाती है। इस प्रकार निरपराधादिको शाप-दान भी एक प्रकारसे सदाचारका अतिक्रमण है। अतः किसीको शाप देना उचित नहीं है। पुराणोंमें इसपर पर्याप्त मीमांसा है।

रावण बड़ा विद्वान् था, पर उसने सदाचारका परित्याग कर दिया था, अतः वह असदाचारी माना गया; और अन्तमें उसकी बड़ी दुर्दशापूर्ण मृत्यु हुई। इसी प्रकार कंस, शिशुपाल, दुर्योधन, हिरण्यकशिपु आदिको देखिये—सभी इसी आचारहीनताके उदाहरण हैं। वे किस दुर्दशासे ग्रस्त नहीं हुए? तभी तो यह कथन प्रसिद्ध है कि षडङ्गोंसहित अधीत वेद भी आचारहीनको पवित्र नहीं करते और वे मृत्युकालमें उन्हें उसी प्रकार छोड़ देते हैं, जैसे पंख निकल आनेपर पक्षी घोंसलेको छोड़ देते हैं—

आचारहीनं न पुनन्ति वेदा
यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः॥

(वसिष्ठधर्मसूत्र ६। ३, महाभा० ५। ३५, ४५, ४३, ५, आपस्तम्बधर्मसूत्र, देवीभा० ११। २। १, बृहद्योगियाज्ञवल्क्य ८। ७१ आदि)

अंग्रेजीमें भी एक प्राचीन कहावत प्रसिद्ध है, जो इस प्रकार है—'When your wealth is lost, nothing is lost, when your health is lost, something is lost, but when your character is lost, your everything is lost.'

(यदि तुम्हारा धन नष्ट हो गया है तो समझो कि तुम्हारा कुछ भी नष्ट नहीं हुआ। यदि तुम्हारा स्वास्थ्य नष्ट हुआ है तो समझो कि तुम्हारा कुछ नष्ट हुआ है, पर यदि तुम्हारा आचार नष्ट हो गया है तो समझ लो कि तुम्हारा सब कुछ नष्ट हो गया।) यह ठीक भी है; क्योंकि आचारहीनका कोई विश्वास नहीं करता। उसे तो कोई अपने साथ भी नहीं बैठाना चाहता, बल्कि उसे समाजसे भी दूर रक्खा जाता है। यहाँतक कि उसकी स्वतन्त्रताका भी हरण करके उसे कारागारमें डाल दिया जाता है। चोर, डाकू, उचक्के बुरे क्यों समझे जाते हैं?—इसीलिये कि उन्होंने आचारकी अवहेलना कर रखी है।

सत्य आचार है, पर असत्य कदाचार है। सत्यसे बहुत लाभ होते हैं और असत्यसे अपार हानियाँ होती हैं। संध्या एक श्रेष्ठ आचार है, जिसके लिये श्रीमनुजीने कहा है—

ऋषयो दीर्घसंध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुयुः ।
प्रज्ञां यशश्च कीर्तिं च ब्रह्मवर्चसमेव च ॥

(मनु० ४ । ९४)

'ऋषिगण दीर्घकालतक संध्याका अनुष्ठान करते थे, इसीसे उनकी आयु लम्बी होती थी । संध्यासे बुद्धि प्राप्त होती है, यश मिलता है, कीर्ति प्राप्त होती है और ब्रह्मतेज भी प्राप्त होता है ।' इससे यह भी सिद्ध हुआ कि कदाचारसे आयु घटती है, सम्मान नहीं मिलता, अनादर होता है और ऐसे पुरुष घृणाकी दृष्टिसे देखे जाते हैं । चोर, जार, डाकू आदि क्यों बुरी दृष्टिसे देखे जाते हैं ? कारण यही है—सदाचारका परित्याग ।

जब अर्जुन महादेवजीसे 'पाशुपत'-अस्त्र प्राप्त कर इन्द्रलोकमें आये, तब इन्द्रने अर्जुनके आगमनके उपलक्ष्यमें उर्वशी अप्सराका नृत्य कराया । उर्वशी अर्जुनपर मुग्ध हो गयी । रातमें अर्जुन जिस समय अपने कमरेमें अकेले थे, उसी समय उर्वशीने अर्जुनका द्वार खटखटाया । अर्जुनके यह पूछनेपर कि 'तू कौन है, क्या चाहती है ?'—उसने उत्तर दिया कि 'मैं उर्वशी हूँ ।' पर अर्जुन कदाचारी नहीं, सदाचारी थे; अतः उन्होंने उसे इन्द्रकी पत्नी और अपनी माता मानकर उसका वैसा अनुरोध स्वीकार नहीं किया ! इस प्रकार उर्वशी झेंप गयी और वापस चली गयी । फलतः सदाचारकी विजय हुई । अर्जुनके सदाचारकी पूरी परीक्षा हो गयी । महाकवि कालिदासने ठीक ही कहा है—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः ।

(कुमारसम्भव १ । ५९)

'विकृतिके कारण उपस्थित होनेपर भी जिनके चित्त विकारग्रस्त नहीं होते, वास्तवमें वे ही धीर हैं ।' यही है—सदाचार । कहते हैं । शिवाजीपर एकबार एक मुसलमान-स्त्री मोहित हो गयी थी । पर शिवाजी सदाचारी थे, उन्होंने उसको किसी तरह टाल दिया । क्यों ? वही कारण यहाँ भी था—उत्कृष्ट कोटिका सदाचार । शिवाजी सच्चे अर्थमें 'धीर' वीर थे । इस प्रकारके बहुत-से उदाहरण इतिहासोंके पृष्ठोंमें भरे पड़े हैं, जिनमें सदाचारी पुरुषोंने सदाचारव्रतकी रक्षा 'असिधारा-व्रत'की भाँति सम्पन्न कर हमारे लिये आदर्श उपस्थित कर दिये हैं । सदाचार धर्मका एक विशेष अङ्ग है । मनुजीने द्विजातियों-के लिये धर्मके ये सामान्य लक्षण बतलाये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

(६ । ९२)

'धीरज, सहनशक्ति, शम, चोरीसे दूर रहना, पवित्रता, इन्द्रियोंका संयम, बुद्धि, विद्या, सत्य, क्रोध न करना—ये धर्मके दस सामान्य लक्षण हैं ।' सदाचार इन्हीं धर्मोंका अङ्ग हुआ करता है । (आचरणमें आ जानेपर ये ही सदाचार हो जाते हैं ।)

जो इस संसारमें सुप्रसिद्ध एवं सुखी हैं, उनकी प्रसिद्धि एवं सुखका कारण सदाचार ही है । जो पुरुष संसारमें बदनाम (कलङ्कित) एवं अन्तर्हृदयसे दुखी हैं, उसका मूल कारण है—कदाचार या अनाचार । सदाचार अनुष्ठेय है और कदाचार वर्जनीय । यहाँ थोड़े शब्दोंमें सदाचारके स्वरूप तथा उसके परिणामपर प्रकाश डाला गया है । वस्तुतः अलग-अलग वेद-पुराण, धर्मशास्त्रादिमें सदाचारके इतने अधिक प्रसङ्ग एवं प्रकरण प्राप्त होते हैं, जिनकी सूची भी बहुत लम्बी होगी, पर आजके लोग उधर ध्यान ही नहीं देते, यही व्यष्टि एवं समष्टिके क्लेशोंका कारण दीखता है । भगवान् हमें सद्बुद्धि दें, जिससे हम सदाचारका अनुसरणकर अतीतका गौरव प्राप्त करें, यही उनके चरणोंमें प्रार्थना है ।

सदाचारका महत्त्व

(लेखक—याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा, गौड़, वेदाचार्य)

महाभारतके अनुसार 'सदाचार ही धर्मका रूप है और संत भी वे ही कहे गये हैं, जो चरित्रवान् हैं। इस प्रकार साधुओंका चरित्र ही सदाचारका लक्षण है'—

आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चारित्रलक्षणाः।
साधूनां च यथावृत्तमेतदाचारलक्षणम्॥

(महाभारत अनुशासनपर्व १०४ । ९)

अनाचारस्तु मालिन्यमत्याचारस्तु मूर्खता।
विचाराचारसंयोगः सदाचारस्य लक्षणम्॥

(बोधसार)

'अनाचारसे मनुष्यके चित्तमें मलिनता होती है और आवश्यकतासे अधिक आचार करना मूर्खता (या दम्भ) कहा गया है। अतः विचारपूर्वक जो आचार किया जाता है, वही सदाचार कहलाता है।' हिंदू-जाति और हिंदू-धर्ममें सदाचारका बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। सदाचार ही हिंदू-जाति और हिंदू-धर्मका जीवन है। सदाचारके बिना उसकी रक्षा सर्वथा असम्भव है। आजकी विकट परिस्थितिमें भी हिंदू-धर्म और हिंदू-जातिके जीवित और रक्षित रहनेका एकमात्र कारण यही है कि हिंदू-जातिके सभी कार्य सदाचारपरक और धर्म-परक होते हैं। हिंदू-धर्ममें बालकोंको सदाचारकी शिक्षा देनेकी प्रथा अनादिकालसे प्रचलित है। माता-पिताके द्वारा छोटी अवस्थासे ही बालककी शिक्षा घरमें प्रारम्भ हो जाती है और जब वह गुरुकुलमें प्रवेश करता है तो उसे वहाँ गुरु-(आचार्य-)के द्वारा सदाचारकी शिक्षा मिलती है। गुरुकुलमें रहते हुए ब्रह्मचर्यावस्थामें ही बालकको गुरुके द्वारा—**'आचार्यवान् पुरुषो वेद** (छान्दोग्योपनिषद् ६ । १४ । २) इत्यादि की सदाचारपरक अनेकानेक महत्त्वपूर्ण शिक्षाएँ प्राप्त होती हैं। इनसे ब्रह्मचारी बालकका जीवन 'अथ'से 'इति' तक कर्तव्यशील एवं आनन्दमय और परिपूर्ण बन जाता है। पश्चात् वह माता-पिता और गुरूपदिष्ट सदाचार-शिक्षणके बलपर अपना इहलोक और परलोक—दोनों सुखद, सुन्दर और सुदृढ़ बना पाता है।

सदाचारका क्षेत्र बहुत विस्तृत है, जैसे—सूर्योदयसे पूर्व प्रातः प्रबोध, स्नान, संध्या, तर्पण, बलिवैश्वदेव, वेद-स्वाध्याय, देवदर्शन, तीर्थयात्रा, ईश्वर-भक्ति, मातृ-पितृसेवा, गुरुसेवा, अतिथिसेवा, गोसेवा, परोपकार, सत्यभाषण, मधुर-भाषण, मित-भाषण और आश्रमधर्म-पालन आदि सदाचारके ही अन्तर्गत कहे गये हैं। अतः मनुष्यको इस क्षेत्रके अन्तर्गत समस्त सदाचारोंका यथानियम, यथाविधि और यथाशक्ति पालन करना चाहिये। जो मनुष्य सदाचारके समस्त नियमोंका पालन और रक्षण करता है, उसे जीवनमें कभी किसी वस्तुकी कमी नहीं रहती और न उसपर कभी किसी प्रकारकी आपत्ति ही आती है। राजर्षि मनुका कथन है—

मङ्गलाचारयुक्तानां नित्यं च प्रयतात्मनाम्।
जपतां जुह्वतां चैव विनिपातो न विद्यते॥

(४ । १४६)

'जो मनुष्य माङ्गलिक आचरणसे युक्त रहते हैं, जो नित्य अपनेको संयमित रखते हैं और जो जप एवं हवनमें प्रवृत्त रहते हैं—उनका पतन नहीं होता।' मानव-जीवनमें सदाचारकी विशेष आवश्यकता है। प्राचीन कालके ऋषि, महर्षि, साधु, महात्मा, तपस्वी, विद्वान्, लेखक और धर्मोपदेशक आदिका सम्मान उनकी सदाचारशीलतापर ही विशेष निर्भर था। आज भी इस ह्रासके युगमें जिन लोगोंका सदाचार सुन्दर होता है, उन्हींकी सर्वत्र प्रतिष्ठा और प्रशंसा होती है। अतः मनुष्यको सर्वदा सदाचारके पालन और रक्षणपर विशेष

ध्यान देना चाहिये। सदाचारके पालनसे मनुष्यमें शील, सौजन्य, संतोष, सद्भाव, विनय, परोपकार, दया, नम्रता और धार्मिकता आदि सद्गुणोंका समावेश होता है। भगवान् मनु और महर्षि वसिष्ठने—**'आचारः परमो धर्मः'** कहकर इसके रक्षण और पालनपर विशेष बल दिया है। महर्षि वसिष्ठका तो यहाँतक कहना है कि साङ्गोपाङ्ग वेदाध्ययन कर लेनेपर भी जो द्विज सदाचारहीन है, उसे वेदाध्ययनका फल प्राप्त नहीं हो सकता और उसकी रक्षा वेद नहीं करते। आचरणके बिना वेदादिके ज्ञानका भी क्या उपयोग हुआ। इसीलिये क्रियारहित ज्ञान भार कहा गया है। (वसिष्ठस्मृति ६। ३) स्पष्ट है कि सदाचारके बिना वेदज्ञ विद्वान्‌को वेदोदित ज्ञान भी त्याग देता है, जिससे वह वेदाध्ययनके वास्तविक फलसे सर्वदा वञ्चित रहता है। मनुस्मृति (१। १०९) भी कहती है कि—'आचारसे रहित ब्राह्मण वेदके फलको प्राप्त नहीं करता और आचारवान् ब्राह्मण वेदके सम्पूर्ण फलको प्राप्त करता है।' शास्त्रोंमें सदाचारहीन मनुष्यके सम्बन्धमें कहा गया है कि उसके समस्त कार्य विफल होते हैं। अतः मनुष्यको सर्वात्मना असदाचरणका त्याग करना चाहिये।

भगवान् मनुने मनुष्यकी असामयिक मृत्युके विशेष कारणोंका उल्लेख करते हुए **'आचारस्य च वर्जनात्'** (मनुस्मृति ५। ४) कहकर सदाचारके त्यागको भी मृत्युका एक प्रधान कारण बतलाया है; क्योंकि इससे ओज, तेज और बुद्धिका ह्रास होने लगता है और धीरे-धीरे उसकी आयु क्षीण होती जाती है। इसलिये आयु आदिकी वृद्धिके लिये सदाचारी बनना आवश्यक है। प्राचीन समयमें मनुष्य सदाचारको ही अपना परम धन और धर्म समझते थे। वे सदाचारके बलपर ही अपना और संसारका कल्याण करते थे। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियोंने तपस्याके मूलभूत सदाचारको ही अपना परम ध्येय और इष्ट स्वीकार कर उसे अपनाया था

'सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्।'
(मनुस्मृति १। ११०)

हमारे प्राचीन धर्माचार्योंने केवल दूसरोंके लिये ही सदाचारका उपदेश नहीं दिया है, किंतु स्वयं भी उन्होंने सदाचारका पालन करके मानवमात्रके कल्याणार्थ अपूर्व आदर्श उपस्थित किया है। हमारे धर्मग्रन्थोंमें सदाचारकी प्रशंसा और दुराचारकी निन्दा की गयी है। महाभारतमें कहा गया है—

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च॥
दुराचारो हि पुरुषो नेहायुर्विन्दते महत्।
त्रसन्ति यस्माद् भूतानि तथा परिभवन्ति च॥
तस्मात् कुर्यादिहाचारं यदीच्छेद् भूतिमात्मनः।
अपि पापशरीरस्य आचारो हन्त्यलक्षणम्॥
(अनुशासन० १०४। ६-८)

प्रायः यही बात मनुस्मृति (४। १५६—१५८)में भी कही गयी है, जिसका भाव है कि 'मनुष्य आचारसे आयुकी और लक्ष्मीकी प्राप्ति करता है। आचारसे परलोकमें तथा इस लोकमें कीर्ति फैलती है। दुराचारी मनुष्य इस लोकमें दीर्घायुको प्राप्त नहीं कर सकता। दुराचारीसे सब लोग डरते हैं और उसका तिरस्कार करते हैं। अतः जो मनुष्य अपना कल्याण चाहता है, उसे इस लोकमें सदाचारका पालन करना चाहिये। यदि कोई पापी मनुष्य भी सदाचारका पालन करता है, तो उसके समस्त अशुभ लक्षण नष्ट हो जाते हैं।'

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥
(महा० अनुशासन० १०४। १४)

'समस्त लक्षणोंसे हीन होता हुआ भी जो सदाचारी और श्रद्धालु है और जो दूसरोंपर दोषारोपण नहीं करता, वह सौ वर्षोंतक जीवित रहता है।'

आचारवन्तो मनुजा लभन्ते
आयुश्च वित्तं च सुतांश्च सौख्यम् ।
धर्मं तथा शाश्वतमीशलोक-
मत्रापि विद्वज्जनपूज्यतां च ॥

'जो मनुष्य सदाचारी हैं उनको दीर्घायु, धन, सन्तति, सुख और धर्मकी प्राप्ति होती है तथा नित्य अविनाशी भगवान् विष्णुके लोककी प्राप्ति होती है और वे इस संसारमें विद्वानोंसे भी मान्यताको प्राप्त करते हैं ।'

आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः ।
हीनाचारी पवित्रात्मा प्रेत्य चेह विनश्यति ॥

(वसिष्ठ)

'सभी शास्त्रोंका यह निश्चित मत है कि आचार ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है । सदाचारहीन पुरुष यदि पवित्रात्मा भी हो तो उसका परलोक और इहलोक दोनों नष्ट हो जाता है ।'

इस प्रकार विचार करनेपर यह सुस्पष्ट हो जाता है कि सदाचार मानव-जीवनका बहुत बड़ा सम्बल है । जो मनुष्य सदाचाररूपी पाथेय लेकर इस विशाल संसृति-पथकी यात्रा करता है, उसे कहीं भी क्षुधा-तृषा आदिसे परिपीड़ित नहीं होना पड़ता और वह पूर्ण बल, उत्साह एवं आनन्दके साथ अपने गन्तव्य लक्ष्यतक निश्चित पहुँच जाता है ।

सदाचारका स्वरूप-तत्त्व

(लेखक—श्रीदेवदत्तजी मिश्र, काव्य-व्याकरण-सांख्य-स्मृति-तीर्थ)

'सदाचार' शब्दके 'सत्'पदका अर्थ बहुत व्यापक है । 'अस्—भुवि' (२ । ५५) धातुसे शतृ प्रत्यय करनेपर 'सत्' शब्द बनता है । इसका अर्थ है—अस्तित्व अर्थात् वर्तमान रहना । आचार शब्द 'चर—गतिभक्षणयोः' धातुसे 'घ' प्रत्यय करनेपर बनता है, इसमें आ उपसर्ग है, जिसका अर्थ होता है—मनुष्यका दैनिक व्यवहार । सत्का विशेष अर्थ होता है—परब्रह्म और समीचीन ।

परब्रह्म सर्वदा-सर्वत्र वर्तमान रहता है, इसलिये वह सत् है । परब्रह्मका नाम सच्चिदानन्द है; क्योंकि वह सर्वदा-सर्वत्र है एवं चित् अर्थात् चेतन है तथा उसका स्वरूप आनन्द है । आनन्द उस सुखको कहते हैं, जिसका कोई प्रतिद्वन्द्वी न हो । सदाचारका मूल तत्त्व है भगवद्भक्ति । भगवद्भक्तिके प्रधान दो अङ्ग हैं—एक सकाम भक्ति और दूसरा निष्काम भक्ति । दोनोंके आचार सदाचारमें सुपरिगृहीत हो सकते हैं; किंतु सदाचार मुख्यतः गृहस्थोंके अच्छे आचरणके लिये व्याख्यात है । विष्णुपुराणमें और्व ऋषिने गृहस्थके सदाचारके विषयमें कहा है—

सदाचाररतः प्राज्ञो विद्याविनयशिक्षितः ।
पापेऽप्यपापः परुषे ह्यभिधत्ते प्रियाणि यः ।
मैत्रीद्रवान्तःकरणस्तस्य मुक्तिः करे स्थिता ॥

(३ । १२ । ४१)

बुद्धिमान् गृहस्थ पुरुष सदाचारके पालन करनेसे ही संसारके बन्धनसे छूट सकता है । सदाचारी विद्या और विनयसे युक्त रहता है तथा पापी पुरुषके प्रति भी पापमय, कष्टप्रद व्यवहार नहीं करता । वह महाकुटिल और अपने साथ अनुचित व्यवहार करनेवाले पुरुषसे भी हित और प्रिय व्यवहार तथा मधुर भाषण करता है । सदाचारी पुरुष मैत्रीभावसे द्रवित अन्तःकरणवाले होते हैं । उनके लिये मुक्ति हस्तगत रहती है । सदाचारियोंकी महिमा बतलाते हुए कहा गया है कि—'जो वीतराग महापुरुष काम, क्रोध और लोभके वशीभूत नहीं होते, उनके प्रभावसे ही यह पृथ्वी टिकी हुई है'—

ये कामक्रोधलोभानां वीतरागा न गोचरे।
सदाचारस्थितास्तेषामनुभावैर्धृता मही॥

गीतामें भगवान्‌ने सदाचार और दुराचारको दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदाके नामसे अभिहित किया है। श्रीभगवान्‌के कथनानुसार जो रागद्वेषसे रहित अपनी आत्मामें ही रमण करते हैं, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे पीड़ित या आनन्दित नहीं होते, वे ही महात्मा हैं। वे मुझे अजन्मा और अविनाशी जानकर दैवी प्रकृतिको ग्रहण करके अनन्य-भावसे मेरा भजन करते हैं। वे महात्मागण मनुष्यका शरीर धारण करनेके कारण भ्रममें नहीं पड़ते कि राम और कृष्ण आदि भी साधारण मनुष्यकी तरह जन्म लेनेवाले और मरनेवाले हैं। सदाचारी मनुष्योंका लक्षण बतलाते हुए कहा गया है कि इन दैवी सम्पदावाले मनुष्योंके शरीरमें एक तरहका तेज होता है, जिससे दुराचारी मनुष्य उसको देखते ही सहम जाते हैं, उनपर आक्रमण करनेका साहस नहीं होता। सदाचारी मनुष्यमें धृति अर्थात् धैर्य रहता है, वह बिना सोचे-बिचारे सहसा किसी कामको नहीं कर बैठता। उसमें क्षमा रहती है, अपराध करनेपर भी दण्ड देनेका भाव नहीं होता। उसमें शौच अर्थात् अभ्यन्तर और बाह्य दोनों तरहकी शुद्धि रहती है। किसीको कष्ट देनेका भाव न होना, सबको सुख पहुँचानेका विचार होना, स्नानादिसे अन्तःकरणकी और बाह्य शरीरकी शुद्धि होती है। ये दोनों तरहकी शुद्धि सदाचारीमें होती है। पाँचवाँ गुण सदाचारीका है—अद्रोह अर्थात् किसीसे शत्रुताका भाव न रखना, साथ ही मैत्रीका भाव रखना। सदाचारीमें अभिमान भी नहीं होता। सदाचारी मनुष्य अपनी जाति, धन, विद्या आदिके कारण किसीसे अपनेको बड़ा नहीं समझता तथा सबसे सम्मान प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं रखता। इसके विपरीत दम्भ करना—किसी प्रकार दूसरेसे धन ठग लेना और सम्मान कराना, दर्प करना अर्थात् अपनी विद्या, धन और गुण आदिके द्वारा दूसरेको अपमानित करना, अभिमान करना अर्थात् अपनी जाति, विद्या, धन और बलका दुरुपयोग करना, क्रोध करना अर्थात् तुच्छ बातोंपर आगबबूला होकर अपशब्द बकना और प्रहार कर बैठना, पारुष्य अर्थात् कठोरता—निर्दयतासे किसीको पीटना और अज्ञानवश किसी बातको ठीकसे न समझना अर्थात् सत्यको असत्य, भलेको बुरा, छोटेको बड़ा और बड़ेको छोटा, पवित्रको अपवित्र, अपवित्रको पवित्र समझना—यह आसुरी सम्पदा है।

इन बुरे कर्मों या असदाचरणसे प्राणी नरकमें जाते हैं, अतः भक्तिमूलक सदाचारका आचरण मानवजीवनकी चरितार्थताके लिये परम आवश्यक है।

दुराचारका कुफल

मार्गमें एक घायल सर्प तड़फड़ा रहा था। सहस्रों चींटियाँ उससे चिपटी थीं। पाससे एक साधु-पुरुष शिष्यके साथ जा रहे थे। सर्पकी दयनीय दशा देखकर शिष्यने कहा—'कितना दुःखी है यह प्राणी!'

गुरु बोले—'कर्मफल तो सबको भोगना ही पड़ता है।'

शिष्य—'इस सर्पने ऐसा क्या पाप किया कि सर्प-योनिमें भी इसे यह कष्ट?'

गुरु—'तुम्हें स्मरण नहीं कि कुछ वर्ष पूर्व इस सरोवरके किनारेसे हम लोग जा रहे थे तो तुमने एक मछुएको मछली मारनेसे रोका था।'

शिष्य—'वह तो मेरे रोकनेपर मेरा ही उपहास करने लगा था!'

गुरु—'यह सर्प वही है, जिसने उन मछलियोंको मारा था। आज उन्हें अपना बदला लेनेका अवसर मिला है। वे मछलियाँ ही चींटियाँ होकर उत्पन्न हुई हैं। सर्प स्वकृत कर्मका कुफल भोग रहा है।'

सदाचारका स्वरूप और महत्त्व

(लेखक—डॉ० श्रीवेदप्रकाशजी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० एस-सी०)

सदाचारके वास्तविक रूपके परिज्ञानके लिये यद्यपि सनातनधर्मका सर्वाङ्गीण परिज्ञान परमावश्यक है, तथापि सामान्य जनके अवबोधनार्थ कहा जा सकता है कि देवता और दानवोंके मध्यमें अवस्थित मानवको देवत्वकी ओर अग्रसर करनेके उद्देश्यसे सनातनधर्ममें वर्णाश्रमके अनुसार विभक्त कर उनके जो आचार एवं कर्तव्य निर्दिष्ट हुए हैं वे ही सदाचार हैं। इनका अनुसरण कर मानव देवत्वकी ओर अग्रसर हो सकता है। अतः तत्त्ववेत्ता मनीषियोंने इन्हें ही सनातनधर्मका मुख्य स्वरूप प्रतिपादित किया है। सनातनधर्मके मूलभूत ग्रन्थोंमें इन्हींकी महत्ताका प्रतिपादन एवं स्थापन हुआ है। सनातन-धर्मके प्रमुख इतिहास-ग्रन्थ महाभारतमें—**'आचारः प्रथमो धर्मः'** (१३ । १४९)से सदाचारको ही मानवका मुख्य धर्म माना गया है, जिसका ज्ञान वेद और स्मृतियोंके द्वारा होता है। द्विजोंके लिये श्रुति तथा स्मृति दोनों दो नेत्रोंके समान निर्दिष्ट हैं। इनमेंसे एकसे हीनको काना कहा जाता है तथा दोनोंसे हीन-को अन्धा—

श्रुतिः स्मृतिश्च विप्राणां नयने द्वे प्रकीर्तिते।
काणः स्यादेकहीनोऽपि द्वाभ्यामन्धः प्रकीर्तितः॥
(अत्रिसंहिता १ । ३५१-५२)

अब प्रश्न उठता है कि 'आचार'—जिसे महाभारत परमधर्म अथवा प्रथमधर्म कहता है तथा स्मृतिकार जिसे जीवनका अनिवार्य अङ्ग मानते हैं, वस्तुतः है क्या? उसका स्वरूप, उसकी परिभाषा क्या है? शास्त्रोंके अनुशीलनसे इस सम्बन्धमें निम्न वचन उपलब्ध होते हैं-

सद्भिराचरितः पन्थाः सदाचारः प्रचक्षते।

अर्थात् 'सज्जन व्यक्तियोंद्वारा जिस मार्गका अनुसरण किया जाता है, उसे सदाचार कहते हैं।'

सज्जन किस मार्गका अनुसरण करते हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा जा सकता है कि जिस मार्गके अनुसरणसे दूसरे व्यक्तियों तथा स्वयं उनकी आत्माको आनन्दकी अनुभूति एवं परितोष प्राप्त होता है, वही सन्मार्ग अथवा सदाचारका सोपान है। दूसरे शब्दोंमें श्रुति-स्मृति-अनुमोदित मार्ग, जो कल्याणका विधायक हो 'सदाचार' है और इसके विपरीत असदाचार, इस संदर्भमें कहा गया है कि—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्त उल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥
(वाधूलस्मृति १ । १८९, पञ्चदशी ६ । ७९)

'वेद, धर्मशास्त्र मेरे (श्रीमन्नारायणके) आज्ञास्वरूप हैं, उनके विरुद्ध प्रवर्तित होनेवाले आचरण असत्-कोटिमें परिगणित होते हैं और उसका अनुकर्त्ता 'असद्' कहलाता है। वह मेरी आज्ञाको छिन्न करनेवाला मेरा द्रोही है तथा भक्त होते हुए भी 'वैष्णव' कहलाने योग्य नहीं है।' इसके विपरीत सत्‌के स्वरूपका दिग्दर्शन कराते हुए गीतामें (१७ । २६में) सद्भाव, साधुभाव तथा प्रशस्त कर्मके लिये सद् शब्दका प्रयोग दिखलाया गया है। जीवनमें सदाचारकी क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर देते हुए शास्त्रकारोंने कहा है कि— वेदादि समस्त अधीत विद्याओंके प्रतिष्ठापनार्थ सदाचार आवश्यक है

सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः तस्यै किमायतनम्? वेदाः सर्वाङ्गाणि सत्यमायतनम्, तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा। (छान्दो० ६ । ८ । ६)

इस सदाचारके रूप-विधायक अङ्ग हैं—दान, तप और कर्म, जिनका कभी त्याग न करना चाहिये

यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्॥

शास्त्रोंमें दानादि धर्माचरण, सत्य, स्वाध्याय, देवर्षि-पितृपूजनको सदाचार माना गया है और **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व'** (ऋग्वेद १० । ३४ । १३) **से** जूएका परित्यागकर कृषिके आधारपर जीवनयापनका परामर्श दिया गया है और **'न परस्त्रियमुपेयात्'** (तैत्तिरीय० १ । १ । ८ । ९) आदि द्वारा परस्त्रीसे सदा दूर रहनेको कहा गया है । इसी प्रकार **'मा हिंस्यात् पुरुषान् पशूंश्च'** (अथर्व० ६ । २ । २८ । ५)— निरपराध पुरुषों और पशुओंकी हिंसा न करो, **'मा गामनागामदितिं वधिष्ट'** (ऋग्वेद ६ । ८७ । ४)—गाय निरपराध है, उपकारक है, उसकी हिंसा मत करो, **'न मांसमश्नीयात्'** (तैत्तिरीय० १ । १ । ९ । ७)—मांस भक्षण न करे; **'न सुरां पिबेत्'** (तैत्तिरीय० १ । १ । ९ । ७) मद्यपान **न करे** और **'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्'** (यजु० ४० । १) 'आदिसे पराये धनके प्रति लालच न करनेकी सदाचारमूलक कर्तव्यकी आज्ञा दी गयी है ।

अनेक प्रकारके तप भी सदाचार ही हैं। बाह्य एवं अन्तर् इन्द्रियोंको वशमें रखना तप है । इसी प्रकार सुपात्रको दान देना तप है । यज्ञ करना तप है । भूर्, भुवः और स्वर् —ये तीनों लोक ब्रह्ममय हैं—ऐसा समझकर सब जीवोंका हित करे, यह सबसे बड़ा तप है । इतना ही नहीं, व्यक्तिको अपने पारिवारिक परिवेशमें भी कतिपय सदाशयपूर्ण व्यवहारोंका प्रतिपादन, अनुसरण, प्रतिपालन करना चाहिये, जिससे न केवल परिवारमें शान्ति और सौजन्य बना रहे, अपितु अनुवर्तियोंके लिये भी आदर्शका मार्ग प्रशस्त हो । इसके लिये आचरणीय कर्तव्योंका विधान इस प्रकार हुआ है—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु सम्मनाः ।
जाया पत्ये मधुमती वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥
(अथर्व० ३ । ३० । १-२)

'पुत्र पिताका आज्ञाकारी बने और वह मातासे श्रद्धाभक्तियुक्त व्यवहार करनेवाला हो । पत्नी पतिके लिये मधुर वाणीका प्रयोग करे तथा दम्पतिमें शान्ति, संतोष एवं प्रेम बना रहे। भाई-भाईमें, बहन-बहनमें तथा भाई-बहनमें भी परस्पर द्वेषरहित व्यवहार हो । सभी एक दूसरेके प्रति आदरभाव रखते हुए अपने-अपने धर्मका पालन करनेवाले हों और परस्पर कल्याणकारिणी मर्यादा-सम्पन्न वाणीका प्रयोग कर अपने जीवनको शान्तिधाम बनानेकी दिशामें अग्रसर हों ।' सदाचारमें अहिंसा, दया, दान, साम, शान्ति आदिका विशेष महत्त्व है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
दानं दया दमः शान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति० १ । १२२)

'अहिंसा—मन, कर्म, वाणीसे किसी प्राणीको दुःख न देना, सत्य—सच्चा व्यवहार रखना, अस्तेय—दूसरोंकी वस्तुको न चुराना, न छीनना, शौच—तन-मनसे पवित्र रहना, इन्द्रियनिग्रह—इन्द्रियोंको वशमें रखना, दान—सत्पात्रको सात्त्विक दान देना, दया—प्राणि-मात्रपर कृपाभाव रखना, दम—मनको वशमें रखना, शान्ति—सहनशील होना—ये नौ गुण सर्वसाधारणके लिये धर्म या सदाचारके साधन हैं ।'

सदाचारका सुन्दर विधान महाभारतके आश्वमेधिक-पर्वमें प्राप्त होता है, जहाँ बतलाया गया है कि दान, व्रत, ब्रह्मचर्य, शास्त्रोक्त रीतिसे वेदाध्ययन, इन्द्रिय-निग्रह, शान्ति, समस्त प्राणियोंपर दया, चित्तका संयम, कोमलता, दूसरोंके धन लेनेकी इच्छाका त्याग, संसारके प्राणियों-का मनसे भी अहित न करना, माता-पिताकी सेवा; देवता, अतिथि और गुरुकी पूजा; दया, पवित्रता, इन्द्रियोंको सदा वशमें रखना तथा शुभ कर्मोंका प्रचार

करना सदाचार कहलाता है। इनके पालन करनेसे व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

सदाचारकी शिक्षा कहाँसे, किस प्रकार प्राप्त हो सकती है ?

इस सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतके (७ । ११-१४) सदाचारके उपदेश ध्यान देने योग्य हैं। ग्यारहवें स्कन्धमें भी कहा गया है कि जो व्यक्ति सदाचारका पाठ ग्रहण करना चाहता है, उसे चाहिये कि वह साधु-पुरुषों, भक्तजनों आदिद्वारा सेवित तीर्थोंमें निवास करे तथा देव, असुर और मानवोंमें होनेवाले भगवद्भक्तोंके चरित्रोंका अनुसरण करे—

देशान् पुण्यानाश्रयेत मद्भक्तैः साधुभिः श्रितान्।
देवासुरमनुष्येषु मद्भक्ताचरितानि च॥
(११ । २९ । १०)

'सदाचारी व्यक्तिका कर्तव्य है कि वह भक्ति आदि साधनोंद्वारा विवेकसम्पन्न होकर सर्वत्र प्रभुके ही दर्शन करे'—

मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम्।
ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः॥
(११ । २९ । १२)

'समदर्शित्व तभी सार्थक है, जब ब्राह्मण, चाण्डाल, चोर, ब्राह्मणभक्त, सूर्य, चिनगारी, अक्रूर (कोमल) तथा क्रूर (कठोर) स्वभाव सभीके प्रति सम ईश्वर-दृष्टि हो' और 'तभी व्यक्ति पण्डित कहलानेका अधिकारी भी बन सकता है।

ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥
(११ । २९ । १४)

सबके प्रति ईश्वरीय भाव आ जानेपर साधकके चित्तसे स्पर्द्धा, ईर्ष्या, तिरस्कार अहंकार आदि दूर हो जाते हैं और वह तत्त्वतः सदाचारी या भागवत-संज्ञाका अधिकारी पात्र बन जाता है—(यद्यपि स्मार्तदृष्टिसे यह भाव कठिन लगता है।)

नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्।
स्पर्धासूयातिरस्काराः साहंकारा वियन्ति हि॥
(११ । २९ । १५)

इस दशामें पहुँचते ही व्यक्ति हानि-लाभ, मान-अपमानकी भावनासे मुक्त हो जाता है। परंतु उसकी साधना तभी सार्थक होती है, जब वह अपना उपहास होते देखकर तथा शारीरिक कष्ट आदिको भी सर्वथा भुलाकर अश्व, चाण्डालादिको एक ईश्वरका रूप मानकर उन्हें पृथ्वीपर दण्डवत् गिरकर नमस्कार तक करने लगता है—

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥
(११ । २९ । १६)

सदाचारकी आवश्यकता

जीवनमें सदाचारका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके पालनसे व्यक्ति सभ्य और सुसंस्कृत होता है और परिवार-समाजमें सुव्यवस्था एवं शान्ति लानेमें सफल होता है। भारतमें सदाचारका अत्यधिक प्रचार रहा है। यही वह भूमि है, जहाँ श्रुतिसेतुके रक्षार्थ भगवान् भी अवतार लेते हैं और उसकी प्रतिष्ठा करते हैं। अच्छे संस्कार और सद्-आचरण ही श्रेष्ठ जीवनकी नींव होते हैं। हमें आजकी पनपती हुई विदेशी सभ्यतामें भी अपने परम्परागत आचारको सुरक्षित रखते हुए अपने देशका मान बढ़ाना चाहिये। इसी प्रेरणा-हेतु विष्णुपुराणमें देवताओंका यह गीत बहुत प्रसिद्ध है। जिसमें वे भारतमें जन्म लेनेके लिये तरसते हुए कहते हैं कि भारतमें जन्म लेनेवाले धन्य हैं—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥

इस उक्तिकी अन्वर्थकता तभी हो सकती है, जब हम सदाचरणको अपने जीवनमें पूरी तरह उतार लें।

सदाचारके मौलिक सूत्र

(लेखक—आचार्य श्रीतुलसीजी)

'आचारः प्रथमो धर्मः'—इस उक्त वाक्यमें आचार शब्दका प्रयोग श्रेष्ठ आचरणके अर्थमें है । इससे यह ज्ञात होता है कि आचार शब्द अपने-आपमें भी सदाचारका ही द्योतक है । इसलिये प्रस्तुत संदर्भमें श्रेष्ठ आचारको ही सदाचारके नामसे अभिहित किया गया है । वस्तुतः सदाचार एक व्यापक और सार्वभौम तत्त्व है । देश-कालकी सीमाएँ इसे न तो विभक्त कर सकती हैं और न इसकी मौलिकताको नकार सकती हैं । जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश सबके लिये है, उसी प्रकार सदाचारके मूलभूत तत्त्व मानवमात्रके लिये उपयोगी हैं । कुछ व्यक्ति अपने राष्ट्र, कुल या परम्परागत आचारको विशेष महत्त्व देते हैं, किंतु यह स्व-परका व्यामोह है । 'जो कुछ मैं कर रहा हूँ, वही सदाचार है', इस धारणाकी अपेक्षा व्यक्तिको ऐसी धारणा सुदृढ़ करनी चाहिये कि जो सत्-आचरण है, वह मेरे लिये करणीय है । सदाचारी व्यक्ति नीतिनिष्ठ होता है । वह किसी भी स्थितिमें नीतिके अतिक्रमणके लिये अपनी स्वीकृति नहीं दे सकता । एक संस्कृत कविने नीतिनिष्ठ व्यक्तिके लक्षण बतलाते हुए बहुत ठीक लिखा है—

अभयं मृदुता सत्यमार्जवं करुणा धृतिः ।
अनासक्तिः स्वावलम्बः स्वशासनसहिष्णुता ॥
कर्तव्यनिष्ठता व्यक्तिगतसंग्रहसंयमः ।
प्रामाणिकत्वं यस्मिन् स्युर्नीतिमानुच्यते हि सः ॥

'जिस व्यक्तिमें अभय, मृदुता, सत्य, सरलता, करुणा, धैर्य, अनासक्ति, स्वावलम्बन, स्वशासन, सहिष्णुता, कर्त्तव्यनिष्ठा, व्यक्तिगतसंग्रहका संयम और प्रामाणिकता होती है, वह नीतिमान् कहलाता है ।'

अभय—जो व्यक्ति सत्यके प्रति समर्पित होता है, अन्यायका प्रतिकार करते समय भयभीत नहीं होता, अपनी भूल ज्ञात होनेपर उसे स्वीकार करनेमें संकोच नहीं करता और कठिन-से-कठिन परिस्थितिका सामना करनेके लिये तत्पर रहता है, वही अभयका साधक है ।

मृदुता—कोमलताका नाम मृदुता है । यह सामूहिक जीवनकी सफलताका सूत्र है । इसके द्वारा व्यक्तिके जीवनमें सरसता रहती है । मृदु स्वभावमें लोच होती है । इस स्वभाववाला व्यक्ति किसी भी वातावरणको अपने अनुकूल बना लेता है । बहुत बार कठोर अनुशासनसे जो काम नहीं होता, वह मृदुतासे हो जाता है ।

सत्य—सत्यका अर्थ है यथार्थता । जो तथ्य जैसा है, उसे वैसा ही जानना, मानना, स्वीकार करना और निभाना सत्य है । सत्यकी साधना कठिन है, पर है आत्म-तोष देनेवाली । सत्यनिष्ठ व्यक्ति अपने किसी भी स्वार्थकी सिद्धिमें असत्यका सहारा नहीं लेते । राजा हरिश्चन्द्र-जैसे सत्यव्रती व्यक्ति आज भी मानव-संस्कृतिके गौरव समझे जाते हैं ।

आर्जव—आर्जव सरलताका पर्यायवाची शब्द है । सरलता सदाचारकी आधारभूमि है । इसी उर्वरामें सदाचारका पौधा फूलता-फलता है । परंतु मायावी व्यक्ति कभी सदाचारी नहीं हो सकता ।

करुणा—करुणा सदाचारका मूल है । जिस व्यक्तिके अन्तःकरणमें करुणा नहीं होती, वह अहिंसाके सिद्धान्तको नहीं समझ सकता । अहिंसाके बिना समताका विकास नहीं होता । समता या अहिंसा ही

व्यक्तिको आत्मौपम्यकी बुद्धि देती है। आत्मौपम्य-भावना व्यक्तिको दूसरोंका अहित करनेसे रोकती है।

धृति—धृति वह तत्त्व है, जो व्यक्तिके मनमें सदाचारके प्रति आस्थाको दृढ़ करती है। सामान्यतः व्यक्ति कोई भी अच्छा काम करता है और उसे शीघ्र ही उसका सुफल नहीं मिलता तो वह दुराचारकी ओर प्रवृत्त हो जाता है। किंतु जिस व्यक्तिमें धैर्य होता है, वह परिणामके प्रति उदासीन रहता हुआ सत्क्रियाका अनुष्ठान करता रहता है।

अनासक्ति—अनासक्तिका अर्थ है—लगावका अभाव। भौतिक पदार्थोंके प्रति आसक्त व्यक्ति उन्हें प्राप्त करनेके लिये असदाचरण करनेमें संकोच नहीं करता। किंतु जिस व्यक्तिकी आसक्ति हट जाती है, वह असत्का चिन्तनतक भी नहीं करता।

स्वावलम्बन—परावलम्बी व्यक्ति अपनी शक्ति, सम्पदा या सत्ताके बलपर दूसरोंके श्रमका शोषण करता है। पर जिस व्यक्तिका स्वावलम्बनमें विश्वास होता है, वह किसीका शोषण नहीं कर सकता।

स्वशासन—अपनेपर अपना अनुशासन—शासन-तन्त्रकी सबसे बड़ी उपलब्धि है। स्वशासनका भाव विकसित होनेके बाद व्यक्ति सहजभावसे संयत हो जाता है। फिर वह विलासी और प्रमादी जीवनसे मुड़कर सदाचरणमें प्रवृत्त हो जाता है।

सहिष्णुता—सहनशीलता भी एक ऐसा ही तत्त्व है जो व्यक्तिको सदाचारके पालनमें सहयोग देता है। असहिष्णु व्यक्ति सत् और असत्का विवेक करनेमें भी भूल कर देता है।

कर्त्तव्यनिष्ठा—कर्त्तव्यनिष्ठा सदाचारकी प्रेरिका शक्ति है। कर्त्तव्यनिष्ठ अपने कर्तव्यके प्रति सदा जागरूक और अकरणीय कर्मसे विरत रहता है। जब कभी उसके चरण प्रमादकी ओर बढ़ते हैं, तब कर्तव्यकी प्रेरणा उसे वापस मोड़ देती है और वह सत्संकल्प कर लेता है।

व्यक्तिगत संग्रह-संयम—मनुष्यको असदाचारी बनानेवाला सबसे बड़ा हेतु है—व्यक्तिगत संग्रहका असंयम। असंयमके भावका कारण है—असीम आकाङ्क्षाएँ। आकाङ्क्षाओंपर संयमके अंकुश लगनेसे ही वे नियन्त्रित हो सकती हैं।

प्रामाणिकता—सदाचारकी फलश्रुति है—प्रामाणिकता। कौन व्यक्ति कितना सदाचारी है, यह उसके व्यवहारोंसे ज्ञात होता है। जिस व्यक्तिके जीवनमें प्रामाणिक संस्कार रहते हैं, वह किसीको धोखा नहीं दे सकता, किसीका अहित नहीं कर सकता तथा मानवीय मूल्योंकी अवहेलना नहीं कर सकता। ये तेरह सूत्र सदाचारके मौलिक सूत्र हैं। इनके अतिरिक्त भी बहुत-सी बातें हैं, जो सदाचारमें अन्तर्निहित हो जाती हैं। किंतु ये बातें ऐसी हैं, जिनका आचरण न तो असम्भव है और न देश, धर्म, वर्ग आदिके नामपर इनका विभागीकरण हो सकता है। सार्वभौम, सार्वकालिक और सार्वजनीन तत्त्व ही हर व्यक्तिके लिये समान रूपसे आदर्श बन सकते हैं।

संयम-सर्वजयी

इन्द्रियाँ ही मनुष्यकी घोर शत्रु हैं। आशा मिट जानेपर यह पृथ्वी ही स्वर्ग है। विषयोंमें प्रेमासक्ति ही बन्धन है। सदा संतुष्ट रहना ही सबसे बड़ा धन और मनको जय करनेवाला ही सर्वजयी होता है।

—तैलंग स्वामी

सदाचारके मौलिक तत्त्व

(लेखक—आचार्य श्रीरेवानन्दजी गौड़)

आजके भौतिक युगमें बड़ा आदमी वही कहा जाता है, जो ऐश्वर्यशाली हो अर्थात् 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ' हो। कुछ स्वार्थी चाटुकार अपनी कुत्सित कामना-पूर्तिके लिये उनकी मिथ्या प्रशंसा करके उन्हें फुसलाते रहते हैं। नीतिकार भर्तृहरि बड़े रम्य शब्दोंमें कहते हैं—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ॥
(भर्तृहरिनीतिश० ३२, पु० सिं० १६४)

इस प्रकार भौतिक जगत्में धनवान् सर्वोपरि है; परंतु आध्यात्मिक जगत्में ऐसे तथाकथित बड़े आदमीको आरण्यक पशुके समान कहा है। वस्तुतः मानवताका मापदण्ड धन नहीं, अपितु शील है—

येषां न विद्या न तपो न दानं
न चापि शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥
(नीतिश० १३, चाणक्यनीति, पुत्त० १३७)

मनुष्यमें शील ही प्रधान है, धनादि अन्य वस्तुएँ तो तुच्छ हैं, वे आने-जानेवाली वस्तुएँ हैं; आज हैं कल नहीं, जो कल नहीं तो परसों आ भी सकती हैं, परंतु शील, सौजन्य आदि एक बार नष्ट हो गये तो उनके पुनः वापस आनेका कोई प्रश्न ही नहीं उठता—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥
(महाभा० ५ । ३५)

अध्यात्म-जगत्में महापुरुषका अर्थ—अतिमानव हृष्ट-पुष्ट, लम्बा-चौड़ा, मोटा-तगड़ा नहीं, प्रत्युत मानवता-पोषक विशिष्ट गुणगण-सम्पन्न मानव है। मनुष्यमें यदि शील है, आगे-पीछेका ध्यान है, छोटे-बड़ेकी मर्यादा है तो मनुष्यमें मनुष्यता है। इसी शीलके अभावमें मानव दानव हो जाता है। जिसने अपनी साख खो दी, सदाचारको लात मार दी, यम-नियमके पालनमें स्वेच्छाचारिता बरती, वह मानव दानव बन गया। शीलके अभावमें दया, दान-दाक्षिण्य आदि गुणोंके होनेपर भी मनुष्यका जीवन व्यर्थ है। मनुष्य-जीवनकी सार्थकता तो शीलमें है—

शीलं प्रधानं पुरुषे तद्यस्येह प्रणश्यति।
न तस्य जीवितेनार्थो न कुलेन धनेन च॥
(महाभा० ५ । ३५)

सदाचार एक ऐसा विशिष्ट गुण है, जिसमें दैवी सम्पत्ति, अभय, सत्त्व, संशुद्धि, ज्ञान, योग, व्यवस्थिति इत्यादि सभी गुणोंका समावेश है। लोकमङ्गलकी कामना, 'जीओ और जीने दो' की भावना और सह-अस्तित्वकी साधना शीलका स्वरूप है। भगवान् बुद्धका पञ्चशील प्रसिद्ध है।

संसारमें मनुष्योंकी कमी नहीं, सुरसाके मुखकी भाँति जनसंख्या प्रतिदिन विकराल रूप धारण करती जा रही है। परंतु मानवताकी कसौटीपर खरे उतरने-वाले मानव कम हैं। सदाचारके प्रमुख आधार-स्तम्भ गुणोंकी चर्चा करना कुछ अप्रासङ्गिक न होगा। **'सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्'**के अनुसार सत्यमें सब कुछ है। केवल ब्रह्म ही सत्य है—**'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'**। भगवान् शिव कहते हैं—

उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजनु जगत सब सपना॥
(मानस ३ । ३८ । ३)

जीवनमें यदि सत्यको जान लिया तो सब कुछ जान लिया, यदि उसे नहीं जाना तो बड़ी हानि है। सत्यका विवेचन

सूक्ष्म और गहन है। वस्तुतः सत्यका स्वरूप गुह्य है। केनोपनिषद् कहती है—

इह चेद वेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

'यदि इस मनुष्यजीवनमें परब्रह्मको जान लिया तब तो कुशल है, किंतु यदि इस जीवनके रहते-रहते नहीं जान पाये तो महान् विनाश है।'

शाण्डिल्योपनिषद्में सत्यकी व्याख्या कुछ ऐसी है—

सत्यं नाम मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वभूतहितं यथार्थमभिभाषणम्।

मनसा-वाचा-कर्मणा प्राणिमात्रकी हित-भावनासे यथार्थ और श्रेयस्कर आख्यान ही सत्य है। मनुष्य-जीवनमें शाब्दिक सत्य ही सब कुछ नहीं, उसमें व्यवहार सत्य भी अपेक्षित है। शाब्दिक सत्यमें व्यावहारिकताकी एक-रूपताका होना आवश्यक है। भारतीय संस्कृतिमें सत्यभाषणको ही महत्त्व नहीं, उसमें एक सीढ़ी और है, वह है—**'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्।'** सत्य प्रिय होना चाहिये। सत्य-साधकमें सत्य सिद्ध करनेकी क्षमता होती है। भयवश सत्यगोपनको वह पाप समझता है। वह सत्यकी धर्म तथा ईश्वरवत् उपासना करता है।

अहिंसा—सत्य एक सिद्धान्त है तो अहिंसा उसका व्यावहारिक रूप है, जो मानव-जीवनमें सर्वथा साध्य है। सदाचारी अहिंसाको मनसा-वाचा-कर्मणा अपनाता है। शस्त्रसे किसीको मारना ही हिंसा नहीं, अपितु किसीके अन्तःकरणको ठेस पहुँचाना, कटुवाणीद्वारा मर्मान्तक पीड़ा पहुँचाना, असहायके स्वत्वका अपहरण और सम्भावित व्यक्तिके प्रति 'तू' शब्दका प्रयोग भी हिंसा है। मनुष्य जब किसी मृतमें प्राण नहीं डाल सकता तो उसे किसी निरीह प्राणीके प्राणके अपहरणका क्या अधिकार है? हिंसक मनुष्यके लिये यह कितने कलङ्ककी बात है कि वह अपने एक जीवनके लिये कितने जीवोंकी हत्या करता है! यह कैसी आत्मविडम्बना है आजके मांसाहारी मनुष्यनामधारी 'जन्तु'की!

जिस साधकने अहिंसाके स्वरूपको आत्मसात् किया, उसीने विश्वबन्धुत्वकी भावनाको सुरक्षित रखा, **'समोऽहं सर्वभूतेषु'**को जीवित रखा। अहिंसामें महान् चमत्कार है। जहाँ सच्चा अहिंसाका पुजारी रहता है वहाँ तो उसके प्रभावसे खूँखार हिंसक पशु भी अपनी हिंसक वृत्तिको छोड़ देते हैं। पारस्परिक वैर-भावको छोड़कर प्रेमभावसे रहते हैं। योग-दर्शन कहता है—

'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।

जैसे हाथीके पैरमें सबके पैर समा जाते हैं, वैसे ही अहिंसामें सभी प्रमुख गुण पाये जाते हैं—

यथा नागपदेऽन्यानि पदानि पदगामिनाम्।
सर्वाण्येवाभिधीयन्ते पदजातानि कौञ्जरे॥
एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपिधीयते।
(महा० शान्ति० २४५। १८-९)

आत्मौपम्यदृष्टि—मनुष्य सामाजिक प्राणी है, उसका पालन-पोषण, रहन-सहन, परिवार तथा समाजमें हुआ है। अतः सभीके प्रति उसका आत्मीय भाव है। वह व्यक्तिकी नहीं, समष्टिकी मङ्गलकामना करता है और सबमें वह भगवान्‌को देखता है—

'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।'

'सदाचारीकी आत्मीयता तथा मैत्री व्यापक और सार्वभौम है।

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे॥
(शुक्लयजुःसंहिता ३६। १८)

अर्थात् सभी प्राणी मुझे मित्र-दृष्टिसे देखें तथा मैं (भी) सभी प्राणियोंको मित्र-दृष्टिसे देखूँ। यही दृष्टि सदाचारकी आधारशिला है।

सदाचारकी महिमा

(लेखक—पं० श्रीकृष्णचन्द्रजी मिश्र, बी० ए०, बी० एल्०, बी० एड्०)

सत् (अव्यय) और आचारके योगसे सदाचार शब्द निष्पन्न होता है। (आङ्+चर्+घञ्=)'आचार'शब्दका अर्थ है—व्यवहार, चरित्र। आचार व्यक्तिकी कसौटी है, उसकी पहचान है। आचारका स्रोत है—विचार, किंतु विचार सब समय लक्ष्यमें नहीं आता। इसलिये किसीका आचरण या आचार ही स्पष्ट कर देता है कि वह कैसा व्यक्ति है। आचार ही किसीको असुर बनाता है, किसीको देव, किसीको अधम, किसीको उत्तम।

भारतीय धर्ममें सदाचारको अत्यधिक महत्त्व प्राप्त है। यदि इसे नेक जीवनका, देवोपम जीवनका, धर्ममय जीवनका मूलाधार कहें तो अत्युक्ति न होगी। सदाचार शब्दके अर्थ कई प्रकारसे किये जा सकते हैं। यदि सत्‌का अर्थ 'अच्छा' लें तो सदाचारका अर्थ होगा—अच्छा आचार, अच्छा आचरण। इस अर्थमें यह कदाचार, भ्रष्टाचार, दुराचार और अत्याचारका विपरीतार्थक होगा। यदि सत्‌का अर्थ 'सज्जन' लें तो सदाचारका अर्थ है—सज्जनोंका आचार, सज्जनोंद्वारा किया जानेवाला व्यवहार। सत्‌का अर्थ 'सत्य' समझा जाय तो सदाचारका अर्थ है—सत्याचरण, सत्यपर आश्रित व्यवहार, बिना छल-कपटका आचरण। पुनः यदि सत्‌का अर्थ 'सच्चिदानन्द ब्रह्म' लें, तब सदाचारका अर्थ है—वह आचार जो सत्‌की, ब्रह्मकी प्राप्ति करा सके—वह आचार जो मोक्षप्रद हो, मोक्षदायक हो। इन भिन्न-भिन्न अर्थोंमें या इनमेंसे अन्यतम अर्थमें सदाचार युगोंसे भारतवासियोंका उज्ज्वलतम प्रकाशस्तम्भ रहा है। यह इस भवसागर-पथमें सनातनधर्मियोंका सर्वश्रेष्ठ मार्गदर्शक रहा है। यों तो उच्चकोटिके व्यक्तियोंके लिये चार मुख्य पथ-प्रदर्शक माने गये हैं—

'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।'

किंतु जो श्रुति-स्मृतिको नहीं मानते और जिनका सम्यक् आत्मविकास भी नहीं हुआ है, वे भी सदाचारका लोहा मानते हैं, सदाचारके सामने नतमस्तक हो जाते हैं, सदाचारको जीवनपथ-प्रदर्शक, विश्वसनीय पथ-प्रदर्शक सहर्ष स्वीकार करते हैं। दूसरी दृष्टिसे देखा जाय तो श्रुति और स्मृति भी इसीलिये विशेष समादृत हैं कि उनके द्वारा सदाचारका प्रतिपादन होता है, उनसे सदाचारकी प्रेरणा मिलती है।

सत्य-युगमें—जब प्रायः सभी व्यक्ति सदाचारी होते तथा कलियुगमें भी थे—जब अधिकांश मनुष्योंकी प्रवृत्ति दुराचार, अत्याचार, कदाचार और भ्रष्टाचारकी ओर है—सदाचारने मनुष्योंकी सब श्रेणियोंको, जीवनकी प्रत्येक अवस्थाको, प्रत्येक वर्णको, प्रत्येक आश्रमको, प्रत्येक धर्मको, प्रत्येक सम्प्रदायको, मनुष्यके प्रत्येक कार्य-क्षेत्रको व्याप्त कर रखा है और सब देशोंमें, सब राष्ट्रोंमें इसे सर्वोपरि स्थान प्राप्त है—उच्च महत्त्व प्राप्त है।

स्थूल ही नहीं, स्थूलतर दृष्टिसे देखनेपर भी संसार-में मनुष्योंकी स्थायी सुख-शान्ति-सम्पन्नताके लिये सदाचारके सिवा और सदाचारसे बढ़कर अन्य कुछ नहीं है। किसी मनीषीने ठीक ही कहा है कि 'संसारमें कोई भी व्यक्ति सबको सब समयके लिये धोखा नहीं दे सकता; अर्थात् सब मनुष्योंके साथ सदाके लिये किसीका कपट-व्यवहार नहीं चल सकता है; परंतु सब मनुष्य सब समय सबके साथ सदाचारका पालन आसानीसे कर सकते हैं।'

सदाचारमें इतना गुरुत्व है, वह स्वयमेव इतना बहुमूल्य है कि व्यभिचारी पति भी चाहता है कि उसकी पत्नी सदाचारिणी हो, भ्रष्टाचारी मालिक भी चाहता है कि उसका नौकर सदाचारी हो, अत्याचारी शासक भी चाहता है कि शासित सदाचारी हों,

चोर भी चाहता है कि उसका साथी उसके प्रति सदाचारी हो, अपराधी भी चाहता है कि उसके न्याय-कर्ता सदाचारी हों, बन्दी भी चाहता है कि कारागारके पदाधिकारी सदाचारी हों। स्पष्ट है कि सदाचारीके सङ्गकी कामना सब करते हैं, सदा करते हैं, जब कि दुराचारी, भ्रष्टाचारी या अत्याचारीको कुछ लोग सिर्फ किसी कुत्सित स्वार्थकी सिद्धिके लिये यदा-कदा ही चाहते हैं।

जब सदाचार प्रकाशकी ओर अग्रसर कराता है, तब वह अमरत्वकी ओर ले चलता है, देवत्वके पथकी ओर आगे बढ़ता है, अभ्युदय और निःश्रेयस प्रदान करता है, सुख-शान्ति-सम्पन्नता देता है, मोक्षका कारण होता है और भव-बन्धनसे मुक्त कराता है। फिर मनुष्य सदाचारसे विमुख क्यों होता है, दुराचारकी ओर क्यों पग बढ़ाता है? वही सनातन प्रश्न सामने आ जाता है, जो कभी अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे पूछा था—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
(गीता ३।३६)

इस प्रश्नका उत्तर भी शाश्वत सत्य है। सदाचार चित्तकी विशुद्धताके बिना सम्भव नहीं है। चित्त स्वभावतः बहुधा काम-क्रोधसे, संकीर्ण स्वार्थ और लोभसे दूषित रहता है। वे ही मनुष्यके परम शत्रु हैं। वे चित्तकी निर्मलता नष्ट कर देते हैं, ज्ञानपर काफी मोटा पर्दा डाल देते हैं, **'दिए लोभ चसमा चखनि, लघु पुनि बड़ो लखात'** जिससे दृष्टि विकृत हो जाती है; माता बैरी, पिता शत्रु प्रतीत होने लगता है, अपना पराया बन जाता है, पाप धर्म मालूम पड़ने लगते हैं; दुःखमें सुखका भ्रम होने लगता है, अतः इनपर काबू पाकर सदाचारका अवलम्बन नितान्त अपेक्षित है।

सदाचारसे सिर्फ सदाचारी व्यक्तिका ही कल्याण नहीं होता है, अपितु उसके परिवारका, प्रतिवेशका, गाँवका, समाजका, राष्ट्रका और मानवमात्रका कल्याण होता है। किसी राष्ट्रकी वास्तविक शक्ति उसके अणुबमों या सांघातिक अस्त्र-शस्त्रोंमें नहीं, सैन्यबलमें नहीं, बल्कि उसके सदाचारी नागरिकोंमें संनिहित है। शिक्षाका असली महत्त्व व्यक्तिको साक्षर बनानेमें नहीं, उसे सदाचारी बनानेमें है; क्योंकि सदाचारविहीन साक्षरता मनुष्यको राक्षसता प्रदान करती है। देव और असुरमें यही असली अन्तर है कि सदाचार मानवको देव बनाता है और असदाचार अथवा दुराचार मानवको राक्षस बना देता है।

शिक्षा, जप, तप, यज्ञ, ज्ञान, योग, तीर्थ, धर्म, संयम-नियम सबका एक ही लक्ष्य है, एक ही उद्देश्य है—मानवके चित्तको निर्मल रखना, मनुष्यको सदाचारी बनाना, मनुष्यको मर्त्यलोकसे ऊपर उठाकर सुरलोक अथवा वैकुण्ठके पथपर आगे बढ़ाना। भारत सदाचारके इस अवर्णनीय गौरवको अच्छी तरह जानता था। इसलिये युग-युगसे सत्की, सत्यकी उपासना करता आ रहा है, सत्को ही सर्वश्रेष्ठ शक्ति समझता है, सत्यको ही नारायण समझता है, उसकी उपासना और ध्यानको, उसके साथ एकाकार होनेको जीवनकी सार्थकता समझता है। सदियों बाद आज भी इस नव स्वतन्त्र भारतका विजय-उद्घोष है—**'सत्यमेव जयते'**, (मुण्डकोप०) **'यतो धर्मस्ततो जयः'**में भी उसी तथ्यको दूसरे शब्दोंमें दुहराया गया है। सत्य सदाचारका मूल है।

कोई भी दृढ़ संकल्पके बलपर सदाचारी बन सकता है; क्योंकि सदाचारी बननेके लिये एम्० ए०, आचार्य होना जरूरी नहीं है। इसके लिये न राजा या करोड़पति होना आवश्यक है, न सेनापति या राष्ट्रपति होना जरूरी है, न रूपवान् या बलवान् होना जरूरी है; जरूरत है—सिर्फ निर्मल चित्त, विमल बुद्धिके होनेकी, दैवी सम्पदा-को अपनानेकी और त्यागमय अनासक्त जीवनकी दृष्टिकी। अतः आइये, हम सब प्रतिदिन शुद्ध-शान्त चित्तसे सदाचरणका, सदाचारका संकल्प करें और निर्मल चित्त, विमल बुद्धि अथवा दैवी सम्पदाकी प्राप्तिके लिये भगवत्प्रार्थनापूर्वक हृदयसे प्रयत्न करें।

सदाचार-मीमांसा

(लेखक—पं० श्रीरामकृष्णजी द्विवेदी, 'वेदान्ती')

मनन-शील मनुष्यका कर्तव्य है कि वह परम पुरुषार्थ मोक्षकी ओर अग्रसर हो। उसकी विशेषता पशुत्वसे इसी दिशाकी ओर चलना है। यही उसका एक प्रकारसे जागरण है। इसीका उपदेश उपनिषदें देती हैं—'उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।' (कठ० १।३।१४) यह मनुष्यत्वका जागरण सहसा भी सम्पन्न हो सकता है और क्रम-विकाससे भी सम्भव है।

मनुष्यत्वकी रक्षा, दिव्यत्वकी जागृति और पशुत्वकी निवृत्तिके लिये एक ऐसे निर्दिष्ट पथकी आवश्यकता है, जो केवल मनको प्रिय लगनेवाले विषयोंकी परिधिमें ही सीमित न हो, प्रत्युत ज्ञानके विश्वव्यापी आलोकसे देदीप्यमान हो और जिसमें पद-पदपर दिव्यभावकी झाँकी एवं उसकी ओर अग्रसर होनेके प्रत्यक्ष निदर्शन प्राप्त होते हों। यही सदाचारका वह दिव्य राजपथ है जिसपर चलते रहनेसे (मुण्डकोपनिषद् ३। १।५; २।४ के अनुसार) यह आत्मा सुपुष्ट चरित्र, मनोबल एवं आत्मबलके सहारे सत्य, ब्रह्मचर्य, तप तथा सम्यग्ज्ञानसे प्राप्त हो जाता है।

जीवके अस्तित्वमें भौतिक स्थूल शरीर प्रथम है, और आचारका साक्षात् सम्बन्ध स्थूल शरीरके साथ ही है। इसीके पवित्र होनेसे सूक्ष्म शरीर आदिका आध्यात्मिक पवित्रता-साधन होता है, इसलिये आचारको शास्त्रोंमें प्रथम धर्म कहा है। बिना आचारवान् हुए कोई भी आत्मोन्नति फलवती नहीं होती। इसके लिये वेदों तथा स्मृतियोंमें सम्यक् प्रकारसे कहे हुए अपने कर्मोंमें धर्ममूलक सदाचारका सर्वदा निरालस होकर पालन करना चाहिये। धर्ममूलक सदाचार किसीकी स्थितिका विरोधी नहीं होता, अपितु उन्नायक होता है। शास्त्रने इसकी महिमाका वर्णन अनेक प्रकारसे किया है—

> धर्मोऽस्य मूलमसवः प्रकाण्डो
> वित्तानि शाखाच्छदनानि कामाः।
> यशांसि पुष्पाणि फलं च पुण्य-
> मसौ सदाचारतरुर्महीयान्॥
>
> (वामनपुराण)

'सदाचाररूपी महान् वृक्षका मूल धर्म है। काण्ड (तना) आयु है, शाखा धन है, पत्र कामना है, पुष्प यश है और फल पुण्य है। इस प्रकार यह कल्पतरु महामहीयान् है।'

स्वेच्छाचारकी निरङ्कुश प्रकृति जब बढ़ने लगती है, तब मनुष्योंमें देवभाव विकसित नहीं हो पाता, ऐसे लोग पशुभावके दास होकर मनुष्य-जन्मको नष्ट कर देते हैं। सदाचारके अनुशासनसे मनुष्यकी अनर्गल वृत्ति नियमित होती है, अतः वह यथेच्छ आहार-विहार करनेमें प्रवृत्त नहीं होता। नियमितरूपसे सब कार्य धर्मानुकूल करते रहनेसे आप-ही-आप संयमका अभ्यास हो जाता है और मनुष्यमें देवभाव उत्पन्न होकर जीवन सफल हो जाता है। वह भगवान्‌की ओर स्वयं बढ़ता चला जाता है, उसका जीवन शतदल—(कमल-) की तरह विकसित होकर भगवच्चरणारविन्दोंमें समर्पित होता है और उसका धर्ममय यशःसौरभ दिग्दिगन्तको आमोदित करता है। इसीसे धर्मको सदाचारका मूल कहा गया है। सदाचाररूपी वृक्षका काण्ड (पेड़ी) आयु है, अर्थात् सदाचारके पालनसे आयुवृद्धि होती है। आयुको बढ़ानेवाले जितने उपाय हैं, उनमें संयम मुख्य है। सब इन्द्रियों और मनोवृत्तियोंके संयम करनेसे आयु बढ़ती है। सदाचार जीवनयात्राकी सब प्रकारकी अनर्गलताओंका निषेध कर तपस्या

और संयमका उपदेश करता हुआ मनुष्यकी आयु-वृद्धिमें सहायता करता है। इससे सदाचारी नर-नारी दीर्घायु, शतायु होते हैं।

सदाचारतरुकी शाखा धन है। सदाचार सब प्रकारसे धन-संग्रहके अनुकूल है। साधारणतया धन-लाभको तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं; यथा—धनका अर्जन, संरक्षण और संवर्द्धन। सदाचार-पालनसे शरीर, बुद्धि, चित्त और स्वभावमें धनोपार्जनके सभी गुण उत्पन्न होते हैं, जिससे धनोपार्जन सुलभ हो जाता है। सदाचारसे शरीर सुदृढ़ और कार्यक्षम, बुद्धिपटु, अमोघचित्त, स्थिर उत्साहसम्पन्न एवं उसका स्वभाव विश्वासयोग्य तथा लोकप्रीतिकर होता है, जिससे धन-धर्मादिका उपार्जन करना अत्यन्त सुलभ हो जाता है। भोगेच्छाके संयम तथा विलासिताके दमनसे और बाह्याडम्बरको कम करनेसे धनका संरक्षण होता है। इस प्रकार सदाचार-पालन धनादि संरक्षणके भी अनुकूल है। मितव्ययिता, परिणामदर्शिता, सामाजिक सुव्यवस्था आदिके द्वारा धन-धर्म-सुखका संवर्धन होता है। सदाचार-पालनसे ये सभी गुण आते हैं, अतः धन-सुख-संवर्धनके लिये भी सदाचार-पालन आवश्यक है।

सदाचारतरुके पत्ते कामनाएँ हैं। कामनाओंका साधारण स्वरूप यह है कि जैसे अग्निमें घृत छोड़नेसे वह भभक उठती है, वैसे ही भोगोंके द्वारा कामनाएँ भी बलवती होती जाती हैं। इस प्रकार अनर्गलभावसे विषय-वासनाओंकी वृद्धिके द्वारा संसारमें जीव बड़ा दुःख पाता है। कामनाओंके संयमसे ही मनुष्य कामनाजनित यथार्थ सुखोंका अनुभव कर सकता है। सदाचार-पालनसे कामनाओंका संयम होकर उनका निरङ्कुश भाव घटता है। इसीसे शास्त्रमें कामनाओंको सदाचारतरुका पत्र कहा गया है।

सदाचारवृक्षका पुष्प यश है, अर्थात् सदाचार-परायण व्यक्ति संसारमें यशस्वी होता है। संसारमें नम्रता, शीलता, पवित्रता, सच्चरित्रता, संयम आदि गुणोंसे ही यश प्राप्त होता है। जिनमें ये सब गुण होते हैं, वे सहज ही सर्वसाधारणका चित्त अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। सदाचारके द्वारा मनुष्यमें उच्च गुणावली स्वयं उदित होती है। अतः सदाचारके पालनसे विशेष यशोलाभ होना स्वाभाविक है। इस सदाचाररूपी वृक्षका फल पुण्य है, जिससे प्राप्त पुण्यसे पवित्रता, निर्मलता, निष्पापता, चित्तशुद्धि, रजस्तमोवर्जित विशुद्ध सात्त्विकता, आसुरभावरहित देवत्वका प्रादुर्भाव, पशुभाव-रहित आध्यात्मिक उन्नति आदि लाभ होते हैं। शरीरकी जड़ता, बुद्धिकी अपटुता, मनकी चञ्चलता और षड्रिपुओंके संयमसे असद्वृत्तियोंका नाश होता है। उन्नतिमें बाधा करनेवाले दुर्गुणोंको सदाचार ही दूर करता है। पराशरमुनिने इस सदाचारकी महिमाका वर्णन निम्न प्रकारसे किया है—

आचारमूलं श्रुतिशास्त्रवित्त-
माचारशाखाश्च तदुक्तकृत्यम् ।
आचारपर्णानि हि तन्नियोग
आचारपुष्पाणि यशोधनानि ॥
आचारवृक्षस्य फलं हि नाक-
स्तस्माच्च सुस्वादुरसश्च मुक्तिः ।
तस्मादनन्तं फलदं तु तत्त्व-
माचारमेवाश्रय यत्नपूर्वम् ॥
(बृहत्पराशरस्मृति ६ । ३७७-७८)

'वेद-शास्त्र, स्मृति तथा पुराणादिका ज्ञान आचार-वृक्षका मूल है। उन शास्त्रोंमें विहित कर्म ही इसकी शाखाएँ हैं। उनमें प्रवृत्ति ही आचारके पत्ते हैं। यश एवं धन आचारके पुष्प हैं। स्वर्ग इस आचार-वृक्षका कथित फल है। उस स्वर्गरूप फलमें अति मीठे रसवाली 'मुक्ति' है। इसलिये अनन्त फल देनेवाले इस आचार-वृक्षका अवश्य सेवन करना चाहिये।'

शास्त्रोंमें सदाचारके साथ परम्परारूपसे परमतत्त्व ब्रह्मका सम्बन्ध दिखाया गया है। इससे प्रमाणित

होता है कि सदाचारपरायण होनेसे जीव ब्रह्मज्ञानके पथपर स्वाभाविकरूपसे अग्रसर हो सकता है । सदाचारपालनके प्रभावसे मनुष्यका ज्ञानपथ आप ही परिष्कृत हो जाता है ।

संस्कृतिका मूल शास्त्रोंमें सदाचार ही बतलाया गया है । प्रकृति, प्रवृत्ति, गुण और कर्म-भेदसे संस्कृतियोंकी सृष्टि हुई है । भिन्न-भिन्न संस्कृतियोंके विभिन्न सदाचार होते हैं । अपनी-अपनी संस्कृतिके अनुसार सदाचारपालन करनेसे उसकी रक्षा होती है । सांस्कृतिक जीवनका मेरुदण्ड सदाचार ही है । सदाचारपालन किये बिना कोई राष्ट्र अपने जातीय जीवनको अक्षुण्ण और क्रमोन्नत नहीं रख सकता । अतः अपने राष्ट्रगत, संस्कृतिगत भावोंकी रक्षा करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है; क्योंकि जिस प्रकार अन्तःप्रकृतिका परिणाम बहिःप्रकृतिपर होता है, उसी प्रकार बाह्य आचारोंसे अन्तःप्रकृतिका गठन होता है । यदि हम अपने आचारोंको छोड़कर दूसरोंके आचारोंको ग्रहण करेंगे तो फिर संसारसे हमारा अस्तित्व ही उठ जायगा या हम जिस संस्कृतिके लोगोंके आचारोंको ग्रहण करेंगे, उसीमें मिल जायँगे या एक नयी संस्कृतिका निर्माण कर बैठेंगे । लम्बे कालतककी पराधीनतामें भी हमने अपनी संस्कृतिके आधार आचारको सँभाल रखा । इसीसे स्वातन्त्र्यका उदय हुआ ।

सर्व-साधारण प्रायः अदूरदर्शी होते हैं, अतः कालमाहात्म्यसे किसी समय किसी संस्कृतिके चमक जानेपर उसीका अनुकरण करने लगते हैं । परंतु ऐसा अन्धानुकरण राष्ट्रिय एवं सांस्कृतिक जीवनको नष्ट कर देता है । मनुष्यकी प्रवृत्ति नवीनताकी ओर अधिक आकृष्ट होती है । अपनी उत्तम वस्तु भी अति परिचित होनेके कारण दूसरोंकी नवीन वस्तुके सामने फीकी लगती है । ऐसी अवस्थामें विचारवान् मनुष्योंको सोचना चाहिये कि जो सनातन है, वही अनन्त कालतक रहेगा । नयी-नयी चमकीली वस्तुएँ नित्य उत्पन्न होकर विलीन होती रहती हैं, उनपर प्रेम करनेसे लाभ ही क्या है ? अतः यदि हमें अपनी राष्ट्रियताको बनाये रखना है तो अपने देश, संस्कृति एवं वर्णाश्रमके सदाचारोंके पालनपर विशेष ध्यान देना चाहिये ।

'आचारः शास्त्रमूलकः'के अनुसार आचारका मूल शास्त्र है । आर्यसंस्कृतिके सदाचारशास्त्रोंमें स्थिर किये हुए होनेसे आर्य-सदाचारोंका मूल शास्त्र ही हैं । **'वेदवाक्यं शास्त्रमूलम्'**—'अर्थात् शास्त्रोंके मूल वेदवाक्य हैं ।' हम सबोंका विश्वास है कि वेद अपौरुषेय हैं । जीवके कल्याणार्थ श्रीभगवान्‌ने वेदोंको प्रकट किया है । भारतीय सनातनधर्मके जितने शास्त्र हैं, वे सब वेदानुयायी हैं । त्रिकालदर्शी महर्षियोंने अपनी अभ्रान्त बुद्धिकी सहायतासे वेदमत-प्रतिपादनार्थ नाना (धर्म-)—शास्त्रोंकी रचना की है ।

वर्तमान निबन्धका विषय आर्य-सदाचार है । प्रातःकालसे लेकर रात्रिको सोनेके समयतक किस-किस प्रकार शारीरिक चेष्टाओंके करनेसे शरीरकी यथार्थ उन्नति और उसके द्वारा मानसिक तथा आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है, यह नित्यका सदाचार है । मनुके अनुसार ब्रह्मावर्त देशमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अवान्तर जातियोंका परम्परागत क्रमबद्ध जो आचार है, वही 'सदाचार' कहलाता है (मनु० २ । १८) । इस सदाचारका वर्ण एवं जाति-धर्मसे बहुत निकट सम्बन्ध है । इसलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अवान्तर जातियोंको अपने-अपने वर्ण और जातिके धर्म-कर्मका पालन अवश्य करना चाहिये । जो अपने वर्ण या जातिके कर्मोंका त्याग कर अन्य वर्ण या जातिके धर्मोंको अङ्गीकार करता है, वह अपना ही नहीं, वरन् समस्त देश और प्रजाका अहित करनेवाला होता है । इसलिये राग-द्वेषके अधीन होकर अथवा आलस्य, प्रमाद, मोह और अज्ञान आदिके कारण भी सवर्ण तथा अवान्तर जातियोंको अपना-अपना सदाचार-

रूपी धर्म-कर्म त्याग कर देना और पराया धर्म ग्रहण करना ठीक नहीं । अत्रिस्मृति (१८) के अनुसार अपने धर्ममें स्थित होकर शूद्र भी स्वर्ग प्राप्त करता है—'आत्मीये संस्थितो धर्मे शूद्रोऽपि स्वर्गमश्नुते ।' अतः अपने-अपने वर्ण, संस्कृति और कुलपरम्परागत कर्मोंका आचरण कर प्रत्येक मनुष्यको सदाचारकी रक्षा करना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि भीतरी और बाहरी सफलता, शाश्वत सुख तथा स्थायी शान्ति मुख्यतः सदाचारपर ही निर्भर है । महर्षि वसिष्ठके अनुसार 'आचारसे हीन मनुष्यको साङ्गोपाङ्ग वेद और उनके छः अङ्ग भी कौन-सा सुख प्रदान कर सकते हैं ! भला अंधेको सुन्दर स्त्री कैसे दीखेगी ।'

आचारहीनस्य तु ब्राह्मणस्य
वेदाः षडङ्गास्त्वखिलाः सयज्ञाः ।
कां प्रीतिमुत्पादयितुं समर्था
अन्धस्य दारा इव दर्शनीयाः ॥
(वसिष्ठधर्मशास्त्र ६ । ४)

वस्तुतः आचारका फल धर्म है, और धर्मसे सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है । आचार दुष्ट लक्षणोंका नाश करता है । मनु (४ । १५७) के अनुसार दुराचारी मनुष्य लोकमें निन्दित, सदा दुःखभागी, रोगी और अल्पायु होता है, इसलिये जो अनिन्द्य कर्म हैं, उन्हींका सेवन करना चाहिये । जो दोषयुक्त निषिद्ध कर्म हैं, उनका भूलकर भी आचरण नहीं करना चाहिये ।

सदाचारः परो धर्मः

(लेखक—स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज, आदिबदरी)

'सदाचार' शब्दकी व्याख्या करनेमें वैदिक महर्षियोंने अपना समस्त जीवन ही अर्पित कर दिया तथा हजारों वर्षके चिन्तन एवं अनुभवोंके आधारपर उन्होंने सदाचार-के जिन मूल तत्त्वोंका अन्वेषण किया, उन निम्नाङ्कितका पालन कर आज भी मानव पूज्य बन सकता है ।

तृष्णाका त्याग—मानवतापर आज जो घना अँधेरा छाता जा रहा है, उसके समस्त कारणोंके मूलमें मानवकी असीम तृष्णा है । कलकत्ता-जैसी महानगरीमें मैंने हर व्यक्तिको दौड़ते देखा। वह यानारूढ है तो भी दौड़ रहा है और पैदल है तो भी दौड़ रहा है । आखिर कहाँ जाना चाहता है मानव ? अहंकी तुष्टिके प्रसारका परिसीमन न होनेसे सदाचार विकलाङ्ग होता जा रहा है । श्वेताश्वतर ऋषिने ठीक ही कहा है कि 'मानव आकाश-को भले ही चमड़ेकी भाँति लपेट कर रख दे, किंतु अपने अन्तःस्थ प्रकाशमय सत्ताको जाने बिना उसके दुःखोंका अन्त न होगा'—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥
(श्वेताश्वतरोप० ६ । २०)

तृष्णाकी चिरकाङ्क्षापर अङ्कुश न लगाया जाय तो वह मानवीय गुणोंको निगल जाती है । जीवन अनियन्त्रित हो जाता है और इन्हीं अनियन्त्रित मस्तिष्कों-की भीड़ पाश्चात्य युवापीढ़ीकी समस्या बन गयी है । तृष्णा-परित्यागके इसी अपरिग्रही सदाचारतत्त्वने कलिङ्गविजेताको तथागतके चरणोंमें तलवार रखकर प्रियदर्शी बना दिया । अमरबेलिकी भाँति तृष्णा निरन्तर स्वयं पल्लवित होती रहती है और धीरे-धीरे अपने आश्रय-दातापर भी पूरी तरह छा जाती है । कुप्रवृत्तियोंका कोई भाग उससे अछूता नहीं रहता । तृष्णातुर मानव स्वयं ही देहाभिमानी हो जाता है । मनकी आकाङ्क्षा विभिन्न प्रकारके विषयोंके उपभोगसे कभी शान्त नहीं होती, अपितु वह घृत पड़नेसे अग्निके समान निरन्तर अधिकाधिक बढ़ती ही जाती है—'हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।' (मनु० २ । ९४) ।

जो अपने पास है, उसकी कीमत न समझना और जो अपने पास नहीं है, उसकी कामना करना और इस तरह जीवनमें अभाव और असंतोष अनुभव करते रहना—यह है हमारा स्वभाव ! धर्मविमुख विलासपूर्ण जीवनवृत्ति और संसारको चलानेके लिये अधिक तृष्णाकी चेष्टा उच्चताके लक्षण नहीं कहे जा सकते। महर्षि अष्टावक्रने ठीक ही कहा है—

यत्र यत्र भवेत् तृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै।
(अष्टावक्रगीता १०।३)

'जहाँ तृष्णा है, वहीं संसारी नर दुःखी है।' किंतु 'जब आवे संतोष धन सब धन धूरि समान।' की पुष्टि करते हुए तुलसीदासजी भी संतोषके बिना सुखकी कामनाको धरतीपर नौका-चालन-जैसी मूर्खता ही सिद्ध करते हैं। वे कहते हैं—

कोउ बिश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु।
चलै कि जल बिनु नाव कोटि जतन पचि पचि मरिअ॥
(मानस, उत्तरकाण्ड ८९, दोहावली २७५)

मनोनिग्रह—शुक्ल यजुर्वेद (३४।१—६)में 'शिव-संकल्प' सूक्त है। इसके प्रत्येक मन्त्रके अन्तमें 'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'—आता है। 'मेरा मन कल्याणकारी शुभ संकल्पोंवाला हो।'परंतु क्या हम अपने इस विचारोंको इतना नम्र बना पाये हैं कि मस्तिष्कके दुराग्रही हथौड़े उसे पीट-पीटकर विकृत नहीं बना पायँगे? 'मन से बड़ा न कोय' का अनर्थ लगाकर आज तो यहाँ परिस्थितियाँ ही ऐसी निर्मित की जा रही हैं, जिनसे हमारे मनके विकृतभावोंका निरन्तर पोषण होता रहे। चलचित्र, टेलिविजन, रेडियो और अश्लील साहित्यकी प्रतिस्पर्धा मनके निग्रहको पीछे ढकेलनेमें जागरूक है। दूसरे शब्दोंमें इसे हम चारित्रिक पतन भी कह सकते हैं। 'विश्वकी तुलनामें हमारा चरित्र ऊँचा रहा है'—केवल इतने मात्रहीसे संतोष कर लेनेसे सदाचारका पोषण नहीं होगा, वरन् हमें अब अपनी नैतिक मुद्राका अधिक अवमूल्यन रोकना ही होगा। राष्ट्रके चरित्रोन्नतिकी बात तो हम तब कर सकते हैं, जब हमारा व्यक्तिगत जीवन निखरे, हम स्वयं नैतिक हो जायँ।

मनके निग्रहके विषयमें उपनिषदें चेतावनी देती हुई कहती हैं—'जिस प्रकार धैर्यपूर्वक कुशाके अग्रभागसे एक-एक बूँदद्वारा समुद्रको भी उलीचा जा सकता है, उसी प्रकार खेदशून्य रह (खिन्नताका त्याग) कर ही मनका निग्रह किया जा सकता है'—

उत्सेक उदधेर्यद्वत् कुशाग्रेणैकबिन्दुना।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः॥
(माण्डूक्यकारिका ४१)

ऋषियोंने इसी प्रकारके संकल्पसे आत्माको दीक्षित किया और जीवनको यज्ञ बनाकर उस सत्यको उपलब्ध किया जो ब्रह्माण्डको धारण करनेवाला मध्य बिन्दु है। महाराजा धृतराष्ट्रकी उद्विग्नता शान्त करते हुए विदुर अपने नीतिपूर्ण प्रवचनोंद्वारा मनोनिग्रहको सर्वोपरि बताते हुए कहते हैं—'राजन्! मनुष्यका शरीर रथ है, बुद्धि सारथी और इन्द्रियाँ इस रथके घोड़े हैं। इसको वशमें करके सावधान रहनेवाला चतुर एवं धीर पुरुष काबूमें किये हुए घोड़ोंसे रथीकी भाँति सुखपूर्वक यात्रा करता है'—

रथः शरीरं पुरुषस्य राज-
न्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वै-
र्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः॥
(विदुरनीति ३४।५९)

सदाचारकी भित्तिको अक्षुण्ण बनाये रखनेके लिये हमें मनोनिग्रहरूप इस नींवके पत्थरको यथावत् रखना होगा। विचार कीजिये, हमारा चारित्रिक धरातल कहाँ-तक धँस गया है? जीवनका कोई भी क्षेत्र अतिचारित्रिक उन्नतिकी ओर अग्रसर होता प्रतीत नहीं होता। व्यापारमें मिलावट, कार्यालयोंमें भ्रष्टाचार, सम्मानके प्रति अवहेलना, शिक्षासंस्थाओंमें उच्छृङ्खलता, मातृशक्तिका ह्रास,

पारिवारिक कलह, राष्ट्रिय भावनाकी उपेक्षा; धार्मिक अनास्था आदि सभी ओर गिरावट आ गयी है।

सत्य—जिन दिनों सत्य शब्दका प्रचार कम था, उन दिनों सत्य शब्दका व्यापक प्रभाव तथा प्रसार था; परंतु जबसे सत्य शब्द विशेष प्रचारित हुआ, तबसे उसका मूल्य घटता जा रहा है। 'मैं सत्य बोलूँगा और सत्यके अतिरिक्त कुछ नहीं कहूँगा'—जैसी शपथ-प्रणालियाँ न्यायमन्दिरोंकी केवल परम्पराभर रह गयी हैं। विश्वकी सबसे बड़ी सत्ता परमात्माकी शपथका सहारा लेकर बुद्धिवादी कहलानेवाले सभी दावेदारोंके सामने 'सत्य' चुनौती बनकर खड़ा हो गया है। इस सर्वव्यापक शब्दकी अपनी व्याख्या तो सुविधानुसार भले ही करें; परंतु अथर्ववेदके मन्त्रभागके अन्तर्गत आजसे हजारों वर्ष पूर्व महर्षि शौनकके प्रश्नका आचार्यप्रवर अङ्गिराने प्रत्युत्तर देकर सत्य शब्दकी जो महिमा बतायी वह उपेक्ष्य नहीं है। देखिये—

सत्यमेव जयति नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्॥
(मुण्डकोपनिषद् ३।१।६)

'सत्य ही विजयको प्राप्त होता है, मिथ्या नहीं। सत्यसे देवयानमार्गका विस्तार होता है जिसके द्वारा आप्तकाम ऋषिगण उस पदको प्राप्त होते हैं, जहाँ वह सत्यका परम निधान (कोष) वर्तमान है।' स्पष्ट है कि मानव यदि अपने जीवनमें असफल होता है या राष्ट्रोंको पराजयका मुख देखना पड़ता है तो इसकी जड़में अवश्य ही कहीं-न-कहीं सत्यका गला घोंटा गया है। शैव्याके आँचलके नीचे छिपे उस सत्यको प्रतिष्ठित करनेहेतु हमें श्मशान-रक्षकके चक्षुओं-को खोलकर देखना ही होगा। सच तो यह है कि **सहस्र अश्वमेधकी अपेक्षा भी सत्यका महत्त्व अधिक है।**

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलयाधृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेकं विशिष्यते॥
(महा० आदि० १।७४।१०३)

मन्त्र-ब्राह्मणके उस द्रष्टाकी भाँति हमें भी अपने संकल्पको दृढ़ करना होगा जो कहता है—'हे व्रतपति सूर्य! आजसे मैं अनृत (असत्य)से सत्यकी ओर, अज्ञानसे प्रकाशकी ओर जानेका व्रत ले रहा हूँ! मैं उसे निभा सकूँ, उस मार्गपर आगे बढ़ सकूँ, इसकी सूचना आपको दे रहा हूँ। आप मुझे सहारा दें।'

अहिंसा—विश्वके समस्त धर्म हिंसाकी भर्त्सना करते हैं। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने भी—'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा' कहकर 'पर पीड़ा सम नहिं अधमाई' का प्रतिपादन किया है।

प्रभुप्रदत्त इस सस्यश्यामला धरतीको, जिसे प्राप्त करने-में हमने तनिक भी प्रयास नहीं किया है, कितनी बार रक्तरञ्जित बनाया। हमने तो जल और वायु-जैसी प्राणदायी वस्तुओंको भी दूषित करनेमें कसर नहीं छोड़ा है। इन सबके पीछे हमारा क्या अभिप्राय है? विश्वके सभी क्रूर शासक खाली हाथ ही तो गये। किंतु जैनसम्प्रदायकी दैनिक उपासनाविधि 'प्रतिक्रमण'के क्षमायाचना अध्यायकी प्रार्थना कितनी उदात्त है—'मैं सभी जीवोंसे क्षमाप्रार्थी हूँ तथा अपनी ओरसे सभीको क्षमाप्रदान (अभयदान) करता हूँ। पृथ्वीके समस्त जीवोंके प्रति मेरा मैत्रीभाव है'—

खामेमि सव्वे जीवा सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मिति मे सव्वे भूएषु वैरंमज्झंनकेणई॥
(प्रतिक्रमणसूत्र)

सफल और सुव्यवस्थित जीवन-हेतु अहिंसाधर्म अनिवार्य है। अहिंसामें धर्म, अर्थ—सब कुछ है—

एवं सर्वमहिंसायां धर्मार्थमपिधीयते।
अमृतः स नित्यं वसति यो हिंसां न प्रपद्यते॥
(महाभारत, मोक्षधर्म २४५।१९)

प्रतिशोध भी हिंसाकी ही एक प्रमुख शाखा है। अपने पिताद्वारा मृत्युको सौंप दिये गये नचिकेतासे जब यम उसकी अडिग निष्ठाके प्रतिदानरूप अभीष्ट वर माँगनेको कहते हैं तो सबसे पहला वरदान वह यही माँगता है कि मेरे पिता मेरे प्रति शान्तसंकल्प (प्रतिशोधरहित) होकर प्रसन्नचित्त मुझसे बातें करें और मुझे वहाँ जानेपर पहचान लें। दोनों पक्षसे प्रतिशोधशमनका वरदान! कैसी भावना है!!

'क्षमा वीरस्य भूषणम्' कहकर इसीलिये तो क्षमाकी महत्ता दर्शायी गयी है। वीरोंद्वारा क्षमादानके प्रसङ्गसे हमारे ग्रन्थ भरे पड़े हैं।

> द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः।
> प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान्॥
> (विदुरप्रजा० ३५। ६३)

'राजन्! निर्धन होकर भी दानी और शक्तिशाली होकर भी क्षमावान्—दोनों ही अपवर्गके अधिकारी होते हैं।' मर्यादापुरुषोत्तम राम स्वयं अहिंसाधर्मके विषयमें अपनी मा कौसल्यासे कहते हैं—'मा! अन्य उपायोंके अतिरिक्त अत्युत्तम हिंसाहीन कर्मयोगसे भी मेरी भक्ति सम्भव है।' (अध्यात्मरा० उ० ६८)

क्रोधका परित्याग भी सदाचारका एक अङ्ग है। महाभारतके वनपर्वमें शुक्राचार्य-देवयानी-संवादके अन्तर्गत क्रोध न करनेवाले पुरुषको उससे भी महान् बताया है, जो अश्रान्त सौ वर्षतक यज्ञ करता रहे।

> यो यजेदपरिश्रान्तो मासि मासि शतं समाः।
> न क्रुध्येद् यश्च सर्वस्य तयोरक्रोधनोऽधिकः॥

क्रोध, लोभ, अहंकार तथा कपटका परित्याग सदाचारी बननेके लिये आवश्यक मान्य शर्त है। अपने हृदयमें सदाचारी गुणोंके पूर्ण विकास-हेतु स्वाध्याय भी एक ऐसा मार्ग है, जो सेतुका कार्य कर सकता है। अज्ञानसे छुटकारा पाना और ज्ञानके द्वारा जगत्के स्वरूप तथा स्वयंको पहचानना मानवका श्रेष्ठतम लक्ष्य है। इसी पुरुषार्थको मोक्ष कहते हैं। जीवन-मृत्युसम्बन्धी दुविधाका सुलझाव खोजकर मानवको अपनी मुक्ति अपने ही अंदर और अपने ही परिवेशमें खोजना सिखाकर वैदिक ऋषियोंने जो उपकार किया है, उससे उऋण तभी हुआ जा सकता है, जब हम उनके विचारोंको केवल पढ़ भर न लें, वरन् उनपर चिन्तनकर चलने भी लग जायँ।

संतका सदाचार

पर-निंदा मिथ्या करि मानै, सुनै न कहै काहू तें बात।
बुरी लगै परसंसा अपनी, परकी सुनत सदा हरषात॥
छोटन तें बिलम्रता बरतै, करै बड़न कौ सुचि सत्कार।
निज सुख भूल, देत सुख पर कौं होय परम सुख सहज उदार॥
सहज दयालु रहै दीननपर, करै सबनि सौं निश्छल प्रेम।
करै न किंचित कपट निभावै, सुद्ध सरलता कौ नित नेम॥
बाचा-काछ रखै नित बसमें, रहै परिग्रह-संग्रह-हीन।
करै न रति जगके परपंचनि, रहै सदा हरि-सुमिरन लीन॥
निज-हित पर तें जैसो चाहै, करै सबनि सों सो व्यवहार।
देखैं सदा सबनिमें हरि कौं, यहै संतको धर्माचार॥

—श्रीभाईजी

सदाचारकी गरिमा

(लेखक—साधुवेषमें एक पथिक)

सत् वही है, जो नित्य है, निरन्तर है । जो असत्‌का, अनित्यका अथवा क्षण-क्षण परिवर्तनशील इन्द्रिय-गोचर दृश्यका परमाश्रय है, उसे ही परमात्मा कहते हैं । वही आनन्दमय है, परम शान्तिमय, सर्वशक्तिमय हैं, वह सत्-परमात्मा उत्पत्ति, विनाश तथा परिवर्तनसे रहित अखण्ड अनन्त परम तत्त्व है । उस सत्-परमात्मा-को ध्यान-ज्ञानमें रखते हुए जो आचरण मनुष्यद्वारा आचरित होता है, उसे ही श्रुति-स्मृतिमें सदाचार कहा गया है । सदाचारकी पूर्णतामें शाश्वत शान्ति एवं अखण्ड आनन्दकी अनुभूति है । दुराचारीको क्षणिक सुखके पीछे भागते हुए अन्तमें अशान्तिका दुःख भोगना पड़ता है । असदाचारी नित्यप्राप्त सत्-स्वरूप परमात्मासे विमुख रहकर अनित्य देहादिक वस्तुओंके सम्मुख रहता है, इसीलिये वह मोही, लोभी, अभिमानी, कामी आदि बना रहता है ।

सदाचारको पूर्ण करना अपने-आप तथा जगत्‌के प्रति भी कल्याण करना है । सदाचारके द्वारा ही आसुरी वृत्तियोंको दमन किया जाता है और शक्तिको नष्ट करनेवाले वेगोंका शमन किया जाता है । सदाचार-के सहारे ही क्रमशः क्रोधको क्षमासे तथा लोभको उदारतासे एवं मोहको विवेकसे, अभिमानको विनम्रतासे और अनित्यसुखके प्रभावको नित्य सद्ज्ञानसे पराजित किया जाता है । सदाचार ही मानव-जीवनमें उन्नति, सद्गति, परमगति, परमशान्ति प्राप्त करनेके लिये भूमिका है । सदाचारकी पूर्णतामें ही दिव्यताका अवतरण होता है और दुराचार पतनकी भूमिका है । सदाचार मनुष्यको शान्तिके सम्मुख करता है तो दुराचार मनुष्यको अशान्तिकी परिधिमें आबद्ध रखता है । मानव-समाजमें लाखों धनवान्, बलवान् व्यक्ति हैं तथा कई भाषाओंके विद्वान् भी हैं । सहस्रों पदाधिकारी शासन-प्रशासनद्वारा समाजको सुन्दर आकर्षक बनाना चाहते हैं, परंतु सदाचारकी पूर्णताके बिना समाजका सुन्दर बन पाना कठिन ही है ।

सदाचारके बिना हृष्ट-पुष्ट और बलवान् पुरुष भी पशुके समान है । सदाचारके बिना ही धनवान् मनुष्य राक्षसके समान दूसरोंका शोषण करता है । सदाचार-हीन पदाधिकारी सत्तावान् दानवके समान निर्बलोंको सतानेवाला होता है । सदाचारमें तत्पर धर्मात्मा मानव-समाजका हितैषी होता है । सदाचारी वही है, जो भाग्यवश सुलभ होनेवाली शक्ति, सम्पत्ति, योग्यता और पदाधिकारद्वारा प्राणिमात्रकी सेवामें तत्पर रहता है । जबतक मनुष्य धनकी तृष्णा तथा मानकी तृष्णा एवं सुखोपभोगकी तृष्णाको पूर्ण करनेके लिये दरिद्रकी भाँति अधीर है, तबतक वह सदाचारका पालन नहीं कर पाता । सुखासक्ति, धनासक्ति, सम्बन्धासक्ति, अधिकारा-सक्ति मनुष्यको दुराचारी बनाये रहती है । धर्मप्रेमी मनुष्य ही आसक्तियोंसे मुक्त हो पाता है । ज्ञानमें सत्-असत् तथा विष-अमृतका निरीक्षण करनेवाला विरक्त हो जाता है । आसक्त व्यक्तिके लिये मोह, ममता आदि दोषोंसे विरक्ति और अनासक्त व्यक्तिके लिये सदाचार-व्रतमें दृढ़ रहना अनिवार्य है । कामी-क्रोधी-लोभी व्यक्ति कितना ही विद्वान् क्यों न हो, फिर भी वह सुखासक्तिके कारण सदाचारसे विचलित हो जाता है ।

दया, क्षमा, उदारता, सहिष्णुता, विनम्रता, सरलता तथा सद्, आनन्द, धर्माधर्मका विवेक एवं निष्काम प्रेम आदि दैवी सम्पदा सदाचारतामें नित्य सहायक है । दैवी सम्पदाको बढ़ानेके लिये प्रत्येक मनुष्य

स्वतन्त्र और सांसारिक भूमि, भवन, धन बढ़ानेके लिये परतन्त्र है; किंतु कुसंस्कार एवं कुसङ्गके कारण दैवी सम्पदा बढ़ानेका संकल्प हर एक मनुष्य नहीं करता। लोभी, अभिमानी, कामी, असज्जनकी संगतिसे उसे असदाचारकी ही प्रेरणा मिलती है। पापग्रस्त मनुष्य जो सदाचारका पालन स्वयं नहीं करता, वह भी अपने प्रति सदैव सदाचारका ही बर्ताव चाहता है। मानव-समाजमें जहाँतक परस्पर ईर्ष्या, द्वेष, कलह, क्रोध, निन्दा-घृणाके साथ हिंसात्मक व्यवहार चल रहा है, यह सब सदाचारके द्वारा समाप्त हो सकता है। मनुष्यको धन, वैभव, भूमि, भवन, ऐश्वर्य आदिके द्वारा जितनी भी सुखद सुविधाएँ सुलभ होती हैं, उन्हें दुराचारयुक्त प्रवृत्ति नष्ट-भ्रष्ट कर देती है। परमात्मा ज्ञान, प्रेमरूप तथा सभी सद्गुणोंसे परिपूर्ण है। उसके योगसे साधकको भी पूर्णता प्राप्त होती है। और, यह पूर्णताप्राप्ति जीवनका परम लक्ष्य है। यही सदाचारकी सिद्धि है।

वेदोक्त सदाचार

(लेखक—आचार्य श्रीउमाकान्तजी 'कपिध्वज', एम्० ए०, काव्यरत्न)

मनुष्यके चरम विकासका अजस्रस्रोत धर्म ही है। श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित मार्गका अनुसरण, सत्-आचरण, प्राणिमात्रके साथ सदाशयता एवं कायिक, वाचिक,मानसिक शुद्धिको ही धर्मका मूल बताया गया है। भारतीय दार्शनिकोंने बारंबार सभी जीवोंमें आत्मवत् दर्शनका उपदेश देकर दूसरोंके कष्टों, व्यथाओं और दु:खोंको अपनी अनुभूति बनानेका उपदेश दिया और, **'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'**—(श्रीविष्णुधर्मो० ३। २५३। ४४) का निदेश दिया। स्वयंके विपरीत कोई भी कार्य दूसरोंके लिये भी न करे। दूसरे शब्दोंमें यही 'सदाचार' है। इसके पालन करनेकी हमसे नैतिक अपेक्षा की जाती है। निदान, सत्य बोलना, चोरी न करना, माता-पिता एवं गुरुजनोंकी आज्ञा शिरोधार्य करना, स्वदेश-प्रेम होना, दीन-दु:खियोंपर दया करना, दिया हुआ वचन नहीं तोड़ना आदि नियमोंके समूहसे 'सदाचार'का कलेवर निर्मित है।

'सदाचार' मानव-जीवनमें उस कीर्ति-स्तम्भके समान है, जो मनुष्यको उसके जीवनकालमें तथा मृत्युके पश्चात् भी उसके यशस्वी शरीरको अमर बनाये रखता है। विष्णुपुराणमें सदाचारकी परिभाषा बतलाते हुए महर्षि और्व कहते हैं 'सत्'* शब्दका अर्थ साधु है और साधु वही है, जो दोषरहित हो। उस साधु (श्रेष्ठ) पुरुषका जो आचरण होता है, उसीको 'सदाचार' कहते हैं। स्कन्दपुराणमें भी कहा गया है कि 'राग' और 'द्वेष'से रहित उत्तम बुद्धिवाले महापुरुष जिसका पालन करते हैं, उसीको धर्ममूलक 'सदाचार' कहते हैं। †

वस्तुतः 'सदाचार'के आदिस्रोत हमारे वेद ही हैं। अथर्ववेद (११। ५। १९)में ऋषि कहते हैं कि परमपिता परमात्माने अपने पुत्र मनुष्यको आदेश दिया है कि वह परस्पर सहानुभूति, उदारता और निर्वैरता धारण-करें, जिस प्रकार गौ अपने तत्कालके उत्पन्न बछड़ेकी गर्भस्थ

* साधवः क्षीण दोषास्तु सच्छब्दः साधु वाचकः। तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते॥ (३। ११। ३)

† (क)—आचारः परमो धर्म आचारः परमं तपः।

(ख) यस्तूदारचमत्कारः सदाचारविहारवान्। स निर्याति जगन्मोहान्मृगेन्द्रः पञ्जरादिव॥

(योगवासिष्ठ मु० ६। २८)

मलिनताको अपने मुखसे चाटकर उसे स्वस्थ और स्वच्छ बना देती है, उसी प्रकार मनुष्य भी एक दूसरेके कल्याणसाधनमें रत रहें। वहीं (१९।१५।५में।) यह भी कहा गया है कि उच्चशिखरारूढ़ राष्ट्रों एवं जातियोंके मानवोंको उचित है कि वे बड़ोंका सम्मान करें, सोच-विचारकर कार्य करें, कार्यसिद्धिपर्यन्त अथक परिश्रम करनेवाले हों, अपने लक्ष्यके प्रति दत्तचित्त हों, परस्पर वैर-विरोधका भाव न रखें, प्रेमपूर्वक भाषण करें तथा सभी मानवोंको ऐसा ज्ञान दें कि जिससे सबके मन शुद्ध हों। ऋग्वेदमें कहा गया है कि सब मानव धर्म एवं नीतिसे संयुक्त हुए परस्पर प्रेमसे सम्मिलित रहकर संघटित बनें। सब मिलकर अभ्युदयकारक अच्छे सत्य-हित-प्रिय वाक्योंको ही बोलें तथा परस्पर सबके मन, सुख-दुःखादिरूप अर्थको सबके लिये समानरूपसे जानें (१०।१९१)। जिस प्रकार पुरातन इन्द्र-वरुणादि देव धर्म एवं नीतिकी मर्यादाको जानते हुए अपने ही हविर्भागको अङ्गीकार करते हैं, उसी प्रकार आप सब मानव भी अपने ही न्यायोचित भागको अङ्गीकार करें—अन्यायसे अन्यके भागको ग्रहण न करें। इसी संदर्भमें वेद भगवान्का आदेश है कि पापकी कमाई छोड़ दो। पसीनेकी कमाईसे ही मनुष्य सुखी बनता है। पुण्यसे ही कमाया हुआ धन सुख देता है। (अथर्व० ७।११५।) **'वसुधैव कुटुम्बकम्'**की भावना 'सदाचार'का प्रधान अङ्ग है। इसके अभावमें मानव-जीवन अधूरा-सा प्रतीत होता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जो सब मानवोंको समान रूपसे देखता है, वही सच्चा मानव है। मनुष्यकी दृष्टि जब सर्वत्र समान हो जाती है, तब उसके सारे राग-द्वेष, सारे क्षोभ, सारे विकार स्वयमेव दूर हो जाते हैं। इस स्थितिमें आकर उसका चरित्र अपने-आप उदार हो जाता है। उसके लिये फिर सारी दुनिया अपने कुटुम्बका रूप धारण कर लेती है। मनुष्य विश्वपरिवारका सदस्य बन जाता है। उसके लिये 'यह मेरा', 'वह तेरा'का भाव समाप्त हो जाता है तथा वह परस्त्रीको माताके तुल्य, परद्रव्यको मिट्टीके तुल्य एवं समस्त भूतोंको आत्मवत् ही समझने लगता है।*

'ऋग्वेद'के एक मन्त्रमें प्रभु परमेश्वर सब जीवोंकी समानता बतलाते हुए परस्पर मिलकर ही उन्नत होनेका आदर्श उपस्थित करते हैं। साथ ही यह भी कहते हैं कि जो अपनेको हीन मानकर दिन-रात रोनेमें ही व्यतीत नहीं करते, वे ही सुदिन देखते हैं। इतना ही नहीं, वेद आगे कहते हैं—'प्रभु परमेश्वरके अमृत-पुत्रोंमें न कोई बड़ा है न छोटा और न मध्यम। इस प्रकारकी भावना रखनेवाले मनुष्य ही उत्तम और कुलीन कहे जाते हैं। जो मातृभूमिके सच्चे अर्थोंमें पुजारी हैं, वे ही दिव्य मनुष्य हैं, उनका स्वागत है। (ऋक्० ५।५९६ और ५—६०,५।)

'तैत्तिरीयब्राह्मण' आदिमें भी इसी प्रकार मनुष्योंको विषम भावकी समाप्ति कर समभावका सदुपदेश दिया गया है।† इसी प्रकार श्रीमद्भागवत आदिमें परोपकारकी महत्ता प्रदर्शित करते हुए कहा गया है—'परोपकारी सज्जन प्रायः प्रजाका दुःख टालनेके लिये स्वयं दुःख झेला करते हैं। परंतु यह दुःख नहीं है, यह तो सबके

---

* मातृवत् परदारांश्च परद्रव्याणि लोष्टवत्। आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति॥
(आपस्तम्बस्मृति १०।११, हितोपदेश १।१३, पञ्चतन्त्र ३।३९, पद्मपु० १।१९।३५६, गरुडपु० १११।१२)

† ॐ समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
(ऋक्संहिता १०।१९१।४, अथर्व०६।६४।३, तै० ब्रा० २।४।४।५)

हृदयमें विराजमान भगवान्‌की परम आराधना है। परोपकारके लिये आत्मबलिदान करनेवाले ऐसे महापुरुषोंकी गौरव-गाथासे भारतका इतिहास देदीप्यमान है। नागोंकी प्राण-रक्षाके लिये अपने जीवनका दान करनेवाले जीमूतवाहन, कबूतरकी प्राण-रक्षाके लिये अपने शरीरका मांस देनेवाले राजा शिबि, याचकके लिये अपने शरीरका कवच-कुण्डल दान करनेवाले उदारमना कर्ण, गो-रक्षाके लिये अपना शरीर समर्पित करनेवाले महाराज दिलीप, सुर-समुदायके हितार्थ अपनी अस्थियोंका दान करनेवाले महर्षि दधीचि और स्वयं भूखे रहकर (भूखकी ज्वालासे तड़पते हुए भी) भूखी आत्माओंको अन्न-जलका दान करनेवाले महाराज रन्तिदेव आदिके नाम क्या कभी मानवताके इतिहाससे भुलाये जा सकेंगे ? उन्होंने श्री-भगवान्‌द्वारा वर-याचनाकी अनुमति पानेपर भी यही माँगा कि मैं अष्टसिद्धियों, स्वर्ग-मोक्षादिकी कामना नहीं करता, मेरी तो यही कामना है कि मैं समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित होकर उनका दुःख स्वयं भोगूँ।* कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यही सदाचारका रहस्य है। सबके जीवनके साथ मिलकर ही हम अपने जीवनको परिपूर्ण कर सकते हैं। अपने विचारोंको संकुचित करके हम अपने 'स्व'का—अपने आत्माका ही हनन करते हैं, उसको अपेक्षाकृत क्षुद्र दीन-हीन बना देते हैं, जब कि वह स्वरूपसे अनन्त है। आत्माकी विशालताको सतत चरितार्थ करना ही सदाचारका अर्थ है, और इसीसे निःश्रेयसकी, पूर्णताकी, मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

हमारे ऋषि-मुनियोंने सदाचारी मनुष्यके लिये पालनीय सप्त मर्यादाओंका बारंबार उपदेश दिया है। उनका सुन्दर नामकरण, वर्गीकरण एवं मानव-साध्य आदर्श पाठ प्रस्तुत करते हुए ऋग्वेदके एक मन्त्रमें कहा गया है कि 'हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्य-पान, जुआ, असत्य-भाषण तथा पाप-सहायक दुष्ट—इनका वर्जन ही सप्त-मर्यादा है†।' इनमेंसे प्रत्येक मानव-जीवन-घातक है, यदि कोई एकके भी फंदेमें पड़ जाता है तो उसका जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, किंतु जो इनसे बचकर निकल जाता है, निःसंदेह वह आदर्श मानव बनकर रहता है। (ऋक्सं० १०।५।६।) इतना ही नहीं, मनुष्यको प्रबलतम पापोंसे बचनेके लिये भी बहुत ही सरस-मधुर एवं साहित्यिक उपदेश देते हुए कहा गया है कि 'हे मनुष्य! तू साहसी बनकर गरुड़के समान घमंड, गीधके समान लोभ, चकवेके समान काम, श्वानके समान मत्सर, उल्लूकके समान मोह और भेड़ियेके समान क्रोधको समझकर उन्हें मार भगा।‡

सम्प्रति, यह कहना युक्ति-युक्त प्रतीत होता है कि हमारी वैदिक मान्यताएँ और आदर्श निःसंदेह मनुष्यको सदाचारी बनने तथा अपना गन्तव्य सुधारनेकी दिशामें बहुत ही सक्रिय और महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करती रही हैं। उनका पालन करना प्रत्येक भारतीयका परम कर्तव्य है।

---

* श्रीमद्भा० ८।७।४४, ६।१०।८, मानस ७।४०-१।२, ३।३०।४-१।२७, वही ९।२१।१२।

† सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिद् भ्यहुरो गात्। आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ। (ऋक्० १०।५।६)

‡ उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्। सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥ (ऋक्० ७।१०४।२२)

वेदोंमें सदाचार

(लेखक—स्वामीजी श्रीविद्यानन्दजी विदेह)

ऋतस्य गोपा न दभाय सुक्रतु-
स्त्रीषपवित्रा हृद्यन्तरादधे ।
विद्वान् त्स विश्वा भुवनाभि-
पश्यत्यवाजुष्टान् विध्यति कर्ते अव्रतान् ॥
(ऋग्वेदसं० ९ । ७३ । ८)

'(**ऋतस्य गोपाः**) सत्य (सदाचार)का रक्षक (**सुक्रतुः**) सुकर्मा (**दभाय न**) दबनेके लिये नहीं हैं, (**सः हृदि अन्तः**) उसने हृदयके भीतर (**त्रीषपवित्रा आदधे**) तीन पवित्रताओंको धारण किया है । (**स विद्वान्**) वह सर्वज्ञ प्रभु (**विश्वा भुवना अभिपश्यति**) सब लोकों—धामों—स्थानोंको देख रहा है । वह **अवाजुष्टान् अव्रतान्**—असेवनीय, असदाचारी अव्रतियोंको (**कर्ते अव विध्यति**) गर्तमें—गढेमें गिरा देता है ।'

अनृत दुराचार है, ऋत सत्य या सदाचार है । सत्य परम तत्त्व है । अनृत अथवा दुराचारका जो व्यवहार करते हैं, वे दस्यु हैं । ऋत अथवा सदाचारका जो व्यवहार करते हैं, वे आर्य हैं । सत्य अथवा परम तत्त्वमें संस्थित होकर जो व्यवहार करते हैं, वे देव हैं । उपर्युक्त मन्त्रमें ऋत और ऋताचारी, सदाचार और सदाचारी आर्यका सुन्दर विश्लेषण है । उपर्युक्त मन्त्रके अनुसार ऋत-सत्य-सदाचारका रक्षक किसीसे न दबता है, न डरता है और न किसीके आतङ्कसे आतङ्कित ही होता है । सदाचारकी रक्षा करनेवाला, सदाचारके पथपर चलनेवाला सदा अदब्ध और अदम्य रहता है । कोई उसे कितना भी दबाये, कितना भी सताये, कितना भी छकाये, कितना भी आतङ्कित करे, उसकी परेशानीपर सलें नहीं पड़तीं । वह तो बड़े-से-बड़े कष्टोंको भी सहजतया सह लेता है । वह बड़ी-से-बड़ी आपत्तियोंको पुष्पहारकी भाँति सहार लेता है । बड़े-से-बड़े संकट उसे विचलित नहीं कर पाते । सहयोगका, साधन और अर्थका अभाव उसे पीछे नहीं हटा सकता । प्रलोभन उसे विमुग्ध नहीं कर सकते । कनक और कामिनी उसके ईमानको डिगा नहीं सकते । वैर-विरोधके सामने वह दृढ़ताके साथ डटा रहता है । ईर्ष्या-द्वेष उसका स्पर्श नहीं करते और विकार उसे विकृत नहीं कर पाते । भोग-विलास, विषय-वासना, दुःख-विषाद उसे निढाल (शिथिल) नहीं करते । वह तो हर अवस्थामें अचल और निर्द्वन्द्व रहता है । अदब्धता—अदम्यता ऋताचारका लक्षण है । कभी किसीसे किसी भी प्रकार न दबना सदाचारिताका चिह्न है । ऋताचारी सुशील और शालीन तो होता ही है, पर दब्बू नहीं होता । सदाचारी विनम्र और लचकीला होता है, पर साहसी और निर्भीक होता है । ऋताचारके अभिमानी, सदाचारके स्वाभिमानी एक क्षणको भी यह न भूलें कि सदाचारकी रक्षा करनेवाला दबाये नहीं दबता है । **'ऋतस्य गोपा न दभाय'**—यह वैदिक सूक्ति कितनी सुन्दर और प्रेरणाप्रद है ।

काल, समय, अवस्था, परिस्थिति, ऋतु, विधि और हालतकी क्या मजाल है कि सदाचारीको दबा सकें, दुर्घटनाओं और अनाचारियोंका क्या मजाल है कि सदाचारीका मुख मोड़ सकें । चाहे पर्वत उचट-उचट कर उससे टकरायें, चाहे ब्रह्माण्ड उसपर टूट पड़े, चाहे सारी सृष्टि उससे रूठ जाये, चाहे श्री, किंवा लक्ष्मी सदाके लिये उससे रुष्ट हो जाय, चाहे विधि उसके विरुद्ध हो जाय, चाहे अग्निकी ज्वालाएँ उसे जलाने लग जायँ, चाहे अपने-पराये सब उससे मुख मोड़कर चले जायँ, चाहे चक्रवर्ती सम्राट् उसका शत्रु बन जाय; पर सदाचार-का धनी नहीं दबेगा, कदापि नहीं दबेगा, नहीं ठिठकेगा, नहीं झिझकेगा, वह ऋतके पथसे अपना पग न हटायेगा ।

ऋतके गोपाकी महिमा और सुनिये। ऋतका रक्षक सुकर्मा होता है। सदाचारी निःसंदेह सुकर्मा होता है। सदाचारी सदा सुकर्म ही करता है। सदाचार और सुकर्मका जोड़ा है। ये दोनों सदा एक दूसरेके साथ रहते हैं। जहाँ सदाचार होगा, वहाँ सुकर्म अवश्य होगा। सुकर्म वहीं होगा, जहाँ सदाचार होगा। सदाचारके साथ कुकर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। कुकर्म तो दुराचारका बन्धु है। कुकर्म दुराचारका सहगामी है अथवा यों कहिये—कुकर्म दुराचारकी छाया है और सुकर्म सदाचारकी। सदाचारी प्राण त्याग देगा, किंतु सुकर्मका त्याग नहीं करेगा। सदाचारी सर्वनाशकी ज्वालामें जल जायगा, किंतु कुकर्मका आश्रय लेकर अपनी रक्षा कदापि नहीं करेगा। सदाचारिणी हँसते-हँसते चितामें जीवित जल जायेगी, किंतु अपावन कुकर्मको अपने जीवनका स्पर्शतक न करने देगी। सदाचारी अपने बाल-बच्चोंसहित भूखा मरना स्वीकार करेगा, पर कुकर्मसे पेट भरनेका स्वप्नमें भी विचार न करेगा। सदाचारी सानन्द मृत्युका आलिङ्गन कर लेगा, पर कुकर्मको निकट न आने देगा। सदाचारी पराजय स्वीकार करेगा, पर कुकर्मसे विजय-सम्पादन कदापि न करेगा। सदाचारिणी नंगे गात रहेगी, किंतु कुकर्मद्वारा अपने शरीरको भूषित कदापि न करेगी। इस छोटी-सी सूक्तिमें कितनी सुन्दर और कैसी दिव्य शिक्षा अन्तर्निहित है कि **'ऋतस्य गोपा सुक्रतुः'**—ऋतका रक्षक सुकर्म ही करेगा!

ऋतका रक्षक न दबेगा, न कुकर्म करेगा; क्योंकि उसने हृदयके भीतर तीनों पवित्रताओंको धारण कर लिया है। हृदयमें धारणीय तीन पवित्रताएँ हैं—आत्माकी पवित्रता, चित्तकी पवित्रता, मनकी पवित्रता। कुकर्म कोई तब करता है, जब उसके मन-चित्त और आत्मामें मलिनता होती है। कोई किसीसे तभी दबता है, जब वह कुकर्म करता है। मनुष्य सुकर्म कब करता है?—जब उसका मन-चित्त और आत्मा निर्मल होता है। मनुष्य अदम्य और निर्भय कब रहता है?—जब वह सुकर्म-ही-सुकर्म करता है। कुकर्मी दबता है। कुकर्मीको दबना पड़ता है। सुकर्मी किसीसे क्यों दबेगा? जब मानव अपने मन, चित्त और आत्मासे नितान्त पवित्र हो जाता है, तब उसके विचार भी निर्मल हो जाते हैं। विचारोंके निर्मल हो जानेपर वह सदा सुकर्म ही करता है। सुकर्मसे अदम्यता और निर्भयताकी स्थापना होती है।

अदम्यता, सुकर्म और पवित्रता—इन तीनोंके संयोग-का ही नाम ऋत अथवा सदाचार है। सदाचारके तीन आधार हैं, अदम्यता, सुकर्म और पवित्रता। सदाचारीके तीन लक्षण हैं, सदाचारी अदम्य होगा, सुकर्मी होगा, पवित्र होगा। पवित्रता, सुकर्म और अदम्यता सदाचारके अनिवार्य और सुसंगत अङ्ग हैं। यदि किसीमें इन तीनों अङ्गोंमेंसे किसी एक अङ्गका भी अभाव है तो समझ लेना चाहिये कि वह सदाचारी नहीं है। ऋतका रक्षक, सदाचारका प्रहरी समझता है कि वह सर्वज्ञ प्रभु समस्त भुवनोंको, अखिल लोकोंको, अखिल लोकोंमें सकल धामों और स्थानों-को सर्वतः देख रहा है। किसी भी लोक और स्थानमें जब उस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्‌की दृष्टि उसे देख रही है, तब वह कहीं किसीसे क्यों दबने और डरने लगेगा? वह सदाचारका पुतला लावारिश तथा अनाथ नहीं है, फिर वह अदम्य क्यों न हो। फिर उसे किसी प्रकारका भय या किसी प्रकारकी शङ्का हो ही कैसे सकती है? ऋत-का प्रेमी जब यह विश्वास रखता है कि वह सर्वदा उसके मनके संकल्प और उसके मस्तिष्कके विचारतकको जान लेता है तो उस सर्वज्ञकी सुदृष्टिमें वह किसी कुकर्मका विचारतक नहीं कर सकता। जब वह उस सर्वज्ञकी सर्वव्यापिनी सर्वज्ञतामें निष्ठा रखता है तो उसके हृदयमें और उसके जीवनमें अपवित्रता कैसे ठहर सकती है?

ईश्वरकी सर्वव्याप्ति और सर्वज्ञताकी भावना ही सदाचारका उद्गम है। जिस मनुष्यको इस बातमें विश्वास नहीं है कि वह न्यायकारी प्रभु सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है तथा वह अन्तर्यामी रूपसे सबको देख रहा है, वह मनुष्य सदाचारी नहीं हो सकता। जिसे उस सर्वज्ञके न्याय-नियममें विश्वास है, वही सदाचारी होगा। सदाचारके पुजारीको विश्वास होता है कि सच्ची, स्थायी और शाश्वत विजय सदाचारकी ही होती है। वह सदाचार-सम्बन्धी सारे व्रतोंको धारण किये रहता है तथा सर्वदा अदम्यताका व्रत लिये रहता है। वह जानता है कि अदम्यताके बिना सदाचारके व्रतका पालन नहीं हो सकता। सदाचारकी रक्षामें पदे-पदे आपदाओंका साम्मुख्य करना होगा। इस कारण उसने संसारसागरमें अदम्यताके साथ जूझनेका व्रत ले लिया है। उसने सदा सुकर्म करनेका व्रत धारण कर लिया है; क्योंकि वह जानता है कि यदि उसने भूलकर भी कभी कोई कुकर्म किया तो उसके सदाचारको बट्टा लग जायगा। उसने पवित्रताका व्रत लिया है; क्योंकि वह जानता है कि पवित्रताके बिना सदाचारके साथ एक क्षण भी न निभ सकेगी। वह जानता है कि अपवित्रताका जरा-सा भी स्पर्श उसके सदाचारके भव्य-भवनको क्षण-भरमें धड़ामसे ढाह देगा। इसीसे उसने व्रत लिया है कि वह अपने हृदयको, मनको, चित्तको सदा पवित्र रखेगा। उसने व्रत लिया है कि वह अपने विचार, वचन, व्यवहारको निरन्तर विशुद्ध रखेगा। उसने व्रत कर लिया है कि वह अपनी दृष्टि, श्रुति, संस्पर्शको नितान्त शुद्ध रखेगा।

सदाचारकी रक्षा सर्वोपरि और सर्वातिशय कठिन साधना है। जो इस साधनाको अपने जीवनकी साध बना लेता है, जो इस साधनामें संसिद्धि प्राप्त कर लेता है, वह सत्यको प्राप्त करता है, सत्यस्वरूपमें संस्थित होकर विश्वमें सत्य और सदाचारकी ज्योति जगमगाता है और शरीर त्यागनेपर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है।

अथर्ववेदमें सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीवासुदेवकृष्णजी चतुर्वेदी, डी० लिट्०)

भारतीय संस्कृति विश्ववन्दनीया है। यह प्रत्येक भारतीयके गौरवकी बात है कि वह उस संस्कृतिका अविभाज्य अङ्ग माना जाता है, जिसे विश्वसंस्कृतियोंका मुकुटमणि कहा जाता है। इस संस्कृतिकी अनुपम विशेषताओंमें एक विशेषता सदाचार भी है। साधारणतः सदाचार दो शब्दोंसे बना है—सद्-आचार—'सदाचार'। किंतु सदाचारका 'अच्छा व्यवहार' मात्र इतना अर्थ मनीषियोंको संतोषप्रद नहीं रहा; फलतः वेद-व्यासजीने विष्णुपुराणमें इसकी व्याख्या इस प्रकार की—

> साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः।
> तेषामाचरणं यत्तु स सदाचार उच्यते॥
> (३। ११। ३)

'दोषरहित साधुका वाचक है—सत् शब्द और उनका आचरण है 'सदाचार'।' कामाचारमें सदाचार भाग जाता है—जैसे—

> सदाचार जप जोग बिरागा। सभय बिबेक कटकु सबु भागा॥
> (मानस १। ८३। ४)

किसी देशकी उन्नति वहाँके सदाचारसे जानी जाती है। समष्टि और व्यष्टि दोनोंमें सदाचारकी महत्ता है। सदाचारी व्यक्ति विद्वान् हो तो महान् है। पर वह विद्वान् न भी हो, किंतु सदाचारी हो तो भी वह सम्मान्य होता है। सदाचार केवल लोककी वस्तुमात्र है, ऐसी बात नहीं, अपितु यह वेदवर्णित महिमामण्डित है—

> जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
> (अथर्ववेद १। ३४। २)

इसमें प्रार्थना की गयी है कि मेरी जिह्वामें मधुरता हो और जिह्वाके मूलमें अर्थात् मानसमें मधुर रसका संनिवेश

हो।' विचार करके देखा जाय तो यह सुस्पष्ट है कि सदाचारीकी जिह्वामें माधुर्य रहता है और वह मनसे भी मधुर होता है। जिह्वाद्वारा ही संसारमें संधि-विग्रह होते रहे हैं। जिह्वाकी मधुरतापर क्रूरोंको भी क्रूरता त्यागकर साधुओंका मार्ग ग्रहण करना पड़ा है। जो आर्य है, वह यही कामना करता है कि मैं वाणीसे, मनसे मधुर बनूँ। मनुष्यका कर्तव्य है कि वह अपनेको सर्वप्रिय बनानेका प्रयत्न करे। घरमें आना या जाना, वार्तालाप करना या नेत्रोंद्वारा किसीको देखना—सब कुछ मधुर हो। देखनेमें कुछ लोग मधुर हो सकते हैं; पर उनका वार्तालाप या अवलोकन मधुर नहीं होता। गृहस्थ व्यक्तिको शिक्षा देते हुए वेदभगवान्‌का कथन है कि वह पत्नीको ऐसी प्रेमभरी दृष्टिसे देखे कि वह प्रेमकी मधुरताके वश हो स्वप्नमें भी किसी परपुरुषकी कामना न करे—

परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे।
यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥

(अथर्व० १।३४।५)

'हम परस्पर एक दूसरेके प्रति एक हृदय, एकचित्त तथा द्वेषरहित होकर रहें। एक दूसरेके प्रति ऐसा प्रेम करें, जैसे गाय बछड़ेसे प्रेम करती है। हम तुम्हें ईखसे घेरते हैं, इससे तुम्हारा व्यवहार मधुर एवं द्वेषरहित हो। पुत्रको चाहिये कि वह सर्वदा पिताकी आज्ञाको माने।* पति-पत्नी परस्पर शान्तिदायक वचनोंका प्रयोग करें। भ्राता भ्रातासे द्वेष न करें। बहनें भी बहनोंसे स्नेह करें तथा परस्पर कल्याण और सुखदायी वचनोंका प्रयोग करें†। समस्त प्रजा भी आपसमें मनोहर वचनोंको व्यवहारमें लायें।' उक्त एक कथनको भी आज व्यवहारमें लाया जाय तो देशकी अनेक समस्याओंका न केवल समाधानमात्र ही हो जाय, अपितु उनकी उत्पत्तिका स्रोत भी नष्ट हो जाय—**वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः।** (अथर्व० १।३४।३।)

(इस ऋचाको ऋग्वेदमें १०।२४।६में भी स्वल्पान्तरसे देखा जा सकता है।)

पापका परित्याग

वेद भगवान्‌का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य संकल्प करे कि मैं कभी दूसरोंको कष्ट देनेवाले कार्य न करूँ। वह पापोंसे मुक्ति-हेतु ईश्वरकी उपासना भी करे—

व्यूहं सर्वेण पाप्मना वियक्ष्मेण समायुषा

(अथर्व० ३।३१।११)

पापका अर्थ मानसिक बुराइयाँ हैं। अतः मनसे शुद्ध रहना बहुत बड़ा स्वास्थ्यवर्धक-(सदाचार-) प्रयोग है।

वि शक्रः पापकृत्यया' (अथर्व० ३।३१।२।)

शक्र परमात्मा पापोंसे दूर रखे।

वेदभगवान्‌का कथन है कि सदाचारी पुरुषोंको सर्वदा सहृदय होना चाहिये। सदाचारके कतिपय उपदेश इस प्रकार हैं—(१) मिलकर एकचित्त होकर परस्पर प्रेमसे रहो। (२) किसीसे द्वेष न करो, किसीका अहितचिन्तन न करो। (३) जल, अन्न, बन्धन समान भावमें हों। (४) द्रव्यमें सबका समान भाग करो। (५) एक-जैसा भोजन करो। (६) सायंकाल-प्रातःकाल निर्मल-चित्त बनो। (७) ईश्वरसे प्रार्थना करो, वह पापकी ओर न जाने दे। (८) उद्योग करो, प्राणवान् बनो। मृत्युके ग्रास मत बनो और (९) रोगोंको संयमसे दूर करो अथवा ओषधियोंकी सहायता लो—।

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन

(अथर्व० ३।३१।१०

(१०) सब प्रकारसे उन्नतिको प्राप्त करो।

'उदस्थामामृता वयम्' (अ० ३।३१।११।)

(११) गृहस्थाश्रम-यज्ञ अन्य यज्ञोंसे महान् यज्ञ है, इसका सावधानीसे प्रयोग करो—

'एष यज्ञानां विततो वहिष्ठो' (अ०४।३४।५।)

(१२) दान करो, आनन्दमें रहो, सद्-आचरण करो। इस प्रकार सदाचारकी शिक्षाओंसे वेद कल्याणका मार्ग दिखला रहे हैं।

---

* **अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमती वाचं वदतु शन्तिवाम्॥** (अथर्व ३।३०।२)

† **मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।** (वही ३।२०।३।)

उपनिषदोंमें सदाचार

(लेखक—श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव, एम्० ए०, शास्त्री, एम्० ओ० एल्०)

श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार सदाचारका 'सत्' शब्द ब्रह्म, सद्भाव, साधुभाव, प्रशस्त कर्म, यज्ञ, तप एवं दानका वाचक है। इनकी सिद्धि अथवा प्राप्तिके लिये किया गया कर्म भी 'सत्' शब्द द्वारा उक्त या अभिव्यक्त होता है। (१७ । २३—२७ ।) इस प्रकार सद् ब्रह्मकी प्राप्तिके उद्देश्यसे स्थूल एवं सूक्ष्म-शरीर, इन्द्रियाँ, वाणी, मन, हृदय एवं बुद्धिद्वारा की गयी प्रत्येक भली चेष्टा एवं भाव सदाचार हैं। शास्त्रोंमें ब्रह्मको **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। इनमें 'सत्' शब्द ब्रह्मके सत्यमें प्रतिष्ठित स्वरूपका निर्देशक है। इस शुद्ध सत्तावान्, ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये ही वेद शास्त्रोंका ज्ञान, तप एवं ब्रह्मचर्यादि सदाचारका पालन किया जाता है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत् ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

(कठोप० १ । २ । १५)

उपनिषदोंका कहना है कि जो दुश्चरित्र हैं, जिनका मन अशान्त और विक्षिप्त है, वे प्रज्ञान द्वारा भी ब्रह्मको नहीं प्राप्त कर सकते। ऐसे लोगोंको बार-बार इस संसारमें आना पड़ता है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

(कठ० १ । २ । २४, १ । ३ । ७ आदि)

स्वशरीरे स्वयं ज्योतिः स्वरूपं पारमार्थिकम्।
क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे माययावृताः॥

(पाशुपतोपनिषद्, उ० का० ३३)

शास्त्रोंद्वारा प्रतिपादित सदाचरण एवं भगवच्चरणोंकी पूजा तथा भक्ति पवित्र करनेवाली है और सभी प्रकारके पापोंका नाश करनेवाली है—

चरणं पवित्रं विततं पुराणं येन पूतस्तरति दुष्कृतानि।
तेन पवित्रेण शुद्धेन पूता अतिपाप्मानमरातिं तरेम॥

(महानारायणोप० १।५१, तैत्तिरीय० ब्रा० ३ । १२ । ३ ।)

सामान्यरूपसे 'पातञ्जलयोगसूत्र'में प्रोक्त पाँच यम एवं पाँच नियमोंमें सभी प्रकारके सदाचारका अन्तर्भाव हो जाता है, फिर भी अधिक स्पष्टता एवं मुमुक्षुके लिये पालनीय व्रतोंकी निश्चितताके लिये शाण्डिल्यादि उपनिषदोंमें इनकी संख्या दस-दस बतायी गयी है। इनके अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, क्षमा, धृति, मिताहार और शुचिता—ये दस यम हैं तथा तप, संतोष, आस्तिकता, दान, ईश्वरपूजन, शास्त्रीय सिद्धान्तका श्रवण, लज्जा, मति, जप एवं व्रत—ये दस नियम। (शाण्डिल्योपनि० १ । २ ।) 'मण्डल-ब्राह्मणोपनिषद् (२ । १ । ३)के अनुसार शीतोष्णाहार-निद्रापर विजय, सर्वदा शान्ति, निश्चलता तथा विषयेन्द्रियनिग्रह—ये यम हैं तथा गुरुभक्ति, सत्यमार्गानुरक्ति, सुखागतवस्तु (ब्रह्म)का अनुभव एवं उस अनुभवसे प्राप्त तुष्टि, निःसङ्गता, एकान्तवास, मनोनिवृत्ति, कर्मफलकी अभिलाषाका न होना तथा वैराग्य—ये नियम हैं। (१ । १ । ४ ।) 'त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्' (२८, २९)में देहेन्द्रियोंमें वैराग्यको 'यम' तथा परतत्त्वमें अनुरागको 'नियम' बताया है।

सदाचारके रूपमें पालनीय धर्मोंका वर्ण, आश्रम, आयु, अवस्था, जाति, लिङ्ग आदि भेदसे बहुत प्रकारसे विस्तार हो सकता है, परंतु यह स्मरण रखना चाहिये कि सभी सदाचरण सत्यमूलक हैं। सत्यनिष्ठा, सत्यव्रत एवं सत्याचरणके अभावमें सभी व्रत, कर्म एवं आचरण निष्फल हो जाते हैं। 'बृहदारण्यकोपनिषद्'के अनुसार 'सत्य' ही ब्रह्म है, सत्य ही धर्म है। इस सत्यधर्मसे बढ़कर अन्य कुछ नहीं है—

सत्यꣳह्येव ब्रह्म । (४ । १ । १)
धर्मात् परतरं नास्ति यो वै धर्मः सत्यं वै तत् ।
(१ । ४ । १४)

जैसे भूमिमें गड़ी या दबी हुई निधिका ज्ञान उक्त भू-प्रदेशके ऊपर घूमने-फिरनेवाले व्यक्तिको नहीं होता, इसी प्रकार नित्य सुषुप्त-दशामें ब्रह्मके समीप जानेवाली प्रजाको भी अपने हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे वास करनेवाले ब्रह्मका ज्ञान असत्यसे आच्छादित होनेके कारण नहीं होता—

एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः ॥
(छान्दोग्योप० ८ । ३ । २)

केनोपनिषद्-(४ । ८)का कहना है कि सत्य ब्रह्मविद्याका आयतन (गृह) है । सत्यमें ब्रह्मविद्या निवास करती है । मुण्डकोपनिषद्-(३ । १ । ६) के अनुसार सदा सत्यकी ही जय होती है, झूठकी नहीं । देवयानका विस्तार सत्यके द्वारा ही हुआ है—

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ॥

'सत्य जीवनका मूल है, जीवनवृक्षको संवर्धित करनेवाला रस है । जो झूठ बोलता है, उसका जीवन समूल शुष्क हो जाता है'—

समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति ॥
(प्रश्नोप० ६ । १)

ब्रह्मलोक उन्हींको प्राप्त होता है, जिनमें सत्य प्रतिष्ठित है तथा जो तप एवं ब्रह्मचर्यका पूर्णरूपेण पालन करते हैं, अनुष्ठान करते हैं । सत्यधर्मका साक्षात्कार करनेके लिये प्रत्येक वस्तुमें निहित निर्भ्रान्त शुद्ध सत्यको जानने एवं पानेके लिये बाहरसे आपाततः रमणीय एवं हितकर दिखायी देनेवाले पदार्थ-रूपोंके प्रति आसक्ति तथा लोभका परित्याग अपरिहार्य है । रूपकी चकाचौंधसे रमणीयता एवं लोभ-तृष्णाके आकर्षणसे सत्यका मुख आच्छादित हो जाता है । इस आच्छादनको दूर किये बिना सत्यका दर्शन कैसे हो सकता है ? (ईशोप० १५ ।) सत्यमें वायु, सूर्यादि देवता प्रतिष्ठित हैं । सत्यमें ही वाणीकी प्रतिष्ठा है । सत्य मोक्षका परमसाधन है—

सत्येन वायुरावाति सत्येनादित्यो रोचते दिवि । सत्यं वाचः प्रतिष्ठा सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितं, तस्मात् सत्यं परमं वदन्ति ॥ (महानारायणोप० ७९ । १ ।)

सत्यके अतिरिक्त तप, ब्रह्मचर्य (दम), ईश्वरार्पित कर्म, सम्यग्ज्ञान, श्रद्धा एवं नित्योपासना (ध्यान) भी मुमुक्षुके द्वारा अनुष्ठानके योग्य प्रमुख सदाचार-व्रत हैं ।

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम् ॥ (केनोप० ४ । ८)

परा, विद्या भी सत्य, तप, वेदान्तज्ञान, ब्रह्मचर्यादिसे ही प्राप्त होती है—

एवं रूपा परा विद्या सत्येन तपसापि च ।
ब्रह्मचर्यादिभिर्धर्मैर्लभ्या वेदान्तवर्त्मना ॥
(पाशुपतोप० उ० का० ३२)

छान्दोग्योपनिषद्-(३ । १७ । ४)में तप, दान, आर्जव, अहिंसा एवं सत्य वचनको आत्मयज्ञकी दक्षिणा बताया गया है । इस उपनिषद्के अनुसार धर्मरूपी वृक्षके तीन मुख्य स्कन्ध हैं । प्रथम स्कन्ध है—यज्ञ, अध्ययन एवं दान । द्वितीय स्कन्ध है—तप और तृतीय स्कन्ध है—नैष्ठिक ब्रह्मचर्य । तपके सम्बन्धमें महानारायणोपनिषद्में एक स्थान (७८ । २) पर अनशनको (उपवास अथवा धर्मानुष्ठानके लिये काय-क्लेशके सहनेको) तथा अन्यत्र बुद्धि एवं चित्तकी निर्मलता तथा संयमादिको भी तप कहा गया है । मुण्डकोपनिषद् (१ । १ । ९) **'यस्य ज्ञानमयं तपः'** कहकर सर्वदा चैतन्यभावसे युक्त रहने एवं सत्यज्ञानमें स्थितिको 'तप' स्वीकार करती है । महानारायणोपनिषद् परमात्म-ज्ञानके प्रति उपकारक होनेके कारण ऋत, सत्य, वेदज्ञान, प्रशान्तचित्तता,

शम, दम, दान, तप एवं ब्रह्मोपासनाको तपरूपमें स्वीकार करती है—

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञं तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः (१० । ८)

तैत्तिरीय उपनिषद्‌में ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि कुछ ऋषि अपनी अभिरुचि, संस्कार एवं अनुभवके आधारपर केवल एक ही गुणको तपरूपमें अपनाकर उसी गुणका जीवनमें सतत अभ्यास करनेपर बल देते हैं; यथा सत्यवादी 'राथीतर' सत्यको ही तप मानते हैं, तपोनिष्ठ पौरुशिष्टि 'तप' पर ही बल देते हैं, मौद्गल्यनाक स्वाध्याय-प्रवचनको ही तप मानते हैं। परंतु तैत्तिरीय उपनिषद् (९ । १)के प्रवक्ताका मत यह है कि ऋत, सत्य, तप, दम, शम, यज्ञ एवं अग्निहोत्र, अतिथि-सेवा, मानवकल्याणके कर्म, संतान-पालन, वंशकी रक्षा एवं वृद्धि आदि सभी तपः-कर्मोंको करते हुए स्वाध्याय तथा प्रवचनका नित्य एवं नियमित अभ्यास करना चाहिये।

तैत्तिरीय उपनिषद्-(१ । ११)में स्नातक शिष्यको उपदेश देते हुए कहा गया है—'सत्य बोल। धर्मका आचरण कर। स्वाध्यायसे प्रमाद न कर। आचार्यके लिये अभीष्ट धन लाकर (उनकी आज्ञासे स्त्रीपरिग्रह कर और) संतान परम्पराका छेदन न कर। सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। धर्ममें प्रमाद नहीं करना चाहिये। कुशल (धर्म, लोक एवं मोक्षके लिये उपयोगी) शुभकर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिये। ऐश्वर्य देनेवाले माङ्गलिक कर्मों एवं सम्पदा-संग्रहसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। स्वाध्याय और प्रवचनसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। देवकार्य और पितृकार्योंसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। तू मातृदेव (माता ही जिसकी देवता है, ऐसा बने अर्थात् मातामें देवता-बुद्धि रखकर उसकी पूजा, सत्कार एवं सेवा करे), पितृदेव हो, आचार्यदेव हो, अतिथिदेव हो। जो अनिन्द्य कर्म हैं, उन्हींका सेवन करना चाहिये—दूसरोंका नहीं। हमारे (हम गुरुजनोंके) जो शुभ आचरण हैं, तुझे उन्हींकी उपासना करनी चाहिये—दूसरे प्रकारके कर्मोंकी नहीं।

जो कोई (आचार्यादि धर्मोंसे युक्त होनेके कारण) हमारी अपेक्षा भी श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उनका आसनादि दानके द्वारा तुझे आश्वासन (श्रमापहरण) करना चाहिये। श्रद्धापूर्वक (दान) देना चाहिये, अश्रद्धापूर्वक दान भूलकर भी नहीं देना चाहिये। अपने ऐश्वर्यके अनुसार (समाजमें अपनी शोभा, प्रतिष्ठाके लिये इष्टापूर्त कर्मोंके लिये भी) दान देना चाहिये। (इच्छा न होनेपर भी आग्रह एवं दबावपूर्वक माँगे जानेवाले दानमें अपनी मर्यादाकी रक्षा-हेतु) लज्जापूर्वक देना चाहिये। (राजा, राजकर्मचारी आदिको) भय मानते हुए देना चाहिये। संविद्—(मैत्री आदिके कार्यके निमित्तसे एवं वचनपूर्ति)के लिये देना चाहिये।

यदि तुझे कर्म या आचारके विषयमें कोई संदेह उपस्थित हो तो वहाँ विचारशील, सावधान, कर्ममें नियुक्त, निष्पक्षपाती, अनुभवी, स्वतन्त्रचेता, मृदु, सरलमति धर्माभिलाषी ब्राह्मण जैसा व्यवहार करें वैसा ही तू भी कर। यह आदेश—विधि है, यह उपदेश है, यह वेदका रहस्य है, यह अनुशासन है, इसी प्रकार व्यक्तिको अपने जीवनको अनुशासित करना चाहिये तथा इन सब बातोंको भलीभाँति जानकर एवं इन्हें जीवनके आचरणमें लाकर आत्मसाक्षात्कारके लिये उपासनामें लग जाना चाहिये।' सदाचारके ये ही मूलमन्त्र हैं। इनको जीवनमें उतारना ही सिद्धि है।

उपासनाके द्वारा पापका अपनोदन, अन्तःकरणकी शुद्धि एवं ब्रह्मकी प्राप्ति—ये तीनों प्रयोजन सिद्ध होते हैं। मनुष्य दिवारात्रिमें, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिकी दशाओंमें

देवगण, पितृगण, मनुष्य, अन्य प्राणियों तथा स्वयं अपने प्रति भी अनेक पाप-कर्म करता है। उसे अहर्निश कृतपापका नाश करनेकी तथा अपनेको अधिकाधिक पवित्र बनानेकी आवश्यकता है। साधक सायं एवं प्रातःकी संध्योपासना तथा गायत्री-जपके द्वारा दिवारात्रिकृत पापोंसे मुक्त हो जाता है—

यदह्ना कुरुते पापं तदह्नात् प्रतिमुच्यते।
यद्रात्रियात्कुरुते पापं तद्रात्रियात्प्रतिमुच्यते।
(महानारायणोप० ३४। २)

संध्योपासनाके अतिरिक्त मन्त्रविहित कर्म यज्ञ, नित्य एवं नैमित्तिक अग्निहोत्र, अतिथिसत्कार एवं वैश्वदेव यज्ञका नित्य अनुष्ठान भी अत्यन्तावश्यक है। ये पञ्चमहायज्ञ नित्य अनुष्ठान करनेपर पुण्यके जनक तो नहीं होते हैं, परंतु न करनेपर सात पीढ़ियों-का नाश कर देते हैं। अतिथिको वैश्वानर अग्निका रूप बताया गया है तथा उसे अर्घ्य-पाद्य देकर सन्तुष्ट करनेका संकेत दिया गया है। (कठोप० १। १। ७।) किसी भी गृहस्थके घरमें ब्राह्मण अतिथिका बिना भोजन किये रहना अत्यन्त अमङ्गलकारी है तथा उसकी आशा-अभिलाषा, इष्टापूर्तके पुण्यकर्म एवं पुत्र, पशु आदि सभीका नाश करनेवाला है—

आशाप्रतीक्षे संगतꣳसूनृतां च
इष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे॥
(कठोप० १। १। ८)

उपनिषद्‌ने यह भी संकेत दिया है कि मनुष्यकी प्रकृतिमें जिस दोषकी प्रधानता हो उसे दूर करनेके लिये अपनेमें उक्त दोषके विपरीत प्रकृतिके गुणको बढ़ानेका अभ्यास करना चाहिये। कामलिप्साप्रधान व्यक्तिको दम (संयम) का, क्रूर प्रकृतिवालेको 'दया-' का एवं धनलोलुप व्यक्तिको 'दान' देनेका अभ्यास करना चाहिये। इन तीनों प्रकारके व्यक्ति क्रमशः देव, असुर एवं मानवजातिकी प्रकृतिका प्रतिनिधित्व करते हैं। यह बात बृहदारण्यकोपनिषद्‌के पञ्चम अध्यायके खिलकाण्डमें वर्णित प्रजापतिद्वारा अपने पुत्रों—देव, असुर, मानवोंको केवल एकाक्षर 'द' के द्वारा उपदेश देनेकी लघु कथामें स्पष्ट रूपसे प्रतिपादित की गयी है। वस्तुतः दुर्गुणोंमें काम, क्रोध एवं लोभ सबसे अधिक प्रबल हैं। अतएव श्रीमद्भगवद्-गीता (१६। २१) में इन्हें नरकके तीन द्वार बताकर इन तीनोंको परित्याग देनेका उपदेश दिया गया है। ये सदाचारके भी शत्रु हैं।

सदाचार एवं कदाचार व्यक्तिगत भी होता है एवं सामाजिक भी। व्यक्ति स्वतन्त्र ईकाई नहीं है, वह कर्म-रज्जुद्वारा अपनी वंशपरम्परा तथा समुदायसे बँधा हुआ है। अतएव वह वंश तथा समुदायमें किये गये पाप-पुण्यमें सहभागी होता है तथा अपने सुकर्म एवं दुष्कर्मसे अपनी अगली-पिछली पीढ़ीको तथा अपने समाजको भी प्रभावित करता है। अतएव शास्त्रोंमें पापी, अपराधी व्यक्तियोंकी संगति करनेका तथा उनका अन्न ग्रहण करनेका निषेध मिलता है। व्यक्ति, कुल एवं समाजपर पड़नेवाले अनिष्टकर प्रभावके तारतम्यके अनुसार इन दोषोंकी महापातक एवं लघुपातकके रूपमें गणना की गयी है। महानारायणोपनिषद्‌के अनुसार स्वर्णकी चोरी, ब्रह्महत्या, सुरापान, गुरुपत्नीसे व्यभिचार महापाप हैं तथा इन पातक कर्म करनेवालोंके साथ व्यवहार करने-वाला भी महापातकी है—

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पावसन् ब्रह्महाश्चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरꣳस्तैरिति।
(५। १०। ९)

इसी उपनिषद्‌के एक अन्य स्थल (१। ६८) में शास्त्रविरुद्ध कार्य, ब्रह्मचर्यव्रतका भंग, चौर कर्म एवं भ्रूणहत्याको तथा अन्यत्र (६५। २) गौकी चोरी,

चोरके अन्नका ग्रहण, एकोद्दिष्ट श्राद्धमें भोजन-ग्रहणको गम्भीर पाप माना गया है।

सत्‌युग, त्रेता आदिमें समाज सदाचारकी दृष्टिसे अत्यन्त उन्नत था। राजा प्रजाहितकी दृष्टिसे राज्यकी व्यवस्था इस प्रकारसे करते थे कि प्रजा स्ववर्णाश्रमधर्मका निष्ठासे पालन करनेवाली एवं विद्या तथा सदाचारसे सम्पन्न होती थी। केकय देशके राजा अश्वपति वैश्वानर-विद्याके ज्ञाता थे। इस विद्याको सीखनेके लिये आये हुए ऋषियोंको उन्होंने स्पष्टरूपसे कहा था कि मेरे राज्यमें एक भी चोर, मद्यप, कृपण, अविद्वान्, अनाहिताग्नि (यज्ञ-होम न करनेवाला) एवं व्यभिचारी पुरुष या स्त्री नहीं है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥
(छान्दो० ५ । ११ । ५)

आजके युगमें ऐसे विद्या, धर्म एवं सदाचारसे सम्पन्न राज्यकी कल्पना भी अविश्वसनीय लगती है। किंतु, सदाचारसम्पन्न भारत एक दिन इसी कारण 'भा-रत' था। उपनिषदें कर्मफलमें विश्वास करती हैं तथा यह मानती हैं कि मनुष्य शुभाचरणके द्वाराशीघ्र ही उत्तम योनिमें तथा कुत्सित आचरणके द्वारा निन्दित योनिमें जन्म ग्रहण करता है। मनुष्यकी ऊर्ध्वगति या अधोगति उसके ही सुकृत एवं दुष्कृतपर निर्भर है। (छान्दो० ५ । १० । १७)

महानारायणोपनिषद्‌का कहना है कि जैसे पुष्पित वृक्षकी सुगन्धका दूरसे ही पता लग जाता है, इसी प्रकार पुण्यकर्मका भी दूरसे ही उसकी सत्कीर्तिकी गन्धद्वारा ज्ञान हो जाता है—

यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य दूराद्‌गन्धो वात्येवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गन्धो वाति।

करुणामय भगवान् ऐसी कृपा करें कि यह सम्पूर्ण पृथ्वी अपनी मानव-प्रजाके सदाचार एवं सुकर्मकी पुण्यगन्धसे सदैव सुवासित होती रहे।

सत्कर्मपर भी गर्व नहीं—साधुताकी कसौटी

देवराज इन्द्र अपनी देवसभामें श्रेणिक नामके राजाके साधु-स्वभावकी प्रशंसा कर रहे थे। उस प्रशंसाको सुनकर एक देवताके मनमें राजाकी परीक्षा लेनेकी इच्छा हुई। देवता पृथ्वीपर आये और राजा बाहरसे घूमकर, जिस मार्गसे नगरमें आ रहे थे, उस मार्गमें साधुका वेश बनाकर एक तालाबपर बैठकर मछली मारनेका अभिनय करने लगे।

राजा उधरसे निकले तो साधुको यह विपरीत आचरण करते देखकर बोले—'अरे! आप यह क्या अपकर्म कर रहे हैं?' साधुने कहा—'राजन्! मैं धर्म-अधर्मकी बात नहीं जानता। मछली मारकर उन्हें बेचूँगा और प्राप्त धनसे जाड़ोंके लिये एक कम्बल खरीदूँगा।' आप कोई जन्म-मरणके चक्रमें भटकनेवाले प्राणियोंमेंसे ही जान पड़ते हैं—यह कहकर राजा अपने मार्गसे चले गये।

देवता स्वर्ग लौट आये। पूछनेपर उन्होंने देवराजसे कहा—'सचमुच वह राजा साधु है। समत्वमें उसकी बुद्धि स्थिर है। पापी, असदाचारकी निंदा करना तथा उनसे घृणा करना भी उसने छोड़ दिया है; इसका अर्थ ही है कि उसे अपने सत्कर्मपर गर्व नहीं है।'

क्रियाहीनं कुसाधुं च दृष्ट्वा चित्ते न यश्चलेत्।
तेषां दृढं तु सम्यक्त्वं धर्मे श्रेणिकभूपवत्॥

उपनिषदोंमें सदाचार-सूत्र

(लेखक—श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज तर्कशिरोमणि)

'उपनिषद् केवल आत्ममूलक परलोक शास्त्र ही नहीं हैं' प्रत्युत इनमें निर्दिष्ट सदाचारोंके पालनसे हम ऐह-लौकिक जीवनमें भी—अपने व्यक्तिगत जीवन, कुटुम्ब-जीवन, समाज-जीवन एवं राष्ट्रजीवनमें भी महान् उत्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं। औपनिषद शिक्षासूत्रके नियन्त्रणमें रहता हुआ मानव अधिकार-योग्यतानुसार अपने लक्ष्यमें पहुँच सकता है। उसके लिये उपनिषदोंमें सदाचार-सम्बन्धी आदेश इस प्रकार दिये गये हैं—

(१) **मातृदेवो भव**—माताके भक्त बनो। (२) **पितृदेवो भव**—पिताके भक्त बनो। (३) **आचार्यदेवो भव**—आचार्यके भक्त बनो। (४) **यानि अनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि**—सबके सद्‌गुणोंका ही ग्रहण करो। दुर्गुणोंका नहीं। (५) **अतिथिदेवो भव**—अतिथियोंका सत्कार करो। (६) **वृद्धसेवया विज्ञानम्**—वृद्धोंकी सेवासे दिव्य ज्ञान होता है। (७) **सत्यं वद**—सदा सत्य भाषण करो। (८) **धर्मं चर**—धर्मका आचरण करो। (९) **मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि**—किसीकी हिंसा मत करो, अर्थात् किसीको कष्ट न दो। (१०) **देवकार्यान्न प्रमदितव्यम्**—देवकार्यको कभी विस्मृत मत करो। (११) **मा गृधः कस्य स्विद् धनम्**—किसीकी सम्पत्तिपर नीयत मत बिगाड़ो। (१२) **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः**—कार्य करते हुए सौ वर्षोंतक जीवित रहनेकी इच्छा रखो। (१३) **स्वाध्यायान्मा प्रमदः**—स्वाध्यायसे प्रमाद न करो। (१४) **भूत्यै न प्रमदितव्यम्**—सम्पत्तिका दुरुपयोग न करो। (१५) **नैषा तर्केण मतिरापनेया**—कुतर्कद्वारा वेद-पुराणोंका खण्डन मत करो।

(१६) **असन्नेव स भवति असद्ब्रह्मेति वेद चेत्**—जो ईश्वरको नहीं जानता-मानता, वह नष्ट हो जाता है। (१७) **अस्तीत्येवोपलब्धव्यः**—ईश्वर सदा सर्वत्र है, ऐसा सोचकर उसकी प्राप्तिका प्रयत्न करना चाहिये। (१८) **ऋतून् न निन्द्यात् तद्‌व्रतम्**—किसी भी ऋतुकी निन्दा न करे, यह व्रत है। (१९) **ब्राह्मणान्न निन्द्यात् तद् व्रतम्**—ब्राह्मणोंकी निन्दा न करे, यह व्रत है। (२०) **अन्नं न निन्द्यात् तद् व्रतम्**—अन्नकी निन्दा नहीं करनी चाहिये, यह व्रत है। (२१) **स्त्रीणां भूषणं लज्जा**—स्त्रियोंकी शोभा लज्जा है। (२२) **विप्राणां भूषणं वेदः**—ब्राह्मणोंका भूषण (सौन्दर्य) वेद है। (२३) **सर्वस्य भूषणं धर्मः**—सबका भूषण धर्म है। (२४) **सुखस्य मूलं धर्मः**—सुखका मूल धर्म है। (२५) **धर्मस्य मूलमर्थः**—यज्ञ, दान, इष्ट, आपूर्त आदि धर्मका मूल धन है। (२६) **इन्द्रिय-जयस्य मूलं विनयः**—इन्द्रियोंकी जयका मूल विनय है। (२७) **विनयस्य मूलं वृद्धसेवा**—विनयका मूल वृद्धोंकी सेवा है। (२८) **विद्या पुनः सर्वमित्याह गुरुः**—विद्या ही सब कुछ है, ऐसा देवाचार्य बृहस्पतिका मत है।

सदाचारकी रक्षा सदा करनी चाहिये

श्रेष्ठ पुरुष पापाचारी (दूसरोंका अहित करनेवाले) प्राणियोंके पापकर्मोंका प्रतिसरण नहीं करते—अर्थात् बदलेमें उनके साथ वैसा बर्ताव नहीं करते। वे उत्तम सदाचारसे विभूषित होते हैं। सदाचार ही सत्पुरुषोंका भूषण है; अतः ऐसे उत्तम सदाचारकी सदा रक्षा करनी चाहिये।

—भगवती सीता (वाल्मीकि० रा० ६। ११३। ४३)

ब्राह्मण एवं आरण्यक-ग्रन्थ और सदाचार

(लेखक—साहित्यरत्न पं० श्रीगुरुरामप्यारेजी अग्निहोत्री, एम्० ए०)

ब्राह्मण-ग्रन्थ

आपस्तम्ब आदिके **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** (आपस्तम्बश्रौतसूत्र २४ । १ । ३१, सत्याषाढश्रौत० १ । १ । ७, शु० य० प्रा० प्र० १ । २ आदिके) इस सिद्धान्तानुसार वेदोंके मन्त्र और ब्राह्मण—ये दो विभाग हैं । वस्तुतः ब्राह्मणग्रन्थ यज्ञ और कर्मकाण्डके आधार-स्तम्भ हैं । किसी भी धर्मकी विशेषता कर्मकाण्डका क्रियात्मक रूप ही होता है । मन्त्र और ब्राह्मण एक दूसरेके पूरक होते हैं—**'मन्त्रब्राह्मणात्मकोवेदः'**के अनुसार मन्त्र और ब्राह्मण मिलकर वेद होते हैं । ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें विधि, अर्थवाद और उपनिषद्—ये तीन खण्ड होते हैं । विधिभागमें कर्मका विधानात्मक विषय है, जब कि अर्थवादमें प्ररोचनात्मक और उपनिषद्में तत्त्वाभिव्यक्तिका प्रकरण प्रतिपादित किया गया है । ब्राह्मण-ग्रन्थ संस्कृति और सदाचारके मूलतत्त्व माने गये हैं । मन्त्र और ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी अलग-अलग ११३० अनुवृत्तियोंका पता चलता है, जिनमें आज मन्त्रानुवृत्तिकी केवल ११ संहिताएँ और ब्राह्मण-ग्रन्थोंके १८ अनुग्रन्थ ही उपलब्ध हैं । इन ग्रन्थोंमें सदाचार और संस्कृतिके भी अनेक विषय हैं । ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें मुख्यतः यज्ञकर्मकी महत्ताका प्रतिपादन हुआ है । **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'** (शतपथब्रा० १ । ७ । १ । ५) के अनुसार यज्ञ ही श्रेष्ठ कर्म है और यही सदाचार है । जो कुछ संसारमें कर्म हो रहा है, उसका उत्तमांश यज्ञ ही है । यज्ञसे मानव-कल्याण होता है—**पाप्मानं ह्येष हन्ति यो यजते** (षड्विंशब्रा० ३ । १ । ३)

सर्वस्मात् पाप्मनो निर्मुच्यते
य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति
(शतपथब्रा० २ । २ । ३ । ६)
सर्वां वै पापकृत्यां सर्वां ब्रह्महत्यामपमृजन्ति योऽश्वमेधेन यजते (शतपथब्रा० १३ । ५ । ४ । १)

'यज्ञ करनेवाला पापका विनाश करता है, अग्निहोत्र यज्ञ करनेवाला पापोंसे मुक्त हो जाता है और जो अश्वमेध यज्ञ करता है, वह पाप और ब्रह्महत्यासे भी मुक्त हो जाता है । 'पाप' अर्थात् बुरे कर्म न करना ही सदाचार है—

अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति
(शतपथब्रा० ३ । १ । ३ । १८)

झूठ बोलनेवालेको अपवित्र कहा गया है । ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें सत्य-भाषणपर बड़ा जोर दिया गया है । सत्य बोलना, सत्य संकल्पमें लीन रहना, सत्य-कर्म करना ब्राह्मण-ग्रन्थोंके उद्देश्य हैं—

एतद्वाचश्छिद्रं यदनृतम् । (ताण्ड्यब्रा० ८ । ६ । १३)

असत्य भाषण करनेवालेका तेज नष्ट हो जाता है । सत्यवादको अजेय माना गया है । द्वेष करनेवाला भी पापी माना गया है । चोरी करना, हत्या करना, डाका डालना आदि-आदि दुष्कर्मोंकी श्रेणीमें गिनाये गये हैं और अभिमानको पतनका द्वार कहा गया है—

तस्मान्नातिमन्येत पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः ।
(शतपथब्रा० ५ । १ । १ । १)

ब्राह्मणग्रन्थ मानव-जीवनके लिये बड़े ही उपादेय हैं । सदाचारके जो उपदेश इन ग्रन्थोंमें संगृहीत हैं, वे संसारके अन्य ग्रन्थोंमें सर्वथा अप्राप्य हैं । वस्तुतः ब्राह्मण-ग्रन्थ भारतीय संस्कृतिके आधार और ज्ञानके अथाह सागर हैं । सदाचार-सम्बन्धी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विचारोंका प्रतिपादन ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें किया गया है ।

आरण्यक-ग्रन्थ

ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी ही भाँति आरण्यकोंकी भी मान्यता है । ब्राह्मण और आरण्यक-ग्रन्थोंका अन्योन्य-सम्बन्ध दोनों एक दूसरेके पूरक हैं ।

आश्रमीय सदाचार

बौधायनधर्मसूत्र-(३ । ७)में आरण्यक-ग्रन्थोंको ब्राह्मण-ग्रन्थ भी कहा गया है। उदाहरणार्थ काण्व माध्यंदिन शतपथब्राह्मण और बृहदारण्यकोपनिषद्। इसमें उपनिषद्, आरण्यक तथा ब्राह्मण तीनों सम्मिलित हैं। आरण्यक-ग्रन्थोंमें रहस्यानुभूतिका विशेष प्रतिपादन किया गया है। इसीलिये इन्हें रहस्य-ग्रन्थोंकी भी संज्ञा दी जाती है। वानप्रस्थावस्थामें घोर निर्जन जंगलोंमें निवास करनेवाले ऋषि-मुनियोंने जिसका गुरुओंसे अध्ययन किया था और अध्यात्मज्ञानका संग्रह जिन ग्रन्थोंमें किया, वे ही आरण्यक-ग्रन्थ हैं। मुख्यतः वनमें पढ़ाये जाने योग्य होनेसे उनका नाम आरण्यक हुआ—**'आरण्य एव पाठ्यत्वादारण्यकमितीर्यते ।'** जिस प्रकार गृहस्थ-जीवनके कार्योंका विश्लेषण ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें है, उसी प्रकार वानप्रस्थ-आश्रमवासियोंके लिये यज्ञ, महाव्रत, सत्र आदिका सूक्ष्म विश्लेषण भी है।

इन ग्रन्थोंमें वर्णाश्रमका भी पूर्ण विकास स्पष्ट हुआ है। यज्ञानुभूतिकी दार्शनिक व्याख्या आरण्यकोंमें पायी जाती है। आरण्यकोंमें सकाम कर्मके साथ ही कर्मफलके प्रति श्रद्धाके भावका अभाव है। स्वर्गक्षय होनेके कारण सत्, चित्, आनन्दका मूल स्रोत कर्म-साधनामें नहीं है, बल्कि ज्ञान-मार्ग ही उसका एकमात्र साधन माना गया है। आरण्यकोंमें अङ्कुरित होकर ज्ञानकर्मका सर्वोच्च सिद्धान्त उपनिषदोंमें पल्लवित और पुष्पित हुआ है, जो सदाचारका आधारभूत तत्त्व है।

सदाचारका जो रहस्यात्मक विश्लेषण आरण्यकोंमें मिलता है, वह सर्वथा मौलिक और चिन्तनीय है। ब्राह्मणग्रन्थोंकी तरह आरण्यकोंकी भी संख्या १,१३० ही आनुमानित है, किंतु वर्तमान समयमें थोड़ेसे ही आरण्यक ग्रन्थ प्राप्त हैं, जिनमें ऋग्वेदीय ऐतरेयारण्यक तथा कृष्ण-यजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक अधिक प्रसिद्ध हैं। बृहदारण्यकोपनिषद्में संन्याससम्बन्धी सदाचारका महत्त्वपूर्ण वर्णन है—

एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति । एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति । एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते । किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः । (४ । ४ । २२)

'आत्माको जान लेनेपर साधक मुक्त हो जाता है। ब्रह्मलोककी कामना करनेवाले संन्यास-मार्गपर आते हैं। प्राचीन विद्वान् प्रजाकी इच्छा नहीं करते और कहते हैं कि आत्मा और लोक ही उन्हें इष्ट हैं। सदाचारकी इससे बढ़कर दूसरी कोई युक्ति नहीं है। यह आत्म-संयमका सुन्दर संकेत है, यद्यपि आजका मानव सदाचारकी इन अलौकिक अनुभूतियोंसे नितान्त अनभिज्ञ हो गया है।

इस तरह ब्राह्मण और आरण्यक-ग्रन्थोंमें सदाचारका चूडान्त विकास हुआ है। लौकिकतासे परे जो आचरण होता है, वही सदाचार है। यह सदाचार आत्म-कल्याण-का एक प्रशस्त मार्ग है, जिसका अनुगमन करनेपर मानव लौकिकतासे त्राण पा जाता है। सदाचारके अलौकिक सूत्रोंसे वेदका भण्डार भरा हुआ है। **'आचार्यदेवो भव, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव'** आदि सदाचारकी सूक्तियोंके सिवा ध्यानावस्थित होकर ऋषियोंने जिन सूक्तोंका विन्यास किया है, वे आदर्श ही नहीं, चिन्तनीय एवं अनुकरणीय हैं और ये ही हैं—नासदीयसूक्त, दानसूक्त, श्रद्धासूक्त आदि सभ्याचरणके मूल स्तम्भ। पुरुषसूक्त इन सबसे महत्त्वपूर्ण है।

ऋग्वेदमें—**'उत देव उत हितं देवा उन्नमथा पुनः'** (१० । १३७ । १) 'देवो! मुझ पतितको उठाओ,' **'एनो मा निगाम'** (१० । १२८ । ४) मैं पापोंसे लिप्त न हूँ। क्योंकि **'ऋतस्य पन्था न तरति दुष्कृतः'** (९ । ७३ । ६) दुष्कर्मी व्यक्ति सत्यका पथ पार नहीं कर सकते। अतः **'स्वस्ति पन्थामनुचरेम'** (५ । ५१ । १५) हम कल्याणकारी पथके पथिक हों इत्यादि।

यजुर्वेदमें—**ऋतस्य पंथा प्रेत** (७ । ४५)-सत्यके पथपर चलो, **'इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि** (१ । ५)

मैं असत्यसे बचकर सत्यका अनुगामी बनूँ। **'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'** (वाजस० ३६ । १८) हमसब आपसमें मित्रकी दृष्टिसे देखें, इत्यादि सदाचारकी अमूल्य सूक्तियाँ हमें सदाचारकी दिशाकी प्रेरणा दे रही हैं।

अथर्ववेदमें—**'मा जीवेभ्यः प्रमदः'** (८ । १ । ७)प्राणियोंकी उपेक्षा मत करो। **'शतहस्तात् समाहर सहस्रेभ्यश्च संकिर'**—सैकड़ों हाथोंसे धन इकट्ठा करो और हजारों हाथोंसे बाँटो, **'सर्वमेव शमस्तु नः'** (१९ । ९ । १४) हमारे लिये सभी कल्याणकारी हों, इत्यादि सूक्तियोंमें भी सदाचारके उपदेश दीप्तमान् हो रहे हैं।

सदाचारके विषयमें ये महत्त्वपूर्ण मन्त्र हैं । वेदोंके अध्ययन-मनन और चिन्तनसे स्पष्ट है कि सदाचार ही अनादिकालसे मानवजीवनका महत्त्वपूर्ण व्रत रहा है। सदाचारसे ही किसी भी जाति या देशकी संस्कृतिका निर्माण होता है । सदाचारके अभावमें संस्कृतिका कोई स्थायित्व नहीं होता । संसारमें एकमात्र भारतीय संस्कृतिकी ही अक्षुण्णता रही है; क्योंकि यह सदाचारनिष्ठ है।

ब्राह्मण और आरण्यक वेदोंके अभिन्न अङ्ग हैं । यही कारण है कि इन ग्रन्थोंमें जिन शाश्वत सदाचारके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया है, वे आज भी मौलिक और अनुकरणीय माने जाते हैं । भारतीय संस्कृति सदाचारके इन्हीं अपूर्व सिद्धान्तोंसे गृहीत और संदर्भित है ।

ऐतरेयब्राह्मणकी एक सदाचार-कथा

(लेखक—डा० श्रीइन्द्रदेवसिंहजी आर्य, एम्० ए० एल्-एल्० बी०, साहित्यरत्न, आर० एम्० पी०)

ब्राह्मणग्रन्थोंमें सदाचारके अनेक प्रेरणा-स्रोत हैं, ऐतरेयब्राह्मणका हरिश्चन्द्रोपाख्यान वैदिक साहित्यका अमूल्य रत्न है । इसमें इन्द्रने रोहितको जो शिक्षा दी है, उसका टेक (Refrain) है—**'चरैवेति' 'चरैवेति'**—चलते रहो, बढ़ते रहो, इस उपाख्यानके अनुसार सैकड़ों स्त्रियोंके रहते हुए भी राजा हरिश्चन्द्रके कोई संतान न थी । उन्होंने पर्वत और नारद इन दो ऋषियोंसे इसका उपाय पूछा । देवर्षि नारदने उन्हें वरुणदेवकी आराधनाकी सलाह दी। राजाने वरुणकी आराधना की और पुत्र-प्राप्तिपर उससे उनके यजनकी भी प्रतिज्ञा की । इससे उन्हें पुत्र प्राप्त हुआ और उसका नाम रोहित रखा । कुछ दिन बाद जब वरुणने हरिश्चन्द्रको अपनी प्रतिज्ञाका स्मरण कराया तो उन्होंने उत्तर दिया—जबतक शिशुके दाँत नहीं उत्पन्न होते, वह शिशु अमेध्य रहता है, अतः दाँत निकलनेपर यज्ञ करना उचित होगा। (ऐतरेय० ७ । ३३ ।१-२)

वरुणने बच्चेके दाँत निकलनेपर जब उन्हें पुनः स्मरण दिलाया, तब हरिश्चन्द्रने कहा—'अभी तो इसके दूधके ही दाँत निकले हैं, यह अभी निरा बच्चा ही है । दूधके दाँत गिरकर नये दाँत आ जाने दीजिये, तब यज्ञ करूँगा । फिर दाँत निकलनेपर वरुणने कहा—'अब तो बालकके स्थायी दाँत भी निकल आये; अब तो यज्ञ करो ।' इसपर हरिश्चन्द्रने कहा—'यह क्षत्रियकुलोत्पन्न बालक है। क्षत्रिय जबतक कवच धारण नहीं करता, तबतक किसी यज्ञीय कार्यके लिये उपयुक्त नहीं होता । बस, इसे कवच-शस्त्र धारण करनेके योग्य हो जाने दीजिये, फिर आपके आदेशानुसार यज्ञ करूँगा ।' वरुणने उत्तर दिया—'बहुत ठीक ।' इस प्रकार रोहित सोलह-सत्तरह वर्षोंका हो गया और शस्त्र-कवच भी धारण करने लगा । तब वरुणने फिर टोका । हरिश्चन्द्रने कहा—'अच्छी बात है । आप कल

पधारें । सब यज्ञीय व्यवस्था हो जायेगी । (ऐतरेय० (७ । ३३ । १४)

हरिश्चन्द्रने रोहितको बुलाकर कहा—तुम वरुण-देवकी कृपासे मुझे प्राप्त हुए हो, इसलिये मैं तुम्हारे द्वारा उनका यजन करूँगा । किंतु रोहितने यह बात स्वीकार नहीं की और अपना धनुष-बाण लेकर वनमें चला गया । अब वरुणदेवकी शक्तियोंने हरिश्चन्द्रको पकड़ा और वे जलोदर रोगसे ग्रस्त हो गये । पिताकी व्याधिका समाचार जब रोहितने अरण्यमें सुना, तब वह नगरकी ओर चल पड़ा । पर बीच मार्गमें ही इन्द्र पुरुषका वेष धारण कर उसके समक्ष प्रकट हुए और प्रतिवर्ष उसे एक-एक श्लोकद्वारा उपदेश देते रहे । यह उपदेश पाँच वर्षोंमें पूरा हुआ और तबतक रोहित अरण्यमें ही वासकर उनके उपदेशका लाभ उठाता रहा । इन्द्रके पाँच श्लोकोंका वह उपदेश-गीत इस प्रकार है—

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम ।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा चरैवेति ॥
(ऐतरेय ब्रा० ७ । ३३ । १५ । १)

'रोहित ! हमने विद्वानोंसे सुना है कि श्रमसे थककर चूर हुए बिना किसीको धन-सम्पदा प्राप्त नहीं होती । बैठे-ठाले पुरुषको पाप धर दबाता है । इन्द्र उसीका मित्र है, जो बराबर चलता रहता है—थककर, निराश होकर बैठ नहीं जाता । इसलिये चलते रहो ।'

पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः ।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताश्चरैवेति ॥ २ ॥

'जो व्यक्ति चलता रहता है, उसकी पिंडलियाँ (जाँघे) फल देती है (अन्योंद्वारा सेवा होती है) । उसका आत्मा वृद्धिंगत होकर आरोग्यादि फलका भागी होता है और धर्मार्थ प्रभासादि तीर्थोंमें सतत चलनेवालेके अपराध और पाप थककर सो जाते हैं । अतः चलते ही रहो ।

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः ।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति ॥ ३ ॥

'बैठनेवालेकी किस्मत बैठ जाती है, उठनेवालेकी उठती, सोनेवालेकी सो जाती और चलनेवालेका भाग्य प्रतिदिन उत्तरोत्तर चमकने लगता है । अतः चलते ही रहो ।'

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरंश्चरैवेति ॥ ४ ॥*

'सोनेवाला पुरुष मानो कलियुगमें रहता है, अँगड़ाई लेनेवाला व्यक्ति द्वापरमें पहुँच जाता है और उठकर खड़ा हुआ व्यक्ति त्रेतामें आ जाता है तथा आशा और उत्साहसे भरपूर होकर अपने निश्चित मार्गपर चलनेवालेके सामने सतयुग उपस्थित हो जाता है । अतः चलते ही रहो ।'

चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम् ।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति ॥
(ऐत० ७ । ३३ । १५ । ५)

'उठकर कमर कसकर चल पड़नेवाले पुरुषको ही मधु मिलता है । निरन्तर चलता हुआ ही स्वादिष्ट फलोंका आनन्द प्राप्त करता है; सूर्यदेवको देखो जो सतत चलते रहते हैं, क्षणभर भी आलस्य नहीं करते । इसलिये जीवनमें भौतिक और आध्यात्मिक मार्गके पथिकको चाहिये कि बाधाओंसे संघर्ष करता हुआ चलता ही रहे, आगे बढ़ता ही रहे ।

इस सुन्दर उपदेशमें रोहितको इन्द्रने बराबर चलते रहनेकी शिक्षा दी है, जो उन्हें किसी ब्रह्मवेत्तासे प्राप्त हुई थी । गीतका मूल उद्देश्य आत्माका उद्बोधन है, जिसमें बताया गया है कि क्या अभ्युदय और क्या निःश्रेयस—दोनोंकी उन्नतिके पथिकको बिना थके आगे बढ़ते रहना चाहिये; क्योंकि चलते रहनेका ही नाम जीवन है । ठहरा हुआ जल, रुका हुआ वायु गंदा हो जाता है । बहते हुए झरनेके जलमें ताजगी और जिन्दगी

* यह मन्त्र स्वल्पान्तरसे मनुस्मृति (९ । ३०२)में भी प्राप्त होता है ।

रहती है, प्रवाहशील पवनमें प्राणोंका भंडार रहता है। कोटिशः वर्षोंसे अनन्त आकाशमें निरन्तर चलते हुए सूर्यदेवपर दृष्टि डालिये, वह असंख्य लोक-लोकान्तरोंका भ्रमण करता हुआ हमारे द्वारपर आकर हमें निरन्तर उपदेश दे रहा है । वेद भगवान् कहते हैं— **'स्वस्ति पथामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव'** अर्थात् कल्याणमार्गपर चलते रहो, चलते रहो—जैसे सूर्य और चन्द्र सदा चलते रहते हैं। ऐतरेय भी कह रहा है—**'चरैवेति, चरैवेति ।'** आत्मा उनका ही वरण करता है जो अपने मार्गमें आगे कदम उठाते बढ़ते जाते हैं । भगवान् उनका कल्याण निश्चित रूपसे स्वयं करते हैं ।

अन्तमें रोहितको वनमें ही अजीगर्त मुनि अपने तीन पुत्रोंके साथ भूखसे संतप्त दृष्टिगोचर हुए। रोहितने उनके एक पुत्र शुनःशेपको उन्हें सौ गायें देकर यज्ञके लिये मोल ले लिया । हरिश्चन्द्रका यज्ञ आरम्भ हुआ । उसके यज्ञमें विश्वामित्र होता, जमदग्नि अध्वर्यु, वसिष्ठ ब्रह्मा और अयास्य उद्गाता बने । शुनःशेपने विश्वामित्रके निर्देशसे 'कस्य नूनम् अभित्वादेव' इत्यादि मन्त्रसे प्रजापति, अग्नि, सविता और वरुण आदि देवोंकी स्तुति और प्रार्थना की । इससे वह समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो गया । वरुणदेवने भी संतुष्ट होकर राजा हरिश्चन्द्रको रोगसे मुक्ति प्रदान की । इस प्रकार इन्द्रके उपदेशसे देवोंकी स्तुति, प्रार्थना और उपासना तथा यज्ञकी सफलतासे रोहितका जीवन भी सफल और आनन्दसे परिपूर्ण हो गया । निदान, ऐतरेय ब्राह्मणका निष्कर्ष यह है कि सदाचारके मार्गपर सदा चलते रहना चाहिये । **'चरैवेति-चरैवेति'** सदाचारका शाश्वत संदेश है ।

श्रुति-स्मृति-पुराणोंमें सदाचार-दृष्टि

(लेखक—डॉ० श्रीसर्वानन्दजी पाठक, एम्० ए०, पी-एच्० डी० (द्वय), डी० लिट्०)

मनुका आदेश है कि वेद तथा स्मृति-वाङ्मयमें प्रतिपादित अपने विहित कर्मोंमें धर्ममूलक सदाचारका निरालस्यभावसे पालन करना चाहिये । इस सदाचारके पालनसे ऐहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याणकी प्राप्ति होती है । उनका यह आदेश विश्वके अशेष सम्प्रदायोंमें किसी-न-किसी रूपमें अनुसृत होता है । विश्वमें कोई भी ऐसा आस्तिक सम्प्रदाय नहीं है जिसमें सदाचारको अनुपादेय माना जाता हो—चाहे वह सम्प्रदाय जैन हो, बौद्ध हो, सिक्ख हो, पारसी हो, ईसाई हो या मुस्लिम आदि जो भी हो । सदाचारकी आदर्शरूपसे प्रायः सर्वत्र अभिमान्यता है । वह नीति या प्रवृत्ति जो जीवात्माके तमस्से ज्योतिकी ओर या मृत्युसे अमृतकी ओर और संसारसे ब्रह्मकी ओर गमन करनेमें मूक प्रेरक हो, सदाचार है । षडङ्ग वेद, अशेष स्मृतियाँ, पुराण, जैन सूत्राङ्ग, बौद्ध त्रिपिटक, अवेस्ता, गुरुग्रन्थ साहेब, बाइबिल एवं कुरान-शरीफ आदि विश्वके समस्त आस्तिक वाङ्मय निष्कृष्ट आदर्शरूपसे सदाचारकी ही शिक्षा देते हैं और तद्विपरीत कदाचार या दुराचारको परित्याज्य बतलाते हैं । क्या भारतीय या अन्य, सभी सम्प्रदाय अन्तःकरणसे असदाचारकी उपेक्षा करते हैं ।

अपरा एवं परा दोनों विद्याओंद्वारा भी सदाचरणका ही निर्देश है । अपरा विद्या निर्गुण परमतत्त्वके साथ-साथ यज्ञानुष्ठान आदि विहित कर्मकलापोंके द्वारा सगुण परमेश्वर या स्वर्गादि पुण्यलोकोंकी प्राप्तिमें सहायिका है और परा विद्या—उपनिषद्, गीता आदि—निर्गुण, निरञ्जन, अक्षर-तत्त्वके साथ संयोग करा देती है । धर्म और सदाचार—दोनों एक दूसरेके पर्यायवाचक शब्द

हैं। धर्म सदाचार है और सदाचार धर्म है; दोनों परस्परमें अभिन्नार्थक हैं। मनुके अनुसार धर्मके चार लक्षण हैं। उनमें सदाचार अन्यतम है। सदाचारके पालनसे श्रौत-स्मार्त-धर्मका पालन स्वयमेव हो जाता है और श्रुति, स्मृति आदि सच्छास्त्रोंमें निष्णात होनेपर भी यदि मनुष्य व्यवहारतः सदाचारी नहीं हुआ तो अज्ञ ही है। विश्वके धर्मोंका मूल उद्गम वेद ही है। वेदके ही सिद्धान्तोंका प्रतिपादन प्रकारान्तरसे सर्वत्र हुआ है। जो सिद्धान्त वेदमें विहित हैं, वे ही विश्वके दूसरे साहित्योंमें भी हैं और जो वेदमें नहीं हैं, वे किसी भी साहित्यमें नहीं हैं। समस्त धर्म वेदमूलक हैं।

वेद और सदाचार—एकान्त जितेन्द्रिय एवं मनोजयी ऋषि-मुनियोंके श्रुतिगोचर होनेके कारण वेद 'श्रुति' शब्दसे अभिहित होता है। 'विद् ज्ञाने'—धातुसे निष्पन्न होनेके कारण वेद स्वयं भी ज्ञानका पर्यायी है। वेद ज्ञान है और ज्ञान वेद है। एक ही तत्त्वके दो रूप हैं। पुनः वेदोक्त सिद्धान्तोंके स्मरणके कारण धर्मशास्त्रका नाम स्मृति है। आत्महितैषी पुरुषोंके लिये स्मार्त आदेश सदा स्मरणीय हैं। ये दोनों शास्त्रप्रतिकूल तर्कके योग्य नहीं हैं, क्योंकि इन श्रुति-स्मृतियोंसे ही धर्मकी प्रादुर्भूति हुई है। इस शास्त्रद्वयमें कहीं भी अधर्मकी विधेयता अनुमोदित नहीं हुई है। अधर्म ही असदाचार है।

वैदिक साहित्यमें पराविद्यासम्बन्धी सिद्धान्तका भी यत्र-तत्र दर्शन होता है। ताण्डयब्राह्मण (४।४।३) के अनुसार वाक्‌रूप एकाक्षर अर्थात् शब्द-ब्रह्म ही सृष्टिमें सर्वप्रथम प्रकट हुआ। यह वाग्देवी 'ऋततत्त्व' की प्रथमजा है। यह वाक् वेदों—अनन्त ज्ञान-विज्ञानकी माता और अमृतकी नाभि है। वहाँ प्रार्थना की गयी है कि यह प्रसन्न होती हुई हमारे वाग्-यज्ञ अर्थात् यज्ञवेदीपर पधारे और इसे निर्विघ्न सफल करनेके लिये हमारी वन्दना सुने—'देवी सुहवा मेऽस्तु।' (तैत्तिरीय ब्राह्म० २।८।८)

सदाचार और दीर्घायुष्य—सदाचारके पालनसे मनुष्य दीर्घायु होता है, अभिलषित संतान (पुत्र-पौत्रादि) को प्राप्त करता है, अक्षय धन-सम्पत्ति पाता है। सदाचरण सभी अनिष्ट लक्षणोंको नष्ट कर देता है। यदि मनुष्य वर्ण, विद्या, विभवादि समस्त सल्लक्षणोंसे रहित होकर भी सदाचारगुणसे सम्पन्न है तो वह शास्त्रोंके अनुसार सौ वर्षोंकी आयु प्राप्त करता है। (मनु ४। १५६, १५८) किंतु तद्विपरीत अर्थात् दुराचारी मनुष्य वर्ण, विद्या, विभव, सौन्दर्यादि सुलक्षणोंसे सम्पन्न होनेपर भी समाजमें निन्दाका पात्र बनता है। वह विविध दुःखभागी, रोगग्रस्त एवं अल्पायु हो जाता है।*

जो सदाचारशील मनुष्य चौबीस, चौवालीस अथवा अड़तालीस वर्षोंतक ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए यज्ञादिका अनुष्ठान करते हैं, वे नीरोग रहते हुए सौ वर्षपर्यन्त जीवित रहते हैं। जो ब्रह्मज्ञानी उपासक होते हैं, उनकी मृत्यु उनकी इच्छाके अधीन होती है। महिदास (या महीधर) नामक एक ब्रह्मोपासक ज्ञानी हो गये हैं, जो कई सौ वर्षोंतक जीवित रहे। अतः जो चिरजीवी होना चाहते हैं, उन्हें ब्रह्मज्ञानरूप उपासना करनी चाहिये। दीर्घायुष्य सदाचारका अन्यतम फल है।

पुराण और सदाचार—सदाचारोंके आचरण करनेसे इहलोक और परलोक—दोनों जगह पतनका सामना नहीं करना पड़ता। सदाचारी पुरुष दोनों लोकोंमें विजयी होते हैं। पुराणके अनुसार 'सत्' शब्दका अर्थ साधु है और साधु वही है, जो दोषरहित हो। उस साधु पुरुषका जो आचरण होता है, उसीको सदाचार कहते हैं।' सदाचारी बुद्धिमान् पुरुषको स्वस्थ चित्तसे ब्राह्ममुहूर्तमें जगकर अपने धर्म तथा धर्माविरोधी अर्थका

* दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः। दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥
(मनु० ४। १५७)

चिन्तन करना चाहिये तथा जिसमें धर्म और अर्थकी क्षति न हो ऐसे कामका भी चिन्तन करना चाहिये। इस प्रकार दृष्ट और अदृष्ट अनिष्टकी निवृत्तिके लिये धर्म, अर्थ और काम—इस त्रिवर्गके प्रति समान भाव रखना चाहिये। धर्मविरुद्ध अर्थ और काम दोनोंका त्याग कर देना चाहिये। ऐसे धर्मका भी आचरण नहीं करना चाहिये, जो उत्तरकालमें दुःखमय अथवा समाजविरुद्ध सिद्ध हो। नित्य कर्मोंके सम्पादनके लिये नदी, तडाग, पर्वतीय झरनोंमें अथवा कुएँसे जल खींचकर उसके पासकी भूमिपर स्नान करना चाहिये।

तर्पणरूप सदाचार—स्नान करनेके अनन्तर शुद्ध वस्त्र धारण कर देवता, ऋषिगण और पितृगणका तर्पण भी अवश्य करना चाहिये। तर्पणकालमें देव ऋषि प्रजापति तथा पितृगण और पितामहोंकी तृप्तिके लिये तीन-तीन बार जल छोड़ना चाहिये। इसी प्रकार प्रपितामहोंको संतुष्टकर मातामह (नाना) और उनके पिता प्रमातामह (परनाना) तथा उनके पिता (वृद्ध प्रमातामह)को भी सावधानतापूर्वक पितृतीर्थसे जलदान करना चाहिये। इसके साथ ही माता, मातामही, प्रमातामही, गुरु, गुरुपत्नी, मामा, मित्र, राजा और इच्छानुसार अभिलषित अन्य सम्बन्धीके लिये भी जलदान करना चाहिये। तदनु देव, असुर, यक्ष, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, कूष्माण्ड, पशु, पक्षी, जलचर, स्थलचर, वायुभक्षक आदि—सभी प्रकारके जीवोंको तृप्त करना चाहिये। नरकोंमें यातना भोगनेवाले प्राणियोंको, बन्धु एवं अबन्धुओंको, जन्मान्तरके बन्धुओंको और क्षुधा-तृष्णासे व्याकुल जीवोंको तिलोदक देकर तृप्त करना चाहिये। तर्पण सद्भावका सदाचरण है।

अतिथि-सत्कार—गृहस्थके लिये अतिथि-पूजनका भी आदेश है। यदि कोई अतिथि घरमें आ जाय और उसका आतिथ्य स्वागत न किया जाय तो वह अतिथि पाप देकर और तदाचरित पुण्य लेकर लौट जाता है। उस आगत अतिथिको साधारण पुरुषमात्र न समझना चाहिये; क्योंकि धाता, प्रजापति, इन्द्र, अग्नि, वसुगण और अर्यमा—ये समस्त देवगण अतिथिमें प्रविष्ट होकर अन्न भोजन करते हैं। अतः मनुष्यको सदा अतिथि-पूजाके लिये प्रयत्न करना चाहिये। जो पुरुष अतिथिको भोजन कराये बिना भोजन करता है, वह तो केवल पाप ही भोग करता है। गृहस्थाश्रमके पुरुषके लिये दोनों समय संध्यावन्दन तथा अग्निहोत्रादि-कर्मके साथ नित्यप्रति देवता, गौ, ब्राह्मण, सिद्धगण, वयोवृद्ध पुरुष तथा आचार्यकी पूजाको करना अनिवार्य है। इसी प्रकार विष्णुपुराणमें आभ्युदयिक आदि अनुष्ठेय विविध श्राद्धोंका, विविध विधि-विधानोंके साथ साङ्गोपाङ्ग विवेचन हुआ है। श्राद्धकर्ममें विहित-अविहित वस्तुओंके साथ पात्रापात्रका भी पूर्ण विचार है। उन्हें उसी प्रकार आचरित करना चाहिये। श्राद्ध श्रद्धाका सदाचार है।

वर्णधर्म—चातुर्वर्ण्यकी सृष्टिके पश्चात् उन वर्णोंके लिये विहित कर्मोंका विधान किया गया है; यथा—ब्राह्मणका कर्तव्य है कि वह दान, यजन और स्वाध्याय करे तथा वृत्तिके लिये अन्योंसे यज्ञानुष्ठान कराये, पढ़ाये और न्यायानुसार प्रतिग्राही बने। क्षत्रियको उचित है कि वह ब्राह्मणोंको यथेच्छ दान दे, विविध यज्ञोंका अनुष्ठान और सच्छास्त्रोंका अध्ययन करे। शस्त्र-धारण और पृथ्वीका पालन उसका उत्तम कर्त्तव्यकर्म है। लोकपितामह ब्रह्माने वैश्यके लिये पशुपालन, वाणिज्य और कृषि—ये तीन कर्म आजीविकाके रूपमें बतलाये हैं। अध्ययन, यज्ञ और दान आदि कर्म भी उस (वैश्य)-के लिये विहित हैं। शूद्रके कर्तव्यमें द्विजातियोंकी प्रयोजनसिद्धिमें यथोचित सहयोगरूप कर्म विधेय कहा गया है। उसीसे शूद्र अपना पालन-पोषण करे अथवा वस्तुओंके क्रय-विक्रय तथा शिल्प कर्मोंसे निर्वाह करे एवं ब्राह्मणोंकी रक्षा करे। वर्णधर्मोंकी उपादेयतामें कहा गया है कि इनके स्मरणमात्रसे भी मनुष्य अपने पापपुञ्जसे मुक्त हो जाता है। इस प्रकारके शास्त्र-विहित वर्ण-धर्म सदाचारके ही रूप हैं, जिनका यथोचित पालन होना चाहिये।

मनुस्मृतिका सदाचार-दर्शन

(लेखक—श्रीअनूपकुमारजी एम्० ए०)

राजर्षि मनुस्मृत भृगुप्रोक्त 'मनुसंहिता' प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं विश्व-विधि-साहित्यकी अमूल्य निधि है। इसमें सभी वर्णाश्रमोंके प्रत्येक क्षेत्रसे सम्बद्ध विधि-निषेधोंका वर्णन मिलता है। अतः इसमें सदाचारका वर्णन होना स्वाभाविक है। 'सदाचार' शब्दका सीधा-सादा अर्थ है—'अच्छा आचरण'। सदाचारी व्यक्ति देवता या संत कहलाता है और इसके विपरीत दुराचारी व्यक्ति दुष्ट या 'दानव'की संज्ञा पाता है। सदाचारी सुकर्मी और दूराचारी कुकर्मी कहलाता है। मनुस्मृतिमें सर्वत्र सदाचारकी ही बातें हैं। ध्यानसे देखा जाय तो इसके दूसरे अध्यायमें ब्रह्मचारीके सदाचार, ३से ५ अध्यायोंमें गृहस्थके, ६ अध्यायमें वानप्रस्थ एवं संन्यासीके, ७-८ अ० में राजाके तथा ५ एवं ९, १० अ० में स्त्रियों तथा विप्रकीर्ण, वर्ण-जाति आदिके सदाचार निर्दिष्ट हैं। यहाँ उनका अत्यन्त संक्षेपमें ही उल्लेख किया जा रहा है।

ब्रह्मचारी या विद्यार्थीका सदाचार

ब्रह्मारम्भेऽवसाने च पादौ ग्राह्यौ गुरोः सदा।
संहत्य हस्तावध्येयं स हि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः॥
(२ । ७१)

'शिष्यको चाहिये कि वह वेदपाठके पूर्व तथा पश्चात् भी नित्य श्रद्धा-भक्तियुक्त चित्तसे गुरुके चरणोंका सादर स्पर्श कर प्रणाम करे और तत्पश्चात् दोनों हाथोंको जोड़कर अध्ययन करे। इसीका नाम ब्रह्माञ्जलि है।'

व्यत्यस्तपाणिना कार्यमुपसंग्रहणं गुरोः।
सव्येन सव्यः स्प्रष्टव्यो दक्षिणेन च दक्षिणः॥
(वही २ । ७२)

'नित्य ही व्यस्त हाथोंसे गुरुके चरणोंको स्पर्श करे। इस प्रकार बायें हाथसे गुरुके बायें पैर तथा दाहिने हाथसे दाहिने पैरका स्पर्श करे।'

प्रतिश्रवणसम्भाषे शयानो न समाचरेत्।
नासीनो न च भुञ्जानो नातिष्ठन्न पराङ्मुखः॥
(वही २ । १९५)

'लेटे हुए, बैठे हुए, भोजन करते हुए अथवा गुरुकी ओर पीठ किये हुए खड़े-बैठे गुरुकी आज्ञाका सुनना या वार्तालाप करना ब्रह्मचारीके योग्य नहीं।'

गुरुका सदाचार

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥
(वही २ । १५९)

शिष्योंके हितके हेतु किया हुआ अनुशासन सर्वथा हिंसाशून्य होना चाहिये। धार्मिक गुरुओंका धर्म है कि शिष्योंसे प्रेमपूर्वक कोमल वचन बोले। गुरुका यह कर्तव्य है कि वह नित्य निरालस्य होकर समुचित समयपर शिष्यको पढ़नेकी आज्ञा प्रदान करे और पाठकी समाप्तिपर 'अलम्'—'अब बस करो' इस प्रकार कहकर पढ़ाना स्थगित करे। (मनु २ । ७३)

ब्राह्मणके लिये सदाचार

न लोकवृत्तं वर्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन।
अजिह्मामशठां शुद्धां जीवेद् ब्राह्मण जीविकाम्॥
(वही ४ । ११)

'ब्राह्मणका कर्तव्य है कि वह अपनी जीविकाके हेतु लोकवृत्त-(मिथ्या, किंतु प्रिय भाषण-)सा कुत्सित कार्य कदापि न करे। अपनी मिथ्या बड़ाई, दम्भ (घमण्ड) तथा कपट-व्यवहार (सूद खाने)को परित्यागकर वह सात्त्विक एवं शुद्ध वृत्ति (आजीविका) धारणकर ही अपना जीवननिर्वाह करे। ब्राह्मणको चाहिये कि वह नृत्य या गायनकी जीविकासे तथा शास्त्र-विरुद्ध (अनधिकारीको यज्ञ कराने आदिके) कर्मसे सम्पत्ति संचय न करे। इसी प्रकार किसी पापीसे भी धन लेकर कदापि

संग्रह नहीं करे। चाहे अपने पास धन हो अथवा न भी हो।' (मनु० ४ । १५)

स्त्रियोंके सदाचार और फल

नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम्।
पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते॥
(मनु० ५ । १५५)

'धर्मशास्त्रमें स्त्रियोंके हेतु न तो पृथक् कोई यज्ञ निर्दिष्ट है, न व्रत और न उपवास ही विहित है। उनको तो केवल अपने पतिदेवकी शुश्रूषा (सेवा)से ही इन सबका फल अर्थात् स्वर्ग प्राप्त हो जाता है।' 'जो सती नारी अपने पतिदेवके प्रतिकूल मन, वचन तथा कर्मसे भी कभी आचरण नहीं करती, वह पति-लोकमें जाकर पुनः अपने उसी पतिको प्राप्त करती है और इस लोकमें पतिव्रता कहलाकर लोगोंमें पूजनीय होती है।' (मनु० ५ । १६५ ।)

सबके लिये सामान्य सदाचार

नारुंतुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत्॥
(वही० २ । १६१)

'मनुष्यका कर्तव्य है कि दुःखी अवस्थामें भी वह यथासम्भव किसीको मर्मभेदी कड़वी वाणीसे उसका हृदय न दुखाये, किसीसे अकारण द्वेष-भाव न रक्खे तथा उद्वेजक बात कहकर किसीका मन उद्विग्न न करे।' साथ ही वह 'ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मातुल (मामा), अतिथि, भृत्य (दास), बाल, वृद्ध, रुग्ण, वैद्य, दामाद, सम्बन्धी तथा माताके कुलके लोगोंके साथ, माता, पिता, भगिनी, बहू, भ्राता, पुत्र, पुत्री, स्त्री एवं दास-दासियोंके सङ्ग भी कभी किसी प्रकारका कलह न उपस्थित होने दे।' (मनु० ४ । १७९–८० ।)

राजाका सदाचार

ब्राह्मणान् पर्युपासीत प्रातरुत्थाय पार्थिवः।
त्रैविद्यवृद्धान् विदुषस्तिष्ठेत् तेषां च शासने॥
(वही० ७ । ३७)

'राजाका कर्तव्य है कि वह प्रतिदिन प्रातः काल उठकर तीनों वेदोंके ज्ञाता, नीतिशास्त्रविशारद विद्वान् ब्राह्मणोंके पास जाकर परामर्श करे एवं उनकी आज्ञाके अनुकूल राज्यका शासन कार्य किया करे।' 'विनय तथा शीलयुक्त भी वह राजा सर्वदा द्विजश्रेष्ठोंसे विनय एवं शीलकी शिक्षा ग्रहण किया करे; क्योंकि जो राजा विनयशील होता है, वह कभी नाशको नहीं प्राप्त होता।' (मनु० ७ । ३९)

यहाँ विस्तार-भयके कारण संक्षेपमें कुछ थोड़ेसे सदाचारका वर्णन किया गया है। अतः यह भ्रम न उत्पन्न होना चाहिये कि इन वर्णनोंसे स्मृत्युक्त सम्पूर्ण सदाचारके वर्णनकी इतिश्री हो गयी। इसके लिये तो वस्तुतः मनु तथा आजकी प्राप्त प्रायः एक सौ स्मृतियों तथा इसपर आधृत सभी सैकड़ों निबन्ध ग्रन्थोंका भी आलोकन-पर्यवेक्षण अवश्य करना चाहिये; क्योंकि इन सभीका प्रमुख वर्ण्य विषय सदाचार ही है।

सदाचारका महत्त्व

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्निबद्धं स्वेषु कर्मसु।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः॥
(वही० ४ । १५५)

'वेद तथा स्मृतिकथित जो सदाचार है, जो अपने निजके कर्ममें भली-भाँति निबद्ध है तथा जो धर्मकी जड़ है, उस सदाचारका सदैव निरालस होकर प्रतिपालन करना चाहिये।' क्योंकि, सदाचारमें तत्पर रहनेसे दीर्घ जीवन प्राप्त होता है, सदाचारसे ही सकल मनोरथ सफल होते हैं, सदाचारसे ही अतुल सम्पत्ति प्राप्त होती है, इसी प्रकार कुलक्षणोंसे उत्पन्न हुए अरिष्टको भी सदाचार नष्ट कर देता है।' अतः सर्वात्मना सदाचारके पालनका प्रयत्न करना चाहिये। (वही ४ । १५६)

मनुस्मृतिप्रतिपादित सदाचार

(लेखक—आचार्य पं० श्रीविश्वम्भरजी द्विवेदी)

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्त उल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥

'वाधूलस्मृति' (१ । ४१५)के—'श्रुति और स्मृति स्वयं मेरी ही आज्ञाएँ हैं, इनका उल्लङ्घन करनेवाला न तो मेरा भक्त ही है और न वैष्णव कहलाने योग्य है'—इस भगवद्वचनके अनुसार श्रुतिस्मृतिको साक्षात् भगवद्वचन ही कहा गया है। मनुकी प्रशंसा करती हुई साक्षात् श्रुति भी कहती है—

यद्वै मनुरवदत् तद् भेषजम्।
(तैत्तिरीय सं०)

यह सर्वथा वेदमूलक किं वा वेदानुगामिनी स्मृति है।

यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥
(मनु० २ । ७)

बृहस्पतिने तो यहाँतक कहा है कि 'मनुस्मृतिके विपरीत कर्मादिका प्रतिपादन करनेवाली स्मृति श्रेष्ठ नहीं है; क्योंकि वेदार्थके अनुसार रचित होनेके कारण मनुस्मृतिकी ही प्रधानता है।'

मनुस्मृतिविरुद्धा या सा स्मृतिर्न प्रशस्यते।
वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं हि मनोः स्मृतम्॥

मनुस्मृतिकी इस प्रकार महत्ता एवं प्रामाणिकताको जान लेनेके बाद उसमें प्रतिपादित शाश्वत सदाचारकी प्रामाणिकता एवं उपयोगिताके विषयमें हमें लेशमात्र भी संशय नहीं रह जाता। मनुस्मृतिका सदाचार असंदिग्ध रूपसे मानव-जीवनको क्रमशः उसके स्वभावानुरूप स्तरोंपर ले जाते हुए अन्तमें मोक्षपदमें पहुँचा देता है, जो हमारे जीवनका अन्तिम लक्ष्य है।

सदाचारका लक्षण

मनुके अनुसार राग और द्वेषसे रहित जिस मार्गपर धार्मिक श्रेष्ठ विद्वान् एकमत होकर चलते हों, वही सदाचार है।

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्निबद्धं स्वेषु कर्मसु।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः॥
(४ । १५५)

सदाचार और व्यवहार

हमारे लोक-जीवनका अनुभव हमें बताता है कि व्यवहारके प्रत्येक पगपर सदाचार और शिष्टाचारकी आवश्यकता है। जहाँ हमने व्यवहारमें सदाचारका ही सहारा ढीला किया अथवा उसे छोड़ दिया, तत्काल वहीं पतन हो गया! सामाजिक जीवनकी सफलता खतरेमें पड़ जाती है। यहाँतक कि उच्चकोटिके विद्वान् अथवा प्रचुर धनसे सम्पन्न व्यक्तिको भी सदाचार-विहीन व्यवहारके लिये समाज क्षमादान नहीं देता। इस सदाचारके बिना सामाजिक व्यवस्था ही भग्न होने लगती है। इसके विपरीत जो व्यक्ति अन्य लक्षणोंसे हीन होनेपर भी सदाचारी होता है, वह कल्याण प्राप्त कर लेता है। उदाहरणके लिये विद्वानोंके मतमें प्रिय वचन बोलना, वाणीद्वारा सामाजिक शिष्टाचारका पालन, वाचिक सदाचार है। प्रिय वचन बोलनेमें कोई गरीबी भी नहीं आती; क्योंकि कुछ खर्च तो करना नहीं है—

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात् तदेव वक्तव्यं वचने का दरिद्रता॥
(चाणक्यनीति १६ । १७)

इसपर भी यदि कोई व्यक्ति स्वभावतः दुरभिमानी होनेसे अथवा प्रिय वचनको सब जगह चाटुकारी अथवा चापलूसी-का नाम देकर उसे ठुकरा देता है और सदा सबसे कठोर वचन ही बोलता है तो इस अशिष्टाचार अथवा वाचिक दुराचारका समाजमें उसे कठोर दण्ड भी भुगतना पड़ता है।

सामाजिक अव्यवस्था एवं सामाजिक दुर्व्यवस्थासे बचनेके लिये ही भगवान् मनुने न केवल सम्पूर्ण मानव-

जीवनका अपितु उसके समग्र व्यवहारका भी देश, काल, अवस्था, गुण, कर्म तथा परिस्थितिके अनुसार वर्गीकरण कर दिया है और प्रत्येक वर्ग तथा प्रत्येक स्तरके लोगोंके लिये नैतिक अनुशासनसे नियन्त्रित आचारकी व्यवस्था कर दी है। इसी प्रकार सत्य-भाषण, हितकर-भाषण, गुरुजनोंका आदर, परिवारके प्रति व्यवहार, पड़ोसके प्रति व्यवहार, सर्वसाधारणके प्रति व्यवहार, बालकों एवं नारियोंके प्रति व्यवहार इत्यादि—ऐसे अनेक व्यवहार हैं, जिनके लिये हमारे वाचिक, मानसिक और शारीरिक सदाचारकी आवश्यकता है; क्योंकि इसी सदाचारकी भूमिकापर हमारे सभी सामाजिक सम्बन्ध स्थिर हैं। समाज सम्बन्धोंका जाल है। अतः उस जालके ताने-बानेकी रक्षाके लिये हमें अपने प्रत्येक व्यवहारको सदाचारके करघेसे सँभाले रखना होगा; अन्यथा वह सम्बन्धोंके जालसे बना समाज बिखरकर छिन्न-भिन्न हो जायगा। वेद, तदनुसारिणी स्मृति, ब्रह्मण्यता आदि तेरह प्रकारके शील, राग-द्वेष-शून्यता, महात्माओंका आचरण और अपने मनकी प्रसन्नता—ये सब धर्मके मूल हैं।

राजर्षि मनु साक्षात्-धर्मका प्रमाण वेद मानकर 'काल'को उसका निर्देशक मानते हैं। आशय यह है कि वेदोंकी अपौरुषेयता एवं धर्मका प्रमापक होना और धर्मका वेदमूलक होकर सदाचारका आधार बनना—ये दोनों कालतत्त्व सापेक्ष हैं। अर्थात् इन दोनोंका साक्षी कालतत्त्व ही है। इसलिये राजर्षि मनुने कहा है कि सत्ययुगमें धर्म चतुष्पाद (चार पैरोंवाला) था अतः अधर्मके द्वारा कोई भी विद्या या धन आदिकी प्राप्ति नहीं करता था—सभी धर्माचरणरत थे।

चतुष्पात् सकलो धर्मः सत्यं चैव कृते युगे।
नाधर्मेणागमः कश्चिन्मनुष्यान् प्रति वर्तते॥
(मनु० १। ८१)

अन्य युगोंमें सत्ययुगके विपरीत परिस्थितियोंका आविर्भाव होनेपर धर्मके पूर्वोक्त पादों (चरणों) का ह्रास भी होता गया। यथा—

इतरेष्वागमाद् धर्मः पादशस्त्ववरोपितः।
चौरिकानृतमायाभिर्धर्मश्चापैति पादशः॥
(वही १। ८२)

मनुके अनुसार कालतत्त्वके इस साक्ष्यका मूल रहस्य यही है कि यद्यपि धर्मका नाश तो कभी नहीं होता, किंतु भिन्न-भिन्न युगोंके अनुसार उसमें ह्रास और विकास अवश्य होते रहते हैं। साथ ही यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि धर्म जिस-जिस स्थान, काल अथवा वस्तुको छोड़कर हटता जाता है, उन सबमें अधर्म अपना अधिकार करता चलता है। आज हम युगधर्मके नामपर जो धार्मिक ह्रास देखते हैं, उसका संकेत भगवान् मनुकी कल्पनामें आजसे शताब्दियों पूर्व ही विद्यमान था।

युगके अनुसार धर्मके ह्रास-विकासको मानते हुए भी मनु, 'आचार' पर अत्यधिक बल देते हैं। उनका मत है कि धर्मकी गति यद्यपि अति तीव्र, गम्भीर तथा अखण्ड होती है, मानव साधारणतया उसके साथ अनुपद चलनेमें असमर्थ-सा रहता है, तथापि वह यदि अपने वर्ण और आश्रमकी परम्परासे प्राप्त आचारका पालन करे, तो धर्मके तथोक्त ह्रास और विकाससे उसकी कोई हानि नहीं हो सकती। इसलिये वे आत्मवान्के लिये आचारको धर्मसे भी अधिक परम धर्म मानते हैं। (१। १०८) आत्मवान् शब्दका अर्थ जितेन्द्रिय है। जो जितेन्द्रिय नहीं है, ऐसा आचार-भ्रष्ट द्विज वेदके फलसे वञ्चित रह जाता है (१। १०९)। इस प्रकार आचारसे धर्मलाभ देखकर महर्षियोंने तपस्याके श्रेष्ठ मूल आचारका ग्रहण किया है (१। ११०)। वैसे धर्म या आचारमें विप्रतिपत्ति प्रतीत होनेपर श्रुति ही शरण है। (२। १३)

सदाचार तथा अर्थ और काम

ब्राह्मणके लिये निर्दिष्ट धृति, धी, विद्या आदि धर्मके दस अङ्गोंमें शौचका भी एक स्थान है। (मनु० ६ । ९२ के) शौचसे तात्पर्य ईमानदारी अथवा भावनामूलक शुद्धतासे है। इस शुचिता (ईमानदारी) की आवश्यकता सामान्यतः जीवनके प्रत्येक पगपर ही है, परंतु अर्थ और काम (विषयभोग)के संदर्भमें इसका सर्वाधिक महत्त्व है। शुचिताके बिना अर्थ और काम सदाचारके अङ्ग नहीं बन सकते। यही कारण है कि भगवान् मनु सब प्रकारकी शुद्धियोंमें धनकी शुद्धि (अर्थशौच) को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥
(मनु० ५ । १०६, विष्णुध० सू० २२ । ८९, याज्ञ० ३ । ३२)

'सब शुद्धियोंमें धनकी शुद्धि (न्यायोपार्जित धनका होना) ही श्रेष्ठ शुद्धि कही गयी है। जो धनमें शुद्ध है, अर्थात् जिसने अन्यायसे किसीका धन नहीं लिया है, वही पूर्ण शुद्ध है। जो केवल मिट्टी, जल आदिसे शुद्ध है, परंतु धनसे शुद्ध नहीं है, अर्थात् अन्याय अथवा बेईमानीसे, जिसने किसीका धन ले लिया है वह शुद्ध नहीं है।' इस प्रकार सदाचारसे अर्थका सम्बन्ध न केवल मनु, याज्ञवल्क्यादिने ही स्वीकार किया है, अपितु भगवान् व्यासने भी इसकी ओर संकेत किया है; क्योंकि अर्थ-शौच ही आगे चलकर अपरिग्रहका रूप ले लेता है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥
(श्रीमद्भा० ७ । १४ । ८)

'जितनेसे अपना पेट भर जाये, बस उतनेपर ही अपना अधिकार है, इससे अधिकपर जो अपनेपनका अभिमान करता है, वह चोर है, और वह दण्डके योग्य है।' यह अपरिग्रहका आधार है। आजकल अर्थ-पुरुषार्थप्रधान इस युगमें अर्थके कारण जो बेकारी, महँगाई और गरीबी आदि अनेक अनर्थ समाजको पीड़ित कर रहे हैं, उससे बचनेके लिये मन्वादि-प्रतिपादित अर्थ-शौचकी नितान्त आवश्यकता है। इससे श्रम और योग्यताके अनुकूल समाजमें धनका समान वितरण होगा तथा अतिरिक्त पूँजी राष्ट्रिय योजनाओंमें विनियुक्त होकर 'बहुजनहिताय' और 'बहुजनसुखाय'में परिवर्तन हो सकती है। इन्द्रियजयके अभ्यासके लिये मनुने अत्यन्त सावधानीसे सदाचारपालन-का उपदेश किया है—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति॥
(मनु० २ । ९३)

वे यहाँतक कहते हैं कि हमें इस कामसम्बन्धी सदाचारके पालनके लिये कभी माँ-बहन अथवा पुत्रीके साथ भी एकान्तमें नहीं रहना चाहिये; क्योंकि यह इन्द्रियोंका समूह कभी-कभी विद्वान् (समझदार)को भी आकृष्ट कर लेता है।

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति॥
(२ । २१५)

महाभारतकारने भी धर्मके प्रवृत्ति-लक्षण और निवृत्ति-लक्षण दो भेद कहकर प्रवृत्ति-लक्षण धर्मके अन्तर्गत अर्थार्जन, अर्थविभाजन तथा अर्थके विनियोगमें एक अत्यन्त हितकर प्रेरणा दी है और अन्तमें यह भी कहा है कि अर्थ और कामको धर्मानुकूल बनाकर ही उनका सेवन करना हितकर है। यदि अर्थ और काम क्रमशः लोभ और मोहके अनुगामी हों तो उन्हें पीछे छोड़ देना चाहिये। जो विद्वान् सर्वदा और सर्वथा निश्चयात्मक रूपसे अर्थ और कामको धर्मानुकूल ही बनाकर स्वीकार करते हैं, केवल उन्हींसे अर्थ और काम-से सम्बन्धित शुद्धता एवं सदाचारके सम्बन्धमें पूछना चाहिये और वे लोग जो परामर्श दें, उसीका आचरण करना चाहिये। लौकिक जीवनके व्यवहारमें अर्थ और काम प्रत्यक्ष

भोग और वासनाके विषय हैं। अतः इनपर प्राणिमात्रकी आसक्तिका होना स्वाभाविक ही है। मानव भी उसका अपवाद नहीं है, और न हमारे शास्त्रोंने उसे अर्थ और कामके उपभोगसे वञ्चित ही किया है। परंतु उनकी शुद्धताकी परखके लिये महाभारतकारने तीन प्रमाणोंका उल्लेख किया है—श्रुति, धर्मशास्त्र तथा लोक-संग्रह। जब श्रुति त्यागपूर्वक भोगकी प्रेरणा देती है, तब वह अर्थकी शुद्धतामें प्रमाण है। मानव-धर्म-शास्त्रका प्रमाण ऊपर आ ही चुका है। लोक-संग्रहके प्रमाण भी राजा युधिष्ठिर, उशीनर, रन्तिदेव, शिवि, रघु, श्रीराम तथा राजा जनक आदिके चरित्रमें प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार अर्थ और काम पुरुषार्थोंको भी सदाचारानुकूल बतानेकी धर्मशास्त्रीय प्रेरणा विद्यमान है।

सदाचार और मोक्ष

सदाचारका सम्बन्ध मोक्षसे भी होता है। महाभारत-कारके ही समान भगवान् मनुने भी वैदिक कर्मको प्रवृत्त तथा निवृत्त-भेदसे दो प्रकारका स्वीकार किया है—

सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेव च।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥
(१२।८८)

'वैदिक कर्म दो प्रकारके होते हैं। पहला स्वर्गादि सुखसाधक संसारमें प्रवृत्ति करानेवाला (ज्योतिष्टोमादि यज्ञ-रूप) प्रवृत्त कर्म तथा दूसरा निःश्रेयस् (मुक्ति) साधक संसारसे निवृत्ति करानेवाला (प्रतीकोपासनादिरूप) निवृत्तकर्म।' महाभारतमें भी इसके उल्लेखकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं। मनोनिग्रह इसका मुख्य साधन है। भगवान् मनुका कथन है कि जो वाणी एवं मनका निग्रह कर लेता है, उसे समग्र वेदान्तका फल (मोक्ष) प्राप्त हो जाता है—

यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग् गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्॥
(२।१६०)

विद्वानोंके मतमें और जनसमुदायकी दृष्टिमें ऊपर उठानेवाला धर्म ही है, परंतु वह पहले मानसिक होता है और बादमें आचरणमें उतरकर सदाचार बन जाता है। सदाचार समग्र धर्मका आचार (आचरण) पक्ष है। प्रत्येक सत्कर्म तथा शुभ कर्ममें जो कि व्यक्तिके साथ-साथ समाज और राष्ट्रके लिये हितकर हैं प्रवृत्त करनेवाला तत्त्व मन ही है।

भगवान् मनुका वचन है—

तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात् प्रवर्तकम्॥
(१२।४)

'उत्तम, मध्यम तथा अधम-भेदसे तीन प्रकारके तथा मन, वचन और शरीरके आश्रित होनेसे तीन अधिष्ठानवाले, दस लक्षणोंसे युक्त देही (जीव) को कर्मोंमें प्रवृत्त करनेवाला मनको ही जानो।' तैत्तिरीय-उपनिषद्की भी यही सम्मति है। अस्तु। सदैव धर्म, अर्थ और काम—इन तीनोंकी प्राप्तिके लिये धर्मशास्त्रके वचन तथा सत्पुरुषोंके आचरणसे प्रारम्भमें जिस व्यक्तिके मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक कर्मका निर्देशन होता है, उसका सम्पूर्ण व्यवहार एवं समग्र जीवन क्रमशः अपने-आप ही सकाम-भावनासे निकलकर निष्कामभावनामें आ विराजता है। उसके 'मैं'का पर्यवसान "हम"में हो जाता है। उसके 'व्यष्टि'का लय 'समष्टि'में हो जाता है। वह सर्वभूत-हितरत, सर्वात्मदर्शी, आप्तकाम एवं निष्काम कर्मयोगी बनकर केवल लोकहितकर कर्मोंद्वारा अपने शेष प्रारब्धको क्षीण करके अन्तमें अनिवार्य-रूपसे मोक्षको प्राप्त करता है। वह श्रौत एवं स्मार्त सदाचार ही है, जो मुमुक्षुको नित्यानित्य वस्तु-विवेक, इहामुत्र फल-भोग-विराग, शमादि षट्-सम्पत्ति तथा तीव्र मुमुक्षाकी योग्यता प्रदान करता है। अतएव भगवान् मनुका कथन है कि 'यद्यपि वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियसंयम, अहिंसा तथा

सदाचार के परम आदर्श

श्रीराम, भरत, लक्ष्मण तथा श्रीसीताजी

गुरुसेवा—ये मोक्षसाधक श्रेष्ठ छः कर्म हैं, तथापि इन शुभ कर्मों (सदाचारों)में भी मानवके लिये एक सर्वाधिक श्रेयस्कर कर्म है, जिसके लिये ही समग्र सदाचार अथवा शुभकर्म किये जाते हैं। वह सर्वाधिक श्रेयस्कर कर्म है—'ब्रह्मज्ञानमूलक मोक्ष'—

वेदाभ्यासस्तपोज्ञानमिन्द्रियाणां च संयमः।
अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयस्करं परम्॥
सर्वेषामपि चैतेषां शुभानामिह कर्मणाम्।
किंचिच्छ्रेयस्करतरं कर्मोक्तं पुरुषं प्रति॥
सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्यं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः॥
(मनु० १२। ८३-८५)

इस प्रकार सम्पूर्ण वेदोक्त एवं स्मृत्युक्त सदाचार मोक्षरूप साध्य (फल)की प्राप्तिका साधन ही कहा जाना चाहिये। सदाचारके द्वारा हमें अपने मन, वाणी और शरीरपर कोई ऐसा विवेकपूर्ण नियन्त्रण रखना चाहिये, जिससे कि हम सामाजिक जीवनमें घुलमिलकर भी त्रिदण्डी (संन्यासी)के समान राग-द्वेषसे शून्य रहते हुए सर्वभूत-हितैषी तथा सर्व-हितकारी बन सकें। सदाचारका सर्वोत्तम फल यही है कि समाजके सभी लोग सुखी, स्वस्थ एवं कल्याणदर्शी बन सकें—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

श्रीराम-कथामें सदाचार-दर्शन

(ले०—श्रीविन्देश्वरीप्रसादजी सिंह, एम० ए०)

'सदाचार एवं सच्चरित्रता ही श्रेष्ठ पुरुषोंकी कसौटी है। श्रेष्ठ पुरुष जो बर्ताव या व्यवहार करते हैं, वही सदाचार कहा जाता है। (महाभा० १०४। ९।) वसिष्ठस्मृति (१। ४)में सदाचारको परमधर्म कहा गया है। वाल्मीकि रामायणका श्रीगणेश श्रेष्ठ पुरुषकी जिज्ञासासे हुआ है। उसके आदि, मध्य और अन्तमें 'तप' शब्द भरा है। तपस्वी श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, अतः वाल्मीकिरामायण स्वतः सदाचार-शास्त्र हो जाता है। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम सदाचारकी साक्षात् मूर्ति हैं। वे धर्मके विग्रह हैं—**'रामो विग्रहवान् धर्मः।'** उनका अनुसरण तथा अनुकरण करनेवाले सभी तपस्वी तथा सदाचारकी मूर्ति हैं। रामायणरचयिता स्वयं वाल्मीकि हजारों वर्षोंतक तपस्या कर जब ज्ञान-तपसे पवित्र हो गये, तब उन्हें सप्तर्षियोंने वल्मीकसे निकाला और उनका वाल्मीकि नाम-करण किया। महर्षि वाल्मीकिने मुनिपुंगव नारदसे इस समयके गुणवान्, पराक्रमी, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवक्ता, आदि गुणयुक्त एक या अनेक पुरुषोंकी जिज्ञासा की थी। इसपर नारदजीने उन्हें एक श्रीराममें ही सभी गुणोंको बताते हुए उनकी जिज्ञासा शान्त की और संक्षेपमें उनका चरित्र भी कह दिया। बादमें महर्षि वाल्मीकि स्नानार्थ तमसा-तटपर गये, जहाँ क्रौञ्च-वध तथा क्रौञ्चीके क्रन्दनसे शोकार्त एवं अप्रसन्न होकर निषादको यह शाप दिया—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥*
(वाल्मी० १। २। १५)

उनके मुँहसे सहसा निकले इस श्लोकपर चिन्तामग्न महर्षिको स्वयं प्रभु ब्रह्माजीने राम-कथा रचनेका आदेश दिया। ब्रह्माजीके चले जानेपर महर्षिने योग-बलसे ध्यान-द्वारा उक्त चरित्रका अन्वेषण किया तथा अपने एवम् उनके परिवारके सारे इतिवृत्त तथा चेष्टाओंको यथावत् जान लिया। तब उन्होंने श्रीरामचरित्रकी रचना चौबीस हजार श्लोकों एवं छः काण्डोंमें की तथा उत्तरकाण्ड और भविष्य-वर्णन कर कुश और लवको कण्ठस्थ कराया।

* यह श्लोक चम्पूरामायण १। ६, उत्तररामचरि० २। ५ आदिमें भी प्राप्त होता है।

रामायणमें मुख्यतः राम-चरित्र ही है। पर इसके बालकाण्ड-में संक्षेपमें सभी इक्ष्वाकुवंशी राजाओंकी चर्चा तथा इतिहास भी है। इसमें धर्म, अर्थ और कामका वर्णन किया गया है। वैवस्वत मनुसे लेकर दशरथतक जितने राजा हुए, सब तपस्वी तथा सदाचार-परायण थे। सदाचार इस वंशपरम्पराकी विशेषता रही है। यह एक व्यक्ति या एकाध पीढ़ियोंकी उपलब्धि नहीं है। पुत्रकी कामनासे राजाने अश्वमेध तथा पुत्रेष्टियज्ञ सम्पादन कर ज्योतिष्टोम, आयुष्टोम, अग्निजित् और विश्वजित् यज्ञ भी सम्पन्न किया और होता, अध्वर्यु, उद्गाता तथा ऋत्विजोंको प्रचुर दक्षिणा दी। सभीने संतुष्ट होकर राजाको फिर आशीर्वाद दिया। अन्तमें **ऋष्यशृङ्गने** पुत्रेष्टि यज्ञ करवाया। कल्प-सूत्रोक्त-विधिसे अग्निमें आहुतियाँ पड़ीं। ब्रह्माजी तथा सभी देवतागण भाग लेने आये। भगवान् श्रीविष्णु भी वहाँ पधारे और देवताओंकी प्रार्थनापर उन्होंने आश्वासन दिया कि वे नरावतार लेकर रावण-वध आदि करेंगे। अग्निदेवने भगवान्की आज्ञासे राजा दशरथको पायस दिया। पायसका वितरण राजाने धर्मानुसार तीनों रानियोंमें किया। यज्ञके पूरे एक वर्ष बाद राजाके चार अनुपम पुत्र-रत्न उत्पन्न हुए। इस तरह **'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'**का वचन सर्वविध आचरित हुआ।

श्रीरामादि-जन्मोत्सवके अवसरपर विविध दान दिये गये। सदाचारमें संस्कारोंका पालन भी संनिहित है। अतः राजाने पुत्रोंके जातसंस्कार आदि सब कर्म कराये। चारों भाई महर्षि वसिष्ठकी शिक्षा-दीक्षामें वेदविद्, वीर, सब लोगोंके कल्याणमें तत्पर, ज्ञानसम्पन्न और सभी गुणोंसे युक्त हुए। महाराज दशरथको अब उनके विवाहकी चिन्ता हुई। उन्हीं दिनों महातेजस्वी मुनि विश्वामित्र अयोध्या पधारे। राजाने यथोचित स्वागत एवं पूजाके बाद उनसे कहा—'मुने! आप कार्य बतायें, मैं सब कुछ करूँगा', पर श्रीरामकी माँग करते ही राजा मुकर गये। इसपर विश्वामित्रको क्रोध आ गया, धरातल काँप उठा, देवता डर गये, पर वसिष्ठने सँभाला और बोले—'एक बार किसी बातकी प्रतिज्ञा करके उसे न पूरा करनेसे इष्ट और आपूर्तके फल नष्ट हो जाते हैं। महर्षि विश्वामित्र मानो मूर्तिमान् धर्म और महान् तपस्वी हैं। इनके साथ रामको भेजनेमें अनेक लाभ हैं।' इसपर राजा राजी हो गये। राम और लक्ष्मण विश्वामित्रके साथ पैदल सिद्धाश्रम चल पड़े। यहाँ ताड़का, सुबाहु आदिका वधकर विश्वामित्रके यज्ञको सविधि सम्पन्न कराया। यह सिद्धाश्रम ही वह स्थल था, जहाँ भगवान् विष्णुने भी तप किया था।

अब विश्वामित्रके साथ श्रीराम और लक्ष्मण जनक-पुर पहुँचे। गुरुने महाराज जनकसे श्रीरामको धनुष दिखानेको कहा। श्रीरामने हँसी-खेलमें ही उसे तोड़ डाला। तदनन्तर महाराज दशरथको बुलवाया गया और वे बारातके साथ आये। गोत्रोच्चारसहित चारों भाइयोंका विवाह सम्पन्न हुआ। राजा दशरथने गोदान आदिकी विधि सम्पन्न की। राजा जनकने भगवती सीताको बुला-कर देवता, अग्नि तथा रामके सम्मुख बैठाया और कहा—'हे रघुनाथ! मेरी पुत्री सीता आजसे आपकी सहधर्मिणी बन रही है। आप अपने हाथसे इसका हाथ पकड़कर इसे अपनाइये। यह पतिव्रता कन्या छायाकी भाँति सदा आपका अनुसरण करेगी।' बहुत दिनोंतक जनकपुर रहकर बारात अयोध्या लौटी। इस प्रकार सुखसे बारह वर्ष बीत गये। अब महाराज दशरथने रामकी लोक-प्रियताका ध्यानकर उनके अभिषेककी तैयारी की। पर सरस्वतीकी प्रेरणासे मन्थरा और बादमें कैकेयीने बाधा दी। जब उसने रामसे कहा कि 'सत्य ही धर्मका मूल है। तुम अब ऐसा करो कि कुपित होकर राजा तुम्हारे लिये सत्यको न त्यागें।' तब श्रीरामने कहा—'देवि! आप ऐसा न कहें। मैं महाराजकी आज्ञासे अग्निमें कूद सकता हूँ और तीक्ष्ण विषका भी पान कर सकता हूँ।'

सत्यनिष्ठ रामने अपनी इस प्रतिज्ञाको जिस प्रसन्नताके साथ सहजभावसे पूर्ण किया, वह विश्वके इतिहासमें अद्वितीय है। इस प्रसङ्गमें रामका सदाचार त्यागमें निविष्ट है।

विश्वधर्म या मानवधर्मके नामसे प्रख्यात धर्मके दस या तीस लक्षणोंमें सत्यके सविधि पालनसे राजा दशरथके परिवारमें अनेक सामान्य धर्म, विशेष, विशेषतर, विशेषतम धर्मोंका उदय हुआ। स्वयं राजा दशरथने अपने प्राण देकर 'रामप्रेम'को सिद्ध कर दिया। लक्ष्मणजीका विशेष धर्म, भरतजीका विशेषतर एवं शत्रुघ्नजीका विशेषतम धर्म अद्भुत आदर्शपूर्ण रहा। इस प्रकार एक महा दुःखद घटना इन सदाचारियोंके कृत्योंसे प्रातःस्मरणीय बन गयी। श्रीरामका वनगमन समस्त विश्वके सभी प्राणियोंके लिये कल्याणकारी हो गया। ननिहालसे लौटकर भरत रामको मनाने चित्रकूट चल पड़े। भरत-रामका वाल्मीकीय रामायणका संवाद विश्व-साहित्यमें अद्वितीय है। श्रीरामने पिताकी बात रखी और विवश होकर भरत अयोध्या लौटे तथा चरणपादुकाको सिंहासनपर स्थापितकर उन्होंने नन्दि-ग्राममें मुनिव्रत लिया। इधर श्रीरामने लक्ष्मण और सीताके साथ दण्डकारण्यमें प्रवेश किया। श्रीजानकीजी-को बिदाई देती हुई अनसूयाजीने पातिव्रत-धर्मका जो प्रवचन किया, भगवती सीता उसके परमादर्शस्वरूप ही थीं। पति चाहे जैसा हो, फिर भी सदाचारिणी और पतिव्रता स्त्रियोंका वही देवता होता है।

भगवान् रामका दर्शनकर महर्षि शरभङ्ग ब्रह्मलोक चले गये, तब उस आश्रमके सब ऋषि एकत्र होकर श्रीरामके पास आये। ये सब निष्णात सदाचारी एवं तपस्वी थे। योगबलसे सबने अपना-अपना मन एकाग्र कर लिया था। वे धर्मज्ञ रामसे बोले—'हम आप शरणागतवत्सलकी शरणमें आये हैं। हे राम! आप निशाचरोंके हाथों मारे जाते हुए हम ऋषियोंकी रक्षा कीजिये।' श्रीरामने कहा—'हे महानुभाव! आप प्रार्थना नहीं, हमें आज्ञा दीजिये। इसी कार्यसे मैं यहाँ आया हूँ।' सदाचारी राम अपने सदाचारी अनुज तथा सदाचारिणी पत्नीके साथ दण्डक वनको पवित्र करते हुए तथा मुनियोंको आश्वासन देते हुए पञ्चवटीमें निवास करने लगे। दुराचारिणी शूर्पणखाको जो दण्ड मिलना चाहिये वह लक्ष्मणजीके हाथों मिला। लंकाका रावण राक्षस जातिका था। वह पुलस्त्यके पुत्र विश्रवाका बेटा था, पर जाति-विचारसे विश्रवा भी विप्र नहीं थे। वे साधु और तपस्वी थे। कैकसी राक्षसीने दारुण वेलामें उनसे पुत्र और पुत्री प्राप्त की थी। विश्रवाके वचनसे ही वह क्रूरकर्मा राक्षस हुए। वामनपुराणमें परदाराकी अभिलाषा, पराये धनके लिये लोलुपता राक्षसोंका स्वाभाविक कर्म कहा गया है, जो सदाचारके विपरीत धर्म हैं। रावणने सीता-हरण कर श्रीरामको शोकमग्न कर दिया; पर विक्षुब्ध होनेपर भी दोनों रघुवंशियोंने संध्या-वन्दन आदि नित्यकर्ममें कभी अन्तर न आने दिया, न जटायुके प्रति तिलाञ्जलि आदि पितृकार्य करनेमें शिथिलता की। श्रीरामके प्रलाप एवं विलापसे उनके पत्नीप्रेमकी अधिकता ही प्रतीत होती है। ऋष्यमूकके पथपर हनुमान्जी श्रीरामसे आ मिले। संत ही संतको पहचानते हैं। श्रीरामने हनुमान्जीके विषयमें लक्ष्मणसे कहा—

नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्।
बहु व्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम्॥
एवं गुणगणैर्युक्ता यस्य स्युः कार्यसाधकाः।
तस्य सिद्ध्यन्ति सर्वेऽर्था दूतवाक्यप्रचोदिताः॥
(वा० रा० किष्कि० ३।२९, ३५)

हनुमान्जीके प्रयत्नसे सुग्रीव तथा श्रीराम अटूट मैत्री-बन्धनमें बँध गये। **'प्रमीते त्रायते यत् तन्मित्रम्'**—जो दुःखोंसे बचाये, वह मित्र होता है। श्रीरामने पहले सुग्रीवका दुःख दूर किया। उन्होंने वालीको छिपकर मार दिया। कलके रङ्क सुग्रीवने किष्किन्धाके राज्यके साथ अपनी पत्नीको भी प्राप्त किया। मित्रके लिये श्रीरामने वालीकी फटकारें

भी सहन कीं। पर वालीने जब कहा कि 'छिपकर मारना ठीक हो तो मुझे उत्तर दीजिये।' तब श्रीराम बोले—'वालिन्! धर्म, अर्थ, काम तथा लौकिक अवसर-को समझे बिना बच्चोंकी तरह तुम मेरी निन्दा कर रहे हो। बुद्धिमान् आचार्योंसे शङ्का-समाधान किये बिना वानरोंके स्वभाववश तुम मुझे उपदेश क्यों देना चाहते हो? ×× हमलोग पिताकी आज्ञासे अपने धर्मका पालन करते हुए धर्मविरुद्ध कार्य करनेवालोंको विधिवत् दण्ड देते हैं। तुमने धर्मका अतिक्रमण किया है। तुम कामको पुरुषार्थ समझते हो और राजधर्मानुसार नहीं चलते। धर्ममार्गपर चलनेवालोंके लिये बड़ा भाई, पिता और विद्यादाता गुरु—ये तीनों पिता-सदृश होते हैं। छोटे भाई, पुत्र और शिष्य पुत्रके समान होते हैं। हे वानर! सज्जनोंद्वारा परिज्ञात एवं पालित धर्म सूक्ष्म होता है। तुमने धर्मको त्यागकर सुग्रीवकी भार्याको रख लिया है, इसलिये मैंने तुम्हें मारा है।'

अपना धर्मद्रोह समझकर वाली रामका शरणागत बना। वानरोंमें आदर्श ब्रह्मचारी हनुमान्‌जी हैं। सीतान्वेषणके क्रममें गोपदवत् समुद्रको लाँघ गये। रास्तेमें सुरसा, मैनाक तथा लङ्किनीसे यथोचित व्यवहार करते घर-घर सीताजीकी खोज करने लगे। रावणके भरे-पूरे रनिवासमें घुसकर एक-एक नारीका निरीक्षण किया। मन्दोदरीको भी देखा। मधुशालामें भी सीताकी खोज की, पर सीता उन्हें नहीं मिली; तब ज्ञानी हनुमान्‌जीके हृदयमें विविध विचार उत्पन्न हुए। उन्हें धर्मका भय डराने लगा। उन्होंने विचार किया कि किसीके अन्तःपुरमें जाकर इस तरह शयन करती हुई स्त्रियोंको देखना पाप है। इससे मेरा सब धर्म नष्ट हो जायगा। फिर उन्होंने विचार किया कि मन और मेरी दृष्टि परायी स्त्रीपर नहीं जा सकती। मैंने तो परायी स्त्रीसे प्रेम करनेवाले इस रावणको ही देखा है। इस प्रकार परम बुद्धिमान् हनुमान्‌के हृदयमें कर्म-अकर्मका निश्चय उत्पन्न हो गया। उन्होंने देखा कि 'यहाँ आकर गुप्त रीतिसे मैंने रावणकी सभी युवती स्त्रियोंका निरीक्षण किया, पर मेरे मनमें कामवासना उत्पन्न न हुई। मन ही इन्द्रियोंका स्वामी है। वही धर्म और अधर्म करता है। पर मेरा मन मेरे वशमें है। स्त्रीका पता लगानेके लिये स्त्रियोंमें ही खोजा जाता है।' शिशुसुलभ सदाचार ही नहीं, विपरीत स्थितियोंमें ज्ञानपूर्वक सधनेवाले सदाचारके उदाहरणोंका संग्रहालय वाल्मीकिरामायण है।

भगवती सीताके ऐसे समयके भी सदाचारके उद्गार द्रष्टव्य हैं। अशोकवनमें संतप्त सीता बिलखती हुई कहती हैं—'रावणके इतने कठोर वचनोंको सुनकर भी मैं पापिनी जीवित हूँ। रावण मुझे मारेगा—इस ग्लानिसे मैं आत्महत्या कर लूँ तो भी मुझे पाप न लगेगा। ×× मैं रावणके द्वारा मार डाली जाऊँगी। मैं पतिव्रता हूँ। मैं नियमके साथ रहती हूँ। अतः क्यों न अपनी चोटीसे ही गला बाँधकर यमपुर चल दूँ?' तभी उन्हें सहसा अपने तथा रघुवंशकी मर्यादाका स्मरण हो आया। यही आत्ममर्यादा सच्चरित्रताका असली साधन है। उन्हीं सीताने हनुमान्‌जीकी पीठपर बैठकर अविलम्ब पतिदर्शनके प्रश्नपर कहा—'हे हनुमन्! मैं पतिव्रता हूँ अतएव रामचन्द्रको छोड़कर मैं किसी अन्य पुरुषका शरीर अपनी इच्छासे नहीं छू सकती। हरणके समय मुझे रावणके शरीरका जो स्पर्श करना पड़ा था, वह इच्छाके विरुद्ध था। विवश और असहाय होनेके कारण ही वैसा हो गया। श्रीरामचन्द्रजीका यहाँ आकर राक्षसों-सहित रावणको मारना और ले जाना ही उचित होगा। आदर्श पतिव्रता तो स्वेच्छासे किसीका स्पर्श भी नहीं करती, इसीसे सती नारीके अधीन भगवान् विष्णु भी रहते हैं। पातिव्रत सदाचारकी सीमा है। जौहर व्रत उसीकी देन थी। सीताका मनचाहा हुआ। राम-रावण-युद्ध **'न भूतो न भविष्यति'** ही था। पर उस भौतिक युद्धसे भी अतिरोमाञ्चक आध्यात्मिक युद्धका सामना

सदाचारिणी सीताको करना पड़ा। श्रीरामचन्द्रके आज्ञानुसार हनुमान् अशोकवाटिकामें गये और श्रीरामका संदेश सुनाते हुए कहा—'हे वैदेहि! महानुभाव श्रीराम लक्ष्मण और सुग्रीवके साथ सकुशल हैं। विभीषणकी सहायता तथा लक्ष्मणकी नीति और वानरोंके बलसे उन्होंने बलवान् रावणका संहार किया है। वीर रामचन्द्रने कुशल पूछते हुए आपका अभिनन्दन किया है और कहा है कि आपके ही प्रभावसे यह विजय प्राप्त हुई है। तभी हनुमान्ने चाहा कि उन राक्षसियोंको मार डालूँ, जिन्होंने सीताजीको डराया, धमकाया और दुःख दिया था। पर भूमिजा सीता बोलीं—'वानरेन्द्र! इन परवश राक्षसियोंपर तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिये। मैं जानती हूँ कि भाग्यके अनुसार सभी फलोंको भोगना ही पड़ता है। मैंने इन दासियोंका भी क्रोध सहन कर लिया है।××× पराधीन रहनेवाले पापियोंके पापकी ओर धर्मात्मा ध्यान नहीं देते। वे उनके प्रति किये गये उपकारका बदला भी नहीं लेना चाहते। मर्यादाकी रक्षा करना ही सज्जनोंका भूषण है। इस कर्तव्य और क्षमानिष्ठापर हनुमान् बोले—हे गुणवति! आप वस्तुतः रामचन्द्रकी अनुरूप ही धर्मपत्नी हैं।' जब सीताजी एक उत्तम ओहारवाली सुन्दर पालकीपर श्रीरामके सामने लायी गयीं, तब उन्होंने कहा—'घर, वस्त्र, आकार, चहारदीवारी आदि स्त्रियोंके लिये परदा नहीं है। स्त्रियोंका सच्चा परदा तो उनका सच्चरित्र है।' फलतः पालकीसे उतरकर सीता पैदल पतिके पास आयीं और 'आर्यपुत्र' कहकर प्रेमविह्वल हो गयीं। अपने पतिका दर्शनकर उनका मुखमण्डल चमक उठा। श्रीरामचन्द्रने कहा—××'मैंने यह युद्ध अपमानको दूर करने, कुलमें कलङ्क न आने देने और लोकनिन्दासे बचनेके लिये जीता है, तुम्हारे लिये नहीं।' उन्होंने उत्तर दिया। जिस हृदयपर मेरा अधिकार है, वह आज भी आपमें अनुरक्त है।'×× हे लक्ष्मण! चिता बनाओ! चिता ही इस रोगकी ओषधि हो सकती है! मेरे स्वामीने सशंक होकर मेरा त्याग कर दिया है।' सीता जलती चितामें कूद पड़ती हैं! सभी वानर और राक्षस हाहाकार करने लगे। उसी समय सभी देवता भी वहाँ आ गये। उन्होंने श्रीरामका हाथ पकड़कर कहा—'आपने आगमें कूदती सीताकी उपेक्षा क्यों की? आप आदि पुरुष हैं, सीता आपकी प्रकृति है।' ब्रह्माजीने भी कहा—'सीताजी लक्ष्मी हैं और आप विष्णु हैं।' अग्निदेवने सीताको गोदमें लेकर रामचन्द्रको दे दिया। वे बोले—'सीताकी अन्तरात्मा परम पवित्र है। आप उनको ग्रहण करें।' श्रीराम बोले—'यदि मैं बिना इनकी परीक्षा लिये ही ग्रहण कर लेता तो सब लोग यही कहते कि 'दशरथपुत्र रामचन्द्र संसारी व्यवहारोंसे अनभिज्ञ और कामाधीन हैं।'×× सीता अपने तेजसे स्वयं रक्षित हैं। सीतापर दुष्टात्मा रावण कभी मनसे भी आक्रमण नहीं कर सकता था। जिस तरह प्रभा सूर्यकी है, उसी तरह सीता मेरी नित्य अर्द्धाङ्गिनी है। इसलिये रावणके घरमें रहनेपर भी इनको रावणके ऐश्वर्यका लोभ नहीं हो सकता था। महादेवके साथ आये हुए श्रीदशरथजीने भी कहा—'बेटी सीते! रामने तुम्हारी पवित्रता प्रकाशित करनेके लिये ही तुम्हारे त्यागकी बात की थी। लक्ष्मण-को भी अपनी सेवाके लिये उन्होंने प्रशंसा की। श्रीरामने इस अवसरपर उनसे जो वर माँगा, वह भरत और कैकेयीके प्रति उनकी निश्छलताका द्योतक है। श्रीराम बोले—'पिताजी! आपने कैकेयीसे कहा था—'मैंने तुमको तुम्हारे पुत्र भरतके साथ त्याग दिया है। आपका यह शाप उन्हें न लगे।' अप्रतिम सदाचारका यह दिव्य दर्शन है।

पुष्पक विमानद्वारा लंकासे चलकर श्रीरामचन्द्र अयोध्या पहुँचे और भरतजीसे जा मिले। राजा रामका राज्याभिषेक हुआ। वाल्मीकीय रामायणका सुखान्तक भाग समाप्त हुआ। सीताके सदाचरणकी कसौटी उत्तरकाण्ड है। इसीसे वाल्मीकिने इसकी भी रचना की। स्थितप्रज्ञ राम-

का कर्म-धर्म-कौशल पराकाष्ठातक पहुँच चुका था, पर सीताजीके प्रति प्रेमकी अलौकिक धारामें वे भी अधीर होते देखे गये। लोकनायक श्रीरामने लोकोंको प्रसन्न रखनेके लिये सब कुछ किया, पुनः सीताका त्याग भी किया तथा उस त्यागजनित क्षोभको लोकसंग्रहद्वारा छिपाया, पर रसातलमें प्रवेश करती हुई सीताने प्रेमके उस फल्गुको अन्तमें झटका दे दिया। वे दुःखी हो नेत्रोंसे आँसू बहाने लगे तथा देरतक रोकर बोले—'पूजनीये! भगवति वसुंधरे! मुझे सीताको लौटा दो, अन्यथा मैं अपना क्रोध दिखाऊँगा। या तो तुम सीताको लौटा दो अथवा मेरे लिये भी अपनी गोदमें स्थान दो; क्योंकि पाताल हो या स्वर्ग मैं सीताके साथ ही रहूँगा।' ब्रह्माने कहा—'सीता साकेतधाममें चली गयी हैं। वहाँ उनसे आपकी भेंट होगी। पूरे ग्यारह हजार वर्षोंतक 'रामराज्य' पृथ्वीपर रहा। दैवी-सम्पत्ति तथा सुखका क्या कहना। कुत्ते और उल्लूतकको न्याय मिला। त्रिलोकमें रामराज्य-का यश छा गया। सदाचार उसका आधार था।

सदाचारका प्रमाण धर्मशास्त्रादि हैं, न कि निरे तर्क। इनके पाँव नहीं होते, न ये निर्णय देते हैं। निदान, नारद-जैसे साधुद्वारा दिखाये युग-धर्मानुकूल राजाका काम (अनधिकारी तपी शम्बूकका वधकर ब्राह्मणपुत्रका जिलाना) श्रीरामने किया। कर्मसे वर्ण नहीं बनते, उनके स्वरूपका पोषण उससे होता है। वर्णानुकूल निःश्रेयसकी सिद्धि होती है। कालसे बातें करते समय दुर्वासाके कोपसे राज्य तथा श्रीरामको बचानेके लिये अन्तमें भगवान् अपने पुत्रों तथा भतीजोंको राज्यपर अभिषिक्तकर सबन्धु एवं सहायकगणोंके साथ उन्होंने सरयू नदीके गोप्रतारकघाटपर स्नानकर अपने नित्य सांतानिक या लोक या साकेतके लिये महाप्रस्थान किया। पृथ्वीपर उनके अनुगामियोंमेंसे रह गये केवल पाँच—जाम्बवान्, मयन्द, द्विविद, विभीषण तथा हनुमान्। अयोध्याके स्थावर-जङ्गम, सूक्ष्म-स्थूल सब चले गये। वह सूनी पड़ गयी। कुलदेवता 'जगन्नाथकी सदा आराधना'का आदेश विभीषणको देते गये तथा 'कथाप्रचारक'का कार्य श्रीहनुमान्जीने अपने सिर लिया। विभीषणकी शरणागति तथा हनुमान्जीकी कथाप्रियता दोनों हम कलिकालके जीवोंके उद्धारके लिये भगवत्कृपा-प्रसाद है। प्राचेतस महर्षि वाल्मीकिने चौबीस अक्षरवाले गायत्री मन्त्रपर रामायणकी रचना की। इसकी कथामें सदाचारकी सूक्ष्म व्याख्या है, जो प्राणियोंके कल्याणके लिये परम आदर्श है।

आर्य-नारीकी आदर्श सदाचार-निष्ठा

अशोकवाटिकामें श्रीसीताजीको बहुत दुःखी देखकर महावीर हनुमान्जीने पर्वताकार शरीर धारण करके उनसे कहा—'माताजी! आपकी कृपासे मैं वन, पर्वत, मन्दिर, महल, चहारदीवारी और नगरद्वारसहित इस सारी लङ्कापुरीको रावणके समेत उठाकर ले जा सकता हूँ। आप कृपया मेरे साथ शीघ्र चलकर राघवेन्द्र श्रीरामका और लक्ष्मणका शोक दूर कीजिये।'

इसके उत्तरमें सतीशिरोमणि श्रीजनककिशोरीजीने कहा—'महाकपे! मैं तुम्हारी शक्ति और पराक्रमको जानती हूँ। परंतु मैं तुम्हारे साथ नहीं जा सकती; क्योंकि मैं पतिभक्तिकी दृष्टिसे एकमात्र आर्यपुत्र श्रीरामके सिवा अन्य किसी भी पुरुषके शरीरका स्पर्श स्वेच्छापूर्वक नहीं कर सकती। रावण मुझे हरकर लाया था, उस समय तो मैं निरुपाय थी। उसने बलपूर्वक ऐसा किया। उस समय मैं अनाथ, असमर्थ और विवश थी। अब तो श्रीराघवेन्द्र ही पधारकर रावणको मारकर मुझे शीघ्र ले जायँ, यही मेरी इच्छा है।'

(वाल्मीकीय रामायण)

वाल्मीकीयरामायणमें श्रीरामके सदाचारसे शिक्षा

(ले०—पं० श्रीरामनारायणजी त्रिपाठी, व्याकरण-वेदान्त-धर्मशास्त्राचार्य)

न हि रामात् परो लोके विद्यते सत्पथे स्थितः ।
(वा० रा० अयो० ४४ । २६)

अम्बा सुमित्राकी इस उक्तिसे सर्वथा सिद्ध है कि श्रीरामचन्द्रसे बढ़कर इस विश्वमें सत्पथानुगामी व्यक्ति नहीं है, अतः रामके द्वारा सेवित आचार सदाचार एवं सन्मार्ग है—**'रामो विग्रहवान् धर्मः'**(३ । ३९ । १३) इस दृष्टिसे भगवान् रामचन्द्रद्वारा अनुमोदित, आश्रित सदाचार ही रामायणप्रतिपाद्य सदाचार है । यद्यपि रामायणमें अनेक स्थानोंपर सदाचारका निरूपण हुआ है, तथापि श्रीरामका आचार सब सदाचारोंका शिरोमणि, सन्मार्गोंमें प्रधान, लौकिक व्यवहारोंकी कसौटी तथा धर्म और मर्यादाका निष्कृष्ट पुटपाक है । रामकी तरह चरित्रवान्, मर्यादा-पालक व्यक्ति दुर्लभ है । यदि सभी मानव उनके कर्मोंका अनुसरण करें तो यह मर्त्यलोक दिव्यलोक हो जाय । उनके आचरणके विषयमें कहा गया है—

स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते ।
उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते ॥
बुद्धिमान् मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः ।
वीर्यवान् न च वीर्येण महता स्वेन विस्मितः ॥
(अयो० १ । १०, १३)

'श्रीराम सर्वदा शान्तचित्त, पूर्व एवं मृदुतापूर्वक दूसरेके साथ बोलते थे । वे रूखा बोलनेपर उसका प्रत्युत्तर नहीं देते थे । वे बुद्धिमान्, मधुर और प्रियवक्ता तथा बलवान् होते हुए भी निरभिमानी थे ।'

मातृ-पितृ-भक्ति—पुत्रको माता-पिताकी सेवा तथा उनकी आज्ञाका पालन करना भारतीय सदाचारका मुख्य अङ्ग है । वाल्मीकीयरामायण भगवान् रामकी अनुपम मातृ-पितृ-भक्ति आदर्श उपस्थित करती है। यद्यपि माता-पिताकी उपयुक्त आज्ञा माननेवाले भारतमें पहले भी थे और अब भी अनेक हो सकते हैं; किंतु विमाताकी अनुपयुक्त कठोर आज्ञा शिरोधार्य करनेवाले तो राम ही थे । जब कैकेयीने वरदानके व्याजसे रामको वन जानेका आदेश दिया, तब रामने उपालम्भपूर्वक कहा—'मा कैकेयी ! निश्चय ही तुम मेरे सद्गुणोंके प्रति संदेह करती हो; क्योंकि स्वयम् अधिक समर्थ होती हुई भी इसे तुमने राजासे क्यों कहा ?' अब पिताके आज्ञा-पालनमें उनके उत्साहको देखिये । वे कहते हैं—

अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके ।
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ॥
(अयो० १८ । २८)

'देवि ! मैं पिताकी आज्ञासे अग्नि और समुद्रमें कूद सकता हूँ तथा तीक्ष्ण विष भी पी सकता हूँ ।' माता कौसल्या-द्वारा वन जानेसे रोकनेपर रामकी पितृभक्तिका निदर्शन देखें । वे कहते हैं—'पिताकी आज्ञाके उल्लङ्घन करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है, मैं तुमसे प्रार्थना कर रहा हूँ । मैं उनकी आज्ञासे वन जाना चाहता हूँ ।' (अयो० २१ । ३० ।) जहाँ पिताके प्रति भगवान् रामकी ऐसी अविचल भक्ति कि वे माता कौसल्याका वचनतक नहीं मानते, वही माताकी आज्ञा न माननेका अन्तःक्लेश सदा उनके हृदयको व्यथित करता रहा । रामकी ग्लानिभरित निम्नलिखित उक्ति ही इसे प्रमाणित कर रही है ।

मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम् ।
मन्ये प्रीतिविशिष्टा सा मत्तो लक्ष्मण सारिका ।
यत्तस्याः श्रूयते वाक्यं शुक पादमरेर्दश ॥
(अयो० ५३ । २१-२२)

'लक्ष्मण ! मैं माताको अनन्त दुःख देता रहा हूँ । कोई भी नारी मेरे-जैसा पुत्र उत्पन्न न करे; हे

लक्ष्मण ! मुझसे तो श्रेष्ठ वह मैना है जो तोतेसे कहती है कि इनके शत्रुका पैर काट लो।'

भ्रातृस्नेह—भाईके साथ कैसा व्यवहार किया जाय—इस विषयमें रामका चरित्र मानवमात्रके लिये सदासे आदर्श रहेगा। उन्होंने सदा अपने भाइयोंके प्रति अनुपम स्नेह, उनके सुख-सुविधा, उत्साह और अभिलाषापूर्तिका ध्यान रखा। चित्रकूटमें भरतके आगमनके अवसरपर उनके उद्गार अगाध भ्रातृस्नेहका परिचायक है। वे कहते हैं—'लक्ष्मण ! मैं सत्य और आयुधकी शपथ लेकर कहता हूँ कि धर्म, अर्थ, काम तथा पृथ्वी मैं तुम्हीं लोगोंके लिये चाहता हूँ। मैं भाइयोंकी भोग्य सामग्री और उनके लिये राज्य चाहता हूँ। भरत, तुझे और शत्रुघ्नको छोड़कर यदि मुझे कोई सुख मिलता हो तो उसमें आग लग जाय !' (अयो० ९७। ५, ६—८।)

शरणागतोंकी रक्षा—शरणमें आये हुए भयभीत पुरुषकी रक्षा करना प्रत्येक शक्तिशाली वीर पुरुषका कर्तव्य है। रावणके द्वारा अपमानित विभीषण कांदिशिक (निराश्रित) अवस्थामें जब अशरण-शरण भगवान् रामकी शरणमें गये, तब वानरसेनापतियोंके मनमें अनेक प्रकारके संदेह उत्पन्न हुए। केवल हनुमान्जीको छोड़कर सभीने विभिन्न प्रकारके मत व्यक्त किये। पर रामने बड़ी दृढ़ताके साथ सब मन्त्रियों और सेनापतियोंके सामने शरणागतरक्षणरूपी धर्मको सर्वथा उचित एवं परिपालनीय बताया। यदि शत्रु भी शरणागत है तो वह धर्मात्मा व्यक्तिद्वारा रक्षणीय है—

आर्तो वा यदि वा दीनः परेषां शरणं गतः।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना॥
(६। १८। २८)

'यदि शत्रु भी दीनतापूर्वक हाथ जोड़कर प्रार्थना करे तो उसे मारना नहीं चाहिये। दुःखी अथवा अभिमानी कोई भी शत्रु अपने विपक्षीका शरणागत हो जाय तो धर्मज्ञ पुरुष अपने प्राणके समान उसकी रक्षा करे।'

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥
आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥
(यु० का० १८। ३३-३४)

'मेरा यह व्रत है कि जो एक बार भी मेरी शरणमें आकर यह कह दे कि 'मैं आपका हूँ', उसको मैं सब प्राणियोंसे निर्भय कर देता हूँ। हे सुग्रीव ! वह विभीषण या रावण ही क्यों न हो, मैंने इसे अभयदान दे दिया; तुम इसे लाओ।' जयन्त काककी रक्षाका उदाहरण भी ऐसा ही है। शरणागतकी यह परम्परा भारतवर्षकी धरोहरके रूपमें आजतक चली आ रही है, जिसका साक्षी इतिहास है।

सत्य-पालन—मानवके अभ्युत्थानके लिये तथा सांसारिक व्यवहारको सुदृढ़ एवं सशक्त करनेके लिये सत्य-पालन आवश्यक है। भगवान् रामने अपने वचन, आचार और प्रतिज्ञाका पालन सत्यतासे किया है। उनके सीताके प्रति वचन हैं—

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्॥
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः॥
(३। १०। १८-१९)

'सीते ! मैं तुम्हें छोड़ सकता हूँ, लक्ष्मणको भी छोड़ सकता हूँ, अपने प्राणोंका भी परित्याग कर सकता हूँ, परंतु ब्राह्मणोंसे मैंने जो प्रतिज्ञा कर रखी है, उसे कभी नहीं छोड़ सकता।' वाल्मीकि इसी प्रकारका साक्ष्य दे रहे हैं—

दद्यान्न प्रतिगृह्णीयात् सत्यं ब्रूयान्न चानृतम्।
अपि जीवितहेतोर्वा रामः सत्यपराक्रमः॥
(५। ३३। २५)

'राम प्राणोंके लिये भी कभी झूठ नहीं बोलते थे। वे दान देते ही थे, कभी लेते नहीं थे। स्वयं रामकी यह उक्ति है—

अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन।

'मैं पहले कभी न तो झूठ बोला हूँ और न आगे कभी झूठ बोलूँगा।' वे कहते हैं—'देवि! राम दो तरहकी बात नहीं बोलता, जो कुछ कह दिया, कह दिया। फिर वह उसके विरुद्ध नहीं करता।' (२।१८।३०) सदाचारका यह एक उदात्त उदाहरण है। जिस समय सुग्रीवसे मित्रता करके श्रीरामने प्रतिज्ञा की थी, उस समय भी कहा था कि—

तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥

मैं लोभ, मोह और अज्ञानसे पिताकी सत्य मर्यादाको भङ्ग नहीं करूँगा। उन्होंने चित्रकूटमें भी भरतसे कहा था। ऋषियोंके समक्ष प्रतिज्ञा करके अब मैं जीतेजी इस प्रतिज्ञाको मिथ्या नहीं कर सकूँगा; क्योंकि सत्यका पालन मुझे सदा ही इष्ट है।

पिता-भक्ति—माता-पिताकी भक्तिका अनुपम आदर्श भगवान् रामने जो निभाया है, उसका निर्वाह करनेवाले कतिपय व्यक्ति ही गणनामें मिलेंगे। पिताके प्रति उनकी भक्तिकी चर्चा हो चुकी है। अब विमाताके प्रति देखें। मातृ-भक्तिकी परम सीमा यहाँ प्रकट है—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु॥
(३।१६।३७)

वे पञ्चवटीमें कैकेयीके प्रति लक्ष्मणके अनुदार वचन सुनकर कहते हैं—'लक्ष्मण! तुम्हें मझली माँकी निन्दा कभी नहीं करनी चाहिये। तुम इक्ष्वाकु-कुलश्रेष्ठ भरतजीकी ही चर्चा करो'। सदाचारका यह कैसा अवदात रूप है!

कृतज्ञता—मनुष्यका कृतज्ञ होना मानवताका परम उपादेय गुण है, जिसका प्रत्येक मानवमें होना आवश्यक है। जटायुके मरनेपर भगवान् रामका कृतज्ञतापूर्वक शोकोद्गार इस विषयमें उल्लेख्य है। —'लक्ष्मण! इस समय सीताहरणका उतना दुःख नहीं है, जितना कि मेरे लिये प्राणत्याग करनेवाले जटायुकी मृत्युसे हो रहा है। जिस प्रकारसे पूज्य पिता दशरथ मेरे माननीय थे, वैसे ही ये पक्षिराज जटायु भी हैं। (३।६८।२५-२६।) इसी प्रकार हनुमान्‌जी-के प्रति रामकी कृतज्ञता तथा उदारतामयी उक्ति है—

मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे।
नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥
(७।४०।२४)

'हनुमन्! तुमने जो मेरे साथ उपकार किया है, वह मेरे अंदर ही जीर्ण हो जाय, मेरे लिये उसका प्रत्युपकार करनेका कोई कभी अवसर ही न आये; क्योंकि आपत्तिमें ही प्रत्युपकारकी अपेक्षा होती है।'

मित्रता—रामके चरित्रमें मैत्रीकी पराकाष्ठा देखी जाती है। विपन्न सुग्रीवके साथ मैत्री कर रामने उसका पूरा निर्वाह किया और उसे श्रेष्ठ मित्र माना तथा अन्तिम समय उन्हें अपने साथ भी रखा। (वा० रा० ७। १०८।२५) मैत्रीका निर्वाह सदाचारका अन्यतम अङ्ग है।

उदारता—कैकेयीसे बात करते हुए भगवान् राम कहते हैं—

अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान् धनानि च।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरताय प्रचोदितः॥
(वा० रा० २।१६।७)

'मैं भरतके लिये राज्य, सीता, प्रिय प्राणों और सम्पूर्ण सम्पत्तियोंको भी प्रसन्नतापूर्वक दे सकता हूँ।' रामकी ऐसी सदाचारमयी उदात्त भावना प्रत्येक अवसरपर देखनेको मिलती है। जहाँ देनेका प्रकरण आया है, वहाँ उनकी कहीं भी संकुचित वृत्ति नहीं देखी जाती।

अपकारकी विस्मृति—उपकारका स्मरण करना आवश्यक इसलिये है कि किसी प्रकारसे वह उसका प्रत्युपकार कर ऋणमुक्त हो, किंतु अपकारका स्मरण

करना ठीक नहीं; क्योंकि प्रत्युपकार कोई साधु-जन-सम्मानित नहीं है। इसलिये राम अन्य परकृत सैकड़ों अपकारोंका भी स्मरण नहीं करते थे, अपितु उसका विस्मरण करना ही श्रेयस्कर समझते थे—

कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥
(२।१।११)

सहिष्णुता—इसी प्रकार उनका वनवासी जीवन तथा सीता-त्यागादिकी घटनाएँ सहिष्णुताकी भी सीमारेखा बना देती हैं, जिन्हें पूर्ण रूपसे रामायणमें देखा जा सकता है।

पति-पत्नी-सम्बन्ध (दाम्पत्य-भाव)—पति तथा पत्नीका अटूट सम्बन्ध, निश्चल प्रेम, उदात्त भावना, हृदयकी विशालता, एकता, परस्पर विश्वासका अवदात-स्वरूप रामके चरित्रमें प्राप्त होता है। न केवल राम ही इस सम्बन्धमें आदर्श उदाहरण हैं, अपितु विदेहकुमारीका भी स्थान सर्वोच्च है। स्वयं सीताकी उक्ति रामके एक पत्नीव्रतके प्रमाणमें पर्याप्त है—

कुतोऽभिलषणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम्।
तव नास्ति मनुष्येन्द्र न चाभूत् ते कदाचन॥
मनस्यपि तथा राम न चैतद् विद्यते क्वचित्।
स्वदारनिरतश्चैव नित्यमेव नृपात्मज॥
(३।९।५-६)

'राजन्! पर-स्त्रीविषयक धर्मविरुद्ध अभिलाषा आपको न है, न हुई थी और न भविष्यमें होगी। राजपुत्र! आपके मनमें यह दोष कभी उदित नहीं हुआ। आप सदा अपनी धर्मपत्नीमें ही रत रहते हैं।' राक्षसियोंको फटकारती हुई सीता कहती हैं, मेरे पति दीन हों अथवा राज्यहीन, वे ही मेरे स्वामी तथा गुरु हैं, मैं उन्हींमें अनुरक्त हूँ—जैसे कि सुवर्चला सूर्यमें, शची शक्रमें, अरुंधती वसिष्ठमें, रोहिणी चन्द्रमें, लोपामुद्रा अगस्त्यमें, सुकन्या च्यवनमें, सावित्री सत्यवान्‌में, श्रीमती कपिलमें, मदयन्ती सौदासमें, केशिनी सगरमें, दमयन्ती नलमें अनुरक्त है। (सु० का० २४।९)

कनिष्ठ भ्राताका कर्तव्य—

व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेष तवानघ।
एष लोके सतां धर्मो यज्ज्येष्ठवशगो भवेत्॥

सुमित्रा वनवासके अवसरपर लक्ष्मणसे कह रही हैं—श्रीराम संकटमें हों अथवा समृद्धिमें हों, ये ही तुम्हारी गति हैं। हे निष्पाप! संसारमें सत्पुरुषोंका यही धर्म है कि सर्वदा अपने बड़े भाईके अनुकूल रहे। (२।४०।६)

दयालुता—रामचन्द्र परम दयालु थे, यह बात किसीसे छिपी नहीं है। वे भगवान् विष्णुके अवतार थे। अतः भगवत्ताके कारण दया-सागर और भक्त-वत्सल होना उनका स्वाभाविक धर्म है। किंतु मनुष्य बननेपर सांसारिकतामें भी उनकी दयालुता रावणके गुप्तचर या दूत शुकके प्रति द्रष्टव्य है—**'नाघातयत् तदा रामः श्रुत्वा तत्परिदेवितम्'** (६।२०।३४)—,उसका विलाप सुनकर रामने उसका वध नहीं होने दिया। उन्होंने वानरोंसे कहा कि 'इसे छोड़ दो, यह दूत होकर ही यहाँ आया था।'

मर्यादा—भगवान् रामचन्द्र मर्यादाका पूर्णरूपसे आजीवन पालन करनेके कारण ही लोकमें मर्यादापुरुषोत्तम कहे जाते हैं। वे स्वयं मर्यादित रहते हुए दूसरेको भी मर्यादित देखना चाहते थे तथा मर्यादाका उल्लङ्घन करना व्यक्तिका बहुत बड़ा दोष एवं अपराध समझते थे। उन्होंने ऐसे ही व्यक्तियोंके ऊपर अस्त्र उठाये हैं, जो मर्यादाको लाँघकर समाजको दूषित कर रहे थे; जैसे वाली, रावण आदि राक्षस, शम्बूक, ताड़का आदि अमर्यादित व्यक्ति। भगवान् राम वैरको भी मरणान्त-तक ही मर्यादित मानते थे, उसके उत्तरकालतक नहीं; इसलिये ऐसे अधम व्यक्तियोंको भी मरणोत्तर उत्तम गति दी जो दुर्लभ एवं दुष्प्राप्य थी। स्वयं रामका यह वचन द्रष्टव्य है—

मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव॥
(६।१११।१०१)

रावण-वधके अनन्तर राम विभीषणसे कह रहे हैं कि 'मरणतक ही वैरभावकी सीमा है। वैरभाव सप्रयोजन होना चाहिये, निष्प्रयोजन नहीं। प्रयोजनकी पूर्तिके साथ ही वैरभावकी समाप्ति हो जानी चाहिये। तुम इसका संस्कार करो, जैसा यह तुम्हारा आत्मीय है, वैसा ही मेरा भी है।'

मर्यादाकी रक्षा हो, इसलिये उन्होंने कौसल्याकी आज्ञा (जिनका स्थान पितासे दशगुना बड़ा था—**'पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते'**) न स्वीकार करके अपने पिताकी मर्यादा सुरक्षित की। वे पुरुषके एकपत्नीव्रतकी मर्यादाको परमावश्यक समझते थे। यही कारण है कि सीता-परित्यागके अनन्तर पुत्र-पत्नी-रहित होते हुए भी द्वितीय पत्नीको स्वीकार नहीं किया और सुवर्णमयी सीताकी प्रतिमासे अश्वमेध-यज्ञका अनुष्ठान किया। मर्यादापालक रामके सम्पूर्ण जीवनके मर्यादित होनेके कारण ही उन्हें वाल्मीकिने महान् धर्मके रूपमें स्वीकार किया। रामकी यह उक्ति स्वयं उन्हें धर्ममूर्तिका स्वरूप प्रदान कर रही है—

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममाश्रितम्॥
(२।१९।२०)

'देवि! मैं धनका उपासक होकर संसारमें नहीं रहना चाहता। तुम विश्वास करो। मैंने भी ऋषियोंकी भाँति निर्मल धर्मका आश्रय ले रखा है।' प्रसङ्गवश कुछ सदाचारके वचनोंको भी उद्धृत करना आवश्यक समझकर अब वाल्मीकिप्रतिपादित यहाँ कुछ स्त्रियोंके सदाचार-विषयकी बातें दी जा रही हैं—

जिन स्त्रियोंको अपना पति—चाहे वह नागरिक, वनवासी, भला-बुरा या किसी भी प्रकारका क्यों न हो, पर प्रिय हो, उन स्त्रियोंको अभ्युदयशाली लोकोंकी प्राप्ति होती है। दुष्ट स्वभाववाला, स्वेच्छाचारी, धनहीन भी पति उत्तम स्त्रियोंके लिये श्रेष्ठ देवता है। हे सीते! पतिसे बढ़कर स्त्रीका कोई हितकारी बन्धु नहीं है, इसे मैं (अनसूया) विचारपूर्वक देख रही हूँ। असाध्वी, कामुकी स्त्रियोंको गुण और दोषोंका ज्ञान नहीं रहता। वे पतिपर शासन करती हुई स्वच्छन्द विचरती हैं।' (अयो० ११७।२३।२७।)

रामका कौसल्याके प्रति यह कथन भी सदाचारिणी स्त्रियोंके लिये उपयोगी है—जो स्त्री गुण और जातिसे उत्तम होकर भी व्रत और उपवासमें (ही) आसक्त रहती है और पतिसेवा नहीं करती, वह अधम गतिको पाती है। स्त्रियाँ देवताओंकी पूजा-वन्दनासे रहित होती हुई भी पतिसेवासे उत्तम गति प्राप्त करती हैं। पतिकी सेवा तथा उनका प्रियकार्य करना ही स्त्रियोंका वेदसम्मत धर्म है। (२।२४।२५—२८।)

सीताका रामके प्रति यह कथन भी सदाचारका उत्कृष्ट रूप है—'आर्यपुत्र! पिता, माता, भाई, पुत्र और पुत्रवधू—ये अपने पुण्यका भोग करते हुए अपने-अपने भाग्यानुसार जीवन बिताते हैं। केवल नारी ही अपने पतिके भाग्यका अनुसरण करती है। स्त्रियोंके लिये इस लोक तथा परलोकमें एकमात्र पति ही आश्रय है, पिता-पुत्र आत्मा, माता और सखीजन सहायक नहीं हैं।' (अयो० २७।४—६।) कौसल्याका सीताके प्रति उपदेश कुलीन नारियोंके लिये भी आदर्श सदाचार है—

साध्वीनां तु स्थितानां तु शीले सत्ये श्रुते स्थिते।
स्त्रीणां पवित्रं परमं पतिरेको विशिष्यते॥
(२।३९।२४)

शील, सत्य, शास्त्र, मर्यादामें स्थित साध्वी स्त्रियोंके एकमात्र पति ही परम पवित्र देव हैं।

वाल्मीकीयरामायणमें प्रतिपादित सदाचारके वर्णनके प्रकरणमें श्रीरामके आचरणको आदर्श माना गया है और उनके द्वारा किया गया आचार ही मुख्य अनुकरणीय सदाचार समझा जाता है। इसीलिये रामायणका महातात्पर्यार्थ **'रामवदेव वर्तितव्यं न क्वचित् रावणादिवत्'** प्रसिद्ध है। श्रीरामका सदाचार सबके लिये अनुकरणीय है। इस प्रकार देखा जाय तो भगवान् रामके प्रत्येक कार्य जन्मसे यावत्स्थिति मर्यादासे पूर्ण रहा। अतः वाल्मीकीयरामायणका सदाचार भगवान् रामका आचार ही है जो मानवमात्रके लिये अनुकरणीय है।

महाभारतमें सदाचार-विवेचन

(लेखक—श्रीगिरिधरजी योगेश्वर, एम्० ए०)

सभी शास्त्रोंमें मूर्द्धन्य पञ्चमवेद महाभारत सदाचार-सम्बन्धी उपदेशोंका अक्षय रत्नाकर है। इस सम्बन्धमें महर्षि कृष्णद्वैपायनका यह उद्घोष कि—'जो कुछ महाभारतमें वर्णित है, वही अन्यत्र भी है, जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है'—अक्षरशः सत्य है। अठारह पर्वों, एक सौ पर्वाध्यायों, एक हजार नौ सौ तेईस अध्यायों तथा एक लाख श्लोकोंवाले इस 'कार्ष्णवेद'में पदे-पदे सदाचारके मधुर सुललित अमृतोपदेश भरे पड़े हैं। महाभारतकी मूलकथा सदाचारी पाण्डवोंकी दुराचारी कौरवोंपर विजयका दिग्दर्शन कराती है। मूलकथाके साथ-साथ अनेक अवान्तर कथाएँ भी सदाचारका महत्त्व दरसाती हैं। आदिपर्वके आरम्भमें आयोदधौम्यके शिष्यों—'आरुणि,' 'उपमन्यु' और 'वेद' आदिकी कथाएँ आदर्श गुरुभक्तिके सुन्दर उदाहरण हैं। ययातिके स्वर्ग-पतनके समय अष्टकने उनसे प्रश्न किया कि—'राजन् ! मनुष्य सर्वश्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति कैसे कर सकता है ?' तो उन्होंने अपने उत्तरमें सदाचारका निरूपण करते हुए कहा था, 'स्वर्गके सात द्वार हैं—दान, तप, शम, दम, लज्जा, सरलता और करुणा।' अभिमान तपको नष्ट कर देता है। अभयके चार साधन हैं—अग्निहोत्र, मौन, वेदाध्ययन और यज्ञ। सम्मानित होनेपर सुख और अपमानित होनेपर दुःख नहीं मानना चाहिये।

वनपर्वमें पतिव्रता स्त्री तथा कौशिक ब्राह्मणकी कथाके माध्यमसे मार्कण्डेय ऋषि पाण्डवोंको शिष्टाचार-का उपदेश देते हुए कहते हैं—'शिष्ट पुरुष यज्ञ, तप, दान, स्वाध्याय और सत्यभाषणका ही व्यवहार करते हैं।' सदाचारी मनुष्य वही है जो काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और उद्दण्डता आदि दुर्गुणोंको जीत लेता है। वेदका सार है—सत्य, सत्यका सार है—इन्द्रिय-संयम और इन्द्रिय-संयमका सार है—त्याग। त्याग शिष्ट पुरुषोंका विशेष गुण है। शिष्ट पुरुष अलोलुप, विद्वान् और नियम-पालक एवं धर्मपर चलनेवाले होते हैं। नास्तिक, पापी तथा निर्दयी पुरुषोंका सङ्ग छोड़ दो। अहिंसा और सत्य—ये ही जीवोंका कल्याण करते हैं। न्याययुक्त कर्मोंका आरम्भ, किसीसे द्रोह न करना और दान करना ही धर्म है—यही शिष्टाचार है।

महाभारतमें सदाचारका अत्युत्तम विवेचन शान्तिपर्व और अनुशासनपर्वमें हुआ है। शान्तिपर्वमें एक स्थान-पर युधिष्ठिरको शीलकी महत्ता बताते हुए महाराज भीष्मजीने उन्हें मन, वाणी और शरीरसे किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना, सामर्थ्यानुसार दान देना, केवल वही कार्य करना जिससे सभी प्राणियोंका मङ्गल होता हो तथा जिसे करते समय आत्म-संकोचका अनुभव न होता हो—शीलका संक्षिप्त लक्षण बतलाया है। इसी

प्रसङ्गमें इन्द्र और प्रह्लादकी कथाके प्रतीकरूपमें शील, धर्म, सत्य, सदाचार, बल और लक्ष्मीको शीलके ही आधारपर आश्रित बताया गया है—

धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथाप्यहम्।
शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः॥

(महाभारत शान्ति० १२४ । ६२)

युधिष्ठिरके प्रति भीष्मपितामहजीने शिष्ट पुरुषोंके गुणोंका प्रतिपादन इस प्रकार किया है—'शिष्ट पुरुष मांस-भक्षणसे दूर, प्रिय-अप्रियमें सम रहते हैं; इन्द्रिय-संयम तथा सत्य-पालनमें ही प्रीति रखते और दान देते ही हैं; दान लेनेकी चेष्टा नहीं करते। वे परोपकारी, दयालु, अतिथिसेवी, माता-पिताके सेवक और देवता तथा पितरोंके पूजक होते हैं। उनमें काम, क्रोध, ममता, मोह, मत्सरता, भय, चपलता, लोभ, पिशुनताका सदा अभाव होता है। वे लाभ-हानि, सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय तथा जीवन और मरणको समान समझते हैं। वे उद्यमी, दृढ़परिश्रमी, प्रगतिशील एवं श्रेष्ठ मार्ग-पर ही चलनेवाले होते हैं। वे धन या यशकी इच्छासे नहीं, अपितु निःस्वार्थभावसे धर्मका सेवन करते हैं, धर्मका बाह्य ढोंग नहीं रचते। दूसरोंके संकट दूर करनेके लिये वे अपना सर्वस्वतक लुटा सकनेका साहस करते हैं।'

शान्तिपर्वमें मोक्षधर्मके दो सौ तैंतालीसवें अध्यायमें मुख्य सदाचारका वर्णन है। इसमें कहा गया है कि सदाचारी पुरुष सूर्योदयसे घंटाभर पहले उठे, सूर्योदयके समय कभी न सोये। सड़कपर, गौओंके मध्य और अन्नसे भरे हरे-भरे खेतोंमें मल-मूत्रका त्याग नहीं करे। शौचके उपरान्त मनुष्यको कुल्ला करके नदी आदिमें स्नान, संध्या और देवता-पितरोंका श्रद्धाभावसे तर्पण करना चाहिये। प्रातः-सायंकी संध्या कर गायत्रीजप करे। भोजन करनेसे पहले दोनों हाथ-पैर और मुँह धो लेना चाहिये तथा पूर्व या उत्तरकी ओर मुख करके भोजन करना चाहिये। परोसे भोजनकी निन्दा नहीं करनी चाहिये। रातको भीगे पैर न सोये। ब्राह्मणको विघसाशी तथा अमृतभोजी होना चाहिये—

विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं चामृतभोजनः।*

(२४३ । १५)

जो मिट्टीके ढेले फोड़ता, तिनके तोड़ता और नख चबाता है, उसकी आयु क्षीण होती है। अतिथिको कभी भूखा न रहने दे। न्यायसे जीविका अर्जित करे और माता-पिता आदि बड़ोंकी आज्ञासे ही उसे खर्च करे। गुरुजनोंको आसन, मान, दान आदिसे सदैव प्रसन्न रखे। नंगी स्त्री, उदय, अस्त, मध्याह्न तथा ग्रहणके समय सूर्यपर दृष्टिपात वर्जित है। परिचित मनुष्यसे भेंट होनेपर कुशल-क्षेम पूछना चाहिये। सभी शुभकार्य दाहिने हाथसे करे। सूर्य और चन्द्रमाकी ओर मुँह करके कभी पेशाब न करे। स्त्रीके साथ एक आसनपर सोना और एक ही पात्रमें भोजन करना आयुको नष्ट करता है। अपनेसे बड़ोंको कभी 'तू' कहकर न पुकारे। शिष्ट लोगोंका कथन है कि सभी प्राणियोंका धर्म मानसिक है, अतः मनसे समस्त जीवोंके कल्याणका ही चिन्तन करना चाहिये।'

अनुशासनपर्वके ९७, ९९ तथा १०४वें अध्याय-में सदाचारका अत्यन्त मार्मिक निरूपण हुआ है। अध्याय १०४में आता है कि युधिष्ठिरने भीष्मपितामह-से पूछा कि 'शास्त्रोंमें मनुष्यकी आयु सौ वर्ष बतायी गयी है; पर क्या कारण है कि वह पूरी आयु भोगने-से पहले ही मृत्युका ग्रास बन जाता है?' तब भीष्मजीने जो कहा वह इस प्रकार है—'युधिष्ठिर! आयु, लक्ष्मी तथा इहलोक एवं परलोकमें

* इसीके श्लोक १२-१३के अनुसार कुटुम्बशेष अन्नको 'विघस' तथा यज्ञशेषको 'अमृत' कहा गया है।

यश सदाचारसे ही मिलता है। जिस क्रूर, हिंसक प्राणीसे सभी जीव संत्रस्त एवं उद्विग्न रहें, वह कभी बड़ी आयु नहीं पाता। अतः कल्याणकामी मनुष्यको सदाचार-पालनमें ही तत्पर रहना चाहिये। पापी-से-पापी मनुष्य भी सदाचारका क्रमशः पालन करनेसे महात्मा बन सकता है। सत्पुरुषों और साधु पुरुषोंका व्यवहार ही सदाचारका स्वरूप है। सदाचारी मनुष्यके नाम-श्रवणमात्रसे ही दूरस्थ प्राणी प्रेम करने लगते हैं। गुरु और शास्त्रकी अवहेलना करनेवाले, नास्तिक, अधार्मिक, दुराचारी व्यक्तिकी आयु लम्बी नहीं होती। शीलहीन, अमर्यादित और अपरवर्णकी स्त्रियोंसे संसर्ग करनेवाला मनुष्य मरनेपर नरकमें जाता है। सदाचारी श्रद्धालु और ईर्ष्यारहित पुरुष सौ वर्ष-तक जीता है। क्रोधहीन, सत्यवादी, प्राणियोंकी हिंसा न करनेवाले, परच्छिद्र और दोषदृष्टिसे हीन, कपटशून्य मनुष्य भी पूरी आयु भोगता है।

'प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्तमें निद्रा-त्याग करके धर्म और अर्थसम्बन्धी कार्योंका चिन्तन करे। फिर शौचसे निवृत्त होकर आचमन करके संध्योपासन करे। सायंकाल भी इसी प्रकार शान्त और मौनभावसे संध्योपासन करना चाहिये। संध्योपासन जीवनको उदात्त और अवदात बनानेका श्रेष्ठ अनुष्ठान है। संध्योपासनसे द्विज दीर्घायु प्राप्त करता है और न करनेसे पतित हो जाता है। दीर्घसंध्याका तात्पर्य दीर्घसमयतक गायत्रीके जपसे है। पर-स्त्री-गमनसे बढ़कर कोई पाप नहीं है। स्त्रियोंके शरीरमें जितने रोमकूप होते हैं, उतने हजार वर्षोंतक व्यभिचारी लम्पट पुरुष नरकमें रहता है। केशोंका शृङ्गार, आँखोंमें अञ्जन तथा दन्त-मुख-प्रक्षालन आदि कर्म और देवपूजा दिनके पहले पहरमें ही करनी चाहिये। यदि मार्गमें ब्राह्मण, गाय, राजा, बूढ़ा, गर्भिणी स्त्री, दुर्बल और बोझ उठाये मनुष्य मिलें तो स्वयं किनारे हटकर इन्हें मार्ग दे देना चाहिये। चलते समय ब्राह्मण, देवालयों, गुरुजनों और परिचित मनुष्योंको दाहिने छोड़े, अपरिचित-के साथ अथवा अकेले कभी यात्रापर न जाय तथा प्रातः-सायं, मध्याह्न और विशेषकर रातमें कभी चौराहोंपर खड़ा न रहे। दूसरोंके पहने वस्त्र और जूतोंका उपयोग न करे। किसीकी निन्दा, चुगली और बदनामी न करे। औरोंको नीचा दिखानेका प्रयास कभी न करे। कुल्हाड़ीसे कटा वृक्ष हरा हो जा सकता है, पर वचन-बाणसे बिंधा मनुष्य कभी चैन नहीं पाता। अन्धे, काने, कुरूप, निन्दित तथा अपढ़ आदिका उपहास कभी न कीजिये। उद्दण्डता, कठोरता, द्वेषभाव, नास्तिकता, वेदनिन्दा एवं देवताओंपर आक्षेपसे सदा बचे। ब्राह्मणों-का अपमान कभी न करे और किसीसे व्यर्थ वैर-विरोध न बढ़ाये।

'प्रतिदिन प्रातः शास्त्रविहित काष्ठकी दतुअन ही उपयोग करे; पर विशेष पर्वपर उसे भी त्याग दे। मल-मूत्र उत्तरकी ओर मुख होकर त्यागे। उत्तर और पश्चिमकी ओर सिरहाना करके कभी न सोये, सोते समय सिर पूर्व अथवा दक्षिण दिशाकी ओर ही होना उचित है। अँधेरेमें पड़ी शय्यापर सोने-बैठनेसे पहले जाँच करना आवश्यक है। आसनको पैरसे खींचकर न बैठे। गुरुजनोंको प्रातः समय अवश्य प्रणाम करे, इससे दीर्घायु मिलती है। पलँगपर हमेशा सीधे ही सोना चाहिये, तिरछा होकर नहीं। परस्त्री-गमन तथा गर्भिणी-समागमसे सर्वथा बचे। मलिन दर्पणमें मुख देखना, फटे आसनपर बैठना, फूटी हुई काँसेकी थाली या फूटे बर्तनमें भोजन करना, जूठे हाथ मस्तक आदि अङ्गोंका स्पर्श करना, उच्छिष्टरूपमें ही शयन कर लेना, घरके समीप ही मल-मूत्र त्यागना, गुरुसे विरोध ठानना, ब्राह्मण-क्षत्रिय-सर्पादिसे छेड़-छाड़ करना, खड़े-खड़े भोजन तथा पेशाब आदि करना, किसी दूसरेके साथ एक पात्रमें भोजन करना, पतितोंका दर्शन-स्पर्श करना, दिनमें सोना तथा सायं-

काल नींद लेना, पढ़ना और भोजन करना; अपवित्रावस्था तथा अनध्यायकालमें भी वेद पढ़ना, जहाँ अपना आदर न होता हो वहाँ जाना और निन्दा एवं चुगली आदि आयुनाशक अवगुण सर्वथा छोड़ दे। भोजन तो भींगे पाँव ही करे, पर भींगे पाँव शयन करना निषिद्ध है। पक्षियोंकी हिंसा न करे। पुत्रोंको अच्छी विद्या पढ़ाये, कन्याको श्रेष्ठ कुलमें विवाहे, मित्रको धर्म-कार्यमें प्रेरित करे तथा नौकर भी अच्छे कुलके ही रखे। बलिवैश्वदेवयज्ञोपरान्त देवता, ब्राह्मण, अतिथि, भृत्य और बालकके भोजन कर लेनेपर ही स्वयं भोजन करे। जिसे कुत्तेने देख लिया हो, जो ललचायी आँखोंका लक्ष्य बना हो, जो लाँघ दिया गया हो, जो उच्छिष्ट अथवा बासी हो और जिसे रजस्वला स्त्रीने पकाया हो—उस भोजनका परित्याग कर दे। अपने जन्मनक्षत्रमें श्राद्ध कभी न करे, महात्माओंकी निन्दा और उनके गुप्त कर्मोंके प्रकटीकरणसे सदैव बचे। निवास उसी गृहमें करे, जो ब्राह्मणद्वारा वास्तुपूजनपूर्वक अच्छे कारीगरसे निर्मित हो। रातको नहाना और सत्तू खाना नहीं चाहिये। मांस-भक्षण एवं मदिरापानसे बढ़कर कोई पाप नहीं है—इनका कभी भूलकर भी उपयोग न करे। स्त्रियोंसे द्वेष न रखे। सुलक्षणा, सुन्दर, रूपवती, कुलीन एवं गृह-कार्यदक्ष कन्याका ही पाणिग्रहण करे और नित्य अग्निहोत्र करे।

बूढ़े, मित्र, गरीब तथा बन्धुको अवश्य आश्रय दे। मङ्गलकारी पक्षी—जैसे तोता, मैना आदि पालना अच्छा है, पर उद्दीपक—गीध, जंगली कबूतर तथा भ्रमर नामक पक्षी यदि घरमें कभी आ जायँ तो वास्तुशान्ति करवाना चाहिये। यज्ञ देखनेके अतिरिक्त बिना बुलाये कहीं न जाय। भोजन करते समय आसनपर बैठना, मौन रहना, पवित्र वस्त्र धारण करनेके साथ-साथ उत्तरीय (चादर या गमछा) भी रखना आदि नियमोंका पालन करे। सैरके लिये, सड़कोंपर घूमनेके लिये और देवपूजाके लिये अलग-अलग वस्त्र रखे। पेशाब आदि क्रियाएँ घरसे दूर करे, दूर ही पैर धोये और दूरपर ही जूठन फेंके। स्नानके बाद लाल रंगके पुष्प धारण करे तथा गीला चन्दन अपने ललाटपर लगाये।' आश्रमभेद और वर्ण-भेदके अनुसार सदाचार-पालनमें अन्तर तो है, पर उपर्युक्त शुभ कर्मोंका अनुष्ठान सभीके लिये आवश्यक है।*

गृहस्थको स्वदारनिरत दान्त, अनिन्दक और जितेन्द्रिय होना चाहिये। उसे अपने घरके लोगों तथा नौकरोंसे झगड़ा नहीं करना चाहिये—

स्वदारनिरतो दान्तो ह्यनसूयुर्जितेन्द्रियः।
दुहित्रा दासवर्गेण विवादं न समाचरेत्॥

(शान्ति० २४४। १४। १६)

इस प्रकार यहाँ गृहस्थके आचरणका वर्णन किया गया। वानप्रस्थियों तथा संन्यासियोंके शास्त्रनिर्दिष्ट आचार बड़े पवित्र हैं। वानप्रस्थी वर्षाके समय खुले आकाशके नीचे, हेमन्तमें जलमें और ग्रीष्म ऋतुमें पञ्चाग्नि सेवन कर तप करते हैं। संसारी प्रायः सारे प्रपञ्चसे अलग रहकर केवल भगवच्चिन्तन करते हैं। वे सभी द्वन्द्वोंसे मुक्त होकर सर्वात्मभावपूर्वक केवल भगवदर्थ ही शुद्ध धर्मका अनुष्ठान करते हैं।

---

* महाभारत १२। २४३-४६ तथा मनु० ६। ३८, ६। ९७ (एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः) के अनुसार गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासादिके आचार मुख्यतया ब्राह्मणके ही लिये हैं। मनु० ७-८ अध्यायोंके आचार राजाके लिये हैं, तथापि जितना सम्भव हो, दूसरोंको भी इनका अनुवर्तन करना चाहिये।

श्रीमद्भागवतमें वर्णित साधु-संतोंका शील-सदाचार

(लेखक—प्रो० पं० श्रीभैरवदत्तजी उपाध्याय)

परमभागवत सदाचारी साधुओंका पावन स्मरण और इनके श्रीचरणोंमें समर्पणपरक हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करना हमारे अध्यात्मनिष्ठ तपोमय भारतीय वाङ्मयकी मूल प्रवृत्ति रही है। सदाचारी साधुजन मानवीय आदर्शोंके मूर्तिमान् मानदण्ड तथा सबके श्रद्धेय हुआ करते हैं। साधु या संत किसे कहते हैं, इस विषय-पर गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसमें कई स्थानोंपर विभिन्न वक्ताओंद्वारा प्रश्न करवाया है; यथा—

संतन्ह के लच्छन रघुबीरा। कहहु नाथ भंजन भव भीरा॥
(३ । ४४ । ५)

संत असंत भेद बिलगाई। प्रनतपाल मोहि कहहु बुझाई॥
(७ । ३६ । ५)

इसके उत्तरमें रामचरितमानस, गीता एवं भागवतमें भी सदाचारी पुरुषोंके लक्षणोंकी विस्तृत चर्चा हुई है। यहाँ भागवतके 'कृपालुरकृतद्रोहः' आदि (११ । ११ । २९-३१) श्लोकोंके अनुसार संतके लक्षणोंकी व्याख्या की जा रही है। इसमें संतोंके कृपालुता आदि सत्ताईस लक्षण बतलाये गये हैं, जिनकी क्रमशः व्याख्या की जा रही है।

(१) **कृपालु**—सदाचारी व्यक्ति समस्त देहधारियों-पर कृपा करता है। अच्छा या बुरा कोई भी किसी प्रकारका व्यक्ति उसके पास आ जाय तो वह उसे आश्वस्त एवं संतुष्ट करता है। उसकी यह कृपा स्वार्थ अथवा किसी कारणसे नहीं होती। (२) **अकृतद्रोह**—उसका किसीसे द्रोह नहीं होता; क्योंकि वह किसीको दुःख देनेवाला नहीं मानता। वह अभूतरिपु और अजातशत्रु होता है। वह सबका मित्र होता है और सभीसे प्रेम करता है[१]। (३) **तितिक्षु**—वह सहिष्णु होता है और उसके मनमें अनुताप, दुःख, प्रतिहिंसा, भय, कायरपन आदि भाव नहीं होते। (४) **सत्यसार**—वह सत्यशील होता है। उसके मन, वाणी और कर्ममें सत्य रहता है। वह सदा सत्यका आग्रह और सत्यकी ईश्वररूपमें उपासना करता है। (५) **अनवद्यात्मा**—सदाचारीका अन्तःकरण परिपूत, परिशुद्ध और विक्षोभ-शून्य होता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर आदि विकार उसके चित्तमें नहीं होते। वह अनघ, निष्पाप, निष्कलुष और निष्कलङ्क होता है।

(६) **सम**—वह समदर्शी, समान व्यवहारवाला और प्रत्येक परिस्थितिमें समान मनःस्थितिवाला होता है। वह सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपने-आपको तथा भगवान्‌को, अपने-आपमें प्राणिमात्र एवं भगवान्‌को और भगवान्‌में अपने-आपको तथा समग्र प्राणियोंको देखता है। उसमें कुत्ता, गाय, हाथी, चींटी, मनुष्य, चाण्डाल, राजा-रङ्क, मूर्ख-विद्वान् तथा सुखी-दुःखी आदिके प्रति भेद-दृष्टि नहीं होती। घृणा, उपेक्षा अथवा तिरस्कारका भाव उसमें नहीं होता। वह सभीकी समानरूपसे सेवा एवं सहायता करता है। (७) **सर्वोपकारक**—वह सबका हितकर होता है। उसका सम्पूर्ण जीवन, समस्त आचरण, समग्र

१—सुजनो न याति वैरं परहितनिरतो विनाशकालेऽपि। छेदेऽपि चन्दनतरुः सुरभयति मुखं कुठारस्य॥
(स्कान्दीय, रामायणमाहात्म्य)

संत असंतन्ह के असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी॥ काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥
मानस आदिमें यही भाव है।

मन तथा तन परोपकारके लिये अर्पित होता है। उसकी समस्त विभूतियाँ परोपकारके लिये होती हैं[१]। (८) कामैरहतधी–उसकी बुद्धि कामनाओंसे धूमिल नहीं होती, क्योंकि वह कामवासनाओंसे परे होता है। वह कभी विषयोंका अनुचिन्तन नहीं करता और उनमें उसकी आसक्ति नहीं होती। अतः काम, क्रोध, लोभादि दुर्जय शत्रु उससे स्वयं पराजित रहते हैं। वे उसके विवेकको उपहत नहीं कर पाते[३]। (९) दान्त–उसकी चित्तवृत्तियाँ दमित रहती हैं और इन्द्रियोंके घोड़े विषयोंकी ओर नहीं दौड़ते; क्योंकि निरोधकी लगाम उनके मुँहमें लगी रहती है। वह संयमित, अनुशासित, आत्मनिगृहीत और आत्मवश्य होता है।

(१०) मृदु–वह मृदु होता है। जैसे पुष्प, जल, नवनीत और कमलदण्ड स्वभावसे ही कोमल हैं, वैसे ही सदाचारीका स्वभाव कोमल होता है, परंतु उसमें वज्रसे भी अधिक कठोरता भी रहती है। वह दूसरे दीन, दुःखी जनकी थोड़ी-सी पीड़ासे भी व्यथित हो जाता है, किंतु स्वयं बड़ी-से-बड़ी आपत्तिको सह लेता है। उसका चित्त सरल होता है और पुष्पके समान सभीको सुगन्धित करना उसका स्वाभाविक धर्म होता है। वह किसीसे परुष वचन नहीं बोलता। उसकी वाणीमें अमृत घुला होता है[४]। (११) शुचि—वह पवित्र होता है। शरीरकी पवित्रताके साथ मन, वाणी और कर्मकी पवित्रता उसमें सदैव रहती है। वह मनसे कभी बुरा नहीं सोचता, वाणीसे बुरा नहीं बोलता और शरीरसे कभी बुरा नहीं करता। वह सम्यक् आजीव, सम्यक्-कर्मान्त और सम्यक्-चरित्र होता है। सत्य और अहिंसाका पूर्णतः परिपालन करनेके कारण उसका नाम तथा उसकी कथाएँ भी पवित्र होती हैं[५]। (१२) अकिंचन— उसके पास कुछ भी नहीं होता। संग्रहकी वृत्ति भी उसमें नहीं होती। यदि थोड़ा-बहुत संग्रह होता भी है तो वह उसे भगवान्‌का—समाजका समझता है और सदैव समाजके हितमें लगानेके लिये तत्पर रहता है। उसके हृदयमें संगृहीत वस्तुओंके प्रति अधिकारकी भावना किंवा ममत्व नहीं होता।

(१३) अनीह—वह अनीह होता है। प्राप्त विषयोंके भोगकी स्पृहा उसमें नहीं होती और अप्राप्त विषयोंकी प्राप्तिकी भी वह लालसा नहीं करता। वह अकाम— कामनाओंसे मुक्त और वासनाओंसे अदूषित होता है।

२— पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥
संत सहहिं दुख परहित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी॥
भूर्जतरू सम संत कृपाला। परहित नित सह बिपति बिसाला॥

तथा— संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥
संत हृदय नवनीत समानां। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥ (मानस ७। १२४। ३-४)

३—कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः। (गीता ७। २०)

४—दान्तः शमपरः शश्वत् परिक्लेशं न विन्दति। न च तप्यति दान्तात्मा दृष्ट्वा परगतां श्रियम्॥
(महाभारत, वनपर्व)

(क) गीता २। ६७, ६। ६-७, १६। ११॥

बंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ। अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोइ॥ (मानस १। ३क)

५–(अ) अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्ध्यति॥ (मनु० ५। १०९)

उसकी यह निःस्पृहा विवशता, अक्षमता अथवा कुण्ठा-जनित नहीं होती। वह परम संतोषी होता है। उसके लिये गो, गज, वाजि, रत्न, धनका कोई मूल्य नहीं होता[६]। (१४) मितभुक्—वह जीवनके धारण करनेके लिये कुछ खाता है, खानेके लिये नहीं जीता। यह दिनमें एक बार थोड़ा और उत्तेजनाविहीन सात्त्विक भोजन करता है। वह पौष्टिक तथा स्वादिष्ट पदार्थोंका आग्रहण और स्वादहीन पदार्थोंका त्याग नहीं करता। (१५) शान्तः—उसका चित्त विषयोंसे सदा उपरत रहता है। जिस प्रकार समुद्रमें अनेक तरंगें और ज्वार-भाटे आते हैं, उस प्रकार उसके चित्तसागरमें सत्त्वादि-गुणोंके प्रभञ्जनसे विक्षुब्धता तथा उससे काम-क्रोधादि वृत्तियाँ उत्पन्न नहीं होतीं। यह तुरीयावस्थामें रहता है और सांसारिक उपद्रव उसे प्रभावित नहीं करते। वह सदा शान्त-दान्त बना रहता है।

(१६) स्थिरः—वह स्थिर होता है। वह दुःखसे न तो घबराता है और न सुखसे प्रसन्न होता है। वह धीर, लोभामर्षहर्षभयत्यागी, स्थिरबुद्धि, गतव्यथ, योगी, यतात्मा, असंमूढ और स्थितप्रज्ञ होता है। वह अपने निर्णयोंमें अचल होता है। उसके निर्णय विवेक-पूर्ण होते हैं। अतः वह बार-बार नहीं बदलता[७] है। (१७) मच्छरणः—भगवान्का कथन है कि वह मेरा शरणागत होता है। 'त्वमेकं शरणं मम' 'जागत सोवत सरन तुम्हारी'के भावसे समस्त सांसारिक सम्बन्धोंको भगवान्के साथ ही स्थापित करता हैं[८] और सम्पूर्ण कर्म उन्हें समर्पित करता है[९]। (१८) मुनिः—वह मननशील होता है। उसकी समस्त क्रियाएँ चिन्तन और विवेककी परिणति-स्वरूप ही होती हैं। परम प्रभुकी असीम कृपा या अनन्तशक्ति, अनन्तगुण और अनन्तलीलाओंका अनुभावन, मनन, चिन्तन, परि-कल्पन तथा परिशीलन करना उसका स्वभाव होता है[१०]। (१९) अप्रमत्तः—वह अप्रमत्त, सचेत, सावधान, जागरूक और आलस्यरहित होता है। वह विगत-संदेह, भ्रान्तिसे रहित तथा संशयसे परे होता है। वह सम्पूर्ण निष्ठाके साथ पूर्ण-समर्पणभावसे संग्रहके निमित्त कर्तव्य-परायण होता है[११]।

२०-गभीरात्मा—उसके स्वभावमें समुद्रकी अतल गहराई होती है। गोताखोर पैठकर ही मोती पा सकता है। जिस प्रकार समुद्र महानदियोंके जलको ग्रहण करनेपर भी तटबन्धोंको तोड़कर बहने नहीं लगता,

---

६-बिन संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥
राम भजन बिनु मिटहिं कि कामा। थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा॥
(क) विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥
(गीता २। ७१, साथ ही देखें श्लोक-क्र० ७० एवं १६। १२, १३, १४, १५ और १७।)

७-गीता २। ५४—५८ (स्थितप्रज्ञदर्शन) तथा गीता ५। २०।

८-गीता १८। ६२, १८। ६६।

९-कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ३६।)

१०-यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः। विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ (गीता ५। २८।)
तथा-या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥
(गीता २। ६९।)

११-गीता १८। २६।

इसी प्रकार वह भी मर्यादाका पालन करता है, शक्ति पाकर बौराने अथवा अन्योंको पीड़ित करने नहीं लगता। अपने उदरमें अनेक विषैले और भयानक जीवजन्तुओंको प्रश्रय देनेपर भी अप्रभावित रहनेवाले समुद्रकी भाँति ही वह समाजमें विषाक्त एवं अशान्त वातावरण बनानेवाले तत्त्वोंको अपने हृदयमें पचा लेता है और निर्विकार रहता है। वह गुणोंका संग्रह करता है। **(२१) धृतिमान्**—वह धैर्य धारण किये रहता है। वह न्यायपूर्ण तथा धर्मोचित मार्गसे कभी विचलित नहीं होता। प्रतिकूल परिस्थितियोंमें भी वह नहीं घबराता और न उसका विवेक ही कभी नष्ट होता है। हिमालयके समान वह सदा अचल रहता है। दुःख पड़नेपर वह स्वयं उसे सहता है। न वह अपना मानसिक संतुलन खोता है और न दूसरोंको भी दुःखी होने या बनानेकी कल्पना या उपक्रम करता है।

(२२) अमानी—वह मान चाहनेवाला अथवा मिथ्या गर्व करनेवाला मानी या अभिमानी नहीं होता। यदि उसे मान मिलता है तो वह प्रसन्न एवं गर्वित नहीं होता और यदि अपमान मिलता है तो वह दुःखी नहीं होता।[१३] **(२३) मानदः**—वह दूसरोंका सम्मान करता है। कभी किसीको अपमानित नहीं करता। उसके हृदयमें जीवमात्रके प्रति आदर, स्नेह, वात्सल्य और प्रेमका भाव होता है। वह सभीमें प्रभुकी मूर्तिका अवलोकन करता है। अतः समस्त जड़-चेतन जगत्‌के प्रति वह पूज्य-भाव रखता है और सम्मान करता है। **(२४) कल्पः**—वह समर्थ होता है। प्रत्येक कार्यको आत्मविश्वास और पूर्ण योग्यताके साथ करता है। अक्षमता, अयोग्यता एवं शक्तिहीनता उसमें नहीं होती। वह पलायनवादी, निराशावादी, कुण्ठा-ग्रस्त और दिग्भ्रमित नहीं होता। **(२५) मैत्रः**—वह जीवमात्रके प्रति मैत्रीभाव रखता है, समताके धरातलपर औरोंके दुःखोंको बाँट लेता है और अपने सुख तथा साधनाके शुभ परिणामोंको स्वयं नहीं भोगता। उनमें वह सभीको समानभागी मानता है। उसका किसीसे वैर-विरोध नहीं होता।[१४] 'वसुधैव कुटुम्बकम्'के सिद्धान्तका वह पूर्णतः परिपालन करता है।

(२६) कारुणिकः—वह करुणापूर्ण करुणाका सागर और करुणाकर होता है। उसका हृदय इतना संवेदनशील होता है कि दूसरेकी अल्प-से-अल्प पीड़ा भी उसके हृदयमें करुणाकी स्रोतस्विनी धारा प्रवाहित कर देती है। उसकी यह करुणा किसी जीवविशेष अथवा कारणविशेषकी अपेक्षा नहीं करती। जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश सभीको बराबर मिलता है, वैसे ही उसकी करुणा भी सभीको समानरूपसे मिलती है।

२७–कविः—वह कवि होता है[१५]। कवि ही नहीं, मनीषी-परिभू और स्वयम्भू भी होता है। उसे क्रान्तदर्शी कहा गया है। जीवनकलाकी नयी सृष्टि, भविष्यके लिये संदेश, समाजके लिये प्रेरणा, सत्य, शिव और सौन्दर्यकी उपासना व

---

१२ (अ) धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः। योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥
(गीता १८। ३३।)

(ब) साथ ही देखें वही १८। ३४ और ३५।

१३–सबहि मानप्रद आपु अमानी ॥ (मानस।)
मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः। निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ (गीता ११। ५५।)
यथात्मनि च पुत्रे च सर्वभूतेषु यस्तथा। हितकामो हरिस्तेन सर्वदा तोष्यते सुखम् ॥
(वि० पु० ३। ८। १३। १८।)

१४–अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्। स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ (गीता १७। १५।)

उसकी अभिव्यक्ति उसका धर्म है। समाजको उन्नतिके पथपर ले जाना, मार्गदर्शन देना और समग्र मानवताको नये आयाम-प्रदान करना उसका धर्म होता है। अन्यायके प्रति विद्रोहके स्वर निनादित कर प्रसुप्त मानवताको जाग्रत् करना उसका लक्ष्य है। वह ज्ञानवान्, विवेकी, कल्पनाशील, विचारक, भावुक, सहृदय और मर्मज्ञ होता है। एक शब्दमें वह विश्वजनीन होता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंमें एक **ऐसे** सदाचारयुक्त चरित्रका सर्वाङ्गीण रूप प्रस्तुत किया गया है, जो अलौकिक, दिव्य और असाधारण आभासित होते हुए भी अति मानवीय (Superhuman) काल्पनिक, मात्र आदर्शपरक तथा असम्भव नहीं है। तथा परिकल्पित चरित्र (Hiphothetical character)की भी यह एक दार्शनिक परिकल्पना (Hypothesis) नहीं है। यह एक ऐसे चरित्रका रेखाङ्कन है, जिसका आधार भारतीय संस्कृति, मानवीय मूल्य और उन मूल्योंको जीवनकी धरापर अवतारणा करनेवाले साधकोंकी वे समस्त आकाङ्क्षाएँ हैं, जिनकी साधनाका वे आजीवन प्रयत्न करते हैं और उनका जीवन इनके लिये ही समर्पित होता है। इन्हें आदर्श मानकर चलना हमारा कर्तव्य है।

उपपुराणोंमें सदाचारकी अवधारणा

(लेखक—डॉ० श्रीसियारामजी सक्सेना 'प्रवर', एम्० ए०, साहित्यरत्न, आयुर्वेदरत्न)

वेदार्थ-तत्त्वको जन-सामान्यके लिये बोधगम्य बनानेके उद्देश्यसे पुराणोंकी रचना हुई। पुराणोंका मूल रूप वेदोंके समान ही अति प्राचीन है। उपपुराणोंकी संख्या सामान्यतया अठारह प्रसिद्ध है—यद्यपि हमें सौके लगभग उपपुराणोंके नामोंके उल्लेख प्राप्त होते हैं। इनमें कालक्रमसे कुछ उपपुराण नष्ट हो गये हैं और कुछ अभीतक हस्तलिखित अवस्थामें पड़े हुए हैं। पाश्चात्योंकी मान्यता है कि उपपुराणोंकी रचना गुप्तकालमें हुई थी, किंतु मित्र मिश्रके अनुसार महर्षि याज्ञवल्क्यको भी उपपुराणोंकी जानकारी थी। (वीरमित्रोदय, परिभाषाप्रका० पृ० १५।) कूर्मपुराणमें और स्कन्दपुराणकी सूतसंहितामें कहा गया है कि ऋषियोंने व्यासजीसे अष्टादश पुराण सुननेके अनन्तर उपपुराणोंका ख्यापन किया। मत्स्यपुराणमें उपपुराणोंको पुराणोंका ही अन्यरूप या इन्हीं पुराणोंसे उत्पन्न कहा गया है—

अष्टादशभ्यस्तु पृथक् पुराणं यत् प्रदिश्यते।
विजानीध्वं द्विजश्रेष्ठास्तदेतेभ्यो विनिर्गतम्॥
(मत्स्यपु० ५३। ६३)

अतः कुछ उपपुराण तो पुराणोंके खिल (पूरक) भाग दीखते हैं; किंतु उनका कुछ-न-कुछ स्वतन्त्र स्वरूप भी है। उपपुराण स्थानीय मतों और सम्प्रदायों, आचार-व्यवहार तथा रीतियों और अन्य धार्मिक आवश्यकताओं (पूजा-विधि आदि)का वर्णन विस्तारसे करते हैं। वे धर्म, समाज, साहित्य और विज्ञानके विषयमें भी गहरी अन्तर्दृष्टि प्रदर्शित करते हैं। अतः वे भारतीय समाजके सांस्कृतिक इतिहासकी दृष्टिसे बहुत मूल्यवान् ग्रन्थ हैं। प्राप्त उपपुराणोंका पाठ बहुत कुछ अपने मूल रूपमें ही सुरक्षित है। उपलब्ध पुराणोंको हम छः कोटियोंमें रख सकते हैं—(१) वैष्णव, (२) सौर, (३) शैव, (४) शाक्त, (५) गाणपत्य और (६) स्थलमाहात्म्यादि विविध। जिस कोटिके जो उपपुराण हैं, उनमें उसी सम्प्रदायके अनुसार ही योग-तप, व्रत, पूजा, तीर्थ-महिमा और देवताओंका निरूपण हुआ है। नरसिंहपुराणमें नृसिंहकी अर्चना-विधि तथा महिमा बतायी गयी है। वैसे सभी उपपुराण भक्ति (हरिभक्ति और

गुरुभक्ति), आचरणकी शुद्धि और यम-नियम-पालनपर बल देते हैं। दान-महिमा, कर्मफल, प्रायश्चित्त और पुनर्जन्मकी मान्यता सभी उपपुराणोंमें एक-सी है।

वैष्णव-उपपुराण—ये पाञ्चरात्र और भागवत मतोंसे सम्बद्ध हैं। वैष्णव-उपपुराणोंमें श्रीविष्णुधर्म, विष्णु-धर्मोत्तर, नारसिंह, बृहन्नारदीय और क्रियायोगसार—ये छः उप-पुराण प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त भार्गव-उपपुराण, धर्मपुराण, पुरुषोत्तमपुराण, आदिपुराण और कल्किपुराण भी कई स्थानोंसे मुद्रित हो चुके हैं। 'क्रियायोगसार' और 'बृहन्नारदीय' पुराण में विष्णुभक्तिका विशेष निर्वचन हुआ है। बृहन्नारदीयमें भक्तिके दस सोपानों तथा विष्णुकी पञ्च शक्तियोंका सुन्दर निरूपण हुआ है। कुछ अध्याय गङ्गाकी महिमापर हैं। शिवकी भक्ति विष्णुभक्तिमें सहायक बतायी गयी है। 'क्रियायोगसार'में दास्यभक्तिपर विशेष बल दिया गया है और क्रियायोग अर्थात् कर्मद्वारा योगमें छः कार्योंका संनिवेश किया गया है—(१) गङ्गा, श्री लक्ष्मी और विष्णुकी आराधना, (२) ब्राह्मण-भक्ति, (३) अतिथि-सेवा, (४) दान, (५) एकादशी-व्रत और (६) धात्रीवृक्ष तथा तुलसीकी पूजा।

वैष्णव-उपपुराणोंका विवेच्य वैष्णव-दर्शन और तदनुरूप वैष्णवचर्या है। वैष्णव-आचार, वैष्णव-कर्मकाण्ड, वैष्णव-पर्वोंके अनुष्ठान और वैष्णव-तीर्थोंकी महिमाका भी इन उपपुराणोंमें विस्तारसे वर्णन हुआ है। ये आचार-विचार जनताको इतने मान्य हुए कि हिंदुओंके लिये सामान्य आचारकी व्यवस्था देनेवाले स्मृतिकारों और प्रबन्ध-लेखकोंने इनके उद्धरण प्रचुरतासे ग्रहण किये हैं।

सौर-उपपुराणोंमें—सूर्य, साम्ब और भविष्योत्तरपुराण उपलब्ध हैं। साम्बपुराण पूर्णतया सूर्याराधनसे सम्बद्ध है। इनमें योगाचार, शिष्टाचार, आचार-विचार, मन्त्र, दीक्षा, विविध दान और कर्मफल आदिका निरूपण है। प्रायः सभी महापुराणोंमें भी सूर्याराधन-सदाचारकी प्रचुर सामग्री है।

शैव-उपपुराणोंमें—शिवपुराण, सौर-पुराण, शिव-धर्म, शिवधर्मोत्तर, शिवरहस्य, एकाम्रपुराण, पराशर-पुराण, वासिष्ठ, लैंग आदि प्रसिद्ध शैवउपपुराण हैं। इनमें शिव, लिङ्ग और एकाम्रपुराण मुद्रित हैं। शिवपुराण आगमिक शैवमतके अनुकूल है। 'एकाम्र-पुराण' भी आगमिक शैवोंका है। 'सौर-पुराण' पाशुपत-मतसे सम्बद्ध है। इसमें शिव-पार्वतीकी महिमा तथा अन्य मतोंकी अपेक्षा पाशुपतमतकी उत्कृष्टता प्रतिपादित हुई है। 'शिव-धर्म' और 'शिवधर्मोत्तर' भी वेदनिष्ठ पाशुपतोंसे सम्बद्ध हैं। इनमें शिव-उपासकोंके विभिन्न कर्तव्य, शिवज्ञान-प्राप्ति, शिवयोगका अभ्यास, शिवपर्व-पूजा, व्रत, उपवास, पापियोंको दण्ड और पुनर्जन्म आदिका निर्वचन है।

शाक्त-पुराणोंमें—इन पुराणोंमें देवीपुराण, महाभागवत-पुराण, देवीभागवतपुराण और कालिकापुराण—ये चार महत्त्वके हैं और मुद्रित हैं। देवीपुराणमें आदिशक्ति भगवती विन्ध्यवासिनीके स्वरूप, अवतार, कार्य और आराधनपर प्रकाश डाला गया है। इसमें विविध शाक्तव्रतोपवास, आचार-विचार-व्यवहार और शैव, वैष्णव, ब्राह्म, गाणपत्य आदि सम्प्रदायोंका भी परिचय है। 'महाभागवत' भागवत महापुराणसे सर्वथा भिन्न है। इसमें परब्रह्मस्वरूपा कालीका स्वरूप-विवेचन, उनके विभिन्न रूपों, कार्यों, दस महाविद्याओं तथा आराधना-विधियोंका वर्णन है। 'देवी-भागवत' उपपुराणको तो शाक्तजन महापुराण भी मानते हैं। इसमें शाक्त विचारणाका निरूपण है। इसमें परब्रह्म और परमात्मस्वरूपा देवी भुवनेश्वरीकी धारणा है, जो सृष्टि-हेतु स्वयंको पुरुष-प्रकृति-रूपोंमें विभक्त कर लेती हैं और विभिन्न लक्ष्योंकी पूर्तिके लिये दुर्गा, गङ्गा आदि रूपोंमें प्रकट होती हैं। 'देवीभागवत' भक्ति-पर बल देता है और सर्वोच्च अवस्थामें ज्ञानको भक्ति ही मानता है। 'कालिकापुराण'में विष्णुकी योगनिद्रा, कालिकाके स्वरूप और आराधनाका विवेचन है। कालिका ही सती और पार्वतीरूप धारण कर शिवकी पत्नी बनती हैं। 'कालिकापुराण'में सामाजिक और धार्मिक महत्त्वकी अनेक बातें हैं।

गणेशसम्बन्धी दो ही उपपुराण उपलब्ध हैं—मुद्गलपुराण और गणेशपुराण। मुद्गलपुराणमें गणपतिके नौ अवतारों और बत्तीस रूपोंका वर्णन है—जब कि श्रीलक्ष्मण देशिकेन्द्रके 'शारदातिलक'में गणेशके ५१ और गणेशपुराणमें ५६ रूपोंका निरूपण है। दोनों गाणपत्य-उपपुराणोंमें भगवान् गणेशकी महिमा दिखायी गयी है। भविष्योत्तर और बृहद्धर्मपुराणमें सर्वजनके लिये अनुष्ठेय व्रत, पर्व, दान, आचार-व्यवहार आदिका निरूपण है। विविध विद्यासम्बन्धी उपपुराणोंमें 'नीलमत' (या नील) उपपुराण मुद्रित हुआ है। यह कश्मीरके इतिहासके स्रोतके रूपमें महत्त्वपूर्ण है। विविध उपपुराणोंमें बहुतसे अप्रकाशित हैं और बहुतसे नष्ट हो चुके हैं।'

पुराणों और उपपुराणोंमें सदाचारके लिये 'आचार' तथा 'वृत्त' शब्द व्यवहृत हुए हैं। सम्प्रदायोंमें 'आचार'का अर्थ 'सम्प्रदायनिष्ठा और तदनुरूप चर्या' होता है। 'आचार'का एक अर्थ विधि (कानून) भी है[3]। सत्कर्म ही सदाचार है। किंतु 'कर्म' अद्वैतदर्शनमें 'अविद्या'के क्षेत्रमें आता है, अतः भ्रान्ति न होने देनेके विचारसे 'कर्म'के स्थानपर 'आचार' या आचरण शब्दको ग्रहण किया गया है। सदाचार कर्मेन्द्रियोंका संयम और सन्मार्गीकरण है। ऐसा संयममय आचरण ही तप है। 'हाथ'का संयम दान, भगवत्पूजन, गुरुजन-अभिवन्दन आदिमें; 'चरण'का संयम देवालय, तीर्थ आदिमें जानेमें; जननेन्द्रियका संयम ब्रह्मचर्यमें और वागिन्द्रियका संयम 'सत्य-भाषण'-में है। सत्य वाणीका तप है। शास्त्रोंमें 'वाङ्मय-तप'की महती महिमा गायी गयी है। सत्य परब्रह्मरूप है। सत्य ॐकार है। सत्य परम पद है। सत्य परम धर्म है। सत्य सर्वोपरि है। सत्य ही तप है। सत्य अश्वमेधसे भी बड़ा यज्ञ, पुण्य, दान और सर्वलोक-प्रीतिकर कार्य है। सत्यमें ही समस्त चराचर जगत् प्रतिष्ठित है, सत्यसे ही सूर्य-चन्द्र-अग्नि-वायु-जल-पृथ्वी आदिके समस्त कार्य चल रहे हैं।[4] ऐसा सत्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् मूल शिवरूप है—

मूलीभूतं सदोक्तं च सत्यज्ञानमनन्तकम्॥
(शि० पु० रु० सं० सतीखं० ९। ४०)

यह सत्य जब वाणीमें व्यक्त होता है तो वह वाणी सुभाषित कहलाती है और जब वाणी सत्यसे रहित होती है तो काम-क्रोध-राग-द्वेषादिसे युक्त होकर दुर्भाषित कही जाती है—

रागद्वेषानृतक्रोधकामतृष्णानुसारि यत्।
वाक्यं निरयहेतुत्वात् तद् दुर्भाषितमुच्यते॥
(शि० पु० वा० सं० उ० खं० १२। २७)

सत्य जब कर्मके रूपमें प्रकट होता है, तब उस कर्मको सत्कर्म या सदाचार कहते हैं। सदाचार—जैसा कि हम अभी देखेंगे, त्रिविध होता है—सर्वजनकर्तव्य, सम्प्रदायाचार और शिष्टाचार। सर्वजनकर्तव्य सामान्य मानव-धर्म है। इनमें सर्वमैत्रीभाव, विश्व-बन्धुत्व, संतोष,

---

१. उपपुराणोंके रचनाकाल आदिकी जानकारीके लिये पठनीय हैं—श्री आर० सी० हाजराकृत 'स्टडीज इन द उपपुराणाज' भाग १-४।

२. उदाहरणार्थ, साम्बपुराणके सदाचारखण्डमें सामान्य सदाचरणके अतिरिक्त वैदिक होम, सप्त तिथियों-पर व्रत, न्यास-मुद्रा-मन्त्रद्वारा सूर्य-पूजा, अभिचार, कर्म-विपाक आदिका भी विवरण है।

३. द्रष्टव्य—(क) विष्णुधर्मोत्तरपुराण ३। ८६। १३९ (ख) याज्ञवल्क्यस्मृति—व्यवहाराध्याय, आचाराध्याय।

४. सत्यमेव परं ब्रह्म सत्यमेव परं तपः। सत्यमेव परो यज्ञः सत्यमेव परं श्रुतम्॥
पालनं सर्ववेदानां सर्वतीर्थावगाहनम्। सत्येन वहते लोके सर्वमाप्नोत्यसंशयम्॥
अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्। लक्षाणि क्रतवश्चैव सत्यमेकं विशिष्यते॥
सत्येन देवाः पितरो मानवोरगराक्षसाः। प्रीयन्ते सत्यतः सर्वे लोकाश्च सचराचराः॥
(शि० पु० उ० सं० १२। २३-३१)

दया, सहिष्णुता, परनारीके प्रति मातृभाव आदि विभिन्न वैयक्तिक गुणोंका संवर्धन तथा आसक्ति-हिंसादि दोषोंसे निर्मुक्तिका समावेश होता है[1]। इनमें शुभाशुभ कर्मोंको भी सम्मिलित किया जाता है। स्वर्ग दिलानेवाले कर्म (यथा—अपने कर्तव्योंका विधिवत् पालन, मांस-मदिराका त्याग, विविध दान आदि) शुभ कार्य हैं और नरकमें ले जानेवाले कर्म (निषिद्ध कर्म) अशुभ कर्म[2] हैं। होम, देवपूजन, पितृपूजन, अतिथि-गो-ब्राह्मण-सेवा, शिष्टाचार, मधुर सम्भाषण और पुरुषकार-सम्पन्नता (अर्थात् अभय-धीर-साहसी होना) आदि सदाचार हैं[3]। अतिथि-सेवा न करनेसे पुण्य क्षीण हो जाते हैं[4]। सर्वप्रथम गुरुजन-अभिवादन तथा वृद्धादिकोंका पालन आदि विहित कर्मोंके अन्तर्गत हैं[5] और दूसरेको दण्ड देनेकी इच्छा, क्रुद्ध होकर दूसरेपर आघात आदि निषिद्ध कर्म हैं[6]। वर्णाश्रमधर्मको भी प्रायः सामान्य-मानव-धर्म ही समझना चाहिये। उपपुराणोंमें वर्णों और आश्रमोंके कर्तव्योंका साङ्गोपाङ्ग विस्तृत निरूपण हुआ है। आरम्भमें पाञ्चरात्रसंहिताएँ वर्णाश्रम-धर्मको मान्य नहीं करती थीं, किंतु कालक्रममें वे वर्णाश्रम-धर्मके प्रभावमें आ गयीं और तब पाञ्चरात्र-दर्शन-प्रेरित उप-पुराणोंमें वर्णाश्रम-धर्मका निरूपण होने लगा[7]। विष्णु-धर्मोत्तरपुराणमें चतुर्वर्ण और मिश्रवर्णके सामान्य धर्म और आपद्धर्मका भी विवेचन है[8]। विष्णुधर्मपुराणके अनुसार वर्णाश्रम-धर्म मनुष्यकी चरम शक्तिकी पथ-प्रगति है[9]।

सम्प्रदायसम्बन्धी आचारोंमें शैव, वैष्णव और शाक्त धर्माचारोंका निरूपण हुआ है। परम धर्मके चार पाद हैं—चर्या, विद्या, क्रिया और योग[10]। दैनिक चर्या सदाचारमय होनी चाहिये। इष्टदेवके स्वरूपका बोध होना चाहिये, उनकी प्रसन्नताकी क्रियाओंमें—उपासना-विधियों और सदाचारमें रत रहना चाहिये तथा योगनिष्ठ होकर उनका ध्यान करना चाहिये। शिवधर्म

१–विष्णुधर्मपुराण अध्याय ३, ४, ५, ७, ८, १४, १५, २२, २५ और ७३ इनमें अ० २५ विशेषरूपसे द्रष्टव्य है।

२–विष्णुधर्मोत्तरपुराण अ० ११७-११८।

३–वही, अ० २८७ से २९५।

४–अतिथिं चावमन्यन्ते काले प्राप्ते गृहाश्रमे। तस्मात् ते दुष्कृतं प्राप्य गच्छन्ति निरयेऽशुचौ ॥
अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते। स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥
(शि० पु० उ० सं० १० । ३२, ४८)

५–(क) प्रातरुत्थाय पितरमाचार्यमभिवादयेत् ॥
(ख) वृद्धो गतिरवसन्नो मित्राणि शुकसारिकाः। पारावताः पुण्यकृतां गेहे स्युस्तैलपायिकाः ॥
(साम्बपु० अ० ४४)

६–(क) परस्मिन् दण्डेन न इच्छेत्। (ख) क्रुद्धोऽपि न हन्यादन्यत्र भार्या-पुत्र-दास-दासी-शिष्य-भ्रातृभ्यः। (साम्बपुराण अ० ४४)

७–द्रष्टव्य—स्टडीज इन द उपपुराणाज, प्रथम भाग, पृ० ११०।

८–विष्णुधर्मोत्तर, अ० ८३-८४।

९–विष्णुधर्मपुराण ११०। २३६-२३७। 'विप्रश्च मुक्तिलाभेन युज्यते सत्क्रियापरः ॥'

१०–पाशुपतसूत्र।

पाँच प्रकारके हैं—तप, कर्म, जप, ध्यान और ज्ञान[1]। इसी प्रकार केशवको प्रसन्न करनेवाले कर्म हैं[2]—तप, पूजा, मुक्ति-प्रयास, संगम-स्नान, सर्वदेव-सम्मान, सर्वधर्म-आदर, पाञ्चरात्र भक्तोंका सत्कार और पञ्चकाल भक्ति[3]। योग, क्रियायोग और वृत्तिनिरोध आवश्यक हैं[4]। देवीको प्रसन्न करनेवाले भी ऐसे ही कार्य हैं[5]।

भक्तिपरक उपपुराणोंमें भक्तिको नित्य-विधेय कहा गया है। भक्तिके लक्षण तथा उसकी महिमा बताते हुए कहा गया है कि भक्ति ज्ञानका मुख्य हेतु है,[6] अथवा भक्ति और ज्ञान अभिन्न हैं[7]। भक्तिहीन ज्ञान नरककारी है[8]। भक्ति भगवान्की प्राप्तिका सर्वप्रमुख साधन है[9]। यहाँतक कि भक्तिसे भगवान् भक्तके अधीन रहते हैं। (शिवपुराण २। २। २३। १६।) इस क्षणभङ्गुर, किंतु दुर्लभ मनुष्य-जीवनमें शिवपूजन (भगवदाराधन) ही सार है। (शिवपुराण ६। २। २६।) अतः हमें अपने समस्त (दानादि) कर्म भक्तिपूर्वक ही करने चाहिये। (वही २५। ५१-५२) अथवा समस्त कर्म भगवदर्पण कर देने चाहिये। भक्तिविहीन कार्य निष्फल और विपत्ति-संकुल हो जाते हैं। अतः वेद-ब्राह्मणसम्मान, अहिंसाव्रत, विष्णुमें मनकी लीनता और विष्णुपूजन (जो यज्ञों और दुष्कर तपोंकी अपेक्षा अधिक फलदायी है।) इन भागवत आचारोंका पालन करना सर्वथा अपेक्षित है। क्योंकि अभागवतको विष्णु-प्राप्ति नहीं हो सकती। आत्मज्ञान, निरति, हिंसा-विरति विश्व-साम्य, संतोष, सत्य, धीरता, दयालुता, परस्त्रीमें मातृभाव, स्वपत्नीव्रत, स्वकर्मपालन, गो-ब्राह्मण-सेवा आदि विष्णुभक्तके लक्षण ही श्रुति-स्मृतिकथित भारतीय सदाचार हैं।

इस प्रकारके आचरण सबके लिये हैं, यह लोकाचार है। भगवान्की प्रसन्नताके लिये व्रतोपवास, सत्कर्म, सदाचार आदिका विधान करनेवाला 'पाञ्चरात्र' लोकधर्म है। वह जनताका सदाचार है[10]। उत्तम लोकाचार या जन-सदाचारको हम शिष्टाचार भी कहते हैं। अतः उप-पुराणोंने शिष्टाचारमें लोकाचारको पर्याप्त महत्त्व दिया है, यहाँतक कि शिष्टाचार और सदाचारका निर्णय करनेमें भी 'लोकसंग्रह'का ध्यान सर्वाधिक रखा गया

१—तपः कर्म जपो ध्यानं ज्ञानं चेति समासतः। (शि० पु० सा० सं० उ० खं० ८। ३७)

२—विष्णुधर्मोत्तर, अ० ५८। ३—वही, अ० ६१-६५। ४—विष्णुधर्मपु० अ० १-२। ५—देवीभागवत, नवम स्कन्ध।

६—वज्रसे मार्कण्डेय मुनि कहते हैं कि वैष्णव-तेज (विष्णुकी शक्ति)के बिना ब्रह्मा और शिवका अस्तित्व भी नहीं रह सकता। विष्णु-तेजको भक्तिरहित मनुष्य जान और समझ नहीं सकता। (विष्णुधर्मपु० अ० १७)

७—भक्तौ ज्ञाने न भेदो हि तत्कर्तुः सर्वदा सुखम्। विज्ञानं न भवत्येव सति भक्तिविरोधिनः॥
(शिवपु० रु० सं० स० खं० २३। १६)

८—केवलं ज्ञानमाश्रित्य निरीश्वरपरा नराः। निरयं ते च गच्छन्ति कल्पकोटिशतानि च॥ (वही ३५। ३१)

९—त्रैलोक्ये भक्तिसदृशः पन्था नास्ति सुखावहः। चतुर्युगेषु देवेशि कलौ तु सुविशेषतः॥ (वही २३। ३८)

श्रुतिस्मृत्युदितं धर्मं मनसापि न ये नराः। समुल्लङ्घ्य प्रवर्तन्ते ते भक्ता मम भामिनि॥
ब्रह्मरूपधरस्यास्यान्मम वेदा विनिःसृताः। मन्वादिरूपिणश्चैव समस्ताः स्मृतयः स्मृताः॥
श्रुतिः स्मृतिर्ममैवाज्ञा तामुल्लङ्घ्य यजेच्छुभे। सर्वस्वेनापि मां स नाप्नोत्याज्ञाविघातकृत्॥
(वि० ध० पु० ३। ५२। १५७—१५९)

१०—कृतं शतसहस्रं हि श्लोकानामिदमुत्तमम्। लोकतन्त्रस्य कृत्स्नस्य यस्माद् धर्मः प्रवर्तते॥
प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च यस्मादेतद् भविष्यति। यजुर्ऋक्सामभिर्जुष्टमथर्वाङ्गिरसैस्तथा॥
लोकधर्ममनुत्तमम्॥ महाभारत १२। ३३५। २९-३१।

है[1]। लोक-संग्रह-दृष्टिसे किये हुए उत्तम व्यवहार ही शिष्टाचार हैं। गुरुजनों, वयोवृद्धों, ज्ञानवृद्धों और भक्तोंका हाथ जोड़कर अभिवादन करना[2] तथा उनके दर्शनोंसे स्वयंको कृतार्थ एवं पवित्रीकृत मानना[3] उपपुराणोंके अनुसार सर्वमान्य भारतीय शिष्टाचार है। विष्णुधर्मोत्तरपुराणमें भारतीय शिष्टाचारका विस्तृत निरूपण मिलता है।[4]

'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः,' 'वृत्ततस्तु हतो हतः' तथा **'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः'** हमारे आचारके प्रमुख सूत्र हैं। आचारहीन व्यक्ति इस लोकमें निन्दित होता है और परलोकमें भी सुख नहीं पाता। सदाचारसे आयु-वृद्धि और आत्मशुद्धि होती है—**'सदाचारो हि पुरुषः शतं वर्षाणि जीवति,' 'शौचाचारः सदाचारः।'** उपपुराणोंके अनुसार आचार ही परम धर्म है। आचार परम धन, परम विद्या, परम गति है। अतः आचारवान् होना चाहिये।[5] (शि० पु० ६। २। १४। ५५—६) दृढ़-व्रत और दृढ़-चित्त आचारवान् निष्पाप व्यक्तिको कर्मोंका अनन्त फल अर्थात् स्वर्गतक प्राप्त हो जाता है[6]। आचारवान् सदा पवित्र, सुखी और धन्य होता है।[7] अपने स्वाचारका उल्लङ्घन किये बिना जो व्यक्ति हरि-भक्ति-निरत रहता है, वह देव-दृष्ट विष्णुधामको जाता है।[8] वेद-विहित वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेवाला हरिभक्त परमपद प्राप्त करता है।[9]

आचारसे धर्मका उद्भव होता है। धर्मके स्वामी अच्युत हैं। शास्त्रनिर्दिष्ट स्वाचारमें निरत होकर जो व्यक्ति अच्युताराधन करता है, उसे हरि सब कुछ देते हैं। वेदान्त-पारंगत होकर भी जो व्यक्ति अपने आचारसे च्युत हो जाता है, उसे 'पतित' कहा जाता है; क्योंकि वह श्रौत-स्मार्त कर्मसे बाहर रहता है। समस्त पवित्र शास्त्रोंमें आचारका प्रथम स्थान है; क्योंकि आचारसे धर्म होता है, जिसके स्वामी अच्युत हैं। हरिकी आराधना स्वधर्मका उल्लङ्घन न करनेसे ही सम्भव है। जो व्यक्ति सदाचारका पालन नहीं करते, उन्हें धर्म और अर्थ कोई आनन्द प्रदान नहीं करते।[10] आचारसे धर्म प्राप्त होता है। आचारसे आनन्द प्राप्त होता है, आचारसे परम पद (चरमगति, मोक्ष) प्राप्त होता है। आचारसे क्या नहीं प्राप्त होता?[11] किंतु आचारका पूर्णतया पालन कभी-कभी दुष्कर भी हो जाता है, अतः

१—यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(नरसिंहपुराण १२। २४, श्रीमद्भगवद्गीता ३। २१।)

२—अभिवाद्य यथा न्यायं मुनींश्चैव स धार्मिकः। कृताञ्जलिपुटो भूत्वा तस्थौ तत्पुरतो दमी॥
(नरसिंहपु० ७। २६)

३—महर्षि भृगुसे राजा सहस्रानीकने कहा था—'पावितोऽहं मुनिश्रेष्ठ साम्प्रतं तव दर्शनात्॥
(वही १२। ६)

४—द्रष्टव्य—अध्याय २२७ से २३६।

५—यमीके बार-बार याचना करनेपर भी यम बहनसे समागमके लिये प्रस्तुत नहीं हुआ। उसके सदाचार-पालनकी दृढ़ताकी प्रशंसा करते हुए नरसिंहपुराणकार कहते हैं—

असकृत् प्रोच्यमानोऽपि तथा चैव दृढव्रतः। कृतवान् न यमः कार्यं तेन देवत्वमाप्तवान्॥
नराणां दृढचित्तानामेवं पापमकुर्वताम्। अनन्तं फलमित्याहुस्तेषां स्वर्गफलं भवेत्॥
(१२। ३५—३६)

६—आचारवान् सदा पूतः सदैवाचारवान् सुखी। आचारवान् सदा धन्यः सत्यं सत्यं च नारद॥
(देवीभागवत ११। २४। ९८)

७—बृहन्नारदीयपुराण ४। २०-२१; ८—वही, ४। २२—२६; ९—वही, १४। २०; १०—२०९—२११; ११—वही, ४। २७।

मार्गमें, रोगमें और महा-आपत्कालमें आचार-पालनके सम्बन्धमें शास्त्रोंने थोड़ी छूट भी दे दी है।[1]

परंतु सब आचारोंका एक-सा महत्त्व नहीं है। वृद्धाचार अवश्य ग्रहणीय है।[2] ग्रामाचारका ग्रहण स्मृति-निर्देशोंके अनुरूप ही करना चाहिये।[3] देशाचारका ग्रहण अपने-अपने देशके नियमों, रीति-रिवाजों आदिके अनुसार किया जाना चाहिये, अन्यथा उस व्यक्तिको पतित कह दिया जाता है। आत्म-अनात्म-विवेक-बुद्धिसे किया हुआ योग-युक्त कर्म धर्म और अधर्म (पाप-पुण्य-भाव) से विमुक्त कर देता है। वैध कर्म (सदाचार) की यह कुशलता 'योग' है। स्वधर्म गुणरहित होनेपर भी श्रेष्ठ पर-धर्मसे उत्तम है, परधर्म भयावह होता है। अशुभ कर्मसे दुःख और शुभ कर्मसे सुख होता है, अतः संतजन मनसा-वाचा-कर्मणा शुभ कार्य और सर्वप्राणिहित करते हैं। शास्त्रविधिहीन कर्म कदाचार कहलाता है। ऐसे कर्मोंका यदि श्रेष्ठ फल मिले तो उसपर मयासुरका अधिकार हो जाता है।[4] वेद-निषिद्ध, अग्निहोत्रादि-विवर्जित, लम्पटता आदि कर्म दुराचार हैं।[5] पाप, अभिचार और कृत्याप्रयोग कदाचार है।[6] गो-नर-अश्व-वध, मदिरापान, भ्रातृजाया-संसर्ग, सम्पत्ति हड़पना, गोत्रजासे विवाह, सपिण्डविवाह, ऊढा-विवाह आदि कदाचार हैं।[7] ऐसे गर्हित कर्म नहीं करना चाहिये;[8] क्योंकि इन असत्कर्मोंसे तप क्षीण हो जाता है।[9]

असहाय प्राणियोंकी रक्षा—सदाचरणीय

वृद्धो ज्ञातिस्तथा मित्रं दरिद्रो यो भवेदपि।
(कुलीनः पण्डित इति रक्ष्या निःस्वाः स्वशक्तितः।)
गृहे वासयितव्यास्ते धन्यमायुष्यमेव च॥
(अनुशा० १०४। ११२)

'बूढ़े कुटुम्बी, दरिद्र मित्र और कुलीन पण्डित यदि निर्धन हों तो उनकी अपनी सामर्थ्यके अनुसार रक्षा करनी चाहिये और उन्हें अपने घरपर ठहराना चाहिये, इससे धन और आयुकी वृद्धि होती है।'

१–स्वग्रामे पूर्णमाचारं पथ्यर्थे मुनिसत्तमाः। आतुरे नियमो नास्ति महापदि तथैव च॥
(बृ० ना० पु० २५। १६।)

२–'वृद्धाचारः परिग्राह्यः।' (बृ० ना० पु० २४। ४५।) इसका कारण यह है कि कर्तव्य-निर्धारणके अति कठिन कार्यमें अनुभवी धर्मनिष्ठ व्यक्ति ही मार्ग दिखा सकते हैं, जैसा कि महाभारतमें कहा गया है—'महाजनो येन गतः स पन्थाः।' वृद्धका अर्थ 'महाजन' या आप्त पुरुष ही है।

३–ग्रामाचारास्तथा ग्राह्याः स्मृतिमार्गाऽविरोधतः। (बृ० ना० पु० २२। ११)

४–विघ्नराज गणेशने मयासुरको वरदान दिया है—'स्वधर्मविधिहीनं त्वं कर्म भुङ्क्ष्व जनैः कृतम्।'
(मुद्गलपु० ७। ८। ३२।)

५–वेदभक्तिविहीनाश्च स्वाहास्वधाविवर्जिताः। पण्डिता अपि ते सर्वे दुराचारप्रवर्तकाः॥
लम्पटाः परदारेषु दुराचारपरायणाः॥ (देवीभागवत १२। ९। ६७।)

६–विष्णुधर्मपुराण २५ वाँ अध्याय।

७–ऊढायाः पुनरुद्वाहं ज्येष्ठांशं गोवधं तथा। कलौ पञ्च न कुर्वीत भ्रातृजायां कमण्डलुम्॥
यह श्लोक 'स्मृतिचन्द्रिका' १। २२१ के अनुसार 'आदिपुराण'का है और पराशरस्मृति १। २। ९१ की माधवाचार्यकी टीकाके अनुसार आद्यपुराणका है।

८–शिवपुराण, रुद्र सं० यु० खं० १०। ४२; ९–शिवपु० शतरुद्रसं० ४०। १३-१४।

श्रीमद्देवीभागवतमें सदाचार

(ले०—महामहोपाध्याय आचार्य हरिशंकर वेणीरामजी शास्त्री, कर्मकाण्ड-विशारद, विद्याभूषण, संस्कृतरत्न, विद्यालंकार)

वर्तमानयुगमें प्रायः सर्वत्र सादगी, शील, सदाचार, सद्गुण तथा नैतिक मूल्योंका दिन-प्रति-दिन ह्रास होता जा रहा है। इसके विपरीत स्वेच्छाचार, दुराचार, अनाचार, दुर्गुण और अनैतिकताका बाहुल्य होता जा रहा है। ऐसे कठिन समयमें सदाचारका अध्ययन, आचरण तथा शिक्षणका विशेष महत्त्व हो गया है। सदाचार आजके जीवनकी सर्वाधिक और सामयिक आवश्यकता है, किंतु सदाचारका विषय गम्भीर तथा व्यापक है। यहाँ इस सम्बन्धमें केवल यथा-बुद्धि नीलकण्ठी टीकासहित देवीभागवतके कुछ प्रसङ्ग उपस्थित करनेके प्रयत्न किये जा रहे हैं।

उदयास्तमयं यावद् द्विजः सत्कर्मकृद् भवेत्।
नित्यनैमित्तिकैर्युक्तः काम्यैश्चान्यैरगर्हितैः॥
(देवीभा० ११। १। ५-६)

देवीभागवतमें श्रीभगवान् नारायण नारदजीसे कह रहे हैं कि नारदजी! मैं आपसे सदाचारकी विधि और उसका क्रम बतला रहा हूँ, जिसके आचरणमात्रसे देवी सदा प्रसन्न रहती हैं। प्रातःकाल उठकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—इन द्विजातियोंका प्रतिदिन जो कुछ कर्तव्य होता है, उसे सदाचार कृत्य कहा जाता है। 'सूर्योदयसे लेकर सूर्यास्तपर्यन्त जो द्विजोंद्वारा नित्य-नैमित्तिक काम्य तथा अनिन्द्य कार्य हैं, उनका ही अनुष्ठान करना चाहिये।' 'कोई भी मनुष्य इस संसारमें क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता'—ऐसा सोचकर मनुष्यको व्यापार-रहित होना असम्भव देखकर कुकर्मका परित्याग कर सद्-व्यापार, सदाचार या सत्कर्मोंका ही आश्रय लेना चाहिये—

नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृदिति-न्यायेन व्यापाररहितस्यासम्भवेनान्यव्यापारं विहाय सद्व्यापार एवाश्रयणीय इत्यर्थः।'
(देवीभाग० ११। १। ५की नीलकण्ठी टी०)

परलोकमें पिता, माता, पुत्र, स्त्री और जातिवाले भी सहायता करनेके लिये समर्थ नहीं होते। वहाँ केवल एक धर्म ही सहायता करता है। यह धर्म ही आत्माका सहायक है, अतः धर्माचरण या सदाचारके द्वारा आत्म-कल्याणकी साधना करनी चाहिये। थोड़ा-थोड़ा प्रतिदिनके साधनोंसे धर्मका संग्रह करना चाहिये। इसकी सहायतासे मनुष्य दुःख और अज्ञानको दूर करता है—

तस्माद् धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः।
धर्मस्यैव सहायात्तु तमस्तरतिदुस्तरम्॥
(देवीभाग० ११। १। ७-८, मनुस्मृति ४। २३९-४०)

'ननु पित्रादिभिर्ललितहास्यविनोदेन कालः सुखेन गच्छति तदा तद्विहाय किमिति धर्म आस्थेय इति चैतदत्राह आत्मैवेति। परलोके न पित्रादयः सहाया भविष्यन्ति, किंतु धर्म एव। स चात्मनैव जायते इति आत्मैव स्वस्य सहायो नान्य इति स्वेनैव स्वस्य धर्माचरणेन कल्याणं कर्तव्यमिति भावस्त्त दुक्तम्—'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन' इति॥
(देवीभा० नी० टीका)

धर्मके भी अनेक भेद हैं। मुख्य धर्मका आश्रय अवश्य लेना चाहिये। यह मुख्य धर्म वेद और स्मृतियोंमें निरूपित है। इसमें भी सदाचारकी मुख्यता है। सदाचारके द्वारा मनुष्य आयु, संतान, अक्षय अन्न-धन और सुखको प्राप्त करता है। इससे लोक-परलोक दोनोंमें सुखी होता है—

'तत्र धर्मस्यानेकविधित्वेऽपि मुख्यरूपस्य तस्या-श्रयणेनापि निर्वाहादवश्यं स विधेय इति दर्शयन् धर्मस्य मुख्यं रूपमाह। आचारः प्रथमो धर्म इति। मुख्यः स च श्रुत्युक्तः स्मृत्युक्तश्च मान्यो आत्मनः सदाचारे द्विजो नित्यं समायुक्तः स्यादित्यन्वयः।'

सदाचार श्रेष्ठ धर्म है, सदाचार श्रेष्ठ कर्म है, इससे ज्ञान उत्पन्न होता है—ऐसा मनुने कहा है, अतः सदाचारका प्रयत्नपूर्वक पालन करे।

अज्ञानान्धजनानां तु मोहितैर्भ्रामितात्मनाम् ।
धर्मरूपो महादीपो मुक्तिमार्गप्रदर्शकः ॥
(वही १२)

"अत्रैव मनुवचनमर्थतः पठति । आचारात् प्राप्यत इति । तथा च मनुः 'आचारः परमो धर्मः' इत्यादि 'कर्मणो जायते ज्ञानं ज्ञानान्मोक्षमवाप्यते', इत्यन्तम् ।"

यह आचार सभी धर्मोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ है । आचार श्रेष्ठ तप है, यही श्रेष्ठ ज्ञान है और इस आचारसे ही सब प्रकारकी सिद्धि हो सकती है । जो द्विज उत्तम होकर आचाररहित है, वह पतितके समान बहिष्कार करने योग्य है । क्योंकि जैसा पतित होता है वैसा ही वह भी है । इसमें पराशरस्मृतिका भाव है—

यस्त्वाचारविहीनोऽत्र वर्तते द्विजसत्तम ।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यो यथा शूद्रस्तथैव सः ॥१५॥

पराशरस्मृतिमर्थतः पठति । यस्त्वाचारविहीन इति । तथा च पराशरः—'आचारः परमो धर्मः' इत्यादि 'सर्वधर्मबहिष्कार्यो यथा शूद्रस्तथैव सः' इत्यन्तम् ।

यह सदाचार दो प्रकारका है—एक शास्त्रीय, दूसरा लौकिक । ये दोनों ही आचार पालन करने योग्य हैं, इनमें कोई भी कल्याणकामीके लिये छोड़ने लायक नहीं है । गाँवका धर्म, जातिवालोंका धर्म, देशवासियोंका धर्म, उनके क्रममें आया हुआ धर्म यह सब मनुष्यको पालन करना चाहिये । इनमेंसे किसीका भी परित्याग नहीं करना चाहिये । दुराचारी पुरुषकी लोकमें अवश्य निन्दा होती है । वह आगे चलकर दुःख भी पाता है और उसके शरीरमें रोग व्याप्त हो जाते हैं । इसमें गौतम-स्मृतिके प्रमाणका भाव आता है—

आचारो द्विविधः प्रोक्तः शास्त्रीयो लौकिकस्तथा ।
उभावपि प्रकर्तव्यौ न त्याज्यौ शुभमिच्छता ॥
ग्रामधर्मा जातिधर्मा देशधर्माः कुलोद्भवाः ।
परिग्राह्या नृभिः सर्वे नैव ता लङ्घयेन्मुने ॥
दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधिना व्याप्त एव च ॥
(वही श्लोक १६-१८)

तथा च गौतमः-'यद्यपि स्यात् स्वयं ब्रह्म' इत्यादि तथापि लौकिकाचारं मनसापि न लङ्घयेदिति ।'

परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ ।
धर्ममप्यसुखोदर्कं लोकविद्विष्टमेव च ॥१९॥

संसारमें जो धन और कामना धर्मसे रहित हो तो उन दोनोंका परित्याग कर देना चाहिये । कोई धर्म भी यदि दुःखरूप परिणामवाला तथा लोकविद्वेषक दिखायी पड़े तो उसका भी परित्याग कर देना चाहिये ।

बहुत्वादिह शास्त्राणां निश्चयः स्यात् कथं मुने ।
कियत् प्रमाणं तद्ब्रूहि धर्ममार्गविनिर्णयः ॥२०॥

इस लोकमें शास्त्र अनेक हैं, फिर धर्मका निर्णय कैसे किया जाय, नारद मुनिके ऐसा प्रश्न करनेपर नारायण भगवान्‌ने कहा—

श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम् ।
एतत्त्रयोक्त एव स्याद् धर्मो नान्यत्र कुत्रचित् ॥२१॥
विरोधो यत्र तु भवेत् त्रयाणां च परस्परम् ।
श्रुतिस्तत्र प्रमाणं स्याद् द्वयोर्द्वैधे श्रुतिर्वरा ॥२२॥
श्रुतिद्वैधं भवेद् यत्र तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ ।
स्मृतिद्वैधं तु यत्र स्याद् विषयः कल्प्यतां पृथक् ॥२३॥

'वेद और स्मृति ये दो नेत्र हैं और पुराण हृदय । अतः इन तीनोंमें जो कहा गया है, वही धर्म है । जहाँ इन तीनोंमें विरोध हो, वहाँ वेदको प्रमाण मानना चाहिये और शेष दोमें विरोध होनेपर स्मृतिको प्रमाण मानना चाहिये । जहाँ दो प्रकारके वेदके मत हों, वहाँ दोनोंका अनुष्ठान करना चाहिये । स्मृतियोंमें परस्पर भेद या दुविधा उत्पन्न होनेपर विकल्पकी व्यवस्था करनी चाहिये ।'

धर्ममार्गमें वेद ही सर्वथा प्रमाण हैं—जिनका उनसे विरोध न होता हो, वे ही प्रमाण हैं, दूसरे नहीं ।

'ब्राह्मणस्य प्रत्यक्षश्रुतिविरुद्धतप्तमुद्राधारणादिप्रतिपादकतन्त्रस्य न प्रामाण्यं किंतु वेदाविरोध्यंशे एव प्रामाण्यम्। तथा च तन्त्रार्थप्रतिपादकपुराणस्य प्रत्यक्षश्रुतिविरोधान्न प्रामाण्यमिति। न केवलं पुराणानि वेदमूलकानि किंतु तन्त्रमूलकान्यपि सन्ति। तथा च पुराणापेक्षया केवलवेदमूलकत्वात् स्मृतीनां प्राबल्यमुक्तमव्याहतमेव। तदुक्तं स्कान्दे सूतसंहितायाम्। यथा—'क्वचित्कदाचित्तन्त्रार्थकटाक्षेण मुनीश्वराः। सन्ति तानि पुराणानि सोंऽशो ग्राह्यो न वैदिकैः' इति। अतएव तन्त्रार्थप्रतिपादकपुराणस्य प्रत्यक्षश्रुतिविरोधान्न प्रामाण्यमिति भावः। तदुक्तं शिवेनैव महाकालसंहितादिषु। यथा—

वेदाविरोधी योंऽशस्तु सैव ग्राह्यो द्विजोत्तमैः।
अधिकारि बहुत्वाच्चाप्यनेकार्थः प्रकाश्यते॥

अतः वेदोक्त सद्धर्म ही—जो सदाचार हैं वे ही, मनुष्यके द्वारा अनुष्ठेय हैं। प्रत्येक दिन मनुष्यको उठकर विचार करना चाहिये कि मैंने कल क्या किया, आज क्या किया और कौन-सा धर्म-कर्म-दान दिया-दिलाया, कहा और आगे क्या करना चाहिये—

वेदोक्तमेव सद्धर्मं तस्मात् कुर्यान्नरः सदा।
उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं किं मयाद्य कृतं कृतम्॥३२॥
दत्तं वा दापितं वापि वाक्येनापि च भाषितम्।
उपपापेषु सर्वेषु पातकेषु महत्स्वपि॥३३॥

छः अङ्गोंसहित वेद यदि किसीको ज्ञात हो, पर यदि वह वैसा आचरण न करता हो तो वेद उसे पवित्र नहीं कर सकते। जैसे पक्षीके बच्चे पंख निकल जानेपर घोंसला छोड़कर उड़ जाते हैं, वैसे सब वेद भी मरनेके समय उसका परित्याग कर देते हैं। मनुष्यको प्रातःकाल, सायंकालमें संध्याकी उपासना इत्यादि नित्यकर्म अवश्य करने चाहिये। जो नित्य-नैमित्तिक काम्य और प्रायश्चित्य कर्मोंका विधिपूर्वक आचरण करता है, वह भोग तथा मोक्षरूप फलको अवश्य प्राप्त करता है।

नैमित्तिकं च नित्यं च काम्यं कर्म यथाविधि।
आचरेन्मनुजः सोऽयं भुक्तिमुक्तिफलाप्तिभाक्॥
आचारवान् सदा पूतो सदैवाचारवान् सुखी।
आचारवान् सदा धन्यः सत्यं सत्यं च नारद॥

(देवीभाग० ११। २४। ९६, ९८।)

'सदाचार ही परमधर्म है। सदाचारका फल परम सुख और आनन्द है। सदाचारवान् मनुष्य सदा पवित्र रहता है, सुखी रहता है, उसे धन मिलता है और वह धन्य-धन्य हो जाता है। ये सारी बातें सर्वथा सत्य हैं।'

सदाचारेण सिद्ध्येच्च ऐहिकामुष्मिकं सुखम्।

(देवीभाग० ११। २४। १००।)

सदाचारसे इस लोक तथा परलोकके सारे सुख सिद्ध हो जाते हैं।

सदाचारी कौन ?

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं
नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं
स कथ्यते सत्पुरुषार्थशीलः॥

—महात्मा विदुर

'जो अपने सुखमें प्रसन्न नहीं होता, दूसरेके दुःखके समय हर्ष नहीं मानता तथा दान देकर पश्चात्ताप नहीं करता, वह सत्पुरुषार्थशील अर्थात् सदाचारी कहलाता है।'

श्रीमद्भागवतमें सदाचार-वैशिष्ट्य

(लेखक—श्रीरतनलालजी गुप्त)

व्युत्पत्ति और परिभाषाके अनुसार सदाचारके दो अर्थ होते हैं—(१) साधुता और सद्भावसे युक्त कर्म या आचरण* और (२) साधुजनका आचरण—यतः वे दोषरहित होते हैं ।†

इन दोनों दृष्टियोंसे श्रीमद्भागवतमें वर्णित सदाचारका स्वरूप समीचीनताकी चरमकोटिमें प्रतिष्ठित है । स्मृतियोंमें प्रतिपादित जीवनके साध्यरूप सदाचारसे श्रीमद्भागवतमें निर्दिष्ट सदाचारका अपना एक पृथक् वैशिष्ट्य है । इसमें सदाचारको साध्य न मानकर उसे भक्तिके साधनके रूपमें मान्यता दी गयी है । इसे भागवतके प्रत्येक प्रसङ्गमें देखा जा सकता है । कतिपय निदर्शन उपनीत किये जा रहे हैं ।

महापतित अजामिलके प्रकरणमें महर्षि कृष्णद्वैपायन इसका स्पष्टरूपसे उद्घोष करते हैं कि—

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मवादिभि-
स्तथा विशुद्ध्यत्यघवान् व्रतादिभिः ।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतै-
स्तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम् ॥
(६ । २ । ११)

बड़े-बड़े ब्रह्मवादी ऋषियोंने पापोंके बहुतसे प्रायश्चित्त—कृच्छ, चान्द्रायण आदि व्रत बतलाये हैं, परंतु उन प्रायश्चित्तोंसे पापीकी मूलतः वैसी शुद्धि नहीं होती, जैसी भगवान्‌के नामोंसे, उनसे गुम्फित पदोंका उच्चारण करनेसे होती है; क्योंकि वे नाम पवित्र-कीर्ति भगवान्‌के गुणोंका ज्ञान करानेवाले हैं । इसी प्रकार उद्धवको उपदेश देते समय श्रीभगवान् एकादश स्कन्धमें स्पष्टरूपसे कहते हैं कि संतोंके परम प्रियतम आत्मारूप मैं अनन्य श्रद्धा और भक्तिसे ही पकड़में आता हूँ । मुझे प्राप्त करनेका एक ही यह उपाय है—मेरी अनन्य भक्ति । वह उन लोगोंको भी पवित्र, जाति-दोषसे मुक्त कर देती है जो जन्मसे ही चाण्डाल हैं । इसके विपरीत जो मेरी भक्तिसे वञ्चित हैं, उनके चित्तको सत्य और दयासे युक्त धर्म और तपस्यासे युक्त विद्या भी भलीभाँति पवित्र करनेमें असमर्थ है । श्रीभगवान्‌के अनुसार उनके (सत्य, दया, तपस्या प्रभृतिके भक्तिसे संयुक्त होनेपर मणिकाञ्चन संयोगके समान होकर परम कल्याणमय मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला हो जाता है—

वर्णाश्रमवतां धर्म एष आचारलक्षणः ।
स एव मद्भक्तियुतो निःश्रेयसकरः परः ॥
(११ । १८ । ४७ ।)

भक्तप्रवर प्रह्लादका भी मत है कि शास्त्रोंमें जो धर्म, अर्थ और काम—इन तीन पुरुषार्थोंका वर्णन है, आत्मविद्या, कर्मकाण्ड, तर्कशास्त्र, दण्डनीति और जीविकाके विविध साधन—जो सभी वेदोंके प्रतिपाद्य विषय हैं—यदि अपने परम हितैषी परम पुरुष भगवान् श्रीहरिको आत्मसमर्पण करनेमें सहायक हैं, तो सार्थक हैं, अन्यथा ये सब-के-सब निरर्थक हैं । तात्पर्य यह कि सदाचारकी सार्थकता भक्तिसाधनामें समाविष्ट है । भक्तप्रवर प्रह्लादने इस भागवत सदाचारकी शिक्षा देवर्षि नारदसे एवं देवर्षि नारदने भगवान् नारायणसे प्राप्त की थी । देवर्षि नारद धर्मराज युधिष्ठिरसे जिस तीस लक्षणोंसे युक्त सभी मनुष्योंके लिये (अनुष्ठेय) परम धर्म सदाचारका उपदेश देते हैं, उसका पर्यवसान भगवत्प्रीतिमें ही बतलाते हैं—

* व्युत्पत्तितः 'सदाचार'का विग्रह-वाक्य (१) 'सन् चासौ आचारः—सदाचारः' (अच्छे आचार—साधुता और सद्भावसे युक्त आचार) अथवा (२) 'सताम् आचारः—सदाचारः' होगा, जिसका समर्थन इस श्लोकसे होता है—

† साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः । तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते ॥ (विष्णु पु० ३ । ११ । ३)

नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥
(७।११।१२)

यह तीस प्रकारका आचरण सभी मनुष्योंका परम धर्म है। इसके पालनसे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं।

श्रीमद्भागवतमें वे इस प्रकार वर्णित हैं—

'युधिष्ठिर! धर्मके ये तीस लक्षण शास्त्रोंमें कहे गये हैं—सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचितका विचार, मनका संयम, इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, समदर्शिता, महात्माओंकी सेवा, धीरे-धीरे सांसारिक भोगोंकी चेष्टासे निवृत्ति, मनुष्यके अभिमानपूर्ण प्रयत्नोंका फल उल्टा होता है—ऐसा विचार, मौन, आत्मचिन्तन, प्राणियोंको अन्न आदिका यथायोग्य विभाजन (दान-बलिवैश्वदेव), उनमें और विशेष करके मनुष्योंमें अपने आत्मा तथा इष्टदेवका भाव, संतोंके परम आश्रय भगवान् श्रीकृष्णके नाम, गुण, लीला आदिका श्रवण, कीर्तन, उनकी सेवा, पूजा और नमस्कार; उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण।*'

सदाचारके इन तीस लक्षणोंका अनुष्ठान करनेवाले सिद्ध साधकोंकी तो बात ही क्या! जिन्होंने इसके एक लक्षणका भी आश्रय लेकर अपने जीवनको धन्यतासे मण्डित कर लिया, ऐसे स्वनामधन्य अनेक महापुरुषोंका जीवनवृत्त श्रीमद्भागवतमें वर्णित होकर मानव-जातिके मनमें सृष्टिसे प्रलयकालतक भागवतधर्म और सदाचारका उद्बोधन करता रहेगा। किंतु इन भगवदवतारों एवं महापुरुषोंका एक-एक लक्षणके विकासके क्रममें उल्लेख करनेका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उनमें अन्य लक्षणोंका अभाव था, अपितु इन सभीमें भागवत-धर्म एवं सदाचारकी परिपूर्णताका उन्मेष हुआ था। केवल प्रसङ्गकी परिपूर्णताके लिये सदाचारके जिस अंग-विशेषका इन भगवदवतारों एवं भगवद्भक्तोंमें विशेष प्रकाश हुआ था, उसके संदर्भमें उनका उल्लेख किया जा रहा है। अस्तु।

(१) सत्यके विषयमें दैत्यराज बलिका उदाहरण मनको बरबस आकृष्ट कर लेता है। वामन वटुकके रूपमें भगवान्द्वारा तीन पग भूमिके नामपर सर्वस्व ग्रहणका 'छल' किये जानेपर भी बलि सत्यसे पराङ्मुख नहीं होते! दैत्याचार्य शुक्रद्वारा बारंबार निषेध करने एवं शाप देनेपर भी उनका मन सत्यसे नहीं डिगता एवं एक इसी सत्यके प्रतिपालनके फलस्वरूप भगवान्को उनका द्वारपाल बनना पड़ता है। उनकी सत्यनिष्ठाकी प्रशंसा करते हुए स्वयं भगवान् वामनने उनको देव-दुर्लभ इन्द्रपद प्रदान किया—

गुरुणा भर्त्सितः शप्तो जहौ सत्यं न सुव्रतः।
छलैरुक्तो मया धर्मो नायं त्यजति सत्यवाक्॥
एष मे प्रापितः स्थानं दुष्प्रापममरैरपि।
सावर्णेरन्तरस्यायं भवितेन्द्रो मदाश्रयः॥
(८।२२।३०।३१।)

(२) दयाके लिये द्रौपदीका उदाहरण अद्वितीय है। अपने पाँचों पुत्रोंकी सुप्तावस्थामें पशुवत् नृशंस हत्या करनेवाले द्रोणपुत्र अश्वत्थामाको अर्जुनद्वारा पकड़कर लाये जानेपर भी वह उसे प्रतिशोधमें दण्डित करवाना नहीं चाहती, अपितु करुणाविगलित होकर कह उठती है—

* सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः। अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः। नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः। तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः। सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
(श्रीमद्भा० ७।११।८-११)

**मा रोदीदस्य जननी गौतमी पतिदेवता।
यथाहं मृतवत्साऽऽर्ता रोदिम्यश्रुमुखी मुहुः॥**
(१ । ७ । ४७)

'जैसे अपने बच्चोंके मर जानेसे मैं दुःखी होकर रो रही हूँ और मेरी आँखोंसे बारंबार आँसू निकल रहे हैं, वैसे इनकी माता पतिव्रता गौतमी न रोयें।

(३–५) तपस्याका चरम उत्कर्ष हमें दिखलायी पड़ता है, ऋषिप्रवर नर-नारायणमें। शौचके कठोरता-पूर्वक पालनमें राजसंन्यासी भरत एवं दक्षके शाप देने-पर समर्थ होते हुए भी उसे सहन करनेमें देवर्षि नारदकी तितिक्षा अविस्मरणीय हैं। (६) यदुकुल-संहारके पश्चात् द्वारकासे लौटे हुए कृष्णविरहकातर अर्जुनसे धर्मराज युधिष्ठिरके कथोपकथनमें उचित-अनुचितके विचारकी अपूर्व झलक दिखायी पड़ती है। (७) मनःसंयममें बालक ध्रुव आदर्श स्थानीय कहे जा सकते हैं। योगिजन जिसे एकाग्र करनेमें अपना समग्र जीवन समर्पित कर देते हैं, उसी मनको तीव्र भक्तियोगका आश्रय लेकर बालक ध्रुव पाँच वर्षोंकी अवस्थामें ही वशीभूत करके उसकी सारी चञ्चलताको तिरोहित करके शून्य अवस्थामें ले आते हैं—

**सर्वतो मन आकृष्य हृदि भूतेन्द्रियाशयम्।
ध्यायन् भगवतो रूपं नाद्राक्षीत् किंचनापरम्॥**
(४ । ८ । ७७)

(८) इन्द्रियसंयममें स्वयं योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णको जीवनकी यह सत्यता कि **"पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैर्यस्येन्द्रियाणिविमथितुं करणैर्न विभ्व्यः"** 'सोलह हजार पत्नियाँ भी काम बाणोंका प्रहार करके उनकी इन्द्रियोंको क्षुब्ध करनेमें समर्थ नहीं हो पायीं'—विश्वके इतिहासमें इन्द्रियसंयमका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करती है। (९–१२) अवधूत भगवान् ऋषभदेवकी अहिंसा, वृद्ध होनेपर भी सदा पाँच वर्षके बालकके समान प्रतीत होनेवाले ऊर्ध्वरेता सनकादि ब्रह्मपुत्रोंका नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, महर्षि दधीचिका देवताओंके याचना करनेपर अपने प्राणों-तकका त्याग तथा **"प्रेम्णा पठन् भागवतं शनैः शनैः"** —'निरन्तर श्रीमद्भागवतका गान करते हुए व्यास-नन्दन शुकदेव तो स्वाध्यायकी मूर्ति ही कहे जा सकते हैं। (१३) राजर्षि अम्बरीषकी सरलताकी प्रशंसा तो अकारण ही उनका अमङ्गल करनेको उद्यत महर्षि दुर्वासा भी श्रीभगवान्के सुदर्शनचक्रसे मुक्ति दिलानेपर स्वीकार करते हैं—

**अहो अनन्तदासानां महत्त्वं दृष्टमद्य मे।
कृतागसोऽपि यद् राजन् मङ्गलानि समीहसे॥**
(९ । ५ । १४)

(१४) संतोषकी पराकाष्ठा हमें दिखलायी पड़ती है, कृष्णसखा अकिञ्चन ब्राह्मण सुदामामें। फटी-पुरानी धोती, पादुकाविहीन चरण एवं दीन-हीन जीर्ण-शीर्ण शरीरवाले सुदामा भक्तवाञ्छाकल्पतरु परमसखा कृष्णसे भी कुछ माँगनेमें संकुचित हो उठते हैं और जैसे आये थे, वैसे ही खाली हाथों घरको लौट पड़ते हैं। किंतु मनमें भगवान्की प्रशंसा करते नहीं थकते कि धनसे मदोन्मत्त होकर कहीं मैं उनको भुला न बैठूँ, निश्चय ही यही सोचकर उन परम करुणामयने मुझे थोड़ा-सा भी धन नहीं दिया—

**अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत्।
इति कारुणिको नूनं धनं मेऽभूरि नाददात्॥**
(१० । ८१ । २०)

(१५) समदर्शी महात्माओंके सेवनका फल अद्भुत ही है। राजा रहूगणको महात्मा जडभरतके दो घड़ीके सत्सङ्गसे परमार्थतत्त्वकी प्राप्ति हो गयी। वे कहने लगे—'आपके चरणकमलोंकी रजका सेवन करनेसे जिनके सारे पाप-ताप नष्ट हो गये हैं, उन महानुभावोंको भगवान्की विशुद्ध भक्ति प्राप्त होना कोई विचित्र बात नहीं है। मेरा तो आपके दो घड़ीके सत्संगसे ही सारा

कुतर्कमूलक ज्ञान नष्ट हो गया है।' (श्रीमद्भा० ५। १३। २२।) (१६) धीरे-धीरे सांसारिक भोगोंकी चेष्टासे निवृत्तिकी शिक्षा विषयकूपमें आकण्ठनिमग्न राजा ययातिसे ली जा सकती है। यद्यपि उन्होंने बहुत वर्षोंतक इन्द्रियोंसे विषयोंका सुख भोगा था, तथापि जैसे पाँख निकल आनेपर पक्षी अपना नीड छोड़ देता है, वैसे ही उन्होंने एक क्षणमें सब कुछ छोड़ दिया था। (श्रीमद्भा० ९। २०। २४।)

(१७) देवी भद्रकालीको तृप्त करनेके उद्देश्यसे तमोगुणी मदान्ध चौरगण महात्मा जड़भरतकी बलि देनेके लिये उद्यत होते हैं; किंतु उनके इस अभिमान-पूर्ण कृत्यका फल ठीक उलटा होता है एवं देवीकी प्रसन्नताके स्थानपर उन्हें प्राप्त होता है—उनका भीषण कोप। उन सबके भयंकर कुकर्मको देखकर देवी भद्रकालीके शरीरमें अति दु:सह ब्रह्मतेजसे दाह होने लगता है एवं वे मूर्तिको विदीर्ण करके उसमेंसे निकल पड़ती हैं। वे क्रोधसे तड़ककर भीषण अट्टहास करती हैं और उछलकर उस अभिमन्त्रित खड्गसे ही उन पापियोंके सिर उड़ा देती हैं। सच है कि अभिमानपूर्ण कृत्योंका फल सदा विपरीत ही होता है। (१८-१९।) असदाचार-कर्म कल्याण नहीं दे सकता और सदाचार सदैव श्रेय:साधक होता है।

राजा इन्द्रद्युम्नकी जयकालमें ऋषिगणोंके आ जानेपर भी मौनव्रतमें परायणता तथा ब्रह्मर्षि अवधूत दत्तात्रेयका आत्मचिन्तन मुक्तिमार्गके पथिकोंके लिये अनुकरणीय है। सदाचारमय जीवनका व्रत ऐसा ही होता है।

(२०) प्राणियोंमें अन्न आदिके यथायोग्य विभाजनमें तो राजा रन्तिदेव अपना सानी नहीं रखते। सर्वस्व दान करके परिवारके साथ भूखे-प्यासे बैठे इन राजाको उनचासवें दिन थोड़ा-सा अन्न-जल प्राप्त हुआ। प्राणसंकटके ऐसे समय भी उन्होंने दूसरोंकी प्राणरक्षाके निमित्त उसका भी वितरण कर दिया एवं उसमें क्षुधार्त उन रन्तिदेवको जो आनन्दानुभूति होती है, वह प्राणोंपर मृत्युका नहीं, अपितु अमृतका जयघोष बन जाती है; देखिये—

क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिभ्रमश्च
दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तो-
र्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे॥
(९। २१। १३)

इस मुमूर्षु दीन-हीन प्राणीको जल दे देनेसे मेरी भूख-प्यासकी पीड़ा, शरीरकी शिथिलता, दीनता, ग्लानि, शोक, विषाद और मोह सब दूर हो गये। इसी सदाचारके प्रभावसे उनके सम्मुख ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रकट हो जाते हैं। सदाचारकी उत्कृष्ट यह उदात्तता आचन्द्र-दिवाकर आदर्शरूपमें प्रतिष्ठित रहेगी।

(१२) सभी भूत-प्राणियोंमें अपने आत्मा एवं इष्टदेवकी अनुभूतिके क्षेत्रमें ऋषभनन्दन योगीश्वर कविका उल्लेख करना समीचीन होगा। विदेहराज निमिकी यज्ञ-सभामें उनकी उक्ति बड़ी मननीय एवं अनुकरणीय है—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥
(११। २। ४१)

'राजन्! यह आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष-वनस्पति, नदी, समुद्र सब-के-सब भगवान्‌के शरीर हैं। सभी रूपोंमें स्वयं भगवान् ही क्रीडा कर रहे हैं, ऐसा समझकर जड़ या चेतन सभी प्राणियोंको अनन्य भगवद्भावसे प्रणाम करे।'

'सीय राममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥'

इसीसे उपोद्वलित मानस-सूक्ति है।

(२२) इसी प्रकार भागवतशास्त्र **'परीक्षित्साक्षी यच्छ्रवणगतमुक्त्युक्तिकथने''** कहकर श्रवणरूप

सदाचारद्वारा मुक्तिसाधनमें परीक्षित्के अनन्य अधिकारत्वकी ओर इङ्गित करता है। (२३–३४) भक्तराज प्रह्लादका दैत्य बालकोंके साथ मिलित होकर भगवन्नाम-संकीर्तन, देवर्षि नारदका ऐसा स्मरण कि **"आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि"** अर्थात् याद करते ही तत्काल मेरे चित्तमें उदित होकर वे ऐसे दर्शन दे जाते हैं, मानो किसीने बुलाया और आ गये—कीर्तन और स्मरण सदाचारके द्वारा सिद्धिकी ओर संकेत करते हैं। (२५–३०) **"स कथं सेवया तस्य कालेन जरसं गतः'** आदि शब्दोंद्वारा वर्णित साक्षात् बृहस्पतिके शिष्य उद्धवकी सेवा, व्रजवासियोंद्वारा गिरिराज गोवर्धनके रूपमें उन गिरिधारीकी पूजा, अक्रूरका भूमिमें लोट-लोटकर प्रणाम-नमस्कार, विदुरका दास्य, गोप-बालकोंका स्नेहपङ्कित सत्य एवं परम अनुरागमयी श्रीगोपाङ्गनाओंका आत्मनिवेदन तो जगत्को इस शुक-शास्त्रका ही अमृत-द्रवसंयुक्त रसमय प्रसाद है। इन सबमें सदाचारका सुमधुर सम्भार संयोजित है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवतमें प्रतिपादित सदाचार श्रुति-स्मृतियोंमें वर्णित सामान्य सदाचारके असमोर्ध्व आसनपर विराजमान होकर संसारके समस्त दीन-हीन पाप-ताप-समाकुल नर-नारियोंको युगों-युगोंसे अपनी सुशीतल छायामें आह्वान करता हुआ यह उद्दाम सन्देश दे रहा है कि—

यशःश्रियामेव परिश्रमः परो
वर्णाश्रमाचारतपःश्रुतादिषु ।
अविस्मृतिः श्रीधरपादपद्मयो-
र्गुणानुवादश्रवणादिभिर्हरेः ॥
(१२ । १२ । ५३)

वर्णाश्रमसम्बन्धी सदाचार, तपस्या और अध्ययन आदिके लिये जो बहुत बड़ा परिश्रम किया जाता है उसका फल है, केवल यश अथवा लक्ष्मीकी प्राप्ति। परंतु भगवान्के गुण, लीला, नाम आदिका श्रवण, कीर्तन आदि तो उनके श्रीचरणकमलोंकी अविचल स्मृति प्रदान करते हैं, जो सदाचारकी उच्च भूमिमें पीयूष-वर्षी बनकर श्रेयःस्रुति बन जाते हैं। यही श्रीमद्भागवतका सदाचार-वैशिष्ट्य है, जो अनन्य साधारण है।

सेवक-सेव्यका कृतज्ञता-भाव

हनुमान्जीके द्वारा सीताजीका समाचार सुनकर भगवान् गद्गद होकर कहने लगे—'हनुमान्! देवता, मनुष्य, मुनि आदि शरीर-धारियोंमें कोई भी तुम्हारे समान मेरा उपकारी नहीं है। बदलेमें मैं तुम्हारा उपकार तो क्या करूँ, मेरा मन तुम्हारे सामने आनेमें भी सकुचाता है। वत्स! मैंने अच्छी तरह विचारकर देख लिया कि मैं तुम्हारा ऋण कभी नहीं चुका सकता। कृतज्ञताके आदर्श—श्रीराम धन्य!

हनुमान्ने कहा—'मेरे स्वामी! बंदरका बस, यही बड़ा पुरुषार्थ है कि वह एक डालसे दूसरी डालपर कूद जाता है। मैं जो समुद्रको लाँघ गया और लंकापुरीको जला दिया तथा राक्षसोंका वध करके रावणकी वाटिकाको उजाड़ दिया—मेरे नाथ! इसमें मेरी कुछ भी बड़ाई नहीं है, यह सब तो है मेरे सर्वस्व! आप श्रीराघवेन्द्रका ही अजित प्रताप! प्रभो! जिसपर आप प्रसन्न हों, उसके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है। आपके प्रभावसे और तो क्या, क्षुद्र रुई भी बड़वानलको जला सकती है। नाथ! मुझे तो आप कृपापूर्वक अपनी अतिसुखदायिनी अनपायिनी भक्ति ही दीजिये।' धन्य है यह निरभिमानिता तथा कृपावत्सलता और सेव्य-सेवकका अनुपम कृतज्ञताभाव!!

आगम-ग्रन्थोंमें सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीकृपाशंकरजी शुक्ल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

वैसे आगम शब्द सामान्यतः सभी शास्त्रों एवं वैदिक तथा तान्त्रिक परम्पराओंका वाचक है* । आगम शब्दका मुख्य अर्थ है—पार्वतीके प्रति शिवद्वारा वैष्णवमतका निरूपण । प्राचीन मनीषियोंका कथन है—

आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ ।
मतं च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते ॥

'यह शिवजीके मुखसे निकला, पार्वतीजीके कानोंमें पड़ा और भगवान् वासुदेवका मत है, अतः इसे 'आगम' कहा जाता है ।' 'कुलार्णव' (१७ । ३४)के अनुसार सदाचारयुक्त परमात्मतत्त्वके निरूपक होने और दिव्यगति देनेके कारण ही इसके 'आगम' नामकी चरितार्थता है—

आचारकथनाद्दिव्यगतिप्राप्तिविधानतः ।
महात्मतत्त्वकथनादागमः कथितः प्रिये ॥

मीमांसकोंके अनुसार श्रुतियाँ आगम-निगमके भेदसे द्विविध हैं (द्रष्टव्य मन्वर्थमुक्तावली २ । १) । ऋषियोंने निगम अथवा वेदोंके साथ ही परम्परासे जिस ज्ञानराशिको उपलब्ध किया था, उसे आगम कहते हैं । यों तो आगमसे पाञ्चरात्र-वैखानसादि वैष्णवागम, शाक्तागम, सौर-गाणपत्यादि आगम तथा शैवागम आदि सभी निर्देश्य होते हैं, साथ ही इसके अन्तर्गत अधिकांश दर्शन-शास्त्रोंका भी—जिनमें षड्दर्शन भी सम्मिलित हैं समावेश है (द्रष्टव्य—'सर्वदर्शनसंग्रह') । वास्तवमें आगम भी वेदोंके समान अनादि हैं और अथर्ववेदमें इनका बाहुल्य होनेसे इन्हें निगमसे सर्वथा अलग भी करना शक्य नहीं है । इसीलिये आगम-निगमोंके अंशोंको मन्त्र कहा जाता है । आचार्य-परम्परामें इस तन्त्रको भी (प्रायः) वेदवद् प्रमाण माना गया है ।

आगम-साहित्य विपुल है । इन ग्रन्थोंमें सूक्ष्म विद्याओंका अपार व्यापक तथा गम्भीर प्रसार है । विषयवस्तुकी दृष्टिसे आगमसंज्ञा उन ग्रन्थोंको दी जाती है, जिनमें सृष्टि-प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, कर्मसाधन एवं ध्यानयोगकी व्याख्या की गयी हो । अगणित लोकाचारों, लोकमें पूजित देवियों तथा लोक-प्रचलित रहस्यमय अनुष्ठानोंका परिणतरूप आगम-ग्रन्थोंमें देखनेको मिलता है । यह वाङ्मय दैवी-शक्तिके दिव्य चमत्कार और ऋषियोंके ज्ञान-विस्तारका श्लाघनीय चरम प्रयास है । यहाँ इनके आधारपर सदाचारकी दो-एक मुख्य बातें दी जा रही हैं । शिवोक्त 'कुलार्णवतन्त्र'में उस साधकको श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है, जिसकी जिह्वा परान्नसे दूषित नहीं, हाथ दूसरेकी वस्तुके ग्रहण करनेसे कलङ्कित नहीं और मन परनारीके दर्शनसे क्षुब्ध नहीं होते हैं, ऐसा सात्त्विक साधक ही सिद्धि प्राप्त करता है, दूसरा नहीं—

जिह्वा दग्धा परान्नेन करौ दग्धौ प्रतिग्रहात् ।
मनो दग्धं परस्त्रीभिः कथं सिद्धिर्वरानने ॥

(कुलार्णव १५ । ८४)

अतः सिद्धि चाहनेवालोंको सदाचारके इन नियमोंका पालन सावधान होकर करना चहिये । सत्य धर्माचरणका उदात्त-स्वरूप 'महानिर्वाण'तन्त्रमें देखनेको मिलता है । सत्य-विहीन मानवकी साधना, उपासना व्यर्थ है । सत्यका आश्रय ही सुकृतोंका आश्रय है—**'सत्य मूल सब सुकृत सुहाए ।'** (मानस० २ । २७ । ६) सत्यधर्मका आश्रय लेनेवाले कर्म-सौन्दर्यके उपासकको सिद्धियाँ अनायास वरण कर लेती हैं । सत्यसे बढ़कर कोई धर्म नहीं है और असत्यसे बढ़कर कोई पाप नहीं है । एतदर्थ अनित्य असुख दुःखालय जगत्में आये हुए मानवको सत्य-कल्पतरुका ही सयत्न सतत सेवन करना चाहिये ।

* प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि । (योगदर्शन १ । ७ इत्यादि ।)

सत्यहीनका जप-तप-आराधन उसी प्रकार व्यर्थ जाता है जिस प्रकार ऊसर भूमिमें बीजका वपन[1]।

आगमग्रन्थोंमें ही 'गुरुतत्त्व'का सर्वाधिक विस्तृत विवेचन एवं माहात्म्य निरूपित है। गुरु-भक्तिसे क्या लाभ है? गुरुका मुख्य कार्य क्या है?' शिष्यकी आत्माके साथ अभिन्न होकर शिष्यरूप चैतन्यकी योगभूमिको सम्पूर्णरूपसे एक विशिष्ट प्रक्रियाद्वारा कैसे शोधित करना होता है'—इत्यादि गुरुके प्रभावात्मक कार्य इनमें वर्णित हैं। इसके बाद ज्ञानदीक्षाद्वारा चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, कलाओं और क्रिया-शक्तियोंका शिष्यमें उद्भावन, अथवा यों कहें कि शिष्यके पाशों (बन्धनों)का नाश और शिवत्वका समायोजन—शिष्यमें जो मलिनता है, उसका प्रक्षालनकर उसे शिव-स्वरूपमें युक्त कर देना गुरुका मुख्य कार्य है।[2]

दीक्षाके[3] सब कृत्य योग्य गुरुको ही करने पड़ते हैं। इसमें गुरुकी साधना एवं मन्त्रशक्ति ही प्रधान है। गुरु भावना-सिद्ध होते हैं। अतः क्षेत्र-विशेषमें उन्हें भावनाका ही उपयोग करना पड़ता है। गुरुमुखसे सुना हुआ मन्त्र ही सिद्ध होता है। पुस्तकमें लिखी विद्या मनुष्योंको सिद्धि प्रदान नहीं करती। तन्त्रशास्त्रमें बिना गुरुके उपदेशके किसी प्रकारके कार्यका अधिकार नहीं है[4]। गुरुदीक्षासे दीक्षित होकर ही शिष्यको गुरुकी परिचर्या एवं देवार्चनकी पात्रता प्राप्त होती है। आस्थावान् शिष्य ही आशीर्वादात्मक गुरुरूप शिवका वरदहस्त प्राप्त करता है। अतः—

'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।' तथा—

मन्त्रे तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ। यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी॥ (हरिवंशमा० ३। २०, पञ्चतं ०५।९८, कुलार्णव आदि) के अनुसार अपने परम-गुरुमें आस्था भी सदाचारका विशिष्ट कारण है।

सदाचारी जीवनका सुफल

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मद्यपान आदि, कपट-छल, डाह, चुगलखोरी, अविवेक, विचार-शून्यता, तमोगुण, स्वेच्छाचार, चपलता, लोलुपता, (भोगोंके लिये) अत्यधिक प्रयास, अकर्मण्यता, प्रमाद (कर्तव्य-कर्म न करना और अकर्तव्य करना), दूसरोंके साथ द्रोह करनेमें आगे रहना, आलस्य, दीर्घसूत्रता, परस्त्रीसे अनुचित सम्बन्ध, बहुत अधिक खाना, कुछ भी न खाना, शोक, चोरी—इन दोषोंसे बचा रहकर जो मानव अपना जीवन बिताता है, वह पृथ्वी, देश तथा नगरका भूषण होता है। वही श्रीमान्, विद्वान्, कुलीन और मनुष्योंमें सर्वोत्तम है; उसे नित्य ही सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान करनेका फल मिलता है और आदर्श सदाचारका वह सच्चा अधिकारी बन जाता है। (स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड)

---

१. सत्यं धर्मं समाश्रित्य यत्कर्म कुरुते नरः। तदेव सफलं कर्म सत्यं जानीहि सुव्रते॥
नहि सत्यात् परो धर्मो न पापमनृतात् परम्। तस्मात् सर्वात्मना मर्त्यः सत्यमेकं समाश्रयेत्॥
सत्यहीना वृथा पूजा सत्यहीनो वृथा जपः। सत्यहीनं तयोर्व्यर्थमूषरे वपनं यथा॥
(महानिर्वाणतन्त्र ४। ७४–७६)

२. 'कुलार्णव'के प्रथम चार उल्लासों तथा अन्तिम १३ से १७—इन छः उल्लासोंमें गुरुकी अपार महिमा निरूपित है। इसके १२वें उल्लासमें गुरुपादुकाकी जो महिमा, प्रतिष्ठा एवं पूजाविधि निर्दिष्ट है, आज भारतके सभी सम्प्रदायोंमें उसीका अनुसरण होता है। भारत ही नहीं, सम्पूर्ण विश्वमें ही जो गुरुकी अद्भुत महिमा एवं सम्मान है, उसके मूलहेतु वस्तुतः ये आगम-ग्रन्थ ही हैं। श्रीविद्यार्णव आदिमें तो प्रायः इस सम्बन्धमें कई प्रकरण एवं प्रायः ढाई-तीन सहस्र श्लोक उपलब्ध होते हैं।

३. दीक्षा—श्रीभगवान्का जीवोद्धार-क्रम दीक्षा है। विशेष द्रष्टव्य—'तान्त्रिक वाङ्मयमें शाक्त-दृष्टि' डा० गोपीनाथ कविराज।

४. पुस्तके लिखिता विद्या नैव सिद्धिप्रदा नृणाम्। गुरुं विनापि शास्त्रेऽस्मिन्नाधिकारः कथंचन॥
(उड्डीश, कुलार्णव १५। २२)

वैदिक गृह्यसूत्रोंमें संस्कारीय सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीसीतारामजी सहगल 'शास्त्री', एम्० ए०, ओ० एल०, पी-एच्० डी०)

प्राचीन भारतमें अन्तर्हृदयकी ग्रन्थियोंको सुलझाने तथा भगवत्प्राप्तिके लिये व्यक्तिका जन्मसे लेकर मृत्युतकका जीवन संस्कारोंसे संस्कृत होता रहता था। इसकी ध्वनि वेदसे ही सुनायी देती है। वेदोंका गृह्यसूत्र-साहित्य अपने-आपमें बड़ा व्यापक है, जिसका कारण हमारे देशके विस्तृत भूभाग, विविध भाषाएँ, विविध धर्म तथा विविध जातियोंकी आचार-धाराएँ रही हैं। आचार-विविधताओंके कारण अनेक गृह्यसूत्रोंकी रचना युक्ति-संगत ही प्रतीत होती है।

ऋग्वेदके तीन गृह्यसूत्र हैं—आश्वलायन, शाङ्खायन तथा कौषीतकिगृह्यसूत्र। शुक्लयजुर्वेदके दो गृह्यसूत्र हैं—पारस्कर और बैजवाप। कृष्णयजुर्वेदके बौधायन, भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशीय, वैखानस, अग्निवेश्य, मानव, काठक तथा वाराह—ये नौ गृह्यसूत्र हैं। सामवेदके—गोभिल, खादिर तथा जैमिनि—ये तीन गृह्यसूत्र हैं। अथर्ववेदका कोई गृह्यसूत्र नहीं है, उसका केवल वैतानकल्पसूत्र या कौशिकसूत्र प्रसिद्ध है, जिसमें गृह्यसूत्रादिके सभी कर्म निर्दिष्ट हैं।

हम यहाँ ऋग्वेदीय शाङ्खायनगृह्यसूत्रके प्रधान कर्मोंकी सूची उद्धृत करते हैं, जिससे सब संस्कारोंका परिचय सम्भव हो सकेगा। उदाहरणार्थ—स्वाध्यायविधि (१।६), इन्द्राणीकर्म (१।११), विवाहकर्म (१।१२), पाणिग्रहण (१।१३), सप्तपदक्रमण (१।१४), गर्भाधान (१।१९), पुंसवन (१।२०), सीमन्तोन्नयन (१।२२), जातकर्म (१।२४), नामकर्म (१।२५), चूडाकर्म (१।२८), उपनयन (२।१), वैश्वदेवकर्म (२।१४), समावर्तन (३।१), गृह्यकर्म, प्रवेशकर्म (२, ३, ४), श्राद्धकर्म (४।१), उपाकरण (४।५), उपाकर्म (४।७), सपिण्डीकर्म (४।३), आभ्युदयिक श्राद्ध-कर्म (४।४), उत्सर्गकर्म (४।६), उपरमकर्म (४।७), तर्पण (४।९) और स्नातक धर्म (४।११)—ये संस्कार सत्युगसे लेकर भगवान् राम, कृष्ण एवं हर्षवर्धनके समयतक जीवन्तरूपमें रहे। महाकवि कालिदासने इनमेंसे कुछ संस्कारोंकी चर्चा अपने ग्रन्थोंमें की है; जैसे—पुंसवन (कुमारसम्भव ३।१०), जातकर्म (रघुवंश ३।१८), नामकरण (रघु० ३।२१), चूडाकर्म (रघु० ३।२८), उपनयन (कुमार० ३।२९), गोदान (रघु० ३।३), विवाह (कुमार० ६।४९), पाणिग्रहण (रघु० ७।२१), दशाह (रघु० ७।७३)। संस्कारोंके इस वर्णनसे यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है कि राजासे रङ्कतक—सबकी परम्परागत इन कर्मोंमें श्रद्धा होती थी। यही कारण है कि भारतमें समय-समयपर होनेवाले आक्रमणकारियोंके बर्बरतापूर्ण आक्रमण निष्फल रहे। ये थीं हमारे पूर्वजोंकी अमर योजनाएँ, जिन्होंने देशको अखण्डित तथा हमें स्वाधीन बनाये रखा और जिनके द्वारा संस्कृत होनेके कारण हम सब एकतामें आबद्ध रहे।

गृह्यसूत्रोंमें आश्रमोंकी व्यवस्थाका व्यापकरूपसे वर्णन मिलता है। ब्रह्मचर्य, विवाह और वानप्रस्थ—ये तीन आश्रम व्यापकरूपसे समाजमें प्रचलित रहे। 'तैत्तिरीय-संहिता'के एक मन्त्रमें प्रकारान्तरसे इनसे सम्बद्ध तीन ऋण कहे हैं—'**जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते। ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः। एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी**' (६, ३, १०, १३) 'जब ब्राह्मण पैदा होता है तो उसपर तीन ऋण लदे रहते हैं। ऋषि-ऋणके अपाकरणके

लिये ब्रह्मचर्यव्रत (शिक्षा), देव-ऋण देनेके लिये यज्ञ (समाज) तथा पितृऋणसे मुक्तिके लिये वह श्रेष्ठ परिवारमें विवाह करता है। 'शाङ्खायनगृह्यसूत्र'के उपनयन-संस्कारमें तीनों वर्णोंकी अवधिका उल्लेख है, जो इस प्रकार है—गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयेत (२।१), गर्भैकादशेषु क्षत्रियम् (२।४)। गर्भद्वादशेषु वैश्यम्, (२।५), आषोडशाद् वर्षाद् ब्राह्मणस्यानतीतकालः (२।७), आ द्वाविंशात् क्षत्रियस्य (२।७), आ चतुर्विंशाद् वैश्यस्य (२।८)। अर्थात् 'गर्भाधान-संस्कारके बाद आठवें वर्षमें ब्राह्मणका उपनयन-संस्कार करे (२।१), गर्भाधान-संस्कारके बाद ग्यारहवें वर्षमें क्षत्रियका उपनयन-संस्कार करे (२।४)। गर्भाधान-संस्कारके बाद बारहवें वर्षमें वैश्यका उपनयन-संस्कार करे। ब्राह्मणके संस्कार सोलह वर्षतक हो जाने चाहिये (२।६), बाईस वर्षतक क्षत्रियके (२।७) और चौबीस वर्षतक वैश्यके (२।८)। यदि तीनों वर्ण इस अवधिके बीच अपना संस्कार सम्पन्न नहीं कर लेते थे तो वे उपनयन, शिक्षा तथा यज्ञके अधिकारोंसे वञ्चित समझे जाते थे।

आजके युगमें भी शिक्षाको राज्यकी ओरसे अनिवार्य बनानेकी योजना उसी प्राचीन महनीय परम्पराकी ओर संकेत करती है। उपर्युक्त उद्धरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य अर्थात् पचहत्तर प्रतिशत लोग उस युगमें शिक्षित ही नहीं होते थे, अपितु वे राष्ट्रमें संस्कृत या संस्कारवान् कहलानेके अधिकारी भी होते थे। वर्णाश्रम-व्यवस्था भारतीय जीवनका मेरुदण्ड था। यह हमारे जीवनके उत्कर्षकी ध्वजा समझी जाती थी। कुछ आधुनिक शिक्षाके आलोकमें अपनेको प्रबुद्ध माननेवाले भ्रान्तलोग इस व्यवस्थाको हमारी सात सौ वर्षोंकी गुलामीका कारण बतलानेका साहस करते हैं। किंतु प्राचीन कालमें जितने भी शक, हूण आदि विदेशी जातियोंके आक्रमण हुए, उनसे सुरक्षित रखनेकी क्षमता इसी वर्णव्यवस्थामें थी। इस वर्णाश्रमधर्मको माननेवालोंमें स्वधर्मके प्रति गर्व और गौरवकी भावना इतनी अधिक थी कि वे दूसरोंकी अपेक्षा अपनेको श्रेष्ठ समझते थे।

पाश्चात्य चिन्तकोंने अपने ग्रन्थोंमें हृदय खोलकर इस उत्कर्षके लिये भारतीयोंकी प्रशंसा की है। सिडनीने अपने ग्रन्थ 'भारतीय अन्तर्दृष्टि'में कहा है कि हिंदुओंने विदेशी आक्रमणों तथा प्राकृतिक प्रकोपोंका सामना करनेमें जो शक्ति दिखलायी है, उसका कारण उनकी अजस्र, अमर और अजर वर्णाश्रम-धर्मकी व्यवस्था थी। इसी तरह सर लारेन्सने अपनी पुस्तक 'भारतीय चिन्तन'में लिखा है—'हिंदुओंकी जातीय प्रथाने संघका काम किया है, जिससे उसे शक्ति मिली है और उससे विभिन्न वर्णोंको सुसंगत रखा है।' गार्डीनरने भी अपनी पुस्तक 'समाजके स्तम्भ'में लिखा है—'वर्णाश्रमधर्मने भारतीय विश्वास तथा परम्पराओंको जीवन्त रखा है।' पश्चिममें आदर्शोंके स्थानपर धन-दौलतको आधार माना गया है, जो बालूकी दीवारकी तरह अस्थिर है।

पर हमारे यहाँ आचार्योंका समाजमें ही नहीं, अपितु राष्ट्रभरमें आचारसे ही आदर होता था। वे आचरणके क्षेत्रमें उदाहरणीय व्यक्ति समझे जाते थे। ईसासे आठ सौ वर्ष पूर्व भगवान् यास्कने अपने ग्रन्थ निरुक्तमें आचार्यका निर्वचन करते हुए लिखा था—आचार्यः कस्मात्? आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा। (१।४)—आचार्य किसे कहते हैं?—जो शिष्यको सदाचरण सिखलाता है अथवा शिष्यको सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थोंको समझा देता है। गृह्यसूत्रोंका तात्पर्य संस्कारके संनिदेशसे है। इन्हीं संस्कारोंके कारणोंसे सम्राट् तपस्वियोंके चरण छूकर अपने जीवनको धन्य मानते थे और क्षत्रसे ब्रह्म पूज्यतर समझा जाता था।

बौधायन-सूत्रोंमें सदाचार-निरूपण

(लेखक—श्रीसुब्राराय गणेशजी भट्ट)

बौधायन गृह्य-परिभाषा-सूत्रमें **'नाक्रियो ब्राह्मणः'**—(१ । १ । २४-२६)से संध्यादिकर्म न करनेवालेको 'ब्राह्मण' नहीं माना गया । इसी प्रकार **'नासंस्कारो द्विजः'**से गर्भाधानादि संस्कारोंसे रहित व्यक्ति 'द्विज' नहीं हो सकता, ऐसा भी कहा गया है । आगे फिर जन्म-संस्कार और वेदादिके अध्ययनके बिना उसे श्रोत्रिय भी नहीं माना गया है—**'नैतैर्हीनः श्रोत्रियः'** और जिस यज्ञमें श्रोत्रिय न हो, वह यज्ञ भी समीचीन नहीं माना गया—**'नाश्रोत्रियस्य यज्ञः ।'**—जिसमें 'श्रोत्रिय' ऋत्विज न हों वह यज्ञ 'यज्ञ' नहीं हो सकता। तथापि सदाचारको प्रमाण माना गया है—**'आचारः प्रमाणम् । तस्माद् यः कश्चन क्रियावान् सतामनुमताचारः, स श्रोत्रिय एव विज्ञेयः ।'** (बौधायनगृह्य०) अतएव जो संध्यादि-कर्ममें निरत हैं, जिनका आचार सत्पुरुषोंको मान्य है, अर्थात् जो सदाचारी है, उनको भी 'श्रोत्रिय' मानना चाहिये । तात्पर्य यह है कि सदाचारसम्पन्न पुरुष स्वल्प वेदाध्ययनके द्वारा भी श्रोत्रिय बनकर यज्ञानुष्ठानका अधिकारी बन सकता है । 'बौधायनगृह्यसूत्र' (१ । ७ । ३)के **'एकां शाखामधीत्य श्रोत्रियः'** इस सूत्रके अनुसार जिसने वेदकी एक शाखाका भी अध्ययन किया है, वह भी श्रोत्रिय है ।

'बौधायनश्रौत-सूत्र' (२ । ३ । १)के अनुसार यज्ञोंमें आर्त्विज्य करनेवालेके लिये मातृवंशसे और पितृवंशसे परिशुद्ध होना आवश्यक है । जनसमुदायका भी इनके पावित्र्यपर अनुमोदन होना चाहिये । इन्हें सदाचार-सम्पन्न भी होना चाहिये। आचारहीन पुरुषोंको आर्त्विज्य करनेका अधिकार नहीं । प्रत्येक यज्ञमें यजमानको दीक्षा ग्रहण करना पड़ता है । इस प्रसङ्गमें सामान्यतः उपनिषद्का आदेश है कि **'सत्यं वद'**—सत्य बोलो, लेकिन बौधायन सूत्रकार महोदय अपने श्रौतसूत्र (६ । ६)में कहते हैं कि **'सत्यमेव वद, मानृतम्'**—सत्य ही बोलो झूठ नहीं— यहाँ एवकारका उपयोग करके सत्यको ज्यादा प्राधान्य दिया गया है । बौधायनीय गृह्य-परिभाषा (१ । ६ । ११-२०) सूत्रोंमें विशेष आचार्य बौधायनने यज्ञ-संस्थाको एक विशाल वृक्षके रूपसे वर्णन किया है । सुक्षेत्रमें रोपित वृक्ष आगे विशालरूप बनकर देव-दानव-गन्धर्व-ऋषिगण-पितृगण-पक्षि-मशक-पिपीलिकादि सभी वर्गोंको उपयुक्त हो जाता है । 'हुत' ही इसका क्षेत्र है, 'प्रहुत' इसकी जड़ और 'आहुत' इसका प्रतिष्ठान है । इस विशाल महोन्नत यज्ञवृक्षमें सुपुष्प सुफलोंसे समृद्ध असंख्य शाखाराशि हैं । जो उपासक मन्त्र-ब्राह्मणोंमें गर्भित तत्त्वोंको जानते हैं, उसे वे ही देख सकते हैं । यज्ञ-वृक्षको जाननेवाला 'श्रोत्रिय' कहलाता है । गृहस्थाश्रमको स्वीकार करके इस यज्ञ-वृक्षकी सेवा करनी चाहिये ।

वेदोक्त यज्ञवृक्षको जब बुद्धिमान् पुरुष पारमार्थिक दृष्टिसे देखता है, तब ज्ञान ही इसकी आधारभूति, सदाचार-मूल-जड़, श्रद्धा इसका प्राण, क्षमा, अहिंसा, दम—ये इसकी शाखाएँ, सत्य पुष्प और ज्ञानामृत इसका फल फलित होता है । जिसका चित्त कामसे कुण्ठित नहीं, जिसने अहंकार और लोभ परित्याग कर दिये हैं, वह निश्चय और तत्परता (अध्यवसाय) नामक आँखोंसे इस आत्मवृक्षको देख सकता है । इस वृक्षको मोहके वशीभूत होकर, वज्रसदृश क्रोधरूपी कुल्हाड़ीसे कभी छेदन नहीं करना चाहिये—

मन्त्रब्राह्मणतत्त्वज्ञैः सुदृश्या सा उपासकैः ।
एवं हि यज्ञवृक्षस्य योऽभिज्ञः श्रोत्रियः स्मृतः ॥
(बौधा० श्रौत०)

गृहस्थाश्रमी श्रोत्रिय होकर पहले यज्ञवृक्षकी सेवा मानकर यज्ञानुष्ठान करना चाहिये । बादमें पारमार्थिक दृष्टि पाकर श्रद्धा, क्षमा, अहिंसा, दम, सत्य आदि

सद्गुणोंके साथ सदाचारको जीवनमें प्रस्थापित करना चाहिये। यहाँ सदाचारको पेड़की जड़ माना गया है। 'बौधायनधर्मसूत्र' (४ । ७ । १) में सदाचारी ब्राह्मणकी प्रशंसा करते हुए कहा गया है—

निवृत्तः पापकर्मभ्यः प्रवृत्तः पुण्यकर्मसु।
यो विप्रस्तस्य सिध्यन्ति विना यन्त्रैरपि क्रियाः॥

'जो ब्राह्मण पापकर्मोंसे सर्वथा निवृत्त और पुण्य-कर्मोंमें ही प्रवृत्त रहता है, उस सदाचारी पुरुषके सारे कार्य बिना यन्त्रके भी सिद्ध हो जाते हैं।' 'बौधायनश्रौतसूत्र' (२ । २०)में सदाचारका निरूपण इस प्रकार किया गया है—झूठ कभी नहीं बोलना चाहिये, मृन्मयपात्रसे पानी, दूध आदि न पीना, शूद्रका उच्छिष्ट न लेना और उसको उच्छिष्ट न देना, मांस न खाना, अपने पादोंका प्रक्षालन स्वयं करना, भोजनमें तिलके बिना, मुद्ग-माष-कवकादि निषिद्ध धान्योंका उपयोग न करना। ये सब आचार 'अन्या-धानमें' विहित हैं। प्रत्येक कर्ममें इनका अनुसरण अनिवार्य है। बौधायन धर्मसूत्र (१ । ६ । ८७-८८)में बतलाया गया है कि कौन सदाचारी है और कौन दुराचारी। इसका निर्णय आयुष्यके उत्तरार्धमें किये हुए कर्मोंसे ही लेना चाहिये।

इसके अनुसार अग्निष्टोमादि श्रौत-यज्ञोंका अनुष्ठान करते समय यजमानको दीक्षाका ग्रहण करना पड़ता है और कुछ प्रवर्ग्य आदि काण्डोंके मन्त्रोंके अध्ययन करते समय अवान्तरदीक्षाका अनुसरण करना पड़ता है। ये दोनों उद्बोधक हैं। (बौ० श्रौ० सू० ६ । ६) दीक्षामें—सदा सत्य ही बोलना, झूठ मत बोलना, हँसी न उड़ाना, कंडूय न करना, मौन रहना, सूर्योदयके और सूर्यास्तके समय अपने अग्निको छोड़कर कभी मत जाना, यदि हँसी आयेगी तो मुँहपर हाथ रखना, मगर कण्डूयनका प्रसंग आया तो कृष्णमृगके सींगसे कंडूयन करना, मौनके भंगमें भगवान् विष्णुके मन्त्रका जप करना, जिसका नाम राम, नारायण आदि देवतावाचक है, उसके साथ ही सम्भाषण करना, जिसका नाम देवतावाचक नहीं, उससे बातचीत करनेके पहले 'चनसित' शब्दके उच्चारण और बात-चीत समाप्त होनेपर 'विचक्षण' शब्दका उच्चारण करना, कृष्णाजिन और दण्डको न छोड़ना—ये सब दीक्षामें विहित विशिष्ट आचार माना गया है। अवान्तर-दीक्षामें (बौ० श्रौ० सू० ९ । १९) वाहनोंपर न चढ़ना, पेड़ोंपर न चढ़ना, कुएँमें न डूबना, छाता और जूतोंको धारण न करना, चारपाईपर न सोना, स्त्री और अन्त्यजके साथ बातचीत न करना, बातचीत करनेका प्रसङ्ग आये तो ब्राह्मणको सामने रखकर करना, शामको न खाना, यदि खानेका प्रसङ्ग ही आये तो आगसे घेर करके खाना, मौन रहना, मल, खून, शव आदिको न देखना। यदि इनका दर्शन हो गया तो अग्निकी ज्वालाको देखना इत्यादि—ये सब विशिष्ट आचार अवान्तरदीक्षा'कल्प'में विहित हैं।

दैनिक सदाचार

मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत्॥
आचार्यमथवाप्यन्यं तथायुर्विन्दते महत्।

(अनुशा० १०४ । ४३-४४)

"प्रातःकाल सोकर उठनेके बाद प्रतिदिन माता-पिताको प्रणाम करे, फिर आचार्य तथा अन्य गुरुजनों (अपनेसे सभी बड़े जनों) का अभिवादन करे—इससे दीर्घायु प्राप्त होती है।" —महात्मा भीष्म

आयुर्वेदीय सदाचार

(ले०—डॉ० श्रीरविदत्तजी त्रिपाठी, बी० ए०, एम्० एम्० एस्०, डी० ए० वाई० एम्०, पी-एच्० डी०)

आयुर्वेद दीर्घजीवनके लिये दो लक्षणोंको अपने सामने रखता है। ये हैं—स्वास्थ्य-संरक्षण और रोग-प्रशमन,—'स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणमातुरस्य विकारप्रशमनं च।' (च० सू० ।) आयुर्वेद स्वस्थ पुरुषके स्वास्थ्य-संरक्षणपर विशेष बल देता है। इसकी मान्यता है कि यदि पुरुष स्वस्थ है तो सामान्य बाह्य और आभ्यन्तर-हेतु इसमें सहसा विकार उत्पन्न नहीं कर सकते। आयुर्वेद क्षेत्र (शरीर)को प्रधानता देता है; क्योंकि यदि क्षेत्र अनुकूल नहीं होगा तो बीज पड़नेपर भी सूख जायँगे। यही कारण है कि आयुर्वेदमें वैयक्तिक स्वास्थ्यपर विशेष जोर दिया गया है। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये दिनचर्या, ऋतुचर्या एवं सद्वृत्त (सदाचार)के नियमोंके उपदेश आयुर्वेद-साहित्यमें पदे-पदे मिलते हैं। सभी प्राणियोंकी सब प्रवृत्तियाँ सुखके लिये होती हैं। सुखकी प्राप्ति धर्मके बिना नहीं होती, अतः सबको धर्म करना चाहिये। (अष्टाङ्गहृदय सू० २)

शास्त्रोंमें 'आचारः प्रथमो धर्मः'से सदाचारको प्रथम श्रेणीका धर्म कहा गया है। अतः मानवमात्रको सदाचारका पालन करना चाहिये। आचार्य चरकने सद्वृत्तके दो लाभ बताये हैं—(१) आरोग्य, (२) इन्द्रिय-विजय—'तद्ध्यनुतिष्ठन् युगपत्सम्पादयत्यथामारोग्यमिन्द्रियविजयं चेति।' (च० सू० ८)

आयुर्वेदमें सद्वृत्तका उपदेश दो रूपोंमें किया गया है—हिताभिलाषी मनुष्यके लिये क्या विधेय और क्या निषेधनीय है। विधि-निषेधके द्वारा सद्वृत्तका उपदेश है। इसके अतिरिक्त कुछ क्रियाएँ बतायी गयी हैं, जिनमें तत्पर रहना सद्वृत्त कहा गया है। इसके अनुसार देवता, गाय, विप्र, आचार्य (गुरु) अपनेसे श्रेष्ठ, सिद्ध पुरुषकी पूजा, अग्निकी उपासना, श्रेष्ठ ओषधियोंका धारण, प्रातः-सायं स्नान एवं पूजन, मलमार्गों तथा पैरोंकी सफाई; पक्षमें तीन बार केश, दाढ़ी, रोम और नखोंको कटवाना; प्रतिदिन स्वच्छ वस्त्रोंको धारण करना, सदा प्रसन्न रहना और सुगन्धित द्रव्योंको धारण करना, अपनी वेष-भूषा सुन्दर रखना, केशोंको ठीक रखना, सिर, कर्ण, नाक, पैरमें नित्य तेल लगाना चाहिये। यदि अपने पास कोई आये तो उससे पहले ही बोलना चाहिये। प्रसन्न-मुख रहना, दूसरेपर आपत्ति आनेपर दया करना, हवन एवं यज्ञ करना, सामर्थ्यके अनुसार दान देना, चौराहोंको नमस्कार करना, बलि-वैश्वदेव करना, अतिथिकी पूजा करना, पितरोंको पिण्ड देना, समयपर कम और मधुर वचनोंको बोलना तथा जितेन्द्रिय एवं धर्मात्मा होना चाहिये। दूसरोंकी उन्नतिके हेतुमें ईर्ष्या करनी चाहिये, किंतु उसके फलमें ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये। निश्चिन्त, निर्भीक, लज्जायुक्त, बुद्धिमान्, उत्साही, चतुर, क्षमावान्, धार्मिक, आस्तिक होना चाहिये तथा नर्म-बुद्धि, विद्या, कुल और अवस्थामें वृद्ध व्यक्ति, सिद्ध एवं आचार्यकी सेवा करनेवाला होना चाहिये। छत्र और दण्ड धारण कर, सिरपर पगड़ी बाँधकर, जूता पहनकर चार हाथ आगे देखते हुए रास्तेमें चलना चाहिये। व्यक्तिको माङ्गलिक कार्योंमें तत्पर, गंदे कपड़े, हड्डी, काँटा, अपवित्र केश, तुष, कूड़ा-करकट, भस्म, कपाल तथा स्नान करने योग्य और बलि चढ़ाने योग्य स्थानोंका परित्याग कर देना चाहिये। आरोग्यकामी एवं कल्याणेप्सुको सभी प्राणियोंके साथ भाईके समान व्यवहार करना, क्रोधी मनुष्योंको विनयद्वारा प्रसन्न करना, भयसे युक्त व्यक्तियोंको आश्वासन देना तथा दीन-दुःखी व्यक्तियोंका उपकार करना चाहिये एवं सत्य-प्रतिज्ञ, शान्ति-प्रधान, दूसरोंके कठोर वचनोंको सहनेवाला, अमर्षनाशक, शान्तिके गुणका द्रष्टा, राग-द्वेष उत्पन्न

करनेवाले कारणोंका परित्यागी बनना चाहिये । आचार्य वाग्भटने भी कहा है—

अर्चयेद् देवगोविप्रवृद्धवैद्यनृपातिथीन् ।

× × ×

पूर्वाभिभाषी सुमुखः सुशीलः करुणामृदुः ॥

(हृ० हृ० सू० २)

अष्टाङ्गहृदयके अनुसार हिंसा, स्तेय (चोरी), अन्यथा-काम (परस्त्रीगमन), पैशुन्य (चुगुली), परुष वाक्य (कठोर वचन), अनृत (असत्य), सभिन्नालाप (असम्बद्ध वाणी), व्यपद (किसीको मार डालनेका विचार), अभिध्या (दूसरेके धनादिको बलात् लेनेका विचार), दृग्विपर्यय (आप्त वाक्योंका उल्टा अर्थ करना आदि)का परित्याग करना चाहिये । एकान्ततः निश्चिन्त या सर्वत्र-शङ्की नहीं होना चाहिये तथा सब जगह विश्वास भी नहीं करना चाहिये । किसीको अपना शत्रु और अपनेको भी किसीका शत्रु घोषित नहीं करना चाहिये । अपने अपमान तथा प्रभु (स्वामी)की स्नेहहीनताको दूसरोंके समक्ष प्रकट भी नहीं करना चाहिये । चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियोंको रूप एवं शब्द आदि विषयोंसे वञ्चित एवं अत्यन्त लोलुप, मद्यका विक्रय, संधान (निर्माण), उसका आदान-प्रदान, पूर्व दिशाकी वायु, सामनेकी वायु, धूप-धूम, तुषार एवं झोंकेकी वायुका परित्याग करना चाहिये—

हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृते ।
सभिन्नालापव्यापदमभिध्यादृग्विपर्ययम् ॥
पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत् ।
नैकः सुखी न सर्वत्र विश्रब्धो न च शङ्कितः ॥
न कंचिदात्मनः शत्रुं नात्मानं कस्यचिद्रिपुम् ।
प्रकाशयेन्नापमानं च न निःस्नेहतां प्रभोः ॥
न पीडयेदिन्द्रियाणि न चैतान्यति लालयेत् ।
मद्यविक्रयसंधानदानादानादिना चरेत् ।
पुरोवातातपरजस्तुषारपरुषोषितान् ॥

(अ० हृ० सू० २)

'ब्रह्मचर्यज्ञानदानमैत्रीकारुण्यहर्षोऽपेक्षा प्रशमपरश्च स्यादिति ।'

(च० सू० ८)

ब्रह्मचर्य, ज्ञान, दान, मित्रता, दया, हर्ष, उपेक्षा और शान्ति—इन क्रियाओंमें तत्पर रहना चाहिये, आयुर्वेदकी दृष्टिसे मैत्री, सभी प्राणियोंमें दया, रोगी व्यक्तियोंमें हर्ष, रोगरहित व्यक्तियोंमें तथा उपेक्षा असाध्य रोगोंके विषयमें करनी चाहिये—

मैत्री कारुण्यमार्तेषु शक्ये प्रीतिरुपेक्षणम् ।
प्रकृतिस्थेषु भूतेषु वैद्यवृत्तिश्चतुर्विधा ॥

(च० सू० ९)

मानव-शरीरके स्वास्थ्य-संरक्षणके लिये उपर्युक्त सदाचार नितान्त आवश्यक है । इस वैज्ञानिक युगमें मनुष्यको विज्ञानसे जितना लाभ है, उससे कहीं अधिक हानि है । विश्वके सर्वाधिक सम्पन्न देश अमरीकामें जहाँ धनकी प्रचुरता है, इच्छामात्र होनेसे सभी वस्तुएँ उपलब्ध हैं, वहाँपर आत्महत्या, गर्भपात (भ्रूणहत्या), तलाक तथा मानसिक अशान्ति आदि अधिक दिखायी पड़ते हैं । अब वहाँके लोग भी भारतीय सदाचारकी ओर उन्मुख हो रहे हैं, क्योंकि प्राणिमात्रकी सदासे यह इच्छा रही है कि वह जिस परिस्थितिमें रहे, स्वस्थ एवं प्रसन्न रहे और यह स्थिति भारतीय सदाचारमें ही है ।

सदाचारके सात पुष्प

अहिंसा, इन्द्रियसंयम, दया, क्षमा, मनका निग्रह, ध्यान और सत्य—इन सात पुष्पोंद्वारा की हुई पूजासे भगवान् जितने प्रसन्न होते हैं, उतने साधारण पुष्पोंसे नहीं होते; क्योंकि भगवान्‌को सामग्रियोंकी अपेक्षा सद्गुण (सदाचार) अधिक प्रिय हैं । भक्तको छोड़कर भला इन पुष्पोंसे भगवान्‌की पूजा दूसरा अन्य कौन करेगा !

—पद्मपुराण

आयुर्वेदमें सद्वृत्त या सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीशिवशंकरजी अवस्थी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

सुखार्थाः सर्वभूतानां मताः सर्वाः प्रवृत्तयः।
सुखं च न विना धर्मं तस्माद् धर्मपरो भवेत् ॥
(अष्टाङ्गहृदय, सूत्रस्थान)

अशेष प्राणियोंकी समग्र प्रवृत्तियाँ सुखको दृष्टिमें रखकर होती हैं और बिना धर्मके सुख कहाँ? अतः प्रत्येक व्यक्तिको धर्मपरायण होना चाहिये। आयुर्वेदके मतानुसार आरोग्य ही सुख है और विकार दुःख (चरक)। प्रवृत्ति या चेष्टा ही कर्म है। यह तीन प्रकारसे होता है—मन, वाणी और शरीरद्वारा (चरकसंहिता सूत्रस्थान)। कर्मके सत्कर्म और दुष्कर्म—ये दो प्रकारके होते हैं। सत्कर्म ही सद्वृत्त, धर्म या सदाचार है। सदाचारी पुरुष आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, यश एवं शाश्वत लोकोंको उपलब्ध करता है (अष्टाङ्गहृ० सूत्रस्था० अ० २। ५६)। महर्षि आत्रेयने भी कहा है—'**तस्मादात्महितं चिकीर्षता सर्वेण सर्वं सर्वदा स्मृतिमास्थाय सद्वृत्तमनुष्ठेयम्**' (च० सं० सूत्रस्थान।) आत्महितकी कामनावाले समस्त व्यक्तियोंको चाहिये कि सर्वदा सावधानीके साथ सद्वृत्तका अनुष्ठान करें—'**सतां वृत्तमनुष्ठानं देहवाङ्मनःप्रवृत्तिरूपं सद्वृत्तम्**' (चक्रपाणिदत्त।) 'शरीर, वाणी और मनके द्वारा सज्जन जो आचरण करते हैं वह सद्वृत्त है।' स्वस्थ मनुष्यको चाहिये कि जीवनकी रक्षाके लिये ब्राह्ममुहूर्तमें उठे और सम्पूर्ण पापोंकी शान्तिके लिये मधुसूदनका स्मरण करे।

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत स्वस्थो रक्षार्थमायुषः।
तत्र सर्वाघशान्त्यर्थं स्मरेच्च मधुसूदनम् ॥
(सुश्रुत)

'राजनिघण्टु'के अनुसार दो घड़ियोंका एक मुहूर्त होता है। रात्रिका चौदहवाँ मुहूर्त ब्राह्ममुहूर्त कहलाता है। शास्त्रोंमें मुहूर्तोंका निर्देश इस प्रकार हुआ है—(१) शंकर, (२) अजैकपाद्, (३) अहिर्बुध्न्य, (४) मैत्रक, (५) आश्विन, (६) याम्य, (७) वाह्नेय, (८) वैधात्र, (९) चान्द्र, (१०) आदितेय, (११) जैव, (१२) वैष्णव, (१३) सौर, (१४) ब्राह्म और (१५) नाभस्वत्। ब्रह्मा देवताका मुहूर्त ब्राह्ममुहूर्त है। अरुणदत्तने 'अष्टाङ्गहृदय'की सर्वाङ्गसुन्दरी टीकामें लिखा है—'**ब्रह्मज्ञानं तदर्थमध्ययनाद्यपि ब्रह्म तस्य योग्यो मुहूर्तो ब्राह्मः पश्चिमयामस्य नाडिका द्वयम्**'—'ज्ञानको ब्रह्म कहते हैं, और उसके लिये अध्ययनादि भी ब्रह्म कहलाता है। अध्ययनोचित काल ही ब्राह्ममुहूर्त है। रात्रिके अन्तिम यामका नाडीद्वयपरिमित काल ब्राह्ममुहूर्त समझना चाहिये।' ऋतुके अनुसार, सुखदायक तैलोंसे नित्य अभ्यङ्ग* (मालिश) करना चाहिये। इससे जरा, श्रम और वायुका नाश होता है और दृष्टिकी निर्मलता, पुष्टि, आयु, निद्रा, सुन्दर त्वचा तथा दृढ़ता उत्पन्न होती है। यदि पूरे शरीरमें न हो सके तो सिर, कान और पैरोंमें तेलका विशेष रूपसे प्रयोग करना चाहिये। इसके कुछ अपवाद भी हैं—जैसे

---

* अभ्यङ्गमाचरेन्नित्यं स जराश्रमवातहा। दृष्टिप्रसादपुष्ट्यायुःस्वप्नसुत्वक्त्वदार्ढ्यकृत् ॥ ९ ॥
... ... शिरःश्रवणपादेषु तं विशेषेण शीलयेत् ॥ १० ॥
... ... वर्ज्योऽभ्यङ्गः कफग्रस्तकृतसंशुद्ध्यजीर्णिभिः ॥ ११ ॥
लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः। विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुपजायते ॥ १२ ॥
दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमूर्जाबलप्रदम्। कण्डूमलश्रमस्वेदतन्द्रातृड्दाहपाप्मजित् ॥ २० ॥
(अष्टाङ्गहृदय, सूत्रस्थान, अ० २)

जो व्यक्ति कफ-दोषसे ग्रस्त है, जिसने वमन आदिसे शरीरको शुद्ध किया है और जिसे अजीर्ण हो उसे तैलाभ्यङ्ग नहीं करना चाहिये ।

'तैलाभ्यङ्गके अनन्तर व्यायाम आवश्यक है । शरीरायास-जनक कर्मसे शरीरमें हल्कापन, दृढ़ता, अग्निकी दीप्तता, चर्बीकी कमी और अवयवोंमें सघनता उत्पन्न होती है । स्नान व्यायामसे कुछ देरके बाद करना चाहिये । स्नान करनेसे जठराग्नि तेज हो जाती है, चित्त प्रसन्न होता है और आयु बढ़ती है । इससे उत्साह और बलका वर्द्धन होता है । खुजली, मलिनता, श्रम, स्वेद, तन्द्रा, तृषा, दाह और ताप भी स्नान करनेसे दूर होते हैं । पश्चात् संध्या, जप, हवन, देवता और पितृपूजन करके अतिथि और उपाश्रितोंको खिलाकर हाथ, पैर, मुख धोकर श्रेष्ठ पात्रोंमें परोसे गये अन्नकी निन्दा न करते हुए भोजन करना चाहिये । (चरकसंहिता, सूत्र-स्थान अध्याय ८ ।)

'शुभ कर्मोंमें सहायक मित्रोंका निश्छलभावसे सङ्ग करना चाहिये, तदितर लोगोंसे दूर रहना ही अच्छा है । हिंसा, चोरी, निषिद्ध काम, सेवा, चुगली, कठोर वचन, असत्यभाषण, असम्बद्ध कथन, हिंसात्मक चिन्तन, दूसरोंके गुण आदिकी असहिष्णुता और शास्त्रदृष्टिसे विपरीत विचार—ये दस पाप-कर्म हैं । इनमें प्राथमिक तीन शरीरसम्बन्धी, अग्रिम चार वचनसम्बन्धी और अन्तिम तीन कर्म मनसे सम्बन्ध रखते हैं, इन्हें छोड़ देना चाहिये । (अष्टाङ्गहृदय २ ।) जिनकी जीविकाका कोई उपाय न हो, जो व्याधि और शोकसे पीड़ित हों, यथाशक्ति उनकी पीड़ाको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये । कीट और पिपीलिकादिको भी अपनी तरह देखे, अन्य मनुष्य, पशु आदिके विषयमें क्या कहना है ? देवता, गौ, विप्र, ज्ञान, शील और तपमें वृद्ध जन, वैद्य, राजा और अतिथिका पूजन करे । याचकोंको विमुख न जाने दे । न उनका अपमान करे और न कठोर वचन बोले । यदि शत्रु अपकार कर रहा हो तो भी उसका उपकार ही करे । सम्पत्ति और विपत्तिमें समान बना रहे । हेतुमें ईर्ष्या करनी चाहिये फलमें नहीं । यह श्रुत और त्यागादि गुणोंसे समान है । मैं ऐसा क्यों न बनूँ—यह हेतु-सम्बन्धी ईर्ष्या है और दूसरेकी समृद्धिको देखकर जो मनमें असहिष्णुता उत्पन्न होती है, वह फल-सम्बन्धी ईर्ष्या कही जाती है । (अष्टाङ्गहृदय ।)

'यथावसर हित करनेवाले, परिमित, यथार्थ और कोमल वाणीका प्रयोग करे । यदृच्छासे यदि सुहृद् आ जायँ तो उनके बोलनेसे पहले ही कुशल-प्रश्नादि करना चाहिये । प्रत्येक व्यक्तिको सुमुख-प्रसन्न वदन, सुशील एवं दयालु होना चाहिये ।* ज्ञाति, मित्र एवं भृत्यादिको बिना दिये हुए सुख-साधनोंका अकेले उपभोग न करे । न तो सर्वत्र विश्वास ही करे और न शङ्का ही । इन्द्रियोंको न अत्यन्त पीड़ित करे और न उन्हें सर्वत्र उन्मुक्त छोड़ दे । जिस कार्यमें धर्म, अर्थ और काममें परस्पर विरोध हो तथा जो त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) से शून्य हो उसे न करे । सम्पूर्ण धर्मों या आचारोंमें मध्यम मार्गका अनुसरण करना चाहिये । किसी एक आचारमें सर्वथा आसक्त न हो । रोम, नख और श्मश्रु अधिक न बढ़ने पायें । पैर, नाक और कानोंको निर्मल रखना चाहिये । नित्य स्नान करना आवश्यक है । सुगन्धित द्रवका अनुलेपन और सुन्दर वेष धारण करना चाहिये; किंतु वेष ऐसा न हो, जिससे व्यक्ति अत्यन्त शृङ्गारी मालूम हो ।

'चलते समय चार हाथ सामने देखते हुए, पदत्राण धारण करके, छाता लेकर ही कहीं बाहर जाना चाहिये । रातमें यदि कोई

* आर्द्रसंतानता त्यागः कायवाक्चेतसां दमः । स्वार्थबुद्धिः परार्थेषु पर्याप्तमिति सद्व्रतम् ॥५४॥
(अष्टाङ्गहृदय, सू० २ अ० ।)

अत्यन्त आवश्यक कार्य आ पड़े तो किसी सहायकके साथ हाथमें दण्ड लेकर पगड़ी बाँधे हुए ही निकले। भुजाओंके बल नदी पार न करे, महान् अग्निराशिके सामने न जाय, संदिग्ध नौका और वृक्षपर न चढ़े। दुष्ट यानके सदृश इनका त्याग कर देना चाहिये। हस्तादिसे बिना मुख ढके छींकना, हँसना और जँभाई लेना ठीक नहीं।

बुद्धिमान् पुरुषके लिये विशिष्ट लोक ही आचारका उपदेष्टा है। अतः लौकिक कार्योंमें परीक्षकको उसीका अनुकरण करना चाहिये—

आचार्यः सर्वचेष्टासु लोक एव हि धीमतः।
अनुकुर्यात्तमेवातो लौकिके यः परीक्षकः॥

(अष्टाङ्गहृदय, सू०)

सम्पूर्ण भूतोंमें दया, दान, शरीर, वाणी और मनका दमन तथा दूसरे व्यक्तियोंके कार्योंमें स्वार्थबुद्धि, यही सज्जनोंका सम्पूर्ण धर्म या व्रत है। महर्षि आग्नेयने भी अग्निवेशसे कहा है—

'मनुष्यको चाहिये कि वह देव, गौ, ब्राह्मण, गुरु, वृद्ध, सिद्ध और आचार्यका पूजन करे। अग्निकी परिचर्या, प्रशस्त ओषधियोंका धारण, दोनों कालोंमें स्नान और संध्यावन्दन, आँख, नाक, कान और पैरोंकी निर्मलता आवश्यक है। पक्षमें तीन बार केश—दाढ़ी-मूँछ, लोम और नखोंको कटाना चाहिये। सदैव शुद्ध वस्त्र धारणकर, प्रसन्न-चित्त, सुगन्धित, सुन्दर वेशसे सम्पन्न एवं केशोंको संयत रक्खे। सिर, कान, नाक तथा पैरमें नित्य तेल लगाये। पूर्वाभिभाषी सुमुख तथा दुर्गतिमें पड़े हुए लोगोंका रक्षक बने। नित्य हवन करे और समय-समयपर बड़े यज्ञ करे। दान, चतुष्पथको नमस्कार, बलि-उपहरण, अतिथि-पूजा, पितरोंको पिण्डदान, यथावसर हित करनेवाले, थोड़े और मधुर वचन बोलना परमावश्यक कर्तव्य है। मनको वशमें रक्खे। धर्मात्मा, हेतुमें ईर्ष्या करनेवाला हो, फलमें नहीं; निर्भीक, लज्जालु बुद्धिमान्, उत्साही, दानशील, धार्मिक और आस्तिक बने। विनय, बुद्धि, विद्या और श्रेष्ठ कुलवालोंका सदा सङ्ग करे।

'छाता, डंडा, पगड़ी और उपानह धारण करके चार हाथ आगे देखता हुआ चले। कुत्सित वस्त्र, हड्डी, काँटा, अपवित्र वस्तु, केश, भूसी, कूड़ा, भस्म, कपाल, स्नान और बलि-भूमिको बचाकर जाय। समस्त प्राणियोंको बन्धु समझे। जो क्रोधमें भरे हों, उनके क्रोधको प्रेमसे दूर करे। डरे हुए लोगोंको आश्वासन दे और दीनोंकी रक्षा करे। सत्यवादी तथा शम-प्रधान बने। दूसरेके कठोर वचनोंको सह ले। अमर्ष-अक्षमाको दूर करे। सदैव शान्ति-गुणका दर्शन करे। राग और द्वेषके मूल कारणोंको नष्ट करनेमें लगा रहे *।'

संक्षेपमें यहाँ आयुर्वेदोक्त सदाचारका निरूपण किया गया है। सुश्रुत एवं चरक-संहितामें विस्तारसे समाजके आरोग्यजनक आचारोंका उपदेश उपलब्ध होता है। आजका हमारा समाज 'अर्थ'के प्रति अधिक जागरूक है। जिस किसी प्रकारके कुत्सित साधनोंसे अर्थ-संग्रह करना आजके समाजका लक्ष्य बन गया है। हमारे मनमें, वाणीमें, कर्ममें जो एक व्यापक असंतुलन दिखायी दे रहा है, उसका कारण यही है कि हम सदाचारसे विमुख हो रहे हैं। यदि समाजको स्वस्थ रखना है तो हमें सदाचारका आश्रय लेना ही होगा।

---

* न पीडयेदिन्द्रियाणि न चैतान्यतिलालयेत्। त्रिवर्गशून्यं नारम्भं भजेत् तं चाविरोधयन्॥ अनुयायात् प्रतिपदं सर्वधर्मेषु मध्यमाम्। नीचरोमनखश्मश्रुर्निर्मलाङ्घ्रिमलायनः। स्नानशीलः सुसुरभिः सुवेषोऽनुल्बणोज्ज्वलः। धारयेत् सततं रत्नसिद्धमन्त्रमहौषधीः॥ सातपत्रपदत्राणो विचरेद् युगमात्रदृक्। ···नदीं तरेन्न बाहुभ्यां नाग्निस्कन्धमभिव्रजेत्। संदिग्धनावं वृक्षं च नारोहेद् दुष्टयानवत्। नासंवृतमुखः कुर्यात् क्षुतिहास्यविजृम्भणम्॥२९-३५॥ (अष्टाङ्गहृदय, सू० अध्याय २।)

प्राचीन भारतमें सत्य, परोपकार एवं सदाचारकी महिमा

(लेखक—प्रो० पं० श्रीरामजी उपाध्याय, एम्० ए०, डी० लिट्०)

नेशत् तमो दुधितं रोचत द्यौ-
रुद् देव्या उषसो भानुरर्त ।
आ सूर्यो बृहतस्तिष्ठदज्रां
ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन् ॥

(ऋग्वेदसं० ४ । १ । १७)

मानव-संस्कृतिके विन्यासमें सदाचार और सच्चरित्रताका प्रारम्भिक युगसे ही महत्त्व रहा है। इसके बिना सुश्लिष्ट सामाजिक जीवन असम्भव होता और व्यक्तिगत सुख और शान्तिकी कल्पना भी न होती । भारतमें आचार तथा चरित्रकी प्रतिष्ठाका प्रधान आधार प्रकृतिकी उदारता और सहायकता रही है। प्रकृतिकी समृद्धिने मानवको शरीरतः केवल सुखी ही नहीं बनाया, वरं अपनी उदारताके अनुरूप मानवके हृदयको भी उदार बना दिया। परिणामतः मानव स्वार्थ और संकीर्णतासे ऊपर उठा और उसमें उदात्त भावनाओंका स्फुरण हुआ।

वैदिक आचार-पद्धतिमें ऋत या सत्यकी सर्वोच्च प्रतिष्ठा है[1] । वेदोंके अनुसार ऋत ही चराचर लोकोंकी सृष्टि, संवर्धन और संहारका नियामक है । प्रकृतिकी शक्तियाँ तथा दैवी विभूतियाँ ऋतके अनुकूल ही अपने-अपने व्यापारमें संलग्न हैं । इसे ही आदर्श मानकर वैदिक विद्वानोंने अपने जीवनमें क्रमबद्धता और व्यवस्थाको प्रथम स्थान दिया। उनके याज्ञिक मन्त्रोंके पाठमें क्रमकी योजना तथा उदात्तादि स्वरोंका विन्यास था ।

ऋग्वेदमें सत्यकी सर्वोच्च प्रतिष्ठा की गयी है। इसके अनुसार सृष्टिकी उत्पत्तिके पहले ऋत और सत्य उत्पन्न हुए और सत्यसे ही आकाश, पृथ्वी, वायु आदि तत्त्व स्थिर हैं । सत्यके समक्ष असत्यकी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती ।[2] अथर्ववेदके अनुसार असत्यवादी वरुणके पाशमें पकड़ा जाता है। उसका उदर फूल जाता है।[3]

अथर्ववेदमें पापको मूर्त रूप मानकर एक ऋषिने अपने हृदयकी आन्तरिक वेदनाको व्यक्त करते हुए कहा है—'हे मनके पाप! तू दूर चला जा; क्योंकि तू ऐसी बातें कहता है, जो सुननेके योग्य नहीं।' 'शतपथब्राह्मण'में सत्यको सर्वोच्च गुण बतलाया गया है। इसके अनुसार असत्य बोलनेवाला व्यक्ति अपवित्र हो जाता है। उसे किसी यज्ञ आदि पवित्र कर्मोंके लिये अधिकार नहीं रह जाते ।[4] इस ग्रन्थमें सत्यके द्वारा मानवकी तेजस्विताकी प्राप्ति तथा नित्य अभ्युदयकी सिद्धिका प्रतिपादन किया गया है । जो व्यक्ति सत्य बोलता है, उसका प्रकाश नित्य बढ़ता है; वह प्रतिदिन अच्छा होता जाता है। इसके विपरीत असत्य बोलनेवालेका प्रकाश क्षीण होता जाता है । वह प्रतिदिन दुष्ट बनता जाता है । ऐसी परिस्थितियोंमें सदा सत्य-भाषण ही करना चाहिये ।[5] उस युगकी मान्यता थी कि प्रारम्भमें भले ही सत्यवादीकी पराजय हो, पर अन्तमें उसीकी विजय होती है । देवताओं और असुरोंमें जो युद्ध हुआ, उसमें प्रारम्भमें देवताओंकी पराजय हुई; क्योंकि सत्यवादी प्रारम्भमें विजयी नहीं होते, अन्तमें विजयी होते हैं । देवता भी अन्तमें विजयी हुए और असुर पराजित हुए ।[6] सत्य दुःखको दूर करता है।[7] सत्यके द्वारा ही देवताओंकी

१—ऋत प्रकृतिका वह धर्म है, जिसके द्वारा निर्बाधरूपसे प्रकृतिके सारे कार्य-व्यापार चलते हैं। ऋतुओंका आगमन, सूर्योदय, दिन और रात्रि आदि सारे प्राकृतिक विधानोंकी क्रमबद्धताके मूलमें ऋत ही है।

२—ऋग्वेद ७ । १०४ । १२, ३—अथर्ववेद ४ । १६, ४—शतपथ० ३ । १ । २ । १० तथा १ । १ । १ । १ । ५—शतपथ० २ । २ । २ । १९, ६—शतपथ० ३ । ४ । २ । ८, ७—शतपथ० ११ । ५ । ३ । १३ ।

विजय होती है और उनका अप्रतिम यश संवर्धित होता है। 'ऐतरेयब्राह्मण'में मनुके पुत्र 'नाभानेदिष्ठ'की कथा मिलती है। नाभानेदिष्ठने सत्य बोलकर बहुमूल्य पारितोषिक पाया। उसी अवसरपर आदेश दिया गया है—विद्वान्‌को सदा सत्य ही बोलना चाहिये।

सत्यके द्वारा पापको दूर करनेका विधान बना था। यदि मनुष्यसे कोई पाप हो ही गया तो उसके प्रभावको कम करनेके लिये उस पापको सबके समक्ष स्वीकार कर लेना पर्याप्त था। तत्कालीन धारणाके अनुसार पाप सत्यके सम्पर्कमें आनेपर सत्य बन जाता है। यज्ञके अवसरपर स्वीकार न किया हुआ पाप यजमानके सम्बन्धियोंको भी कष्टमें डालता है। उस युगमें सत्यको ही सर्वोच्च आराधनाके रूपमें प्रतिष्ठा मिली।[८] उपनिषदोंसे ज्ञात होता है कि ऋषियोंके दार्शनिक जीवनकी भित्ति सदाचारके आधारपर ही खड़ी हुई थी। इसके लिये चित्तकी एकाग्रतारूप योग और शान्तिकी आवश्यकता थी। इनकी प्राप्तिके लिये ऋषियोंने केवल अपने ही लिये नहीं, अपितु सारे समाजके लिये उच्चकोटिकी आचार-पद्धतिकी व्यवस्था कर दी है।

ब्राह्मी स्थिति—उपनिषदोंके अनुसार ब्रह्मतक पहुँचनेके लिये सभी प्रकारके पापोंसे छुटकारा पाना आवश्यक है। ब्रह्म सभी प्रकारके पापोंसे मुक्त है। ज्यों ही मानवकी सत्ता ब्रह्ममय हो जाती है, वह भी ब्रह्मकी भाँति शुद्ध हो जाता है। जब मानव अपने अभ्युदयकी प्रतिष्ठा सांसारिक विभूतियोंसे परे ब्रह्मकी एकतामें करता है तो वह सांसारिक पापोंसे निर्लिप्त हो जाता है। मुण्डक उपनिषद्‌में ऐसे ब्रह्मनिष्ठके सम्बन्धमें कहा गया है—

तरति शोकं तरति पाप्मानं
गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति।

'वह शोकको पार कर जाता है, पापको पार कर जाता है। गुहा-ग्रन्थिसे विमुक्त होकर वह अमर हो जाता है[९]।' इसी उपनिषद्‌में मानवके व्यक्तित्वके विकासके सम्बन्धमें कहा गया है—'**ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वः**' (३। १। ८) अर्थात् ज्ञानके प्रसादसे मानवका सत्त्व विशुद्ध हो जाता है। आत्मज्ञानके लिये आचारकी आवश्यकताका निरूपण करते हुए इस उपनिषद्‌में कहा गया है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥
(३। १। ५)

'आत्मा सत्य, तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्यसे लभ्य है। मानवशरीरके भीतर ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा है। उस आत्माको दोषहीन मुनि ही देख पाते हैं।' मानव तभीतक बुरी प्रवृत्तियोंके चंगुलमें फँसा रहता है, जबतक उसे ज्ञान नहीं रहता। ज्यों ही वह जान लेता है कि सारा जगत् ब्रह्ममय है, उसकी पापमयी प्रवृत्तियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं। ईशोपनिषद् (६-७)में यह कहनेके पहले कि किसीके धनके लिये लोभ मत करो, बताया गया है कि इस जगत्‌में सब कुछ ईशसे व्याप्त है। जो पुरुष अपनेको सबमें और अपनेमें सबको देखता है, वह क्योंकर किसी दूसरे प्राणीसे घृणा कर सकता है अथवा किसीकी हानि कर सकता है। यही एकत्व उस युगकी आचार-पद्धतिका दृढ़ आधार है। मुण्डकोपनिषद् (२। २। ९)में ब्रह्मके सम्बन्धमें कहा गया है कि वह शुभ्र है, शुद्ध है और पापोंसे रहित है। ब्रह्मके अनुरूप मानव अपने व्यक्तित्वके विकासकी योजना बनाता आ रहा है। बृहदारण्यक-उपनिषद्- (१। ४। १४)में सत्यको धर्मका स्वरूप माना गया है और उसे सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठा दी गयी है। सत्यके बलपर दुर्बल भी बलवान्‌को पराजित कर सकता है, अर्थात् धर्म या सत्य ही दुर्बलका सबसे बड़ा बल है[१०]।

८-शतपथ० २। ५। २। २०, ९-शतपथ० २। २। २। २०। १०-बृहदारण्यक० १। ३। २८।

तत्कालीन मानवकी सदाचारमयी निष्ठाका पता इस उपनिषद्में प्रस्तुत नीचे लिखी प्रार्थनासे लगता है—

असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमय।

(बृहदा० २ । ५ । ११)

'मुझे असत्‌से सत्‌की ओर, तमसे प्रकाशकी ओर तथा मृत्युसे अमरताकी ओर प्रवृत्त करो।' इस उपनिषद्के अनुसार धर्म और सत्य सभी प्राणियोंके मधु (पोषक) हैं, और स्वयं मानव भी सभी प्राणियोंके लिये मधु है[११]।

लोकोपकार—ऋग्वेदके मन्त्रोंसे ही दानका महत्त्व प्राप्त होता चला आया है। उपनिषदोंमें दानको ब्रह्मज्ञानका भी साधन माना गया है[१२]। उपनिषदोंमें समाज-सेवाका उच्च आदर्श प्रस्तुत किया गया है। तैत्तिरीय-उपनिषद्में नागरिकको आदेश दिया गया है कि किसी मनुष्यसे यह न कहो कि तुम्हारे लिये वसति (रहनेका स्थान) नहीं है। यह व्रत तो होना ही चाहिये। केवल रहनेके लिये स्थानमात्र देना ही पर्याप्त नहीं है, उस व्यक्तिको कुछ भोजन भी देना है। अतिथिको आदरपूर्वक भोजन देना चाहिये[१३]। बृहदारण्यक-उपनिषद्में महान् बननेके लिये जिस मनोवृत्तिको आवश्यक कहा गया है, वह लोक-कल्याणके लिये ही है। मानव महान् बननेके लिये कामना करता है। मानवोंमें मैं अद्वितीय कमल बन जाऊँ, जैसे सूर्य दिशाओंमें कमल है[१४]। अतिथिके सत्कार-द्वारा वैदिककालीन भारतीय लोकोपकारिताका परिचय मिलता है। उस समय प्रत्येक ग्राम और नगरमें इनके लिये आवसथ बने हुए थे।

महाभारतमें सदाचारका पर्याय शिष्टाचार मिलता है। इसके अनुसार शिष्ट वे पुरुष हैं, जो काम, क्रोध, लोभ, दम्भ और कुटिलताको वशमें करके केवल धर्मको अपनाकर संतुष्ट रहते हैं। वे सदैव आचारनिष्ठ रहते हैं। शिष्ट पुरुष सदैव नियमित जीवन बिताते हैं। वे वेदोंका स्वाध्याय करते हैं और त्यागपरायण होते हैं और सत्यको सर्वोच्च तत्त्व मानते हैं। शिष्ट पुरुष जानते हैं कि शुभ और अशुभ कर्मोंके फल-संचयसे सम्बन्ध रखनेवाले परिणाम क्या हैं। शिष्ट पुरुष सबको दान देते हैं, निकटवर्ती लोगोंमें सब कुछ बाँटकर खाते हैं, दीनोंपर अनुग्रह करते हैं। उनका जीवन तपोमय होता है और वे सभी प्राणियोंपर दया करते हैं।[१५] शिष्ट पुरुषोंका आचार ही शिष्टाचार है। शिष्टाचार-के अन्तर्गत धर्मके सर्वोच्च तत्त्वोंका परिगणन होता था। यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय और सत्य शिष्टाचारके प्रमुख अङ्ग हैं।[१६] शिष्टाचारमें त्यागका स्थान ऊँचा है। महाभारतके अनुसार धर्मके तीन लक्षण हैं। इनमें भी परम धर्म वह है, जो वेदोंमें तथा धर्मशास्त्रोंमें बतलाया गया है, उसके अविरुद्ध शिष्टोंका आचार भी प्रमाण है। इस प्रकार शिष्टाचारकी प्रतिष्ठा उस युगमें बहुत बढ़ी थी।[१७] शिष्ट पुरुषोंके पास जब कोई संत पहुँचता है तो वे अपनी स्त्री और कुटुम्बीजनोंको कष्ट देकर भी मनोयोगपूर्वक अपनी शक्तिसे अधिक दान देते हैं। ऐसे शिष्ट पुरुष महाभारतके अनुसार, अनन्तकालतक उन्नतिकी ओर अग्रसर होते रहते हैं। वे समस्त लोकके लिये प्रमाण हैं। शिष्टाचार है—दोषदृष्टिका अभाव, क्षमा, शान्ति, संतोष, प्रिय भाषण और शास्त्रोंके अनुकूल कर्म करना।[१८]

महाभारतके अनुसार सदाचार केवल आध्यात्मिक अभ्युदयकी दृष्टिसे ही ग्रहणीय नहीं है, अपितु शीलके

११–बृहदारण्यक०२ । ५ । ११–१३, १२–बृहदारण्यक० ४ । ४ । २२ तथा ५ । २ । १–३, १३–तैत्तिरीय० भृगुवल्ली १० । १, १४–बृहदारण्यक० ५ । ३ । ६, १५–महाभारत वनपर्व २०७ । ६१–९९, १६–यज्ञो दानं तपो वेदाः सत्यं च द्विजसत्तम । पञ्चैतानि पवित्राणि शिष्टाचारेषु सर्वदा ॥ (महाभारत वनपर्व २०७ । ६२) । १७–वनपर्व २०७वाँ अध्याय, १८–वही ।

साथ धर्म, धर्मके साथ सत्य, सत्यके साथ सदाचार, सदाचारके साथ बल और बलके साथ लक्ष्मीका निवास होता है।'[१९] इस प्रकार सदाचारसे बल और ऐश्वर्यकी प्राप्ति शिष्टयोजना कही जा सकती है।

इसमें शिष्ट बननेकी कामना करनेवालोंको आदेश दिया गया है कि 'उद्योगी बनो, वृद्धोंकी उपासना करो, उनसे अनुमति लो और नित्य उठकर वृद्धोंसे कर्तव्य पूछो।[२०] दिनमें ऐसा काम करो कि रातमें सुखसे सो सको। वर्षमें आठ मास ऐसे काम करो, जिससे वर्षाके चार मास सुखसे बीतें। युवावस्थामें ऐसा काम करो, जिससे वृद्धावस्था आनन्दसे बीते और जीवनभर ऐसा काम करो जिससे मरनेके पश्चात् सुख हो[२१]।' मानवका आचरण तो सूर्यकी भाँति होना चाहिये। सबका उपकार करना ही एकमात्र कर्तव्य है। स्वर्गमें उसी व्यक्तिकी सर्वोच्च प्रतिष्ठा होती है, जो सबको स्नेह-दृष्टिसे देखता है। सभी प्राणियोंके दुःखका निवारण करता है तथा सबके साथ प्रेमपूर्वक सम्भाषण करके उनके सुखमें सुखी और दुःखमें दुःखी होता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें कृष्णके चरित्रमें आदर्श आचारकी रूप-रेखा प्रस्तुत की गयी है। कृष्णने कहा है—'मैं साधुओंकी रक्षा करनेके लिये, पापियोंका विनाश करनेके लिये और धर्मकी स्थापना करनेके लिये प्रत्येक युगमें उत्पन्न होता हूँ[२२]।' उपर्युक्त विचारधारा सच्चरित्रताके संवर्धनके लिये समुचित वातावरणकी सृष्टि करती रही है। आगे चलकर कृष्णने बतलाया है कि अपनी इन्द्रियों, मन तथा बुद्धिपर अधिकार रखनेवाले क्रोधसे रहित होकर ही परम कल्याण पा सकते हैं।[२३] ऐसा मनुष्य जो कुछ कर्म करता है, वह निष्काम कर्म है। निष्काम कर्मका एक लक्षण है—'लोकहितके लिये होना। यह एक प्रकारका यज्ञ है।'[२४] इसे वही कर सकता है, जो किसीसे राग-द्वेष आदि नहीं करता।[२५] निष्काम व्यक्तिके दृष्टिकोणके सम्बन्धमें कहा गया है—वह विद्या और विनयसे सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल-के सम्बन्धमें समदर्शी होता है। उसके लिये शत्रु-मित्र, साधु-पापी आदिके विषयमें समान-दृष्टि ही सर्वश्रेष्ठ है।[२६]

मानवीय व्यक्तित्वके सर्वश्रेष्ठ विकासकी योजना लोक-हितकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण है। भगवान् श्रीकृष्णके बताये हुए आचार-पथको अपनानेवाला यदि एक भी व्यक्ति किसी समाजमें हो तो उस समाजमें शान्तिका साम्राज्य होगा। कृष्णने ऐसे मनस्वीकी परिभाषा इस प्रकार दी है—किसीसे द्वेष न करनेवाला, सबसे मित्रता रखने-वाला, करुण, ममत्व और अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखमें समान, क्षमावान्, संतुष्ट, सदैव योगी, संयमी, दृढ़ निश्चयवाला, मुझमें ही मन और बुद्धिको अर्पित कर देनेवाला मेरा भक्त मुझे प्रिय है।[२७]

महाभारतमें आचारको ग्रहणीय बनानेके लिये उसकी पारलौकिक उपयोगिता ही नहीं बतायी गयी, अपितु इस लोकमें भी सदाचारसे अभ्युदयकी सम्भावना और अनाचारसे विपत्तियोंके समागमका चित्र खींचा गया है। इसके अनुसार 'यदि राजा शरणागतकी रक्षा नहीं करता है तो उसके राज्यमें समयपर जल नहीं बरसता, समयपर बीज नहीं उगते, उसका कोई रक्षक नहीं मिलता, उसकी संतान छोटी अवस्थामें मर जाती है।[२८]' सत्यसे स्वर्ग और असत्यसे नरक-गतिकी सम्भावना तो बतलायी ही गयी, साथ ही कहा गया है कि 'असत्यके कारण लोग नाना प्रकारके रोग, व्याधि और तापसे दुःखी रहते हैं तथा भूख-प्यास और परिश्रमसे भी कष्ट भोगते हैं।' इतना ही नहीं, 'असत्यवादीको आँधी,

---

१९-शान्तिपर्व १२४ वाँ अध्याय, २०-मौ० पर्व २। २३, २१-उद्योगपर्व ३५। ६१—७०, २२-गीता ४। ८, २३-गीता ४। १०, ५। २८, २४-गीता ४। २३, २५-गीता ५। ३, २६-गीता ५। १८, ६। ९, २७-गीता १२। १३-१४, २८-वनपर्व १०७। ११—१८।

पानी, सर्दी और गर्मीसे उत्पन्न हुए भय तथा शारीरिक कष्ट भी झेलने पड़ते हैं और बन्धु-बान्धवोंकी मृत्यु, धनके नाश और प्रेमीजनोंके वियोगके कारण होनेवाले मानसिक शोकका शिकार भी बनना पड़ता है। उसी प्रकार वे जरा और मृत्युके दुःखोंको भी भोगते हैं।'[२९]

अत्याचारियों अथवा दुष्टोंके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये—इस सम्बन्धमें प्रायः सभी शास्त्रकारोंका मत है कि यदि अत्याचारी या दुष्ट पुरुष समझाने-बुझानेसे अथवा साधुतापूर्वक व्यवहार करनेसे सत्पथपर आ जाता है तो सबसे अच्छा है। महाभारतके अनुसार 'क्रोधको अक्रोधसे और असाधुको साधुतासे जीतना चाहिये।[३०] वैरका अन्त वैरसे नहीं होता। दुष्टोंके साथ दुष्ट न बनें।'[३१] अत्याचारी पापमय उपायोंसे दबाये जानेपर स्वभावतः अधिक अत्याचारी बन जाता है। यही मनोवैज्ञानिक आधार शान्तिमय उपायोंकी उपयोगिताकी पुष्टि करता है। शान्तिमय उपायोंके असफल होनेपर बलपूर्वक अत्याचारियोंका दमन करना शास्त्रकारोंने उचित ठहराया है। जिस व्यक्तिके प्रति किसी व्यक्तिका जैसा व्यवहार हो, उस व्यक्तिसे बदलेमें वैसा ही व्यवहार करनेमें न तो अधर्म होता है और न अमङ्गल।[३२] उपर्युक्त कथनका समर्थन स्पष्ट रीतिसे नीचे लिखे श्लोकमें मिलता है—

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः
तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः।
मायाचारो मायया बाधितव्यः
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः॥[३३]

मनुने आचारसे लौकिक और पारलौकिक अभ्युदयके कारणोंका विशद विश्लेषण किया है। उनका यह विवेचन समाजको आचार-पथपर अग्रसर करनेके लिये अवश्य ही समर्थ रहा है। मनुके अनुसार आचारसे मनुष्य दीर्घायु होता है, अभीष्ट संतान पाता है और वह अक्षय धन भी प्राप्त करता है।[३४] मनुने असत्य बोलनेवाले घोर पापीको महान् चोर माना है और कारण बताया है कि 'अन्य चोर तो किसी अन्य व्यक्तिका धन चुराता है, पर असत्यवादी तो अपनी आत्माका ही अपहरण करता है।' 'सज्जनोंके बीच किसी बातको अन्यथा बतलाना असत्य है।'[३५] मनुने 'शब्द और अर्थको तोड़-मरोड़कर उलटी-सीधी बातें बनानेवालोंको भी चोर माना है। मनुकी शब्दावलीमें उनका नाम 'सर्वस्तेयकृत्' अर्थात् सब कुछ चुरानेवाला है।[३६] मनुकी दृष्टिमें असत्य बोलनेवालेको उसी नरकमें जाना पड़ेगा, जिसमें ब्राह्मण, स्त्री, बालक आदिकी हत्या करनेवाला जाता है। झूठ बोलनेवालेका सारा पुण्य उसे छोड़कर कुत्तेके पास चला जाता है। झूठेको नङ्गा, अन्धा, भूखा, प्यासा आदि होकर भीख माँगते हुए शत्रु-कुलमें जाना पड़ता है। वह पापी सिर नीचे किये हुए नरकके घोर अँधेरेमें जा गिरता है।[३७] इसके विपरीत न्यायालयमें सत्य बोलनेवालेकी प्रतिष्ठा मनुने की है—जिस पुरुषके बोलते हुए सर्वज्ञ अन्तर्यामी-को यह शङ्का ही नहीं होती कि वह कभी झूठ बोलता है, उससे बढ़कर देवताओंकी दृष्टिमें कोई प्रशंसनीय नहीं है।[३८] असत्य बोलनेवालोंके लिये मनुने घोर दण्डका विधान बनाया है।[३९] मनुने समाजमें पापकी प्रवृत्तियोंपर रोक लगानेके लिये मनोवैज्ञानिक आधारपर सफल योजना बनायी है। इसके अनुसार पापीका पापसे छुटकारा हो सकता है, यदि वह दूसरोंसे अपने पापकी निन्दा करे और यह निश्चय करे कि वह अब फिर वैसा काम न करेगा।[४०]

२९–शान्तिपर्व १९०वाँ अध्याय, ३०–उद्योगपर्व ३८। ७३।

३१–न पापं प्रति पापः स्यात् साधुरेव सदा भवेत्। न चापि वैरं वैरेण केशव व्युपशाम्यति॥

३२–उद्योगपर्व १७९। ३०, ३३–शान्तिपर्व १०९। २९ तथा उद्योगपर्व ३६। ७, ३४–मनु० ४। १५६, ३५–मनु० ४। २२५, ३६–मनु० ४। २५६, ३७–मनु० ८। ८९–९५, ३८–मनु० ८। ९६, ३९–मनु० ८। २५७, ४०–मनु० ११। २२७–३२।

अशोककी आचार-निष्ठा—अशोकके शब्दोंमें उसकी राजनीति है—'मैं प्रजाको धर्माचरणमें प्रवृत्त करना ही यज्ञ और कीर्तिका द्वार मानता हूँ। सब लोग विपत्तिसे दूर हो जायँ। पाप ही एकमात्र विपत्ति है।'[४१] दास और सेवकोंके साथ उचित व्यवहार करना, माता-पिताकी सेवा करना, मित्र, परिचित, सम्बन्धी, श्रमण और ब्राह्मणोंको दान देना, प्राणियोंकी हिंसा न करना धर्म है।'[४२] अशोकने प्रजाको शिक्षा दी—'चण्डता, निष्ठुरता, क्रोध, मान, और ईर्ष्या—ये सब पापके कारण हैं।'[४३] उसने लोगोंको पशु-पक्षियोंकी हिंसासे विरत करनेके लिये भी नियम बनाये। उसने प्राणिमात्रको सुख पहुँचानेके लिये सड़कोंपर छाया देनेवाले पेड़ लगवाये, आम्रवृक्षकी वाटिकाएँ लगवायीं, सड़कोंपर आध-आध कोसपर कुएँ खुदवाये, यात्रियोंके लिये धर्मशालाएँ बनवायीं, पशुओं और मनुष्योंके लिये पौंसले बनवाये। अशोकने कहा—'धर्मकी उन्नति इसीमें है कि लोगोंमें दान, सत्य, पवित्रता तथा मृदुता बढ़े।' उसने इच्छा प्रकट की—दीन-दुःखियोंके साथ तथा दास और नौकरोंके साथ उचित व्यवहार होना चाहिये।[४४]

ऐतिहासिक प्रमाण—भारतीय आचारकी उच्चताके प्रमाण तत्कालीन विदेशी लेखकोंकी रचनाओंमें भी मिलते हैं। स्त्राबोके अनुसार भारतीय इतने सच्चे हैं कि उन्हें घरोंमें ताला लगानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती और न अपने लेन-देन और व्यवहारोंमें लिखा-पढ़ी करनी पड़ती है।[४५] एरियनके अनुसार कोई भी भारतवासी असत्य नहीं बोलता।[४६]

चौथी शतीके जार्डैन्सने प्रमाणित किया है कि प्रायः सभी भारतवासी सत्यवादी हैं और वे न्यायके क्षेत्रमें निष्कपट हैं[४७]।' फाह्यानने भारतीय लोकोपकारकी भावनाका निरूपण करते हुए लिखा है—'रथयात्राके अवसरपर जनपदके वैश्योंके मुखियालोग नगरमें सदाव्रत और औषधालय स्थापित करते हैं। देशके निर्धन, अपङ्ग, अनाथ, विधवा, निःसंतान, लूले, लँगड़े और रोगी इस स्थानपर जाते हैं। उन्हें सब प्रकारकी सहायता मिलती है। वैद्य रोगोंकी चिकित्सा करते हैं। रोगी अनुकूल पथ्य और औषध पाते हैं, अच्छे होते हैं और लौट जाते हैं।'[४८] ह्वेनसाँगने भारतवासियोंके सम्बन्धमें लिखा है—'वे स्वभावतः शीघ्रता करनेवाले और अनाग्रह बुद्धिके होते हैं। उनके जीवनके सिद्धान्त पवित्र और सच्चरित्रतापूर्ण हैं। किसी भी वस्तुको वे अन्यायविधिसे नहीं ग्रहण करते और औचित्यसे अधिक त्याग करनेके लिये तत्पर रहते हैं। भारतवासियोंका विश्वास है कि पापोंका फल भावी जीवनमें मिलकर ही रहता है। वे जीवनके भोगोंके प्रति प्रायः उदासीन-से रहते हैं। वे धोखा-धड़ी नहीं जानते और अपनी प्रतिज्ञाओंपर दृढ़ रहते हैं'।[४९] ह्वेनसाँगने आगे चलकर पुनः लिखा है—'सारे भारतमें असंख्य पुण्यशालाएँ हैं, जिनमें दीन-दुःखी लोगोंको सहायता दी जाती है। इन पुण्य-शालाओंमें औषध और भोजन वितरित किये जाते हैं, यात्रियोंकी सब प्रकारकी आवश्यकताएँ पूरी की जाती हैं और उन्हें किसी प्रकारकी असुविधा नहीं होती[५०]।'

ग्यारहवीं शतीके भूगोल-शास्त्र-वेत्ता इद्रीसीने भारत-वासियोंकी लोकप्रियताके कारणका निरूपण करते हुए लिखा है कि 'भारतीय लोग न्यायप्रिय हैं। वे कर्तव्य-पथमें अन्याय नहीं अपनाते हैं। वे अपनी श्रद्धा, सच्चाई और प्रतिज्ञा-पालनके लिये सर्वत्र प्रसिद्ध हैं।'[५१]

४१—दशम शिलालेख, ४२—एकादश शिलालेख, ४३—तृतीय स्तम्भलेख, ४४—सप्तम स्तम्भलेख,
४५—Strabo Tib (X U) p. 488 (ed. 1587), ४६—Indica Chapters XII. 6, ४७—Marcopolo, Ed. H. yule. Vol. II p. 354, ४८—फाह्यान् पृ० १६, ४९—Watters Vol. I p. 171, ५०—Watters Vol. I p. 287-288 ५१—Elliot's History Of India, Vol. I, p. 88.

तेरहवीं शतीमें समसुद्दीन अबू अब्दुल्लाहने भारतीय सच्चरित्रताका उल्लेख करते हुए बतलाया है—'भारतवासी बालूके कणकी भाँति असंख्य हैं। धोखा-धड़ी तथा हिंसासे मानो उनका परिचय ही नहीं है। वे मृत्युसे और जीवनसे भी नहीं डरते।'[५२] भारतीय आचारकी उपर्युक्त उत्कृष्टता प्राचीनकालसे लेकर १९वीं शतीके पूर्वार्धतक प्रायः अक्षुण्ण रूपमें बनी रही। बीसवीं शतीके पूर्वार्धमें भारतीय चरित्रका सर्वाधिक पतन हुआ। इसका प्रधान कारण था भारतकी परतन्त्रता। इसी शतीमें स्वतन्त्रताका संग्राम और सत्याग्रहकी लहरने देशको एक बार और सदाचारके श्रेष्ठ पथपर बढ़नेके लिये प्रोत्साहित किया। महात्मा गान्धीका भारतीय चरित्र-निर्माणकी दिशामें अनुपम योगदान रहा है। उनकी आचार-पद्धतिपर चलना ही भारतके लिये कल्याणप्रद हो सकता है। भावी भारतका चारित्रिक विन्यास गाँधीजीके सिद्धान्तोंके अनुरूप होना चाहिये। यह वही पथ है, जिसे इस युगमें दयानन्द, विवेकानन्द, रामतीर्थ आदि महामनीषियों-ने भारतीय चरित्र-निर्माणके लिये प्रवर्तित किया और जो रवीन्द्रनाथकी भी काव्यधारामें प्रवाहित हुई।

आचारके प्राचीन नियम

(लेखक—पं० श्रीवल्लभरामजी शर्मा, खाण्डिल्य)

भारतकी सदाचार-पद्धति उन देवों और महर्षियों-द्वारा स्थापित है, जो भूत-भविष्यसे तथा अन्तर्जगत्की रचना और संचालनसे परिचित थे, अतएव उन्हें जानकर श्रद्धापूर्वक आचरण करनेसे बहुत लाभ हो सकता है। प्रायः सभी प्राचीन स्मृति और पुराणोंमें कुछ-कुछ न्यूनाधिकताके साथ आचारकी पद्धतियाँ बतलायी गयी हैं। यहाँ पुराणोंमें नारद-ब्रह्मा-संवादके रूपमें निर्दिष्ट आचारका संक्षेपमें उल्लेख किया जा रहा है। ब्रह्माजी कहते हैं—

द्विजको रात्रिके अन्तिम प्रहरमें उठकर प्रतिदिन भगवान्‌का, देवताओंका और पुण्यवान् व्यक्तियोंका स्मरण करना चाहिये। गोविन्द, माधव, कृष्ण, हरि, दामोदर, नारायण, जगन्नाथ, वासुदेव, अज, विष्णु, सरस्वती, महालक्ष्मी, वेदमाता सावित्री, ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रमा, दिक्पालगण, ग्रहसमूह, शंकर, शिव, शम्भु, ईश्वर, महेश्वर, गणेश, स्कन्द, गौरी, भागीरथी, गङ्गा, पुण्यश्लोक राजा नल, पुण्यश्लोक जनार्दन, पुण्यश्लोका जानकी, पुण्यश्लोक युधिष्ठिर और अश्वत्थामा, बलि, हनुमान्, विभीषण, कृपाचार्य तथा परशुराम—इन सात चिरंजीवी पुरुषोंके नाम जो मनुष्य नित्यप्रति प्रातःकाल उठकर स्मरण करता है, वह ब्रह्महत्यादि पातकोंसे छूट जाता है। (पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण आदि।)

तदनन्तर साफ जगह मल-मूत्रका त्याग करे, रात्रिको दक्षिणाभिमुख और दिनमें उत्तरकी ओर मुख करके मल-मूत्रका त्याग करना चाहिये। अङ्गोंमें मिट्टी लगाकर उन्हें शुद्ध करे। लिङ्गमें एक बार, गुदामें तीन बार, बायें हाथमें दस बार और दोनों हाथोंमें सात बार मिट्टी लगावे। फिर 'हे मृत्तिके! मेरे सारे पूर्वसञ्चित पापोंको दूर करो'[१] इस भावके मन्त्रसे सारे अङ्गोंमें मिट्टी लगाये। तदनन्तर गूलर आदिके दाँतुनसे दन्तधावन कर नद, नदी, कुएँ या तालाबमें स्नान करे।

५२—फाह्यान पृ० ६१

१—अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे। मृत्तिके हर मे पापं यन्मया पूर्वसंचितम्॥

प्रातःस्नान अत्यन्त ही स्वास्थ्यप्रद और पापनाशक है। स्नानके बाद संयत होकर संध्या करे। प्रातः-काल रक्तवर्णा, मध्याह्नमें शुक्लवर्णा और सायंकालमें कृष्णवर्णा गायत्रीका ध्यान करे। लोकान्तरगत पितृ-गणोंको उत्तम जल नहीं मिलता, इसलिये पितृव्रत-परायण शिष्य, पुत्र, पौत्र, दौहित्र, बन्धु और मित्र तथा अपने मरे हुए सम्बन्धियोंकी तृप्तिके लिये कुश हाथमें लेकर नित्य तर्पण करना चाहिये। पितरोंको काले तिलसे बहुत तृप्ति होती है, अतएव तिल मिले हुए जलसे तर्पण करे। स्नान करके पवित्र वस्त्र पहने। धोबीसे धुला हुआ कपड़ा अपवित्र होता है, उसे पुनः स्वच्छ जलसे धोकर पहनना चाहिये। नित्य देवपूजन करे। विघ्न-नाशके लिये गणेशकी, बीमारी मिटनेके लिये सूर्यकी, धर्म और मोक्षके लिये विष्णुकी, कामना-पूर्तिके लिये शिवकी और शक्तिकी पूजा करे। नित्य बलिवैश्वदेव और हवन करे। इस प्रकार सब देवों और सब प्राणियोंकी तृप्ति करनेके बाद स्वयं भोजन करे। स्नान, तर्पण, जप, देवपूजन और संध्योपासना नियमपूर्वक नित्य करे। इनके न करनेसे बड़ा पाप होता है।

घरके आँगनको ताजे गोबरसे लीपे, बर्तनोंको रोज माँजे। काँसेका बर्तन राखसे, ताँबेका खटाईसे, पत्थरका तेलसे, सोने-चाँदीका जलसे और लोहेका अग्निसे शुद्ध होता है। खोदने, जलाने, लीपने और धोनेसे पृथ्वी पवित्र होती है। अपने बिछौने, स्त्री, शिशु, वस्त्र, उपवीत और कमण्डलु सदा ही पवित्र हैं; किंतु ये ही यदि दूसरोंके हों तो कभी शुद्ध नहीं हैं। एक कपड़ा पहनकर कभी स्नान या भोजन न करे। (धोती और गमछा दोनों रखे) दूसरेका स्नान-वस्त्र कभी न पहने। रोज सबेरे बालोंको और दाँतोंको धोये। गुरुजनोंको नमस्कार करे। दोनों हाथ, दोनों पैर और मुख—इन पाँचों अङ्गोंको गीले रखकर, धोकर भोजन करे। जो नियमित पञ्चार्द्र (इन पाँचोंको गीले रखकर) भोजन करते हैं, वे सौ वर्ष जीते हैं। देवता, गुरु, राजा, स्नातक, आचार्य, ब्राह्मण और यज्ञादिमें दीक्षा लिये हुए व्यक्तिकी छायाको जान-बूझकर न लाँघे। गौ-ब्राह्मण, अग्नि-ब्राह्मण और दम्पति (पति-पत्नी)के बीचसे न जाय। अग्नि, ब्राह्मण, देवता, गुरु, अपना मस्तक, फूलोंके पेड़ और यज्ञवृक्षको जूँठे मुँह स्पर्श न करे। सूर्य, चन्द्रमा और तारे—इन तीनों तेजमय पदार्थोंको जूँठे मुँह ऊपरकी ओर ताककर न देखे। विप्र, गुरु, देवता, राजा, संन्यासी, योगी, देवकार्यमें लगे हुए मनुष्य और धर्मोपदेशक पुरुषको भी जूँठे मुँह न देखे। समुद्र और नदीके किनारेपर यज्ञीय वृक्षों (बट-पीपल आदि)के नीचे, बगीचेमें, पुष्प-वाटिकामें, जलमें, ब्राह्मणके घरमें, राजमार्गमें और गोशालामें मल-मूत्रादिका त्याग न करे। मङ्गलवारको क्षौर न कराये। रवि और मङ्गलवारको तेल न लगाये। कभी मुखमें नख न ले। अपने शरीरको और आसनको न बजाये। गुरुके साथ एक आसनपर न बैठे और श्रोत्रिय, देवता, गुरु, राजा, तपस्वी, पङ्गु, अन्धे और स्त्रियोंका धन किसी तरह हरण न करे।

ब्राह्मण, गौ, राजा, रोगी, बोझ लादे हुए, गर्भिणी स्त्री और कमजोर मनुष्यके लिये रास्ता छोड़ दे। राजा, ब्राह्मण और चिकित्सक-(वैद्य-डाक्टर-)से विवाद न करे। पतित, कुष्ठरोगी, चाण्डाल, गोमांस-भोजी, समाज-बहिष्कृत और मूर्खसे सदा अलग रहे। दुष्टा, बुरी वृत्तिवाली, दोषारोपण करनेवाली, कुकर्म करनेवाली, कलह-प्रिया, प्रमत्ता, अधिक अङ्गवाली, निर्लज्ज, बाहर घूमने-फिरनेवाली, खर्चीली और अनाचारिणी स्त्रियोंसे दूर रहे। मलिन अवस्थामें गुरुपत्नीको प्रणाम न करे। गुरु-पत्नीको भी बिना प्रयोजन न देखे। पुत्रवधू, भ्रातृवधू, कन्या तथा अन्य जो भी स्त्रियाँ युवती हों, उनकी ओर बिना प्रयोजन न देखे, स्पर्श तो कभी न करे। स्त्रियोंके साथ व्यर्थ बात न करे, न उनके नेत्रोंकी ओर

देखे, न कलह करे और न उनसे अमर्यादित वाणी बोले। तुष, चिनगारी, हड्डी, कपास, देवनिर्माल्य और चिताकी लकड़ीपर पैर न रक्खे। दुर्गन्धवाली, अपवित्र और जूँठी चीज न खाय। क्षणभरके लिये भी कुसङ्गमें न रहे और न जाय। दीपककी छायामें और बहेड़ाके पेड़के नीचे न रहे। अस्पृश्य, पापात्मा और क्रोधी मनुष्यसे बात न करे। चाचा और मामा उम्रमें अपनेसे छोटे हों तो उनका अभिवादन न करे; परंतु उठकर उन्हें आसन दे और हाथ जोड़े रहे। तेल लगाये हुए, जूँठे मुँहवाले, गीला कपड़ा पहने, रोगी, समुद्रमें उतरे हुए, उद्विग्न, यज्ञके कर्ममें लगे हुए, स्त्रीके साथ क्रीडा करते हुए, बालकके साथ खेलते हुए, पुष्प या कुश हाथोंमें लिये हुए और बोझ उठाये हुए लोगोंका अभिवादन न करे; क्योंकि बदलेमें इन्हें प्रत्यभिवादन करनेमें असुविधा हो सकती है। मस्तक या दोनों कानोंको ढककर, चोटी खोलकर, जलमें अथवा दक्षिणमुख होकर आचमन न करे। आचमनके समय पैर भी धोने चाहिये। सूखे पैर सोना और गीले पैर भोजन करना चाहिये। अँधेरेमें न सोये, न भोजन करे, क्योंकि बिछौने या भोजनमें जीव-जन्तु रह सकते हैं। पश्चिम और दक्षिणकी ओर मुँह करके दाँतोंको न धोये। उत्तर और पश्चिमकी ओर सिर करके न सोये। दक्षिण और पूर्वकी ओर सिर करके सोना चाहिये। दिन-रातमें एक बार भोजन करना देवताओंका, दो बार मनुष्योंका, तीन बार प्रेत-दैत्योंका और चार बार राक्षसोंका होता है।

स्वर्गसे आये हुए मनुष्योंकी चार पहचान हैं—खुले हाथों दान, मीठी वाणी, देव-ब्राह्मणोंका पूजन और तर्पण। नरकसे आये हुए जीवोंकी छः पहचान हैं—कंजूसी, मैला-कुचैला रहना, स्वजनोंकी निन्दा, नीच जनोंकी भक्ति, अत्यन्त क्रोध और कठोर वाणी। जो धर्मके बीजसे उत्पन्न हैं, उनकी प्रत्यक्ष पहचान है—नवनीतके समान कोमल वाणी और दयासे कोमल हृदय। और जो पापके बीजसे पैदा हुए हैं उनके प्रत्यक्ष लक्षण हैं—हृदयमें दयाका अभाव और केवड़ेके पत्तों-जैसी कँटीली और तीखी वाणी।

शुभाचार ही सदाचार

यस्तूदारचमत्कारः सदाचारविहारवान्।
स निर्याति जगन्मोहान्मृगेन्द्रः पञ्जरादिव॥
व्यवहारसहस्राणि यान्युपायान्ति यान्ति च।
यथाशास्त्रं विहर्तव्यं तेषु त्यक्त्वा सुखासुखे॥
यथाशास्त्रमनुच्छिन्नां मर्यादां स्वामनुज्झतः।
उपतिष्ठन्ति सर्वाणि रत्नान्यम्बुनिधाविव॥

(योगवासिष्ठ, मुमुक्षुव्यवहार-प्रकरण ६। २८, ३०-३१)

'जो पुरुष उदार-स्वभाव तथा सत्कर्मके सम्पादनमें कुशल है, सदाचार ही जिसका विहार है, वह जगत्‌के मोह-पाशसे वैसे ही निकल जाता है, जैसे पिंजरेसे सिंह। संसारमें आने-जानेवाले सहस्रों व्यवहार हैं, उनमें सुख और दुःख-बुद्धिका त्याग करके शास्त्रानुकूल आचरण करना चाहिये। शास्त्रके अनुकूल और कभी उच्छिन्न न होनेवाली अपनी मर्यादाका जो त्याग नहीं करता, उस पुरुषको समस्त अभीष्ट वस्तुएँ वैसे ही प्राप्त हो जाती हैं, जैसे सागरमें गोता लगानेवालेको रत्नोंका समूह।'

भारतीय धर्म और सदाचारकी विश्वको देन

(लेखक—पं० श्रीगोपालप्रसादजी दुबे, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

यह निर्विवाद है कि 'वेद' ही संसारका प्राचीनतम ग्रन्थ है। भारतका सनातनधर्म जब अपने पूर्ण विकासपर था, तब अन्य कोई भी आधुनिक धर्म अस्तित्वमें न था। वह मनुष्यका शाश्वत एवं सनातन-धर्म था। धर्मके सम्बन्धमें वस्तुतः भारत विश्वका बहुत दिनोंतक नेतृत्व करता रहा है। परंतु खेदके साथ कहना पड़ता है कि आज अनेक भारतवासी ऐसे हैं, जिन्हें धर्मके नामसे ही घृणा है। कुछ तो ऐसे भी हैं, जो धर्मका अर्थतक नहीं जानते, भले उन्होंने विज्ञान और नास्तिकतापर भी कुछ पुस्तकें पढ़ ली हों! ऋग्वेदमें धर्मको विश्वका उन्नायक और सम्पोषक माना है। अथर्ववेदमें—**'ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक्चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च'**(—१२। ५। ७) कहा है। तथा वैशेषिकदर्शनके अनुसार **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'**—जिससे मानवका अभ्युदय और कल्याण हो, वही धर्म है' ऐसा कहा गया है। फिर विष्णुधर्मोत्तरमें कहा गया है कि—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
(श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराण ३। २५३। ४४)

दूसरोंके जो आचरण हमें पसंद नहीं, वैसे आचरण हमें दूसरोंके साथ भी नहीं करना चाहिये। महाभारतमें व्यासजीने अनेक जगह धर्मको स्पष्ट किया है। **'अहिंसा परमो धर्मः'**, **'अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा'**, **'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्'**, **'अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः'**। संक्षेपमें इनका तात्पर्य है कि दूसरोंको कष्ट नहीं देना चाहिये, अपितु सहायता करनी चाहिये। बौद्ध-जातकोंमें **'विवेग धम्म माहिये'** विवेकको ही धर्म कहा है। तैत्तिरीय-आरण्यकका **'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा'**—धर्म ही सारे जगत्‌को स्थिर करनेवाला है—यह वचन सबको एक सूत्रमें पिरो देता है। 'वसिष्ठस्मृति'में **'आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चयः'** मानवके पवित्र आचार ही परम धर्म हैं, ऐसा निश्चय है—यह भी उसीकी पुष्टि करता है। महाभारत **'आचारप्रभवो धर्मः'** कहता है।

इन वचनोंमें किसी एक धर्मकी ओर संकेत नहीं है। इसलिये इनका मूल सनातनधर्म है। निदान धर्मका मूल रूप जीवनकी पवित्रता, मनकी शुद्धता और सत्यकी प्राप्ति सब धर्मोंको स्वीकार है। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह समाज बनाकर रहता है और समाजको लेकर ही उसे चलना है। वह व्यक्तिगत स्वतन्त्र होते हुए भी सामाजिक शिष्टाचारसे घिरा है। अतएव परस्पर व्यवहारसे शिष्टाचार-को निभाना है। यही शिष्टाचार-धर्म सुसमाजका विधान है। अन्यथा—

आहारनिद्राभयमैथुनं च
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥
(हितोपदेश)

खान-पान, निद्रा, डर, मैथुनादि शारीरिक आवश्यकताएँ मानव तथा जानवरोंमें समानरूपसे वर्तमान रहती हैं। धर्म ही एक ऐसा पदार्थ है, जो मानवको पशुओंसे ऊपर उठाता है। सदाचार एक पुरुषार्थ है, कायरता अथवा अकर्मण्यता नहीं। धर्मपालनमें आत्मबल चाहिये। धर्म स्वच्छन्दतापर नियन्त्रण है। अतएव सुसंगठित समाजके लिये संयत होकर हरेकको कुछ देना है और कुछ लेना है। कुछ त्याग करना है, कुछ लाभ उठाना है। ऐसा आपसी सद्भाव न हो तो मानव बर्बर अवस्थामें पहुँच जाय। हमें ज्ञात है कि किसी भी राष्ट्र तथा समाजका उत्थान और पतन उसमें समाविष्ट मानवके उत्थान-पतनपर निर्भर है। अतएव आवश्यक है कि समाजका हर घटक इसके प्रति सजग रहे।

मनुके अनुसार जैसे पृथ्वीमें बोये बीज तत्काल फल नहीं देते, समय आनेपर धीरे-धीरे लगते हैं, ऐसे ही अधर्मके वृक्षके तत्काल फल नहीं मालूम होते; किंतु वह जब फलता है तब कर्ताके मूलका ही छेदन कर देता है। अतएव सावधान! धर्मका त्याग नहीं होना चाहिये। मेरा निवेदन किसी एक विशिष्ट धर्मसे कदापि नहीं है; क्योंकि धर्मके मूल सिद्धान्त सब एक ही हैं। साधनमें कुछ विभिन्नता होगी। लक्ष्य सबका एक है—'जन-कल्याण और सत्यकी उपलब्धि'। कोई भी धर्म हो, उसका 'विज्ञानसे' किसी प्रकारका कोई झगड़ा या मतभेद भी नहीं है। धर्म जहाँ एक ओर व्यक्तिगत सामाजिक सदाचार तथा पवित्र विचारकी ओर इङ्गित करता है, वहाँ विज्ञान प्रकृतिके रहस्योंका दिग्दर्शन कराता है। धर्म सदाचार सिखाता है; विज्ञान ज्ञान देता है। प्रथम कर्तव्यकी प्रेरणा करता है, दूसरा सुखसाधन जुटाता है। एक श्रेय है, दूसरा प्रेय। दोनों ही सत्यपर आधारित हैं। समाजकल्याणार्थ वे एक-दूसरेके पूरक हैं। एक ही पेड़की दो शाखाएँ हैं। जिनका फल है—मानव-कल्याण।

विज्ञान बुद्धिप्रधान है और धर्म भावनाप्रधान। विज्ञान जब भावनारहित हो जाता है, तब विनाश कर बैठता है। विज्ञानपर धर्मका नियन्त्रण पृथ्वीको स्वर्ग बनानेकी क्षमता रखता है। इस कारण दोनोंका समन्वय आजके युगमें नितान्त आवश्यक है। विज्ञानकी उतनी ही आवश्यकता है, जितनी एक उत्तम नागरिक बनानेके लिये धर्मकी। विज्ञानको सुखद, मङ्गलकारी बनानेके लिये उसपर धर्मका नियन्त्रण आवश्यक है। हम आज पृथ्वीकी दयनीय स्थिति देख रहे हैं—गृहयुद्ध, विप्लव, क्रान्ति, विक्षोभ, अपहरण, हत्याएँ और भीषणतम नरसंहारके विस्फोटोंकी प्रतिस्पर्धा! हमारा विश्व आज विनाशके कगारपर बैठा पशुबलिके समान खड्गप्रहार होनेकी घड़ियाँ गिन रहा है।

इसका एक दूसरा पहलू भी है। क्या इन विकसित देशोंकी प्रजा शान्तिका अनुभव कर रही है? शान्ति-हेतु क्या वे एल० एस० जी०का प्रयोग नहीं कर रहे हैं? नीदकी गोलियाँ नहीं खा रहे हैं और अपना देश छोड़कर 'हरे राम हरे कृष्ण' की रट नहीं लगा रहे हैं? विज्ञानमें तो वे अग्रणी हैं। फिर ऐसा क्यों? क्योंकि धर्मसे उन्होंने सम्बन्ध विच्छेद कर लिया है। भारतने धर्मके क्षेत्रमें प्राचीनकालसे विश्वका नेतृत्व किया था, आज भी करेगा। अभी दो दशक पूर्वकी ही बात है, जब हमने अपने पैरोंपर चलना सीखा, किंतु विश्वको 'पञ्चशील और सह-अस्तित्व'का पाठ पढ़ाया। आज आधेसे अधिक राष्ट्र हमारे पीछे हैं। विज्ञानके क्षेत्रमें भी हम किसीसे कम नहीं हैं। उन्हीं पराक्रमी राष्ट्रोंकी श्रेणीमें हम भी हैं। अणुविस्फोटकी हममें क्षमता है। प्रक्षेपास्त्रका हमने अध्ययन किया है। हम विकासकी ओर बढ़ रहे हैं; किंतु विनाशकारियोंकी होड़से दूर हैं। हमने किसी भी देशपर आजतक आक्रमण नहीं किया। हमारा कोई उपनिवेश नहीं है। हमने भयंकर-से-भयंकर झञ्झावातोंका मुकाबला किया। बाहरी आँधियों और तूफ़ानोंको सहा; अपितु धर्म हमसे अलग नहीं हुये। विभिन्न पन्थ तथा सम्प्रदायके आक्रामक हमपर आये। उनका यहाँ निवास हुआ। परिणामतः वे हममें ऐसे घुल-मिल गये, जैसे खालमें किसीने कूटकर एक रस कर दिया हो। अब भी हम अपनी समस्याएँ मिल-बैठकर सुलझानेमें विश्वास करते हैं और एक-एक कर सुलझा ही रहे हैं। वर्तमान पृथ्वीवल्लभोंके गुटोंका हम शक्तिसंतुलन बनाये रख रहे हैं। इसीलिये आशान्वित हैं कि आज नहीं तो निकट भविष्यमें ही हम भी विज्ञानपर धर्मकी विजय अवश्य कर दिखायँगे।

शिवोपासना और सदाचार

(लेखक—श्रीहीरसिंहजी राजपुरोहित)

भगवान् शंकरके उपासकों एवं अन्य वर्णोंके लिये भारतीय संस्कृतिमें शिवपुराणकी, विद्येश्वरसंहिता, १३वें अध्यायमें सदाचारका स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है कि 'सदाचारका पालन करनेवाले विद्वान् ब्राह्मण ही वास्तवमें ब्राह्मण नाम धारण करनेके अधिकारी होते हैं। जो वेदोक्त आचारका पालन करनेवाला, वेदका अभ्यासी है, उस ब्राह्मणकी 'विप्र' संज्ञा होती है। सदाचार और स्वाध्याय—इन दोनों गुणोंके होनेसे उसे 'द्विज' कहते हैं। जिसमें स्वल्पमात्रामें ही आचारका पालन देखा जाता है, जिसने वेदाध्ययन भी बहुत कम किया है तथा जो राजाका सेवक (पुरोहित, मन्त्री आदि) है, उसे 'क्षत्रिय-ब्राह्मण' कहते हैं। जो ब्राह्मण कृषि तथा वाणिज्य कर्म करनेवाला है और कुछ-कुछ ब्राह्मणोचित आचारका भी पालन करता है, वह 'वैश्य-ब्राह्मण' है तथा जो स्वयं ही खेत जोतता है, उसे 'शूद्र-ब्राह्मण' कहा गया है । जो दूसरोंके दोष देखनेवाला और परद्रोही है, उसे 'चाण्डाल-द्विज' कहते हैं।'

सभी वर्णोंके मनुष्योंको चाहिये कि वे ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर पूर्वाभिमुख हो सबसे पहले देवताओंका, फिर धर्मका, अर्थका तथा उनकी प्राप्तिके लिये उठाये जानेवाले क्लेशोंका एवं आय और व्ययका भी चिन्तन करें। संधिकालमें उठकर द्विजको मल-मूत्र आदिका त्याग करना चाहिये। जल, अग्नि, ब्राह्मण तथा देवताओंका सामना बचाकर बैठे। किसी भी वृक्षके पत्तेसे अथवा उसके पतले काष्ठसे जलके बाहर दतुअन करना चाहिये । दन्तधावनमें तर्जनीका उपयोग न करे । तदनन्तर, जल-सम्बन्धी देवताओंको नमस्कार कर मन्त्रपाठ करते हुए जलाशयमें स्नान करे; देवता आदिका स्नानाङ्ग-तर्पण भी करे । इसके बाद धौत-वस्त्र लेकर, पाँच कच्छ करके उसे धारण करे । नदी आदि तीर्थोंमें स्नान करनेपर स्नानसम्बन्धी उतारे हुए वस्त्रको वहाँ न धोये ।

इसके बाद 'बृहज्जाबालोपनिषद्'में निर्दिष्ट **'अग्निरिति भस्म'** इत्यादि मन्त्रद्वारा भस्म लेकर मस्तकपर त्रिपुण्ड्र लगाये । फिर पवित्र आसनपर बैठकर प्रातःसंध्या करनी चाहिये । प्रातःकालकी संध्योपासनामें गायत्रीमन्त्रका जप करके तीन बार ऊपरकी ओर सूर्यदेवको अर्घ्य देना चाहिये । मध्याह्नकालमें एक ही अर्घ्य तथा सायंकाल आनेपर पश्चिमकी ओर मुख करके बैठ जाय और पृथ्वीपर ही सूर्यके लिये अर्घ्य दे । फिर गुरुका स्मरण करके उनकी आज्ञा लेकर विधिवत् संकल्प कर सकामी अपनी कामनाको अलग न रखते हुए पराभक्तिसे भगवान् आशुतोष श्रीशिवका षोडशोपचारसे पूजन करे। 'शिव' नामके सर्वपापहारी माहात्म्यका एक ही श्लोकमें वर्णन करता हूँ । भगवान् शंकरके एक नाममें भी पापहरणकी जितनी शक्ति है, उतना पातक मनुष्य कभी कर ही नहीं सकता ।—

पापानां हरणे शम्भोर्नाम्नां शक्तिर्हि यावती।
शक्नोति पातकं तावत् कर्तुं नापि नरः क्वचित् ॥
(शिवपु० विद्येश्वरसंहिता २३ । ४२)

मानवको चाहिये कि वह दूसरोंके दोषोंका वर्णन न करे। दोषवश दूसरोंके सुने या देखे हुए दोषको भी प्रकट न करे। ऐसी बात न कहे, जो समस्त प्राणियोंके हृदयमें रोष पैदा करनेवाली हो। तीनों काल स्नान, अग्निहोत्र, विधिवत् शिवलिङ्ग-पूजन, दान, ईश्वर-प्रेम, सदा और सर्वत्र दया, सत्य-भाषण, संतोष,

आस्तिकता, किसी भी जीवकी हिंसा न करना, लज्जा, श्रद्धा, अध्ययन, योग, निरन्तर अध्यापन, व्याख्यान, ब्रह्मचर्य, उपदेश-श्रवण, तपस्या, क्षमा, शौच, शिखा-धारण, यज्ञोपवीत-धारण, पगड़ी धारण करना, दुपट्टा लगाना, निषिद्ध वस्तुका सेवन न करना, रुद्राक्षकी माला पहनना, प्रत्येक पर्वमें विशेषतः चतुर्दशीको शिवकी पूजा करना, ब्रह्मकूर्चका पान, प्रत्येक मासमें ब्रह्मकूर्चसे विधिपूर्वक श्रीशिवजीको विधिपूर्वक अभिषिक्त कर विशेषरूपसे पूजा करना, सम्पूर्ण क्रियाका त्याग, श्राद्धान्नका परित्याग, बासी अन्न तथा विशेषतः यावकका त्याग, मद्य और मद्यकी गन्धका त्याग, शिवको निवेदित (चण्डेश्वरके भाग) नैवेद्यका त्याग—ये सभी वर्णोंके सामान्य धर्म हैं।

इस विश्वका निर्माण करनेवाला तथा रक्षक कोई पति है, जो अनन्त रमणीय गुणोंका आश्रय कहा गया है। वही पशुओंको पाशसे मुक्त करनेवाले भगवान् पशुपति महादेव हैं। मनोहर भवन, हाव, भाव, विलाससे विभूषित तरुणी स्त्रियाँ और 'जिनसे पूर्ण तृप्ति हो जाय' इतना धन—ये सब भगवान् शिवकी आराधनाके फल हैं। सौभाग्य, कान्तिमान् रूप, बल, त्याग, दयाभाव और शूरता—ये सब बातें भगवान् शिवकी पूजा करनेवाले लोगोंको ही सुलभ होती हैं। शिवपूजक सुतरां सदाचारी होता है।

विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदायमें सदाचार-निरूपण

(लेखक—राष्ट्रपतिपुरस्कृत डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, शास्त्री, आचार्य, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

ब्राह्मणादि वर्णोंके और ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमोंके विशेष-विशेष आचार शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न रूपमें उपदिष्ट हैं। उन सब वर्णाश्रमाचारोंका पालन आवश्यक है। उनके नित्य नियमपूर्वक पालन करनेसे श्रीभगवान् प्रसन्न होते हैं—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
सम्यगाराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥
(श्रीविष्णुपुरा० ३।८।९)

ब्राह्ममुहूर्तमें भगवत्स्मरणपूर्वक शय्या-त्याग, गुरुजनाभिवन्दन, शौच-स्नानादि दिनचर्या और रात्रिचर्याके समस्त शास्त्रोक्त व्यापार आचार या सदाचारके ही अन्तर्गत हैं। स्नानके बिना कोई धार्मिक कृत्य नहीं किया जाता। अतः स्नान सर्वप्रथम आवश्यक कर्तव्य है। (जयाख्यसंहिता ७०)। स्नानके अनन्तर संध्याका विधान है। अपनी-अपनी शाखा एवं सूत्रके अनुसार इसका स्वरूप जान लेना चाहिये। उदाहरणार्थ माध्यंदिनशाखाके 'पारस्करसूत्र'के अनुसार संध्याका संक्षिप्त स्वरूप है—स्नानके अनन्तर मार्जन, प्राणायाम और सूर्योपस्थान—

स्नानमब्दैवतैर्मन्त्रैर्मार्जनं प्राणसंयमः।
सूर्यस्य चाप्युपस्थानं गायत्र्याः प्रत्यहं जपः॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति १।२२)

धर्मशास्त्रमें प्रातः-सध्या और सायं-संध्या न करनेवाले द्विजोंकी बड़ी निन्दा की गयी है। (मनु० २।१०३।) जबतक मनुष्य संध्या न कर ले, तबतक उसमें अन्य कार्योंके करनेकी योग्यता नहीं आती (—दक्ष)। संध्याके अनन्तर गायत्रीका जप करना चाहिये। तदनन्तर होमका, तत्पश्चात् स्वाध्यायका, फिर तर्पणका और फिर पूजनका विधान है। स्नानान्तर संध्या, जप, होम, तर्पण, स्वाध्याय और देवपूजन—ये षट्कर्म नित्य अनुष्ठेय हैं। इन समस्त साधनोंका एकमात्र लक्ष्य है—चित्तमें सात्त्विकताका संचार; क्योंकि सत्त्वगुण-विभूषित चित्तमें ही श्रीभगवान्का सतत स्मरण सम्भव है (छान्दो० ७।२६।२)।

परतत्त्वके उपासनमें निरत सत्पुरुषोंमें सदाचारके अङ्गभूत सात साधन प्रचलित हैं—विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष। यहाँ सर्वप्रथम विवेकका विवेचन किया जाता है। 'विवेक'का अभिप्रेत अर्थ है—खान-पानमें शुद्ध विचार। मानवजीवनमें आहार और विहारके संयमका बड़ा महत्त्व है। आहारसे तात्पर्य है—भोजनका! भोजनके अतिरिक्त इतर कार्यकलापका नाम है 'विहार'। ये दोनों जब संयत हो जाते हैं—युक्त हो जाते हैं, तब साधकको सर्वाङ्गीण समुन्नतिकी ओर अग्रसर करते हैं (गीता ६। १७)। इस प्रकारके यथायोग्य आहार-विहार, यथायोग्य कर्मचेष्टा और यथायोग्य सोने-जागनेवाले व्यक्तिका योग ही दुःखनाशक होता है। मनुष्य जैसा भोजन करता है, वैसा ही उसका मन बनता है (छान्दो० ६। ६। ५)। हम पहले कह आये हैं कि सात्त्विक आहार करनेसे चित्त सात्त्विक होता है। श्रीभगवान्‌के उपासक सत्त्वगुणसम्पादनमें बद्धपरिकर रहते हैं। अतएव वे तामस भोजनका सर्वथा त्याग कर देते हैं और राजससे भी बचना चाहते हैं। निरामिष अन्नादि खाद्यसामग्रीमें भी कारणवश तामसभाव आ सकता है, अतएव वह त्याज्य है अर्थात् तामसभावापन्न अन्नादि भी साधकोंके लिये हितकारी नहीं है।

विज्ञ पुरुषोंकी सम्मतिके अनुसार आहारमें तीन प्रकारके दोष होते हैं—१—जातिदोष, २—आश्रयदोष और ३—निमित्तदोष। जो भोजनद्रव्य अपनी जातिसे ही अर्थात् स्वभावसे या प्राकृतिक गुणोंसे ही भोक्ताके चित्तमें राजस और तामस भावोंको जाग्रत् कर देता है, उसमें जाति-दोष माना जाता है। ऐसे भोजनके उदाहरण हैं—लहसुन, शलगम और प्याज आदि निषिद्ध पदार्थ। इसीलिये शास्त्रोंमें ऐसे खाद्यका निषेध किया गया है—

लशुनं गृञ्जनं चैव जग्ध्वा चान्द्रायणं चरेत्।
(याज्ञवल्क्यस्मृति १। ७। १७६)

पतित, नास्तिक आदि तामस वृत्तिवाले लोगोंके भोजनमें आश्रयदोष हैं। ऐसे पुरुष अपने उपार्जित द्रव्यसे मोल लेकर फल-दुग्ध आदि पदार्थ भी यदि किसीको खिलायँगे तो खानेवालेके मनमें बुरे भावोंका उदय होगा। लोभी, चोर, सूदखोर, शत्रु, क्रूर, उग्र, पतित, नपुंसक, महारोगी, जार, स्त्रैण, वेश्या, व्यभिचारिणी, निर्दय, पिशुन, मिथ्यावादी, कसाई आदि व्यक्तियोंके अन्नको अभोज्य माना गया है। 'इस अन्नको कौन खायगा'—ऐसा कहकर जिसका वितरण हुआ हो, जिसे किसी अपवित्र व्यक्तिने छू दिया हो, अथवा पवित्र व्यक्तिने भी जान-बूझकर जिसमें पैर लगा दिया हो, बुरे लोगोंकी जिसपर दृष्टि पड़ चुकी हो, कुत्ते-कौओं आदिने जिसे जूठा कर दिया हो एवं गाय आदिने जिसे सूँघ लिया हो—ऐसे भोजनमें निमित्तदोष माना जाता है। उपर्युक्त जातिदोष, आश्रयदोष और निमित्तदोषसे रहित खाद्यसामग्रीका भोजन करना 'विवेक' नामक साधन है। शुद्ध होकर, शुद्ध वस्त्र धारण करके, हाथ-पैर, मुँहको धोकर, शुद्ध स्थानमें आसनपर, विहित दिशाकी ओर मुँह करके, विहित समयमें, सुसंस्कृत व्यक्तिके द्वारा बनाये और परोसे हुए भगवत्प्रसादके करते रहनेसे अन्तःकरण निर्मल हो जाता है।

'विमोक'का अर्थ है—परित्याग। कामके विषयोंकी वासनाको त्याग देना, उसमें आसक्ति न रखना ही 'विमोक' नामक साधन है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—ये छः शत्रु साधक पुरुषकी आध्यात्मिक उन्नतिमें बाधक हैं। इन सभीका त्याग श्रेयस्कर है; क्योंकि चित्तमें जब इनका अभाव होता है, तभी साधक भक्तिभाव करनेके योग्य बन सकता है।

इन छःमें भी पहले तीन अति प्रबल हैं, अतएव इन्हें नरकका 'त्रिविध द्वार' कहा गया है।

(गीता १६। २१, मानस ५। ३८)

श्रीभगवान् ही कृपा करके कामरूपी दुर्धर्ष शत्रुसे बचायें तो बचाव हो सकता है। जो निवृत्तिमार्गी हैं— संसारके विषयोंसे जिन्हें ग्लानि है, महर्षि पतञ्जलिके— **'शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः'** (योगसूत्र २। ४०) —इस वचनकी भावनासे एवं शरीरके रक्तमांसमय संघटनके तात्त्विक विज्ञानसे जिन्हें न केवल अपने ही अङ्गमें जुगुप्सा है, अपितु दूसरेसे संसर्गकी भी इच्छा नहीं, ऐसे संत महानुभाव तो कामका परित्याग ही कर देते हैं। आचार्य रामानुजने—**'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः'** इस गीता (८। ३) वचनके भाष्यमें लिखा है—

"भूतभावो मनुष्यादिभावः, तदुद्भवकरो यो विसर्गः 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति (छां० ५। ३। ३) **इति श्रुतिसिद्धो योषित्सम्बन्धजः, स कर्मसंज्ञितः। तच्चाखिलं सानुबन्धमुद्वेजनीयतया परिहरणीयतया च मुमुक्षुभिर्ज्ञातव्यम्। परिहरणीयता चानन्तरमेव वक्ष्यते—'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्तीति।"**

—योषित्-सम्बन्धसे होनेवाले प्राणियोंके जन्म देनेवाले विसर्गको 'कर्म' कहते हैं। मुमुक्षुओंको इस कर्मसे उद्वेग होता है। अतएव उनके लिये यह परिहरणीय है और श्रीभगवान्ने अपने श्रीमुखसे भी आगे काम-प्रतियोगी ब्रह्मचर्यका मुमुक्षुओंके लिये विधान किया है। मल-मूत्रसे परिपूर्ण रक्त-मांस-मय शरीरसे निर्विण्ण होकर संत तुलसीदासजीने चिदानन्द-मय राममूर्तिसे अपना मन लगा लिया था। कामका ऐसा ही परित्याग साधकोंके लिये उपदिष्ट है। जिस अवस्थामें कामकी वासनाएँ स्वयमेव शान्त हो जायँ और उनके स्थानपर भागवती भावनाओंका समुदय हो जाय, उसी अवस्थाको ब्रह्मचर्य कहते हैं। वही ब्रह्मकी ओर संचरण है। ब्रह्म-प्रेप्सुका वही महाव्रत है। इसीका निर्देश श्रुतिने—**'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।'** (कठ० १। २। १५) कहकर किया है। सच्चे ब्रह्मचारीके क्रोधादि शत्रु, अपने अग्रजके पराभवके अनन्तर स्वयमेव परास्त हो जाते हैं। इस प्रकारके साधनका नाम 'विमोक' है।

'अभ्यास' वह साधन है—जिसमें मन, वाणी और शरीरमें बारंबार ऐसी प्रवृत्ति उठती रहे, जिससे साधकका हृदय-भवन सदा श्रीभगवान्की भक्तिभावोद्भाविनी भावना-से भावित रहे। प्रपञ्चोन्मुखी चित्तको समस्त अशुभ आश्रयोंसे हटाकर प्रपञ्चातीत शुभाश्रय श्रीभगवान्में निविष्ट करना ही इसका उद्देश्य है। इस साधनासे मन-वाणी-शरीर विनिर्मल हो जाते हैं और भगवद्भावका उसमें अधिकाधिक समावेश हो जाता है। चित्त सदा किसी-न-किसी आलम्बनको ही लेकर रहता है। शास्त्रका सिद्धान्त है कि परतत्त्व श्रीमन्नारायण ही चित्तके सर्वोत्कृष्ट आलम्बन हैं—**एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।** (कठ० १। २। १७।)

जिनके भृकुटिविलाससे विश्वके उदय, विभव और विलय हुआ करते हैं, उन्हीं परम सौन्दर्यके अपार पारावार श्रीभगवान्से सम्बन्ध रखनेवाली चर्चाका ही निरन्तर अभ्यास होता रहे, इससे बढ़कर और कौन-सा साधन होगा? कर्म-भेदसे आचार भी चार प्रकारका है— नित्य, नैमित्तिक, काम्य और निषिद्ध। इनमेंसे असत्य भाषण आदि निषिद्ध कर्मोंका त्याग ही श्रेयस्कर है। **'षट् कर्माणि दिने दिने'** आदि वाक्योंद्वारा शास्त्र जिन कर्मोंके करनेका उपदेश दे रहे हैं, वे नित्य हैं। इनको प्रति दिवस करना चाहिये; क्योंकि इनके न करनेसे प्रत्यावाय (पाप) होता है। सूर्यग्रहण आदि निमित्त-विशेषके उपस्थित होनेपर जो स्नान-दानादि कर्म किये जाते हैं, वे नैमित्तिक कहलाते हैं। काम्यकर्म दो प्रकारके हैं—एक तो वे जो किसी शुभ स्वार्थ या परार्थके साधनकी भावनासे किये जाते हैं—जैसे पुत्रेष्टि आदि; और दूसरे वे—जिनका अनुष्ठान

किसी अशुभ उद्देश्यकी पूर्तिके लिये किया जाता है, जैसे—उच्चाटन-प्रयोग आदि । इनमेंसे सत्त्वगुणप्रधान सज्जन शुभकामनाको लेकर किये जानेवाले कर्मकलापमें तो प्रवृत्त होते हैं, पर अशुभ कामनाओंमें नहीं । शुभ कामनावालेमें भी वे ही अभिरुचि रखते हैं, जो प्रवृत्तिमार्गी हैं । जो निवृत्तिमार्गी हैं, वे तो मधुरमूर्ति श्रीभगवान्में ही अपनी समस्त कामनाओंको केन्द्रित कर चुकनेके कारण भगवदितरविषयक काम्यकर्मोंका न्यास ही कर देते हैं। किंतु यज्ञ, दान और तपको भगवत्प्रीत्यर्थ वे भी करते रहते हैं; क्योंकि ये कर्म इसलिये त्याज्य नहीं हैं कि ये साधकोंकी चित्तवृत्तिको सदा पवित्र बनाये रखते हैं (भगवद्गीता अध्याय १८, श्लोक ५)

गृहस्थोंके लिये पञ्चमहायज्ञोंको नित्य करनेका शास्त्रमें विधान है । अग्निष्टोमादि अन्यान्य यज्ञ न भी बन पड़ें तो भी पञ्चमहायज्ञोंका तो निर्वाह सुगमतया हो ही सकता है । ये पञ्चमहायज्ञ हैं—ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ और नृयज्ञ । स्वाध्यायसे ब्रह्मयज्ञ, तर्पणसे पितृयज्ञ, हवनसे देवयज्ञ, बलिकर्मसे भूतयज्ञ और अतिथि-सत्कारसे नृयज्ञ सम्पन्न होता है । (मनु० ३ । ७०) महर्षि बादरायणने अपने—'अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्' (४ । १ । १६) इस ब्रह्मसूत्रमें विद्वान्को भी अग्निहोत्रादि हवन करनेकी आज्ञा दी गयी है; क्योंकि ये धर्मकार्य विद्याके—सत्-ज्ञानके—साधक ही हैं, बाधक नहीं । इसी विचारसे पाञ्चरात्रान्तर्गत 'ब्रह्मतन्त्र'में आदेश दिया गया है कि साधक अपने घरमें परतत्त्व श्रीमन्नारायणके चरणोंमें स्तोत्रोंकी सुमनोऽञ्जलियाँ समर्पितकर गृह्यसूत्रके अनुसार बलिवैश्वदेव एवं महायज्ञोंका अनुष्ठान करे—

इति विज्ञाप्य देवेशं वैश्वदेवं स्वमात्मनि ।
कुर्यात् पञ्चमहायज्ञानपि गृह्योक्तकर्मणा ॥

यद्यपि प्रत्येक कार्यमें शरीर और मानस-व्यापार अपेक्षित है, तथापि 'क्रिया'-नामक चतुर्थ साधनमें शारीरिक कर्मकी ओर विशेष झुकाव है और 'कल्याण' नामक पञ्चम साधनमें मानस-व्यापारकी ओर है । मानवकी पूर्णता इसीमें है कि उसके साधनसम्पन्न शरीरमें साधन-सम्पन्न मन हो । शरीर और मनका घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनोंको ही साधन-मार्गमें प्रवृत्त करनेवाला साधक अन्तमें सिद्धि-लाभ करता है । कल्याणसे तात्पर्य मङ्गलमयी मानसिक वृत्तियोंसे है । ये वृत्तियाँ मानो कुसुमावलियाँ हैं, जिनसे साधकका हृदय-भवन सुसज्जित हो जाता है । इस प्रकार परिष्कृत और सुसज्जित मनोमन्दिरमें ही भगवद्भक्तिका उदय होता है । पूर्वोक्त 'विमोक' हेय वृत्तियोंके त्यागका साधन है—तो यह 'कल्याण' उपादेय वृत्तियोंके ग्रहणका साधन है । धृति, क्षमा, दया, आर्जव, मार्दव, अद्रोह, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा आदि अनेक दैवीसम्पत्तिकी सद्वृत्तियाँ हैं । ये सब 'कल्याण'के अन्तर्गत हैं और इनसे सम्पन्न व्यक्ति कभी दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता, प्रत्युत वह परमोत्तम सद्गतिको प्रदान करनेवाली भक्तिका अधिकारी बन जाता है । (गी० ६ । २०)

साधकको अपना समस्त जीवन साधनामय बना लेना चाहिये । कर्मवश इस संसार-सागरमें निमज्जनोन्मज्जन करनेवाले जीवको पद-पदपर त्रिविध दुःखके आवर्त्तोंका सामना करना पड़ता है; किंतु जो सदाचारी व्यक्ति हैं, वे इन दुःखोंसे कदापि विचलितचित्त नहीं होते ! इष्टका वियोग एवं अनिष्टका संयोग, प्रतिकूल वेदनीय होनेके कारण दुःखका हेतु होता है । दुःखसे उद्विग्न होकर मनुष्य कोई साधन नहीं कर सकता—न तो प्रवृत्तिमार्गी साधक त्रिवर्गसाधनमें सफल हो सकता है और न निवृत्तिमार्गी साधक पारमार्थिक सिद्धि ही प्राप्त कर सकता है । यदि साधन करते-करते कष्टोंका सामना करना पड़े तो भी प्रवृत्तिमार्गीके समान ही निवृत्तिमार्गीको भी विषाद नहीं करना चाहिये । विषण्ण होनेसे शरीर और मनका स्वास्थ्य विकृत हो जाता है—

'विषादो रोगकारणम्' (—चरक) । विषादका दूसरा नाम है—'अवसाद' और इसका अभाव अनवसाद कहलाता है। विषण्ण होकर साधन छोड़ देनेकी अपेक्षा साधकको यही भावना करनी चाहिये कि जो सिद्धियाँ परिणाममें अमृतोपम मधुर होती हैं, वे साधन-वेलामें विषोपम कष्टदायिनी भी होती हैं—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥
(गीता १८ । ३७)

गीतामें श्रीभगवान्ने स्थितप्रज्ञको—'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः' कहा है । इस प्रकार इष्टदर्शनके लिये साधन करते-करते साधनजन्य कष्टोंमें विषाद न करना 'अनवसाद' नामक छठा साधन है । 'जिस प्रकार जीवको विपत्तिमें विषण्ण न होनेका आदेश है, उसी प्रकार सम्पत्तिमें भी आपेसे बाहर न होनेका उपदेश है । अत्यन्त संतोषका नाम है—'उद्धर्ष' । उद्धर्ष होनेपर अग्रिम विकासकी अभिलाषा शान्त हो जाती है जो कि साधनाकी उच्च भूमिकामें प्रवेशकी बाधक है । उद्धर्षका अभाव 'अनुद्धर्ष' कहलाता है। जिस प्रकार प्रवृत्तिमार्गमें हर्षावसर प्राप्त होनेके समय अनुद्धर्षका भाव व्यक्तिके गाम्भीर्यका सूचक है, उसी प्रकार निवृत्तिमार्गमें साधनजन्य क्रमिक विकासकी सूचना देनेवाली गौण सिद्धियोंके लाभके समय साधकका अनुद्धर्ष उसके उत्कर्षका द्योतक है । योगमार्गके पथिकके सम्मुख, कैवल्यसे पूर्व, संयमजन्य गौण सिद्धियाँ समुपस्थित होती हैं । महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि साधकको उन सिद्धियोंके लाभसे 'स्मय' (ईषद्धसन, मुसकराहट, गौरवका अनुभव) नहीं रहना चाहिये । उस समयका स्मय कैवल्यका बाधक हो सकता है, जैसा कि योगसूत्रकार पतञ्जलिका कथन है—

***स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्।** (योगसूत्र ३ । ५१)

इसी प्रकार उपासनाकी साधनामें भी साधकको गौण सिद्धियोंके लाभके सुखसे ही संतुष्ट नहीं होना चाहिये; अन्यथा साधनाका वास्तविक साध्य असिद्ध ही रहेगा । इस प्रकार साधनाके क्रमिक विकासमें तज्जन्य सुखद चमत्कारोंकी प्राप्तिमें असंतोष रखना ही 'अनुद्धर्ष' नामक सातवाँ साधन है । राजकुमार ध्रुवने परतत्त्व भगवान्के साक्षात्कारके लिये 'द्वादशाक्षरविद्या'का† जप किया था। इस मन्त्रराजके एक सप्ताहतक अनुशीलनसे खेचरोंका दर्शन हो जाता है—**यं सप्तरात्रं प्रपठन् पुमान् पश्यति खेचरान्** (श्रीमद्भा० ४ । ८ । ५३) । ध्रुवजी यदि खेचर-दर्शनसे ही अति संतुष्ट हो जाते तो आगे प्रयत्न न करते, किंतु वे 'अनुद्धर्ष'के साधक थे । ऐसा अनुद्धर्ष ही साधकका परम आदर्श है । उपर्युक्त साधन-सप्तकमय सदाचारके पालनसे विनिर्मल हृदय-भवनमें श्रीभगवान्की भक्तिका उदय अविलम्ब हो जाता है ।

---

* यहाँ राजमार्तण्डवृत्तिकार (भोज), चन्द्रिकावृत्तिकार (अनन्तदेव) आदिके मतसे 'स्वाम्युपनिमन्त्रणे' आदि पाठ है ।

† द्वादशाक्षरविद्या—'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' है । वामनपुराण ६१ । ५३—७९ में १२ मास, रात्रि, संवत्सर आदि युक्त विश्वको १२ अक्षरोंमें ग्रथित दिखाया है । स्कन्दपुराण, चातुर्मास्यमाहा० २४—२६ अध्यायोंमें तथा 'शारदातिलक' आदिमें इसका महत्त्व एवं सम्प्रदाय निर्दिष्ट है । मानस १ । १४३ के अनुसार स्वायम्भुवमनुने भी इसीका जप किया था । इस प्रकार यह ध्रुवका वंश परम्परासे भी क्रमागत मन्त्र था ।

मध्वगौड़ीय वैष्णवसम्प्रदायमें सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीअवधबिहारीलालजी कपूर, एम्० ए०, डी० फिल०)

गौड़ीय वैष्णवसम्प्रदाय (अचिन्त्य भेदाभेद)के अनुसार जीवका परम धर्म है, कृष्ण-भक्ति—**'स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।'** (श्रीमद्भा० १ । २ । २६) इसमें सदाचारका मूल्य भक्तिके साधनरूपमें—सहायकरूपमें है; स्वतन्त्र रूपमें नहीं। सत्कर्म वही है, जिससे श्रीकृष्ण संतुष्ट हों—**'तत्कर्म हरितोषं यत्'** (श्रीमद्भा० ४ । २ । ४९) हम जिस धर्मका भी अनुष्ठान करें, उसकी पूर्णसिद्धि इसीमें है कि भगवान् प्रसन्न हों—**'स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम् ।'** (श्रीमद्भा० १ । २ । १३)। यदि श्रीहरिको प्रसन्न करना ही हमारे जीवनका एकमात्र उद्देश्य है तो हमारा स्खलन नहीं होगा, हमसे कभी कोई अनुचित कार्य न बनेगा—**धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ।** (श्रीमद्भा० ११ । २ । ३५) । सभी कार्य ठीक ही होंगे—

कृष्ण-भक्ति कैले-सर्व कर्म कृत हय ।
(चै० च० २ । २२ । ३७)

जैसे वृक्षके मूलमें जल देनेसे उसके तने, शाखाओं और उपशाखाओंमें जल पहुँच जाता है, जैसे प्राणोंकी रक्षा करनेसे सब इन्द्रियोंकी रक्षा हो जाती है, वैसे ही श्रीकृष्णकी पूजा-भक्ति करनेसे सबकी पूजा हो जाती है, सभी आचारोंका पालन हो जाता है । (श्रीमद्भा० ४ । ३१) इसलिये गीताके अन्तमें भगवान् कृष्णका सर्वगुह्यतम उपदेश है—'सब कर्मोंका परित्याग कर केवल (मुझ) भगवान्‌की शरण ले लेना', केवल उनकी भक्ति करना । सब कर्मोंके परित्यागका अर्थ, गौड़ीय वैष्णवोंके अनुसार केवल कर्मके फलका त्यागमात्र नहीं, कर्ममात्रका सम्यक् त्याग है । शुद्धाभक्तिमें कर्मका सम्यक् त्याग आवश्यक है । जो शुद्धाभक्तिके अधिकारी नहीं हैं, उन्हींके लिये फलत्यागपूर्वक कर्मानुष्ठानका विधान है । परंतु कर्मका यह सम्यक् त्याग तबतक नहीं करना चाहिये, जबतक निर्वेदकी अवस्था नहीं आती अर्थात् विषयों या कर्मफलोंसे विरक्ति नहीं हो जाती, तथा जबतक भगवत्कथा-श्रवणादिमें श्रद्धा नहीं हो जाती—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २० । ९)

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने इस श्लोककी टीकामें लिखा है कि यहाँ श्रद्धाका अर्थ है—आत्यन्तिकी श्रद्धा । आत्यन्तिकी श्रद्धामें साधकको यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि भगवत्कथा-श्रवणादिसे ही वह कृतार्थता लाभ कर सकता है, कर्म-ज्ञानादिसे नहीं *। ऐसी श्रद्धा तभी होती है, जब मनुष्य कर्मके गुण और दोष भली प्रकार जान लेता है और समझ लेता है कि कर्मसे स्वर्गादिकी प्राप्ति ही होती है, वासनाओंका नाश नहीं होता, और संसार-बन्धनसे मुक्ति नहीं मिलती । ऐसे लोगोंके लिये, जिन्हें कर्मके गुण-दोष समझ लेनेपर भगवत्-कथा-श्रवणादिमें आत्यन्तिक श्रद्धा हो गयी है, भगवान् कृष्णने कहा है कि यदि मेरे द्वारा आदिष्ट स्वधर्मसमूहको सम्यक्‌रूपसे त्यागकर मेरा भजन करते हैं तो वे परम संत हैं—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयाऽऽदिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स सत्तमः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ११ । ३२)

पर जिन्हें इस प्रकारकी श्रद्धा नहीं है, उनके लिये कर्म-त्याग अविधेय है । उनका कल्याण वेद-विहित

* श्रीचैतन्यमहाप्रभुने भी कहा है—
'श्रद्धा' शब्दे विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय । कृष्ण-भक्ति कैले सर्व कर्म कृत हय ॥
(चैतन्य चरिता० २ । २२ । ३७)

कर्मोंको विधिपूर्वक करते रहनेमें ही है । उन कर्मोंके करते रहनेसे उनकी चित्त-शुद्धि होती है और वे क्रमशः भगवद्भजनके अधिकारी बन जाते हैं, अन्यथा कर्मोंका त्याग करनेसे वे वेदोंका आश्रय छोड़ बैठते हैं और उच्छृङ्खल जीवनके भयंकर परिणामोंको भोगा करते हैं । ऐसे लोगोंके लिये ही श्रीभगवान्‌ने कहा है—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते ।
आज्ञाच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः ॥
(वाधूल स्मृति १८९)

'श्रुति और स्मृति मेरी ही आज्ञा है, जो मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है, वह मेरा द्वेषी है, वैष्णव नहीं ।' श्रीजीवगोस्वामीने (भागवत ११ । २९ । ६-८ की टीकामें) कर्मको भक्तिका द्वारस्वरूप कहा है । कर्म उसी प्रकार आवश्यक है, जिस प्रकार गृहमें प्रवेश करनेके लिये द्वारमें प्रवेश करना आवश्यक है । श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीने भी कहा है कि धर्मका उद्गम स्थान ही सत्कर्म है—

आचारप्रभवो धर्मः, सन्तश्चाचारलक्षणाः ।
(श्रीहरिभक्तिविलास ३ । १० धृत भविष्योत्तरवचन)

सदाचार और शास्त्र—कर्म कौनसे करने योग्य हैं, कौनसे नहीं, यह जाननेके लिये शास्त्रका आश्रय लेना आवश्यक है । भगवान् कृष्णने अर्जुनसे कहा था—'जो लोग शास्त्र-विधिका परित्याग कर स्वेच्छासे कर्म करते हैं, वे सिद्धि लाभ करनेमें असमर्थ रहते हैं; उन्हें न सुख मिलता है, न परागति ही । अतः शास्त्रोक्त विधान जानकर तदनुसार ही कर्म करना चाहिये ।' श्रीचैतन्यमहाप्रभुने शास्त्रानुगतितापर विशेष रूपसे बल दिया है । रायरामानन्दके मुखसे साध्य-साधन-तत्त्वका प्रकाश करानेके उद्देश्यसे उन्होंने कहा था—'**पढ़ श्लोक साध्येर निर्णय ।**' (चैतन्य चरितामृत २ । ८ । ५४) अर्थात् श्लोक पढ़ते हुए आप 'साध्य-तत्त्वका निरूपण करें, और इस सम्बन्धमें जो कुछ कहें, उसका शास्त्रसे भी समर्थन करें;' और सनातन श्रीगोस्वामीको भी भक्ति-शास्त्रका प्रचार करनेका आदेश देते हुए उन्होंने कहा था—'**सर्वत्र प्रमाण दिबे पुराण-वचन**' (वही २ । २४ । २५५) अर्थात् 'भक्तिके सम्बन्धमें जो कुछ भी कहना या लिखना, उसके प्रत्येक अंशको पुराण-शास्त्रादिसे समर्थन करना । गौड़ीय-वैष्णव आचार्योंने महाप्रभुके इस आदेशका अक्षरशः पालन किया है ।

श्रुतिस्मृतिपुराणादिपाञ्चरात्रविधिं विना ।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्पते ॥*
(भक्तिरसामृतसिं० १ । २ । ४९ धृत 'ब्रह्मयामल'वचन)

श्रीजीवगोस्वामिपादने इस श्लोककी टीकामें स्पष्ट किया है कि यहाँ शास्त्रविधिके अनुसार आचरण करनेकी जो बात कही गयी है, वह साधकोंके अपने-अपने अधिकारसे सम्बद्धित शास्त्र-भागोंके लिये ही है । शास्त्रोंमें अनेक प्रकारके साधनोंका उल्लेख है । जो लोग अपने अभीष्टके अनुकूल जिस साधन-पथको अङ्गीकार करते हैं, उन्हें उस साधनपथके अनुकूल शास्त्रका ही आश्रय लेना चाहिये । श्रीकृष्णकी प्रेम-सेवाके आकाङ्क्षी भक्त-जनोंके लिये सायुज्यमुक्तिका उपदेश करनेवाले शास्त्रोंका आनुगत्य अनुकूल न होगा और सायुज्य-मुक्तिके आकाङ्क्षी ज्ञानी साधकोंके लिये कर्म-मार्गका उपदेश करनेवाले शास्त्रोंका आनुगत्य अनुकूल न होगा । शास्त्र-आज्ञाके विपरीत गुरु-आज्ञाका पालन करना भी श्रेयस्कर नहीं है । श्रीजीवगोस्वामीने इस सम्बन्धमें 'नारदपाञ्चरात्र' से निम्नलिखित प्रमाण उद्धृत किया है—

यो वक्ति न्यायरहितमन्यायेन शृणोति यः ।
तावुभौ नरकं घोरं व्रजतः कालमक्षयम् ॥

'जो (गुरु) अन्यायकी बात (शास्त्रविरुद्ध बात) कहते हैं और जो उनका पालन करते हैं,

* परवर्ती श्लोकमें श्रीरूपगोस्वामीने कहा है कि ऐसी भक्ति बाहरसे ही ऐकान्तिकी-जैसी प्रतीत होती है, वास्तवमें अशास्त्रीयताके कारण वह ऐकान्तिकी नहीं होती ।

उन दोनोंका अक्षय-कालपर्यन्त नरकमें वास होता है ।' श्रीजीवगोस्वामीने यह भी कहा है कि—**'गुरुरपि वैष्णवविद्वेषी चेत् परित्यज्य एव'**—गुरु यदि वैष्णव-विद्वेषी हो तो वह परित्याज्य ही है । गौड़ीय सम्प्रदायमें शास्त्रानुगत्यका कितना महत्त्व है, इसका पता इस बातसे भी चलता है कि श्रीरूपगोस्वामिपादने भगवान् श्रीकृष्णतकके आचरणको अननुकरणीय बताया है, इसीलिये कि वह सदा शास्त्रके अनुकूल नहीं होता । 'उज्ज्वलनीलमणि'में उन्होंने कहा है—

वर्तितव्यं शमिच्छद्भिर्भक्तवन्न तु कृष्णवत् ।
इत्येव भक्तिशास्त्राणां तात्पर्यस्य विनिर्णयः ॥
(कृष्णवल्लभाप्रकरण १२-१)

'जो लोग अपनी मङ्गल-कामना करते हैं, उन्हें भक्तवत् आचरण करना चाहिये, न कि कृष्णवत् । यही है भक्तिशास्त्रोंका निर्णीत तात्पर्य ।' इस श्लोककी टीकामें श्रीजीवगोस्वामीने लिखा है कि कान्तारसकी बात तो दूर रही, अन्य रसोंमें भी श्रीकृष्णका भाव अनुकरणीय नहीं है । भक्तोंमें भी सिद्ध भक्तोंका आचरण सदा अनुकरणीय नहीं है; क्योंकि वे भी कभी-कभी आवेशमें कृष्ण-जैसा आचरण करने लगते हैं, जैसे गोपियाँ विरहमें श्रीकृष्णका ध्यान करते-करते उनसे तादात्म्य प्राप्त कर उनकी-जैसी लीला करने लगती थीं । केवल साधक भक्तोंका भक्तिशास्त्रानुमोदित आचरण ही अनुकरणीय है ।'

सदाचार एवं वैष्णवाचार—श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीने 'हरिभक्तिविलास'में भविष्योत्तर-पुराणके कृष्ण-युधिष्ठिर-संवादसे एक श्लोक उद्धृत करते हुए कहा है—सदाचार-विहीन व्यक्तिके यज्ञ, दान, तपस्यादि सभी पुण्यकर्म उसी प्रकार दूषित होते हैं, जिस प्रकार नरकपालमें या कुत्तेके चमड़ेसे बने पात्रमें जल या दुग्ध दूषित हो जाता है, आचारहीन व्यक्तिको न इस लोकमें सुख मिलता है, न परलोकमें—

कपालस्थं यथा तोयं श्वदृतौ वा यथा पयः ।
दुष्टं स्यात् स्थानदोषेण वृत्तिहीने तथा शुभम् ॥

सदाचारके अहिंसा, सत्यादि सामान्य एवं कर्मयोग, ज्ञान और भक्तिमार्गके साधकोंके लिये कुछ भिन्न एवं विशेष नियम हैं—गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायका साधन-पथ है—शुद्धा भक्ति, जिसका मूल है—शरणागति । शरणागतिका अर्थ है—एकमात्र श्रीकृष्णके शरणागत होना । शुद्धा-भक्तिके साधक वैष्णवके आचारसम्बन्धी जितने भी नियम हैं, वे सब शरणागतिके लक्षण, उपलक्षण या उनके स्वाभाविक परिणाम हैं । शरणागतिके छः लक्षण हैं—(१) आनुकूल्यका संकल्प, (२) प्रतिकूलका वर्जन, (३) भगवान् मेरी रक्षा करेंगे—यह विश्वास, (४) रक्षकरूपमें भगवान्का वरण, (५) आत्म-समर्पण और (६) कार्पण्य (आर्तिज्ञापन)।

रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ।
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥
(ह० भ० वि० ११ । ४१७ धृत'श्रीवैष्णवतन्त्र'वचन)

वैष्णवाचारके बहुतसे नियम शरणागतिके प्रथम दो लक्षण **'आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्'**—के परिणाम हैं । उनमें मुख्य हैं—असत्-सङ्ग-त्याग, स्त्रीसङ्गीका संग-त्याग, कृष्णाभक्तका संग-त्याग और अकिंचनत्व, जिनका महाप्रभुने सनातन गोस्वामीसे इस प्रकार वर्णन किया है—

असत् संग-त्याग, एइ वैष्णव आचार ।
स्त्रीसंगी एक असाधु-कृष्णाभक्त आर ॥
अकिंचन हया लय कृष्णैक शरण ॥
(चै० च० २ । २२ । ४९-५०)

इनके अतिरिक्त कुछ और नियम हैं, जिनपर गौड़ीय, वैष्णव-सम्प्रदायमें विशेष बल दिया जाता है, वे हैं अभिमानका त्याग, सहिष्णुताका पालन, ज्ञान और वैराग्यके लिये स्वतन्त्ररूपसे प्रयास न करना, अपराधोंसे दूर रहना, वैष्णव-व्रतोंका पालन करना और वैष्णव-चिह्न धारण करना ।

स्त्रीसङ्गीका त्याग—स्त्रीसङ्गीका अर्थ केवल परस्त्रीसङ्गी ही नहीं, अपनी स्त्रीमें आसक्ति भी हेय है । महाप्रभुने कहा

है कि शिश्नोदरपरायण व्यक्तिको, चाहे वह अपनी स्त्रीमें आसक्त हो या परस्त्रीमें, कृष्णकी प्राप्ति कभी नहीं होती।

'शिश्नोदरपरायण कृष्ण नाहि पाय।'
(चै० च० ३। ६। २२५)

महाप्रभुने श्रीमद्भागवतका एक श्लोक (३। ३१। ३५) उद्धृत करते हुए कहा है कि स्त्रीसङ्ग या स्त्रीसङ्गीके सङ्गसे जैसा मोह और संसार-बन्धन होता है, वैसा और किसी व्यक्तिके सङ्गसे नहीं होता। उन्होंने छोटे हरिदासको, जो उन्हें गम्भीरामें नित्य कीर्तन सुनाया करते थे, केवल इसलिये त्याग दिया कि वे भगवान् आचार्यकी आज्ञासे महाप्रभुके निमन्त्रणके निमित्त भगवान् आचार्यके घरसे वृद्धा तपस्विनी माधवीदासीसे चावलकी भिक्षा माँग लाये थे। इससे उन्हें महाप्रभुके स्थानमें प्रवेश करनेकी मनाही हो गयी और उन्हें महाप्रभुको नित्य कीर्तन सुनानेकी सेवासे वञ्चित होना पड़ा। श्रीरूप, दामोदरादिने जब महाप्रभुसे उन्हें इस 'अल्प' अपराधके लिये क्षमा कर देनेका आग्रह किया, तब उन्होंने कहा—'मैं प्रकृतिसम्भाषी वैरागीका दर्शन नहीं कर सकता। यदि तुम लोग फिर मुझसे इस प्रकारका अनुरोध करोगे तो मुझे यहाँ भी न देख पाओगे।' एक वर्षपर्यन्त प्रतीक्षा करनेपर भी जब महाप्रभुने छोटे हरिदासको अङ्गीकार न किया, तब उन्होंने प्रयाग जाकर त्रिवेणीमें देह विसर्जन कर दिया! दिव्यदेह प्राप्त कर वे अदृश्यरूपसे महाप्रभुको कीर्तन सुनाने लगे। महाप्रभु जानते थे कि छोटे हरिदास स्त्रीसङ्गी नहीं हैं और उन्होंने माधवीदेवीसे उनके अपने ही लिये भिक्षान्न लाकर कोई अपराध नहीं किया था, पर बाह्यदृष्टिसे उन्होंने शास्त्राज्ञाका उल्लङ्घन किया था; क्योंकि शास्त्रमें वैरागीके लिये स्त्रीके सांनिध्यमें जाने और उससे वार्तालाप करनेका निषेध है। शास्त्रकी मर्यादा रखनेके लिये और शास्त्रकी इस आज्ञाको विशेषरूपसे साधकके हितमें जानकर लोक-शिक्षाके लिये उन्होंने उनके प्रति ऐसा कठोर व्यवहार किया था।

असत्सङ्ग एवं कृष्णाभक्त-सङ्गत्याग—श्रीरूप गोस्वामीजीने कहा है कि कृष्ण-चिन्ता-विमुखोंके सहवासका क्लेश भोग करनेसे अग्नि-शिखामय पिंजरमें वास करना अच्छा है। सर्प, व्याघ्र या जोंकका आलिङ्गन करना पड़े तो भले ही कर ले, पर वासनारूप-शल्यविद्ध नाना देवोपासक कृष्णाभक्तका सङ्ग कभी न करे। सदाचारी व्यक्तिका भी सङ्ग नहीं करना चाहिये, यदि वह भगवद्भक्तिहीन हो। मुख्यरूपसे असाधु वही है, जो भगवद्भक्तिरहित हैं। उनकी सदाचारनिष्ठा होनेपर भी सद्गति नहीं होती—

भगवद्भक्तिहीना ये मुख्याऽसंतस्त एव हि।
तेषां निष्ठा शुभा क्वापि न स्यात् सच्चरितैरपि॥
(ह० भ० वि० १०। २२९)

महाप्रभु श्रीवासपण्डितके घर रात्रिमें दरवाजा बंदकर भक्तोंसहित नृत्य-संकीर्तन किया करते थे। एक दिन नृत्य-संकीर्तन आरम्भ करनेके कुछ देर बाद वे बोले—'आज हृदयमें स्फूर्ति नहीं हो रही है, लगता है कि किसी बहिरङ्ग व्यक्तिका यहाँ प्रवेश हुआ है।' यह सुन श्रीवासपण्डितने कहा—'कोई ऐसा-वैसा व्यक्ति तो नहीं, एक दुग्धयाची तपस्वी ब्राह्मण, जो बिल्कुल निष्पाप और आजन्म ब्रह्मचारी है, यहाँ आया हुआ है।' महाप्रभुने क्रुद्ध होकर तत्काल उसे निकाल देनेका आदेश दिया—और बोले—'जबतक जीव उनके शरणागत न हो तबतक कहीं दूध पीनेसे, ब्रह्मचर्यके पालन करनेसे या तप करनेसे भगवान् मिलते हैं।'

अभिमानका त्याग—अभिमान भी कृष्ण-भक्तिके प्रतिकूल है। श्रीनरोत्तम ठाकुरने कहा है, अभिमानी

भक्तिहीन अर्थात् 'अभिमानी कभी भक्त नहीं होता।' भक्त स्वाभाविकरूपसे सभी जीवोंको अन्तर्यामीरूपमें भगवान्‌का अधिष्ठान जानकर उनका सम्मान करता है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो भगवान्‌के प्रति अपराध करता है और इस बातको सिद्ध करता है कि वह पूर्णरूपसे भगवान्‌के शरणागत नहीं है। जीवका स्वाभाविक अभिमान है—श्रीकृष्णदासाभिमान— पाञ्चभौतिक देहमें आत्मबुद्धिरूप धन-जन, रूप, कुल, विद्या आदि अभिमानके मूल हैं। इसलिये इनका त्याग आवश्यक है। इसे दूर करनेके लिये महाप्रभुका उपदेश है कि साधक अपने-आपको तृणसे भी तुच्छ जानकर और तरुके समान सहिष्णु होकर, स्वयं किसी प्रकारके सम्मानकी कामना न करते हुए और सभी जीवोंको सम्मान देते हुए निरन्तर हरिनामका कीर्तन करे—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥
(शिक्षाष्टक ३)

दूसरोंका सम्मान करनेसे अपने अभिमानका नाश होता है। इसलिये चैतन्य भागवतमें ब्राह्मणसे लेकर चाण्डाल और कुत्तेतकको सम्मानके साथ दण्डवत् करनेका उपदेश है (भागवत ११ तथा चै० भा० ३।३)। इतना ही नहीं, इसे वैष्णवताकी कसौटी माना गया है। जो ऐसा नहीं करता, उसे वैष्णवताका ढकोसला करनेवाला 'धर्मध्वजी' मात्र कहा गया है—

एइ से वैष्णवधर्म-सभारे प्रणति।
सेइ धर्मध्वजी, जान इथे नाहि रति॥
(चै० भा० ३।३)

स्वयं महाप्रभु **'तृणादपि सुनीचेन'** श्लोककी सजीव मूर्ति थे। सर्वमान्य और सर्वपूज्य होते हुए भी वे भक्तोंकी पद्धति लिया करते थे। **सहिष्णु होना—** वैष्णवको तरुके समान सहिष्णु होना चाहिये। वृक्षको यदि कोई काटे भी तो वह कुछ नहीं कहता, चुपचाप सहन कर लेता है। उलटा काटनेवालोंको अपने पत्र-पुष्प-फलादि देनेमें संकोच नहीं करता। सूर्यके ताप और वृष्टिके अभावमें सूखकर मर जाता है, तो भी किसीसे पानी नहीं माँगता और जो कोई इसकी छायामें बैठकर ताप-निवारण करना चाहता है, उसे आश्रय देकर उसकी रक्षा करता है, स्वयं कष्ट उठाकर दूसरोंका उपकार करता है। इसी प्रकार वैष्णव-साधकको चाहिये कि यदि कोई उसे कष्ट दे तो उसपर बिना क्रुद्ध हुए यह जानकर सहन करे कि वह अपने ही कर्मका फल भोग रहा है और कष्ट देनेवालेको केवल कर्म-फलका वाहक जानकर सामर्थ्यानुसार उसकी सेवा करे, शत्रु जानकर उसे अपनी सेवासे वञ्चित न करे। उसे चाहिये कि अपने किसी दुःखकी निवृत्तिके लिये किसीसे कुछ न कहे, दूसरोंका दुःख दूर करनेके लिये अपनेको कष्ट भी उठाना पड़े तो कष्ट उठाकर उनका दुःख दूर करे।

परम दयालु नित्यानन्द प्रभुने दुराचारी जगाई और मधाईके उद्धारका संकल्प किया। वे मद-मस्त हस्तीकी तरह उच्च स्वरसे हरिनाम-कीर्तन करते हुए उनकी बस्तीमें जा पहुँचे। जगाई-मधाई अपनी बस्तीमें एक अवधूत साधुके इस दुःसाहसको कब बरदास्त कर सकते थे। मधाईने मटकी उठाकर नित्यानन्दप्रभुके सिरपर दे मारी। उनके सिरसे रक्त-धार बहने लगी। संवाद पाते ही महाप्रभु दौड़कर आये। प्राणाधिक नित्यानन्दके अङ्गमें रक्त देख उनके क्रोधकी सीमा न रही। वे 'चक्र-चक्र' कहकर पुकारने लगे। सुदर्शन-चक्र आकर उपस्थित हुआ, जगाई-मधाई थर-थर काँपने लगे। पर अक्रोध, परमानन्द नित्यानन्द प्रभुने महाप्रभुको स्थिर करते हुए उनसे जगाई और मधाईके देहोंकी भिक्षा माँगी। महाप्रभुने जगाईको और नित्यानन्द प्रभुने मधाईको आलिङ्गनके साथ देव-दुर्लभ प्रेम-भक्ति प्रदान कर कृतार्थ किया।

अपराधोंसे दूर रहना—अपराध और पापमें भेद है। पाप अनात्म-वस्तु देहको स्पर्श करता है, अपराध आत्माको स्पर्श करता है, और भजनकी प्रगतिमें बाधक होता है। अपराध चार प्रकारके हैं—भगवदपराध, सेवापराध, नामापराध और वैष्णवापराध।

भगवदपराध—इसका अर्थ है—भगवान्‌के प्रति अवज्ञा करना, उनके विग्रहको प्राकृत मानना, उनकी नरलीलामें उन्हें मनुष्य मानना इत्यादि।

सेवापराध—इसका अर्थ है--भगवान्‌के श्रीविग्रहकी सेवाके सम्बन्धमें अपराध। सेवापराध हैं—भगवत्सम्बन्धी उत्सवोंमें योग-दान न करना, अशुचि-अवस्थामें वन्दना आदि करना, एक हाथसे प्रणाम करना, श्रीविग्रहको पीठ दिखाकर प्रदक्षिणा करना, श्रीविग्रहके सामने सोना, पैर फैलाकर या जानु-बन्धन करके बैठना, भोजन करना, झूठ बोलना, उच्च स्वरसे बोलना, परस्पर आलाप करना, रोना, कलह करना, किसीके प्रति अनुग्रह या निग्रह करना, दूसरेकी निन्दा या स्तुति करना, अधोवायु त्याग करना, अन्य व्यक्तिका अभिवादन करना, कम्बल लपेटकर सेवा करना, पूजा करते समय मौन-भङ्ग करना या कोई भी ऐसा आचरण करना जिससे श्रीविग्रहके प्रति अश्रद्धा, अवज्ञा, मर्यादाका अभाव या प्रीतिका अभाव जान पड़े। (ह० वि० ८। २००। १६)

नामापराध—ये दस हैं:–(१) साधु-निन्दा, (२) विष्णु और शिवके नाम, रूप, लीलादिको भिन्न मानना, (३) गुरुदेवकी अवज्ञा करना, (४) वेदादि शास्त्रोंकी निन्दा करना, (५) हरिनाममें अर्थवादकी कल्पना करना, अर्थात् शास्त्रोंमें हरिनामकी शक्तिके प्रशंसासूचक वाक्योंको अतिशयोक्ति मानना, (६) नामके भरोसे पाप करना अर्थात् यह सोचकर पाप-कार्यमें प्रवृत्त होना कि उसके पीछे नाम लेनेसे पापके फलसे मुक्ति मिल जायगी, (७) अन्य शुभ कर्मोंके फलको नामके फलके समान मानना, (८) नाम-श्रवण या नाम-ग्रहणमें अनवधानता या चेष्टाशून्यता अर्थात् किसी भी प्रकार नामकी उपेक्षा करना, (९) नाम-ग्रहणको प्राधान्य न देना और (१०) श्रद्धाहीन और विमुख व्यक्तियोंको जो उपदेश नहीं सुनते या उसे ग्रहण नहीं करते, उन्हें हरिनामका उपदेश करना।

वैष्णवापराध—इसका अर्थ है किसी वैष्णवकी निन्दा करना, उसके प्रति द्वेष रखना, उसपर क्रोध करना, उसका अभिनन्दन न करना, उसे देखकर हर्ष-प्रकाश न करना, उसमें जातिबुद्धि रखना या उसके प्रति किसी प्रकारका अपमानजनक व्यवहार करना। महाप्रभुने वैष्णवापराधको सबसे अधिक सांघातिक बताया है। उन्होंने कहा है कि वैष्णव-अपराध एक मत्त हस्तीकी तरह है जो भक्तिकी कोमल लताको क्षणभरमें उत्पाटित कर छिन्न-भिन्न कर देता है।*

वैष्णवव्रतपालन—वैष्णव-साधकको एकादशी, श्रीकृष्णजन्माष्टमी, रामनवमी, वामन, नृसिंह आदि जयन्ति-व्रतोंका पालन अवश्य करना चाहिये।

वैष्णवचिह्नधारण—वैष्णवको माला-तिलकादि चिह्नोंको भी अवश्य धारण करना चाहिये। इनसे चित्तकी शुद्धि होती है और भक्तिभावका उद्दीपन होता है। जिस प्रकार सैनिककी वेश-भूषा धारण करनेसे वीरभाव जाग्रत् होता है और भिखारीका भेष बना लेनेसे दीनताका भाव जाग्रत् होता है, उसी प्रकार वैष्णव-चिह्न धारण करनेसे भक्तिभाव जाग्रत् होता है। इसके अतिरिक्त शास्त्रोंमें वैष्णव-चिह्नोंके अपने-अपने विशेष माहात्म्यका उल्लेख है। तुलसीकी कण्ठी गलेमें धारण करनेके सम्बन्धमें श्रीभगवान्‌ने कहा है कि

* चै० च० २। १९। १३८-९

जो तुलसीकाष्ठकी बनी हुई माला कण्ठमें धारण करते हैं वे अपवित्र और आचारभ्रष्ट होते हुए भी मुझे प्राप्त करते हैं ।* 'यजुर्वेद'में कहा है कि जो ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण करते हैं, वे मोक्ष प्राप्त करते हैं । अतः विधिके अनुसार शरीरके द्वादश अङ्गोंमें ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलककी रचनाद्वारा द्वादश भगवत्-स्वरूपोंको प्रतिष्ठित कर उनका ध्यान करना होता है, जिससे साधकमें इस भावकी स्फूर्ति होती है कि उसका प्रत्येक अङ्ग श्रीभगवान्‌का है और उसे भगवत्-सेवा-कार्यके अतिरिक्त और किसी कार्यमें नियोजित करना उचित नहीं है ।

श्री(रामानुज)-सम्प्रदायके सदाचार-सिद्धान्त

(लेखक—अनन्तश्रीजगद्गुरु रामानुजाचार्य वेदान्तमार्तण्ड श्रीरामनारायणाचार्य त्रिदण्डीस्वामीजी महाराज)

वैदिक सम्प्रदायोंमें श्रीसम्प्रदाय अन्यतम है । अनादि-कालकी अविच्छिन्न परम्परासे प्रवर्तित श्रीनाथमुनि, यामुनमुनिप्रभृति महामनीषियोंद्वारा सुरक्षित एवं भगवत्पाद श्रीरामानुजाचार्यद्वारा संवर्धित श्रीसम्प्रदायके सदाचार-सिद्धान्त विश्वमें आदर्श एवं अनुकरणीय हैं । शास्त्र-पारतन्त्र्यके चरम निष्कर्ष इस सिद्धान्तकी सदाचारपरम्परा वेदपाञ्चरात्रादि, आगम, इतिहास, पुराण एवं धर्मशास्त्रोंपर आधृत है । 'ब्रह्मज्ञानके साथ-साथ श्रौत सदाचारपरायणता ब्रह्मज्ञानियोंका निकष (कसौटी) है (मुण्ड० उ० ३ । १ । ४) । सदाचार परम धर्म है, आचारहीन मनुष्यके लोक एवं परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं । आचारहीन व्यक्तिके तपस्या, वेदाध्ययन, दक्षिणाप्रदान आदि सभी शुभ कर्म व्यर्थ हो जाते हैं । षडङ्ग वेदाध्यायी व्यक्ति भी यदि तदनुकूल आचरणसे युक्त नहीं है तो वेद भी उसे पवित्र नहीं कर सकते[1] । इधर मनुष्य सदाचारसे धर्म, धन और ऐश्वर्यको प्राप्त करता है, उसके सारे दुर्गुण स्वयं दूर हो जाते हैं । सभी शुभ लक्षणोंसे रहित मानव भी सदाचार-पालनके प्रभावसे सौ वर्षोंतक जीवित रहता है । इन सभी श्रौत-स्मार्त-वचनोंका समादर करने तथा शास्त्रानुमोदित सदाचारकी प्रधानता देनेके ही कारण श्रीसम्प्रदायको केवल आचार्य-सम्प्रदायके नामसे भी अभिहित किया जाता है ।

परमैकान्तिक प्रपन्न श्रीवैष्णवोंकी अहोरात्रचर्याको आगमग्रन्थोंमें—१—अभिगमन, २—उपादान, ३—इज्या, ४—स्वाध्याय एवं ५—योग—इन पाँच विभागोंमें विभक्त कर जीवन-यापन करनेका विधान किया गया है । अहोरात्रचर्याको इस प्रकार विभक्तकर कालक्षेप करनेवाले भागवतोंका जीवन यज्ञमय—भगवदुपासनामय बन जाता है (सर्वदर्श० ४ । २०-२२) ऐसे भागवतोंकी लौकिक-पारलौकिक सारी चेष्टाएँ भगवदाराधन एवं भगवन्मुखोल्लासार्थ होती हैं । भगवत्पाद श्रीरामानुजाचार्यने अपने ग्रन्थोंमें श्रीवैष्णवोंके लिये पञ्चकालोपासनाका विधान करते हुए अभिगमनकालकी विस्तृत चर्चा की है । यहाँ अत्यन्त संक्षेपमें इन पाँचोंका परिचय दिया जा रहा है ।

१—अभिगमनकाल—प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर नित्यकृत्यसे निवृत्त हो मनसा, वाचा, कर्मणा भगवत्पूजनमें प्रवृत्त हो जाना ही 'अभिगमन-काल' है ।

* ह० भ० विं० ४ । १२५ धृत श्रीविष्णुधर्मोत्तरवचन ।

१—आचारः परमो धर्मः सर्वेषामपि निश्चयः । हीनाचारपरीतात्मा प्रेत्य चेह विनश्यति ॥
नैनं तपांसि नो ब्रह्म नाग्निहोत्रं न दक्षिणाः । हीनाचारमितो भ्रष्टं तारयन्ति कथंचन ॥
(वसिष्ठस्मृति ६ । १-२)

ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर 'स्वयं भगवान् ही अपने भोग्यभूत मुझ सेवकद्वारा विविध पूजनोपचारोंसे अपनी प्रसन्नता-हेतु पार्षदोंसहित अपनी पूजाका उपक्रम कर रहे हैं,' इस प्रकारकी भावनासे भावित श्रीवैष्णव नित्यकृत्य-सम्पादन-हेतु पवित्र नदीके तटपर जाकर हस्त-पादादि प्रक्षालनकर मूल मन्त्रोच्चारण करके मृत्तिका आदिका उपादान करे, फिर तत्तत् मन्त्रोंके उच्चारणपूर्वक उसका तत्तत् अङ्गोंमें लेप करके सविधि स्नान करे। उसके पश्चात् अर्घ्य प्रदानकर, पुनः भगवान्‌के चरणारविन्द-का ध्यान करते हुए मूल-मन्त्रका जप करे और तीर्थसे बाहर निकल वस्त्रादि धारणकर तिलक लगा करके वैष्णव-विधिसे संध्योपासन करे। इसके पश्चात् भगवान्, उनके पार्षदों एवं भगवदात्मक पितरोंका सम्यक् तर्पण करे। तत्पश्चात् पूजन-स्थलमें जाकर भूत-शुद्धि करके गुरुपरम्पराका अनुसंधान करते हुए भगवान्‌का ही प्राप्य-प्रापक अनिष्ट-निवारक एवं इष्ट प्रापकरूपमें ध्यानकर भगवदाराधन प्रारम्भ करे। सर्वप्रथम विभिन्न न्यासोंका आचरण कर, प्राणायाम करे, तदनन्तर वस्तु-शुद्धिपूर्वक भगवदर्चना करे।

२-उपादानकाल—भगवदाराधनरूप अभिगमन-कालके पश्चात् इस कालका प्रारम्भ होता है। इस कालमें श्रीवैष्णवजन भगवदाराधन-हेतु न्यायार्जित वृत्तिसे वस्तुओंका अर्जनकर भोग-रागकी व्यवस्था करते हैं। वे आत्मोपभोगार्थ पाकादिका निर्माण न कर, भगवान्‌की अर्चनाके ही लिये सात्त्विकान्नके द्वारा पाकादिका निर्माण करते हैं।

३-इज्याकाल—स्वहस्तनिर्मित पवित्र पाक भगवान्‌को निवेदित करनेके बाद, भगवत्प्रसादको भगवदात्मक अपने सभी उपजीवियोंमें समानरूपसे वितरित कर तदीयाराधन सम्पादित करके स्वयं **'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः'**की प्रक्रियाके अनुसार भगवत्प्रसाद सेवनकालको 'इज्याकाल' कहते हैं। हमारे परिवारके सदस्य–जिनके संरक्षणका भार हमारे ऊपर है, वे भी भगवत्प्रदत्त धरोहरकी वस्तु हैं—इस बुद्धिसे परिवारका पालन भी भगवत्पूजनरूप होनेके कारण इज्यारूप ही है।

४-स्वाध्यायकाल—भगवत्प्रसाद–सेवनके पश्चात् कुछ समयतक ऐसे ग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहिये, जिससे मन संसारकी ओरसे सहज आसक्तिका त्याग कर भगवद्भागवत एवं आचार्यकी कैङ्कर्यपरायणताकी ओर प्रवृत्त हो। नित्यसूरियोंद्वारा रचित दिव्य प्रबन्धों, पूर्वाचार्योंद्वारा प्रणीत सद्ग्रन्थों, इतिहासों, उपनिषदों आदिका अध्ययन स्वाध्यायके अन्तर्गत है। श्रीपराङ्कुश सूरिप्रणीत 'सहस्रगीति'के अर्थ एवं भावका गाम्भीर्य उत्कर्षकी चरम सीमाको छूनेवाला है। अतएव उसका भी अध्ययन स्वाध्यायरूप ही है।

५-योगकाल—उस कालका नाम है, जिस समय श्रीवैष्णववृन्द सारे कृत्योंको समाप्तकर भगवान्‌के चरणारविन्दोंका ध्यान करते हुए नींदकी अतल गहराईमें अपनेको कुछ कालके लिये लीन कर देते हैं। अतएव इस कालका नाम योग-काल है। श्रीसम्प्रदाय प्रत्येक कर्म सदाचारकी प्राथमिकता देता है। भक्तिके सप्तसोपानोंकी चर्चा करते हुए 'श्रीभीष्म'के लघु सिद्धान्तमें बड़े आदरके साथ वाक्यकार उपवर्षाचार्य (बोधायन) की पङ्क्तियोंको उद्धृत करते हैं। 'वाक्यकार' भी 'विवेक' आदिके ही द्वारा ध्रुवानुस्मृतिरूप भक्तिकी निष्पत्ति बतलाते हुए कहते हैं। भक्तिकी उपलब्धि (१) विवेक, (२) विमोक, (३) अभ्यास, (४) क्रिया, (५) कल्याण, (६) अनवसाद और (७) अनुद्धर्षके द्वारा होती है। (सर्वदर्श० सं० ४।२१) तथा इस अङ्कके पृष्ठ १६९–७२।

ये सभी साधन यद्यपि उपासनारूप ही हैं, किंतु इनमें सदाचारकी दृष्टिसे विवेक एवं क्रियाका स्थान

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। 'छान्दोग्योपनिषद्'की भूमाविद्या-प्रकरणमें आचार्य सनत्कुमार मन्त्रज्ञ देवर्षि नारदको उपदेश देते हैं कि ध्रुवास्मृतिरूपी भक्तिकी प्राप्ति आहार-शुद्धिपर निर्भर करती है। आहारकी शुद्धिद्वारा सत्त्वकी शुद्धि होती है और उसके पश्चात् ध्रुवास्मृतिकी प्राप्ति होती है। भक्तिके साधनसप्तकका विवेक भी आहारकी शुद्धिपर ही बल देता है। अन्नमें तीन तरहके दोष होते हैं—१–जातिदोष, २–आश्रयदोष और ३–निमित्त-दोष। इन तीनों दोषोंसे रहित भगवन्निवेदितान्नाहारसे शरीरकी शुद्धिको 'विवेक' कहते हैं।

ऐसे खाद्य पदार्थ जिनके सेवनसे तमोगुणका उद्रेक होता है—जैसे कलञ्ज, गृञ्जन, लहसुन, प्याज, मांस आदि शास्त्रोंमें ऐसे खाद्य पदार्थोंको त्याज्य बतलाया गया है। ये खाद्य पदार्थ जाति-दुष्ट माने जाते हैं। अभिशस्त, पतित आदिके गृहका अन्न आश्रयदोषसे दूषित माना गया है। अन्नका किसी कारणवश जैसे भोजनमें मक्खी, बाल आदि पड़ जानेके कारण सात्त्विक अन्नसे निर्मित पाक भी निमित्त-दोषसे दूषित माना जाता है। इन तीनों प्रकारके भोजनको न ग्रहण करना ही 'विवेक' कहलाता है। यह भक्तिका प्रथम सोपान है। भक्तिका चतुर्थ सोपान 'क्रिया' भी अपनी शक्तिके अनुसार पञ्चमहायज्ञोंके अनुष्ठानरूप ही है।

भगवान् रामानुजाचार्यने स्वयं जब एक सौ बीस वर्षकी आयु व्यतीत कर ली और परधामगमनका समय आ गया तो उनका शरीर अत्यन्त जर्जर हो गया, पर उस समय भी अपने शिष्योंके सहारे कावेरीतक जाकर आपने सायंकालिक सूर्यार्घ्य प्रदान किया और शिष्योंके पूछनेपर बतलाया था कि जीवनमें शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक कृत्योंका कभी त्याग नहीं करना चाहिये। जीवनमें सदाचारकी शिक्षाकी प्रधानता देनेके हेतु श्रीसम्प्रदायके मान्य प्रतिष्ठानोंमें आज भी अनुदिन भगवान्के सामने तैत्तिरीयोपनिषद्की शीक्षावल्लीका सस्वर पाठ किया जाता है। इस प्रकार 'श्रीसम्प्रदाय'में सदाचारको अत्यन्त उच्चस्थान प्राप्त है।

आचरणरहित शास्त्रज्ञान--शिल्पमात्र

व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत्।
यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते॥
कर्मस्पन्देषु नो बोधः फलितो यस्य दृश्यते।
बोधशिल्पोपजीवित्वाज्ज्ञानबन्धुः स उच्यते॥
वसनाशनमात्रेण तुष्टाः शास्त्रफलानि ये।
जानन्ति ज्ञानबन्धूस्तानविद्याच्छास्त्रार्थशिल्पिनः॥

(योगवासिष्ठ, निर्वाणप्रकरण उ० २१। ३–५)

'जैसे शिल्पी जीविकाके लिये ही शिल्पकला सीखता है, वैसे ही जो मनुष्य केवल भोग-प्राप्तिके लिये ही शास्त्रको पढ़ता और उसकी व्याख्या करता है, स्वयं शास्त्रके अनुसार आचरणके लिये प्रयत्न नहीं करता (सदाचारी नहीं बनता), वह ज्ञानबन्धु कहलाता है। शास्त्राध्ययनसे जिसको शाब्दिक बोध हो गया है, परंतु उस बोधका फल, जो विनाशशील भोगों—व्यवहारोंमें वैराग्य होना चाहिये, सो नहीं हुआ तो उसका वह शास्त्रज्ञान शिल्पमात्र है।'

श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायमें सदाचार

(लेखक—अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य 'श्रीजी' श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज)

यदि मानवके जीवनमें सदाचार न हो तो उसका जीवन पशुतुल्य ही है। केवल मानव-शरीर प्राप्त कर लेना ही इत्यलम् नहीं। जबतक मानवका समग्र जीवन वेदपुराणादि शास्त्र-प्रतिपादित सदाचारसे संवलित न होगा, वह एकमात्र केवल मानवाभासरूप ही रहेगा। सदाचार ही मानवका महनीय भूषण है, सर्वस्व सम्पत्ति है और वही मानवताकी आधार-भित्ति एवं उत्तमोत्तम ऊर्ध्वलोक-प्राप्तिकी मूल सरणि है अथ च श्रीभगवत्प्राप्तिमें भी वह अत्यावश्यक पालनीय कर्तव्य है। श्रुति-स्मृति-सूत्र-तन्त्र-पुराणादि शास्त्रोंमें सदाचारपर सर्वाधिक बल दिया गया है, यह निम्नाङ्कित वचनसे स्पष्ट है—

आचारात् फलते धर्ममाचारात् फलते धनम्।
आचाराच्छ्रियमाप्नोति आचारो हन्त्यलक्षणम्॥

(महाभा० अनुशासनपर्व)

'सदाचारके परिपालनसे धर्मकी अभिवृद्धि तथा उपलब्धि होती है। सदाचारसे यशकी संप्राप्ति एवं त्याज्य अवगुणोंका विनाश होता है।' महाभारतके ही 'दानधर्म'में सदाचारका वर्णन करते हुए उसके महत्त्वका निदर्शन कराया गया है—

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च॥

सदाचारसे आयु और लक्ष्मीकी उपलब्धि तथा यश मिलता है, और स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्ति होती है, जिससे यह मानव परमानन्दकी दिव्यानुभूति करता है। श्रुति-स्मृति आदि सभी शास्त्रों एवं ऋषि-मुनीश्वरोंका यह विनिश्चय है कि आचार ही प्रथम धर्म है, अतः इसका पालन परमावश्यक है। सदाचार पालन करनेवाला व्यक्ति सर्वत्र पूजित होता है। सदाचार-सेवनसे प्रजाकी उपलब्धि होती है। सदाचारसे अक्षय अन्न मिलता है। इस भाँति सदाचारकी अनन्त महिमा है। सदाचारसे स्वर्ग, सुख और मोक्ष भी मिलता है। सदाचारसे क्या नहीं प्राप्त होता, अर्थात् सभी कुछ सहज हो जाता है। सर्वगुणोंसे रहित मानव यदि सदाचारसम्पन्न हो तो वह श्रद्धायुक्त एवं निष्पातक रहता हुआ शतवर्षपर्यन्त जीवित रहता है।—'**धर्मान्न प्रमदितव्यमाचारान्न प्रमदितव्यम्**' श्रुति-वचन भी यही आदेश करते हैं कि इत्यादि धर्मपालन एवं सदाचार-सेवनमें प्रमाद (आलस्य) कदापि न करे। सदाचारके अनुसेवनके लिये शास्त्रोंमें अतिशय बल दिया है। सदाचारहीन पुरुष कभी भी श्रेय-प्राप्ति नहीं कर सकता—'**आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः**' सदाचार-विवर्जित मानवको वेद भी पवित्र नहीं करते। वस्तुतः आचारहीन मानव उभयत्र विविध क्लेशोंका अनुभव करता है और सर्वत्र अनादरणीय रहता है। ऋषि-मुनिजनोंके, आचारनिष्ठ धर्मविद् धर्माचार्योंके तथा तत्त्वज्ञ मनीषियोंके कल्याणमय दिव्य वचनोंसे सुस्पष्ट है कि सदाचारका सर्वदा आचरण करना चाहिये।

वेदादिशास्त्रोंके सिद्धान्तानुसार श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायमें सदाचारकी सर्वाधिक मुख्यता है। वैष्णव संस्कारोंमें सर्वप्रथम सदाचारकी ही अपेक्षा रहती है। बिना सदाचार-पालनके शिष्योंको वैष्णव संस्कार ही नहीं प्रदान कराये जाते। श्रीसुदर्शनचक्रावतार श्रीमन्निम्बार्काचार्य भगवान्ने 'सदाचारप्रकाश' नामक एक बृहद्ग्रन्थका प्रणयन किया है, जिसका वर्णन निम्बार्कसम्प्रदायके तत्परवर्ती पूर्वाचार्योंके ग्रन्थोंमें है, परंतु कालप्रभावसे आज वह दिव्य ग्रन्थ विलुप्त है। श्रीनिम्बार्कभगवान्कृत 'मन्त्रार्थ-रहस्य-षोडशी' एवं 'प्रपन्न-सुरतरु-मञ्जरी' आदि ग्रन्थोंमें मन्त्र-दानके अधिकारी-क्रममें सदाचार-पालनपर विवेचन किया है। इसी प्रकार भगवान् श्रीनिम्बार्कने 'ब्रह्मसूत्र'के '**अग्निहोत्रादि तु तत्कार्य्यायैव तद्दर्शनात्**' (४ । १ । १६)—इस सूत्रके 'वेदान्त-पारिजातसौरभ' नामक भाष्यमें लिखा है—

'विद्ययाग्निहोत्रदानतपआदीनां स्वाश्रम-कर्मणां निवृत्तिशङ्का नास्ति, विद्यापोषकत्वादनुष्ठेयान्येव। यज्ञादिश्रुतौ तेषां विद्योत्पादकत्वं दर्शनात्।'

इसी प्रकार 'ब्रह्मसूत्र'के **'आचारदर्शनात्'** (३।४।३) इस सूत्रके 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ'-भाष्यमें श्रीनिम्बार्क भगवान्ने एवं 'वेदान्त-कौस्तुभ' भाष्यमें श्रीनिम्बार्क भगवान्के प्रमुख शिष्य पाञ्चजन्य शङ्खावतार तत्पीठाधिरूढ़ श्रीश्रीनिवासाचार्यजी महाराजने सदाचार-पालनका विशद उपदेश किया है—

'वेदान्त-पारिजात-सौरभ'भाष्यमें—**'जनकोऽहं वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे' इत्यादि श्रुतिभ्यो जनकादीनामाचारदर्शनात्**। तथा 'वेदान्तकौस्तुभ' भाष्यके—**'नेतरोऽनुपपत्तेः','भेदव्यपदेशाच्च', 'अनुपपत्तेश्च न शारीर'** इत्यादि सूत्रोंके आधारपर **'नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्', 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ', 'प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः'** इत्यादि उभय भाष्योंके उद्धरणसे सम्यक्रीत्या परिलक्षित है कि श्रीनिम्बार्कसम्प्रदायमें सदाचारपर कितना अधिक बल दिया जाता है। इसके अतिरिक्त अन्य साम्प्रदायिक प्राचीन-अर्वाचीन ग्रन्थोंमें सदाचारको परमावश्यक परिपालनीय कर्तव्य माना गया है। वस्तुतः सदाचार सम्पन्न मानव अत्र परत्र एवं सर्वत्र सुख-समृद्धिका अनुभव करता है। उसका सर्वत्र समादर है, वह सभीका श्रद्धाभाजन अर्चनीय एवं अभिवन्दनीय हो जाता है। अतः समग्र दृष्ट्या सदाचार नितान्त संसेवनीय आचरणीय और अनुकरणीय है।

सदाचारसप्तक

(रचयिता—श्रीभवदेवजी झा, एम्० ए०, शास्त्री)

(१)

सदाचार आधार संस्कृति-सुगतिका,
यही राष्ट्र-जीवन समुन्नत बनाता,
यही विश्व-बन्धुत्वकी भावना भर,
विविध लोक-वैमत्य सत्वर मिटाता।

(२)

सदाचार सद्बुद्धि-संशुद्धि-दाता,
पथभ्रष्टजनको सुपथमें लगाता,
पतन-शील-कर्त्तव्यदिङ्मूढको भी,
प्रगतिदायि सन्मार्गको है दिखाता।

(३)

सदाचार है, शान्तिका द्वार अनुपम,
यही कीर्ति अक्षय सभीको दिलाता,
यही धर्मका सार सन्मार्ग-सम्बल,
सुधाधार जो मानवोंको पिलाता।

(४)

सदाचार सद्बीजके ही सहारे,
सकल ज्ञान-विज्ञान जगमें सुरक्षित,
सदाचार ही नींव है साधनाकी,
उसीपर टिकी सिद्धियाँ शक्ति-मण्डित।

(५)

सदाचार वह तत्त्व सद्भाव-पोषक,
है, जिसके बिना शून्य जीवन सभीका,
सदाचार सुखमूल है, वह सलोना,
है, जिसके बिना विश्वव्यापार फीका।

(६)

सदाचार वह तार-सप्तक है जिसके—
बिना है, विफल भारती दिव्य वाणी,
सदाचार ही प्राण वह सभ्यताका,
है, जिसके बिना वन्य-सम विज्ञ प्राणी।

(७)

सदाचार वह सूत्र, जो मजहबोंको—
निखिल विश्वके, एकतामें पिरोता,
यही वह महा अस्त्र जो बैरियोंको,
झुकाकर सहज प्यारमें है, भिगोता।

वल्लभ-सम्प्रदायमें सदाचार

(लेखक—पं० श्रीधर्मनारायणजी ओझा)

वैष्णवधर्मके मूलाधार, परमहंसोंकी संहिता श्रीमद्भागवत महापुराणके सप्तमस्कन्धके एकादश अध्यायमें धर्मराज युधिष्ठिरने परम वैष्णवाचार्य देवर्षि नारदसे सदाचारकी जिज्ञासा की है; जिसके उत्तरमें देवर्षिने कहा है कि 'युधिष्ठिर ! सर्ववेदस्वरूप भगवान् श्रीहरि, उनका तत्त्व जाननेवाले महर्षियोंकी स्मृतियाँ और जिनसे आत्मग्लानि न होकर आत्म-प्रसाद उपलब्ध हो, वे कर्म धर्मके मूल हैं।' तदनन्तर परमभगवदीय श्रीनारदजी धर्मके सत्य, दया, तप, शौच, तितिक्षा, शम, दम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, आर्जव, संतोष, सेवा और भोग-त्यागादि तीस लक्षण बताते हैं (श्रीमद्भागवत ७ । ११ । ८—१२), जिन्हें किसी-न-किसी प्रकारसे समस्त धर्मावलम्बी निर्बाधरूपसे स्वीकार करते हैं। वैष्णवाचार्योंने श्रीमद्भागवतमहापुराण-को सर्वोच्च महत्ता प्रदान की है और साधनत्रय (कर्म, ज्ञान एवं भक्ति)में भक्तिको ही परम पुरुषार्थ प्राप्त्यर्थ मुख्य मानते हुए आचरणकी शुद्धतापर ही अधिक बल दिया है। अन्तिम वैष्णवाचार्य महाप्रभु वल्लभाचार्यजीने तो व्यवहारपक्ष अर्थात् सदाचारपर ही अधिक बल दिया है। उनका आचार ही सदाचाररूपमें गृहीत है।

महाप्रभु वल्लभाचार्यने पुष्टि-भक्ति-भावनाकी तीन कोटियाँ निर्धारित की हैं—(१) प्रेम या अनुराग, (२) आसक्ति एवं (३) व्यसनभाव। नारदोक्त सदाचार धर्मके तीस लक्षणोंको इन तीन कोटियोंकी साधनामें परम साधनरूपसे ग्रहण करना पड़ता है। प्रथम कोटिमें वे लक्षण हैं, जो अज्ञानसे आवेष्टित जीवोंके दुष्ट स्वभावको मिटाकर अन्तःकरणको शुद्ध करते हैं। ऐसा शुद्धान्तःकरणवाला जीव ही भगवच्चरणानुरागी बनता है। धर्मके या सदाचारके इन लक्षणोंमें सत्य, दया, शौच, इन्द्रियसंयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, सरलता, स्वाध्याय, तपस्या, संतोष, समदर्शी एवं संत-सेवा है। इन लक्षणोंको जीवनके व्यवहार-क्षेत्रमें धारण करनेसे प्रभुकी ओर अनुराग बढ़ता है। अनुरागकी दृढ़ताके उपरान्त आसक्ति उत्पन्न होती है। इस हेतु सदाचार-धर्मके वे लक्षण आते हैं, जिनका नामतः उल्लेख देवर्षिने इस प्रकार किया है—अपने इष्टदेवके नाम-गुण-लीला आदिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, पूजा आदि-आदि। इन लक्षणोंको धारण करनेसे शुद्ध अन्तःकरणवाले जीवमें प्रभुके प्रति आसक्ति दृढ़ होती है। सदाचार-धर्मके अन्तिम तीन लक्षण अर्थात् प्रभुके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण भक्तको आसक्तिभावकी प्राप्ति कराते हैं। इस भावकी सिद्धिका लक्षण है—भक्त एवं भगवान्‌में तैलधारावत् ऐक्य। महाप्रभु वल्लभाचार्यजीने अपने सारगर्भित षोडश ग्रन्थोंमें सूत्ररूपमें स्वसिद्धान्तोंका निरूपण किया है। इनके अनुसार भगवत्कृपासे स्वभावविजय नामक शूरता या सफलता मिलती है। 'स्वभावविजय'का सीधा अर्थ सदाचारी बननेसे है। जीव अपने दुष्ट स्वभाव अर्थात् काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, ईर्ष्या-मत्सरादिपर विजय प्राप्तकर सदाचारी बन जाता है। वल्लभाचार्यजीका प्रथम ग्रन्थ 'यमुनाष्टक' तथा द्वितीय ग्रन्थ 'बालबोध' है। इस द्वितीय ग्रन्थमें वल्लभाचार्यजीने अहंता-ममताके परित्यागपर बल दिया है। साधन-मार्गमें अहंता-ममताका त्याग परमावश्यक है। इनके परित्यागसे जीव स्वस्वरूपमें स्थित हो जाता है[1]। अहंता-ममताका परित्याग करनेके लिये श्रीमद्भागवतशास्त्रका श्रवण

१—अहंताममतानाशे सर्वथानिरहंकृता। स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते ॥
(बालबोध ७)

करना एवं आदि पदसे कीर्तनादि नवधाभक्ति करनी चाहिये । इससे भगवदाश्रय एवं भगवदीयत्वकी सिद्धि होती है[3] । भगवदीयत्व एवं दृढ़ाश्रयके उपरान्त भक्तका चित्त प्रभु-सेवामें लग जाता है और तब वैष्णवके सारे कार्य प्रभु-सेवार्थ ही होते हैं । ऐसे वैष्णवके सारे कार्य सदाचारकी चरम सीमा ही होते हैं । महाप्रभु वल्लभाचार्यजीने अपने तृतीय ग्रन्थ 'सिद्धान्तमुक्तावली'में इसपर बड़ा बल दिया है । 'विवेकधैर्याश्रय'में आचार्य श्रीवल्लभने सदाचारपर बल देते हुए कहा है कि 'वैष्णवको सर्वप्रथम अभिमानका परित्याग करना पड़ता है । ठीक उसी प्रकार वैष्णवोंको दुराग्रह एवं अधर्मका भी परित्याग कर देना चाहिये । मन, वचन और कर्मसे इन्द्रियोंके विषयोंका भी परित्याग करना भी वैष्णवोंका परम कर्तव्य है[4] । इन त्यागोंसे सदाचारकी जड़ दृढ़तर होती है । आचरणका गहरा सम्बन्ध हमारे खानपान एवं संसर्गसे होता है । वल्लभ-सम्प्रदायमें इन दोनोंपर बड़ा ध्यान दिया जाता है । इस सम्प्रदायमें असमर्पित वस्तुओंके सर्वथा परित्यागपर अधिक बल दिया जाता है[5]। ब्रह्मसम्बन्ध दीक्षोपरान्त आज भी वैष्णव पुत्र-कलत्रादिकी भी निवेदित वस्तुओंका परित्याग कर देते हैं ।'

वल्लभसम्प्रदायमें गोस्वामी विट्ठलनाथजीके चतुर्थ पुत्रमाला तिलकके पोषक गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजीरचित वार्तासाहित्य एवं वचनामृत-साहित्यका भी विशिष्ट महत्त्व रहा है । एक सौ चौरासी एवं दो सौ बावन वैष्णवोंकी वार्ताओंमें विविध प्रकारसे सदाचारपर बल दिया गया है। गोस्वामी श्रीगोकुलनाथजीने अपने वचनामृतोंमें स्पष्ट आदेश देते हुए कहा है, कि 'वैष्णवको प्राणी मात्रपर दया राखनी, जो कुजर तें चीटी पर्यन्त सबमें एक ही जीव जाननों, और प्रभु, प्रतिबिम्ब न्यारे-न्यारे दीसत हैं, यह जानके भगवदीय हिंसा ते अत्यन्त उपरत रहनों काहुको हृदय कल्पावनो नहीं ।'

'अर्थात् परोपकार, अहिंसा, दयाभाव आदि वैष्णवके लिये आवश्यक है । अपने तीसरे और चौथे वचनामृतमें श्रीगोकुलनाथजीने सदा प्रसन्नचित्त रहने, धनादिकका सद्विनियोग करने, अभिमानके परित्याग, धैय धारण करने, क्रोधका सर्वथा परित्याग करने, संतोषी, सरल, सत्य एवं मृदुभाषी होनेका आदेश दिया है[6] । अपने सातवें वचनामृतमें गोकुलनाथजी कहते हैं, "जो वैष्णव होयके काहुको अपराध न देखे········ दुष्ट झूठी सांची लगाय ईर्ष्या करे । कोई सों खोटो काम करे, अपराध करे तोहु वाको भूलि जाय, वाकों प्रसन्न करिके संकोच छुड़ावनो ।········जो कोई निंदा करे, दुर्वचन कहे ताको उत्तर न देनो, सब सहन करनो, अपनेमें दोष जानि उनसों क्रोध न करनो········जो वैष्णवको मिथ्या भाषण सर्वथा नहीं करनो क्योंकि झूठ बराबर पाप नहीं है । (वही पृ० ४७)

इसके आचार्योंके अनुसार ज्ञानमार्गमें साधन-पक्षमें कष्ट एवं त्याग दृढ़ होनेपर उद्धार होता है । परंतु पुष्टिमार्गमें सदाचार, दृढ़ाश्रय एवं प्रभु-सेवासे ही गृहस्थीका उद्धार हो जाता है (पृ० ५५) । वल्लभ-सम्प्रदायके अन्य आचार्योंने भी इन लक्षणोंपर अपने साहित्यमें बराबर बल दिया है । प्रभुचरण गोस्वामी

२—श्रवणादि ततः प्रेम्णा सर्वकार्यं हि सिद्ध्यति ॥ (बालबोध १६)

३—समर्पणेनात्मनो हितदायत्वं भवेद् ध्रुवम् ॥ (बालबोध १८)

४—अभिमानश्च संन्त्याज्यः । (विवेकधैर्याश्रय ३)
आपदगत्यादिकार्येषु हठस्त्याज्यश्च सर्वथा । अनाग्रहश्च सर्वं धर्माधर्माग्रदर्शनम् ॥
स्वयमिन्द्रियकार्याणि कायवाङ्मनसा त्यजेत् । (विवेकधैर्याश्रय ४, ५—८)

५—असमर्पित वस्तूनां तस्माद् वर्जनमाचरेत् । (सिद्धांत रहस्य, श्लोक ४)

६—श्रीगोकुलनाथजीके २४ वचनामृत, सम्पादक, निरञ्जनदेव शर्मा, मथुरा ।

श्रीहरिरायजी द्वारा अपने लघु भ्राता गोस्वामी श्रीगोपेश्वरजीको शिक्षा प्रदान करने हेतु निर्मित 'शिक्षापत्रों'का भी वल्लभसम्प्रदायमें बड़ा सम्मान है। इसके अनुसार सदाचारका उद्देश्य प्राणिमात्रका हित करना ही है। हमारी 'आचारसंहिताएँ' सत्कार्य एवं असत्कार्यका बोध कराकर पापरूपी विषफलसे हमें सावधान करती हैं। प्राणिमात्रमें एक ही चेतन 'आत्मा'का अंश है। अतः जिस कार्यसे समाजके किसी व्यक्तिको हानि पहुँचती है, उसे नहीं करना चाहिये। हमारे तत्त्वचिन्तकोंने इसीलिये स्पष्ट कहा है—

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

वल्लभसम्प्रदायमें इन तत्त्वोंपर बहुत बल दिया जाता है। अन्य वैष्णवसम्प्रदायोंके समान ही वल्लभ-सम्प्रदायमें भी सदाचार मेरुदण्ड सदृश है।

श्रीरामानन्दसम्प्रदायके सदाचार-सिद्धान्त

(लेखक—पं० श्रीअवधकिशोरदासजी वैष्णव 'प्रेमनिधि')

स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी एक महान् लोक-विलक्षण महापुरुष थे। उनका सर्वधर्म-समभाव तथा अपने इष्टदेवमें अनन्य निष्ठा देखते ही बनती थी। उन्होंने वैदिक परम्पराका पूर्णतया पालन करते हुए भी पतितोंके उद्धारकी भरपूर चेष्टा की? आपने अपने 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर' ग्रन्थमें सदाचारके जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं, वे बड़े ही भावपूर्ण एवं उच्चकोटिके आदर्श हैं। इस लघु लेखमें उन्हींका यत्किंचित् उल्लेखकर आचार्यके उज्ज्वल सिद्धान्तोंका दिग्दर्शन किया जा रहा है।

सदाचार-संरक्षणके मूलाधार 'तत्त्वत्रय' तथा 'अर्थ-पञ्चक'का ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये। ईश्वर-स्वरूप, जीवस्वरूप तथा मायाके यथार्थ स्वरूपको जानना ही 'तत्त्वत्रय' है तथा प्राप्त स्वरूप, प्रापक स्वरूप, उपाय स्वरूप, विरोधी स्वरूप तथा फलस्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना 'अर्थपञ्चक' कहलाता है। इनका ज्ञान प्राप्त होनेपर मनुष्य दुराचारका त्याग कर स्वतः सदाचारपरायण हो जाता है। इसके लिये अर्थज्ञानपूर्वक श्रीराममन्त्रका श्रद्धा-प्रेमसहित नियमपूर्वक जप करना चाहिये और मन्त्रैकनिष्ठ आचार्यकी अनुकम्पासे ही मन्त्र तथा मन्त्रार्थका रहस्य प्राप्त करना चाहिये। यही वैदिक परम्परागत सदाचारका मूल है।

सदाचारका यथार्थ ज्ञान सच्चे सदाचारी संत तथा सद्गुरुके श्रीचरणोंकी सेवा सत्सङ्ग करनेसे ही हृदयंगम हो सकता है। सदाचारपरायण सात्त्विक संतोंद्वारा अपार श्रद्धापूर्वक सादर संग्रहणीय तिलक, माला, भगवदा-युधोंकी छाप, भगवत्सम्बन्धी पवित्र नाम धारण करते हुए मन्त्रराजका अनुष्ठान करनेसे निःसंदेह मोक्षकी प्राप्ति होती है। इन पञ्चसंस्कारोंमें अत्यन्त श्रद्धा रखना संतोंका सदाचार है। इनकी अवहेलना कभी न करनी चाहिये। एकादशी, श्रीरामनवमी, श्रीजानकीनवमी, श्रीकृष्णाष्टमी, श्रीनृसिंह-जयन्ती, श्रीवामनद्वादशी, श्रीहनुमान्-जयन्ती आदिका वेधरहित व्रत करना तथा सामयिक उत्सवोंको सप्रेमसविधि अनुष्ठान करते रहना चाहिये। इसमें आलस्य अथवा प्रमाद कभी न करना चाहिये। ऐसा करनेसे अनादिकालसे कर्मप्रवाहमें डूबते जीवोंपर भगवान्की कृपा अवश्य ही होती है।

नवधाभक्ति तथा शरणागति भगवान्की अहैतुकी कृपा-की समुद्र लहरानेमें समर्थ है, इसलिये प्रभुके शरण जाना सदाचारका सर्वश्रेष्ठ अङ्ग है। सदाचार प्रभुके सानुकूल है, दुराचार प्रभुसे प्रतिकूल है, इसलिये शरणागतोंको सदाचारका पालन करना तथा दुराचारका परित्याग अवश्य ही करना चाहिये। उत्कृष्ट वर्णवाले श्रीवैष्णवोंके

प्रति निकृष्ट वर्णवालोंको सादर श्रद्धाभाव तथा निकृष्ट वर्ण-वालोंके प्रति उत्कृष्ट वर्णवालोंका सप्रेम दयाभाव रखना, यह परस्पर सद्भावना बढ़ानेवाले सदाचारका शास्त्रीय सार है।

अहिंसा धर्म सभी धर्मोंमें श्रेष्ठ है। हिंसा करनेवाला प्राणिमात्रमें विराजमान प्रभुका घातक है। इसलिये कभी भी किसी जीवकी हिंसा नहीं करनी चाहिये। बिना हिंसाके मांस नहीं मिलता है। इसलिये मांस, मछली-मदिरा तथा व्यभिचारादि हिंसकभाव बढ़ानेवाले तत्त्वोंका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये। सभी सत्कर्म भगवत्-समर्पणकी भावनासे ही करने चाहिये तथा भोजनादिक भी भगवन्निवेदित ही करना चाहिये। अर्चावतार मन्दिरोंमें विराजमान भगवान्के दिव्य विग्रहों-का दर्शन-पूजन नित्य नियमपूर्वक करना चाहिये।

आरती-स्तुतिमें पूर्ण भक्ति-भावना-प्रेम रखना चाहिये तथा निःसंकोच साष्टाङ्ग प्रणामकर श्रीचरणोदक प्रसाद लेना चाहिये। यह भक्तोंका सदाचार सदैव पालन करना चाहिये। भगवत्सेवाके बत्तीस अपराध तथा नाम-संकीर्तनके दस अपराधोंसे सदैव बचकर सेवा तथा संकीर्तनका रसपान करना स्नेही संतोंका सदाचार है, इसका दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिये। सभी वर्ण तथा आश्रमवालोंको वेदोक्त वर्णाश्रमधर्मका पालन करते हुए भगवान्की शरणागति अवश्य ही ग्रहण करनी चाहिये। इससे अनादि कर्मबन्धन कट जाता है। देहाभिमान नष्ट होता है तथा भगवत्कृपाकटाक्ष प्राप्त करनेका अधिकारी बन जाता है। भगवान्का, श्रीसद्गुरुदेवका तथा संत-भक्तोंका चरणोदक पान करनेसे कोटिजन्मार्जित पाप नष्ट होकर भगवत्कृपाका उदय होता है। भगवान्के भक्तोंको साधारण अथवा अपनेसे नीचा कभी न मानना चाहिये। भगवान्के दिव्यधाम श्रीअयोध्या, वृन्दावन, चित्रकूट, जनकपुर तथा हरिद्वारादि तीर्थोंमें निवास करनेका सदा आग्रह रखना चाहिये, ऐसा अवसर न मिलनेपर अपने गाँव अथवा घरमें ही भगवान्को पधराकर तीर्थ-स्वरूप प्रदान कर भावनापूर्वक उसमें ही निवास करना चाहिये।

त्रिकाल संध्यावन्दन-पूजा, आरती, श्रीमद्रामायण तथा श्रीमद्भगवद्गीताका पाठ, वेदोपनिषदोंका श्रवण-मनन सदैव करना चाहिये, स्वयं जा सके तो जहाँ ये सब लाभ अनायास मिल सकें, वहाँ जाकर भजन-कीर्तन, कथा-श्रवणमें मन लगाना चाहिये। भगवान्की छोटी-से-छोटी सेवा तथा भगवत्-भागवत-कैङ्कर्य बड़ी निष्ठासे अहंकार त्यागकर करना चाहिये। अपने इष्टदेवमें अनुपम श्रद्धा रखते हुए भी अन्य देवोंका अपमान-द्वेष स्वप्नमें भी न करना चाहिये। गृहस्थोंको माता-पिताकी सेवा तथा सात्त्विक धन उपार्जन कर घरमें ही परिवार-पालन करते हुए भगवत्-भजन करना चाहिये।

विरक्तोंको श्रीसद्गुरु तथा संतोंकी सेवा करते हुए आचार्यके आश्रममें अथवा पुण्यतीर्थमें निवास कर प्रभुके भजनमें जीवन व्यतीत करना चाहिये। श्रीवैष्णव पुरुषोंको परनारीको माताके समान तथा स्त्रियोंको परपुरुषको पिताके समान मानकर शिष्टाचार-पूर्वक सद्व्यवहार रखना चाहिये। किसीके प्रति द्वेष-भाव रखना अपना ही अहित करना है। इससे स्वभावमें क्रूरता आती है, इसलिये सबमें प्रभुका निवास मानकर सबका सम्मान करना चाहिये। गुरुद्रोही, मित्रद्रोही, भगवद्द्रोही, नास्तिक तथा दुराचारीका सङ्ग न करे, न उनसे कोई व्यवहार रखे। अर्थोपार्जन, उदरपूर्ति तथा पूजा-प्रतिष्ठाकी स्पृहा त्यागकर अपने तथा विश्वके कल्याणके लिये भगवन्मन्दिर, भजनाश्रमकी स्थापना करना तथा करवाना उत्तम कार्य है। चोरी, जुआ, शिकार, मद्यपान, धूम्रपान, परस्त्रीगमन, परनिन्दा, दुराचार, भ्रष्टाचार, कटुवचन तथा असत्यभाषण सद्यःपतनके मार्ग हैं।

गुरुजनोंके साथ एक आसनपर तथा उनके सामने उच्चासनपर बैठना नहीं चाहिये तथा उनके सामने अपनी बड़ाई नहीं करनी चाहिये। प्रातःकाल उठकर श्रीहरि, गुरु, संत, माता, पिता तथा पूज्यजनोंका अभिवादन करना चाहिये। नाम-जप, होम, मन्त्र-जप, देवार्चन तथा भजन-भोजनके समय मौन रहना चाहिये। स्नान-शौचादिसे देहेन्द्रिय शुद्ध होते हैं तथा सद्विचारसे मन-बुद्धि तथा आत्माकी शुद्धि होती है—

एक जीव जो ज्ञानीजन, हरि सम्मुख करि देत।
ते कौस्तुभमणि दान कर, फल प्रिय प्रभु सो लेत॥

गीतोक्त लोकसंग्रहके सिद्धान्तानुसार सत्पुरुषोंके आचरण ही सदाचार हैं। संतोंका, साधु पुरुषोंका, महात्माओंका कसौटीपर कसा हुआ आचार-व्यवहार ही अनुकरणीय सदाचार है। श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराजने एक हिंसक चर्मकारके साथ व्यापार करनेवाले वणिक्का अन्न भिक्षामें लानेके अपराधमें अपने ब्रह्मचारी शिष्यतकका परित्याग किया था। वे सदैव सदाचारकी रक्षामें पूर्ण तत्पर रहते थे। ऐसे महापुरुषकी दिव्य वाणीसे पाठकोंको पूरा लाभ उठाना चाहिये।

वैखानस-सूत्रमें वर्णाश्रम-धर्मरूप सदाचार

(लेखक—चल्लपल्लि भास्कर श्रीरामकृष्णमायार्युल्लु, एम्० ए०, बी० एड्०)

श्रौतस्मार्तादिकं कर्म निखिलं येन सूत्रितम्।
तस्मै समस्तवेदार्थविदे विखनसे नमः॥

वैखानससूत्र अभी कुछ तो हस्तलिखित दशामें हैं और कुछ गृह्य-धर्म-स्मार्त-श्रौतादिसूत्रोंको Caland आदिने बड़ी कठिनतासे ढूँढ़कर टीकासहित त्रिवेन्द्रम्से एवं एशियाटिक सोसाइटी आदिद्वारा मूलमात्र प्रकाशित कराया है। इन सूत्रोंको ऐहिक-आमुष्मिक साधनोंका समग्र विवरण देनेवाला अद्भुत, अमोघ, कल्पसूत्र कहें तो भी अत्युक्ति न होगी। इनमें सदाचारका विस्तारसे निरूपण किया गया है। इनपर सुन्दरराज एवं नृसिंह वाजपेयी आदिके भाष्य, व्याख्यान आदि हैं। इनमें कहा गया है कि सदाचार धर्मसे सम्बद्ध होता है। 'धर्म क्या है' इस प्रश्नके उत्तरमें भाष्यकार कहते हैं—**'अथ वर्णाश्रम-'धर्मम्।' वर्णाः—ब्राह्मणादयः, आश्रमाः—ब्रह्मचारिप्रभृतयः। धर्मशब्दोऽत्र षड्विधस्मार्तधर्म-विषयः। तद्यथा-वर्णधर्म आश्रमधर्मो वर्णाश्रम-धर्मो गुणधर्मो निमित्तधर्मः साधारणधर्मश्चेति।'**
(—श्रीनृसिंहवाजिपेयियभाष्यम्)

ब्राह्मणादि वर्णोंके, ब्रह्मचर्यादि-आश्रमोंके, अनुष्ठाताओंके धर्मका वर्णन धर्मसूत्रोंमें करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मणके लिये समिदाधान, यज्ञाचरणादि—वर्ण एवं आश्रमधर्म अनुष्ठेय हैं। क्षत्रियके लिये शास्त्रीय (अभिषेकादिगुण-युक्त राजाका परिपालनादि) गुणधर्म, विहितक्रियाका अकरण, निषिद्धक्रियाकरणनिमित्त प्रायश्चित्तरूप निमित्त धर्म, अहिंसा-पालन आदि साधारण धर्म—ये छः प्रकारके स्मृति-धर्म अनुष्ठेय हैं। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नामक चार वर्णोंके अतिरिक्त परस्पर संकरके कारण उत्पन्न अनुलोम-विलोम जाति तथा उनके कर्म-विधिकी भी विस्तृत विवेचना प्राप्त होती है। यहाँ केवल चार आश्रम एवं उनके अवान्तर भेदोंका संक्षिप्त उल्लेख-मात्र किया जाता है। 'वैखानसधर्मसूत्र'के अनुसार ब्राह्मणके चार, क्षत्रिय आदिके तीन, वैश्यके दो तथा शूद्रके लिये एकमात्र गृहस्थाश्रमका ही विधान है—**ब्राह्मणस्या-श्रमाश्चत्वारः। क्षत्रियस्याद्यास्त्रयो वैश्यस्य द्वावेव। तदाश्रमिणश्चत्वारः। ब्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थो भिक्षुरिति।** (—८।१।१०—१३)

फिर ब्रह्मचारीके धर्मोंकी लंबी सूची देकर गुरु-वाक्यपालनके विषयमें कहा गया है—

'अनुक्तो यत्किंचित्कर्म नाचरेत्, अनुक्तोऽपि स्वाध्यायनित्यकर्माण्याचरेत् ।'

(—८।१।५६)

इसके अनुसार उनमें ब्रह्मचारीके भी चार प्रकारके भेद हैं।—**गायत्रो ब्राह्मः प्राजापत्यो नैष्ठिक इति ।** (२।८।३।२) १—गायत्र (केवल गायत्री ध्यान करनेवाले), २—ब्राह्म (गुरुकुलमें रहकर तीनों वेद या एक वेद या स्वसूत्राध्ययन करनेवाले), ३—प्राजापत्य (वेदवेदाङ्गसहित अध्ययन तथा नारायण-परायण होकर बादमें गृहस्थ होनेवाले) और ४—नैष्ठिक (काषाय-वस्त्र धारण करके, जटा या शिखा धारण करके आत्म-दर्शनपर्यन्त गुरुकुलमें रहकर केवल निवेदित शिक्षा-चरण करनेवाले ।

वैखानसमतमें गृहस्थाश्रमी भी चार प्रकारके होते हैं। वे ये हैं—(१) वार्तावृत्ति, (२) शालीनवृत्ति, (३) यायावर और (४) घोराचारिक—**वार्तावृत्तिः कृषिगौरक्ष्य-वाणिज्योपजीवी ।** (८ । ५ । ३)—वार्तावृत्तिवाला खेती, पशुपालन एवं वाणिज्यसे जीवन चलाता है।

२—शालीनवृत्तिर्नियमैर्युतः पाकयज्ञैरिष्ट्वा अग्नीनाधाय पक्षे पक्षे दर्शपूर्णमासयाजी चतुर्षु चतुर्षु मासेषु चातुर्मास्ययाजी षट्सुषट्सु मासेषु पशुबन्धयाजी प्रतिसंवत्सरं सोमयाजी च ।(८।५।४) शालीनवृत्तिवाले कठोर नियमोंका पालन करते हुए पाकयज्ञ, प्रत्येक पक्षमें दर्श-पूर्णमास-याग, चातुर्मास्य-याग, निरूढ-पशुबन्धयाग और प्रतिवर्ष सोमयाग करते हैं।

३—यायावरो हविर्यज्ञैः सोमयज्ञैश्च यजते याजयत्यधीतेऽध्यापयति ददाति प्रतिगृह्णाति, षट्कर्म-निरतो नित्यमग्निपरिचरणमतिथिभ्योऽभ्यागते-भ्योऽन्नाद्यं च कुरुते । (—८।५।५)

यायावर हविर्यज्ञ, सोमयज्ञका यजन करके यजन-याजनादि षट्कर्म करता, अतिथि-अभ्यागतका सेवन करता है।

४—घोराचारिको नियमैर्युक्तो यजते न याजयत्य-धीते नाध्यापयति ददाति न प्रतिगृह्णाति । उञ्छवृत्ति-मुपजीवति, नारायणपरायणः सायंप्रातरग्निहोत्रं हुत्वा मार्गशीर्षज्येष्ठमासयोरसिधाराव्रतं वनौषधी-भिरग्निपरिचरणं करोति ।(वैखानसधर्म सू० ९।५।६)

घोराचारिकके लिये यजन, अध्ययन-दानके अतिरिक्त तीन क्रियाएँ याजन, अध्यापन, प्रतिग्रह ये निषिद्ध हैं। वह उञ्छवृत्तिसे जीवन निर्वाह करता है और नारायण-परायण होकर अग्निहोत्र करते हुए मार्गशीर्ष, ज्येष्ठ मासोंमें असिधाराव्रत करते हुए वनौषधियोंसे अग्निकी परिचर्या करता है।

तृतीयाश्रमी—वानप्रस्थी भी दो प्रकारके होते हैं (१) अपत्नीक तथा (२) सपत्नीक । सपत्नीकके चार भेद हैं—१—औदुम्बर, (२) वैरिञ्च, (३) वालखिल्य और (४) फेनप ।

अपत्नीकके अनेक भेद हैं— (१) काला-शिक, (२) उद्दण्डसंवृत्त, (३) अश्मकुट्ट, (४) अग्रफलिन, (५) दन्तोलूखलिक, (६) उञ्छवृत्तिक, (७) संदशनवृत्तिक, (८) कापोतवृत्तिक, (९) मृगचारिक, (१०) हस्तादायिन, (११) शैलफलखादी, (१२) अर्कदग्धाशी, (१३) वैल्वाशी, (१४) कुसुमाशी, (१५) पाण्डुपत्राशी, (१६) कालान्त-रयोजी, (१७) एककालिक, (१८) चतुष्कालिक, (१९) कण्टकशायी, (२०) वीरासनशायी, (२१) पञ्चाग्निमध्यशायी, (२२) धूमाशी, (२३) पाषाण-शायी, (२४) अभ्यवकाशी, (२५) उदकुम्भवासी (२६) मौनी, (२७) अवाक्शिरी, (२८) सूर्य-प्रतिमुखी, (२९) ऊर्ध्वबाहुक और (३०) एकपाद-

स्थित। इनके यथानामानुगुण बहुतसे आचार होते हैं।

वैखानस धर्मसूत्रके अनुसार —भिक्षु (संन्यासी) चार प्रकारके होते हैं—(१) कुटीचक, (स्वगृह या मन्दिरमें रहनेवाले), (२) बहूदक (स्नानार्थ नदी-तीर-निवासी), (३) हंस (हंसयोगाचरण करनेवाले), और (४) परमहंस* (परमपद जाननेवाले परमहंस या परमात्मा नारायणकी प्राप्तिका प्रयत्न करनेवाले)। उनमें यहाँ स्थानाभावके कारण केवल परमहंसके आचारधर्म ही दिये जाते हैं।

परमहंस वृक्षमूल, शून्यालय या श्मशानमें रहनेवाले वस्त्रसहित या दिगंबर (वस्त्ररहित)होते हैं। उनमें धर्म या अधर्म, सत्य-अनृत, शुद्धि-अशुद्धिका अभाव रहता है। वे सभी मानवमात्रके प्रति समभाव रखकर समलोष्टाश्म-काञ्चन होकर सभी वर्णोंसे भिक्षा ग्रहण करते हैं। उक्त आश्रम-स्वीकृति फलप्राप्तिकी दृष्टिसे दो प्रकारकी होती है—(१) सकाम (२) निष्काम। उनमें निष्कामके दो भेद हैं—(अ) प्रवृत्ति (आ) निवृत्ति उक्त निवृत्तिके योगी आचारभेदसे तीन प्रकारके होते हैं—(१) सारङ्ग (२) एकार्य्य और (३) विसरग (—वही ८ । ९ । २—१०)। (१) सारङ्गके भी चार विभाग हैं—१—अनिरोधक, २—निरोधक, ३—मार्गग और ४—विमार्गग। अनिरोधक संन्यासियोंको प्राणायामादि करनेकी आवश्यकता नहीं है। ये **अहं विष्णुः** (मैं ही विष्णु हूँ)का ध्यान करते हुए विचरते हैं। निरोधक संन्यासी प्राणायाम-प्रत्याहार आदि षोडशकल अष्टविध साधनोंकी (उपासना-भेद)की साधना करते हैं। मार्गग संन्यासी प्राणायामादि छः साधनोंका अनुष्ठान करते हैं और विमार्गग संन्यासीको यम, नियम, आसन, प्राणायामादि अष्टाङ्गयोग साधना करना होता है।

एकार्य्यके भी पाँच भेद होते हैं—१—दूरग २—अदूरग ३—भ्रूमध्यग ४—असम्भक्त और ५—सम्भक्त। इनमें दूरग योगमार्गसे साधना करके क्रमशः वैकुण्ठ प्राप्त करते हैं। अदूरग आत्माको (क्षेत्रज्ञको) परमात्मामें क्षेत्रज्ञ द्वारसे लीन करके समस्त विश्वके लयका ध्यान करता है। भ्रूमध्य आत्माको परमात्मामें लीन करके सत्त्व-रूप अग्निद्वार (सुषुम्नाद्वार)से भ्रूमध्यमें प्राणका आकर्षण करके पिङ्गलाद्वारा निष्क्रमण करते रहते हैं। असम्भक्त—ये मनसे परमात्माका ध्यान करते-करते, परमात्माके दर्शन-श्रवण आदिका अनुभव करते हैं। और सम्भक्त—ये सर्वव्यापक परमात्माको आकाशवत् चेतनाचेतन रूपसे अन्तर्बहि-स्वरूपमें ध्यान करते हैं।

विसरग—विविध सरण अर्थात् दर्शनसे कुपथ गमनसे वे विसरग कहलाते हैं। (प्रश्न० ८ खं० ११—२१, २२ सूत्रोंमें इसके भेद हैं।)

वैखानस स्मृति-सूचक नवम प्रश्नमें सदाचारकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है—**'धर्म्यं सदाचारम्'** (९ । ९ । १) सदाचार धर्मसे सम्बन्धित रहता है। धर्ममें वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रम-धर्म, गुणधर्म, निमित्त-धर्म, साधारण-धर्म नामके छः प्रकार पाये जाते हैं। सदाचाररूपमें निरूपित अंशोंमें प्रधानतया शारीरिक शौच-निरूपणके रूपमें पाया जाता है। इस शारीरिक शौच-प्राधान्यताका कारण यह हो सकता है कि भगवदालय-रूप देहको सदा पवित्र रखना आवश्यक है। उक्त सदाचाररूपी वर्णाश्रमधर्मके शौच, अनुष्ठान प्रधान रूपमें पाये जाते हैं। १—शौच—दक्षिण-कर्णपर यज्ञोपवीत धारण करके दिनमें उत्तराभिमुख हो, रातमें दक्षिणाभिमुख हो तृणान्तरित स्थलमें मूत्र-पुरीषका विसर्जन करे। उस समय गो, विप्र, जल, अग्नि, वायु, सूर्य, नक्षत्र, चन्द्रमाको न देखे। मिट्टी

* हसति—गच्छति—इति हंसः।

तथा जलसे अङ्गोंकी अच्छी तरह शुद्धि कर ले। बादमें मुख-शुद्धि करके सूत्रोक्त रीतिसे स्नान करके, तर्पण, ब्रह्मयज्ञ, सायं-प्रात: कालोंमें संध्योपासना—समिधाधान करते हुए गुरुशुश्रूषा करना, ये ब्रह्मचारीके धर्म हैं। गृह्यसूत्र एवं स्मृतिके अनुसार गृहस्थको नित्यकर्म करते हुए सदाचारका पालन करना चाहिये—

गृहस्थोऽपि स्नानादिनियमाचारो नित्यमौपासनं कृत्वा पाकयज्ञयाजी वैश्वदेवहोमान्ते गृहागत-गुरुस्नातकश्च प्रत्युत्थायाभिवन्द्य आसनपाद्या-चमनानि प्रदाय मधुना तोयेन वा घृतदधिक्षीरमिश्रितं मधुपर्कं दत्त्वा अन्नाद्यैर्यथाशक्ति भोजयति ॥

(वै० सू० प्र०-९ख०-४)

उक्त अंशोंमें नित्य होमके पश्चात् भगवान् विष्णुकी नित्यार्चा, अपने गृह या देवालयमें भक्तिसे करनेसे समस्त देवताओंकी अर्चा होती है—**अथाग्नौ नित्यहोमान्ते विष्णोर्नित्यार्चा सर्वदेवार्चा करोति ॥ गृहे परमं विष्णुं प्रतिष्ठाप्य सायं प्रातर्होमान्तेऽर्चयति ।'**

(वै० से०-४ । १० । ३)

उक्त 'परम विष्णुप्रतिष्ठान' अंशको ही अलग कर विखनसोक्त सार्धकोटिग्रन्थका संग्रह चार लाख श्लोकोंमें उनके शिष्य मरीच्यादिने निर्माण किया था जिनके सारभूत ये 'कल्पसूत्रग्रन्थ' हैं।

भारतीय संस्कृति और सदाचार

(लेखक—पं० श्रीअरुणकुमारजी शर्मा, एम्० ए०)

भारतीय संस्कृतिका लक्ष्य है—मानवकी आध्यात्मिक उन्नति। सत्कर्म ही आत्मा और मनको पवित्र तथा निर्मल बनानेके मुख्य साधन हैं। जन्म-मरणका बन्धन ही जीवात्माको मुक्ति या परमानन्द प्राप्त करनेके लिये प्रेरित करता है। अनन्त और अक्षय सुख एकमात्र मोक्षमें ही है। सचेष्ट होकर प्रत्येक जीवात्मा इसे प्राप्त कर सकता है*। जीवनमुक्त महापुरुष जीवनमें ही शाश्वत शान्ति और मोक्षका परमानन्द प्राप्त करते हैं। भारतके ऋषियोंने शारीरिक, मानसिक तथा आत्मोन्नतिको ही इस उद्देश्यकी पूर्तिका साधन बतलाया है। युगादिमें ही शारीरिक शक्तिके विकासके लिये ऐसा नियम और इस प्रकारका जीवन बनाया गया था, जिसमें मानसिक और आत्मविकासमें भी बाधा न पड़े। शरीरके विभिन्न अङ्गोंको पुष्ट करनेके लिये व्यायाम, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान आदिका विधान किया गया है। ये साधन शारीरिक उन्नतिके साथ-साथ चञ्चल चित्त-वृत्तियोंका निरोधकर मनुष्यको एकाग्र बनाते और आत्मोन्नतिमें सहायता प्रदान करते हैं। प्राणायामसे शारीरिक, मानसिक शक्तिके विकासमें सहायता मिलती है। ब्रह्मचर्यसे जीवनीशक्तिकी वृद्धि होती है तथा वह आगे क्रमसे आत्मप्राप्तितक सहायक होता है।

भारतीय ऋषियोंने यह दिव्य ज्ञान प्राप्त किया कि सत्य और ऋत—(जीवनकी सुव्यवस्था)के आधारपर ही यह सृष्टि स्थित है। ये दोनों विश्वके मूल कारण हैं। तभीसे सत्याचरणका भाव इस विश्वके वातावरणमें फैल गया है। भारतीय संस्कृतिने चरित्रबलको धर्मकी कसौटी माना है। इस कसौटीपर जो सफल हुआ, उसे भारत आदर और गौरवकी दृष्टिसे देखता आया है, भले ही उसकी विचारधारा सर्वमान्य और सर्वप्रिय न हो। इससे यह भी स्पष्ट है कि भारतमें अनादिकालसे धार्मिक स्वतन्त्रता रही है। मनुष्यके आदर और प्रतिष्ठाका मापदण्ड ईश्वरकी भक्ति और वेदादि सद्ग्रन्थोंका अनुशीलन न होकर ऋत—चरित्रपर रहा है, जो भारतीय संस्कृतिकी दूसरी विशेषता है।

* वेद-पुराणोंके अनुसार क्रममुक्तिका सिद्धान्त भी है, जिसके अनुसार मोक्ष अत्यन्त दुर्लभ कहा गया है।

'सर्वजनसुखाय'की भावना भारतमें आदि कालसे प्रबल रही है। भारतीय संस्कृतिकी इस आधार-शिलारूप भावनापर भारतीय जीवन और भव्य भवन अडिग और अचल खड़ा हुआ है। इस उदार, उदात्त और सर्वोच्च अभिलाषाके कारण ही आर्य-संस्कृतिकी मौलिक महत्ता है। आर्यपुरुषोंकी अभिलाषा केवल अपनेको ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण विश्वको सुखी और शान्त बनानेमें पूरी होती है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

सर्वजनसुखायकी सद्भावना तो चरम सीमापर तब पहुँच जाती है, जब ऋषि दधीचि-जैसे महान् तपस्वी जनकल्याणके लिये अपने जीवनका विसर्जन सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। दधीचिने यह कहकर अपना शरीर जनकल्याणके लिये अर्पित किया कि जब एक दिन यह स्वयं ही मुझे छोड़नेवाला है, तब इसको पाल-कर क्या करना है। जो मनुष्य इस विनाशी शरीरसे दुःखी प्राणियोंपर दया करके मुख्य धर्म और लौकिक यशका सम्पादन नहीं करता, वह जड़ पेड़-पौधोंसे भी गया-बीता है। बड़े-बड़े ऋषियों, महात्माओंने इस अविनाशी धर्मका पालन किया है और उसकी उपासना की है। इसका स्वरूप बस इतना ही है कि मनुष्य किसी प्राणी-के दुःखमें दुःखका और सुखमें सुखका अनुभव करे।

स्वयं मुक्त होकर यदि और किसीको मुक्त न कर सके तो अपनी मुक्तिकी सार्थकता कहाँ? वस्तुतः यदि आत्मा एक ही सत्य है तो क्या यह सत्य नहीं है कि जबतक अन्य दूसरे जीव पूर्णत्व लाभ नहीं कर लें, तब-तक वास्तवमें किसी भी आत्माका पूर्णत्व लाभ नहीं हो सकता। भारतके सभी महापुरुष इसकी घोषणा कर गये हैं कि समस्त विश्वका कल्याण हो और आत्म-कल्याणके लिये मानवजाति सचेष्ट हो। विश्वकल्याण और आत्मकल्याण—दोनों एक और अभिन्न हैं। इस प्रकार प्रज्ञावान्, पूर्णकाम मानवके सम्मुख उसकी तपस्या और निष्ठापर मुग्ध होकर जब स्वर्गाधिपति वरदान देनेके लिये आये तो महामानव राजा रन्तिदेवके मुखसे सहसा निकला—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्॥
कश्चास्य स्यादुपायोऽत्र येनाहं दुःखितात्मनाम्।
अन्तःप्रविश्य भूतानां भवेयं दुःखभाक्सदा॥

इस प्रकार मानव-कल्याणकी कामनाके सामने आये हुए ऐश्वर्य तथा मुक्तिको भी ठुकराना भारतीय संस्कृतिके लिये ही सम्भव था। यह है इसकी सर्वश्रेष्ठ विशेषता। और अपनी इन समस्त विशेषताओंके आधारपर प्राणी-मात्रको वह पुरुषसे पुरुषोत्तम तथा नरसे नरोत्तम बननेके लिये धर्म, अर्थ, काम, मोक्षके अनुसार प्रेरित करती है। इन चारों पुरुषार्थोंका समन्वय और साधन कर्मसे होता है। कर्मके माध्यमसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्षकी साधना ही पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ आवश्यक है, क्योंकि मानव-जीवनका उद्देश्य केवल पुरुष ही बने रहना नहीं है। मानव-जीवनका उद्देश्य है—मानवी स्तरसे मानवीयताकी ओर अग्रसर होना। इसका तात्पर्य है—पुरुषसे पुरुषोत्तम और नरसे नरोत्तम होना। इस साधनामें व्यक्ति और समाज दोनोंका समन्वय आवश्यक है; क्योंकि पुरुषसे पुरुषोत्तम बननेकी प्रक्रियामें व्यक्ति और समाज एक दूसरेके पूरक हैं। व्यक्तिसे समाजकी साधना होती है और समाजसे व्यक्तिकी; बशर्ते दोनोंके सम्बन्धोंका प्रणयन धर्मसे हो। समाजके रंग-मञ्चपर व्यक्तिका जीवन एक संक्रमण प्रक्रिया है। इस प्रक्रियाकी कुछ आधारभूत अवस्थाएँ (आश्रय) हैं, जिनका साधन पुरुषार्थके लिये आवश्यक है; क्योंकि ये अवस्थाएँ मानवकी शरीरी तथा स्वाभाविक अभिरुचियोंका एक सहज परिणाम है। अतः व्यक्ति अपने गुण तथा कर्मोंके कारण ही समाज

तथा धर्मसे बँधता है और इसी कारण पुरुषार्थकी साधनाका तात्पर्य है गुण-कर्मके अनुसार समाजमें धर्मप्रणीत वैयक्तिक जीवनको अपनानेका प्रयास करना।

इस प्रयासका समयानुसार विकास वेदों, संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, सूत्रों, स्मृतियों, महाकाव्यों, नीतिशास्त्रों तथा पुराणों और नाटक, काव्य तथा जनसाहित्यमें हुआ है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति तथा जीवनके प्रति हिंदू दृष्टिकोण कुछ धारणाओंमें निहित हैं। ये धारणाएँ हैं, चारों पुरुषार्थ, कर्म-सिद्धान्त और वर्णाश्रम-व्यवस्था। इन्हीं धारणाओं-ने हिंदू-समाज तथा संस्कृतिको उसकी विशेषताएँ प्रदान की हैं। ये धारणाएँ किसी भी रूपमें निरपेक्ष नहीं हैं, सापेक्ष हैं—व्यक्तिकी मानसिक तथा सामाजिक आवश्यकताओंके अनुसार देश-कालकी परिस्थितियोंसे। युग-युगकी आवश्यकताओंके अनुसार इन धारणाओंके संवर्धन और प्रतिपादनमें ही हिंदुत्व-का विकास निहित है। यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है कि भारतीय संस्कृतिकी मूल भित्ति सनातन-धर्म है। वेदोंमें बीजरूपमें, धर्मशास्त्रमें पल्लवित, प्रस्फुटित और पुराणादिमें पुष्पित और फलितरूपमें इस धर्मका ही दिव्य दर्शन होता है। यही कारण है कि भारतके कण-कणमें सनातनधर्मका भव्य भाव भरा हुआ है। सनातनधर्म भारतीय संस्कृतिकी पुरस्कृति है।

रामराज्य और सदाचार

(लेखक—श्रीशंकरदयालजी मिश्र, एम्० काम०, विद्यावाचस्पति)

मानव-जीवन सेवा-त्याग और प्रेमका प्रतीक है। इसीलिये मनुष्यके जीवनमें केवल दूसरोंकी सेवा या परोपकारको ही सबसे श्रेष्ठ माना गया है। मानव-दर्शन-का केन्द्र-बिन्दु परहित है—**परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥** (मानस ७। ४०। १) परसेवा या परहितके लिये मनुष्यमें कल्याणकारी विचार होने चाहिये। कल्याणकारी विचारोंसे तात्पर्य मानवद्वारा असद्‌विचारोंका त्याग और सद्‌विचारोंको ग्रहण करना है। विचारके अनुरूप मानवमें आचरणकी प्रक्रियाका प्रस्फुटन होता है। सदाचारी जीवनके लिये मनुष्यमें सद्‌विचारोंका होना अनिवार्य है। सदाचारसे रहित मनुष्यको सही अर्थोंमें मानवकी संज्ञा नहीं दी जा सकती। मानव-जीवनकी सफलता सदाचारपर ही अवलम्बित है। सदाचारी जीवन सभीको अभीष्ट है। इसकी आवश्यकता हमें अपने कल्याणके साथ-साथ समाजके कल्याणके लिये भी अपेक्षित है। दुराचारी व्यक्तिकी किसीको कभी भी आवश्यकता नहीं होती। परंतु सदाचारी मानवकी समाजको सदैव आवश्यकता रहती है। सदाचारी समाजमें पूजा जाता है।

मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् रामने अयोध्यामें अपने शासनके समय सदाचारके सर्वोच्च आदर्शों, मर्यादाओं तथा कीर्तिमानोंका पालन, चिन्तन तथा स्थापन करके समस्त विश्वको सदाचारका ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया है, जो अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होता। आदर्शोंकी स्थापना तथा पालन श्रीराघव पहले स्वतः करते हैं और आदर्शोंके अनुशीलन तथा परिपालनका उपदेश वे बादमें देते हैं। सदाचारी जीवनमें अनीति-भयका कोई स्थान नहीं होता है। भगवान् राघवेन्द्रने स्वतः पुरवासियोंसे कहा है—

जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥

(मानस ७। ४२। ६)

श्रीराम स्वयं शिष्टाचारका अद्‌भुत आदर्श सदैव प्रस्तुत करते हैं। गुरुजन तथा मुनिजनका उन्होंने

नमन, पूजन तथा वन्दन किया है। भगवान् राम स्वयं अपना पीताम्बर बड़ोंके सम्मानमें आगन्तुक मुनियोंके बैठनेके लिये तुरंत प्रदान करते हैं—

देखि राम मुनि आवत हरषि दंडवत कीन्ह।
स्वागत पूँछि पीतपट प्रभु बैठन कहँ दीन्ह॥

(मानस ७ । ३२)

सदाचारका तात्पर्य जहाँ एक ओर पर-सेवा या परोपकार प्रतिफलित है, वहीं दूसरी ओर रामराज्यमें नगरके स्त्री-पुरुष भगवान्‌की भक्तिमें भी रत हैं। कृपानिधान श्रीराघवेन्द्र सबपर सदैव सानुकूल भी रहते हैं, यह भी सदाचारकी एक पहचान उनकी भक्ति-चर्चामें भी चरितार्थ है—

जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं। बैठि परसपर इहइ सिखावहिं॥
भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहि। सोभा सील रूप गुन धामहि॥

(मानस ७ । २९ । १-२)

रामराज्यमें विरक्त, ज्ञानपरायण, मुनि और संन्यासी सभी अपने नित्यकर्ममें तत्पर रहते हैं। कर्तव्यपरायणताका आविर्भाव ही सदाचारका वास्तविक तात्पर्य है। रामराज्यमें सभी लोग अपने कर्तव्यपथपर चलते हैं। सदाचारका इससे सुन्दर आदर्शयुक्त उदाहरण और क्या हो सकता है। सदाचारके फलस्वरूप अवधपुरीके लोगोंको जो उपलब्ध है, उस भौतिक निधिका वर्णन हजारों शेष भी नहीं कर सकते—

अवधपुरी बासिन्ह कर सुख संपदा समाज।
सहस सेष नहिं कहि सकहिं जहँ नृप राम बिराज॥

(मानस ७ । २६)

रामराज्यके समय सदाचारका महत्त्वपूर्ण एवं ज्वलन्त प्रमाण प्रत्येक घरमें पुराणोंका पाठ है। भगवान् रामके पावन चरित्रकी कथा अनेक विधिसे सभी स्त्री एवं पुरुषोंद्वारा होती है। लोग राघवेन्द्र श्रीरामके प्रति ऐसा दिव्य अनुराग रखते हैं कि दिन-रातका उन्हें भान ही नहीं हो पाता। रामके चरणोंमें लोगोंकी अनवरत भक्ति सदाचारके प्रति निष्ठाका ही द्योतक है—

सब कें गृह गृह होहिं पुराना। राम चरित पावन बिधि नाना॥
नर अरु नारि राम गुन गानहिं। करहिं दिवस निसि जात न जानहिं॥

(मानस ७ । २५ । ७-८)

रामराज्यमें सदाचारकी जो अनुपम तथा दिव्य झाँकी दृष्टिगोचर होती है, उसकी छटा बड़ी लुभावनी है। रामराज्यका प्रत्येक व्यक्ति—स्त्री, पुरुष, बालक, कर्मचारी, गुरु, मुनि आदि सब अपने-अपने धर्माचरणमें रत रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्तव्योंका स्वतः पालन करता दिखायी देता है। जो जिस योग्य है तथा जिसका जहाँ जो दायित्व है, वह उसका पूरा निर्वाह करता है।

गुरु वसिष्ठजी नित्य सत्सङ्ग करते हैं तथा वेद-पुराणकी कथाएँ सज्जनों तथा द्विजोंको सुनाते हैं। सभी भाई राघवेन्द्रकी सेवा करते हैं तथा अनुशासन मानते हैं। भगवान् राम उन्हें अनेक प्रकारसे नीति सिखाते हैं। अनेक निपुण दास-दासियोंके होनेके उपरान्त भी मा सीताजी भी अपने हाथोंसे ही गृह-कार्य करती हैं। सदाचारका इससे अनूठा उदाहरण अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। जगदम्बा जनकतनया केवल गृहकार्य ही नहीं करतीं, वरन् मर्यादा-पुरुषोत्तमकी आज्ञाका सदा अनुसरण एवं सेवा भी करती हैं—

जद्यपि गृहँ सेवक सेवकिनी। बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी॥
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई॥

(मानस ७ । २३ । ५-६)

सदाचरणका परिणाम रामराज्यमें अपार सुख-समृद्धिके रूपमें स्पष्ट परिलक्षित होता है। समाजमें कोई दुःखी नहीं है, कोई दरिद्र नहीं है, किसीको कोई कष्ट नहीं है तथा सब लोग स्वधर्म-पालन करते हैं और आपसमें सब प्रेमसे परिपूरित हैं। सदाचारसे युक्त नगरवासी धर्मके चारों चरणों—सत्य, शौच, दया तथा दानमें रत हैं। कोई स्वप्नमें भी दुराचरण नहीं करता, निरभिमानतासे युक्त सभी अपने धर्ममें संलग्न हैं।

सब नर करहिं परस्पर प्रीती । चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती ॥
राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी ॥
सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी ॥

(मानस ७ । २० । २, ४, ७)

रामराज्यमें सभी उदार, सच्चरित्र, जितेन्द्रिय, निश्छल, अभिमानरहित तथा परोपकारी हैं । पुरुषवर्ग एकपत्नी-व्रती है। इस प्रकार सभी स्त्रियाँ मन, वाणी, कर्मसे पति-का हित करती हैं । रामराज्यमें किसीका कोई शत्रु नहीं है । सभी एक दूसरेके मित्र हैं । जहाँ मित्र ही होते हैं, वहाँ शत्रुको परास्त करनेके उपाय साम, दाम, दण्ड तथा भेदका कहीं प्रयोग होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। वहाँ तो सभी उदार, परोपकारी और विप्रपूजक हैं—

सब उदार सब पर उपकारी। बिप्र चरन सेवक नर नारी ॥
एक नारि ब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी ॥

(मानस ७ । २१ । ४)

सदाचारका तात्त्विक अर्थ यही होता है कि जो व्यक्ति जिस वर्ण तथा आश्रमका है, वह उसके अनुकूल आचरण करे । भगवान् राघवेन्द्रके राज्यकी यह विलक्षण विशेषता है और दिव्य आदर्श है कि सब लोग मर्यादित हैं और शास्त्रोंके अनुसार अपने नित्यकर्मका सदा पालन करते हैं, सभी सुखी हैं, रोग-शोकका कहीं नाम नहीं है—

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग ।
चलहिं सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग ॥

(मानस ७ । २०)

राम-राज्यमें सदाचारकी महिमाका ही प्रत्यक्ष प्रमाण है कि सब मानव-शरीरके महत्त्वको समझते हैं और मानव-जीवनके परम लक्ष्य मोक्षके स्वतः अधिकारी होते हैं । सदाचारी सदैव दूसरोंकी सेवामें ही रत रहता है। मानवीय षट् विकारों—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सरका त्याग करनेपर ही जीवनमें सदाचारका प्रवेश हो पाता है । इन विकारोंसे मुक्त मानव प्रभुके प्रेमके अनिर्वचनीय आनन्दका रसास्वादन करता है । सदाचार व्यक्तिको भोगसे हटाकर योगकी ओर ले जाता है । परंतु इस सबके लिये मानवका विवेकी होना परम आवश्यक है । विवेकके प्रकाशमें हम दोषरहित होकर सदाचारी हो सकते हैं । भगवान् रामके राज्यमें यही विशेषता थी कि प्रत्येक मानव स्त्री तथा पुरुष विवेकका आदर करता था । सदाचारका उद्भावक मूलतः विवेक ही है ।

वाणीका सदाचार

नारुंतुदः स्यान्न नृशंसवादी न हीनतः परमभ्याददीत ।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत न तां वदेद् रुशतीं पापलोक्याम् ॥
वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि ।
परस्य वा मर्मसु ये पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥

(महाभारत, अनुशा० ४ । ३१-३२)

'दूसरोंके मर्मपर आघात न करे, क्रूरतापूर्ण बात न बोले तथा औरोंको नीचा न दिखाये । जिसके कहनेसे दूसरोंको उद्वेग होता हो, ऐसी रुखाईसे भरी हुई बात पापियोंके लोकोंमें ले जानेवाली होती है; अतः वैसी बात कभी न बोले । जिन वचन-रूपी बाणोंके मुँहसे निकलनेसे आहत होकर मनुष्य रात-दिन शोकमें पड़ा रहता है और जो दूसरोंके मर्मस्थानोंपर घातक चोट करते हैं, ऐसे वचनबाण सद्-असद्-विवेक-शील, विद्वान् पुरुष दूसरोंके प्रति कभी न छोड़े ।'

मानसमें श्रीरामका सदाचार

(लेखक—मानसरत्न डॉ० श्रीनाथजी मिश्र)

श्रीरामचरितमानसमें श्रीराम अपने आचरणके माध्यमसे ही संसारके लोगोंको उपदेश प्रदान करते हैं। मौखिक उपदेश श्रीरामने अपेक्षाकृत कम ही दिये हैं। वाल्मीकि-रामायणमें भी प्रभुने कहीं परामर्श भले दिये हों, पर उपदेश तो प्रायः नहीं किया है। श्रीमद्भागवतमें शुकदेवजी भी श्रीरामके अवतारके सम्बन्धमें बड़े सद्भावसे कहते हैं—

मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं
रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।
(५ । १९ । ५)

'मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका मानुष-अवतार आचारद्वारा मनुष्योंको शिक्षा प्रदान करनेके लिये हुआ था, केवल रावणवधके लिये नहीं।' किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, इसको प्रभुने अपने आचरणद्वारा दिखला दिया है। इसीसे हम कहा करते हैं कि पुत्र हो तो रामचन्द्र-जैसा, भाई हो तो रामचन्द्र-जैसा, शिष्य हो तो रामचन्द्र-जैसा, राजा हो तो रामचन्द्र-जैसा, मित्र हो तो रामचन्द्र-जैसा और शत्रु भी हो तो श्रीरामचन्द्र-जैसा। किसके साथ कैसा व्यवहार होना चाहिये, इसका निर्वाह श्रीरामने बड़े ही आदर्श ढंगसे किया है। गोस्वामीजीने इसका स्पष्टीकरण मानसमें सुन्दर ढंगसे स्थान-स्थानपर किया है। (१) पुत्रका उदाहरण लीजिये, महाराज दशरथने स्वयं अपने मुखसे कहा था—

राउ सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयउ न हरषु हराँसू॥
सो सुत बिछुरत गए न प्राना। को पापी बड़ मोहि समाना॥
(मानस २ । १४९ । ४)

माता कौसल्याने भी श्रीभरतजीसे कहा था—

पितु आयस भूषन बसन तात तजे रघुबीर।
बिसमउ हरषु न हृदयँ कछु पहिरे बलकल चीर॥
मुख प्रसन्न मन रंग न रोषू। सब कर सब बिधि करि परितोषू॥
(मानस २ । १६५)

प्रभु तो लोगोंके पूछनेपर यह उत्तर देते हैं कि—**'पिताँ दीन्ह मोहि कानन राजू'** (मानस २ । ५२ । ३) और अपनेको श्रीराम राजा ही मानते हैं। वाल्मीकिजीसे अपने लिये रहनेका स्थान पूछते हुए प्रभुने कहा था—

अब जहँ राउर आयसु होई। मुनि उदबेगु न पावै कोई॥
मुनि तापस जिन्ह तें दुख लहहीं। ते नरेस बिनु पावक दहहीं॥
मंगल मूल बिप्र परितोषू। दहइ कोटि कुल भूसुर रोषू॥
अस जियँ जानि कहिअ सोइ ठाऊँ। सिय सौमित्रि सहित जहँ जाऊँ
(मानस २ । १२५ । १½–२½)

शास्त्रोंमें कहीं माताको पितासे हजार गुना और कहीं दसगुना अधिक महत्त्व दिया गया है—

'सहस्रं तु पितॄन्माता गौरवेणातिरिच्यते।'
(मनुस्मृति २ । १४५)

वसिष्ठस्मृति (१३ । १७)के अनुसार पितासे दशगुणा सम्मान माका (और अपनी मासे दशगुणा सम्मान सौतेली माका) है। यह आदर्श श्रीरामके जीवनमें देखनेको मिलता है। प्रभुने मा कैकेयीका जो सम्मान किया है, उसका उदाहरण विश्वके इतिहासमें कहीं देखनेको नहीं मिल सकता। गोस्वामीजीने लिखा है—**'मानी राम अधिक जननीते जननिहु गँस न गही'** (गीतावली ७ । ३७ । २)। मानसमें आप श्रीरामका व्यवहार श्रीकैकेयीजीके साथ देखें। वनगमनके समय जब श्रीराम कैकेयीजीके पास जाते हैं तो महाराजकी व्याकुलता देखकर आप मा कैकेयीसे पूछ बैठते हैं—

मोहि कहु मातु तात दुख कारन। करिअ जतन जेहिं होइ निवारन॥

इसपर कैकेयीजीने अपनी कठोरताका वर्णन कर सुनाया। इसके उत्तरमें प्रभुने जो कहा, वह अद्भुत है—

सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी। जो पितु मातु बचन अनुरागी॥
तनय मातु पितु तोषनिहारा। दुर्लभ जननि सकल संसारा॥
(रामच० मा० २ । ४० । ४)

'तोषनिहारा' शब्द बड़ा ही मार्मिक है, आपके कहनेका अभिप्राय यह कि संसारमें ऐसे पुत्र

तो बहुत होंगे, जो माता-पिताका पालन-पोषण कर दें, परंतु ऐसे पुत्र कम होंगे, जो माता-पिताको संतुष्ट कर दें। प्रभुने कहा कि मा! तूने जो मेरे लिये वनवास माँगा, इसमें तो हमारा लाभ-ही-लाभ है। उन्होंने अपने वनगमनमें कैकेयीजीके समक्ष चार लाभ बतलाये। यथा—

१–मुनिगन मिलनु बिसेषि बन सबहि भाँति हित मोर।
२–तेहि महँ पितु आयसु बहुरि, ३–संमत जननी तोर।

(मानस २। ४१) (और चौथा यह कि—)

४–भरतु प्रान प्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥

इस प्रसङ्गमें भोजराजका एक बहुत ही सुन्दर श्लोक हमारे ध्यानमें आता है, हम उसको भी उद्धृत कर रहे हैं, श्रीराम कैकेयीसे कहते हैं—

वनभुवि तनुमात्रत्राणमाज्ञापितं मे
सकलभुवनभारः स्थापितो वत्समूर्ध्नि।
तदिह सुकरतायामावयोस्तर्कितायां
मयि पतति गरीयानम्ब ते पक्षपातः॥

(चम्पूरामायण २। २५)

अर्थात् 'मा! तूने वत्स भरतके लिये सारी पृथ्वीका राज्य माँगकर उनके सिरपर इतना बड़ा बोझ डाल दिया और मेरे लिये केवल वनकी रक्षाका भार दे कार्य सुगम कर दिया। इससे ज्ञात होता है कि आज भी तूने हमारे साथ पक्षपात ही किया है।' इस प्रकार विमाताके साथ कैसा भाव होना चाहिये, यह प्रभुने अपने आचरणके द्वारा संसारके सामने रखा। (२) भाई—इसी प्रकार श्रीरामने भ्रातृत्वका भी अनूठा आदर्श संसारके सामने रखा। श्रीराम और भरतका भ्रातृत्व संसारके भाइयोंके लिये उच्चकोटिका पथ-प्रदर्शक बन गया। श्रीरामने इसे वाल्मीकिजीसे भी कहा था—

तात बचन पुनि मातु हित भाइ भरत अस राउ।
मो कहुँ दरस तुम्हार प्रभु सबु मम पुन्य प्रभाउ॥

(मानस २। १२५)

रामने अपने छोटे भाईके लिये (एवं भरतने उनके लिये) कितना बड़ा त्याग किया, पर आज हमारे भाई रामायणका पाठ करते हैं और साधारण-से-साधारण वस्तुके लिये भाईसे संघर्ष भी करते हैं।

अवध राजु सुर राजु सिहाहीं। दसरथ धन सुनि धनद लजाहीं॥

जिसको श्रीराम भाईके लिये वैसे ही छोड़ देते हैं जैसे बटोही मार्गके स्थानको छोड़ देते हैं—**'राजिवलोचन राम चले तजि बापको राजु बटाऊ की नाईं'** (कवितावली २। २)। यह भ्रातृत्व अनुपम आदर्श है।

(३) शिष्य—शिष्य कैसा होना चाहिये, इसको भी प्रभुने अपने आचरणद्वारा दिखला दिया है। विश्वामित्रजीके साथ जिस समय राम और लक्ष्मण जनकपुरमें पहुँचते हैं और रात्रिमें जब विश्वामित्रजी विश्राम करने जाते हैं, तो—

मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई। लगे चरन चापन दोउ भाई॥
जिन्ह के चरन सरोरुह लागी। करत बिबिध जप जोग बिरागी॥
तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥

(मानस १। २२५। २-३)

गुरु-शिष्यका परस्परका यह व्यवहार बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, जिसका आज समाजमें विकृतरूप होता जा रहा है।

(४) राजा—राजा कैसा होना चाहिये इसे भी उन्होंने अपने चरित्रके माध्यमसे दिखलाया है। राजा जितना त्यागी होगा, उतना ही प्रजाके ऊपर अपने आदर्शका प्रभाव डाल सकेगा। राजा श्रीरामने प्रजाके लिये अपने सर्वस्वका बलिदान किया। यहाँतक कि अपनी प्राणवल्लभा (धर्मपत्नी) वैदेहीका भी परित्याग कर दिया। यही कारण है कि आज भी लोग चाहते हैं कि रामराज्य हो जाय।

(५) इसी प्रकार मित्र-धर्मका निर्वाह उनके जीवनमें बहुत ही सुन्दर देखनेको मिलता है। गोस्वामीजीने 'विनयपत्रिका' (१६६।७)में लिखा कि **'हत्यो बालि सहि गारी'** **'अजहू सुहात न काउ'**—वालीका वध आजतक भी कितने लोगोंको अच्छा नहीं लगता। गोस्वामीजीसे लोगोंने पूछा कि वाली-वधका प्रसङ्ग आपको कैसा लगता है? गोस्वामीजीने उत्तर दिया कि जब अपने आश्रित सुग्रीवकी रक्षाके लिये श्रीराम कलङ्कतक लेनेको तैयार हो गये तो हमारे लिये भी ले सकते हैं—

होंहु कहावत सबु कहत राम सहत उपहास ।
साहिब सीतानाथ सो सेवक तुलसीदास ॥
(मानस १ । २८ ख)

मित्रधर्मका जो प्राण है और प्रभुने जिसका वर्णन भी किया है कि—'गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा', उसे अपने मित्र सुग्रीवके साथ उन्होंने आचरण करके दिखला दिया । इसी प्रकार शत्रुके साथ कैसा व्यवहार किया जाना चाहिये, इसे भी श्रीरामने अपने आचरणके द्वारा दिखलाया । प्रभुने शत्रुके साथ उदारताका अद्भुत परिचय दिया है । अङ्गदजीको रावणके पास भेजते समय श्रीरामने कहा—

काजु हमार तासु हित होई । रिपु सन करेहु बतकही सोई ॥
(मानस ६ । १६ । ४)

श्रीभरतजी प्रमाण-वचन कहते हैं—'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा ।' यहाँ संक्षेपमें हमने मानसकी पृष्ठभूमिपर देख लिया कि श्रीरामके आचरण आदर्श सदाचार हैं और यदि किसीने उनके आदर्श आचरणके किसी एक पक्षको जीवनमें उतार लिया तो उसका जीवन धन्य हो सकता है । लोक-शिक्षण और लोक-कल्याणके लिये श्रीरामके आचरणका यही आदर्श लक्ष्य है ।

सदाचार-यज्ञ

(लेखक—पण्डित श्रीलक्ष्मणजी शास्त्री)

उपनिषदों एवं ब्राह्मण-ग्रन्थोंके अनुसार सनातन-धर्मका विशाल भवन यज्ञकी ही सुदृढ़ नींवपर खड़ा है । श्रद्धापूर्वक किये गये दान-पुण्य, तप, श्रम, स्वावलम्बन, हवन-पूजन, मैत्री-सहयोग और परोपकार—ये सभी यज्ञके अन्तर्गत हैं । यों तो यह समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड ही यज्ञमय है और इसमें श्वासकी प्रश्वासमें, रात्रिकी दिनमें, अग्निकी सोममें और सोमकी अग्निमें नित्य आहुति होती रहती है । जाबालोपनिषद्ब्राह्मण (२) में आता है कि 'पृथिवी-पिण्डसे निकलकर एक अमृताग्नि निरन्तर ऊपरकी ओर गतिमान् होती रहती है, जो सूर्यमण्डलसे भी ऊँचे पहुँचकर सोमरूपमें बदलकर फिर वापस लौट पड़ती है और नीचे पृथ्वी-पिण्डमें समाकर पुनः अग्निरूप हो जाती है । इस प्रकार निरन्तर एककी दूसरेमें आहुति पड़ती रहती है ।' इसीसे सृष्टि चलती है और इसीलिये वेदोंमें यज्ञको सृष्टिका उत्पत्ति-स्थान कहा गया है—**'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः'** (ऋक्० १ । १६४ । ३५) । यह यज्ञ अध्यात्मके साथ व्यवहारका, परलोकके साथ इहलोकका और समृद्धिके साथ त्यागका सामञ्जस्य स्थापित करता है । यह हमें स्वस्थ, शिष्ट, सदाचारी एवं सुसंस्कृत जीवन-यापनका शुभ संदेश प्रदान करता है । यज्ञ ब्रह्मा, विष्णु और शिवस्वरूप हैं । अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वरुण, वायु, सत्त्व-रज-तम, तप-तेज, ज्ञान, वेद-मन्त्र-ध्यान, पुरुषार्थ-द्रव्य-दान, योग-संयम-स्वाध्याय, त्याग-सफलता-ब्रह्मचर्य, माता-पिता-आचार्य तथा सत्य-सद्गुण और सदाचार आदि सभी यज्ञ-पुरुषके ही परिवार हैं । शतपथ-ब्राह्मणमें यज्ञको ही सर्वश्रेष्ठ कर्म स्वीकार किया है—**'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'** (१ । ७ । १ । ५), अतः सत्य-सद्गुण और सदाचरणशील व्यक्ति ही यज्ञका यजमान हो सकता है । 'ताण्ड्यमहाब्राह्मण'में आता है कि 'श्रद्धा पत्नी है और सत्य यजमान; इन दोनोंकी उत्तम जोड़ी स्वर्गादि सम्पूर्ण लोकोंको जीतनेमें समर्थ है—**'श्रद्धा पत्नी, सत्यं यजमानः । श्रद्धा सत्यं तदित्युत्तमं मिथुनम् । श्रद्धया सत्येन मिथुनेन सर्वोल्लोकान् जयतीति'** (७ । १०) ।

ऋग्वेदसे ज्ञात होता है कि प्रज्वलित तपसे ही सत्यकी उत्पत्ति हुई है । अपनेसे ऊपर उठकर, अपने स्वार्थका परित्यागकर या हानि सहकर भी जो अन्तर्बाह्य रूपसे सत्यका पूर्ण आग्रही है, वही यज्ञ-यजमान होनेकी योग्यता रखता है । आर्योंका जीवन-दर्शन पूर्णरूपेण नैतिक-सदाचारसे ओतप्रोत था । झूठसे उन्हें बेहद चिढ़ थी । 'शतपथ-ब्राह्मण' घोषणा करता है कि 'झूठ बोलनेवाला व्यक्ति कभी यज्ञका यजमान नहीं बन सकता'—**'अमेध्यो**

वै पुरुषो यदनृतं वदति। तेन पूतिरन्तरतः। मेध्या वा आपः। मेध्यो भूत्वा व्रतमुपायानीति (१।१।१।१)।'

पापके आवर्तनशील स्वभावको आर्यलोग भलीभाँति जानते थे। शास्त्रोंमें वर्णन आता है कि—'जो मनुष्य एक बार पाप करता है, वह आगे भी बारंबार पाप करता चला जाता है, रुकता नहीं—**'यः सकृत् पातकं कुर्यात् कुर्यादेनस्ततः परम्।'** ताण्ड्य-ब्राह्मण कहता है—'झूठ बोलना वाणीका छिद्र है, जिसमेंसे सब कुछ गिर जाता है' (८।६।१३)। शतपथ-ब्राह्मणमें आता है कि—'असत्यवादी निस्तेज हो जाता है और सत्यकी सदा विजय होती है'—(३।४।२।८) ऐतरेयब्राह्मणका उपदेश है—'वाग्देवीके दो स्तन हैं—सत्य और अनृत। सत्य रक्षा करता है, अनृत मार डालता है—**'वाचो वाव तौ स्तनौ सत्यानृते वाव ते। अवत्येनं सत्यं नैनमनृतं हिनस्ति य एवं वेद'** (४।१)।

जो सत्य-सदाचरणसे शून्य है, उसके लोक-परलोक दोनों ही विनष्ट समझना चाहिये। जिसका बाह्याभ्यन्तर पवित्र नहीं है, उसके यज्ञ करनेसे क्या लाभ? उसका तो आज्य भी जल ही है। वह तो अग्निको और बुझाता है। वास्तवमें व्यवहारके बिना सदाचार भार ही है। ब्राह्मणोंने इसकी एक बड़ी सुन्दर उपमा गढ़ी है—सत्य बोलना क्या है? यज्ञाग्निका घृतसे अभिषेक करना है, प्रज्वलित अग्निको तृप्त करना है। इससे तेजकी वृद्धि होती है और झूठ बोलना क्या है? जलते हुए अग्निपर जल छोड़ना है, बुझाना है, इससे तेज घट जाता है। इसलिये सत्य ही बोलना चाहिये—**'यः सत्यं वदति यथा अग्निं समिद्धं तं घृतेनाभिषिञ्चेत्। एवं हैनं स उद्दीपयति तस्य भूयो भूय एव तेजो भवति, श्वः श्वः श्रेयान् भवति। अथ योऽनृतं वदति यथा अग्निं समिद्धं तमुदकेनाभिषिञ्चेत्।** (श०ब्रा० २।२।२।१९)।

यजमानपत्नीको ताण्डने श्रद्धा नामसे अभिहित किया है। ऋग्वेदके दशम मण्डलका १५१वाँ तथा तैत्तिरीय ब्रा०का २।८।८ वाँ सूक्त 'श्रद्धासूक्त'के नामसे प्रसिद्ध है। उसमें मनुष्यकी उन्नतिका प्रधान कारण श्रद्धाको ही माना है। श्रद्धाके द्वारा अग्नि प्रज्वलित होती है और श्रद्धाके ही द्वारा यज्ञ-सामग्रीकी आहुति दी जाती है। इतना ही नहीं, श्रद्धा सम्पूर्ण ज्ञान-वैराग्य, धर्म-कीर्ति, धन-ऐश्वर्य आदि सबसे श्रेष्ठ है। श्रद्धाकी बड़ी महिमा है—

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि॥
(ऋ० १०।१५१।१)

वेदोंमें नारीको बड़े आदरकी दृष्टिसे देखा गया है। **'तैत्तिरीयब्राह्मण'**के अनुसार धर्मपत्नी साक्षात् लक्ष्मीका स्वरूप है। उसके बिना यजमान यज्ञके अयोग्य होता है; क्योंकि वह उसकी अर्द्धाङ्गिनी है—**'अर्द्धो वा एष आत्मनः यत् पत्नी'** (२।९।४।७)। ऐतरेयब्राह्मणकी दृष्टिमें पत्नीके बिना पुरुष स्वर्ग नहीं पा सकता; क्योंकि न तो वह यज्ञ-यागादिमें दीक्षित हो सकता है और न वह संतान ही प्राप्त कर सकता है, फिर उसकी सद्गति कैसे हो सकती है?—**'नापुत्रस्य लोकोऽस्ति'** (ऐतरेय ७।३३, १३।१)। कैवल्योपनिषद्के अनुसार उमा वेदी है, महेश्वर ज्योतिर्लिङ्ग हैं, महेश्वर ब्रह्मा हैं। उमा वाणी है, महेश्वर यज्ञ हैं। उमा स्वाहा है, महेश्वर सूर्य हैं। उमा छाया है, महेश्वर ब्रह्म हैं—उमा माया है, महेश्वर जीव हैं—उमा माया है। दुग्धमें जैसे घृत समाया है, पुष्पमें गन्ध, चन्द्रमें चन्द्रिका और प्रभाकरमें जैसे प्रभा है, उसी प्रकार ब्रह्ममय माया है। भारतीय संस्कृतिने ऐसा ही अविच्छिन्न दम्पति-दर्शन हमें दिखाया है—

उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं
त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।

ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं
समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥
(कैवल्योपनिषद् ७)

और अब यज्ञके अतिथि यह जनता-जनार्दन ! ऐतरेय ब्राह्मणने इसीको तो यज्ञ भगवान्‌का सिर बतलाया है—**'शिरो वा एतद् यज्ञस्य यद् आतिथ्यम्'** (१ । २५)। इसलिये केवल यज्ञमें दीक्षित यजमानोंको ही नहीं, अपितु यज्ञमें शामिल होनेवाले सभी व्यक्तियोंके लिये भी चेतावनी देते हुए वेद कहते हैं—सदा सत्य बोलो, सैकड़ों हाथोंसे कमाओ, हजार हाथोंसे दान करो, सत्पथपर चलो, चोरी मत करो, आलसी मत बनो, कल्याणकारी बनो, स्त्रियोंकी रक्षा करो, अहंकार त्यागो, ईर्ष्या-द्वेषमें मत फँसो, मांस-मदिरा त्यागो, तेजवान् बनो, स्वास्थ्य ठीक रखो, मनोबल बढ़ाओ, गाली बकना पाप है, किसीकी उपेक्षा मत करो और परमात्मा ही सबका मालिक है, उसकी याद करो । धन-दौलत पा जानेसे क्या होता है, अशान्ति और बढ़ती है । हिटलर, सिकन्दर, तोजो और मुसोलिनीके जीवनमें तो एक पलभरकी भी शान्ति नहीं मिली, और आज भी जो लोग अपनी मुट्ठीमें दावानल दबाये बैठे हैं, वह मुट्ठी खुली और प्रलय उगल पड़ी, उन्हें इससे क्या शान्ति मिलनेवाली है ? अरे, दिव्य सुख-शान्तिका स्रोत तो मानवतासे प्रकट होता है। चरित्र और सदाचार ही उसका मूलाधार है । सबके सुख और सबके कल्याणकी दिव्य भावना ही तो यज्ञका हेतु है—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥

यही यज्ञ आर्योंके जीवनका सदुद्देश्य था । यज्ञ-कर्म आध्यात्मिक भी है और आधिदैविक भी । वह भौतिक भी है । बड़ा विलक्षण है । वह हमें आहुति देना सिखाता है । उसमें हम अपनी गाढ़ी कमाईका होम करते हैं, त्याग करते हैं, पुण्यार्जन करते हैं, ऋद्धि-सिद्धियाँ पाते हैं और फिर यज्ञ करते हैं । धीरे-धीरे ऊपर उठते जाते हैं, समझ आती है, समृद्धि आती है, उसको ग्रहण करते हैं, यज्ञ-शिष्ट होनेसे वह परम विशुद्ध हो जाती है । तपस्वियोंने यज्ञ-पुरुषको हृदयमें प्रबुद्ध किया था । प्राणाग्निमें देहाभिमानका होम होता है, तब अन्नमय-कोशकी शुद्धि होती है । देहके प्रथम अमृत वीर्यको रोकनेसे वह प्राणमय-कोशका पोषक बन जाता है । वीर्य या रेतकी प्रशंसामें शतपथ-ब्राह्मणने इसे 'सोम'की संज्ञासे विभूषित किया है—**'रेतो वै सोमः'** (१ । ९ । २ । ९) । वीर्य ही समस्त शरीर, प्राणों और इन्द्रियोंको प्रसन्न रखता है । मस्तिष्कको शक्ति देनेके लिये वीर्यसे बढ़कर और कोई दिव्य पदार्थ नहीं है । वह शरीरका राजा है, उसके नष्ट हो जानेसे देहमें गदर मच जाता है । ब्रह्मचर्य है तो आत्मबल है, आरोग्य है, सौन्दर्य है, शौर्य है, ऐश्वर्य है, सुख और संतान है—सब कुछ है । इसकी आहुति मनोमय-कोशमें होती है । मन विज्ञानमय-कोशमें शुद्ध होता है और विज्ञानकी आहुति लगनेसे आनन्दमय-कोश जाग्रत् होता है अर्थात् संकल्प-विकल्पसे ऊपर उठकर मन-आधारका अखण्डानन्द बोध-मयी स्थितिमें प्रतिष्ठित हो जाता है और आत्म-ज्योतिका प्रादुर्भाव हो जाता है । यही मनुष्य-जीवनकी सबसे बड़ी सफलता है ।

एकमात्र विशुद्ध चैतन्याग्नि ही इस पूर्णाहुतिके अमृतको धारण करनेमें समर्थ है । इस समय चेतन और आनन्दका अभिन्न आलिङ्गन सम्पन्न होता है और रसानुभूतिकी पूर्ण-समुल्लसित अवस्था आ जाती है । यहीं सदाचार-यज्ञका पर्यवसान है—

धर्मं चरत माधर्मं सत्यं वदत माऽनृतम् ।
दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वं परं पश्यत माऽपरम् ॥
(वसिष्ठस्मृति ३० । १)

सांख्य-योगीय सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीगङ्गाधरकेशव 'गुर्जर' एम्० ए०, 'आनन्द')

भारतके सभी शास्त्र एवं ऋषि-मुनि मोक्षको परम पुरुषार्थ मानते हैं। मोक्षकी सामान्य परिभाषा है—**'अज्ञानहृदयग्रन्थेर्नाशो मोक्ष इति स्मृतः।'** इस परिभाषापर किसीको संदेह—विप्रतिपत्ति या वैमत्य नहीं है। दार्शनिकोंका कहना है कि संतोष ही मोक्षका सीधा राजमार्ग है और इस दृष्टिसे असंतुष्ट मानव एक संतुष्ट शूकरसे भी गया-गुजरा है। उपनिषदोंमें विशेष कर कठ तथा श्वेताश्वतरमें सांख्ययोगका संक्षिप्त विवेचन मिलता है। गीता, अमरकोश, चरक आदिमें विद्वान्‌के लिये भी सांख्यका उपयोग हुआ है। संख्या या गिनती अर्थको लेकर 'सांख्य, 'संख्यात, 'संख्येय' आदि पद बने हैं—**'सांख्यैः संख्यातसंख्येयैः सहासीनं पुनर्वसुम्'** (चरकसू० १५)।

संख्याका एक दूसरा अर्थ भी लिया जाता है, जिसे Discrimination या 'सम्यक् विवेकज प्रज्ञा' कहते हैं। मानवकी विकासधाराके इतिहासमें ऐसी प्रज्ञाका एक निश्चित स्थान है। इसलिये योगके साथ सांख्यिकी प्राचीन समयसे ही देखी जाती है। भागवत एवं महाभारतके मोक्षधर्मपर्वमें सेश्वरसांख्यका विस्तृत विवेचन प्रकरणमें संनिविष्ट है। वैसे कौटिल्यने अपने अर्थशास्त्रमें राजपुत्रके अध्येतव्य शास्त्रके परिगणनमें भी सांख्ययोगको सम्मिलित किया है (१।४)। भागवतमें कपिल-जैसे महासांख्य-सिद्धकी जीवनी तथा दर्शनका वर्णन किया गया है। इससे यह सरलतासे कहा जा सकता है कि सांख्य और योगकी विचार-धारा हमारे देशमें प्राचीनकालसे ही प्रवाहित होती रही है। सांख्य और योग इन दो दर्शनोंको एक साथ निबद्ध करनेका तात्पर्य न केवल उनकी प्राचीनतासे है, अपितु उनकी विचारगत समतासे भी है। दोनों ही पचीस तत्त्वोंको मानते हैं। पुरुष प्रकृतिसे—मौलिक रूपसे भिन्न है, इस तथ्यको निरन्तर तत्त्वाभ्यास, अनासक्ति और समाधिके द्वारा हृदयंगम करना दोनोंका अन्तिम लक्ष्य है, जिसे 'प्रकृतिपुरुषान्यताख्याति' कहते हैं।

आचारिक अङ्गका महत्त्व—'योगदर्शन'को सेश्वर—सांख्य भी कहते हैं। सांख्यकी अपेक्षा योगमें आचारिक अङ्गका अधिक वर्णन पाया जाता है। योग एक प्रात्यक्षिक अङ्ग रहा है और वह भी ब्रह्मविद्याका; ऐसा मत लेखक डॉ० कृ० के० काल्हटकरने अपनी पुस्तक 'पातञ्जलयोगदर्शन' अर्थात् 'भारतीय मानसदर्शन'की विस्तृत प्रस्तावनामें प्रकट किया है। इस दृष्टिसे उन्होंने वेदान्तको ब्रह्मविद्याका विमर्शात्मक अङ्ग कहा है। इसलिये आचारिक अङ्गकी जितनी परिपुष्टिता योगमें परिलक्षित होती है, उतनी सांख्यमें नहीं। प्रात्यक्षिककी अपेक्षा सांख्यका विमर्शात्मक स्वरूप अधिक विस्तृत एवं प्रभावशाली है। इस विमर्शात्मक अङ्गका दीर्घकालतक पूरी आस्थासे निर्वहण होता है, तभी व्यक्ताव्यक्त विज्ञान सांख्यके अनुसार प्रत्यय-कारी रूपमें हो सकता है। इसलिये वाचस्पति मिश्रने 'सांख्यतत्त्वकौमुदी'में इसपर बल देते हुए कहा है—

'एतदुक्तं भवति—श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेभ्यो व्यक्तादीन् विवेकेन श्रुत्वा, शास्त्रयुक्त्या च व्यवस्थाप्य दीर्घकालनैरन्तर्यादरसेविताद् भावनामयाद् विज्ञानादिति। तथा च वक्ष्यति—'एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्। अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥' (सांख्यतत्त्वकौमुदी २, सांख्यकारिका; —६४)।

इससे यह स्पष्ट है कि अभ्यास-वैराग्य—ये दोनों ही आचारके संदर्भमें समान आधारशिला रहे हैं। चित्तवृत्ति-निरोधको योग कहते हैं। इस योगके आठ अङ्ग प्रसिद्ध हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—पतञ्जलिने पाँच प्रकारकी सिद्धियाँ बतलायी हैं, जिनमें समाधिज सिद्धि भी ईश्वरप्रणिधान-द्वारा प्राप्य कही गयी है। प्रणिधानका प्रचलित अर्थ—

ध्यान है, परंतु पतञ्जलिके अनुसार सभी कर्मोंको निष्काम भावसे सम्पादित करते हुए उन्हें ईश्वरके प्रति समर्पण करना 'ईश्वर-प्रणिधान' है। गीताके **'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः'** का भी यही दृष्टिकोण है। एक दृष्टिसे देखा जाय तो पतञ्जलिने यहाँ निष्काम कर्मकी ओर स्पष्ट संकेत किया है। **'अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे'**—इस गीतोक्त श्लोकमें योग तथा कर्मयोग भिन्न कहे गये हैं; परंतु पतञ्जलिने दोनोंका सार उक्त सूत्रमें प्रकट कर दिया है, जो योगदर्शनकी एक विशेषता मानी जा सकती है। 'हठयोग' अपनेको राजयोगकी पूर्वभूमिकाके रूपमें मानता है। इसलिये यम-नियमको छोड़कर हठयोगमें छः अङ्ग पाये जाते हैं। राजयोग अष्टाङ्ग है तो हठयोग षडङ्ग। यम तथा नियमको आठ अङ्गोंमें समाविष्ट करके योगने मानो अपना एक सदाचार-दर्शन ही उपस्थित किया है।

यमोंकी सार्वभौमता–यम जितने अंशमें वैयक्तिक व्रत कहे जा सकते हैं–नियमादि उससे कहीं अधिक अंशमें सामाजिक व्रत कहे जा सकते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह–इन व्रतोंका उभयविध स्वरूप है—जितना वैयक्तिक उतना सामाजिक भी। इसके लिये कोई अपवाद नहीं। जाति, देशकाल और समयकी मर्यादाको लाँघकर जब इनका पालन किया जाता है, तब ये नियम या व्रतसे ऊपर उठकर सार्वभौम महाव्रत बन जाते हैं। संसारके किसी भी प्रदेश, जाति, विशिष्ट काल, मत, सम्प्रदाय या सम्प्रदाय-विशेषमें जब कर्मठतासे इनका पालन आवश्यक, अनिवार्य माना जायगा, तब प्रकृतिकी भोगार्थतासे हटकर अपवर्गार्थताकी परिधिमें सारा संसार स्वयंको सुखसे प्रतिष्ठित समझेगा। यही योगकी 'सदाचार-संहिता' है। इस सदाचारको लाँघकर मनुष्य न केवल अपना वैयक्तिक कल्याण खो बैठता है, अपितु अपने विशाल समाजका भी अहित कर देता है। अतः हमारे आचारका यह केन्द्र-बिन्दु ही रहा है कि—

'सर्वेषामविरोधेन ब्रह्मकर्म समारभेत्।'

किसीसे विरोध न करते हुए—हिंसा एवं द्रोह न करते हुए ब्रह्मविद्याका अनुष्ठान किया जाय। इसलिये शारीरिक तपमें गीताने अहिंसा तथा ब्रह्मचर्यको समाविष्ट किया है—

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।
(गीता १७। १४)

सहस्राधिक यज्ञोंके आचरणसे सत्यकी गरिमा अधिक है। सहस्रों अश्वमेधयज्ञोंसे बढ़कर सत्य है। आधिभौतिक दृष्टिकोणवाले बहुसंख्याका ख्याल रखकर अधिकतर लोगोंको सुखदायक या कल्याणकारक भाषण या घटनाको सत्य कहते हैं। व्यवहारतः यह मान्य भी है—

यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा॥

—यह महाभारतका कहना है; परंतु कृत, कारित, अनुमोदित–इन तीनोंमेंसे किसीका भी अपवाद न रखते हुए सत्यका पालन करना योगकी दृष्टिमें यम है—सदाचार है। ऐसा ही सत्य प्रतिष्ठित या सिद्ध होता है तथा वाक्सिद्धिके रूपमें परिणत होता है। परिणामरूप ऐसे सत्यनिष्ठ व्यक्तिको बिना किसी क्रियाके उस क्रियासे अपेक्षित फल मिल जाता है। उसके मुखसे निकले हुए शब्दोंकी ध्वनि-लहरें अपेक्षित माध्यमोंमें आवश्यक स्पन्दन पैदा करती हैं, जिससे इच्छित फलके लिये कार्य-सम्पन्न करनेवाले व्यक्ति आप-ही-आप प्रेरित हो जाते हैं। यही भाव—**'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'** इस योगसूत्रमें है जो अनुभूत तथ्य है।

इसी प्रकार अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रहका विचार और प्रयोग करनेसे व्यक्तिके आध्यात्मिक विकासके साथ-साथ सारे समाजका भी कल्याण करनेकी क्षमता और प्रवृत्ति जाग उठती है। डॉ० राधाकृष्णन्-

जैसे दार्शनिक मनीषीने यम-नियमोंको नैतिकताका प्रेरक स्रोत बताया है। इसीलिये सारे संसारके सदाचारके रूपमें इनकी मान्यता रही है तथा आगे भी रहेगी।*

सांख्यके सदाचार—ज्ञानके संदर्भमें सोचा जाय तो सांख्य और योगका अन्तिम लक्ष्य कैवल्य है। यह कैवल्य भी 'प्रकृति-पुरुषान्यताख्याति'के रूपमें प्रसिद्ध है, जिसकी ओर पहले ही संकेत किया गया है। परंतु योगमें कैवल्यप्राप्तिके अङ्गोंसहित उपायोंका जैसा वर्णन किया गया है, वैसा सांख्यने आग्रहपूर्वक नहीं किया है। इसका कारण सामान्य तौरपर यही दिखायी देता है कि सांख्यके अनुगामी मुख्य रूपसे ज्ञानयोगी थे, अतः उन्होंने विचारोंकी प्रधानतापर ही बल दिया। इस 'विवेक-ख्याति'को सर्वाधिक महत्त्व देकर साधनामें प्रवृत्त सिद्धोंकी श्रृङ्खला इस देशमें बहुत प्राचीन कालसे ही चली आयी है। इसलिये भगवद्गीताके साथ-साथ उपनिषद्में भी सांख्यमतप्रवर्तक कपिलमुनिको सिद्धोंका प्रमुख गौरवास्पद स्थान दिया है—**'सिद्धानां कपिलो मुनिः'** (गीता १० । २६)। श्वेताश्वतरोपनिषद्में भी **'ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत्'** (५ । २) से उनका गौरवगान किया गया है। सांख्य-सिद्धोंकी एक विशाल पङ्क्ति महाभारत, स्मृति-ग्रन्थ तथा सांख्य-साहित्यमें भी उपलब्ध है। इतना ही नहीं, चरक-संहिताके मूल उपदेष्टा पुनर्वसु आत्रेयको भी सांख्यसिद्धोंमें गिना जाता था। पुनर्वसुपर सांख्यविचारधाराका इतना प्रभाव पड़ा दीखता है कि सांख्यज्ञानको उन्होंने आदित्यके समान प्रखर-प्रकाशक बताया है—**'सांख्यं ज्ञानमादित्यवत् प्रकाशते'** ।

इन सिद्धोंकी पङ्क्तिमें आसुरि, पञ्चशिख, धर्मध्वज, जनक, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, सनन्दन, जैगीषव्य, देवल, हारीत, वाल्मीकि, भार्गव, उलूक, वार्षगण्य और पतञ्जलि आदि सम्मिलित हैं। इनकी जीवनियोंसे सदाचारपर पर्याप्त प्रकाश पड़ जाता है। इसीलिये लगता है कि सदाचारोंका विशिष्ट वर्णन सांख्यकारिकामें या अन्य सांख्यग्रन्थोंमें अपेक्षित नहीं समझा गया। योगके साथ जिस प्रकार वैचारिक समानता इस दर्शनमें है, ठीक उसी प्रकार आचारगत समानता भी होनी चाहिये थी। हाँ, कपिलकृत सांख्यसूत्रमें यह विचारप्रधान आचार-दृष्टि अवश्य दृष्टिगोचर होती है। इस संदर्भमें चौथे अध्यायके कतिपय सूत्र नीचे उद्धृत किये जाते हैं, जिनमें वामदेव, शुकदेव और सौभरि मुनिके समान रहकर संयम एवं सदाचारके पालनका आदेश दिया गया है—

'प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात् तद्वत् (१९), न कालनियमो वामदेववत् (२०), अध्यस्तरूपोपासनात् पारम्पर्येण यज्ञोपासकानामिव (२१), विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरवत् (२३), लब्धातिशययोगाद्वा तद्वत् (२४), न कामचारित्वं रागोपहते शुकवत् (२५), गुणयोगाद्बद्धः शुकवत् (२६), न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत् (२७), दोषदर्शनादुभयोः (२८), न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत्। (२९।)

इस प्रकार ऊपर संक्षेपमें सांख्ययोगीय सदाचारका जो वर्णन किया है, उससे वैराग्यमूलक ज्ञान एवं ध्यानप्रधान अलोकविरुद्ध सामान्य सदाचारकी दिशा स्पष्ट हो जाती है। इसमें यम और नियमोंकी भूमिका मुख्य रही है। ये ही सांख्ययोगीय सदाचारके मुख्य प्रेरणाके स्रोत रहे हैं।

---

* The yamas are of universal validity regardless of differences of cast and country, age and conditions. They are acquired by all, though all may not be chosen for the higher life of contemplation. The observances (niyama) are purification, external and internal contentment, austerity (tapas) and devotion to God. These are optional, Though all, who resort to yoga are required to practice them regularly, A practice of these two favours the development of Tairagya, or passions, lessens or maks free from desire either for things of the world or the pleasures of heaven. (Indian Philophy, by Radhakrishnan page 854. 8th edn)

सदाचारके दो पहलू—यम और नियम

(लेखक—विद्यावाचस्पति पं० श्रीगणेशदत्तजी शर्मा, इन्द्र, डी० लिट्०)

जीवनका मधुर फल सदाचार है। इसका आस्वादन अमृतोपम है। जो जीवनमें इसका पान करता है, वह पुरुषोत्तम, नरोत्तम और देवरूप हो जाता है। आज भी मानव-समाजके पूजार्ह, वन्दनीय और स्मरणीय तथा सृष्टिके आरम्भसे अद्यावधिपर्यन्त पृथ्वीपर जितने भी पूज्य महात्मा-महापुरुष हुए हैं, उन सबके अर्चनीय और वन्दनीय होनेमें एकमात्र कारण उनका सदाचारमय जीवन ही था। कालचक्र—हजारों, लाखों वर्षोंतक घूमता हुआ भी उनकी प्रतिभा, उनकी आभा और उनकी ज्योतिको धूमिल करनेमें असमर्थ रहा है। इसके विपरीत जो दुराचारोंमें लिप्त रहे हैं, उनका नाम लेनेतकमें हमें घृणाका अनुभव होने लगता है। उनके नामके साथ ही घृणा और विकारका अमिट चित्र हमारे सामने प्रकट होने लगता है।

सदाचार अमृत है तो दुराचार हलाहल। सदाचार ही जीवन है और दुराचार ही मृत्यु—सदाचार यदि प्रकाश है तो दुराचार घोरतम अन्धकार। सदाचार ज्ञानका प्रतीक है तो कदाचार अज्ञानका निविड़तम तमस्तोम। सदाचार देवत्वका सोपान है तो विपरीताचरण असुरत्वका एक गम्भीर गर्त। संसारके सभी महापुरुषों, धर्माचार्यों तथा मनीषियोंने सदाचारको ही मानव-कल्याणका एकमात्र अवलम्ब और मानव-जीवनकी चरमोन्नति एवं उसकी पूर्णता माना है। सभी धर्मग्रन्थोंके निर्माताओंने—वे चाहे किसी भी धर्म, सम्प्रदाय, मत और पंथके हों, सदाचारकी सबल पुष्टि की है।

अपने समयके महान् चिन्तक एवं तत्त्ववेत्ता महर्षि पतञ्जलिने सदाचारको योगका और योगको सदाचार-का सहायक माना है। महर्षिने हिरण्यगर्भसे परम्पराप्राप्त योगके आठ मुख्य अङ्ग निर्दिष्ट किये हैं। ये हैं—'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।' योग मानवको देवत्वतक पहुँचाने-की क्षमतावाला है। इतना ही नहीं, योगमें देवत्वको भी और उन्नत स्थितितक पहुँचा देनेकी क्षमता है। जो योगके इन आठों अङ्गोंकी साधना करते हैं, वे सदाचारके प्रथम सोपानसे अन्तिम सोपान पारकर परमानन्दरत होकर ब्रह्मलीन हो जाते हैं।

योगदर्शनमें सदाचारका प्रथम सोपान 'यम'को माना गया है। यमका नियमपूर्वक अनुसरण एवं अनुगमन सदाचारकी विशुद्ध एवं दृढ़ नींव है। इस यमके भी अन्तर्वर्ती पञ्चसोपान हैं। पतञ्जलि महाराज इन पाँच सोपानोंको इस प्रकार बतलाते हैं—'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनमेंसे किसीको मन, वचन और शारीरिक कार्यसे कष्ट न पहुँचाना—पीड़ित न करना अहिंसा है, सत्य कर्म, सत्य भाषण और सत्का प्रचार-कार्य ही सत्य है। चोरी नहीं करना, मन, वचन, कर्मसे उससे दूर रहना 'अस्तेय' है। किसी वस्तुका न चुराना ही अस्तेय नहीं, बल्कि किसी-पर सद्विचारोंको प्रकट न करना, अनावश्यक वस्तुओंको रखना भी चोरीकी ही परिधिमें माना जाता है। वीर्य-रक्षा और वीर्य-रक्षाके उपायों तथा आचरणोंका पालन ब्रह्मचर्य कहलाता है। यमका पाँचवाँ सोपान है—'अपरिग्रह'। आवश्यकतासे अधिक वस्तुओंका संग्रह परिग्रह कहलाता है। दूसरोंके काममें आनेवाली वस्तुओं-को अपने पास इकट्ठा करना अनुचित है। यह दूसरों-के उपयोग और अधिकारोंका हरण है। अतएव

असंग्रह-धर्मका पालन करना चाहिये। योगशास्त्रमें ये ही सदाचारके प्रथम पाँच सोपान माने गये हैं। बौद्धधर्ममें प्रायः इन्हें ही पञ्चशील नामसे कहा जाता है। शील और सदाचार एक ही सिक्केके दो पहलू हैं। सदाचारी शीलवान् भी होता है।

जो इनका दृढ़ता, सुनिश्चितता तथा कठोरतासे पालन करते हैं, वे निश्चय ही देवत्वको प्राप्त होते हैं। मनुष्य देवत्व और असुरत्वके बीचकी एक महत्त्वपूर्ण शृङ्खलाकी सुदृढ़ कड़ी है। 'यम'का आश्रय और पालन-नियमन मनुष्यको ऊर्ध्वोन्नतिकी ओर ले जाता है।

योगमें यमके बाद नियमोंका स्थान आता है। इन्हें योगका दूसरा अङ्ग कहा है। इससे ईश्वरकी प्राप्ति अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति होती है। सदाचारके ये पाँच 'नियम'-सोपान सदाचारके स्थापक हैं। इनमें सदाचारकी परमोत्कृष्टता निहित है। योगदर्शनानुमोदित प्रथम अङ्गके द्वारा देवत्व तथा ऋषित्व प्राप्त किया जा सकता है तो दूसरे अङ्ग नियम-के द्वारा ब्रह्मत्वकी प्राप्ति की जा सकती है। सदाचार बिना नियमके अधूरा रह जाता है। योगदर्शनके प्रणेता महर्षि पतञ्जलिने नियमके 'शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान'—ये पाँच अङ्ग माने हैं। सदाचारके सर्वोच्च शिखरासनासीन होनेके लिये इन पाँच सोपानों-का आरोहण आवश्यक है। मानव, देवत्व और असुरत्वके बीचकी कड़ी है। यही ब्रह्मत्व और महागर्त्तान्धकारका भी माध्यम है। ब्रह्मत्वकी प्राप्तिके हेतु शौच अर्थात् शरीर और मनकी पवित्रता अभीष्ट है, संतोष तो नन्दनकानन है। जिसमें समस्त इच्छाओंकी पूर्ण करनेवाली कल्पलता विद्यमान है। बिना तपके सदाचार व्यर्थ और निष्फल है। तपका अर्थ है परोपकारके लिये कष्टोंकी अग्निमें अपने-आपको आहुति बना देना। स्वाध्याय तो मनुष्यको वह ज्ञान और मनोबल प्रदान करता है, जो सदाचारमें परम आवश्यक है। वेदादि सब ग्रन्थोंका मनन, चिन्तन, स्वाध्यायकी सरल परिभाषा है। इन चार सोपानोंपर आरूढ़ होनेके बाद मनुष्य ईश्वर-के सम्बन्धमें विचार करने, सोचने, समझनेका पूर्ण अधिकारी बनता है। यम-नियमके इन दस लघु सोपानोंपर जो व्यक्ति आरोहणकर ऊपर उठता है, वही सच्चा सदाचारी बननेका अधिकारी है। इस प्रकार यम और नियमकी ये दस विधियाँ मनुष्योंके सदाचारके सुदृढ़ निर्माता हैं जिनसे समाधि-सिद्धावस्था प्राप्त होती है।

अहिंसासे अपरिग्रहतक तथा शौचसे ईश्वर-प्रणिधान-तक पहुँचानेकी शक्ति सदाचारमें है। सदाचारके द्वारा मनुष्य देवत्व और ब्रह्मत्वको प्राप्त करके महान् बन जाता है। जैसा कि कहा गया है—

'सदाचारेण देवत्वमृषित्वं च तथा लभेत्।'

सदाचारी पुरुष क्या करे !

क्षान्तेन्द्रियेण दान्तेन शुचिनाचापलेन वै। अदुर्बलेन धीरेण नोत्तरोत्तरवादिना॥
अलुब्धेनानृशंसेन ऋजुना ब्रह्मवादिना। चारित्रतत्परेणैव सर्वभूतहितात्मना॥
अरयः षड् विजेतव्या नित्यं स्वं देहमाश्रिताः। कामक्रोधौ च लोभश्च मानमोहौ मदस्तथा॥

'मनुष्यको चाहिये कि संयतेन्द्रिय, मनोनिग्रही, पवित्र, चञ्चलतारहित, सबल, धैर्यशील, निरन्तर वाद-विवाद न करनेवाला, लोभहीन, दयालु, सरल, ब्रह्मवादी, सदाचार-परायण और सर्वभूतहितैषी बनकर सदा अपने ही शरीरमें रहनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मान, मोह और मद—इन छः शत्रुओंको अवश्य जीते।'

—महर्षि पराशर

मानसिक सदाचार

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

कानपुरमें गङ्गातटपर भगवद्दास घाट प्रसिद्ध है। इस घाटके व्यापारी-बस्तीसे निकट होनेके कारण यहाँ अच्छी श्रेणीके लोग स्नान-ध्यानके लिये आते हैं। वहीं जलपान भी होता है। कुछ वर्ष पहलेकी बात है, इस घाटपर एक पागल-सा साधु रहता था। लोग जलपानकर जो पत्ता या कागज फेंक देते थे, वह उसीको चाटकर या जूठन खाकर वहीं पड़ा रहता था। एक दिन एक बड़ी फर्मके मुनीमजी स्नानकर ध्यान लगाये जप कर रहे थे। यकायक उस पागलने उनपर एक मुट्ठी मिट्टी फेंक दी। मुनीमजी और अन्य स्नान करनेवाले बहुत अप्रसन्न हुए। पागल चुप रहा। मुनीमजी जपमें लग गये। पागलने फिर मिट्टी फेंकी। अब उनका क्रोध उसपर बरसनेवाला ही था कि पागलने अपना फटा कम्बल उठाते हुए इतना कहा—'जप कर रहा है, मन जूता खरीद रहा है!'

मुनीमजी अवाक् रह गये। वास्तविक बात तो यह थी कि जपके समय उन्हें यकायक उस दूकानकी याद आ जाती थी, जहाँ कल एक जोड़ी जूताका भाव तय कर आये थे और वे जपके समय सोच रहे थे कि दाम कैसे घटाया जाय। पागलको उनके मनकी बात कैसे मालूम हुई? बस, लोगोंको विश्वास हो गया कि यह कोई महात्मा है। पर वह पागल जो लापता हुआ तो फिर कभी न दिखायी पड़ा। इस घटनासे प्रकट है कि हम ऊपरसे देखनेमें चाहे कितना भी भले लग रहे हों, मनके भीतर यदि दुराचार है तो हमें सदाचारी नहीं कहा जा सकता। अतएव अच्छा आचरण दिखावेसे नहीं, मनसे सम्बन्ध रखता है। इसीलिये कबीरसाहबने कहा था— 'मन न रँगाये, रँगाये जोगी कपड़ा।'

इस उदाहरणका एक ही सार-तत्त्व है और वह यह कि आचरण मनमें है, बाहरी दिखावेमें नहीं। जो मनसे शुद्ध है, वही सदाचारी है। इसीलिये स्मृतिकारोंने कहा था—'**मनःपूतं समाचरेत्**' (मनु० ६। ४६, याज्ञ०, नारदपु० ३। ६२) मनको शुद्धकर पवित्र आचरणका पालन करे। इसी बातको एक विद्वान् अमेरिकन पादरी—एच्० डब्ल्यू० ब्लीचर—(सन् १८१३-१८७७)ने लिखा था—'मनुष्यकी असलियत उसके निजी चरित्रमें है। उसका यदि कोई यश है, प्रतिष्ठा है, तो दूसरोंकी रायमात्र है, दूसरोंके उसके प्रति विचार हैं। चरित्र उसके भीतर है। यश-प्रतिष्ठा तो छायामात्र है; ठोस वस्तु तो चरित्र ही है।'

जे० हावेज नामक एक विदेशी विद्वान् (सन् १७८९–१८८३) ने भी लिखा है—'मानवका चरित्र कोरे सफेद कागजकी तरहसे है। एक बार उसपर धब्बा लग गया तो फिर वह पहले-जैसा सफेद कभी न होगा।' अतः चरित्रको सदा निर्मल रखना चाहिये।

धनकुबेर जान डि राकफेलरने युवकोंको समझाया था कि 'हरेक युवकके लिये सबसे आवश्यक वस्तु है चरित्रकी साख तथा यश प्राप्त करना।' और इसी सिलसिलेमें विद्वान् दार्शनिक स्पेंसरकी बात याद रखनी चाहिये। स्पेंसर (सन् १७९८—१८५४)ने कहा था—'मनुष्यकी सबसे बड़ी आवश्यकता शिक्षा नहीं, उसका चरित्र है। वही उसका सबसे बड़ा रक्षक है।' यदि चरित्र मनकी शुद्धिसे बनता है तो मन हमारे हृदयपर निर्भर करेगा।

अग्निपुराणने तो कह दिया है कि 'बुद्धिमान्का ईश्वर हृदयमें रहता है, तो फिर यह मान लेना होगा कि जो दुराचार करता है, वह पहले अपने हृदयसे ईश्वरको निकाल फेंकता है।'

व्यवहार

याज्ञवल्क्यस्मृतिमें विधि (कानून—Law) को 'व्यवहार' कहा गया है और उस महापुरुषने स्पष्ट कर दिया है कि व्यवहार तथा सदाचार एक ही वस्तु है। जो व्यवहारी है, वह सदाचारी भी है। 'व्यवहार-दर्पण'में सदाचारकी व्याख्यामें कहा गया है—'कर्तव्य, शास्त्रीय, स्वयं-स्थित, सम्राटोंका सम्राट्, शक्तिशाली, सही तथा सत्य।'

यूनानी दार्शनिक देमोस्थनीज—(इस्वीपूर्व ५०० वर्ष)ने लिखा था कि 'विधान ईश्वर तथा साधु-संतोंकी देन है।' दार्शनिक अरस्तु कहते थे—'आचार बुद्धि, तर्क तथा ईश्वरके वरदानसे प्राप्त होता है।' वाल्मीकीय रामायणमें तीन प्रकारके कर्म बतलाये गये हैं—नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य। अपने जीवनमें एक तो वह है जिसे हम नित्यकी क्रिया कहते हैं—जैसे स्नान इत्यादि। दूसरा किसी निमित्त, किसी कारणसे होता है। तीसरा है काम्य, जो किसी प्रयोजन, इच्छा या संकल्पके कारण होता है। इन तीनों स्थितियोंमें आचरणकी परख होती है। जिसने किसी एक स्थितिमें आचरणका ध्यान रक्खा तथा दूसरी स्थितिमें आचरणसे उदासीन रहा, वह कदापि सदाचारी नहीं है। मनुष्य प्राय: काम्यकर्ममें ही अपने पतनकी सामग्री पैदा करता है। हम अपने लिये जो चाहते हैं, उससे दूसरेकी हानि हो तो होने दो, हमें अपना कल्याण चाहिये। पर मुसलिम धर्म-ग्रन्थ कुरान शरीफमें भी यही लिखा है—जिसकी हजारों वर्ष पहले हमारे शास्त्र भी चेतावनी दे चुके थे—कि 'ऐसा कार्य न करो, जिसे तुम चाहते हो कि दूसरे भी तुम्हारे साथ वैसा न करें'—

'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।'
(श्रीविष्णुधर्मोत्तरमहा० ३। २५३। ४४)

छोटी-मोटी सिद्धि प्राप्त करनेसे न तो मोक्ष होता है और न आचरण बनता है। पतञ्जलि, बुद्ध तथा आजके युगके श्रीरामकृष्ण परमहंसने सिद्धि और ऐश्वर्यको कैवल्य (मुक्ति)में बाधक माना है। श्रीरामकृष्ण परमहंसने तो कहा था—'सावधान रहो! अपने भीतरको बनाओ। छोटी-मोटी सिद्धियाँ या ऐश्वर्यके चक्करमें मत पड़ो।' जैनियोंके उत्तराध्ययन-सूत्रमें मन:पर्ययको मुक्तिमें बाधक माना है। साधु-वचन है—

मनके मते न चलिये, पलक पलक कछु और।

पारसी धर्म, जो हमारे आर्य-धर्मकी ही एक शाखा है, हमें जीवनके लिये तीन मन्त्र देता है—हुमता-सद्विचार, हुखता—सत्कथन और हुवरशता—सत्कार्य। बस, इन्हीं तीनके पालनसे स्वर्ग तथा मोक्षकी प्राप्ति होती है।

उपासनाके भाव

सदाचारीको अपने जीवनमें एक-न-एक रेखा बनाकर प्रभुसे लगन लगानी पड़ेगी। तभी वह मनके बन्धनसे आगे उठकर अच्छे चरित्रका निर्माण कर सकेगा और इहलोक और परलोकको सँभाल सकेगा। नीचे लिखे भावोंमेंसे एकको अपनाना ही होगा—

शान्तभाव—परमात्माके प्रति ऋषियोंके भावके समान।
दास्यभाव—श्रीरामके प्रति हनुमान्का।
सख्यभाव—श्रीकृष्णके प्रति अर्जुनका।
आपत्यभाव—भगवतीके प्रति मार्कण्डेय ऋषिका।
वात्सल्यभाव—बालकृष्णके प्रति यशोदाका।
कान्त या माधुर्यभाव—श्रीकृष्णके प्रति राधाका।

यदि इनमेंसे किसी भावको नहीं अपनाया तो हमारा कल्याण न हो सकेगा और हमारा जीवन निरर्थक हो जायगा।

समाजकी स्थितिकी चिन्तनीय गिरावट केवल सदाचारकी मर्यादा तोड़ने या भूलनेके कारण है। हाँ, व्यक्तिगत रूपसे वही सदाचारी रह सकता है, जिसको ईश्वरका, अपना, और अपने परलोकका भय है। इसीलिये जर्मन-कवि गेटेने लिखा था—'जो कुछ वास्तविक है, वह अपनी करनी है। अपना आचरण है। बाकी सब मिथ्या है।'

संत सुकरातने आजसे ढाईहजार वर्ष पहले कहा था—'हे भगवान्! मुझे वही दे, जो मेरी भलाईमें हो।' जहाँतक जीवन-यापनका सम्बन्ध है, हमें भगवान्से यही प्रार्थना करनी चाहिये कि **'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा'**—शरीर, वचन, मन तथा इन्द्रियोंसे जो भी अपराध हमने किया है, उन्हें वे क्षमा करें। आगे हमसे ऐसी भूल-चूक न होगी—हमारा मन शुद्ध रहे, हम अच्छा संकल्प किया करें, जिससे हमारा आचार भला हो। वस्तुतः यही मानस सदाचार है।

सदाचारका स्वरूप-चिन्तन

(लेखक—श्रीके० अवतार शर्मा)

सदाचार श्रुति-स्मृतिप्रोक्त धर्मकी वह क्रियात्मिका शक्ति है, जिसपर संसार टिका है। जगत्की रक्षा एवं नाश—इन दोनोंका एकमात्र कारण धर्मको बताकर सर्वश्रेष्ठ स्मृतिकार मनुने धर्माचरणपर जोर देते हुए कहा था—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद् धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत्॥
(मनु० ७। २५)

'धर्म हमारे द्वारा विनष्ट किये जानेपर हमारा नाश करता है और हमारे द्वारा रक्षित होनेपर हमारी रक्षा करता है। इसलिये धर्मका नाश नहीं करना चाहिये जिससे धर्म भी हमारा नाश न करे।'

सदाचार धर्मका रूपान्तर है

सदाचार धर्मका रूपान्तर बताया गया है। 'स्मृति-चन्द्रिका'में इसे धर्मके लक्षणोंमें (अर्थात् धर्मकी विधाओंमें) प्रथम स्थान दिया गया है।

शिष्टाचारः स्मृतिर्वेदाः त्रिविधं धर्मलक्षणम्।
(स्मृति-चन्द्रिका)

शिष्टजनोंका आचरण, धर्मशास्त्र और वेद—ये तीन धर्मके लक्षण हैं।'

इसीके अनुरोधपर, मनुस्मृतिमें धर्मस्वरूप निरूपणमें इस सदाचारका उल्लेख दीख पड़ता है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥
(मनु० २। २२)

इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थोंमें सदाचार धर्मका ही रूपान्तर निरूपित किया गया है।

सदाचार शब्दकी व्युत्पत्ति

मनुस्मृतिमें सदाचार शब्दका विवेचन तीन विभिन्न प्रणालियोंके अनुसार किया गया है। इनके अनुसार सदाचार शब्दकी तीन व्युत्पत्तियाँ निष्पन्न हैं।

संश्चासावाचारः सदाचारः—यह पहली व्युत्पत्ति है। इसके अनुसार सदाचारका अर्थ है—'वह आचार जो 'सत्'से सम्मिलित हो, सुष्ठु हो, अच्छा हो।' 'प्रस्थानत्रयी'में यह सच्छब्द सदाचारके पर्यायके रूपमें प्रयुक्त-सा दीख पड़ता है। यह परब्रह्मके अर्थमें भी कहीं-कहीं दीख पड़ता है। गीतामें इस सच्छब्दार्थका विवेचन इस प्रकार किया गया है—

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥
(१७। २६)

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—हे अर्जुन ! सच्छब्दका प्रयोग अस्तित्वके अर्थमें एवं सत्स्वभावके अर्थमें किया जाता है और प्रशस्ताचरणके लिये भी इसका प्रयोग होता है।' श्रुति-स्मृतिप्रतिपादित कर्माचरण भी सदाचार कहलाता है; यह भी गीतामें इस प्रकार बताया गया है—

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥
(१७।२७)

'अर्थात्—यज्ञ-तप-दानोंमें आचरित निष्ठा भी सत्पदार्थ कहलाती है एवं तदर्थीय काम भी सत्-पदवाच्य है।'

'श्रुतिस्मृत्यर्थप्रतिपादकत्वमेवात्र सच्छब्दार्थः'

—इस उक्तिके अनुसार सत् शब्द श्रुति-स्मृति-प्रतिपादकत्वका परिचय कराता है। स्मृतियाँ 'वेदों'का ही अनुसरण करती हैं, जैसा कि महाकवि कालिदासने भी कहा है—**'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'**। (रघु० २।२) सदाचारको मनुस्मृतिने 'परम धर्म'के रूपमें प्रस्तुत किया है और उससे युक्त रहनेका आदेश दिया है—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥
(मनु० १।२०७)

वहीं इसका फल बतलाते हुए कहा गया है कि—

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेद फलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत्॥
(मनु० १।२०९)

आचारविहीन पुरुष केवल कर्मकाण्डादि करने-मात्रसे वेदोक्त फलोंको प्राप्त नहीं कर सकता है, वरन् आचारवान् ही सम्पूर्ण फलग्राही होता है।

एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्॥
(मनु० १।११०)

इस प्रकार आचारमें धर्मकी गतिका दर्शन करके हमारे ऋषि-मुनि, आचारके सभी तपश्चर्याओंके मूल-रूपमें स्वीकार कर चुके थे।

इसका द्वितीय विग्रह इस प्रकार है—**'सताम् आचारः सदाचारः'** इति। अर्थात् सज्जनोंके आचारको सदाचार कहते हैं—यह सदाचार शब्दका एक और निर्वचन है। **'महाजनो येन गतः स पन्थाः'**—यह उक्ति इसी सदाचारको दृष्टिमें रखकर बनायी गयी है। ब्रह्मावर्त्तका आचार भी इसी स्तरपर सदाचार है। इसी क्रममें भर्तृहरिद्वारा प्रतिपादित ऐसे सदा-चारियोंके गुणोंका परिचय करनेवाले ये श्लोक भी ध्यान देने योग्य हैं—

वाञ्छा सज्जनसङ्गतौ परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद् भयम्।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खलै-
रेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो महद्भ्यो नमः॥
(नीतिशतक ५१)

सत्यसाङ्गत्यकी इच्छा, औरोंके गुणोंके प्रति प्रीति, बड़ोंके प्रति नम्रता, विद्यामें आसक्ति, स्वभार्यारतिकी कामना, लोकापवादकी भीति, ईश्वरके प्रति भक्ति, इन्द्रियोंके दमनकी शक्ति, दुर्जनोंकी संगतिका त्याग—ये सद्गुण जिसमें रहते हैं, उन्हें हमारा नमस्कार है।

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्॥
(नीतिशतक ५२)

'विपत्तिमें धीरज धरना, समृद्धिमें क्षमा, सभामें वाग्मिता (अच्छी तरह बोलना), युद्धमें विक्रम-प्रदर्शन, कीर्तिकी कामना, वेदशास्त्राभ्यासमें शौक—ये सज्जनोंके नैसर्गिक गुण हैं।'

'मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्'—यह महाजनोंका और एक लक्षण है। सज्जन लोग जो मनमें सोचते हैं, उसीको बोलते हैं; और जो बोलते हैं उसीको जैसे-के-तैसे कर डालते हैं। इस प्रकारके

गुणवान् सज्जनोंके आचार ही सदाचार हैं। गीतामें इस सदाचारके सम्यक् परिपालनका संदेश मिलता है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(३।२१)

'गुणवान् जो कर्म करता है अन्य लोग भी उसीका अनुसरण करते हैं और वह जिसको प्रमाणके रूपमें स्वीकार कर रहा है, सभी लोग उसके प्रामाण्यको स्वीकार करते हैं।'

सदाचारके विषयमें मनुस्मृति (४।१२२) में भी यही बताया गया है—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात् सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते॥

'जिस श्रेष्ठ पन्थके अनुसार अपने पितृ-पितामह चले हैं, उसी सन्मार्गका अनुसरण करना चाहिये। इस मार्गपर चलनेवाला धर्मच्युत नहीं होता।'

इसके अतिरिक्त मनुस्मृतिमें व्यवहार-निर्णय भी सदाचारके माध्यमसे करनेका आदेश दिया गया है।

सद्भिराचरितं यत् स्याद् धार्मिकैश्च द्विजातिभिः।
तद् देशकुलजातीनामविरुद्धं प्रकल्पयेत्॥
(७।४६)

'सिद्धिको प्राप्त करनेमें मन्त्र, उपदेश और कालादिके साथ-साथ देशका भी अपना महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य है। इसलिये लोग अपनी तपस्याओंकी सिद्धिके लिये सिद्ध-क्षेत्रोंपर जाते हैं; इसीलिये अर्जुन तपस्या करनेके लिये इन्द्रकीलाद्रिपर गये थे और महर्षि विश्वामित्र कौशिकी नदीके किनारेपर गये। इस प्रकारकी कई गाथाएँ हमें अपने पुराणोंमें यत्र-तत्र देखनेको मिलती हैं।

इसी स्थल-माहात्म्यके आधारपर मनुस्मृति (२।७-८) में 'सदाचार'-विवेचन एक और दृष्टिकोणमें प्रस्तुत किया गया है। उसके अनुसार ब्रह्मावर्त प्रदेशमें परम्परा-रूपसे आनेवाले आचारको सदाचार माना गया है और कहा गया है कि 'सरस्वती और दृषद्वती नदियोंके बीचका जो प्रदेश है, उसे ब्रह्मावर्त्त कहते हैं। उस देशमें सवर्णों और अवान्तर जातियोंके जो परम्परा-गत आचार हैं, वे ही सदाचार हैं।'

इस भारतकी पुण्यभूमिमें जन्म लेना हमारा भाग्य है। 'मैक्समूलर'-जैसे तत्त्वज्ञने भी अन्तकालमें अपनेको भारतमें जन्म देनेके लिये भगवान्से प्रार्थना की थी। ऐसी सुसंस्कृता पुण्यभूमिमें उत्पन्न होनेके नाते हम सबको सदाचारी बनकर मातृभूमिके यशको दुगुना करना चाहिये। यह तभी सम्भव है, जब सभी अपने प्राचीन सदाचारका सम्यक् पालन करें। तभी अपना और देशका सभी प्रकारका कल्याण हो सकता है।

सदाचारकी श्रेष्ठता और फल

(श्रीओरीसन स्वेटमार्डन)

अकेला सदाचार-बल सम्पूर्ण संसारपर अपना प्रभुत्व जमा सकता है।
सदाचार ही सर्वोत्तम शक्ति है।
सदाचार ही सर्वोत्तम सम्पत्ति है।
सदाचार ही सर्वोत्तम धर्म है।
सदाचार ही सर्वोत्तम मोक्ष-साधन है।
पवित्र विचार, पवित्र वाणी और पवित्र व्यवहार ही सदाचार है।

सदाचारकी आवश्यकता

(लेखक—श्रीगुलाबसिंह 'तोमर' एम्० ए०, एल्० टी०)

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः।
श्रद्दालुरनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥

(मनुस्मृति ४ । १५८)

मनुके उपर्युक्त वचनानुसार 'सर्वलक्षणोंसे हीन होनेपर भी जो व्यक्ति सदाचारी, श्रद्धालु एवं दोष-रहित होता है, वह सौ वर्षोंतक जीवित रहता है।' भद्र व्यक्तियों, साधुजनोंका आचरण ही सदाचार होता है। जो व्यक्ति अच्छा ही विचार करते हैं, अच्छा (श्रेष्ठ) ही बोलते हैं एवं अच्छा ही आचरण करते हैं, वे ही सज्जन होते हैं। सदाचारसे ही सज्जन स्वीय इन्द्रियोंको वशमें करते हुए समष्टिहितार्थ शिष्ट व्यवहार करते हैं और अन्ततोगत्वा आत्मज्ञानद्वारा परमात्माको प्राप्त होते हैं। 'जो पापकर्मोंसे निवृत्त नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ शान्त नहीं हैं और जिसका चित्त असमाहित या अशान्त है, वह उस परमात्माको केवल आत्मज्ञानद्वारा प्राप्त नहीं कर सकता (कठ० १ । २ । २४)।' यथार्थतः जिन कर्मोंसे, जिन आचरणोंसे इस लोकमें सब प्रकारका अभ्युदय हो और जीवनान्तमें निःश्रेयस प्राप्त हो, वही वास्तविक रूपेण धर्म या संयत सांस्कारिक जीवन है। यही सच्चे अर्थोंमें धर्मका शुभ स्वरूप है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (मीमां० १ । १ । २)।

आर्यदेशके ऋषियोंकी वाणीके अनुसार—**'मानुष्यान् न हि श्रेष्ठतरं हि किंचित्'**—मनुष्यत्वसे बढ़कर कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है। विचारवादियोंके कथनानुसार भी ईश्वरकी सबसे महत्त्वपूर्ण कृति मानव-व्यक्तित्व है। गोस्वामी तुलसीदासजीने अन्यान्य जीवोंकी अपेक्षा इसकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हुए कहा है—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥
नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही॥

(मानस ७ । १२० । ५)

श्रुति कहती है—**अयं क्रतुमयः पुरुषः**। अर्थात् मानव निश्चयमेव क्रतुमय अर्थात् निश्चयवाला होता है। इतना ही नहीं, पुरुष श्रद्धामय भी होता है। उसीके अनुरूप ही उसके आचरण और सिद्धान्त बनते हैं—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥

(गीता १७ । ३)

स्पष्ट है कि सिद्धान्तयुक्त जीवन ही सदाचारयुक्त दर्शनका प्रतिफल है, जिसका मूल इङ्गित है—समष्टिके प्रति समताके उदारतापूर्ण सद्भावमें। सदाचारकी सुदृढ़ शृङ्खलामें निम्न कड़ियाँ महत्त्वकी हैं, जो आपसमें एक दूसरेसे बँधी हुई परस्पराश्रित हैं। इनमें प्रथमतः हम विचारपक्षकी ओर झुकते हैं। विचार ही भौतिक जगत्का प्राण है। जगत्की वास्तविकता विचारोंपर ही आश्रित है। विचारोंसे ही इन्द्रिय-अनुभव-योग्य वस्तुओंकी जाँच होती है। अतः विचार मनकी क्रियाशीलताका प्रतिफल है। इस जगत्का आधार भी मन ही है। इस प्रकार यह सब भौतिक मनकी अभिव्यक्ति है। मनमें विचार आनेपर हम चिन्तन करते हैं, तत्पश्चात् तर्क करते हैं। तर्क-वितर्क चिन्तनका विशेष गुण है एवं चिन्तन विचारोंद्वारा ही सम्भव है। उक्त समस्त क्रियाएँ मस्तिष्क, मन, विचार, तर्क, चिन्तन, प्रज्ञा, नैतिकता, धार्मिक तथा आध्यात्मिक मूल्य आदि मानवमें ही होते हैं। सदाचार-सम्पृक्त मानव देवताके ही समान अल्पन्यून गौरव एवं प्रतिष्ठासे विभूषित होता है उसका परमात्माकी अन्य समस्त कृतियोंपर अधिकार है। पाश्चात्त्य विद्वान् 'रॉस'के शब्दोंमें—

'He is a little lower than angles, crowned with glory and honours, having dominion over all other works of God.'

(Ground Work of Educational Theory. P. 115)

वर्तमान युग समस्त विश्वके संक्रमण एवं निर्माणका युग है, जिसके प्रबल प्रवाहके साथ भारतमें भी विविध परिवर्तन एवं निर्माणके पग उठाये जा रहे हैं। मानव प्रकृतिको परास्त करनेकी ताकमें व्यस्त है, किंतु सदाचार, आचार-विचार विलुप्त होते जा रहे हैं। मनुष्य श्रद्धा और विश्वाससे हीन होता जा रहा है। विलास-आरामकी प्रवृत्तिमें मानवकी चिन्तनशक्ति थक गयी है। सम्प्रति सदाचारके दर्शन दुर्लभ हो रहे हैं और मानवताविरोधी कृमियाँ पनप रही हैं। निमिष-निमिषमें होनेवाले भीषण कुकृत्य—आत्मघात, बलात्कार, भ्रूणहत्या, विश्वासघातके भयंकर परमाणु वृद्धिकी चरम सीमापर हैं। मनुष्यने भौतिकताकी चकाचौंधमें, भ्रमान्ध प्रगतिके व्यामोहमें सदाचारपरायणताको विस्मृत कर दिया है; किंतु क्या इससे उसका कल्याण सम्भव है?

ताहि कि संपति सगुन सुभ सपनेहुँ मन बिश्राम।
भूत द्रोह रत मोहबस राम बिमुख रति काम॥

(मानस ६।७८)

मानव विश्वमें परिव्याप्त चेतनसत्ताकी अनुभूति अपने अन्तःमें व्याप्त चैतन्यकी अनुभूतिसे कर सकता है। सदाचारसे ही आत्मानुभूति (अपने वास्तविक स्वरूपकी पहचान) होती है। जो व्यक्ति स्वयंका ज्ञान प्राप्त करेगा, वह सद्गुणके मार्गपर स्वयं चलेगा। 'सुकरात' (Socrates)के कथन 'Knowledge i virtue' (ज्ञान पुण्य है)के अनुसार 'Know thyself' (अपनेको जानो)का तात्पर्य यही है, न कि स्वयंको जानकर शान्त होना। सदाचारकी पुनीत भावना है—समष्टिगत 'स्व'में व्यक्तिगत 'स्व'का विलीन होना। संसार परिवर्तनशील है और **'परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।'** के अनुसार मृत्यु और जन्मका क्रम अनादिकालसे चलता चला आ रहा है। मृत्युके उपरान्त मनुष्यका केवल नाम ही शेष रहता है। अतः क्यों न नेक नामको शेष छोड़ा जाय? जीवनमें क्यों न सदाचारशीलताका अनुसरण किया जाय? जन्म उन्हीं व्यक्तियोंका सार्थक है, जिनके भौतिक शरीरका अस्तित्व न रहनेके बाद भी नाम (यश) अमर रहता है—**'नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्।'** (नीतिशतक २०)

सम्प्रति मानव राकेट आदि यानोंसे चन्द्रमातक पहुँच गया है। इस प्रगतिकी परिधिमें परिबद्ध महान् वैज्ञानिक युगका आर्थिक-सामाजिक ढाँचा भी अपने ही बुद्धि-विश्लेषणकी चकाचौंधमें विवेक एवं अन्तःसंतुलनके अभावमें कभी अपने ही खोखलेपनके कारण किसी अणुयुद्धमें ध्वस्त हो सकता है। ऐसे विवेकहीन और सदाचारहीन जीवनमें शान्ति कहाँ? विजयश्रीकी प्राप्ति राकेट आदि यानोंसे सम्भव नहीं, सच्चा विजयस्यन्दन तो दूसरा ही है—**जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना॥**
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥

महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर॥

(मानस ६।७९।२३–६,८० क)

सदाचारकी महनीय साधना शान्ति, श्रेय एवं प्रेयके सहज समन्वयमें होनी चाहिये। सम्प्रति हमें—विशेष-रूपसे नवयुवक-साधकोंको—उनके समन्वयहितार्थ निरत रहना है, जिसकी अनिवार्य उपयोगिता व्यापक लोकजीवन तथा विश्वमङ्गलके लिये ही नवीन विश्वको नवीन सौन्दर्यबोध तथा शक्तिसे प्रेरित करना है। राष्ट्रिय एवं अन्ताराष्ट्रिय सद्भावना इसीमें निहित है। सदाचारकी भूमिका विश्वमङ्गलतक प्रसारित है—**'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।'** (हितोप० १।७०)

'विश्वको एक साझेदारी माना जाता है। इसको मैत्रीपूर्ण ब्रह्माण्डके रूपमें देखा जाता है। हम घृणा

करनेकी अपेक्षा प्रेम करनेके लिये उत्पन्न हुए हैं। एक-दूसरेको समाप्त करनेके लिये कदापि नहीं, हम सहायता करनेके लिये आये हुए हैं। परंतु प्रचार तथा कट्टरवादिताके फलस्वरूप हम स्वयंको सर्वोच्च मानने लगे हैं। साथ ही हम उनको अपने परिवारका नहीं मानते हैं। मानवमें यह भावना प्राकृतिक आवेगोंके कारण उत्पन्न नहीं होती, वरन् स्वभावसे मानव एक-दूसरेसे प्रेम करता है। धर्मान्धताके कारण हमने मानवको उसकी सहृदयता, सहानुभूति तथा भ्रातृत्वकी स्वाभाविक भावनाओंसे दूर कर दिया है। हमारा इस विषयमें यह उद्देश्य होना चाहिये कि हम किसी तथ्यको अतिरञ्जित रूपमें गलत ढंगसे प्रस्तुत न करें, वरन् हम सत्यकी आवाजको सुनें तथा आत्माकी पुकारका पालन करें।' (—डॉ० राधाकृष्णन्)

भर्तृहरिने स्वयं सदाचारके स्वरूपका निरूपण करते हुए सदाचारी व्यक्तियोंको सम्मानास्पद दृष्टिसे देखा है। यथार्थतः सदाचार इन गुणोंसे परे कोई अन्य गुण नहीं है। इन गुणोंका पुष्कल प्रभाव जिन व्यक्तियोंमें है वे ही सदाचारकी पुनीत प्रतिमा हैं; यथा—

वाञ्छा सज्जनसङ्गतौ परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद् भयम्॥
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खलै-
रेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो महद्भ्यो नमः॥

(नीतिशतक ५१)

'सज्जनोंके सङ्गकी वाञ्छा, परगुणोंमें प्रीति, बड़े लोगोंके प्रति नम्रता, विद्यामें व्यसन, अपनी ही स्त्रीसे रति, लोकनिन्दासे भय, महेश्वरमें भक्ति, आत्मदमनकी शक्ति एवं खलोंके सङ्गका परित्याग—ये निर्मल गुण जिन पुरुषोंमें निवास करते हैं, उन्हें हम नमस्कार करते हैं।'

सदाचारकी मान्यता

(लेखक—श्रीवेदप्रकाशजी द्विवेदी, 'प्रकाश', एम्० ए०, साहित्यरत्न)

विधाताकी सृष्टि ही द्वन्द्वात्मक है। एक ओर जहाँ मुस्कराते-खिलते पुष्प सौन्दर्य-श्रीके प्रतीक हैं, वहीं झुलसते शूल अपने कुटिल अंशसे जुड़े हुए लोक-मानसको उत्पीडनके रूपमें दिखायी पड़ते हैं। जहाँ प्रवाल-सी उषाकी मोहक अरुणिमा अपने मोहक आकर्षणसे जन-मानसको रँग देती है, वहीं कज्जलिनी निशाकी घनीभूत कालिमा मनको दूसरे भावोंसे भर देती है। इन्हीं द्वन्द्वोंमें सदाचार और दुराचार हैं।

जिस आचरणसे लोक-मङ्गलका विधान बनता है, वह समाजके लिये श्रेयस्कर होता है और जिससे समाजमें वितृष्णा, कष्ट और विक्षोभ होता है, वह समाजकी मान्यतामें बुरा माना जाता है। लोक-मङ्गलकी दृष्टिसे अपनाये जानेके कारण सदाचारकी श्लाघा तथा सामाजिक विक्षोभ देनेके कारण दुराचारकी निन्दा की गयी है। सारी भौतिक सम्पदा हो, हर प्रकारका सौविध्य हो, सदाचार न हो तो वह समाजके लिये अवाञ्छनीय बन जायगा। सांसारिक सम्पदाओंकी कमी हो, किंतु जिसमें नैतिक बल और सामाजिक समुत्थानके भाव होंगे, तो उसका अविरल महत्त्व रहेगा।

रावणकी लंका सोनेकी थी। वह महाबली और महापण्डित था। चारों वेद उसे कण्ठाग्र थे। वह मन्त्र-तन्त्र और यन्त्रके वैभवोंसे भरा था और भौतिक सम्पदाओंसे भी नितान्त समृद्ध था, किंतु उसमें सदाचारका अभाव था। वहीं श्रीराम वन-वन भटक रहे थे, उनके पास न सेना थी न धन था, किंतु उनमें सदाचारका सम्बल था। फलतः श्रीरामके मुखपर उल्लासकी लालिमा

नाचती रहती थी। उनमें साहस, सौहार्द और लोकप्रियताका भाव चरम शिखरपर था। वे वन्दनीय बने और रावणके साथ युद्धमें विजयी हुए। विभीषणने युद्धके मैदानमें जब **'रावनु रथी बिरथ रघुबीरा'** देखा तो वह अधीर होकर विकलतामें भगवान् श्रीरामसे बोल उठा—

नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना॥

वह घबड़ा-सा गया था। किंतु श्रीरामने उसे सदाचारकी महिमासे अवगत कराते हुए सौम्यभावसे कहा—

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहिं जय होइ सो स्यंदन आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥
(मानस ६। ७९-८०)

श्रीरामकी इस वाणीमें भौतिक शक्ति और सम्पदाका नगण्य-भाव गिरता दीख रहा है और आध्यात्मिक गुणों तथा सम्पदाओंका सनातन ध्वज फहरा रहा है। एक ओर सांसारिक सम्पदाओंका अखण्ड राज्य था, दूसरी ओर सदाचारका परिवार देखनेमें क्षीण, किंतु अनन्त-शक्ति-सम्बलसे सम्बलित। संसारने देखा कि भौतिक सम्पदा सदाचारकी धारामें विनष्ट हो गयी। रामका सदाचार रावणके दुराचारपर विजयी हुआ। आद्य काव्यका महावाक्यार्थ—**'रामवद् वर्तितव्यं न क्वचिद् रावणादिवत्'** लोकप्रसिद्ध सदाचारका निर्देशक बन गया।

हिरण्यकशिपु भी सम्राट् था। शस्त्र-बल और अस्त्र-बल तो उसमें थे ही अन्य भौतिक उपादान भी उसके हाथको बढ़ानेमें उसकी सहायताके लिये सतत संनद्ध थे। वहीं अकिंचन प्रह्लाद अपनी निरीहतामें भी सदाचारी था। संसारकी आँखोंने देखा 'स्वर्ण'का तकिया लगानेवाला भौतिकवादी सम्राट् हिरण्यकशिपु विनष्ट हो गया, किंतु प्रह्लादके मुख-मण्डलकी लालिमा आह्लादकारिणी बनी रह गयी। आज भी प्रह्लादकी अक्षय-कीर्ति-पताका फहराती हुई देखी जा सकती है।

न जाने कबसे सृष्टिका यह क्रम चल रहा है, इसके सम्बन्धमें धर्माचार्यों, वैज्ञानिकों आदिमें आश्चर्य, विडम्बना और प्रश्नोंके तार-पर-तार बँधे हैं, किंतु उसका कोई अन्तिम समाधान नहीं है। जो भी हो, चिरकालसे प्रकृतिकी यह लीला धराधामको चमत्कृत करती आ रही है। जबसे इसका इतिहास प्राप्त होता है, आजतक यही बात मिलती है कि लौकिक सम्पदाओंको आध्यात्मिक सम्पदाओंके आगे झुकना पड़ा है। सत्य तो यह है कि लौकिक सम्पदाका जहाँ अन्तिम शिखर बनता है, वहींसे आध्यात्मिकताका प्रथम चरण प्रारम्भ होता है। शास्त्र, पुराण, काव्य, इतिहास, चम्पू, नाटक आदि जितने भी ग्रन्थ हैं, उन सबमें इस सत्यका स्वर गूँजता चला आ रहा है—सदाचारकी गरिमाका ध्वज संसारमें फहराता चला आ रहा है।

आदिकालसे आजतक सदाचार-रत्नोंका सम्मान रहा है। मनु, याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब, अङ्गिरा, वसिष्ठ, जमदग्नि, लोमश, दिलीप, राम, कृष्ण, बुद्ध, परमहंस स्वामी रामकृष्ण, विवेकानन्द, तिलक, मालवीय और महात्मा गाँधी प्रभृति इसके उद्दीप्त उदाहरण हैं। संसारमें जबतक मानव-मस्तिष्कमें बुद्धि और विवेकका अंश रहेगा, तबतक सदाचारकी विजयपताका फहराती रहेगी।

आचार परम धर्म है

(लेखक—श्रीयुत शिशिरकुमार सेन, एम्० ए०, बी० एल्०, सम्पादक 'ट्रूथ')

आचारः परमो धर्मः आचारः परमं तपः।
आचारः परमं ज्ञानं आचारात् किं न साध्यते ॥
आचाराद् विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण समायुक्तः सम्पूर्णफलभाग् भवेत् ॥
यः स्वाचारपरिभ्रष्टः साङ्गवेदान्तगोऽपि चेत्।
स एव पतितो ज्ञेयो सर्वकर्मबहिष्कृतः ॥

'आचार ही सर्वोत्तम धर्म है, आचार ही सर्वोत्तम तप है, आचार ही सर्वोत्तम ज्ञान है, यदि आचारका पालन हो तो असाध्य क्या है !' शास्त्रोंमें आचारका ही सर्वप्रथम उपदेश (निर्देशन) हुआ है। 'धर्म भी आचारसे ही उत्पन्न है (अर्थात्) आचार ही धर्मका माता-पिता है और एकमात्र ईश्वर ही धर्मका स्वामी है।' इस प्रकार आचार स्वयं ही परमेश्वर सिद्ध होता है। 'एक ब्राह्मण जो आचारसे च्युत हो गया है, वह वेदोंके फलकी प्राप्तिसे वञ्चित हो जाता है, चाहे वह वेद-वेदाङ्गोंका पारंगत विद्वान् ही क्यों न हो, किंतु जो आचारका पालन करता है, वह सबका फल प्राप्त कर लेता है।' आचार आयुकी वृद्धि करता है, आचारसे इच्छित संतानकी प्राप्ति होती है, वह शाश्वत एवं असीम धन देता है और दोष-दुर्लक्षणोंको भी दूर कर देता है। 'जो आचारसे भ्रष्ट हो गया है, वह चाहे सभी अङ्गों-सहित वेद-वेदान्तका पारगामी क्यों न हो, उसे पतित तथा सभी कर्मोंसे बहिष्कृत समझना चाहिये।'

शास्त्र कहते हैं कि धर्म भी आचारसे ही उत्पन्न है—**'आचारप्रभवो धर्मः'** अर्थात् वह हमारे अच्छे-बुरे कर्मोंपर निर्भर है। धर्मका पालन शारीरिक, मानसिक और वाचिक सदाचारके बिना सम्भव नहीं है। इस लेखमें मेरा लक्ष्य केवल शारीरिक सदाचारसे ही सम्बद्ध है—यद्यपि कई परिस्थितियोंमें वह भी मानसिक तथा वाचिक आचारोंसे मिश्रित रहता है। यदि कोई व्यक्ति क्रोधके आवेशमें आ जाता है तो यह उद्वेग केवल उसके मनतक ही सीमित नहीं रहता, शरीरको भी प्रभावित कर देता है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति कामभावाभिभूत हो जाता है तो वह सदाचारका पालन कदापि नहीं कर सकता। इस दृष्टिसे सदाचारको मानसिक और वाचिक रूपमें यद्यपि सर्वथा पृथक् करना शक्य नहीं है, तथापि यहाँ स्पष्ट एवं विस्तृत विचार करनेके लिये शारीरिक आचारका ही वर्णन किया जा रहा है।

भगवान्ने शास्त्रोंमें कृपापूर्वक तीन प्रकारके आचारोंका निर्देश किया है। प्रायः यही आचार हमारे देशके निवासियोंद्वारा नित्यप्रति आचरित होता है। जब भारतवासी प्रातःकाल शय्या-त्याग करते हैं तो शौचसे निवृत्त होकर किसी चूर्ण या दतुअनसे मुँह धोते हैं। कोई भी हिंदू बिना मुँह धोये भोजन करनेकी कल्पना भी नहीं कर सकता; क्योंकि इसके बिना वे अपनेको अस्वच्छ समझते हैं। यह हमारे प्रातःकालीन सदाचारका आदर्श है। ठीक इसके विपरीत अमेरिका आदिके निवासियोंको इस बातका अभी पतातक नहीं है। वे भोजन करनेके बाद ही मुँह धोते हैं और नींदसे उठते ही शय्यापर ही चाय ग्रहण करते हैं। यथार्थ बात तो है यह कि अभी एक शताब्दीपूर्वतक यूरोपवालोंको 'टूथब्रुस' (दाँत साफ करनेकी कूँची) का पतातक न था। अंग्रेज १८५० ई०के लगभग जब भारतसे विलायत लौटे तो स्वच्छताकी यह प्रारम्भिक शिक्षा वहाँ प्रविष्ट हुई। ये भारतके हिंदू ही थे, जिनसे अंग्रेजोंने मुँह धोनेकी विधि सीखी। पाश्चात्यदेशोंमें विज्ञानके विकासके बावजूद वहाँके लोग अब भी स्वच्छताके इस रहस्यसे अनभिज्ञ हैं। परंतु निरक्षर भारतीय भी परम्परागत इसका ज्ञान रखते हैं।

हमलोगोंके साथ विशेष निकट-सम्पर्कमें रहने तथा विज्ञानद्वारा कूँचीसे दाँत साफ करनेकी शिक्षा प्राप्त करनेपर भी उन्हें अभीतक यह ज्ञान नहीं हुआ है कि मुँह धोये बिना भोजन कर लेना एक घिनौनी बात है। इंग्लैंडमें उठते ही चाय पीनेकी प्रक्रिया प्रचलित है। यह लिखते हुए दुःख होता है कि उनकी नकल करनेवाले भारतीय हिंदुओंमें भी अब यह प्रक्रिया धीरे-धीरे व्याप्त होने लगी है। इस प्रकार पाश्चात्त्य देशोंके साथके सम्पर्कने हमारे सदाचारको अत्यन्त पतनोन्मुखी दशातक पहुँचा दिया है। साथ ही हमारे देश तथा उसकी सीमाओं-पर भी सदाचारका धीरे-धीरे ह्रास होने लगा है।

अब एक दूसरी बात लीजिये। हमारे यहाँ दूसरों-का जूठन प्रायः विक्षिप्त चित्तवाले अथवा अत्यन्त गये-गुजरे व्यक्ति ही खा सकते हैं। कोई भारतीय (सदाचारी) दूसरेका उच्छिष्ट भोजन करनेकी बात भी मनमें नहीं सोच सकता और यदि कोई इस विषयपर ध्यान देकर सोचता है तो इसे पूर्ण वैज्ञानिक—आचार ही मानता है; क्योंकि चिकित्सा-विज्ञानके अनुसार भी बीमारियाँ प्रायः खान-पानके माध्यमसे ही फैलती हैं—विशेष-कर तरल पदार्थोंके संसर्गसे। शास्त्रोंके अनुसार तो बीमारियाँ ही नहीं, भले-बुरे संस्कार भी संक्रमित हो जाते हैं। किंतु पश्चिमके लोगोंने अभी केवल उच्छिष्ट भोजनसे बीमारियोंके ही संक्रमणका ज्ञान सीखना प्रारम्भ किया है। कहा जाता है कि उनके होटलों (भोजनालयों), जलपानगृहों, वायुयानों, गाड़ियों आदिमें तश्तरियोंमें छोड़े हुए भोजन फेंके नहीं जाते। इन स्थानोंमें तथा अन्य स्वागतके स्थानों-पर भी अतिथियोंके अनजानेमें दूसरोंके द्वारा परित्यक्त भोजनको परोसनेमें तनिक हिचकतक नहीं होती। ऐसी प्रक्रियाओंकी वहाँ कोई आलोचना भी नहीं करता। विमानकी परिचारिकाएँ तो ऐसे भोजनोंको परोसते समय अपना हाथ भी नहीं धोतीं। विमान-यात्री भी खानेके पहले या बादमें अपना हाथ नहीं धोते। विमानोंमें आप प्रायः प्लास्टिक या कागजके ग्लासोंको ही जलपानके लिये पायँगे, जो दूसरोंके द्वारा पहले व्यवहृत हुए रहते हैं और जिन्हें पीनेके बाद जलसे धोयातक नहीं जाता। जो लोग आचारका पालन करते हैं और इस प्रकारके खान-पानके अभ्यस्त नहीं हैं, वे भी धीरे-धीरे संसर्गवशात् दुर्भाग्यवश जब इसके आदी हो जाते हैं तो उन्हें भी जैसी पहली बार घबड़ाहट हुई थी, वैसी बादमें नहीं होती। अन्ततोगत्वा इस प्रकार मनुष्यका आचार बदल जाता है और वह भी उन्हीं प्रक्रियाओंका पालन करने लगता है, जो आरम्भमें उसे अत्यन्त घृणित प्रतीत होती थीं। फिर भी जहाँतक हो सके, इन बातों और परिस्थितियोंमें सदाचार-प्रेमीको परहेज रखना चाहिये।

शल्य-चिकित्सक (सर्जन) लोग चीर-फाड़-घरमें जानेके पहले कीटाणु-निरोधक वस्त्र एवं श्वासमें कीटाणुके प्रविष्ट होनेसे रोकनेके लिये मुख-नासिकादिके ऊपर भी आच्छादन-वस्त्र धारण किये रहते हैं और घावको चीरते-फाड़ते समय भी ऐसा ही करते हैं। वे अपने हाथोंमें भी कीटाणु-निरोधक रबरके दस्ताने धारण किये रहते हैं। चीर-फाड़-घरमें प्रायः सामान्य जूतोंका व्यवहार नहीं होता। एक विशेष प्रकारके जूते ही उस घरमें सभी व्यक्तियोंद्वारा व्यवहृत होते हैं, जो प्रायः रबर या एक प्रकारके निर्यास द्रव्यसे बने होते हैं। ये सभी शल्य-चिकित्सक रोग-संक्रमणकी इस प्रकारकी पूर्व सुरक्षाकी विधियाँ तो अपनाते हैं, पर अभी उन्होंने इसकी शिक्षा नहीं प्राप्त की कि भोजन भी एक प्रकारका संक्रमणका कारण है। इसलिये खानेके पहले भी हाथ-पैरोंको धो लेना आवश्यक है और जूतोंको भोजन-कक्षमें नहीं ले जाना चाहिये; क्योंकि जूते चीर-फाड़-घरमें नहीं ले जाये जाते हैं। भोजनके समय वार्तालाप भी नहीं करना चाहिये, क्योंकि उनके भोजनके कण इस प्रकार उनके मुँहसे निकलकर दूसरोंकी थाली या वायुमण्डलद्वारा मुँहमें प्रविष्ट हो सकते हैं।

विज्ञानकी प्रगतिने चिकित्सकोंको शल्यक्रियामें आचारकी शिक्षा तो दे दी, पर अभी उन्हें इसका अपने घरों तथा अन्य स्थानोंमें आचरण करना शेष ही है। हाँ, हिन्दूका एक बालक भी शास्त्रोंके आधारपर इस सदाचारका ज्ञान रखता और पालन करता है। हम ऐसे बहुत-से अन्य उदाहरण भी प्रस्तुत कर सकते हैं, जिनसे ज्ञात होगा कि पाश्चात्त्य देशोंमें अभी शुद्धताका प्रारम्भिक ज्ञान भी प्राप्त नहीं हुआ है। पाश्चात्त्य चिकित्साविज्ञानके अनुसार शीतला, चेचक, प्लेग, हैजा, अविरामज्वर तथा कई अन्य रोग भी संसर्गसे संक्रमित होते तथा फैलते हैं। अतः ऐसे रोगियोंको चिकित्सक जब स्पर्श करते हैं तो उन्हें अपने हाथोंको धोना पड़ता है, पर अभी इन लोगोंने इस समय भी वस्त्रोंको बदलना नहीं सीखा है। यह सामान्य बात है कि ऐसे अवसरोंपर केवल हाथ धोना ही पर्याप्त नहीं है। रोगके संक्रमणकी सम्भावना तबतक नष्ट नहीं होती, जबतक सम्पृक्त वस्त्र नहीं बदल दिये जाते। अतः शौचालयसे लौटने तथा संक्रामक रोगियोंके सम्पर्कमें आनेके बाद अथवा ऐसे रोगियोंके मल-मूत्र-स्पर्शके बाद भी वस्त्रोंको बदल डालना चाहिये। यदि पाश्चात्त्य वैज्ञानिक इधर थोड़ा भी ध्यान दें तो उन्हें ज्ञान हो जायगा कि इस प्रकारकी प्रक्रिया मूलतः वैज्ञानिक है, किंतु पाश्चात्त्य चिकित्सा-विज्ञान इस शुद्धिकी वकालत नहीं करता, अतः वे घरपर इस आचारका पालन नहीं करते। पर एक हिन्दू व्यक्ति शास्त्रोंद्वारा निर्दिष्ट होनेके कारण इस आचारका पालन करता है। केवल वे हिन्दू, जो पाश्चात्त्य शिक्षा-दीक्षासे प्रभावित हैं, इस आचारका पालन नहीं करते।

पश्चिमके शिक्षित व्यक्ति शव-स्पर्शका कुछ भी विचार नहीं करते। पाश्चात्त्य विज्ञान—जिसका वे अनुसरण करते हैं, इस विषयपर मौन है। फिर भी आजसे एक सौ वर्ष पहले वियना नगरके एक अस्पतालके प्रसूति-विभागमें अत्यधिक लोगोंकी मृत्यु देखकर एक दार्शनिक विचारकने पर्याप्त समयतक इसपर विचार किया कि उस प्रसूतिविभागमें ऐसी घटनाओंका कारण क्या है? पर उसे ज्ञात न हो सका। अन्तमें उसने एक दिन देखा कि विद्यार्थी शवगृहोंसे शवपरीक्षण कर उस कक्षकी ओर जा रहे हैं। तब उसे तुरंत ध्यान आया कि सम्भवतः यही इसका कारण हो सकता है। उसने तत्काल ही उन्हें उस विभागमें प्रवेश करनेसे रोका और इसके बाद वहाँकी मृत्यु-संख्यामें तुरंत ही कमी हो गयी। इस घटनासे पाठ अवश्य सीखना चाहिये था, किंतु पाश्चात्त्य चिकित्साविज्ञानने अभी भी शवस्पर्श या शव-परीक्षणके बाद स्नान या वस्त्र बदलनेकी बात नहीं सीखी जब कि हमारे यहाँ स्नान करने तथा वस्त्र बदलकर शुद्ध होनेकी परम्परा है।

आधुनिक विज्ञान यह भी नहीं बतलाता कि मृत व्यक्तिसे किसी प्रकारका सम्बन्ध होनेसे मनुष्यको स्नान तथा वस्त्रादिकी शुद्धि करनी चाहिये। अतः डॉक्टर लोग भी ऐसा नहीं करते, जब कि एक मूर्ख-से-मूर्ख हिन्दू भी इसका अनुसरण करता है। हिन्दू शौचादिके बाद केवल जलसे ही हाथ नहीं धोते, बल्कि मिट्टीका भी प्रयोग करते हैं, किंतु मिट्टी लगानेकी यह प्रक्रिया पाश्चात्त्य विद्वानोंको कौन कहे, सर्वोच्च वैज्ञानिकोंतकको भी ज्ञात नहीं है। विलायतके एक वैज्ञानिकने अब इस बातका अनुभव किया है कि ऐसे समयमें कागजोंका उपयोग कितना गंदा कार्य है। उसने बतलाया है कि जब एक बच्चा फर्शपर ही शौच करता है और वह फर्श मुलायम कागजसे फिर रगड़कर साफ किया जाता है तो मलके सूक्ष्म अंश फर्शपर शेष रह जाते हैं। इसी प्रकार शौचके बाद कागजका उपयोग उपस्थको भी पूर्णतया स्वच्छ नहीं कर पाता। इतना ही नहीं, कागजसे साफ करते समय मलके सूक्ष्मकण अँगुलियोंमें भी लग जाते हैं। उसी विलायती वैज्ञानिकने यह भी बतलाया है कि छात्रावासके विद्यार्थी शौचके

बाद कागजका ही प्रयोग करते हैं और इसके बाद हाथको भी साबुन या जलसे नहीं धोते। इस प्रकार वे रोगोंके संक्रमणके साधन बन जाते हैं, जिससे ऐसी बीमारियाँ प्रायः विद्यालयोंमें फैलती रहती हैं।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि कोमल शृङ्गारपत्रोंसे की गयी सफाई पर्याप्त नहीं होती और उनके सूक्ष्मांश हाथों तथा मल-स्थानोंपर लगे ही रह जाते हैं, जिससे अनेक आपत्तिजनक परिस्थितियाँ पैदा होती हैं। वस्तुतः स्वच्छताका यह प्रकार बड़ा ही असभ्य है। शौचके बाद हाथ आदि न धोनेकी घिनौनी प्रक्रिया भारतीय मस्तिष्कको घृणा एवं अरुचिसे भर देती है। फिर भी कुछ लोग अब यहाँ भी कागजसे ऐसी शुद्धि करने लग गये हैं। वस्तुतः अनुसरणकी इस दुष्प्रवृत्तिने ऐसे भारतीयोंको अन्धा बना दिया है और वे शौचके बाद गंदे रहनेके लिये प्रसिद्ध हो गये हैं। दिवंगत पूज्य पण्डित मदनमोहन मालवीय जब राउण्ड टेबुल कान्फ्रेंस (Round Table Conference) के लिये समुद्रद्वारा विलायतकी यात्रा कर रहे थे, तो वे मिट्टीसे ही अपना हाथ साफ करते थे। वे अपने साथ पर्याप्त गङ्गाजल और मिट्टी ले गये थे। उनकी इस प्रवृत्तिसे कुछ दूसरे भारतीय, जो उसी जहाजसे यात्रा कर रहे थे, कुछ लज्जित-से हुए; क्योंकि उनकी यह प्रक्रिया उनके देखनेमें असभ्य-सी लग रही थी! इसे आप भला अनुसरणकी अन्ध-प्रवृत्ति एवं बुद्धिनाशके अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं?

शास्त्रोंद्वारा सम्यक् स्वच्छताके अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। वस्त्र बदलनेकी ही बातको लीजिये; यह १—प्रातः शय्यासे उठते, २—प्रातः भ्रमणसे वापस आनेके बाद, ३—शौचके बाद, ४—शव-स्पर्शके बाद और ५—किसी रजस्वला स्त्रीके स्पर्श हो जानेपर परिवर्तित किया जाता है। अब आप विचार करें कि वैज्ञानिक-दृष्टिसे निर्णय करनेपर यह बात कितने महत्त्वकी तथा स्वास्थ्यवर्द्धक सिद्ध होती है। कोई भी मिठाई रजस्वला स्त्रीके द्वारा स्पृष्ट होनेके बाद विषाक्त हो जाती है। (जरनल आफ इण्डियन मेडिकल एसोसिएशन, अक्टूबर १९४९।) यह बात दीर्घकालीन जर्मन और अमेरिकाके अनुसंधानोंसे भी सिद्ध हो चुकी है। हम हिंदू अब इस बातको भली प्रकार समझ सकते हैं कि जिसे हमारे शास्त्रोंने युगों पहले बतलाया था, आजके पाश्चात्त्य वैज्ञानिक भी समीचीन मानकर उसीका अनुसरण कर रहे हैं।

लघुशङ्काके बाद इन्द्रियको जलसे धोना फ्रान्सीसी वैज्ञानिकोंद्वारा भी स्वीकार किया गया है; क्योंकि इससे कई संक्रामक रोगोंसे मुक्ति मिल जाती है। ऐसा न करनेसे मूत्र सूखकर कष्टकर हो सकता है। तथापि उन लोगोंने भी खड़े-खड़े पेशाब करनेसे जो हानि होती है और जो मूत्रबिन्दु बिखरकर पैरोंपर तथा अन्य अङ्गोंपर पड़ते हैं, इसका ज्ञान प्राप्त नहीं किया है। अतः बैठकर लघुशङ्का करनेकी विधि सर्वथा निरापद है और श्रेष्ठ है। इतनेपर भी पैरोंको धोना ही पड़ता है; क्योंकि इस विधिमें भी मूत्र-बिन्दुओंके पैरपर पड़नेकी आशङ्का रहती है। ये आचार विज्ञानसिद्ध होनेपर भी आज भारतमें कुछ उपेक्षित-से हो रहे हैं; क्योंकि पश्चिमके लोग ऐसा नहीं करते और वे खड़ा होकर ही लघुशङ्का करते हैं।

अब विवाहको लें। शास्त्रोंने सगोत्र विवाहका पूर्ण निषेध किया है, फिर भी एक जातिमें ही विवाहका विधान किया है, विभिन्न वर्गोंका विवाह निषिद्ध है। बम्बईके जनगणनाआयुक्त एल० जे० सीजवीककी १९२१ की टिप्पणी of L. J. Sedgewick, Census Commissioner, (Report Bombay 1921) से भी यह स्पष्ट होता है कि पश्चिमके भी कुछ महान् व्यक्तियोंने इस रीतिको बड़ा लाभदायक और संतोषजनक माना था (द्रष्टव्य जातिगोत्र-विचार)। बम्बईके इसी जनगणना-रिपोर्टमें (जिल्द ८, पृष्ठ १०३पर) सीजवीकने कहा है कि

भारतीय विवाह-पद्धतिकी भिन्न गोत्र एवं एक वर्णमें होनेवाली रीति शुद्धवंश-परम्पराकी रक्षाका कारण है। (Census of India 1921, Volume VIII, page 103) भारतीय शास्त्रोंका भी वस्तुतः यही उद्देश्य था।

शास्त्र कहते हैं कि जल नारायणके आवास या साक्षात् आराध्य ही हैं—'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥' अब इसका तात्पर्य क्या है, इसे समझें। जब हम कभी किसी तालाबमें या बहते जलमें लघुशङ्का और शौच कर देते हैं तो कितनी दयनीय बात होती है। कुछ लोग गङ्गाके किनारोंपर भी ऐसा करते हुए सामाजिक हानिका अनुभव नहीं करते। हमारे मोह और आसक्तिकी भी सीमा नहीं है। धर्मके प्रति उपेक्षाका भाव, ईश्वरकी विस्मृति, शास्त्रोंके प्रति अश्रद्धा और अनादरका भाव सभी बस एक ही कारणसे है—पाश्चात्त्य अनुकृतिका मोह। इसी प्रभाव और मोहमें पड़कर हम शास्त्रोंके निर्देशोंकी अवहेलना करते हैं। इस मोहने हमारे ऊपर इतना दृढ़ अधिकार जमा रखा है कि हम शास्त्रोंकी अवहेलना ही नहीं करके रह जाते, बल्कि उन्हें गलत भी मानने लगते हैं। पर पाश्चात्त्योंके अन्धानुकरणमें हम अपनी या उनकी गलती नहीं मानते, जब कि वे प्रत्यक्ष गलत रास्तेपर भी चलते दीखते हैं। मद्यपान जो पहले सर्वथा पापपूर्ण समझा जाता था, अंग्रेजोंके शासन-कालमें बंगालमें एक फैशन बन गया था; विशेषकर आधुनिक शिक्षा प्राप्त किये हुए विद्यार्थियोंमें। इस मोहने हमारे सदाचारके आदर्शों एवं मूल्योंको गिरा दिया और हमें आचारसे दूर ले जाकर अनाचारके दलदलमें डाल दिया है और अब अधर्मका शासन ही सर्वोपरि हो गया है। अब केवल बस एक ही आशा रह गयी है कि भारतवर्ष वैकुण्ठधामका प्राङ्गण है और भगवान् श्रीहरि नारायण कभी भी अपने भारतवर्षको पापोंकी बाढ़में सर्वथा बहने नहीं देंगे। वे देर या सबेर—हमें सदाचारके लंगरके पास अवश्य ही वापस लायेंगे।

अचिन्त्यभेदाभेद-मतमें सदाचार

(लेखक—प्रभुपाद श्रीप्राणकिशोरजी गोस्वामी)

उपनिषदोंके अनुसार—'सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्'—पहले अनादि सत् (परमेश्वर) मात्र ही था। उसीका ध्यान कर तत्त्वद्रष्टा ऋषियोंने 'हरिः ॐ तत्सत्' कहा। यह ॐकार—एकाक्षर परम मङ्गलमय है, फिर इसी सत् नामक विराट्से वायु, अग्नि, जल और जीव-जगत्की उत्पत्ति हुई। उस सत्य परमात्माके संधानी व्यक्ति ही सत् और साधु होते हैं और उनका आचार ही सदाचार है। किंतु नित्य शुद्ध-बुद्ध, मुक्त, नित्य आनन्दमग्न, ब्रह्मभूत परमहंस साधु लौकिक या व्यावहारिक किसी आचार-विचारके अधीन नहीं रहते। वे हर्ष-शोक-विवर्जित, प्रसन्नात्मा, विश्वव्यापार-स्पर्श-शून्य एवं नित्यभगवच्छरणागत होते हैं। उन्हें कोई बन्धन नहीं होता। जीव दुर्भाग्यसे अनादिकालसे सत्स्वरूप भगवान्को भूला हुआ है। जन्म-जन्मान्तरोंके स्वप्नोंने उसे अपनी आत्मस्वरूपकी चिरन्तन चेतना तथा आनन्दमयताकी अनुभूतिसे विच्युत कर रखा है। जगत्-मूलके प्रति उसकी आसक्ति प्रधान हो गयी है। ऐसे परम सत्य निष्ठावञ्चित जीवके लिये साधु-सङ्गकी नितान्त आवश्यकता है। साधु-सङ्ग और सत्कथाके रूपमें भगवत्प्राप्तिके निमित्त किये गये प्रयोग सदाचार हैं। भगवत्प्राप्तिमें ही इन सबकी सफलता है।

वर्तमान व्यावहारिक जीवनमें जीवको नाना प्रकारके प्रलोभन आकर्षित करते हैं। इस दुश्चक्र या दुर्योगसे

निकलकर प्राणी महत्‌के आश्रयसे आत्म-चेतनासे सम्बुद्ध होता है। मानसिक, वाचिक एवं शारीरिक सदाचारमें स्थूल एवं सूक्ष्म भेद है। संकल्प-शोधन न होनेसे वाणी संयत तथा नियन्त्रित नहीं हो सकती। आहार-शोधन न होनेसे मनसे काम-क्रोध आदिकी घृणित वृत्तियाँ दूर नहीं होतीं, जिससे सदाचारका उल्लङ्घन होता है। क्रोध और असत्यसे सुकर्मकी ओर प्रवृत्ति नहीं होती है, और व्यक्तिगत जीवन और समाज-जीवनमें असत्यका प्राबल्य होता है। सनकादिके विषयमें भागवतपुराण-(२।७।५-)का कथन है—**'आदौ सनात्स्वतपसः स चतुःसनोऽभूत्।'** वे ही सनत्कुमार देवर्षि नारदकी चिन्तामयी अवस्था देखकर उनके विषादका कारण पूछते हैं। नारदजी कहते हैं—'नाना तीर्थ भ्रमण कर मैं हताश हो गया हूँ। देखा कि सर्वत्र कलिने अधर्मको स्वेच्छया विचरण करनेकी छूट दे रखी है। सत्य, शौच, दया, दान, विलुप्तप्राय हैं। मनुष्य असदाचरणमें लिप्त है। कौन किसको रोकेगा? आज असदाचारी लोग भी केवल प्रचारके जोरपर साधु कहलाते हैं। आश्रमकी पवित्रता अरक्षित है। तीर्थोंपर अधर्म और असत्यका दबाव है। अब सद्भावपूर्वक जीवन-यापन करनेमें आचारभ्रष्ट दुष्ट लोग बाधा देते हैं। उनकी बात मानकर ही चलना होगा। कलिके प्रभावसे भला-बुरा सब एकाकार हो गया है। वस्तुतः आज यही दशा है और सच्चे साधुजन तभीसे सदाचारके विचार-विवेचनकी चिन्तामें लगे हैं।

कलिकी प्रथम संध्यामें एक वृद्ध साधक—जिनका नाम अद्वैताचार्य था, आविर्भूत होकर कलिकालमें मनुष्यके लुप्त सदाचारकी अन्तिम परिणतिकी पर्यालोचना कर रहे थे। उन्होंने देखा कि देव-पूजाके नामपर पशुबलि एवं हिंसा, साधनाके नामपर दुष्ट-संसर्ग, सुरापान, रात्रिजागरण और शासनके नामपर सज्जन और असज्जनपर समान रूपसे अत्याचार होता है। उन अद्वैताचार्यने शास्त्रानुमोदित मार्गसे अनाचार, अविचार और कदाचारके प्रतिकार-पथका चिन्तन किया। उन्होंने देखा कि सब प्रकारके दोषोंके रहते हुए भी कलियुगमें एक बड़ा सद्गुण है कि भक्ति-पथपर चलनेवाला, चाहे वह जीवनमें जितना भी घृण्य-अपवित्र या दुराचारी कहलाता हो, साधुओंके पास या भगवान्‌के दरबारमें जहाँ यथार्थ सत्यासत्यका विचार होगा, वहाँ सभीका आदरणीय, पूज्य और प्रशंसापात्र होगा। हरिभक्ति ही इस प्रकारके मनुष्यको महाभागवत-बलका आश्रय देती है। भक्ति-भूमिमें तो हैं—प्रेम, क्षमा और अहिंसा और ज्ञानकी आनन्दभूमिमें हैं—मिलन, सेवा और सहानुभूतिके एकात्म्यभाव। सब जीवोंमें एकात्मताका शुद्ध भाव आपसमें सच्ची आत्मीयता जगाता है जो निरन्तर सभी प्राणियोंमें परमात्माकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म आनन्दमयी चेतन सत्ताका अनुभव कराती है। विज्ञानने सूक्ष्म परमाणुमें मृत्युविभीषिकाका प्रदर्शन किया है तो सदाचार-सम्पन्न, सत्यानुसन्धानी भारतीयने भी उस प्राण परमाणुमें अनन्त अमृतसागरकी खोज की है। इसीलिये भक्तिरसकी एक बूँद भी पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, भूमि-जल—सबोंको अमृतमय कर सकती है।

पशुयोनिमें जनमे वज्राङ्ग श्रीहनुमान्‌जी श्रीरामभक्त थे। उनके नाम लेनेमात्रसे कोटि-कोटि मनुष्य विपद्-मुक्त होते हैं। जटायु, गरुड़ आदि पक्षी होते हुए भी भगवान्‌की अनुकम्पासे सभी साधुओंके भी परम पूजनीय एवं आदरणीय बने। निषादकी जाति क्या थी? व्याध-कन्या शबरीकी कथा कैसे भुलायी जा सकती है? किस सदाचारके अन्तर्गत श्रीरामने इन्हें इस प्रकार आत्मसात् किया? अहल्याके किस आचरणके बलपर श्रीरामने उसे चरणस्पर्श प्रदान किया? गोपियोंके पास कौन-सी सम्पत्ति थी? केवल प्रेम-भक्तिके बलपर ही तो उन्होंने कृष्णको चिरऋणी बना लिया? इस भक्तिके साथ असदाचार भी सदाचारी साधुओंके लिये परम काम्य और भावप्रदायक हो जाता है। भगवान्‌ने इसी सदाचार-भक्तिके अभिप्रायसे कहा है—यदि कोई मुझे भक्तिपूर्वक एक

भी फल, फूल, तुलसीपत्र या एक अञ्जलि जल प्रदान करे तो मैं परमानन्दसहित उसे ग्रहण करता हूँ। उससे भूख-प्यास दूर होती है। और भी शास्त्रोंमें कहा गया है—

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुल्लुकेन वा।
विक्रिणीते स्वात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः॥
कृष्ण के तुलसी देय जेह जन।
तार ऋण शोधिबार कृष्ण करेन चिन्तन॥
तुलसी दलेर मतन धरे नाई धन।
अतएव आत्मबेचि करे ऋण शोधन॥
(चैतन्यचरितामृत)

कलिकालमें सदाचार-प्रतिष्ठा और साधु जीवन-यापनके निमित्त अद्वैताचार्यने तुलसी व जलका दान किया। उसके फलस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण-चैतन्य महाप्रभुका आविर्भाव हुआ। उस युगमें धर्म-प्रदर्शन करके महाप्रभुने सारे भारतमें नाम-कीर्तन सदाचारका प्रवर्तन किया। कलिका दोष केवल नाम-संकीर्तनकी ध्वनिमात्रसे दूर हो जाता है और तात्त्विक अभेदबुद्धि उत्पन्न होकर सात्त्विक परमानन्दकी प्राप्ति होती है। सदाचार मनुष्यके देह और मनको किस प्रकार परमात्माके अनुसंधानमें नियुक्त कर उन्नत दशाकी ओर आकर्षित करता है। श्रीहरिनाम ही हर प्रकारके सदाचारका जनक है। आइये, हम भी सत्य शास्त्र-सिद्धान्तके साथ स्वर मिलाकर कहें—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

वैष्णव-सदाचार

(लेखक—श्रीगुरुराजकिशोरजी गोस्वामी, भागवततीर्थ)

विष्णुपुराणके अनुसार राजा सगरने जब ऊर्ध्व ऋषिसे प्रश्न किया कि 'सदाचार क्या है? उसका किस प्रकार पालन किया जा सकता है?' तब ऋषिने कहा था—'हे पृथ्वीपाल! सदाचारी पुरुष इहलोक और परलोक दोनोंपर विजय प्राप्त करता है। सप्तर्षिगण, मनुगण एवं प्रजापतिगण ही सदाचारके वक्ता एवं कर्ता हैं। राजन्! तुम सदाचारका पालन निम्नप्रकारसे कर सकते हो। ब्राह्ममुहूर्तमें स्वस्थ एवं प्रशान्त चित्तसे धर्मका चिन्तन करो। धर्मविरोधी अर्थ तथा कामका परित्याग करो। जो धर्म समाज-विरोधी हो उसका परित्याग करो। देव-ऋषिकी पूजा, संध्या-वन्दन, सश्रद्ध यज्ञानुष्ठान करो। केश चिकने और परिष्कृत एवं वस्त्र-परिधान स्वच्छ-सुगन्धित रखो। कभी किसीका कुछ भी अपहरण मत करो। अप्रिय वाक्य न बोलो। मिथ्या प्रिय वाक्य भी मत बोलो। पर-दोष-कथन मत करो। परायी सम्पत्ति देखकर लोभ न करो।' और्व मुनिने और भी कहा है—'पतित व्यक्तिके साथ, कुदेश-स्थित व्यक्तिके साथ, मिथ्यावादी, पर-निन्दापरायण एवं शठ व्यक्तिके साथ मित्रता मत करो। प्रज्वलित गृहमें प्रवेश मत करो। वृक्षके शिखरपर आरोहण मत करो। मुँह ढके बिना जम्हाई न लो। नाखूनसे भूमिपर लिखो नहीं। अपवित्र अवस्थामें सूर्य-दर्शन मत करो। अतिथि-सत्कारमें कृपणता नहीं करो' इत्यादि।

श्रीचैतन्य-चरितामृतके अनुसार श्रीचैतन्यदेवने भक्त सनातनगोस्वामीको सदाचारके बारेमें शिक्षा देते हुए कहा है—'दन्तधावन, स्नान, संध्यावन्दनादि कर्म, गुरुसेवा, ऊर्ध्वपुण्ड्र-चक्रादि धारण, गोपीचन्दन, माला-धृति, तुलसी-आहरण, वस्त्रपीठ, गृह-संस्कार, कृष्ण-प्रबोधन आदि पूजाके उपचार सदाचारके अङ्ग हैं और नाम-महिमा, नामापराधवर्जन, स्नान-संध्या, तिलक, भगवदाराधन, शंख, जल, गन्ध, पुष्प-धूपादि, लक्षण-जप, स्तुति, परिक्रमा, दण्डवत् वन्दन, साधु-लक्षण, साधुसङ्ग,

कथा-श्रवण-कीर्तन आदि, असत्-सङ्ग-त्याग, श्रीभागवत-श्रवण आदि नियम—ये सब वैष्णव-सदाचार हैं। साथ ही असत्वाक्य, असत्-शास्त्र, असत्-सङ्ग एवं असत्-सेवा-वर्जन, पापकार्य-परित्याग, जलमें मल-मूत्र-त्याग-वर्जन, देव, साधु, मातृ-पितृगणोंकी सेवार्चना, मूर्ख, विपद्ग्रस्त, मायावी प्रभृतिके प्रति उपहास-वर्जन, उद्धत, उन्मत्त, मूढ़, अविनीत, नीच, निन्दित, हीन-स्वभावी व्यक्तियोंका संग-वर्जन, सदाचारावलम्बी साधु, प्राज्ञ, सत्यभाषी व्यक्तियोंका संग, तीर्थस्थान-दर्शन, वैष्णव-व्रतका अनुष्ठान एवं पालन—ये सब भी सदाचार हैं।

उपसंहार—सदाचार-पालन गृहस्थका आदर्श कर्तव्य है। सदाचारी पुरुष दीर्घायु होते हैं। सदा अक्षय धन-लाभ करते हैं। सभी अमंगल, विपद् दूर करनेमें सक्षम होते हैं। सदाचारी समाजमें सुप्रतिष्ठित होकर सभीके प्रिय पात्र बनते हैं। उनके सदाचरणके फलस्वरूप समाजका मङ्गल होता है, देशका प्रभूत कल्याण-साधन होता है। सदाचारी देशके सम्माननीय व्यक्ति होते हैं और सदाचारहीन व्यक्ति नित्य आपद्ग्रस्त होते हैं। वे निन्दित, रोगग्रस्त, धनहीन, असुखी होते हैं। अतएव ससुख जीवन-यापनके लिये सदाचाराश्रयी होना चाहिये। इसके फलस्वरूप ही राष्ट्र एवं देश-वासियोंका मङ्गल होता है।

वीरशैव-मतमें पञ्चाचार और सदाचार

(लेखक—जगद्गुरु श्रीअन्नादानीश्वर महास्वामीजी महाराज)

वीरशैवमत, लिङ्गायत, शिवाद्वैत वीर माहेश्वर एवं पञ्चाचार्यमतों आदि नामसे भी प्रसिद्ध है। इसके मठोंमें काशीका जङ्गमवाड़ी मठ, हृषीकेशका ऊखीमठ, आन्ध्रका श्रीशैवमठ, कर्णाटकका रम्भापुरीमठ और उज्जयनीका शैवमठ—ये पाँच तो बहुत ही प्रसिद्ध स्थान हैं।

कर्नाटकके वीरशैव लोग अपने धार्मिक सिद्धान्तके अनुसार आचारको शरीरस्थ प्राणादि पाँच वायुके समान मुख्य मानते हैं। वीर शैवमतका तात्त्विकस्वरूप इस प्रकारका है, कि 'अष्टावरण' धर्मपुरुषके शरीरमें ये पञ्चाचार, पाँच प्राण एवं षट् स्थल आत्माके समान हैं। देहधारीको चैतन्यरूपी प्राणादि वायुकी आवश्यकता है। प्राणवायु शरीरमें स्थिर रहनेतक आत्माका अस्तित्व भी बना रहता है। परमात्माके जो जल आदि आठ शरीर हैं, वे इस धर्मके अष्टावरण बन गये हैं। इस मतमें आठ शरीर ये हैं—गुरु, लिङ्ग, जङ्गम, विभूति, रुद्राक्ष, मन्त्र, पादोदक और प्रसाद और पञ्चाचारके नाम हैं—लिङ्गाचार, शिवाचार, सदाचार, भृत्याचार और गणाचार। आजन्म लिङ्गधारण करना, लिङ्गार्चन करना लिङ्गाचार है। लिङ्ग धारण करना भवरोगनाशक दिव्यौषध है। उसके साथ नियमोंका पालन करना भी महत्त्वपूर्ण है। सदाचार ही उसके लिये पथ्याहार है। यदि पथ्यका पालन न हुआ तो ओषधि अपना असर न दिखा सकेगी। शिवाचारमें अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि दस धर्म आते हैं। धर्मसंकट दूर करना गणाचार है। सबके साथ मिल-जुलकर नम्रताका व्यवहार करना भृत्याचार है। आत्मस्वरूपके छः स्थल ये हैं—भक्त, महेश, प्रसाद, प्राणलिङ्ग, शरण एवं ऐक्य। इन सब तत्त्वोंका प्राण सदाचार ही है।

जीवात्मा परमात्माका स्वरूप तो है, किंतु वह आणव-मल, मायामल और कार्मिकमल—इन मलत्रयदोषसे बन्धित हो जाता है एवं आत्मस्वरूपको भूल जाता है। इस सांसारिक बन्धनसे मुक्ति गुरुकृपासे ही साध्य है। गुरुदेव अपने शिष्यके मलत्रयको हटाकर स्थूल-सूक्ष्म और कारणरूपी तीनों शरीरमें इष्टलिङ्ग, प्राणलिङ्ग और भावलिङ्गका सम्बन्ध

करते हैं। गुरुदत्त इष्टलिङ्गको हाथमें रखकर उसमें नेत्र-मन-भावको तल्लीन करना ही शिव-पूजा कहलाती है। समाजके दोषपरीक्षक या सुधारकको जङ्गम कहते हैं। इनका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जो सर्वसङ्ग-परित्यागी होकर विरक्त रहता है। गुरु, लिङ्ग और जङ्गम—ये तीन वीरशैवके आराध्य वस्तु माने गये हैं एवं गुरु परशिवके साकाररूप। विभूति-रुद्राक्ष-मन्त्र—ये तीन पूजाके साधन हैं। इन साधनोंसे तीनों पूज्योंकी पूजा करनेसे पादोदक और प्रसाद फल मिलता है। इस तरह भगवान्के आराधक भक्त अष्टावरणसे सम्पन्न होकर भक्तादि छः स्थलका मार्गक्रमण करते हैं। उस मार्गमें पाँच प्रकारके आचारकी आवश्यकता होती है। आचारके बिना वीरशैव-सिद्धान्त नहीं टिक सकता है। वीरशैवधर्म विशाल सदाचार-तत्त्वके आधारपर खड़ा हुआ है, जो आगम-प्रमाणसे मान्य है। बारहवीं शतीमें बसवेश्वरादि शरणलोगोंद्वारा वीरशैवमतका पुनरुद्धार हुआ एवं इस समय वीरशैव धर्मका सुवर्णयुग बना। यह कहना अतिरञ्जित न होगा कि धार्मिक स्वातन्त्र्य, स्त्रीस्वातन्त्र्य, सामाजिक समानताका आविष्कार इन बसवेश्वरजीसे ही प्रवर्तित हुआ। इस सम्प्रदायके मतमें लिङ्ग शरीरसे किसी कारण भी अलग नहीं हो सकता। लिङ्गदेवकी आराधना या अर्चनाके बिना भक्त प्रसाद नहीं ग्रहण करता है। इस प्रकार वीरशैव-मतमें आचारका विधान विचारपूर्ण बना है।

जिस प्रकार मानव प्राणवायुके बिना जीवित नहीं रह सकता, वैसे ही वीरशैव लिङ्ग-धारणके बिना नहीं रह सकता। जब लिङ्ग धारण नहीं करेगा, तब वह लिङ्गायत न कहलायेगा। इसलिये पञ्चाचारमें पहले लिङ्गाचार बतलाया गया है। इस लिङ्गाचारसे यह शिक्षा मिलती है कि वीरशैव-लिङ्गनिष्ठायुक्त बनें एवं हमेशा लिङ्ग धारण करें। ये लोग लिङ्गदेवसे भिन्न भगवान्को नहीं मानते हैं, क्योंकि—

लिङ्गमध्ये जगत् सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
लिङ्गबाह्यात् परं नास्ति तस्मै लिङ्गाय ते नमः॥

तीनों लोकोंमें सचराचर प्रपञ्चने लिङ्गके बीचमें निवास किया है। लिङ्गसे बाहर कोई चीज नहीं है। अतः यह लिङ्ग पूजनीय एवं वन्दनीय है। लिङ्गायत अपने लिङ्गदेवमें ही सब देवताओंका अस्तित्व मानता है और लिङ्गधारी सबको समान। यहाँ भेदभावके लिये स्थान नहीं है। यही लिङ्गाचारकी व्याख्या है।

इस मतमें दूसरा आचार है शिवाचार। सारा जगत् शिव-मय है। इस शिवपदका अर्थ कल्याण, मङ्गल या शुभ होता है। इस मङ्गलमय शिवाचारसे भक्तका जीवन प्रारम्भ होता है। सामाजिक जीवनमें कल्याण पाना ही शिवाचारका उद्देश्य है। शिवाचारसे गुरूपदेशमें लगन, सामाजिक कल्याणमें श्रद्धा, समानता एवं परस्पर भ्रातृत्वभाव बढ़ता जाता है। अवान्तर-भेदको भूल जाना ही वीरशैवके शिवाचारका आदेश है। इसके अनुसार गुरु-दीक्षा-सम्पन्न हर एक व्यक्ति समान होता है। इसलिये परस्पर कोई भेदभाव नहीं रखना चाहिये; क्योंकि सभी शिवभक्त या लिङ्गभक्त समान हैं और उद्योगके कारण किसीको ऊँच-नीच नहीं समझा जाना चाहिये।

तीसरे आचारका नाम 'सदाचार' है, जो समस्त धर्मों-का सार है। जीवन-परिशुद्धिके लिये सदाचार सबको चाहिये। सदाचारसे शरीरका बाह्य और आन्तरिक शौच बन जाता है। इसके बारेमें 'बसवेश्वर'का उपदेश ऐसा है— 'चोरी मत करो, किसीको मारो मत! झूठ नहीं बोलना चाहिये, क्रोधी मत बनो। दूसरोंके साथ असहिष्णुता मत करो, अपनी बड़ाई नहीं करनी चाहिये। किसीको प्रत्युत्तर मत दो, यही अन्तरङ्ग शुद्धि और यही बहिरङ्ग शुद्धि है। यही हमारे कूडलसङ्गमदेवको साक्षात्कार करनेका मार्ग है।' और उनके दूसरे वचनमें—'आचार ही स्वर्ग है, अनाचार ही नरक है।' कहना यह है कि बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग

शुद्धिके उपर्युक्त साधनसे स्वर्ग मिलता है एवं शिव-साक्षात्कार भी उपलब्ध होता है। सदाचार-पालनसे स्वर्गसुखका अनुभव हो जाय तो अनाचारमार्गसे नरकका अनुमान हो जायगा। इस सदाचार-विषयपर प्रत्येक शरण लोगोंने अपने ढंगसे बहुत सुन्दर प्रतिपादन किया है। तोंटदसिद्ध लिङ्गयतिने कहा है—

"सत्यपथमें चलना और सत्य वचन बोलना—सदाचारका उद्देश्य है। सदाचारीको अपनी रोटीके लिये कमाना पड़ता है, उसके लिये दूसरेके आश्रय रहना उचित नहीं है। वह सदाचार-पालनसे ही भक्त तथा उद्योगशील बनेगा। उद्योग करनेसे गरीबी न रहेगी और दूसरेसे भीख माँगनेकी जरूरत नहीं पड़ेगी। वीरशैवधर्मने उद्योगके लिये महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। स्वावलम्बी होना ही सदाचार-पालनका मर्म है। इसलिये सदाचारके नियमों-पर चलना सबका कर्तव्य है।"

चौथा आचार 'भृत्याचार' माना गया है। भृत्याचार-का अर्थ सेवाभावसे आचरण करना है। सेवाधर्म जीवनमें आना चाहिये। सेवाभावसे अहंकार, ममकार टूट जाता है और नम्रता आती है। नम्रभाव मानवके व्यक्तित्वको ऊँचा उठा देता है। परमादरणीय हानगलके कारणिक-पुरुष कुमारशिवयोगीजीने भगवान्‌से ऐसी प्रार्थना की है—'हे शंकर! आप सर्वदा अपने किंकरोंकी रक्षा करें।' इससे ज्ञात होता है कि सेवकधर्मसे चलनेवालोंकी रक्षा जरूर होती है। बसवेश्वरजी ज्ञान-भक्तिके भंडार होते हुए भी बहुत विनम्रभावसे रहते थे और कहते थे—'भक्तिका मूल भृत्याचार है। भृत्याचारसे रहनेवाला भक्त शिवको अत्यन्त प्रिय होता है। भृत्याचारीमें दया, अनुकम्पा और सेवाभाव विराजित रहते हैं। महात्मा गांधी श्रेष्ठ भृत्याचारी हुए, उनमें वे सब गुण निहित थे। भृत्याचारीको सदा शान्ति मिलती है।'

पाँचवें आचारका नाम 'गणाचार' है। संघजीवी होना, अन्याय, अनाचार और दुर्मार्गका प्रतिरोध करना ही गणाचारका लक्ष्य है। स्वधर्मका पालन करते हुए भी परधर्मके प्रति सहिष्णु बनना चाहिये। गणाचारसे पुरुषत्व जाग्रत् हो जाता है। आत्मसाक्षात्कारमें धीरताकी आवश्यकता है। बलहीनको भगवान् नहीं मिलते और उससे धर्मरक्षणका काम भी नहीं हो सकता, इसलिये गणाचारका आश्रय करना आवश्यक है। भारतीय संविधानका सिद्धान्त भी गणाचारसे युक्त है।

इस प्रकार वीरशैवमतमें लिङ्ग धारण करते हुए शिवभावसे सम्पन्न होकर सदाचार (पञ्चाचार)का पालन करना पड़ता है और भृत्याचारसे विनम्र होकर अपने धर्मके प्रति श्रद्धावान् भी बनना पड़ता है। इससे शिवसाक्षात्कार (लिङ्गाङ्गसामरस्य)का मार्ग सुलभ होगा और उन्हें जीवन्मुक्त बननेका अवसर मिलेगा। अतः वीरशैवमतके ये पाँच आचार आदरणीय एवं अनुकरणीय हैं। सर्वमान्य सदाचार वीरशैवमतके पञ्चाचारके अन्तर्गत बना है। इसमें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्'का तत्त्व निहित है।

सदाचारके साक्षी भगवान्

'एक ईश्वर ही हमारे पूज्य हैं। अहिंसा ही धर्म है। अधर्मसे प्राप्त वस्तुको अस्वीकार करना ही व्रत है। अनिच्छासे रहना ही तप है, किसीसे कपट न करना ही भक्ति है। सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंमें समभावसे रहना ही समयाचार है। यही सत्य है। हे देव! इसके आप साक्षी हैं।

—संत बसवेश्वर

नाथ-सम्प्रदाय और सदाचार

(लेखक—श्रीशि० भ० देशमुख)

वैसे अब यह भलीभाँति सिद्ध हो गया है कि नाथ-सम्प्रदाय एक प्रकारसे अनादि-सा है। महर्षि दत्तात्रेयने भी गोरखनाथजीकी चर्चा की है और पुराणोंमें इनका बहुधा उल्लेख है। पर दसवीं-ग्यारहवीं शतीमें नाथ-सम्प्रदायकी साधना-पद्धति भारतमें विशेष जोर पकड़ रही थी। उस समय बौद्धधर्मका पतन होता जा रहा था अतः उसका महत्त्व नष्टप्राय हो रहा था। इसी पार्श्वभूमिमें नाथ-सम्प्रदाय विशेषरूपसे संघटित हुआ। 'ज्ञानेश्वरी'में ज्ञानेश्वरमहाराजने महायोगी गोरखनाथका 'विषय-विध्वंसकवीर' इस यथार्थ विशेषणसे गौरव गान किया है। इस विशेषणसे उन्होंने केवल गोरखनाथकी ही नहीं, सारे नाथ-सम्प्रदायकी विशेषता बतलायी है। तान्त्रिकों और सिद्धोंके जो भी ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे साधारण तौरपर साधनमार्गकी व्याख्यापरक पद्धतियाँ ही हैं। उनमें दार्शनिक और नैतिक उपदेशोंका आभास बहुत कम मिलता है। परंतु नाथ-सम्प्रदायके योगियोंकी बानियोंके ग्रन्थोंमें जगह-जगह सदाचार एवं नैतिक उपदेश दिखायी देते हैं। 'हठयोग-प्रदीपिका,' 'सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह,' 'गोरक्षसंहिता', 'अमरौघशासन', 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति', 'गोरखबानी'—इन सब ग्रन्थोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सम्प्रदाय सदाचारके प्रति कितना सजग था।

'हठयोगप्रदीपिका'में स्वात्मारामयोगीन्द्रने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, दया, क्षमा आदि सत्-आचारोंकी आवश्यकता प्रतिपादित की है, साथ-ही-साथ ब्रह्मचर्यकी महिमा भी जगह-जगहपर बतायी गयी है। सिद्धयोगी गोरखनाथने अपनी बानियोंमें निन्दनीय एवं बुरी आदतोंपर कई स्थलोंपर टीका की है। कहते हैं कि संयम करनेवाले व्यक्तिको ही 'जोगी' कहते हैं, दूसरोंको नहीं—

जोगी सो जो राखै जोग। जिभ्या यंद्री न करै भोग।
अंजन छोड़ि निरंजन रहे। ताकू गोरख जोगी कहे॥

(गोरखबानी २३०)

वे इसके आगे कहते हैं—'जोगी होकर जो परायी निन्दा करता है; मद्य, मांस और भाँगका सेवन करता है, उसके इकहत्तर सौ पूर्व पुरुष नरक चले जाते हैं'।

जोगी होइ पर निंद्या झषै। मद मांस अरु भाँगि जो भषै॥
इकोतरसै पुरिषा नरकहि जाई। सति सति भाषंत श्रीगोरख राई॥

(गोरखबानी १६४)

'जो अफीम खाता है और भाँगका भक्षण करता है, उसको बुद्धि कहाँसे आये। भाँग खानेसे पित्त चढ़ता है और वायु उतरती है, इसलिये गोरखने कभी भाँग न खायी'—

आफू खाय भाँगि भसकावै। ता मैं अकलि कहाँ तै आवै॥
चढ़ता पित्त उतरता बाई। तातै गोरष भाँगि न षाई॥

(गोरखबानी २०८)

'दया-धर्म सदाचारका मूल है। इसलिये श्रीगोरखनाथजी कहते हैं, हे अवधूतो! मांस खानेसे दया-धर्मका नाश हो जाता है, मदिरा पीनेसे प्राणमें नैराश्य आता है, भाँग खानेसे ज्ञान-ध्यान सब खो जाता है और ऐसे प्राणी यमके दरबारमें रोते हैं'—

अवधु मांस भषंत दया धर्मका नाश।
मद पीवत तहाँ प्राण निरास॥
भाँगि भषत ग्यान ध्यान खोवंत।
जम दरबारी ते प्राणी रोवंत॥

(वही १६५)

असंयत व्यक्तिके लिये तो इस सम्प्रदायमें कोई स्थान ही नहीं है। असंयमित प्रवृत्तिपर गोरखनाथ और नाथयोगियोंने जगह-जगह कड़ी टीका की है। एक स्थलपर गोरखनाथजी कहते हैं कि जो इन्द्रियों-

के सम्बन्धमें असंयत हैं, जिह्वासे फूहड़ बातें करते हैं, वे मानो प्रत्यक्ष भंगी हैं। लंगोटका पक्का; यानी इन्द्रियोंमें संयम रखनेवाला, मुखसे सत्य वचन कहनेवाला पुरुष ही उत्तम पुरुष, सत्पुरुष कहा जाता है।

थंद्री का लड़बड़ा जिभ्याका फूहड़ा।
गोरख कहै ते पर्तषि चूहड़ा॥
काछ का जती मुष का सती।
सो सत पुरुष उतमो कथी॥ (वही १५२)

इस प्रकार नाथ-सम्प्रदायमें कठोर ब्रह्मचर्य, वाक्संयम, शारीरिक शौच, अहिंसा, अस्तेय, सत्य आदि सदाचार, ज्ञानके प्रति निष्ठा, बाह्य आचरणोंके प्रति अनादर आदिपर जोर दिया गया है। हिंदीमें पाये जानेवाले जोगियोंके पदोंमें यह ध्वनि बहुत स्पष्ट और बलशाली है। इस ध्वनिने साधकोंके लिये आचरण-शुद्धिकी प्रधान पृष्ठभूमि तैयार कर दी है।

बौद्ध-सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीमाहेश्वरीसिंहजी महेश, एम्० ए०, पी-एच० डी०)

भारतीय बौद्धधर्म पूर्वोत्तर एशियामें अपनी शाश्वतता, चिरन्तनता, अमरता, व्यावहारिकता तथा आदर्शवादिताके लिये अब भी विख्यात है। इसमें शील एवं सदाचारका बड़ा ही महत्त्व है। पञ्चशील, अष्टशील एवं प्रव्रज्याशील सदाचारके ही विविध भेद हैं। गृहस्थोंके लिये पञ्चशील एवं अष्टशील पालनीय हैं एवं भिक्षुओंका इन युगल शीलोंके अतिरिक्त प्रव्रज्याशील भी कर्तव्य है। बौद्धधर्म ग्रहण करनेवाले किसी गृहस्थके लिये यह आवश्यक है कि वह किसी भिक्षुसे त्रिशरणके साथ पञ्चशील ग्रहण करे और तभी वह बौद्ध हो जायगा। बौद्ध-धर्मसे त्रिशरणसहित पञ्चशील ग्रहण करनेकी विधि निम्नाङ्कित है—

नमस्कार—

नमो तस्स भगवतो अरहंतो सम्भासम्बुद्धस्स।

उन भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्धको **नमस्कार है।**

त्रिशरण

बुद्धं सरणं गच्छामि—मैं बुद्धकी शरण जाता हूँ।

धम्मं सरणं गच्छामि—मैं धर्मकी शरण जाता हूँ।

संघं सरणं गच्छामि—मैं संघकी शरण जाता हूँ।

नमस्कार और त्रिशरणको तीन-तीन बार कहना चाहिये।

पञ्चशील

त्रिशरणके बाद पञ्चशीलका विधान है, जो निम्न प्रकार है—(१) **प्राणातिपाता वेरमणी सिक्खापदं समादियामि**—मैं प्राणि-हिंसासे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ। (२) **अदिन्नादाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि**—मैं चोरीसे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ। (३) **कामेसु मिच्छाचारा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि**—मैं व्यभिचारसे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ। (४) **मुसावादा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि**—मैं झूठ बोलनेसे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ। (५) **सुरा-मेरय-मज्ज पमादट्ठाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि**—मैं सुरा, मैरेय, मद्य और नशीली चीजोंके सेवनसे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ।

अष्टशील

प्रत्येक मासकी अष्टमी, पूर्णिमा और अमावास्या ये चार तिथियाँ उपोष्य व्रत रहनेकी हैं। इन तिथियोंमें

अष्टशील पालनीय हैं। इसका नियम यह है कि अष्टशील ग्रहण करनेवाला व्यक्ति किसी भिक्षुके सम्मुख श्रद्धा-पवित्रताके साथ उपस्थित होकर उसे तीन बार नमस्कार कर त्रिशरण ग्रहण करे तथा निम्नलिखित अष्टशील ले—

(१) **प्राणातिपातः वेरमणी सिक्खापदं समादियामि**—मैं प्राणि-हिंसासे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ। (२) **अदिन्नादाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि**—मैं चोरीसे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ। (३) **अब्रह्मचरिया वेरमणी सिक्खापदं समादियामि**—मैं अब्रह्मचर्यसे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ। (४) **मुसावादा वेरमणी सिक्खापदं समादियामि**—मैं झूठ बोलनेसे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ। (५) **सुरामेरयमज्ज-पमादट्ठाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि**—मैं सुरा, मैरेय, मद्य और नशीली चीजोंके सेवनसे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ। (६) **विकाल-भोजना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि**—मैं असमय-में भोजनसे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ। (७) **नच्चगीतावादित विसूकदस्सन मालागंध-विलेपन-धारण मण्डन-विभूसनट्ठाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि**—मैं नाच-गान, बाजा और खेल-तमाशे तथा मेला आदि देखने तथा फूल, माला और सुगन्धि-लेपनादिको धारण करने एवं शरीर-शृङ्गारके लिये किसी प्रकारके आभूषणकी वस्तुओंको धारण करनेसे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ। (८) **उच्चास-यन महासयना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि**—मैं बहुत ऊँची और महार्घ शय्यापर सोनेसे विरत रहनेकी शिक्षा ग्रहण करता हूँ।

विशेष बात—

बौद्धोंके जीवनमें वन्दना, परित्राण, संस्कार, व्रत-त्यौहार एवं तीर्थोंकी बड़ी महिमा है। चूँकि इन सबका सीधा सम्बन्ध शील-सदाचारसे है, अतः इनका भी यहाँ संक्षेपमें वर्णन किया जा रहा है—

वन्दना

वन्दना बुद्धकी, धर्मकी, संघकी, चैत्यकी और बोधि (वृक्ष)की की जाती है। फिर बुद्ध-पूजा पुष्प, धूप, सुगन्धि, प्रदीप और आहारसे निम्नलिखित संकल्पके साथ होती है—

इमाय धम्मानुधम्म-पटि पत्तिया बुद्धं पूजेमि।
इमाय धम्मानुधम्म-पटि पत्तिया धम्मं पूजेमि।
इमाय धम्मानुधम्म पटि पत्तिया संघं पूजेमि॥१॥

'इस धर्मकी प्रतिपत्तिसे मैं बुद्ध, धर्म, संघकी पूजा करता हूँ।'

श्रद्धा इमाय पटि पत्तिया जाति जरा मरणम्हा परि मुचिस्सामि॥२॥ निश्चय ही इस प्रतिपत्तिसे जन्म, बुढ़ापा और मृत्युसे मुक्त हो जाऊँगा।'

इमिना पुत्रकम्मेन मा मे बाल समागमो।
सतं समागमो होतु या निब्बानपत्तिया॥३॥

'इस पुण्यकर्मसे निर्वाण प्राप्त करनेके समयतक कभी भी मूर्खोंसे मेरी संगति न हो, सदा सत्पुरुषोंकी संगति हो।'

देवोवस्सतु सस्ससम्पत्ति हेतु च।
फीतो भवतु लोको च राजा भवतु धम्मको॥४॥

'फसलकी वृद्धिके लिये समयपर पानी बरसे, संसारके प्राणी उन्नति करें और शासक धार्मिक हों।'

परित्राण—परित्राण-पाठ अपने मङ्गलके लिये किया जाता है। यों तो परित्राण-पाठके लिये कितने ही सूत्र हैं, किंतु इनमें आवाहन, महामङ्गलसूत्र, करणीय मेत्त-सुत्त, महामङ्गल-गाथा, पुण्यानुमोदन तथा जयमङ्गल अट्ठगाथा प्रमुख हैं। कहा गया है कि इन पाठोंसे मनुष्यका कल्याण होता है, भूत-प्रेतोंके उपद्रव शान्त होते हैं, रोग भाग जाते हैं, देवताओंकी रक्षा बनी रहती है, मिथ्या-दृष्टि दूर होती है और शीलता-सदाचारिताका आगम होता है। इससे काम-तृष्णा नष्ट होती है, पुनर्जन्मसे मुक्ति

मिलती है, अपशकुन, अप्रिय शब्द, बुरे स्वप्न, बुरे ग्रह सबके रूप नष्ट होते हैं, पृथ्वी और आकाशपर रहनेवाले देव और नाग चिरकालतक रक्षा करते हैं एवं सब प्रकार उपद्रवोंसे मुक्त होकर मोक्ष (निर्वाण) सुख भी प्राप्त हो जाता है ।

संस्कार–संस्कार व्यक्तिको सुसंस्कृत और सुसभ्य बनाते हैं । बौद्धोंमें प्रारम्भसे ही अनेक संस्कार आ रहे हैं । जन्मसे मरणतक गब्यमङ्गल, नामकरण, अन्नप्राशन, केसकप्पन, कण्णविज्झन (कर्णवेध), विद्यारम्भ, विवाह, प्रव्रज्या, उपसम्पदा तथा दाहकम्म एवं मतकमत्त (श्राद्ध)के संस्कार मनुष्यको सुखी, सम्पन्न, शीलवान्, सदाचारी और मोक्षाधिकारी बनाते हैं ।

व्रत-त्यौहार–व्रत-उपवासके लिये प्रत्येक मासमें दोनों अष्टमियाँ, पूर्णिमा और अमावस्या नियत हैं । इन तिथियोंमें अष्टशील पालनीय हैं । इनके अतिरिक्त कुछ पर्व और महापर्व ये हैं—वैशाखी पूर्णिमा, आषाढ़ी पूर्णिमा, आश्विन पूर्णिमा, माघी पूर्णिमा, नागपञ्चमी, विजयादशमी, दीपावली, वसन्त और होली । व्रत-त्यौहारके दिनोंमें पूजा, वन्दना, दान आदि पुण्यकर्म किये जाते हैं । ये पूजा-त्यौहार दैविक, दैहिक एवं भौतिक सम्पदाओंसे मनुष्यको शीलवान्, चरित्रवान्, सदाचारी और मुक्ति-निर्वाणाधिकारी बनाते हैं ।

तीर्थयात्रा–बौद्धधर्मानुसार लुम्बिनी, बुद्धगया, सारनाथ और कुशीनगर इन महातीर्थोंके अतिरिक्त अन्य स्मारक तीर्थ हैं—राजगृह, वैशाली, नालन्दा (बिहारमें), कौशाम्बी, पावा, सांकाश्य, श्रावस्ती (उत्तरप्रदेशमें), कपिलवस्तु (नेपालकी तराईमें), भरहुत, उज्जैन, बाघ, धमनार, माहिष्मती, साँची, भेलसा, ललितपुर (मध्यप्रदेशमें), कार्ला, भाजा, कन्हेरी (महाराष्ट्रमें), अजन्ता, एलौरा, नागार्जुनी, कोंडा, अमरावती (आन्ध्रप्रदेशमें) काँजीवरम्, नागपट्टम्, श्रीमूलवासन् (तमिलनाडमें), जूनागढ़, धंक, सिद्धसर, तलजा, सनाह, बलभी काम्पिल्य (गुजरातमें) और तक्षशिला एवं पेशावर (पाकिस्तानमें) ।

तीर्थ-यात्रासे मनुष्यमें ज्ञान, बुद्धि, विवेक, आचार और विचार आते हैं एवं वह स्वस्थ, सुखी, स्नेही और श्रद्धावान् बनता है ।

सहनशीलता

भगवान् बुद्ध किसी जन्ममें भैंसेकी योनिमें थे । जंगली भैंसा होनेपर भी बोधिसत्त्व अत्यन्त शान्त थे । उनके सीधेपनका लाभ उठाकर एक बंदर उन्हें बहुत तंग करता था । वह कभी उनकी पीठपर चढ़कर कूदता, कभी उनके सींग पकड़कर हिलाता और कभी पूँछ खींचता था । कभी-कभी तो उनकी आँखमें अँगुली भी डाल देता था । परंतु बोधिसत्त्व सदा शान्त ही रहते थे । यह देखकर देवताओंने कहा—'ओ शान्तमूर्ति ! इस दुष्ट बंदरको दण्ड देना चाहिये । इसने तुमको क्या खरीद लिया है या तुम इससे डरते हो ?'

बोधिसत्त्व बोले—'देवगण ! इस बंदरने न मुझे खरीदा है, न मैं इससे डरता हूँ । इसकी दुष्टता भी मैं समझता हूँ और केवल सिरके एक झटकेसे अपने सींगसे इसे फाड़ डालनेका बल भी मुझमें है । परंतु मैं इसके अपराध क्षमा करता हूँ । अपनेसे बलवान्के अपराध तो विवश होकर सभी सहन कर लेते हैं, सहनशीलता तो वह है जो अपनेसे निर्बलके अपराध सहन कर लेती है ।' (—जातक माला)

'धम्मपद'में प्रतिपादित सदाचार-पद्धति

(लेखक—डॉ० श्रीनाथूलालजी पाठक)

'धम्मपद' बौद्धधर्मका सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। बौद्ध सिद्धान्तों और साधनामार्गका ज्ञान करानेवाला ऐसा सरल ग्रन्थ दूसरा नहीं है। सिंहली-परम्पराके अनुसार तो धम्मपदके पारायणके बिना किसी भिक्षुकी 'उपसम्पदा' ही नहीं होती। बर्मा, स्याम, कम्बोडिया और लाओसमें प्रत्येक भिक्षुके लिये इसे कण्ठस्थ करना परमावश्यक है। भगवान् बुद्धके उपदेशोंके इस सुन्दर संग्रहमें नैतिक दृष्टिकी पर्याप्त गम्भीरता विद्यमान है। हिंदुओंमें श्रीमद्भगवद्गीताको जिस सम्मानपूर्ण दृष्टिसे देखा जाता है, उसी उत्कृष्ट भावना और सम्मानसे बौद्धमतावलम्बी 'धम्मपद'को देखते हैं। इसे बौद्धोंकी गीता कहना युक्तिसंगत जान पड़ता है। इसकी शिक्षाएँ सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक हैं। इसमें चार आर्यसत्य, अष्टाङ्गिक मार्ग और विविध प्रकारके सदाचारोंका उल्लेख हुआ है। इसमें वर्णित सदाचारके पालनसे असंख्य दुःख-संतप्त मानवोंका उद्धार हुआ है। इसमें जीवनको आदर्शके साँचेमें ढालनेवाले सत्कर्मकी महत्ताका प्रतिपादन किया गया है। वैयक्तिक शान्ति चाहनेवाले तथा गृहस्थाश्रममें रहते हुए शान्तिके इच्छुक दोनों प्रकारके व्यक्तियोंके लिये—क्रमशः भिक्षुधर्म और गृहस्थधर्मकी शिक्षा देनेवाला यह अनुपम ग्रन्थ है।

बौद्धधर्म प्रधानतः आचारप्रधान धर्म है। इस धर्ममें नैतिक आचरणको बड़ा महत्त्व दिया गया है। धम्मपदमें प्रमुखरूपसे उन सभी नैतिक सदाचारके नियमोंका उल्लेख हुआ है, जिनके अनुसार आचरण करनेसे मानवको अपने चरमलक्ष्य—दुःखोंकी निवृत्तिकी प्राप्ति होती है। बौद्धधर्मके मूल आधार चार आर्य सत्य इस प्रकार हैं—(१) संसारमें दुःख है, (२) इस दुःखकी उत्पत्ति होती है, (३) दुःखका विनाश होता है और (४) इस दुःखके विनाशके मार्ग भी हैं। दुःखके विनाशका एकमात्र साधन अष्टाङ्गिक मार्ग है। इस मार्गमें आठ बातें हैं—सम्यक्दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक्वचन, सम्यक्कर्मान्त, सम्यक्आजीव, सम्यक्व्यायाम, सम्यक्स्मृति और सम्यक्समाधि। इस अष्टाङ्गिक मार्गके आधारपर दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये अनेक नैतिक नियमोंका या सदाचरणोंका उल्लेख 'धम्मपद'में किया गया है। ये शीलसम्बन्धी नियम प्रायः सभी धर्मोंमें किसी-न-किसी रूपमें विद्यमान हैं। अतः ये अनुसरणीय हैं।

'धम्मपद'में वाचिक, मानसिक और कायिक संयमपर बड़ा बल दिया गया है। मग्गवग्ग (२०)की एक गाथा (२८१) में कहा गया है—

वाचानुरक्खी मनसा सुसंवुतो
कायेन च अकुसलं न कयिरा
एते तयो कम्मपथे विसोधये
आराधये मग्गमिसिप्प वेदितं

—वाणीकी रक्षा करे, मनसे संयमी बने और शरीरसे कोई बुरा काम न करे। इन तीन कर्मपथोंकी शुद्धि करे और ऋषियोंके बतलाये हुए मार्गका सेवन करे। विशेषरूपसे इसमें मनके संयमको प्राथमिकता दी गयी है। 'धम्मपद'के प्रथम 'यमकवग्ग'की प्रथम गाथा मानसिक संयमका निर्देश करती है। मनुष्यकी सारी प्रवृत्तियोंका प्रारम्भ मनसे होता है। यही धर्मका पूर्वगामी है। यदि मन दुष्ट है तो मनुष्यका आचरण दुष्टतापूर्ण होता है। मनके दुष्ट होनेपर वाणी और कर्म भी कलुषित हो जाते हैं और परिणाममें मनुष्यको दुःख भोगना पड़ता है—

मनो पुब्बङ्गमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।
मनसा चे पदुट्ठेन भासति वा करोति वा॥
ततो 'नं दुक्खमन्वेति चक्कं' व वहतो पदं।
(धम्मपद १)

मनके संयत हो जानेपर वाणी और कर्मका संयम स्वतः हो जाता है। मनको चित्त भी कहा जाता है। धम्मपदका तीसरा वग्ग चित्तवग्ग है, जिसमें पुनः मन-चित्तके निग्रहका उपदेश किया गया है—**'चित्तस्स दमथो साधु'** (३। ३) अर्थात् चित्तका दमन करना उत्तम है। मनके निग्रहका उपदेश देनेके पश्चात् मनुष्यको सतत सावधान और प्रमादहीन होनेका उद्बोधन दिया गया है। कहा गया है—**'मा पमादमनुयुजेथ'** 'अपनेको प्रमादमें मत लगाओ।' इसीके साथ काम और वासनासे भी दूर रहनेके लिये कहा गया है—**'मा कामरतिसन्थवं'**—काम और वासनासे परिचय मत बढ़ाओ। जीवनमें सुख चाहने-वाले व्यक्तिको चाहिये कि तृष्णाका क्षय कर दे। तण्हावग्गकी एक गाथा (३४०)में कहा गया है—

सवन्ति सब्बधी सोता लता उब्भिज्ज तिट्ठति।
तं च दिस्वा लतां जातां मूलं पञ्ञाय छिन्दथ॥

अर्थात्—'तृष्णाके स्रोत सब ओर बहते हैं। इस कारण लता फूटकर खड़ी हो जाती है। उस समय उत्पन्न हुई लताको देखकर प्रज्ञासे उसकी जड़ोंको काट डालो। 'धम्मपद'में स्थान-स्थानपर प्रज्ञाकी प्रतिष्ठा दिखायी गयी है। मनुष्य ज्ञानके द्वारा ही तृष्णा आदि विकारोंको दूर करते हैं। बाल-वग्गमें मूर्खताकी निन्दा की गयी है और मूर्खतासे होनेवाले दुःखोंका संकेत दिया गया है। यह भी कहा गया है कि जो मूर्ख अपनी मूर्खताको जान लेता है, वह बुद्धिमान् हो जाता है। पर जो मूर्ख होकर भी अपनेको बुद्धिमान् मानता है, वस्तुतः वही मूर्ख कहा जाता है—

यो बालो अति बाल्यं पण्डितो वापि तेन से।
बाले च पण्डितमानी स वे बालोति वुच्चति॥
(५। ६३)

समाजमें सदाचारकी सुप्रतिष्ठाके लिये भावितात्मा या आध्यात्मिक संतकी पूजाको श्रेष्ठ कहा गया है। सदाचारको सरलतासे ग्राह्य बनानेके लिये संत-पूजाके सर्वजन-सुलभ साधनकी ओर धम्मपदमें स्पष्ट रूपसे संकेत किया गया है—

मासे मासे सहस्सेन मो यजेथ सतं समं।
एकं च भावितं ज्ञानं मुहुत्तमपि पूजये॥
सा येव पूजना सेय्यो यं चे वस्ससतं हुतं।
(८। १०६)

'यदि प्रतिमास हजारोंकी दक्षिणा देकर सौ वर्षतक यज्ञ किये जायँ तो वे उतना फल नहीं दे सकते, जितना परिशुद्ध मनवाले एक स्थितप्रज्ञ संतका मुहूर्तभरका पूजन प्रदान कर देता है। इसमें यज्ञादि कर्मकाण्डोंकी अपेक्षा संत-समागमकी महिमाको श्रेष्ठ बताया गया है। धम्मपदके 'सहस्सवग्ग'में उपर्युक्त कथनके आगे कहा गया है कि सौ वर्षोंतक कोई व्यक्ति वनमें रहकर आगेकी परिचर्या करे, फिर भी वह उस मनुष्यके समान नहीं हो सकता, जिसने क्षणभर भावितात्माकी पूजा कर ली हो। पुण्य प्राप्त करनेकी अभिलाषासे वर्षभर किये गये यज्ञ और हवन सरल चित्तवाले पुरुषोंके प्रति किये गये अभिवादनके समक्ष तुच्छ हैं। जो व्यक्ति सदा अभिवादनशील है और सदा वृद्धजनोंकी सेवा करता है, उसकी आयु, वर्ण, सुख तथा बलमें वृद्धि होती है—

अभिवादनसीलस्स निच्चं विद्धापचायिनो।
चत्तारो धम्म वाड्ढन्ति आयु वण्णो सुखं बलं॥
(८। १०९)

सदाचारी और ऋषिकल्प व्यक्तिकी सेवाका विधान 'धम्मपद'में विशेषरूपसे किया गया है। भगवान् बुद्धके

अनुसार जाति और वर्णका बन्धन स्वीकार नहीं किया गया। वे सदाचारशील व्यक्तिको ही श्रेष्ठ बतलाते हैं। सदाचारसे ही इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदयकी सिद्धि हो सकती है। पुण्य करनेवाले सदाचारीके लिये कहा गया है कि वह यहाँ आनन्दित होता है, परलोकमें भी आनन्दित होता है अर्थात् दोनों लोकोंमें आनन्दित होता है। इसके विपरीत धम्मपदमें दु:शील और अस्थिर चित्तवाले व्यक्तिकी स्थितिका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—

यो च वस्ससतं जीवे दुस्सीलो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो सीलवन्तस्स झायिनो॥
(८। ११०)

'दुराचारी, असंयत और असमाहित व्यक्तिके सौ वर्षतक जीवित रहनेकी अपेक्षा शीलवान् और ध्यानीका एक दिनका जीवन श्रेष्ठ है।' बौद्ध-आचार-में अप्पमाद (अप्रमाद) या श्रमकी बड़ी प्रशंसा की गयी है। '**अप्पमादो अमतपदं**' कहकर इसे अमृतका —निर्वाणका प्रवेशद्वार बताया गया है। सदाचारके अन्तर्गत श्रमकी महिमाका बखान करते हुए कहा गया है कि—'**अप्पमादेन मघवा देवानं सेट्ठतं गतो।**' (२। ३०)—प्रमादसे रहित होनेके कारण इन्द्र देवोंमें श्रेष्ठ गिने गये।

'धम्मपद'में लोगोंको पापकर्मसे दूर रहनेका उपदेश दिया गया है। बुद्धने इस स्थितिका सूक्ष्म निरीक्षण किया है और इसपर जो विचार व्यक्त किये हैं, वे इस प्रकार हैं—

मधुव माञ्ञती बालो याव पापं न पच्चति।
यदा च पच्चति पापं अथ दुक्खं निगच्छति॥
(५। ६९)

'जबतक पापकर्मका परिपाक नहीं होता, तबतक मूर्ख मनुष्य उसे (पापको) मधुकी भाँति मीठा समझता है, किंतु जब पापकर्म फल देने लगता है, तब कर्ता दु:खका अनुभव करने लगता है। पापके फलसे मनुष्य-को मुक्ति नहीं मिल सकती। आकाशमें, समुद्रमें, पर्वतकी गुफाओंमें—कहीं भी ऐसा स्थान विद्यमान नहीं है, जहाँ प्रवेश करनेपर मनुष्य पापकर्मसे मुक्ति पा सके'—

न अन्तलिक्खे व समुद्दमज्झे
न पब्बितानं विवरं पविस्स।
न विज्जती सो जगतिप्पदेसो
यत्थट्ठितो मुच्चेय्य पापकम्मा॥
(९। १२७)

'पाप हो जानेपर क्या किया जाय'—इस सम्बन्धमें तथागत मनुष्योंको निराश नहीं करते। उनका कहना है कि 'यदि पाप हो ही गया हो तो उसे अपने सुन्दर कर्मोंसे ढँक देना चाहिये। ऐसा करनेपर वह व्यक्ति इस लोकको इस प्रकार प्रकाशित करता है, जैसा मेघसे मुक्त चन्द्रमा प्रकाशित करता है। कोई व्यक्ति सदाके लिये पापी नहीं हो जाता। शारीरिक, वाचिक और मानसिक दुश्चरितोंका परित्याग कर देनेपर मनुष्य सदाचारी बन सकता है।' इसीके 'दण्डवग्ग'में कहा गया है कि 'मनुष्य-को अहिंसावृत्ति धारण करनी चाहिये। सभी प्राणी दण्डसे डरते हैं, मृत्युसे डरते हैं, सबको जीवन प्रिय है और सभी सुख चाहते हैं। ऐसी दशामें अपने सुखकी इच्छासे किसी दूसरे प्राणीकी हिंसा करना उचित नहीं है। प्राणियोंकी हिंसा करनेवाला आर्य नहीं है। जो सब प्राणियोंके प्रति अहिंसावृत्ति रखता है, वही मनुष्य आर्य कहा जाता है'—

न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणानं अरियो'ति पवुच्चति॥
(१९। २७०)

'धम्मपद'की आचार-पद्धतिमें प्रारम्भसे अन्ततक सद्भाव-ग्रहणकी ओर विशेष ध्यान दिलाया गया है। सद्भाव-ग्रहणसे भौतिक सुखोंकी प्राप्ति भले न हो, किंतु आत्मिक शान्ति अवश्य मिलती है। इसके प्रथम वग्गमें कहा गया है कि यह विचार ही मत

करो कि 'तुम्हें किसीने गाली दी, किसीने मारा या किसीने लूट लिया ।' बैरका अन्त बैरसे नहीं होता, अवैर या प्रेमसे ही बैरका अन्त होता है—प्रतिशोधकी भावनासे कभी बैर शान्त नहीं होता। क्रोधको अक्रोधसे, बुराईको भलाईसे, कंजूसीको उदारतासे और झूठको सत्यसे जीतना चाहिये—

अक्कोधेन जिने कोधं असाधु साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन सच्चेन अलिकवादिनं ॥*
(१७।२२३)

इस प्रकार धम्मपदमें जिस सदाचार-पद्धतिका निरूपण किया गया है, उसके द्वारा मनुष्य निर्वाण-पथकी ओर अग्रसर हो सकता है। इसके अनुकूल आचरण करनेसे किसी भी वर्णका मनुष्य देवतुल्य बन सकता है। यह सदाचार-पद्धति इस प्रकारकी स्थितिका दिग्दर्शन करती है, जिसे निर्धन-धनवान्, नीच-ऊँच सभी अपने व्यक्तित्वका विकास करनेमें समर्थ हो सकते हैं। धम्मपदमें सदाचार ही सदाचार है, जो जीवनको उज्ज्वल बनाता है।

जैन-धर्मग्रन्थोंमें सदाचार

(लेखक—जैनसाध्वी श्रीनिर्मलाजी, एम्० ए०, साहित्यरत्न, भाषारत्न)

शील-सदाचार जीवनका परम आभूषण है। अर्वाचीन युगके दार्शनिक और वैज्ञानिक भी जीवनके इस शाश्वत सत्यबिन्दुपर समान रूपसे आ रहे हैं कि जीवनका लक्ष्य, सुख-सुविधा नहीं, भौतिक ऐश्वर्य और बाह्यसमृद्धि नहीं, परंतु जीवनके आन्तरिक सौन्दर्यको जगाना है। महान् श्रुतधर आचार्य भद्रबाहुस्वामीके शब्दोंमें कहा जाय तो समस्त जैन वाङ्मयका सार सत्प्रवृत्ति है—**'सारो परूवणाए चरणं।'** परूपणा (जिनप्रवचन)-का सार है सद्-आचार। भावनाकी पवित्रता, उद्देश्यकी उच्चता और प्रवृत्तिकी निर्दोषता—बस, इन्हीं तीन सूत्रोंमें समस्त जैन-दर्शनका सार समाया है और वही हमारी आध्यात्मिकताका मूल आधार है। जैन-परम्पराके अध्यात्मवादी संत आचार्य 'कुन्दकुन्द'ने कहा है—**'सीलं मोक्खरस सोवाण'**—शील-सदाचार ही मोक्षका सोपान है। सदाचारका पालन ही मानव-जीवनकी आधार-शिला है। मनुष्यके पास विद्वत्ता हो या न हो, उसके पास लक्ष्मी हो या न हो, परंतु उसके पास चारित्र्य तो होना ही चाहिये। स्पेन्सरके शब्दोंमें—शिक्षण नहीं, चारित्र्य ही मनुष्यकी सबसे बड़ी आवश्यकता है और यही उसका रक्षक भी है।—'Not Education, but character is man'ls greatest need and man's greatest safegreard'

भगवान् महावीरने कहा है—

मूलमेयमहम्मस्स, महादोष समुस्सयं।
तम्हा मेहुण संसग्गं, निग्गंथा वज्जयंतिणं ॥

'इन्द्रियोंका असंयम (कदाचार) अधर्मका मूल है। अब्रह्मचर्य महान् दोषोंका समुदाय है। अतः साधकको उसका त्याग करना चाहिये; क्योंकि आचरण जीवनका दर्पण है। इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्तिके जीवनको देखा-परखा जा सकता है। आचरण व्यक्तिकी श्रेष्ठता और निकृष्टताका मापक-यन्त्र हैं। यह एक जीवित प्रमाणपत्र है, जिसे दुनियाकी कोई भी शक्ति झुठला नहीं सकती।'

सदाचार और संयम धर्मके सूक्ष्मरूप हैं, जो अंदर रहते हैं। धर्मके सूक्ष्मरूपकी रक्षाके लिये बाहर-का स्थूल आचरण आवश्यक है। परंतु यदि ऐसा

* यह ध्यान रहे कि प्रायः ये सभी गाथाएँ 'मनुस्मृति', 'महाभारत' तथा 'पञ्चतन्त्र'आदिमें भी मूल संस्कृतमें प्राप्त हैं। मैक्समूलरके तथा ब्रिटेनिया प्रेसके चारुचन्द्र वसुके बंगला संस्करणोंमें ऐसे अधिकांश श्लोकोंको दे दिया गया है।

हो कि सुन्दर, रंग-बिरंगा लिफाफा हाथमें आ जाय, और खोलनेपर पत्र न मिले तो वह एक परिहास-सा ही है । अतः देशके प्रत्येक युवक-युवतीका कर्तव्य है कि वे अपने आचारकी श्रेष्ठताके लिये सादा जीवन और उच्च विचारका आदर्श अपनायें। हमारा बाहरी जीवन सादा और आन्तरिक जीवन सद्विचारोंसे सम्पन्न होना चाहिये; क्योंकि मनुष्यके जीवनकी विशेषता उसके अच्छे चारित्र-विकासमें ही हैं । 'चरित्र' शब्दका अर्थ बहुत व्यापक एवं विशाल है । इसमें समस्त मानवीय सद्गुणोंका समावेश है । यह चरित्र-तत्त्व मनुष्य-जीवनको पशु-जीवनसे भिन्न करता है और उसे असत्यसे हटाकर सत्यकी ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर तथा मरणसे अमृतत्वकी ओर ले जाता है । चरित्र, सदाचार और आचरण—इन सबका एक ही अर्थ है । जैनधर्मकी साधना, जीवनकी अन्तरङ्ग साधना है । अतएव जैन-साधना हमें अन्तस्तलका शोधन करनेकी प्रेरणा देती है । आत्माके शुद्ध स्वरूपमें विचरण करना ब्रह्मचर्य है । ब्रह्मचर्यका व्रत सदाचारके लिये है और सदाचार जीवनकी नींव है । 'उत्तराध्ययनसूत्र'के चौदहवें अध्ययनमें आता है कि '**खाजि अणत्थाणक कामभोग**'—कामभोग अनर्थोंकी खान है । कदाचार किम्पाकफलके समान दुःखदायी होता है । किम्पाकफल देखनेमें सुन्दर, स्वादमें मधुर और छूनेमें कोमल होता है, परंतु खानेवालोंके दारुण दुःखका कारण बनता है ।* इसी तरह मनुष्य भी वासनातृप्तिमें आनन्दका अनुभव करता है, परंतु परिणाममें वह दुःखदायी ही सिद्ध होता है । 'सूयडांगसूत्र'में कहा है कि—'**तवेसु वा उत्तमं बम्भचेरं**'—ब्रह्मचर्य सब तपोंमें श्रेष्ठ तप है ।

दुर्गादासको रातोंरात जेलसे मुक्त कर दिया गया, तो यह दुर्गादासका महान् चरित्र था । वह कैदखानेमें बंदी पड़ा है । रूपसी बेगम उसके प्रेमके बदले शाही तख्तेपर बैठानेका प्रलोभन दे रही थी और उसको ठुकरानेपर मौतका भय दिखा रही थी । फिर भी वह उसे 'मा' के रूपमें देख रहा है । इसी सदाचारके तेजसे उसका जीवन सदा तेजस्वी और शौर्यमय रहा है । इतिहास साक्षी है कि राणा प्रतापने कितने कष्ट सहन किये थे । यह सब उनके चारित्रबलका ही प्रभाव था । राजपूतानेकी हजारों नारियाँ चित्तौड़के जौहरकुण्डमें कूदकर जल गयीं, पर अपना सतीत्व न छोड़ा । चरित्रनिष्ठ व्यक्ति सत्ता-सम्पत्ति और सन्मान सब कुछ छोड़ सकता है, पर वह चरित्रको कभी नहीं छोड़ता ।

जिन आत्माओंने जीवनमें सदाचारके महत्त्वको समझा, वे उन्नतिके उच्चतम शिखरपर जाकर खड़े हुए, संसारमें वे अजर-अमर हो गये । मानवजीवनके विकासमें नीतिशास्त्रका एक बहुत बड़ा योगदान रहा है । यह आचारका नियामक विज्ञान है । इसी आधारपर उसे आचार-शास्त्र भी कहा जाता है । 'कलिकाल-सर्वज्ञ श्रीहेमचन्द्राचार्यने मानव-जीवनके नीतिविषयक आदर्शोंको 'शिष्टाचार-प्रशंसा' नामक एक आदर्श योगशास्त्रमें बतलाया है ।' आचार्य हरिभद्रसूरिजीने भी 'धर्मबिन्दु'में इस गुणकी चर्चा की है । इसमें आचार्यकी दो भावनाएँ ध्वनित होती हैं—पहली शिष्ट व्यक्तियोंके आचार-चरित्रकी प्रशंसा और दूसरी-शिष्टाचार (सदाचार)की प्रशंसा । समाजशास्त्र एवं नीतिशास्त्रका नियम है कि समाजमें सदाचारको प्रतिष्ठा दी जाय और दुराचारकी अवहेलना की जाय ।

शिष्टाचार अर्थात् सदाचार के सिद्धान्त—शिष्टाचार और सदाचार—ये दो शब्द आजकल बहुत प्रचलित हो गये हैं । भावनाकी दृष्टिसे इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं, पर आजकलकी चालू भाषामें इनमें पर्याप्त अन्तर दीख पड़ता है । आजकल सदाचारी उसे

* किम्पाक—Trichonsanthes palmaha (जहरीली कँकड़ी) महाकालफल या बिम्बा या इन्द्रायण फल है । जैन-ग्रन्थोंमें इसका बहुधा उल्लेख है । वाल्मी० २ । ६६ । ६, महा० ५ । १२४ । २२, भर्तृ० शृंगा० शत० ४८, मार्क० पुरा०, प्रस० राघ० आदिमें भी इसकी चर्चा आयी है । आप आयुर्वेदमें इसके गुण-दोषोंका विवेचन और इससे बननेवाली ओषधियोंका निरूपण भी देख सकते हैं ।

कहते हैं, जो काछ-बाचका सच्चा हो, नीतिवान् हो और कोई अन्याय नहीं करता हो।

'धर्मबिन्दु'की टीकामें आचार्य मुनिचन्द्रसूरिने शिष्टाचार (सदाचार)की व्याख्या करनेवाले अठारह सूत्र दिये हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) लोकापवादका भय,(२) दीन-दुःखियोंके प्रति सहयोगकी भावना, (३) कृतज्ञता, (४) निन्दाका त्याग, (५) विद्वानोंकी प्रशंसा, (६) किसी आपत्तिमें धैर्य, (७) सम्पत्तिमें नम्रता, (८) उचित और परिमित वाणी बोलना, (९) किसी प्रकारका विरोध या कदाग्रह नहीं करना, (१०) अङ्गीकृत कार्यको पार उतारना, (११) कुलधर्मका पालन करना, (१२) धनका अपव्यय नहीं करना, (१३) आवश्यक कार्यमें उचित प्रयत्न करना, (१४) उत्तम कार्यमें सदा संलग्न रहना, (१५) प्रमादका परिहार, (१६) लोकाचारका पालन, (१७) उचित कार्य हो तो उसे करना और (१८) नीच कार्य कभी भी नहीं करना।

लोकापवादभीरुत्वं दीनाभ्युद्धरणादरः।
कृतज्ञता सुदाक्षिण्यं सदाचारः प्रकीर्तितः॥

भगवान् महावीरने अपने आचारशास्त्रकी आधार-शिला अहिंसा और समत्वयोग बतलाया है। भगवान् महावीरके आचार-शास्त्रके अनुसार आचारके पाँच भेद हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। आचार्य हेमचन्द्रने अपने 'त्रिषष्टिशलाकापुरुष'में एक महान् साधकके जीवनका बड़ा ही सुन्दर चित्र अङ्कित किया है। वे महान् साधक थे—'स्थूलभद्र', जिन्होंने ब्रह्मचर्य (सदाचार)की साधनासे अपने जीवनको सदाके लिये ज्योतिर्मय बना दिया। कई वर्ष व्यतीत हो जानेपर भी आजतकके साधक, ब्रह्मचर्यके अमर-साधक इन स्थूलभद्रजीको भूल नहीं सके हैं। स्थूलभद्रजीके जीवनके सम्बन्धमें श्रीहेमचन्द्राचार्यने लिखा है कि 'वे योगियोंमें श्रेष्ठ योगी, ध्यानियोंमें श्रेष्ठ ध्यानी और तपस्वियोंमें श्रेष्ठ तपस्वी थे। स्थूलभद्रकी इस यशोगाथाको सुननेके बाद सुननेवालेके मस्तिष्कमें यह प्रश्न उठता है कि आखिर यह क्या साधना थी, कैसे की गयी थी और कहाँ की गयी थी? यह घटना भारतके प्राचीन नगर पाटलिपुत्रकी है। योगी अपने योगसाधना-कालमें पूर्ववचन-बद्धताके कारण वर्षावासके लिये पटना आये। इस नगरकी—तत्कालीन रूपसम्पन्न, वैभवसम्पन्न और विलाससम्पन्न—'कोशा' वेश्याको प्रतिबोध देनेका, उसे वासनामय जीवनसे निकालकर सदाचारके मार्गपर लगानेका दिव्य-संकल्प उनके अन्तरमें ज्योतिर्मय हो रहा था। यद्यपि यह संकल्प परम पावन और पवित्र था, किंतु उसे साकार करना, सहज और आसान न था, फिर भी उस योगीने अपनी संकल्प-शक्तिसे असम्भवको भी सम्भव बना दिया। कोशा वेश्याके घर जब कि मादक मेघमालाकी वर्षाकी रिमझिममें मधुर संगीतकी स्वरलहरी, नृत्य करते समय पायलोंकी झनकार और विविध विलासी भावभङ्गिमा चल रही हो, ऐसे विलासमय और वासनामय वातावरणमें भी जो योगी अपने योगमें स्थिर और अपने ध्यानमें अविचलित रह सके तथा अपनी ब्रह्मचर्यसाधनामें अखण्डित रह सके, निश्चय ही वे स्थूलभद्र अपने युगके महान् संयमी और विजेता वीर पुरुष थे।

उनके ब्रह्मचर्यकी साधनाको खण्डित करनेके लिये कोशा वेश्याका एक भी प्रयत्न सफल नहीं हो सका। अन्तमें पराजित हो उसने जिज्ञासु साधकी भाषामें कहा, 'मैं आपकी शिष्या हूँ, आप मुझे सन्मार्ग बतलाकर मेरे जीवनका उद्धार करें।' एक योगीके समक्ष वेश्याका यह आत्मसमर्पण निश्चय ही वासनापर संयमकी विजय है। वह अब्रह्मचर्य (कदाचार)के पापसे हटकर, ब्रह्मचर्यकी पुण्यमयी शरणमें पहुँच जाती है। ब्रह्मचर्यकी

साधना जीवनकी एक कला है। योगशास्त्रमें श्रीहेमचन्द्राचार्यने कहा है—

प्राणभूतं चरित्रस्य परब्रह्मैककारणम्।
समाचरन् ब्रह्मचर्यं पूजितैरपि पूज्यते॥

ब्रह्मचर्य संयमका प्राण है तथा परब्रह्म मोक्षका एकमात्र कारण है। ब्रह्मचर्यका परिपालक पूज्योंका पूज्य बन जाता है। अन्ततः निष्कर्ष यही निकलता है कि सदाचार ही धन-सुखका साधन है—

सुखबीजं सदाचारो वैभवस्यापि साधनम्।
कदाचारप्रसक्तिस्तु विपदां जन्मदायिनी॥
(मुरल-सदाचार)

'सदाचार सुख-सम्पत्तिका बीज है और दुष्प्रवृत्ति असीम आपत्तियोंकी जननी! अतः सदाचार ही वरणीय है।'

सदाचार-संजीवनी

(लेखक—ब्रह्मलीन श्रीमगनलाल हरिभाईजी 'व्यास')

सत्य और प्रिय वाणी अद्भुत वशीकरण है। विचारकर बोलो और विचारकर काम करो। पहलेसे लाभालाभपर विचार किये बिना कुछ भी मत करो। ऐसी ही क्रिया करनी चाहिये और ऐसी ही वाणी बोलनी चाहिये, जिससे असत्य, आलस्य, अकुलाहट, चिन्ता, भय और विशेष श्रम न हो। सत्य, प्रिय वाणी, ब्रह्मचर्य, मौन और रस-त्याग—इन चारोंका सेवन करनेवालेमें सिद्धियाँ सदा बसती हैं। माता-पिताकी आज्ञाका पालन करना, उनकी सेवा करना संतानका धर्म है। इतने ही धर्मके पालन करनेसे संतान योग्य कहलाती है तथा सुख प्राप्त करती है।

परनिन्दा और आत्मप्रशंसा कभी न करो; दूसरा करता हो तो उसे सुननेमें रुचि न लो, विरक्ति रक्खो। मान-बड़ाईकी इच्छा न करो, यदि मान-बड़ाई अच्छी लगती हो तो उसे विषके समान समझकर छोड़ दो। पर-स्त्रीके ऊपर कुदृष्टि मत डालो, दृष्टिद्वारा उसका वासनारूपी विष मनको मूर्च्छित करेगा, होशमें नहीं रहने देगा और दुःखोंकी प्राप्ति होगी। दुःख अवाञ्छनीय पदार्थ है।

यह संसार मुसाफिर-खाना है। इसमें तुम मुसाफिर हो। सबके साथ हिल-मिलकर चलना चाहिये। एक-दूसरेका सम्बन्ध थोड़े दिनोंका है—द्वेष न करो, इसी प्रकार ममता भी न करो। दिया हुआ कहकर बताओ मत। किया हुआ (शुभ कर्म) प्रकट न करो और व्यर्थ हो जानेवालेको करो मत।

शोक, चिन्ता, भय, उद्वेग, मोह और क्रोध—इन छःसे जो मुक्त है, वह सदा मुक्त है। जब-जब अशान्ति हो, तब-तब समझना चाहिये कि हम भगवान्‌को भूल गये हैं। इसलिये सब समय भगवान्‌का स्मरण करना चाहिये। अधर्मकी इच्छाकी अपेक्षा मृत्युकी इच्छा उत्तम है। तुम्हें सुखी रहना हो तो दूसरोंको सुख दो। यदि दुःखी रहना हो तो दूसरोंको दुःख दो। दूसरोंको सुख देना पुण्य है और दुःख देना पाप है। पापीका अपमान मत करो, परंतु उसपर दया करो। तुम पापी नहीं हो, इसमें परमात्माकी दयाके अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है। झूठ, चोरी और दुराचार बुरे व्यसन हैं, इन्हें छोड़ देना चाहिये। पापसे जो कुछ मिला है, वह यहीं रहेगा और पाप ही साथ जायगा। बिना हकका लेना ही पाप है। जो सहज प्राप्त होता है, वह सहज चला भी जाता है। न्यायसे प्राप्त ही वास्तविक प्राप्त है।

भोग घटे तो पाप घटे। विषयाधीन मन शत्रु है। निर्विषयी मन मित्र है। भजन और पुण्य नित्य करता रहे तो संकट-समयमें भी काम चलता रहेगा। चरित्र ही धन है। सुयश ही स्वर्ग है। पापाचरण ही नरक है। लोक-वेद-मान्य नियम ही आचरणीय हैं।

एकान्तमें भगवान्‌से प्रार्थना करो—परमात्मा सबको सदाचारी बनावें—सबका श्रेय मङ्गल करें।

संत कबीरका सदाचारोपदेश

(लेखक—श्रीअभिलाषदासजी)

आध्यात्मिक क्षेत्रमें विश्वासवाद तथा विवेकवाद सदासे चले आये हैं। विश्वासवादी परमतत्त्वको अपनेसे पृथक् मानकर उसकी उपासना करता है और विवेकवादी स्व-स्वरूप चेतनको ही परमतत्त्व समझकर आत्माराम बनता है। विवेकवाद धर्म-कर्मकी नींवपर टिका है, परंतु भारतीय प्रौढ़ विचारधाराके अत्यन्त चिरंतन होनेसे उसका विश्वासवाद भी कर्मका ही पक्षधर है और कर्मकी जान सदाचार है।

सद्गुरु कबीर अपने युगके एक निराले संत थे। धर्मके औपचारिक क्रिया-कलापोंकी पूर्तिमात्रसे पापका क्षय मानकर अपने कर्तव्योंकी इतिश्री मान लेना उनके सिद्धान्तमें न था। वे आचार, विचार और शुभ कर्तव्योंकी पृष्ठभूमिपर अपने धर्मका महल खड़ा किये हुए थे। उन्होंने सदाचारपर बहुत जोर दिया है। उनमेंसे कुछका यहाँ विवेचन किया जा रहा है।

अहिंसा—सद्गुरु कबीरने अहिंसापर बहुत बल दिया है। वे कहते हैं—हम स्वयं कष्ट नहीं चाहते, अतएव दूसरेको कष्ट देना अपनी अन्तरात्माकी आवाजकी अवहेलना करना है। किसीकी हत्या करना तो हिंसा है ही, परंतु किसीका अहित सोचना, किसीके लिये अहितकर वाणी कहना तथा किसीको शरीरसे पीड़ा देना—ये सब भी हिंसाके ही रूप हैं, अतः यथाशक्ति छोटे-बड़े सभी देहधारियोंकी हिंसासे बचना चाहिये। जबतक कोई व्यक्ति दूसरेको दुःख देना बंद नहीं करता, तबतक वह स्वयं दुःखरहित कैसे हो सकता है? सद्गुरु कबीर वर्ण, लिङ्ग, वर्ग, जाति, खानिके भेदसे ऊपर उठकर प्राणिमात्रको अपना प्राणप्रिय बतलाते हुए कहते हैं कि किसको चोट पहुँचाया जाय! जहाँ देखो हमारा प्राणप्यारा ही है—

'घाव काहि पर घालो, जित देखू तित प्राण हमारो।'
(बीजक, साखी ३४१)

शुद्धाहार—पाँच ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा पाँचों विषयोंका ग्रहण करना आहार ग्रहण करना है; अतएव ठीक देखना, ठीक सुनना, ठीक सूँघना, ठीक खाना तथा ठीक स्पर्श करना—यहाँतक कि मनसे ठीक सोचना भी आहारकी शुद्धि है और ऐसा हो जानेपर अन्तःकरण शुद्ध होकर मनकी एकाग्रता होती है। परंतु आहारकी शुद्धिके लिये विशेषरूपसे मांस एवं नशासे बचना चाहिये। कबीर मतके अनुसार हिंसादि दोष होनेसे मांस खाना सर्वथा असभ्यता है। जिसमें एकबारगी दयाको अलग रख देना पड़े, वह मांस मनुष्यका आहार नहीं है। इसी प्रकार शराब, गाँजा, भाँग आदि समस्त नशीली वस्तुएँ भी त्याज्य हैं। सद्गुरु कबीरने कहा है—

जस मांस पशु को तस मांस नर को,
रुधिर रुधिर एक सारा जी।
(बीजक, शब्द ७०)

ब्रह्मचर्य—अपने मन-इन्द्रियोंको जीतकर स्ववश रखना ब्रह्मचर्य है। इसके बिना आध्यात्मिक दिशामें प्रगति होना असम्भव है। कबीर साहब कहते हैं—'संतो! हृदय-घरमें बहुत भारी झगड़ा मचा हुआ है। ज्ञानेन्द्रियरूपी पाँच बच्चे तथा वासनारूपी एक नारी रात-दिन जीवको परेशान करती हैं। ये इन्द्रियाँ बड़ी स्वादासक्त हैं। ये सदा अपनी ओर खींचती हैं। इनका दमन-शमन करके ही जीव शान्ति पा सकता है।'

कुसङ्ग-त्याग तथा साधुसङ्ग-ग्रहण—संत कबीरके अनुसार कुसङ्गसे पतन तथा साधुसङ्गसे उत्थान होता है, यह तो—'लोकहुँ बेद बिदित सब काहू' है। कबीर साहब

कहते हैं कि 'बेरके पेड़के साथ यदि केलेका पेड़ पड़ गया तो केलेके पत्तेकी चींथी-चींथी उड़ती है। अतएव साधुकी संगत करो, वे दूसरेकी मानसिक व्याधि दूर करते हैं। और, 'दुष्टकी संगत आठों पहर उपाधि'का कारण है। कुसङ्गसे दुःख होता है तथा सत्सङ्गसे सुख। अतएव साधु-गुरुकी सङ्गत करके कल्याण-द्वारपर चले आओ।' (बीजक, साखी २४२, २०७, २००, ३०४)

सद्गुरुकी उपासना एवं भक्ति—जिनके आचरण तथा ज्ञान दोनों निर्मल हैं और जो परमतत्त्व स्वस्वरूपमें स्थित हैं, उनकी शरणमें जानेसे ही मुमुक्षुका कल्याण हो सकता है। यह निश्चित है कि ऐसे सद्गुरुकी शरण आये बिना मनुष्य भटकता है और जब मनुष्य ऐसे पूर्ण सद्गुरुकी शरण पा जाता है, तब वह कृतार्थ हो जाता है।

पूरा साहेब सेइये, सब बिधि पूरा होय।
(बीजक, साखी ३०९)

लघुता—मनुष्यमें—कम-से-कम सच्चे साधकमें तो अवश्य ही लघुता, विनम्रताकी महान् आवश्यकता है। अहंकारीको कोई नहीं पसंद करता है और विनयीको सब पसंद करते हैं। विनम्र व्यक्तिके आगे अन्य लोग भी विनम्र हो जाते हैं—

सबते है लघुता भली, लघुतासे सब होय।
जस दुतिया को चन्द्रमा, सीस नवै सब कोय॥
(बीजक, साखी ३२३)

गुणग्राहिता—तुम अपने पड़ोसकी सारी गंदगी बटोरकर अपने घरमें ले आओ, तो सोचो, तुम्हारी क्या दशा होगी? परंतु तुम अपने पड़ोसकी सुगन्ध बटोरकर अपने घरमें ले आओ तो तुम सुगन्धसे भर जाओगे। अतएव तुम किसीके दोष न लेकर केवल सबके सद्गुण लो—

गुणिया तो गुण ही गहै, निर्गुणिया गुणहि घिनाय।
बैलहि दीजै जायफर, क्या बूझै क्या खाय॥
(बीजक, साखी २६३)

कथनी-करनीकी एकता—करनी बिना कथनी कच्ची है। अतएव कथनीके अनुसार करनी बनानेकी चेष्टा करो—

जस कथनी तस करनी, जस चुंबक तस ज्ञान।
कहहिं कबीर चुम्बक बिना, क्यों जीतै संग्राम॥
जैसी कहैं करै जो तैसी, राग द्वेष निरुवारे।
तामें घटै बढ़ै रतियो नहिं, यहि विधि आप सँवारे॥
(बीजक, साखी ३१४, २५७)

वचन-सुधार—वचन-सुधार किये बिना व्यक्तिको शान्ति नहीं मिल सकती। अतएव सत्य, मिष्ट, हितकर और अल्प बोलना चाहिये। निरर्थक बोलते रहनेसे दोष बढ़ते हैं। अतएव विचारपूर्वक बोलना चाहिये। संत, सज्जन तथा पण्डितके मिलनेपर उनसे निर्णयकी दो बातें की जा सकती हैं और असंत एवं शठके मिलनेपर मौन रहना ही श्रेयस्कर है।

बोल तो अमोल है, जो कोइ बोलै जान।
हिये तराजू तौल के, तब मुख बाहर आन॥
मधुर बचन है औषधी, कटुक बचन है तीर।
स्रवणद्वार ह्वै संचरे, साले सकल शरीर॥
(बीजक, साखी २७६, ३०१)

सत्य—सत्यस्वरूपका ज्ञान, सत्यभाव, सत्यवचन तथा सत्य-आचरण—इस सत्यचतुष्टयका सेवन पूरी तपस्या है। इसमें जो उत्तीर्ण हो जाय, वही कृतार्थ है।

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हृदया साँच है, ताके हृदया आप॥
जो तू साँचा बाणिया, साँची हाट लगाव।
अन्दर झारू देइके, कूरा दूरि बहाव॥
(बीजक, साखी ३३४, ७५)

दया—तुम दूसरेसे अपने लिये दयाका बर्ताव चाहते हो, अतएव तुम दूसरोंपर दया करो।

जीव बिना जिव बाँचे नहीं, जिव का जीव अधार ।
जीव दया करि पालिये, पंडित करो विचार ॥
(बीजक, साखी १८२)

क्षमा—हम दूसरेसे अपने लिये क्षमाका बर्ताव चाहते हैं, अतएव हमें भी दूसरेपर क्षमा करनी चाहिये। बराबर लड़ते रहनेसे शान्ति नहीं आती। किसीने अपनी दुर्बलतावश अपना मन मलिन कर लिया तो हमें भी उसके साथ अपना मन बुरा नहीं बनाना चाहिये—

वो तो वैसा ही हुआ, तू मति होय अयान ।
वो निर्गुणिया तै गुणवंता, मत एकै में सान ॥
(बीजक, साखी २७८)

धैर्य—जीवनमें धैर्यकी बड़ी आवश्यकता है। धैर्यके बिना मनुष्य क्षणमें ही वह अनर्थ कर डालता है, जिसकी कोई सीमा नहीं। इसके अतिरिक्त मानो कोई उन्नतिका कार्य करना हो और मनुष्य चाहे कि सब आज ही पूर्ण हो जाय तो कैसे सम्भव है? अतएव धैर्यपूर्वक आगे बढ़ना चाहिये—

थोरे थोरे थिर होउ भाई। बिन थम्भे जस मंदिर थम्भाई ॥
(बीजक, ज्ञानचौतीसा १८)

संतोष—कोई कितना भी धनी हो जाय, परंतु तृप्ति तो संतोषसे ही मिलेगी। संतोष अकर्मण्यता नहीं है, किंतु अखण्ड तृप्ति है। कोई करोड़ रुपये रोज कमाने लगे तो भी वह बिना संतोषके तृप्त नहीं हो सकता। अतएव सद्गुरु कबीर कहते हैं—

संतो, संतोष सुख है, रहहु तो हृदय जुड़ाय ।
(बीजक, रमैनी साखी ३८)

विचार—मनुष्य अन्य बातोंमें प्रायः पशु-तुल्य ही है। उसको बस पशुसे अलग करनेका एक प्रबल माध्यम है—'विचार'। मैं कौन हूँ, जगत् क्या है, कर्तव्य क्या है—इत्यादिपर सोचना विचार है। मानसरोग-निवृत्तिके लिये विचार ही परम औषध है। विचार असत्का त्याग करता है—

करहु विचार जो सब दुख जाई। परिहरि झूठा केर सगाई ॥
(बीजक, रमैनी २३ । ४)

विवेक—सारी पगडंडियाँ जैसे राजमार्गमें मिल जाती हैं, वैसे सारी आरम्भिक साधनाएँ अन्ततः विवेकमें मिल जाती हैं। यदि विवेक उत्पन्न नहीं हुआ तो साधना केवल श्रम ही है। अपने चेतन स्वरूपको विचारपूर्वक देहसे अलग समझकर वैसी स्थिति बना लेना विवेक है। विवेक उदय होनेपर मन स्ववश होता है। विचारका व्यावहारिक स्वरूप ही विवेक है—

मन सायर मनसा लहरि, बूड़े बहुत अचेत ।
कहहिं कबीर ते बाचि हैं, जाके हृदय विवेक ॥
(बीजक, साखी १०७)

वैराग्य—विवेकके परिपाक हो जानेपर मायिक वस्तुओंसे स्वयमेव वैराग्य हो जाता है। रागका अन्त ही बन्धनोंका अन्त है—

माया के झक जग जरे, कनक कामिनी लाग ।
कहहिं कबीर कस बाँचिहो, रुई लपेटी आग ॥
(बीजक, साखी १४१)

निर्विवाद—साधकको निर्विवादी होना चाहिये। शास्त्रार्थ करना साधनाके प्रतिकूल ही है। साधक दूसरेको परास्त करनेकी इच्छा छोड़कर वाक्यसंयमपूर्वक मनोनिग्रह करे। सिद्धि साधनासे मिलती है, शास्त्रार्थसे नहीं—

बाजन दे बाजंतरी, तू कुकुही मति छेर ।
तुझे बिरानी क्या परी, तू अपनी आप निबेर ॥
(बीजक, साखी २४८)

नित्य सत्सङ्ग—निरन्तर सत्सङ्ग करते रहनेकी आवश्यकता है। सत्सङ्ग छोड़ देनेसे मनमें पुनः अज्ञानका मोरचा लग जाता है—

नित खरसान लोहा घुन छूटे ।
नित की गोष्ठ माया मोह टूटे ॥
(बीजक, साखी २३४)

मन और उसका निग्रह—इन्द्रियोंसे ग्रहण किये हुए संस्कारोंका परिणाम मन है। मनुष्य मनके चक्करमें पड़ा पीड़ित है। मनको वशमें कर लेना ही जीवनकी सफलता है। विवेकवान् ही मनको जीत सकते हैं—

> मूल गहे ते काम है, तैं मत भरम भुलाव।
> मन सायर मनसा लहरि, बहे कतहुँ मति जाव॥
> मन सायर मनसा लहरि, बूड़े बहुत अचेत।
> कहहिं कबीर ते बाँचि हैं, जाके हृदय बिबेक॥
>
> (बीजक, साखी ९०, १०७)

जीवन्मुक्ति—शरीरमें रहते हुए शरीराभिमानसे दूर, इन्द्रियविषयोंकी वासनाओंसे ऊपर, स्व-स्वरूप—चेतनमें स्थित पुरुष जीवन्मुक्त है। जो जागतिक हर्ष-शोकसे छूटा हुआ है, वह जीवन्मुक्त है। सद्गुरु कबीर कहते हैं कि यदि तुम जीवन्मुक्ति-सुख चाहते हो तो सबकी आशा छोड़कर मेरे समान निष्काम हो जाओ—

> जो तू चाहे मुझको, छाँड़ सकल ही आश।
> मुझ ही ऐसा होय रहो, सब सुख तेरे पास॥
>
> (बीजक, साखी १९८)

जो जीते-जी मुक्त न हुआ वह मरनेपर क्या होगा—

> जियत न तरेउ मुये का तरिहौ, जियतहि जो न तरै।
>
> (बीजक, शब्द १४। ३)

विदेहमुक्ति—जिनकी देह रहते-रहते सारी वासनाएँ समाप्त हो जाती हैं, वे बोधवान् प्रारब्धान्तमें स्थूल-सूक्ष्मादि शरीरोंसे रहित चेतनमात्र असङ्ग रह जाते हैं। वे सदैवके लिये जन्मादि दुःखोंसे मुक्त हो जाते हैं—

> कहहिं कबीर सतसुकृति मिलै, तौ बहुरि न भूलै आन।
>
> (बीजक, हिंडोला १। १९)

सारा संसार मरता-मरता मर गया, पर मरनेका मर्म कौन जान पाया? मरना तो वह है जिसके बाद पुनः मरना न हो—

> मरते मरते जग मुवा, मुवे न जाना कोय।
> ऐसा होय के ना मुवा, जो बहुरि न मरना होय॥
>
> (बीजक, साखी ३२४)

यथार्थ ज्ञानियोंकी स्थिति—व्यवहारमें कुछ विभिन्नता होते हुए भी यथार्थ ज्ञानियोंकी स्थिति एक समान होती है। अधकचरे लोग ही अन्यका अन्य बका करते हैं।

> समझे की गति एक है, जिन्ह समझा सब ठौर।
> कहहिं कबीर ये बीच के, बलकहिं और कि और॥
>
> (बीजक, साखी १९०)

निर्द्वन्द्व स्थिति—सांसारिक चतुरता-चालाकीके पीछे बड़े-बड़े प्रपञ्च हैं, अतएव जो असार-संसारको भलीभाँति जान-बूझकर भी विवादियोंके सामने मूर्ख बन जाता है और अहंकार-बलका सर्वथा परित्याग करके विनम्र हो जाता है, उस संतका कोई पल्ला नहीं पकड़ सकता। ज्ञानी पुरुष सुख-दुःख, हानि-लाभ, मान-अपमान—सबमें समान-दृष्टि रखनेवाले होते हैं। ज्ञानी पुरुषकी स्थिति निर्द्वन्द्व होती है। सद्गुरु कबीर कहते हैं—

> समुझि बूझि जड़ हो रहे, बल तजि निरबल होय।
> कहहिं कबीर ता संतका, पला न पकरे कोय॥
>
> (बीजक, साखी १६७)

इस प्रकार कबीरदासजीने सद्गुरुके माध्यमसे परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये जो मार्ग निर्दिष्ट किये हैं, वे सब सदाचारकी परिभाषामें आ जाते हैं। जो जीवन्मुक्त होना चाहता है ऐसे साधकका जीवन सदा सदाचार-मय होना चाहिये।

यह कितनी गलत बात है कि हम मैले रहें और दूसरोंको साफ रहनेकी सलाह दें।

—महात्मा गाँधी

'विनय-पत्रिका'—सदाचारकी संहिता

(लेखक—प्रो० श्रीरामकृष्णजी शर्मा)

मरुभूमि-सदृश हृदयमें आनन्दरसकी लहरें उत्पन्न करनेके लिये, घोर अन्धकाराच्छन्न हृदयाकाशमें प्रकाशका प्रादुर्भाव करनेके लिये, पापपङ्कमें पड़े हुए जीवोंको बाहर निकालनेके लिये, विषय-भोगोंमें आसक्त चञ्चल चित्तमें अटल शान्ति स्थापित करनेके लिये, घोर नरकोंमें प्रबल वेगसे जाते हुए जीवकी गति रोककर उसे कल्याणमार्गपर चलानेके लिये और त्रिविध तापोंसे संतप्त प्राणियोंको सुखमय शीतलता पहुँचानेके लिये यदि कोई परम साधन हो सकता है तो वह है—गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीकी 'विनय-पत्रिका'। इसमें पूर्ण मानवताका, सार्वभौम सदाचारका एवं विश्वधर्मका प्रतिष्ठापन हुआ है। इसमें कुछ ऐसे तत्त्व निहित हैं, जिन्हें सभी मतावलम्बी एवं सम्प्रदाय नतमस्तक हो स्वीकार करते हैं। ये हैं—सदाचार-सम्बन्धी तत्त्व—निष्कपट अन्तःकरण, व्यवहारकी स्वच्छता, मनकी स्वच्छता, वाणीकी स्वच्छता, आत्म-संयम, इन्द्रिय-संयम, संतोष, समता, विश्वदया या विश्वकरुणा, भेदभावरहित होना, परहित-निरतता, संतसंगति, परद्रव्य एवं परस्त्रीकी इच्छाका त्याग आदि-आदि।

'विनय-पत्रिका'में गोस्वामी तुलसीदासने व्यक्तिगत आचार-निष्ठापर अधिक बल दिया है। वे जानते हैं कि व्यक्ति-व्यक्तिका सुधार होकर समाज-समाजका सुधार हो जाता है और समाज-समाजका सुधार होकर राष्ट्र-राष्ट्र सँभल जाते हैं तथा राष्ट्र-राष्ट्रोंका सुधार होकर विश्व-कल्याण हो सकता है। संक्षेपमें विश्व-धर्मकी प्रतिष्ठा करना ही उनका सार्वभौम सदाचार-धर्म है। विनय-पत्रिकामें उसीका प्रतिनिधित्व हुआ है। यह हमें काम, क्रोध, मोह, ममतादिका त्याग करना, विश्वकरुणा या विश्वदया, इन्द्रिय-संयम, अनासक्तता आदिका पाठ पढ़ाती है। वास्तवमें ये ही तत्त्व जाति, देश-काल और समयकी सीमासे रहित होनेपर सार्वभौम महाव्रत हो जाते हैं। जो धर्म सृष्टिव्यापी अनाचारोंका नाश करके सद्भावनाओंके प्रसारके लिये और समाजके सुधारके लिये तथा मङ्गल-साधनाके लिये होता है, वही सार्वभौम धर्मके अन्तर्गत आ सकता है। गोस्वामीजीने विनय-पत्रिकाके माध्यमसे दुष्प्रवृत्तियोंको हटाकर मनुष्यमें सद्वृत्तियोंके भरनेका अथक प्रयास किया है। निदर्शनके माध्यम स्वयं महात्मा तुलसी हैं।

छल-कपटसे मन कलुषित हो जाता है और मनके कलुषित होनेपर अनेकानेक दुष्प्रवृत्तियाँ जाग्रत् हो जाती हैं, जिनके कारण संसारके मानवोंको अनेक क्लेश भोगने पड़ते हैं। इसलिये छलका परिहार करके ही कोई सत्कार्य किया जा सकता है और भवसागरसे पार जाया जा सकता है—

परिहरि छल सरन गये तुलसिहु-से तरत ॥
(विनयप० १३४ । ७)

दुरलभ देह पाइ हरिपद भजु, करम, बचन अरु ही ते ॥
(विनयप० १९८ । १)

—इत्यादि वाक्य इसकी सूचना देते हैं। सांसारिक मानवोंको तुलसीने यह अत्युत्तम शिक्षा दी है कि कामादि दुष्ट साथियोंसे जहाँतक दूर रहा जाय, वहाँतक अच्छा है—

काम-क्रोध अरु लोभ-मोह-मद, राग-द्वेष निसेष करि परिहरु।
(विनयप० २०५ । २)

'विनय-पत्रिका' साधकोंको सचेत करती है और मानवोंको सद्बुद्धि-प्राप्ति-हेतु प्रेरित करती है। इसकी प्रधान शिक्षा यह है कि क्षणभङ्गुर वस्तुओंसे लगाव नहीं करना चाहिये; क्योंकि यह तो 'सूँबत जगे राई

उधरावी' वाली बातकी तरह है। अतः साधक अथवा श्रेष्ठ मानव वही माना जायगा, जो अनासक्त भावसे संसार-का उपभोग करेगा। संसारमें आसक्ति ठीक नहीं—

'सुत-बनितादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सबही ते।'

(बिनयप० १९८। ३)

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'

इस (त्रिपुरातापनी उप० ५। ३) वचनके अनुसार हमारा मन ही हमारे बन्धन और मुक्तिका कारण है। अतः यदि इस मनको स्वच्छ बना लिया जाय अर्थात् इसको स्वाभिभूत कर लिया जाय तो जीवन्मुक्त हुआ जा सकता है। गोस्वामी श्री-तुलसीदासजी विनयपत्रिका (१२४। १)में कहते हैं—

जौ निज मन परिहरै बिकारा।
तौ कत द्वैत-जनित संसृति-दुख, संसय, सोक अपारा॥

यदि 'मैं-मेरा' और 'तू-तेरा'का प्रश्न ही समाप्त हो जाय तो जीवनमें नाना प्रकारके संशय-शोकके अवसर क्यों आयें?

मनकी तीन स्थितियाँ हैं—

सत्रु, मित्र, मध्यस्थ तीनि ये, मन कीन्हें बरिआईं।
त्यागन, गहन, उपेच्छनीय अहि, हाटक, तृनकी नाईं॥

(विनयप० १२४। २)

इन तीनों स्थितियोंके कारण ही संघर्षोंकी नींव पड़ती है, अतः इनको त्यागकर अपने मनको निर्मल बनाना चाहिये, जिससे—'वसुधैव कुटुम्बकम्'की भावना उत्पन्न हो सके। संसारमें मनुष्यका मन विषय-वासनाओं-की ओर अधिक जाता है, जिससे राग-द्वेषकी भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। इसीलिये हम निरन्तर जन्म-मरणके चक्रमें फँसे रहते हैं एवं यातनाएँ भुगतते हैं—

जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास, अरु बिषय आस मनमाहीं।
तुलसिदास तबलगि जग-जोनि भ्रमत सपनेहुँ सुख नाहीं॥

(विनयप० १२३। ५)

मनको वशमें करना सदाचरणका प्रथम साधन है। यह मन बहुत अकर्मण्य है, निरन्तर विषयोंमें लिप्त रहता है, जिससे अनेक सांसारिक कष्ट भोगने पड़ते हैं—

बिषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।
ताते सहौं बिपति अति दारुन, जनमत जोनि अनेक॥

(विनयप० १०२। ३)

विषयोंके साथ इस मनकी ऐसी ममता है कि रात-दिन उसके साथ जुटा रहता है—एक पलके लिये विश्राम नहीं लेता—

कबहूँ मन बिश्राम न मान्यो॥
निसिदिन भ्रमत बिसारि सहज सुख, जहँ तहँ इंद्रिन तान्यो।

(विनयप० ८८। १)

यह मन अपने सहज स्वरूपको भूलकर न जाने कहाँ-कहाँ इन्द्रियपराभूत होता रहता है। परमार्थ-साधनामें यह मन कभी नहीं लगता। इसलिये इस मनपर नियन्त्रण अवश्य करना चाहिये। इसी मनकी कुचालसे तंग आकर तुलसीदास कहते हैं—

कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि! जानत हौ गति जनकी।

(विनयप० ९०। ४)

विनयपत्रिका सदाचारके क्षेत्रमें मनके बाद वाणी-की महत्ताका प्रतिपादन करती है। वाणीसे अनृत बात निकालना उसकी मलिनताका द्योतक है और सत्य-कथा उसकी पवित्रता है। तुलसीदासजीने विनय-पत्रिकामें वाणीकी सत्यतापर विशेष जोर दिया है। वाणीसे किसीकी निन्दा नहीं करनी चाहिये।

आधि-मगन मन, ब्याधि-बिकल तन, बचन मलीन झुठाई।

(विनयप० १९५। ४)

साथ ही जीभकी भी खबर लेते हैं—

'जीह हू न जप्यो नाम, बक्यो आउ-बाउ मैं।'

(विनयप० २६१। २)

अभिमान मनुष्यको अवनतिके गर्तमें ले जाता है, जहाँसे फिर यथावत् ऊपर उठना अति दुर्भर हो जाता है। इस तथ्यको संसारका प्रत्येक धर्मावलम्बी जानता है। इसीलिये 'विनयपत्रिका' अभिमान-त्यागको अति

कल्याणकारी समझती है। अभिमानसे जो दुर्गति होती है, उसका नमूना तुलसीदासजी संसारके सामने प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

सहसबाहु, दसबदन आदि नृप बचे न काल बलीते।
हम-हम कहि धन-धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते॥

(विनयप० १९८। २)

अतः मैंपनका त्याग जीवनमें श्रेयस्कर है। तुलसीदासजी 'विनय-पत्रिका'में आत्मसंयमके ऊपर विशेष जोर डालते हैं। मनसा-वाचा-कर्मणा आत्मसंयमी होना श्रेयस्कर एवं उन्नतिकर है। अतः—

मन समेत या तनके बासिन्ह, इहै सिखावन दैहौं।
श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं, रसना और न गैहौं॥
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं, सीस ईस ही नैहौं।
नातो-नेह नाथसों करि सब नातो-नेह बहैहौं॥

(विनयप० १०४। ३-४)

तुलसीदासजी 'विनय-पत्रिका'के माध्यमसे सम, संतोष, क्षमता, ज्ञान आदिके अर्जनका उपदेश देते हैं और अहंकार, काम, ममता, संदेह आदिका त्याग करनेकी सलाह देते हैं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि वास्तवमें इन तत्त्वोंके बिना आत्म-संयम दुर्लभ है। अतः इनको ही हमें सर्वप्रथम अपनाना चाहिये।

अज्ञानके कारण यह जगत् बहुत मनोहर लगता है, परंतु है वस्तुतः बहुत ही भयंकर। इसलिये इसकी भयंकरतासे बचनेके लिये मनुष्यको समता और संतोषसे काम लेना चाहिये। तुलसीदासजी कहते हैं कि जो समता, संतोष, दया एवं विवेकसे युक्त होकर कार्यमें रत रहते हैं, उनके लिये ही बस! यह संसार सुखद है, अविवेकियोंके लिये तो यह दुःखद ही है—

अनबिचार रमनीय सदा, संसार भयंकर भारी।
सम-संतोष-दया-बिबेक तें, ब्यवहारी सुखकारी।

(विनयप० १२१। ४)

× × × ×

जो संतोष-सुधा निसि-बासर सपनेहुँ कबहुँक पावै।

× × × ×

सम, संतोष, बिचार बिमल अति,
सतसंगति, ये चारि दृढ़ करि धरु॥

(विनयप० २०५। २)

वास्तवमें इस संसारमें मानवकी उन्नति और अवनतिका आधार आचरण है। सत्-आचरण व्यक्तिको उठा देता है और असत्-आचरण व्यक्तिको गिरा देता है। इस बातको लक्ष्यकर तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रत्येक मानवको सदाचारी बनना चाहिये। मानव जिन दुर्गुणोंसे दुराचारी बनता है, उन्हीं दुर्गुणोंकी चर्चाकर तुलसीदास संसारके जनसमुदायको सचेत करना चाहते हैं कि उनसे दूर रहना चाहिये—

नयन मलिन परनारि निरखि, मन मलिन बिषय सँग लागे।
हृदय मलिन बासना-मान-मद, जीव सहज सुख त्यागे॥
परनिंदा सुनि श्रवन मलिन भे, बचन दोष पर गाये।
सब प्रकार मलभार लाग निज नाथ-चरन बिसराये॥

(विनयप० ८२। २-३)

जीव स्वभावतः अपना हित चाहता है और दूसरेका अहित। तुलसीदासजी इस बातको पसंद नहीं करते। वे इस स्वार्थपरताकी दूषित भावनासे मनुष्यको ऊँचा उठाकर उसमें विश्वदया तथा विश्वकरुणा भरना चाहते हैं। आजके युगमें आचरणहीन मनुष्य बड़ा प्रभावशाली माना जाता है। उसीकी प्रशंसा करना अधिक अच्छा समझा जाता है। वे कहते हैं कि कुटिल जीवोंकी प्रशंसामें यद्यपि युग-के-युग व्यतीत हो जाते हैं, लेकिन अपने इष्टदेवका सुमिरन किंचित् नहीं हो पाता—

जो जड़ जीव कुटिल कायर, खल, केवल कलिमल साने।
सूखत बदन प्रसंसत तिन्ह कहँ हरि तें अधिक करि माने॥

(विनयप०)

सदाचारके अन्तर्गत साधुसंगतिका महत्त्वपूर्ण स्थान है। सत्संगतिसे राष्ट्रकी नींव मजबूत होती है, उससे सभ्यताका निर्माण होता है। जिस राष्ट्रमें खल, दुराचारी, संतद्रोही व्यक्ति उत्पन्न हो जाते हैं, वह

देश नष्ट हो जाता है। उसमें शक्ति और आत्मबल नहीं रहता—

श्रुति पुरान सबको मत यह सतसंग सुदृढ़ धरिये।
निज अभिमान मोह इरिषा बस तिनहिं न आदरिये॥
(विनयप० १८६। ४)

साधु-समागमसे 'निज' और 'पर' भेद-बुद्धिका नाश हो जाता है। साधु-समागमके प्रभावसे सर्वत्र परमात्म-बुद्धि हो जाती है जो संसारको पावन करती हुई स्वयंको तार देती है।

'सदाचारी व्यक्ति कैसा होता है'—इस सम्बन्धमें गोस्वामीजीने तत्सम्बन्धी कुछ लक्षण गिनाये हैं—वे संत-स्वभावकी व्याख्या करते हुए अपनेको संतोंके आचरण-के अनुकूल रखनेका संकल्प करते हुए कहते हैं—

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ-कृपालु-कृपा तें संत-सुभाव गहौंगो॥
जथालाभ संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
पर-हित-निरत निरंतर, मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर-गुन नहिं दोष कहौंगो॥
परिहरि देह-जनित चिंता, दुख सुख सम-बुद्धि सहौंगो।
(विनयप० १७२। १-४)

परोपकार सदाचारका प्राण है। अठारहों पुराणों तथा विश्वके अन्य सभी सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें परोपकारको ही सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। इस परोपकारको सर्वश्रेष्ठ बताते हुए गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी भी 'विनय-पत्रिका'-में कहते हैं—

काजु कहा नरतनु धरि सार्‌यो।
पर-उपकार सार श्रुति को जो, सो धोखेहु न बिचार्‌यो॥
(विनयप० २०२। १)

इस मानव-शरीरको धारण करनेसे क्या लाभ? यदि यह शरीर किसीके काम न आये।

लाभ कहा मानुष-तनु पाये।
काय-बचन-मन सपनेहुँ कबहुँक घटत न काज पराये॥
(विनयप० २०१। १)

वास्तवमें सब जीवोंका हितैषी सत्यनिष्ठ, प्रेम-नेम और भक्तिमें निरत प्राणी ही धन्य है जो—

सर्बभूत-हित, निर्ब्यलीक चित, भगति-प्रेमदृढ, नेम, एकरस।'
(विनयप० २०४। ३)

इस प्रकार 'विनय-पत्रिका' आचारके आदर्शोंसे पूर्णरूपेण परिप्लुत है। भक्त तुलसीने इन आचारोंको भक्तिका सोपान माना है। इस प्रकार विनय-पत्रिकामें अभिव्यक्त गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके भाव एवं विचार सदाचारके प्रबल प्रेरक हैं।

सदाचारके आठ शत्रु-मित्र

शिष्टाचरण की ले शरण, आचार दुर्जन त्याग दे।
मन इन्द्रियाँ स्वाधीन कर, तज द्वेष दे, तज राग दे॥
सुख-शान्तिका यह मार्ग है, श्रुति-संत कहते हैं सभी।
दुर्जन-दुराचारी नहीं पाते अमर पद हैं कभी॥

विश्वाससे कर मित्रता, श्रद्धा सहेली ले बना।
प्रज्ञा तितिक्षाको बढ़ा, प्रिय न्यायका कर त्याग ना॥
गम्भीरता शुभ भावना, अरु धैर्यका सम्मान कर।
हैं आठ सच्चे मित्र ये, कल्याणकर भवभीर-हर॥

रह लोभसे अति दूर ही, जा दर्पके तू पास ना।
बच कामसे अरु क्रोध से, कर गर्वसे सहवास ना॥
आलस्य मत कर भूल भी, ईर्षा न कर मत्सर न कर।
हैं आठ ये वैरी प्रबल, इन वैरियोंसे भाग डर॥

—स्वामी श्रीभोलेबाबाजी

रामस्नेही साध (सदाचारी) का लक्षण और सङ्ग

(लेखक—श्रीहरिनारायणजी महाराज, शास्त्री, रामस्नेही-सम्प्रदायाचार्यपीठाधिपति, रामधाम)

मध्यकालीन संतोंकी विश्वको सदाचारकी एक देन है। सत्रहवीं शताब्दीमें भारतके विभिन्न भूभागोंमें अनेक संत-महात्माओंने प्रकट होकर धर्मकी रक्षा और सदाचारका प्रचार किया। राजस्थानमें भी चार महापुरुष प्रकट हुए और भिन्न-भिन्न स्थानोंपर साधना कर उन्होंने सदाचारका प्रचार किया, जिनमें सम्प्रति राजस्थानमें रामस्नेहि-सम्प्रदायके चार आचार्यपीठ—रेन, सींथल, खेड़ापा और शाहपुरा हैं। चारों आचार्य-पीठोंकी मान्यता, उपासना प्राय: एक समान है। जो साधक लौकिक-पारलौकिक विषयभोगोंसे सर्वथा विमुख, उपराम होकर एकमात्र निर्गुण-निराकार सर्वव्यापक रामको ही अपना इष्ट, आधार माने, वही सदाचारी रामस्नेही कहलाता है—'**राम इष्ट आधार, और को पूठ दई है।**'

उपर्युक्त सदाचारीको साम्प्रदायिक बोलचालकी भाषामें 'साध' (साधु) नामसे सम्बोधित करते हैं। गृहस्थीमें रहते हुए सदाचारपालन करनेवाले साध (सदाचारी)-पुरुषकी उत्तम रीति बड़ी सुन्दर बतलायी गयी है—

हाथ काम मुख राम है, हिरदे साची प्रीत।
'दरिया' गृही साध की, या ही उत्तम रीत॥
(रामस्नेही धर्माचार्य दरियाव म०)

सदाचार पालन करनेमें (चाहे गृहस्थ हो अथवा साधु वेषधारी), सभी स्वतन्त्र हैं—

'दरिया' लच्छन साधका, क्या गिरही क्या भेक।
निष्कपटी निर्पख रहे, बाहर भीतर एक॥

'साध' पुरुषद्वारा व्यावहारिक अथवा पारमार्थिक कोई भी कार्य अपने इष्ट रामकी प्रसन्नताके लिये होते हैं। वह सबके साथ यथायोग्य व्यवहार करते हुए भी यथार्थ तत्त्व-बोधको भूलता नहीं है—

रहनी करनी साध की, एक रामका ध्यान।
बाहर मिलता से मिलै, भीतर आतम ज्ञान॥

ऐसे 'साध' सदाचारी पुरुषकी निन्दा करनेसे धर्म-मर्यादाका उल्लङ्घन होता है और उस निन्दित शब्दका प्रभाव समस्त भूभागपर पड़ता है—

नव खण्ड की निन्दा करो, भावे निन्दो साद।
साध निन्द्या ते 'किशनदास' मिटे धर्म मरजाद॥
(संत श्रीकिशनदासजीकी वाणी)

'साध' पुरुष और कदाचारी संसारी प्राणीमें आकाश-पातालका अन्तर होता है। साध पुरुषके जीवनसे सबको प्रकाश मिलता है जब कि संसारी-भोगी प्राणी स्वयं ही अन्धकार (भोगों) में भटकता रहता है—

साध चले आकासको, दुनिया चली पताल।
'सुखरामा' संग ना बणे, अन्धेरे उजियाल॥
(संत श्रीसुखरामदासजीकी वाणी)

जो अपने जीवनको सदाचारमय न बनाकर केवल सदाचारकी बातें बनानेमात्रसे अपने आपको साध पुरुष मान बैठते हैं, ऐसे दम्भी लोग साध पुरुषका सङ्ग न कर पुन:-पुन: जन्मते-मरते रहते हैं।

सीखा शब्द साध होय बैठा, रामका नाम न सूझे।
साध संगतमें समझे नहीं, फिर-फिर जगत अलूझे॥
(संत श्रीनानकदासजीकी वाणी)

साध पुरुषके संगसे ही भगवद्भजनमें श्रद्धा होती है, मृत्युपर विजय पानेकी विद्या मिलती है और निश्चय ही कल्याण होता है—

साध संगत करिये सदा, राम भजन को भाव।
नहचे मिलसी मुगत पद, दे जमके सिर पाँव॥
(संत श्रीप्रेमदयालजीकी वाणी)

साध पुरुषके सङ्गका प्रभाव कहाँतक कहा जाय, अगर सौभाग्यसे ऐसे पुरुषके दर्शन हो जायँ तो दु:ख दूर हो सकते हैं। अत: सर्वथा दु:खोंसे छूटनेके लिये तथा महान् आनन्दकी प्राप्तिके लिये भगवत्कृपासे एक क्षणका भी संग मिल जाय तो अपनेको कृतकृत्य मानना चाहिये।

साध संगत पल ही भली, जो देवे करतार।
'प्रेमदास' दरसण कियाँ, जीव होत भव पार॥

साध पुरुषका संग मिले, इस हेतु साधक अपनी राजस्थानी भाषामें भगवान्‌से प्रार्थना करता है—

रामजी साध संगत मोहि दीजो।
बेर-बेर मैं करूँ रे बीनती, किरपा मोपर कीजो॥

समर्थ-सम्प्रदायके सदाचार-सिद्धान्त

(लेखक—डॉ० श्रीकेशव विष्णु मुळे)

राष्ट्रगुरु संत श्रीसमर्थ रामदास स्वामी महाराजने जिस 'सम्प्रदाय'का प्रवर्तन किया, वह समर्थ-सम्प्रदाय उन्हींके पाँच सूत्रोंमें निम्न प्रकारसे निर्दिष्ट है—

'शुद्ध उपासना, विमल ज्ञान, वीतराग, ब्राह्मण्यरक्षण' गुरुपरंपरेचें लक्षण। ऐसें पंचधा बोलिलें। इतुके पाहिजे यत्नें केलें। म्हणिजे सकल ही पावलें। म्हणे दासानुदास ॥

'साम्प्रदायिक विशुद्ध उपासना, विमल ज्ञान, वैराग्य, ब्राह्मणका रक्षण और गुरुपरम्पराका शुद्ध और सत्यमार्गसे परिपालन करनेसे सम्प्रदायका कार्य पूर्ण होगा।' समर्थ रामदास स्वामीजीने समर्थ-सम्प्रदायकी 'सदाचार-संहिता' स्वरचित 'दासबोध', 'मनोबोध' आदि विभिन्न ग्रन्थोंमें दी है, जिसके अनुसार इस सम्प्रदायके व्यक्तिमें निम्नलिखित गुण अवश्य होने चाहिये—१—लेखन—स्पष्ट और सुन्दर अक्षरोंसे लेखन करना। २—पठन—स्पष्ट उच्चारणोंमें पढ़ना। ३—अर्थान्तर—जो पढ़ा है, उसका सहज और सुलभ अर्थान्तर करना। ४—आशङ्का-निवृत्ति—श्रोतृवंशकी शङ्काओंका समाधानपूर्ण निरसन। ५—प्रतीति—स्वानुभव एवं भगवान्‌का विश्वास। कोई भी बात कहनेके पूर्व उसकी प्रतीति (अनुभव) आवश्यक है। अप्रतीतिकी बात कभी भी न कहें। ६—कवित्व। ७—गायन और नर्तन। ८—वादन। ९—अर्थ-भेद स्पष्ट करना। १०—प्रबन्ध लिखना और ११—प्रवचन करना। यदि ये ग्यारह गुण सम्प्रदायी व्यक्तिमें नहीं हैं तो उसे समर्थ-सम्प्रदायमें 'उपदेशक' बननेका अधिकार नहीं है। ये तो हैं—बहिरङ्ग लक्षण, साथ-साथ कुछ अन्तरङ्ग गुणोंकी भी आवश्यकता होती है, जो इस प्रकार हैं—

१—वैराग्य, २—विवेक, ३—जनताजनार्दनकी सेवा, ४—राजनीति, ५—अव्यग्रता, ६—देशकाल-परिस्थितिका अचूक अध्ययन, ७—उदासीनता अर्थात् संसारसे अलिप्तता, ८—समानता अर्थात् छोटे-बड़े सबको समाधान देना और ९—रामोपासना अर्थात् रामभक्तिद्वारा जन-मानसका संस्कार और भक्तिके साथ-साथ अध्यात्म-साधना। इन गुणोंसे युक्त व्यक्ति ही समर्थ-सम्प्रदायका 'उपदेशक' बन सकता है। ऐसे ही शिष्य एवं उपदेशक देश, काल और परिस्थितिका सम्यक् आकलन करते हुए अव्यग्रता, समानता तथा जनताजनार्दनको प्रसन्न करनेके उद्देश्यसे सम्प्रदायका प्रभावी प्रचार कर सकते हैं एवं अपने गुणों और रामभक्तिके द्वारा जनमानसमें भक्ति और सदाचारका अमिट संस्कार भी स्थापित करते हैं—**'वेध लावी जनां भक्तिपंथे।'** सम्प्रदायी व्यक्तिके लिये आचारका अनुशासन भी था।
'आचार राखणे आधी। स्नान संध्या पवित्रता ॥'
इनमें निम्न अनुशासन मुख्य हैं—

१—आचार-शुद्धि, २—न्याय और नीतिकी रक्षा, ३—भिक्षाके माध्यमसे प्रेमी भक्तजनोंका शोध, ४—अत्यन्त सावधानता, ५—निरालस्य होकर अविरत कार्य करना—ये पाँच नियम उनकी आचारसंहितामें महत्त्वपूर्ण थे। समर्थ-सम्प्रदायीको ऊपर निर्दिष्ट पचीस गुणोंके अनुशासनमें रहकर 'स्वानुभव', 'प्रबोधन' और 'प्रयत्नशीलता'द्वारा सम्प्रदायका कार्य सामान्य जनतातक पहुँचानेका उत्तर-दायित्व स्वीकार करना पड़ता था।

'मुख्य हरिकथा निरूपण। दूसरे ते राजकारण।
तिसरे ते सावधपण। सर्व विषयी ॥'

(दासबोध)

'हरिकथा-निरूपण'का प्रमुख कार्य करते हुए राजनीति और सदाचारका प्रचार-कार्य अत्यन्त सावधानीसे और

अचूक रीतिसे करना—यह समर्थ-सम्प्रदायका उद्देश्य रहा है। ऐसे सम्प्रदायीके लिये श्रीसमर्थ रामदासस्वामीजीने 'आचार-संहिता' का विस्तृत उपदेश किया है, जो इस प्रकार है—

साधकको सामान्यजनोंमें कार्य करते समय विभिन्न प्रकृतिके लोग मिलते हैं। इन सभीके अपने मधुर भाषण तथा भगवद्भक्तियुक्त प्रवचनोंद्वारा क्लेश दूर करें और भगवद्भजनद्वारा सारी दुनियामें भक्तिभाव वर्धित करनेका प्रयत्न करें; पर इस कार्यके लिये भी स्वयं निधिसंग्रह न करें। लोगोंके कटु वचन सहनकर भी किसीका दोष नहीं कहना चाहिये, क्योंकि—

'पेरिलें ते उगवते। उसने द्यावे ध्यावे लागते।'

(दासबोध)

जैसा बोया वैसा पाया जाता है या जैसा दिया जाता है वैसा ही लेना भी पड़ता है। साधकको मितभाषी होकर ही लोगोंका समाधान करना चाहिये। क्रोधमें किसीको कटुवचन कहते हुए उसे व्यथित करना उचित नहीं। जबतक सम्प्रदायी व्यक्ति किसी शास्त्रका पूर्ण अध्ययन न कर ले, तबतक उस विषयपर उसका मत प्रकट करना उचित नहीं है। उसे अपना आचार और विचार वर्णाश्रमधर्मके अनुकूल रखना चाहिये। साधकको एकत्र न रहकर देश-संचार करते रहना चाहिये और देश-काल-परिस्थितिका परीक्षण करते हुए व्यक्ति-व्यक्तिका मूल्याङ्कन करना चाहिये। उसे सभाओंमें प्रवचनका क्षमा, शान्ति, संयम और चतुराईसे संचालन करना चाहिये। साधकको द्वेष, मत्सर इत्यादिसे सदा मुक्त रहना चाहिये और आत्मस्वरूपानुसंधानमें लीन रहते हुए उसे अनीति, क्रोध और अतिवादको त्याग देना चाहिये। अधिकार-लालसाको तुच्छ समझना चाहिये। (दासबोध)

साधकको विवेक और वैराग्यकी साधनासे अध्यात्मको निरन्तर बढ़ावा देना तथा इन्द्रिय-निग्रही बनना आवश्यक माना गया है। उसे उपासना—साधन-मार्ग—की रक्षा करते हुए भक्तिमार्गको प्रशस्त करना चाहिये। परमार्थ-साधनाका निरन्तर अभ्यास करना उचित माना गया है। निन्दक, दुर्जन आदि लोगोंके लिये प्रवचन, कीर्तन तथा भक्तिमार्गका प्रभाव और संस्कार करते हुए उनके मनमें दुष्कर्मोंसे घृणा उत्पन्न करनी चाहिये। साधक परोपकार और भलाईको सदा वर्धिष्णु रक्खे। स्नान, संध्या, पूजन, भजन, कीर्तन इत्यादि—द्वारा हमेशा पुण्यमार्गका दिग्दर्शन करना चाहिये तथा दृढ़निश्चयी बनना चाहिये। सम्प्रदायीके जीवनका महान् कार्य है—'संतोषपूर्ण सुखसे अपना कार्य करते हुए अपने सम्पर्कसे विश्वजनोंका उद्धार करना।' सम्प्रदायीको क्रियाभ्रष्टता तथा पराधीनता-का स्पर्श भी न होना चाहिये; क्योंकि उससे हीनता आती है, अतः उसे अन्तर्निष्ठ बनना ही आवश्यक है।

समर्थ रामदास स्वामी साधकके श्रेयके लिये प्रभु रामचन्द्रसे इस प्रकार प्रार्थना करते हैं—

'रघुनाथदासा कल्याण व्हावे। अति सौख्य व्हावे आनंदवावें॥
उद्वेग नासो वर शत्रु नासो। नाना विलासे मग तो विलासो॥१॥
कोठे नसो रे कलहो न सोरे। कापव्यकर्मी सहसा नसो रे॥
निर्वाणचिंता निरसी अनंता। शरणागता दे बहु धातगाता॥२॥
अजयो नको रे जयवंत होरे। आपदा नको रे बहुभाग्य होरे॥
श्रीमंतकारी जनहीतकारी। पर ऊपकारी हरिदास तारी॥३॥

(मनाँचे श्लोक)

सम्प्रदायी रामोपासकका कल्याण हो। उसे भरपूर सौख्य और आनन्द प्राप्त हो। उसके उद्वेग और शत्रु नष्ट हों। वह बहुविध कार्यमें मग्न हो। उसे आपकी चरणोंमें आश्रय मिले। वह संकटोंसे मुक्त तथा भाग्य-शाली हो। हे प्रभु! जनहितमें दक्ष, परोपकारमें अग्रसर तथा ज्ञानश्रीसे समृद्ध ऐसे हरिभक्तको भवसागरसे तार देवें।

आर्यसमाजमें सदाचार

(लेखक—कविराज श्रीछाजूरामजी शर्मा शास्त्री, विद्यावाचस्पति)

आर्यसमाज शुद्ध आचरणपर विशेष बल देता है। धर्मपालनमें सदाचारका वही स्थान है, जो मकान बनानेमें उसकी नींवका है। सभ्य समाजमें दुराचारीका कुछ भी मूल्य नहीं होता, न उसका कोई विश्वास करता है। जगत्‌में जितने भी महान् व्यक्ति हो गये हैं, उनकी ख्यातिका मूल कारण सदाचार ही रहा है। गुणोंकी दृष्टिसे सदाचारी तथा आर्य—ये दोनों शब्द समानार्थक हैं। वेदके—**'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** (ऋकसं० ९।६३।५) इस वाक्यमें मनुष्यको श्रेष्ठ या सदाचारी बननेका ही संदेश है। ऐसा बननेके लिये यजुर्वेदके एक मन्त्रमें ईश्वरसे प्रार्थना की गयी है—**ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आ सुव॥** (शुक्लयजु: ३०।३)—'हे सकल जगत्‌के उत्पत्तिकर्ता समस्त ऐश्वर्य-सम्पन्न, शुद्ध-बुद्ध सब सुखोंके दाता परमेश्वर! आप कृपाकर हमारे सभी दुर्गुण-दुर्व्यसन एवं दु:खोंको दूर कीजिये और जो हितकारी गुण-कर्म स्वभाववाले पदार्थ हैं, वे सब हमें प्राप्त कराइये'—कारण जबतक दुर्गुणोंकी निवृत्ति न होगी, तबतक सद्गुणोंकी प्रवृत्ति न होगी; क्योंकि दो विरोधी गुण (दुर्गुण तथा सद्गुण) एक कालमें एक साथ नहीं ठहर सकते। किसी नीतिकारने भी ठीक ही कहा है—

निवसन्तीह यत्र दुर्गुणा अधितिष्ठन्ति न तत्र सद्गुणाः।
स्वयमेव सतैलतो यथा सलिलानि प्रपतन्ति दारुतः॥

'जैसे तेल पड़ी हुई चिकनी लकड़ीपर पानी नहीं ठहरता, वैसे ही जहाँ दुर्गुण निवास करते हैं, वहाँ सद्गुण नहीं ठहरते।' विचारणीय है कि ये सद्गुण आयें कहाँसे, जिससे मनुष्य सदाचारी बन सके? इसका उत्तर है कि सत्सङ्गसे ही मनुष्यमें सद्गुणोंका प्रादुर्भाव हो सकता है। बड़े-बड़े दुराचारी मनुष्य भी सत्सङ्गसे निःसंदेह सदाचारी बन गये हैं। आर्यसमाजके प्रवर्तक स्वामी श्रीदयानन्दजीका जीवन ऐसा पवित्र था कि उनके सत्सङ्ग एवं उपदेशोंसे आजतक लाखों व्यक्तियोंके जीवनमें सुधार हुआ है। उनके जीवनकी ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, जिनमेंसे एक-दो घटनाएँ यहाँ दी जाती हैं, पाठक उसे देखें—

स्वामीजीके समकालीन पंजाबके एक तहसीलदार अमीचन्दजी बड़े दुराचारी थे। अण्डा, मांस, शराब आदि अभक्ष्य पदार्थोंका सेवन और अन्य अनाचार उनके जीवनके स्वाभाविक अङ्ग बन गये थे, परंतु उनमें एक बड़ा गुण यह भी था कि वे सुरीली व मधुर आवाजसे संगीतका बड़ा सुन्दर गान करते थे। उनके संगीतकी प्रशंसा सुनकर एक बार स्वामी दयानन्दजीने भी अमीचन्दजीसे गीत सुननेकी इच्छा व्यक्त की। उनके भक्तोंने कहा—'महाराज! वह अमीचन्द तो बड़ा कदाचारी और दुर्व्यसनी है।' स्वामीजीने उत्तर दिया—कोई बात नहीं। आप उनको मेरे सामने लाइये तो सही! तहसीलदार अमीचन्दजीको बुलाया गया और उन्हें शिष्टाचारके पश्चात् गीत सुनानेको कहा गया। उन्होंने ऐसा सुमधुर गीत सुनाया कि स्वामीजी गद्गद हो गये। उसके पश्चात् उन्होंने एक ही वाक्य कहा—'अमीचन्दजी! आप हो तो हीरे, परंतु कीचड़में फँस गये हो।' बस, इतना कहना था कि अमीचन्दजी सब कुछ समझ गये। वे तुरंत ही घर गये और वहाँ जाकर मांस, शराबकी सब प्लेटें और बोतलें तोड़कर फेंक दीं और दुराचार छोड़ देनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर ली। उन्हें अपने पूर्व जीवनसे घृणा हो चली। उसी दिनसे उन्होंने पूर्वकृत अपराधोंपर पश्चात्ताप किया और स्वामी दयानन्दजीके पक्के भक्त बन गये। फिर उन्होंने सैकड़ों ही सुन्दर गीतोंके द्वारा आर्यसमाजके वैदिक सिद्धान्तोंका प्रचार किया। देखिये—स्वामीजीके एक ही वाक्यसे वे काचसे हीरे बन गये। सचमुच संतोंके वचनोंमें बड़ी शक्ति होती है, जो सम्पूर्ण जीवनको ही बदल देती है।

इसी प्रकार पंजाबमें जालन्धर जिलेके तलवन ग्रामके निवासी श्रीमुंशीरामजी भी, जो सब प्रकारसे पतित हो चुके थे—स्वामी दयानन्दजीके सत्सङ्गसे सदाचारी बनकर आर्यसमाजके एक बहुत बड़े तपस्वी नेता स्वामी श्रद्धानन्दके नामसे प्रसिद्ध हो गये। पता नहीं, इस प्रकार उनके द्वारा कितनोंके जीवनका सुधार हुआ। अतः कहना पड़ता है कि मनुष्यको श्रेष्ठ सदाचारी बननेके लिये सत्सङ्गसे बढ़कर कोई अन्य साधन नहीं है। (द्र० आर्यसमाजका इतिहास भाग २) सत्सङ्गसे ज्ञानमें वृद्धि होती है। यदि ज्ञानके अनुसार आचरण न हो तो वह ज्ञान निष्प्राण है। सकल शास्त्रोंका ज्ञान होनेपर भी मनुष्य सदाचारी न बना तो वह मनुष्य कैसा है, इसे एक नीतिकारकी दृष्टिमें देखिये—

अधीत्य चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
आत्मानं नैव जानन्ति दर्वी पाकरसं यथा॥
(मौक्तिकोपनिषद् २।१।६५)

'कुछ लोग चारों वेद और अनेक धर्मशास्त्रोंको पढ़ते हैं। परंतु अपने स्वरूपको जानकर सत्याचरण नहीं करते, तो वे कड़छी वा उस चम्मचके समान हैं, जो नित्य अनेक बार दाल-सब्जियोंमें जाती है, परंतु उसका स्वाद नहीं जानती। वस्तुतः मनुष्यके अच्छा या बुरा बननेके तीन कारण हैं—एक पूर्वजन्मके संस्कार, दूसरा बाह्य वातावरण और तीसरा माता-पिता या आचार्यकी शिक्षा। जैसे वातावरणमें रहकर जैसी शिक्षा ग्रहण करेगा, मनुष्य वैसा ही बनेगा। बड़ोंको देखकर छोटोंपर भी वैसा ही प्रभाव पड़ता है। भगवान् श्रीकृष्णने भी गीता (३।२०)में यही बात बतायी है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

अर्थ स्पष्ट ही है। अतः बड़ोंको चाहिये कि छोटोंके सामने ऐसा कोई आचरण न करें कि जिससे उनपर बुरा प्रभाव पड़े। माता-पिता और अध्यापक लोग बालकोंको ऐसी शिक्षा दें जिससे वे चोरी, आलस्य, प्रमाद, मादक द्रव्य-सेवन, मिथ्या भाषण, हिंसा, क्रूरता, ईर्ष्या, द्वेष आदि दोषोंको त्यागकर सत्याचरणपर ध्यान दें तथा दुराचारी मनुष्योंसे पृथक् रहें। वे देखें कि बालक कुसङ्गमें फँसकर किसी प्रकार कुचेष्टा तो नहीं करता (सत्यार्थप्र० द्वि० समु०)। उपदेश देना जितना सरल है, आचरण करना उतना ही कठिन है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥
(मानस ६।७७।१)

वस्तुतः सच्चा मानव बननेके लिये उसे सदाचारकी अग्निमें तपना पड़ता है। शुद्ध संस्कारका यही अभिप्राय है कि मनुष्यके अंदर जो अनिष्ट संस्कार पड़े हुए हैं, उन्हें दूर करके शुद्ध संस्कार डाले जायँ, उनके विचारोंमें परिवर्तन लाकर उन्हें श्रेष्ठ सदाचारी बनाया जाय; जिससे वह समाजके लिये उपयोगी सिद्ध हो सके। बिना संस्कार किये मनुष्य लोक-व्यवहारमें खरा नहीं उतरता।

लोक-व्यवहारमें सदाचार—लोक-व्यवहारमें देश, काल, स्थितिके अनुसार सदाचार और शिष्टाचारमें भिन्नता हो सकती है। फिर भी सदाचारके मौलिक सिद्धान्त समानरूपसे सर्वत्र लागू हैं। हमारी भारतीय संस्कृतिका आधार सदाचार है। यदि सदाचारके नियम और सिद्धान्त कुछ भी न होते तो आर्यसभ्यता कभीकी मिट गयी होती और मानव जंगली जानवरोंकी भाँति जीवन व्यतीत करता। विदेशियोंने हमारी सभ्यताको मिटानेके लिये हर सम्भव उपाय किये, परंतु वे इसमें सफल न हो सके। यद्यपि आजका कुमार एवं युवक-समाज पाश्चात्य शिक्षा-दीक्षा लेकर आर्यावर्तीय सभ्यता-सदाचारमें उपेक्षित बुद्धि रखता है, तथापि उसके प्रबल संस्कारोंका उनपर स्थायी प्रभाव है। सत्यको झुठलाया नहीं जा सकता। यही कारण

है कि आर्यसभ्यता अनेक विषम परिस्थितियोंसे गुजरती हुई आज भी जीवित है और संसारका यथेष्ट मार्ग-दर्शन कर रही है। आर्योंका सदाचार विश्वकी उच्च-से-उच्च सेवाके भाव उत्पन्न करता है। लोक-व्यवहारमें स्वामी दयानन्दजीकी सदाचारकी शिक्षाएँ बड़े महत्त्वकी हैं—

जनसाधारणके प्रति—हम दूसरोंकी सेवा इस भावसे न करें कि बदलेमें पारितोषिक मिलेगा; अपितु निष्कामभाव-से सेवा करें। किसीसे भद्दी हँसी-दिल्लगी न करें और न किसीको अपशब्द कहकर जी दुखाएँ। काच, पत्थर, ईंट, काँटा, केलेका छिलका आदि पदार्थ जो दूसरोंको हानि पहुँचानेवाले हैं, इनमेंसे कोई भी पदार्थ मार्गमें देखें तो उसे स्वयं हटा दें अथवा किसीसे हटवा दें। यदि कोई मार्ग भूल जाय तो अपनी हानिकी परवा न कर उसे सही मार्ग बता दें। किसी भी मत अथवा धर्मके प्रवर्तकोंका नाम आदरसे लें। उनपर आक्षेप न करके धार्मिक एवं राजनैतिक वाद-विवादोंमें नम्रता, प्रेम और सदाचारसे काम लें, अपमान किसीका न करें। किसीकी खोयी हुई वस्तु मिल जाय तो उसका पता लगाकर वहाँ पहुँचा दें अथवा ऐसे स्थानपर जमा कर दें, जहाँसे वस्तुके स्वामीको वह मिल जाय। पारस्परिक झगड़ोंको धर्मानुसार स्वयं तय करें और यदि दो व्यक्ति झगड़ते हों तो उन्हें भड़काएँ नहीं, अपितु उनमें मेल करानेका यत्न करें। पापसे घृणा करें, पापीसे नहीं। उसके साथ प्रेम व सहानुभूति दरसायें। पड़ोसी, मित्र या अपने सम्बन्धीके यहाँ मृत्यु हो जाय तो उसके शोकमें सम्मिलित होकर यथासम्भव उसे धैर्य प्रदान कराइये। जहाँ दोसे अधिक व्यक्ति बातें करते हों, वहाँ मत जाइये; हो सकता है, वे गुप्त मन्त्रणा करते हों और आपका वहाँ आना वे पसंद न करें। किसीके पीछे निन्दा न करें। प्रत्येक व्यक्तिमें कोई-न-कोई गुण अवश्य होता है, उस व्यक्तिके गुणोंकी ही चर्चा करनी चाहिये। हाँ, यदि अपना मित्र अथवा आत्मीय जन हो तो उसके दोषोंको प्रेमपूर्वक दूर करनेका यत्न करें। जहाँतक हो सके, अपनेसे बड़ोंकी ओर पीठ करके न बैठें और न चलें। दूसरे व्यक्तिकी बात जबतक समाप्त न हो, बीचमें न बोलें। यदि भूलसे बोल जायँ तो उससे क्षमा माँग लें। बातचीतका सिलसिला लम्बा न बढ़ाकर सुननेवालेको भी बात करनेका अवसर देना चाहिये; अन्यथा सुननेवाला आपकी बातसे ऊब जायगा। कथा-व्याख्यानमें बीचमें न उठें। यदि उठना आवश्यक हो तो प्रसङ्गकी समाप्तिपर उठें, अन्यथा कथा-वाचकका अपमान समझा जाता है। बिना आवश्यकताके किसीसे उसका वेतन, आय वा जाति न पूछें।

स्त्री-सम्बन्धी सदाचारकी बातें—परायी स्त्रीसे यदि कोई बात करनी हो तो नीचेकी ओर दृष्टि करके बात करें। स्त्रियोंको छूना, उनसे हँस-हँस-कर बातें करना, दिल्लगी करना असभ्यता है और सदाचारके विरुद्ध आचरण है। किसी स्त्रीको माला पहनानी हो तो उसके हाथमें दे दीजिये, वह स्वयं पहन लेगी। यही बातें स्त्रियोंको भी पुरुषोंके प्रति ध्यानमें रखनी चाहिये। किसी भी असहाय स्त्रीपर कोई संकट आ जाय या उसे कोई असुविधा हो तो निःस्वार्थ-भावसे उसकी सहायता करें। आयु, विद्या एवं योग्यताके अनुसार स्त्रियोंमें माता, पुत्री और बहिनका भाव जाग्रत् करो और उनका सम्मान कीजिये। किसीके घर जहाँ स्त्रियाँ रहती हों, वहाँ बिना सूचना दिये कभी न जाइये और जहाँ स्त्रियाँ नहाती हों, वहाँ भी मत जाइये। घर अपना हो या पराया, जिस कमरेमें कोई स्त्री अकेली बैठी, सोयी या वस्त्र पहनती हो, परदेकी शक्लमें हो तो उस कमरेमें सहसा प्रवेश न करें। आवाज देकर या खाँसकर अपने आनेकी सूचना दें।

इस प्रकार लोक-व्यवहारमें मर्यादा और शिष्टाचारकी रक्षा करना—आर्यसमाजके सदाचार-सिद्धान्तोंमें परिगृहीत है।

सिख-धर्म और सदाचार

(लेखक—प्रो० श्रीलालमोहरजी उपाध्याय, एम्० ए०)

सदाचारका अर्थ है—शुभ आचार। सदाचारका सम्बन्ध मनुष्यके कर्मके साथ माना जाता है। भाषा-विज्ञानके अनुसार सदाचार शब्द जो अंग्रेजी शब्द एथिक्स (Ethics) का पर्याय है, यूनानी भाषाके एथेस् (Ethes) शब्दसे विकसित माना जाता है। सिख-सदाचार-का सम्बन्ध गुरुओंद्वारा दी गयी शिक्षामें अच्छाईसे है। सिख-सदाचारका भाव मानवीय व्यवहारसे सम्बद्ध है, जो गुरुग्रन्थ साहिब, दसम ग्रन्थसाहिब और रहितनामामें अङ्कित है। गुरुनानकजी कहते हैं कि सत्य सबसे श्रेष्ठ है, परंतु सत्यमें भी ऊँचा आचार है—**'सच्चो उरै समझो ऊपर सच्च आचार'** ॥ (गुरुग्र० सा० पृ० ६२) इसलिये गुरुनानकदेवजी कहते हैं कि हृदयमें सत्यको धारण करना ही मानवका परम धर्म तथा कर्तव्य है, अन्य पूजा-अर्चना सब दिखावा तथा साधारण बाह्य साधन हैं—**'हृदय सच इहः करनी है साहु, हरि सब दिखावा पूजा खुआर** (—गुरुग्र० सा० पृ० १४२९)।

किसी धर्मकी परख उसमें निर्दिष्ट हुए आचारसे ही सम्भव है। आत्मिक जीवनका सामाजिक एवं सांसारिक पक्ष मनुष्यके आचरणसे ही जाँचा जा सकता है। गुरुनानकने सिखके आचरणमें निम्नाङ्कित गुण आवश्यक माने हैं—(१) सत्य, संतोष, विचार, (२) दया, धर्म, दान, (३) लगन, सबर, संयम, (४) क्षमा, निर्धनता, सेवा, (५) प्रेम, ज्ञान और कर्म करना। सच तो यह है कि सिख-सदाचारमें गुरु गोविन्दसिंहजीने **'मानसकी जाति सब एकै पहिचानाबो'** का संदेश दिया है। गुरु अङ्गददेवने सदाचारके लिये **'इस मैं सौंम्भी बाल सदायन'**का उपदेश गुरुग्रन्थ साहिबके आसा जीवारमें दिया है। इतना ही नहीं, सिख-धर्ममें सदाचारी जीवन व्यतीत करनेके लिये स्त्री-पुरुषको समान दर्जा दिया गया है। गुरुनानकदेवने स्पष्टरूपसे कहा है कि सदाचारी जीवनके तीन मूलभूत सिद्धान्त हैं—नाम जपना, किरत करनी तथा बंड छकना। इस प्रकार जहाँ योगियोंका सदाचारी जीवन निराशा-वादी प्रतीत होता है, वहाँ सिखधर्मका सदाचारी जीवन आशावादी दीखता है। इसीलिये तो गुरु-नानकदेवजीने गुरुग्रन्थ साहिबमें डंकेकी चोट कहा है—

> **चंगि आइआं बुरी आइआं बाजं धरम हदूरि।**
> **करनी आपे आपनी के नेड़े कै दूर॥**
> (—जपुजी गु० ग्रं० सा०)

गुरु गोविन्दसिंहने यहाँतक कहा है—**'देहि शिवा वर मोहिए है, शुभ कर्मन ते कबहू न टरौ'** शुभ कर्मनसे इनका मतलब सदाचार ही है। प्रतिदिन सिख-समाजमें जो प्रार्थना होती है, उसके अन्तमें कहा जाता है—**'नानक नाम चढ़की कला, तेरे माने सरवत का भला'** अर्थात् सिख-सदाचारमें सबकी भलाईकी कामना निहित है। गुरुग्रन्थ साहिबमें भक्त कबीरजीने सदाचारी जीवनके लिये समन्वयवाद और समानताकी ओर संकेत किया है—

> **अवल अल्ला नूर उपाया, कुदरत के सम बंदे।**
> **एक नूर ते रूप जग उपजया, कौन भले को मंदे॥**

गुरुनानकदेवजीने स्पष्टरूपसे गुरुग्रन्थ साहिबमें कहा है कि सदाचारका आधार अच्छा धार्मिक जीवन व्यतीत करना है। परमात्माके ऊपर विश्वास मनुष्यको बुरा काम करनेसे रोकता है। काम, क्रोध, मोह, लोभ, अहंकार आदिपर काबू करनेपर ही मनुष्य ऊँचा उठकर सदाचारी जीवन व्यतीत कर सकता है। इसीलिये तो 'गुरुग्रन्थ' साहिबमें पञ्चम गुरु अर्जुनदेवने कहा है—

काम क्रोध लोभ मोह मिटाये, छुटकै दुरमति अपनी यारी ॥
होई निभानी सेव कमावहि त होवहि प्रीतम मन पिआरी ॥

सिखधर्ममें निजी जीवनको सुधारनेपर काफी बल दिया गया है। सदाचारी सिखके लिये पाठ करना और संगतमें जाना दोनों आवश्यक है। संगत और पंगतका ध्यान रखना सदाचारी जीवनके लिये अत्यन्त ही जरूरी है। जुल्मके विरुद्ध लड़ना भी सदाचारका एक अङ्ग है। गुरु गोविन्दसिंहने स्पष्टरूपसे कहा है कि जब शान्तिके सारे साधन असफल हो जायँ तो तलवार पकड़ना जायज है—

चूँकार अज हमा ही लते दर गुजरत।
हलाल असत बुरदन ब समसीर दस्त ॥
(दशम ग्रन्थ)

गुरु अर्जुनदेवने तो सदाचारके लिये समानताको अत्यन्त आवश्यक माना है। इसीलिये तो वे गुरु-ग्रन्थ साहिबमें कहते हैं—'एक पिता एकस के हम बारिकब'

सिखधर्ममें संसारको झूठा समझकर उसको तिलाञ्जलि देनेकी बात नहीं है, बल्कि इस असार संसारमें रहते हुए सदाचारके सिपाहीके रूपमें जीवन व्यतीत करनेका संदेश है। इतना ही नहीं, सिखमतमें धर्म और सदाचार एक दूसरेके पूरक हैं। धर्मके बिना सदाचार असम्भव है तथा सदाचारके बिना धर्म निर्जीव है। सिख-धर्ममें सदाचारकी यही सबसे विलक्षणता है कि सभी सिख गुरु स्वयं जीवन-भर सदाचारी बने रहे तथा उन्होंने दूसरोंको भी सदाचारी बननेकी प्रेरणा दी। इस प्रकार सिखधर्ममें सदाचारका स्थान सर्वोपरि माना गया है।

पारसीधर्ममें सदाचार

(लेखिका—श्रीमती खुरशेदबानू जाल)

पैगम्बर अपना ऊँचा-से-ऊँचा आदर्श छोड़कर हमारे-जैसे अज्ञानियोंको धर्मका प्रकाश प्रदान करते हैं और अपना कार्य पूर्ण होनेपर भगवान्‌के धाममें चले जाते हैं। इसके पश्चात् जो कुछ भी कर्तव्य करना शेष रह जाता है, उसका पूर्ण उत्तरदायित्व हमारे ऊपर होता है। उनके उपदेशोंका पालन करना और आचरणमें लाना हमारा कर्तव्य है। धर्म चाहे जितना उत्तम हो, यदि वह केवल शास्त्र एवं पुस्तकोंमें ही लिखा रहे और हमारे दैनिक-व्यवहारसे अलग ही रहे तो उससे हमारा कल्याण नहीं हो सकता—चाहे उसका सिद्धान्त-पक्ष कितना भी उत्तम एवं पवित्र हो। सदाचारयुक्त जीवनमें ही सद्धर्म या अच्छे प्रकारके धर्म या दीनकी परीक्षा होती है। किंतु हम बहुत धर्मी या सत्कर्मी हैं—ऐसा दिखानेके लिये ही यदि हम विशेष प्रकारके वस्त्र पहनते हैं अथवा माला जपते हैं तो इस बाहरी आचरणमात्रसे हम भगवान्‌को धोखा नहीं दे सकते। सच्चे धार्मिक व्यक्ति तो नित्यप्रति धर्मके सिद्धान्तानुसार अपने निश्छल आचरणसे ही भगवान्‌को अपने वशमें करते हैं।

जरथोस्त्री (पारसी*) धर्मके अनुसार अपने विचार, वाणी एवं क्रियामें धर्मका प्रभाव प्रत्येक क्षण प्रकट होता रहना चाहिये। इस जीवनकी सफलता सदाचारमें ही है। शास्त्र हमें बहुत कुछ सिखाना चाहते हैं, परंतु यदि हम उनके अनुसार नहीं चलते तो असदाचारी या अधर्मी ही कहे जायँगे। इस कारण हमारे श्रद्धेय

* पारसीधर्मके इस लेखमें 'खुदा,' 'अशोई,' हुमत आदि अनेक पारसी भाषाके रूढ़ शब्द भी हैं; जिन्हें बदलना उचित नहीं समझा गया; क्योंकि वे सांस्कृतिक शब्द हैं।

पैगम्बर अशो स्पीतमान जरथुस्त्र साहबने हमारे दैनिक-जीवनमें पालनीय कुछ विशेष आचार बतलाये हैं। जब हम उनके अनुसार व्यवहार करेंगे, तभी सच्चे जरथोस्त्री (पारसी) कहलायँगे।

(१) हमारा धर्म भलाई सिखाता है; अर्थात् हमें अपनी ओरसे सबके साथ भलाईका ही व्यवहार करना चाहिये। किसीकी थोड़ी भी हानि न हो, सबके साथ नेकीका व्यवहार करें तभी सच्चे जरथोस्त्री कहलायँगे। यदि आप भले व्यक्ति बनना चाहते हैं तो जिसमें किसीकी हानि हो ऐसी कोई क्रिया न करें, किसीकी हानि न हो, ऐसी ही इच्छा करें। 'भलाईका मार्ग ही खुदा (भगवान्)का मार्ग है'। वे जैसे स्वयं सबका कल्याण चाहते हैं तथा करते हैं, उसी प्रकार हमें भी परोपकारी, परमार्थी एवं भला बनना चाहिये। हमारा धर्म—हुमत, हुवल, हुवरस्त यानी नेक विचार, नेक वचन और नेक कर्म ('Good thoughts, good words and good deeds')पर आधारित है। हमारा धर्म सबकी भलाई करनेके लिये बना है। इसलिये इसके अनुसार हमें सबके साथ भलाई और अच्छाईका व्यवहार करना चाहिये।

(२) पारसीधर्मका दूसरा सद्गुण एकता सौहार्द (प्रेम) है। हमारे विचारोंमें मतभेद भले हो, फिर भी झगड़ा-झंझटसे दूर रहकर सबके साथ हिल-मिलकर रहना तथा प्रेम रखना प्रत्येक जरथोस्त्रीका मुख्य कर्तव्य है। झगड़ा-झंझट दूर करके दोनों पक्षोंको मित्र बनानेकी गरिमा वास्तविक है। यदि दोनोंके मनमें थोड़ी भी समता हो तो अपने सामनेवाले व्यक्तिको समझानेका प्रयत्न हृदयसे करना चाहिये। ऐसा करनेसे भाई-बन्दी, दोस्ती, प्रेम बढ़ेगा, विरोध दूर होगा और जगत्में शान्ति फैल जायगी। हमारी पारसी जाति भारतमें आनेके बाद आजतक प्रत्येक जातिके साथ भाईचारा स्थापितकर प्रेमके साथ रहती आयी है और सदा रहेगी। जब हम ईरानसे भारतकी पवित्र भूमिपर आये, तब गुजरातके राजा यादवराय राणाने हमें प्रेमसे रहनेका जो वचन दिया था—जिसका हमने आजतक बराबर पालन किया है। भारत हमारी मातृभूमि है और इस भारत माताके लिये हम पारसी सदा अपना कर्तव्य पूरा करते रहे हैं और करते रहेंगे। हमारे धर्मका उच्च सिद्धान्त यह है कि जिस देशमें तुम रहो, उस देशका सम्मान करो और आवश्यकता पड़नेपर उसके लिये अपने प्राणोंको भी अर्पित कर दो।

(३) तीसरा सद्गुण सहनशील बनना है; अर्थात् किसीको जबरदस्ती अपना ही मत सत्य माननेका दुराग्रह नहीं करना चाहिये। धर्म समझानेके लिये भी बल-प्रयोग या धमकी व्यर्थ है।

(४) पारसीधर्मका चौथा सद्गुण स्वार्थत्याग है। जीवनमें दूसरोंके सुखका विचार पहले करना चाहिये और केवल अपना ही भला करनेका तुच्छ विचारका त्याग कर देना चाहिये। भगवान्ने हमें जो कुछ धन, बुद्धि, शक्ति आदि प्रदान किया है, उसका उपयोग हमें संसारके कल्याणके लिये करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करना प्रत्येक धार्मिक व्यक्तिका कर्तव्य है। पूजा रागभोग देकर जो कोई सुख चाहे, भगवान् उसे सुख देंगे—ऐसा हमारे धर्मका नियम है। जैसे भगवान् अपनी अहैतुकी दयासे संसारकी भलाई करते रहते हैं (बदला लेनेकी या यशकी आशा ही नहीं करते), उसी प्रकार मनुष्य व्यवहार करे तो वह भगवान्का आशीर्वाद प्राप्त करता है, वह सच्चा बन्दा कहा जाता है—**'उश्ता अहमाय उश्त कमाये चीत'**, अर्थात् सुख वह है, जिससे दूसरोंको सुख हो'—यह श्लोक हम पारसी प्रतिदिन अपनी प्रार्थनामें पढ़ते हैं।

(५) अशोईके (नेकी-रीति-सदाचारके) विशाल सद्गुण पालनेके लिये होते हैं। इनमें स्वच्छता, समता, समाधान समाविष्ट हैं। शरीर स्वच्छ रहे, खुराक, कपड़ा,

हवा, गृह आदि भी उसी प्रकार पवित्र रक्खें जायँ। उसी प्रकार अन्तःकरणके गुण (प्रेम-दया) भी जागृत रहें तथा मनके विचार भी ठीक रखें जायँ। इससे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। अशोईमें इसके अनुकूल प्रयत्न निहित हैं। परवरदिगार स्वयं अशोईके नियम संसारको अच्छे मार्गपर चलाकर निभाते हैं। इससे जहाँ हमें गंदगी, ठगाई, दुराचारकी अधिकता लगे, वहाँ समझिये कि हमारे धर्मका आवश्यक फरमान टूट रहा है।

(६) हम जरथोस्त्री (पारसी) अहुरमज्द (परमेश्वर)की ओरसे प्राप्त हुई प्रत्येक परिस्थिति-के लिये उनका आभार मानते हैं और इसी मान्यताके कारण उस मालिकके नामका जन-कल्याणके लिये प्रचलित करना अपना कर्तव्य मानते हैं। बंदगीका सच्चा अर्थ खिदमत (सेवा) है। उस दयालु जगत्पितासे थोड़ी सहायता करना हम सीख लें तो हम सच्चे सेवक कहे जा सकते हैं। भगवान् सबका निर्वाह करते हैं। वे जीवोंकी भूल और दोषकी ओर विशेष ध्यान नहीं देते और हमारी सब आवश्यकताएँ पूरी करते हैं; अतः हमें भी उनकी सेवाके नामपर कुछ दान एवं परमार्थका काम करना चाहिये। जो मनुष्य गरीब एवं लाचार व्यक्तियों-की सहायता करता है, वह परमेश्वरको एक बादशाहके रूपमें सम्मान देता है।

(७) सुख आये या दुःख—चाहे जैसी कठिन परिस्थितिमें भी परमात्माके न्यायके सामने चिन्ता नहीं करनी चाहिये। परमेश्वरपर विश्वास रखिये, वे जो कुछ करते हैं, उसीमें हमारी भलाई है, ऐसा विश्वासकर भगवान् हमें जैसे रखें, वैसे ही रहें। किसी परिस्थितिमें भी हमें परमेश्वरके फरमानको दुःखरूप नहीं समझना चाहिये। कभी-कभी दुःख पड़नेपर भी हमें बहुत कुछ सीखनेको मिलता है। कटु अनुभवके पश्चात् ही बुद्धिमानी प्रकट होती है। संकटके सामने लड़नेसे मनोबल बढ़ता है।

पैगम्बर जरथुस्त्रको अपना पथप्रदर्शक मानकर उनकी आज्ञाका पालन करना प्रत्येक पारसीका कर्तव्य है। उनके संदेशको सत्य मानकर उनके बताये हुए मार्गपर चलें तो हमारा कल्याण होगा। जो कोई धर्मके फरमान-पर नहीं चलता, वह भाग्यहीन है। कारण कि वह स्वयंके जीवनको व्यर्थ नष्ट करता है और ईश्वरकी ओरसे वह गुणहीन और नालायक सिद्ध होता है। इससे उसकी आत्मोन्नति रुकती है।

नेकी (भलाई)के भंडार (सदाचार) तो परलोकमें ले जा सकते हैं, पर धन-दौलत वहाँ नहीं ले जा सकते। हम खाली हाथ आये हैं और हमें खाली हाथ ही जाना पड़ेगा। हम अशोई (सदाचार)से ही खुदाको प्राप्त कर सकते हैं। जिसका मन ठीकसे धर्मके मार्गपर चलता है, वही सच्चा भाग्यवान् है। इसलिये खुदासे प्रार्थना करनी है कि 'ऐ परवरदिगार तू हमें पवित्र कर, सदाचारी बना—यही सद्गुण हमें स्वर्गमें काम आयँगे।'

दानशीलता

ईश्वरने हमलोगोंको जो कुछ भी दिया है, वह बटोरकर रखनेके लिये नहीं, प्रत्युत योग्य पात्रोंको देनेके लिये है। हमलोगोंको एक जगह पड़े तालाबके जलकी तरह न बनकर बहती नदी बनना चाहिये। इस प्रकार दूसरोंको देनेसे हमारी शक्ति, धन, ज्ञान, बल अथवा धर्म आदि कभी घटते नहीं, उल्टे बढ़ते ही हैं। ऐसे मनुष्यको ईश्वर अधिकाधिक देता ही रहता है। ज्यों-ज्यों हमारी शक्ति बढ़ती है, त्यों-त्यों हमारे द्वारा मनुष्यसेवा भी अधिक होनी चाहिये।

—महात्मा जरथुस्त्र

महात्मा ईसा और उनकी सदाचार-शिक्षा

एशियाके पश्चिमी भागमें फिलिस्तीन (Palestine) नामका देश है । महात्मा ईसामसीहका जन्म इसी देशमें हुआ था, यहीं उन्होंने अपना जीवन बिताया और यहीं अपना भौतिक शरीर छोड़ा । इनका जन्म विक्रमसं० '५७में हुआ था । ईस्वी सन्‌का प्रारम्भ इन्हींके जन्मके समयसे माना जाता है* । इनकी माता कुमारी मरियम (Virgin Mary) थीं । मरियमका अर्थ है—'महान्' । इनकी सगाई जोजेफ (Joseph) नामके बढ़ईसे हुई थी, जो राजा डेविडके वंशमें थे । जब ईसा बारह वर्षके हुए तो इनके माता-पिता इन्हें जैरूसेलेम (Jerusalem) ले गये । वहाँसे लौटते समय ये रास्तेमें गायब हो गये । इनके माता-पिता इनकी खोजमें जेरूसेलेम वापस चले आये और बहुत खोज करनेपर ये वहाँके मन्दिरमें (धर्म-) कानूनके बड़े-बड़े पण्डितोंसे वाद-विवाद करते हुए मिले, जिससे लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ । फिर ये अपने माता-पिताके साथ वापस नजारेथ चले आये । इनके बालकपनका और कोई वृत्तान्त इतिहासमें नहीं मिलता ।

इनकी प्रारम्भसे ही भगवान्‌में बड़ी भक्ति थी और ये अपने प्रत्येक कार्यमें उन्हींकी इच्छाका अनुसरण करनेकी चेष्टा करते थे । इन्हें अपने शुद्ध अन्तःकरणमें भगवान्‌की इच्छाका स्पष्ट अनुभव होता था । कहा जाता है कि प्रकृतिके प्रत्येक खेलमें, जीवनके प्रत्येक कार्यमें और प्रत्येक विचारमें भगवान्‌की वाणी इन्हें स्पष्ट सुनायी देती थी । ये अपने अन्तस्तलमें, सूर्यकी रश्मियों और नक्षत्रोंके प्रकाशमें—सर्वत्र अपने परमपिता परमात्माकी झाँकी लेते रहते थे । जन-समुदायमें अथवा एकान्तमें, हर समय ये भगवान्‌का ही चिन्तन किया करते थे । ईश्वरमें उनकी तल्लीनता अद्वितीय थी ।

तीस वर्षकी अवस्थासे तैंतीस वर्षकी अवस्थातक, अपनी मृत्युकी अवधितक, ईसाने धर्म-प्रचारका कार्य किया । इनके प्रधान उपदेश—'The Sermon on the Mount.'—पहाड़ीपर उपदेशके नामसे प्रसिद्ध हैं । उनके उपदेशोंमें सदाचारके मुख्य तत्त्व विद्यमान हैं । संक्षेपमें उनमेंसे कुछ नीचे दिये जा रहे हैं—

(१) जिनके अन्दर दैन्यभाव उत्पन्न हो गया है, वे धन्य हैं; क्योंकि भगवान्‌का साम्राज्य उन्हींको प्राप्त होगा । (२) जो आर्तभावसे रोते हैं, वे धन्य हैं; क्योंकि उन्हें भगवान्‌की ओरसे आश्वासन मिलेगा । (३) विनयी पुरुष धन्य हैं; क्योंकि वे पृथ्वीपर विजय प्राप्त कर लेंगे । (४) जिन्हें धर्माचरणकी तीव्र अभिलाषा है, वे धन्य हैं; क्योंकि उन्हें पूर्णताकी प्राप्ति होगी । (५) दयालु पुरुष धन्य हैं, क्योंकि वे ही भगवान्‌की दयाको प्राप्त कर सकेंगे । (६) जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, वे धन्य हैं; क्योंकि ईश्वरका साक्षात्कार उन्हींको होगा । (७) शान्तिका प्रचार करनेवाले धन्य हैं; क्योंकि वे ही भगवान्‌के पुत्र कहे जायँगे । (८) धर्मपर दृढ़ रहनेके कारण जिन्हें कष्ट मिलता है, वे धन्य हैं; क्योंकि भगवान्‌का साम्राज्य उन्हींको प्राप्त होता है ।

ईसाके जीवनमें कई चमत्कार भी दिखलायी पड़े; किंतु वे उनकी आध्यात्मिक शक्तिके सामने कुछ भी न थे । उन्होंने कई अन्धों, लँगड़ों, बहरों, कोढ़ियों तथा लकवेसे पीड़ित रोगियोंका कष्ट दूर किया, मुर्दोंको जिलाया, अन्धड़-तूफानोंको शान्त किया, कुछ ही पत्तोंसे हजारों मनुष्योंको भोजन कराया और इसी प्रकारके और भी कई आश्चर्यजनक कर्म

* A. D. (*Anno Domini*) in the year of our Lord.

किये, पर सबसे बड़ी चमत्कृति उनकी धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता थी।'

ईसामसीहने विनय, क्षमा, दया, त्याग आदि गुणोंका बहुत प्रचार किया। वे कहा करते थे कि यदि कोई तुम्हारे दाहिने गालपर थप्पड़ मारे तो तुम अपना बायाँ गाल भी उसके सामने कर दो। यदि कोई तुम्हें किसी प्रकारका अभियोग लगाकर तुम्हारा कोट छीन ले तो उसे अपना लबादा भी दे दो। अपने शत्रुओंसे प्रेम करो, अपनेसे घृणा करनेवालेका उपकार करो और अपनेको सतानेवालोंके कल्याणके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करो। दूसरोंकी आलोचना न करो, जिससे कि तुम भी आलोचनासे बच सको। दूसरोंके अपराधोंको क्षमा कर दो, भगवान् भी तुम्हारे अपराधोंको क्षमा कर देंगे। अपने दयालु पिताकी भाँति तुम भी दयालु बन जाओ। किसीसे कुछ लेनेकी अपेक्षा देना अधिक कल्याणकारक है। अभिमानीका पतन होता है और अपनेको छोटा माननेवालेकी उन्नति होती है। किसीको कटु शब्द न कहो। अपकारीसे बदला लेना उचित नहीं। ब्याज कमाना अत्यन्त निन्दनीय कर्म है। अपने पिता परमात्माके समान समदर्शी बनो। भगवान् साधु और असाधु दोनोंको ही समानरूपसे सूर्यकी गर्मी पहुँचाते हैं। यदि तुम प्रेम करनेवालेसे ही प्रेम करते हो तो इसमें तुम्हारी क्या बड़ाई है? बुरा विचार मनमें लाना भी पाप है। बाहरकी सफाईकी अपेक्षा भीतरकी सफाई कहीं अधिक मूल्यवान् है। प्रा नामें आडम्बर बिल्कुल नहीं होना चाहिये। गरीबोंके थोड़े-से दानका बड़े आदमियोंके बड़े दानकी अपेक्षा अधिक महत्त्व होता है।

महात्मा ईसाका चरित्र आदर्श था। उनके चेहरेपर कभी किसीने बल पड़ते नहीं देखा। उन्होंने अपनी वाणीसे कभी किसीके प्रति घृणा प्रकट नहीं की। वे दूसरोंके दुःख नहीं देख सकते थे। दूसरोंका हित करना ही उनके जीवनका एकमात्र व्रत था। उन्हें दीन अति प्यारे थे। उनका जीवन त्यागमय था। वे आत्माके सामने जगत्‌को तुच्छ समझते थे। वे विधि (कार्य)की अपेक्षा हृदयके भावको प्रधानता देते थे। वे कहते थे कि ईश्वर हमसे बहुत दूर सातवें आसमानमें नहीं रहते, वे तो हमारे अति समीप, हमारे हृदयमें स्थित हैं। गीताने भी यही कहा है—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'

इनके उपदेशोंसे यहूदीलोग बड़े नाराज हुए। इनपर कई अभियोग लगाये गये और फिलिस्तीनके गवर्नरसे कह-कर इन्हें सूलीपर चढ़वाया गया। सूलीपर चढ़ते समय उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना की—'प्रभो! इन लोगोंको क्षमा करें, ये बेचारे नहीं जानते कि हम क्या कर रहे हैं और अन्तमें 'हे पिता! यह आत्मा तुम्हारे अर्पण है'—यह कहकर उन्होंने अपने प्राण त्याग दिये। ईसाईधर्मके अनुसार वे पुनः जीवित हुए माने जाते हैं। उनका पाञ्चभौतिक शरीर नहीं रहा, पर उनका आध्यात्मिक सदाचार सदैव ज्योति विकीर्ण करता रहेगा।

सेवा और परोपकार

जो निराधार और नीचसे नीच मनुष्यकी सेवा करता है, वह प्रभुकी ही सेवा करता है। जो किसीको दुःखमें देखकर उसपर दया नहीं करता वह मालिकके कोपका पात्र होता है।

जो पासमें धन रहनेपर भी अपने भाइयोंकी दीन अवस्थापर तरस नहीं खाता और उनकी सहायता नहीं करता, उसके हृदयमें ईश्वरीय प्रेमका प्रकाश कैसे हो सकता है।

—महात्मा ईसा

इस्लाम-धर्ममें सदाचार

(प्रेषक—श्रीबदरुद्दीन राणपुरी दादा)

हजरत मुहम्मद साहेब अपने हदीसमें सदाचारके लिये फरमाते हैं—'दयालु पुरुषका सर्वोत्तम कार्य यह है कि वह लोगोंकी बुराइयाँ और कमियाँ जाननेपर भी उन्हें प्रकट नहीं करता, गुप्त रखता है।' सत्य ही धर्मकी पोशाक है। जिस दिन मनुष्य कोई गुनाह (अपराध) न करे, वह ईदका दिन है। सदाचार सब नीतियोंका सरदार है। अपने पापोंके सिवा अन्य किसीसे भी डरना नहीं चाहिये। ऐ लोगो! तुम खुदा (ईश्वर) के मार्गपर चलो। जो धन परोपकार-में खर्च किया गया, वह तुम्हारा है। शेष सब दूसरोंका है। सबर (धैर्य) जैसी कोई अच्छी चीज नहीं। अमल (व्यवहार-अनुभव) बिना आलीम (उपदेशक) फूल बिना वृक्ष जैसा है। जो इन्सान अपने दोष देखता है, वह दूसरोंके दोष देखना जानता ही नहीं। जब बदला लेनेकी शक्ति हो, तब क्षमा करना और जब बदला लेनेकी शक्ति न हो, तब सहनशीलता रखना—ये दोनों क्रोध-को नष्ट करते हैं। जो तुम्हारे दोष ढूँढ़ता है, वही तुम्हारी भूलें सुधारता है। (अतः उसके प्रति कृतज्ञ होना चाहिये।) जिसने खुदाको जान लिया उसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया। संतोष ही सबसे बड़ा खजाना है।

निन्दा करनेवाला और सुननेवाला—ये दोनों समान हैं। पेट और उपस्थको हरामकी जगहसे बचाओ। (इन्हींके कारण हरामी होती है।) जिसने तुम्हारी बुराई की हो उसके साथ भी नेकी (भलाई) करो। (**जो तोकौं काँटा बुवै, ताहि बोय तू फूल।**) वही मनुष्य श्रेष्ठ है, जो अपनी समस्त भोगेच्छाओंका त्याग करे, क्रोधको रोके और भगवान्‌का स्मरण करे। मृत्युको भूल जानेसे अन्तःकरण मलिन हो जाता है। सब इच्छाओंका नाश करना ही सर्वोत्तम श्रीमन्ताई है। जो मनुष्य लम्बी-लम्बी आशाएँ बाँधता है, वह सदा दुःखी रहता है। जिस जीवित मनुष्यसे किसीको लाभ न हो वह मृतक-समान है। सदाचारका परिणाम अच्छा होता है और दुराचारका बुरा।

तुम पोशाकसे अपनेको रूपवान् समझते हो, परंतु सच्चा पोशाक सदाचार है। सदाचारी और पवित्र मनुष्य ही सुखी रहता है। तुम किसीके साथ भलाई करते हो तो उसे गुप्त रक्खो और दूसरा तुम्हारे साथ भलाई करे तो उसका प्रचार करो। श्रेष्ठ बुद्धिमान् मनुष्य वही है, जो सदाचारका सेवन करता है और दुराचारसे दूर रहता है। एकान्तमें भी दुराचारसे बचते रहो, कारण कि उस समय भी तुम्हारा अन्तरात्मा साक्षी है। दुराचारीका सङ्ग करना बुरी-से-बुरी बात है। निर्धन व्यक्ति ईश्वरके मार्गमें एक पैसा खर्च करे, वह धनी व्यक्तिके रुपयेसे भी बहुत अधिक है। क्रोध हृदयकी एक आग है, प्रथम यह हमें स्वयं जलाती है, तत्पश्चात् दूसरोंको। लोभ मनुष्यको नीची-से-नीची श्रेणीमें पहुँचाता है। सच्ची बादशाही तो संतोषमें है। शान्तिसे जीवन व्यतीत करनेवालेको अपनी आवश्यकताएँ कम करनी चाहिये। दुराचारसे दूर रहो, कारण कि दुराचारसे दुःखी होना पड़ता है। जहाँतक बने, दूसरोंकी भलाई करो, क्योंकि भलाई करनेवालेका अन्तमें भला ही होगा। जब अल्लाह किसी बन्देको चाहते हैं, तब उसका बोलना, खाना और नींद लेना प्रायः कम कर देते हैं। सदाचार सभी पापोंसे रक्षा करता है। अतः सदाचारी बनो।

संयम सदाचारका बल

वरुणानदीके तटपर अरुणास्पद नामके नगरमें एक ब्राह्मण रहता था। वह बड़ा सदाचारी तथा अतिथिवत्सल था। रमणीय वनों एवं उद्यानोंको देखनेकी उसकी बड़ी इच्छा थी। एक दिन उसके घरपर एक ऐसा अतिथि आया, जो मणि-मन्त्रादि विद्याओंका ज्ञाता था। जिनके प्रभावसे प्रतिदिन हजारों योजन चला जाता था। ब्राह्मणने उस सिद्ध-अतिथिका बड़ा सत्कार किया। बातचीतके प्रसङ्गमें सिद्धने अनेकों वन, पर्वत, नगर, राष्ट्र, नद, नदियों एवं तीर्थोंकी चर्चा चलायी। यह सुनकर ब्राह्मणको बड़ा विस्मय हुआ। उसने कहा कि इस पृथ्वीको देखनेकी मेरी भी बड़ी इच्छा है। यह सुनकर उदारचरित आगन्तुक सिद्धने उसे पैरमें लगानेके लिये एक लेप दिया, जिसे लगाकर ब्राह्मण हिमालय पर्वतको देखने चला। उसने सोचा था कि सिद्धके कथनानुसार मैं आधे दिनमें एक हजार योजन चला जाऊँगा तथा शेष आधे दिनमें पुनः लौट आऊँगा।

अस्तु, वह हिमालयके शिखरपर पहुँच गया और वहाँकी पर्वतीय भूमिपर पैदल ही विचरना शुरू किया। बर्फपर चलनेके कारण उसके पैरोंमें लगा हुआ दिव्य लेप धुल गया। इससे उसकी तीव्रगति कुण्ठित हो गयी। अब वह इधर-उधर घूमकर हिमालयके मनोहर शिखरोंका अवलोकन करने लगा। वह स्थान सिद्ध, गन्धर्व, किन्नरोंका आवास था। उनके विहारस्थल होनेसे उसकी रमणीयता बहुत बढ़ गयी थी। वहाँके मनोहर शिखरोंके देखनेसे उसके शरीरमें आनन्दसे रोमाञ्च हो आया।

कुछ देर बाद जब उसका विचार घर लौटनेका हुआ तो उसे पता चला कि उसके पैरोंकी गति कुण्ठित हो चुकी है। वह सोचने लगा—'अहो! यहाँ बर्फके पानीसे मेरे पैरका लेप धुल गया। इधर यह पर्वत अत्यन्त दुर्गम है और मैं अपने घरसे हजारों योजनकी दूरीपर हूँ। अब तो घर न पहुँचनेके कारण मेरे अग्निहोत्रादि नित्यकर्मोंका लोप होना चाहता है। यह तो मेरे ऊपर भयानक संकट आ पहुँचा। इस अवस्थामें किसी तपस्वी या सिद्ध महात्माका दर्शन हो जाता तो वे कदाचित् मेरे घर पहुँचनेका कोई उपाय बतला देते।' इसी समय उसके सामने वरूथिनी नामकी अप्सरा आयी। वह उसके रूपसे आकृष्ट हो गयी थी। उसे सामने देखकर ब्राह्मणने पूछा—'देवि! मैं ब्राह्मण हूँ और अरुणास्पद नगरसे यहाँ आया हूँ। मेरे पैरमें दिव्य लेप लगा हुआ था, उसके धुल जानेसे मेरी दूरगमनकी शक्ति नष्ट हो गयी है और अब मेरे नित्यकर्मोंका लोप होना चाहता है। कोई ऐसा उपाय बतलाओ, जिससे सूर्यास्तके पूर्व ही अपने घरपर पहुँच जाऊँ।'

वरूथिनी बोली—'महाभाग! यह तो अत्यन्त रमणीय स्थान है। स्वर्ग भी यहाँसे अधिक रमणीय नहीं है। इसलिये हम लोग स्वर्गको भी छोड़कर यहीं रहते हैं। आपने मेरे मनको हर लिया है। मैं आपको देखकर कामके वशीभूत हो गयी हूँ। मैं आपको सुन्दर वस्त्र, हार, आभूषण, भोजन, अङ्गरागादि दूँगी। आप यहीं रहिये। यहाँ रहनेसे कभी बुढ़ापा नहीं आयेगा। यह यौवनको पुष्ट करनेवाली देवभूमि है।' यों कहते-कहते वह बावली-सी हो गयी और 'मुझपर कृपा कीजिये, कृपा कीजिये'—कहती हुई उसका आलिङ्गन करने लगी।

तब ब्राह्मण बोला—'अरी ओ दुष्टे! मेरे शरीरको न छू। जो तेरे ही ऐसा हो, वैसे ही किसी अन्य पुरुषके पास चली जा। मैं कुछ और भावसे प्रार्थना करता हूँ और तू कुछ और ही भावसे पास आती है? मूर्खे! यह सारा संसार धर्ममें प्रतिष्ठित है। सायं-प्रातःका अग्निहोत्र,

विधिपूर्वक की गयी इज्या ही विश्वको धारण करनेमें समर्थ है और मेरे उस नित्यकर्मका ही यहाँ लोप होना चाहता है । तू तो मुझे कोई ऐसा सरल उपाय बता, जिससे मैं शीघ्र अपने घर पहुँच जाऊँ ।' इसपर वरूथिनी और गिड़गिड़ाने लगी । उसने कहा—'ब्राह्मण ! जो आठ आत्मगुण बतलाये गये हैं, उनमें दया ही प्रधान है । आश्चर्य है, तुम धर्मपालक बनकर भी उसकी अवहेलना कैसे कर रहे हो ? कुलनन्दन ! मेरी तो तुमपर कुछ ऐसी प्रीति उत्पन्न हो गयी है कि सच मानो, अब तुमसे अलग होकर जी न सकूँगी । अब तुम कृपाकर मुझपर प्रसन्न हो जाओ ।'

ब्राह्मणने कहा—'यदि सचमुच तुम्हारी मुझमें प्रीति हो तो मुझे शीघ्र कोई ऐसा उपाय बतलाओ, जिससे मैं तत्काल घर पहुँच जाऊँ ।' पर अप्सराने एक न सुनी और नाना प्रकारके अनुनय-विनय तथा विलापादिसे वह उसे अनुकूल करनेकी चेष्टा करती गयी । ब्राह्मणने अन्तमें कहा—'वरूथिनि ! मेरे गुरुजनोंने उपदेश दिया है कि परायी स्त्रीकी अभिलाषा कदापि न करे । इसलिये तू चाहे बिलख या सूखकर दुबली हो जा, मैं तो तेरा स्पर्श नहीं कर सकता, न तेरी ओर दृष्टिपात ही कर सकता हूँ ।'

यों कहकर उस महाभागने जलका स्पर्श तथा आचमन किया और गार्हपत्य अग्निको मन-ही-मन कहा—'भगवन् ! आप ही सब कर्मोंकी सिद्धिके कारण हैं । आपकी ही तृप्तिसे देवता वृष्टि करते और अन्नादिकी वृद्धिमें कारण बनते हैं । अन्नसे सम्पूर्ण जगत् जीवन धारण करता है, और किसीसे नहीं । इस तरह आपसे ही जगत्की रक्षा होती है । यदि यह सत्य है तो मैं सूर्यास्तके पूर्व ही घरपर पहुँच जाऊँ । यदि मैंने कभी भी वैदिक कर्मानुष्ठानमें कालका परित्याग न किया हो तो आज घर पहुँचकर डूबनेके पहले ही सूर्यको देखूँ । यदि मेरे मनमें पराये धन तथा परायी स्त्रीकी अभिलाषा कभी भी न हुई हो तो मेरा यह मनोरथ सिद्ध हो जाय ।'

ब्राह्मणके ऐसा कहते ही उनके शरीरमें गार्हपत्य अग्निने प्रवेश किया । फिर तो वह ज्वालाओंके बीचमें प्रकट हुए मूर्तिमान् अग्निदेवकी भाँति उस प्रदेशको प्रकाशित करने लगा और उस अप्सराके देखते-ही-देखते वह वहाँसे गगनमार्गसे चलता हुआ एक ही क्षणमें घर पहुँच गया । घर पहुँचकर उन ब्राह्मणदेवताने पुनः यथाशास्त्र सब कर्मोंका अनुष्ठान किया और बड़ी शान्ति एवं धर्म-प्रीतिसे जीवन व्यतीत किया ।

(मार्कण्डेयपुराण, अध्याय ६१)

संतोंका सदाचरण

उदासीन जग सों रहै, जथा मान अपमान ।
नारायन ते संत जन, निपुन भावना ध्यान ॥
मगन रहैं नित भजन में, चलत न चाल कुचाल ।
नारायन ते जानिये, यह लालन के लाल ॥
परहित प्रीति उदार चित, विगत दंभ मद रोष ।
नारायन दुखमें लखैं, निज कर्मनको दोष ॥
संत जगतमें सो सुखी, मैं मेरी को त्याग ।
नारायन गोविंद पद, दृढ़ राखत अनुराग ॥

नारायन हरि भक्तकी, प्रथम यही पहचान ।
आप अमानी ह्वै रहैं, देत और को मान ॥
कपट गाँठि मनमें नहीं, सब सों सरल सुभाव ।
नारायन ता भक्तकी, लगी किनारे नाव ॥
तजि पर औगुन नीर को, छीर गुनन सों प्रीति ।
हंस संतको सर्वदा, नारायन यह रीति ॥
जिनको मन हरि पद कमल, निसि दिन भ्रमर समान ।
नारायन तिन सों मिलें, कबूँ न होवै हान ॥

—श्रीनारायण स्वामी

सदाचार ही जीवन है

(लेखक—श्रीरामदासजी महाराज शास्त्री, महामण्डलेश्वर)

मानव-जीवनकी सार्थकता सदाचारपूर्ण वृत्तिमें है। जन्मसे मृत्युतक जीवनके कुछ **ऐसे** सदाचारयुक्त नियम **हैं,** जिनके आचरणके बिना मनुष्य और पशुमें अन्तर नहीं रह जाता, वे ही सत्पुरुषोंद्वारा आचरित आचरण सदाचार हैं। कुत्सित पुरुषोंके कर्म कदाचार कहे जाते हैं। शास्त्रसम्मत, आर्षानुमोदित, लोक-परिपाटीके अनुसार सत्कर्मका आचरण सदाचारी जीवनका लक्षण है; किंतु **'यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयं नाचरणीयम्'**— नियमके अनुसार लोकानुसारी आचरणोंको ही प्राथमिकता देनी पड़ती है। सदाचार—सामान्य और विशेष, पारमार्थिक एवं व्यावहारिकरूपसे जाना जाता है। सदाचारीको कुछ आवश्यक कर्तव्य ग्रहण करने होते हैं तो कुछ वर्जित कर्म छोड़ने भी पड़ते हैं। सदाचार-पालनमें आहारशुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। यदि आहार-शुद्धि नहीं रही तो अन्तःकरण मलिन होगा। मलिन अन्तःकरणमें—'सत्त्वशुद्धि' एवं 'ध्रुवाऽनुस्मृति' भी न रहेगी। आहार-व्यवहार, खान-पान और रहन-सहनका प्रभाव मन एवं इन्द्रियोंपर विशेष पड़ता है। कहावत है—'जैसा खाये अन्न, वैसा होवे मन्न'। अशुद्ध भोजनोंका दुष्प्रभाव मनको विकृत कर देता है, विकृत मन इन्द्रियोंके साथ मिलकर पतनकी ओर अग्रसर होता है। विषयोंके साथ विचरण करती हुई इन्द्रियोंमेंसे मन जिस इन्द्रियके साथ रहता है, वह एक इन्द्रिय भी इस पुरुषकी बुद्धिको भ्रष्ट कर देती है, जैसे जलमें चलनेवाली नावको वायुका एक झोंका ही डुबो देता है।

सदाचार अपने-आपमें बड़ा व्यापक है। कोई भी धर्म, कोई भी जाति बिना सदाचरणके नहीं टिक सकती, न्यूनाधिकरूपमें सदाचार सर्वत्र विद्यमान है। जंगली जातियोंमें भी उनके अपने कुछ विशेष आचार होते ही हैं। आचार, सदाचार, शास्त्राचार, लोकाचार, शिष्टाचार, बाह्याचार, आभ्यन्तरिक आचार, सभ्यता-संस्कृति—प्रायः ये सभी एक स्तरके निश्चित सिद्धान्तमें बँधे हैं। यदि देहधारी जीवके मन, वाणी, शरीर शुद्ध रहेंगे तो स्वभावतः सदाचार भी सुरक्षित रहेगा। अतः आन्तरिक एवं बाह्यशुद्धि रखना प्रथम अनुष्ठान है। शास्त्र कहते हैं कि शरीरधारीकी शुद्धिके लिये ज्ञान, तप, अग्नि, आहार, मिट्टी, मन, जल, अनुलेपन, वायु, कर्म, सूर्य और समयका शुद्ध होना आवश्यक है—

ज्ञानं तपोऽग्निराहारो मृन्मनो वार्युपाञ्जनम्।
वायुः कर्मार्ककालौ च शुद्धेः कर्तॄणि देहिनाम्॥
(मनु० ५। १०५)

इसी प्रकार शरीरस्थ बारह मलस्थानोंको भी यथासम्भव शुद्ध रखना सदाचारमें सहायक है। शरीरसे प्रतिक्षण मलका निःसरण होता रहता है। मलोंके निष्क्रमणसे ही शरीर अशुद्ध होता है। स्मृतिकारोंने मनुष्य-शरीरस्थ बारह मल बताये हैं। ये हैं—चर्बी, वीर्य, रक्त, मज्जा, मल, मूत्र, नाक-कानकी मैल, नेत्रोंकी मैल और पसीना (मनु० ५। १३५)। इन मलोंके बाहर निकलते समय शरीरके ऊपरी आवरणसे स्पर्श होता है, तभी अशुद्धि या अछूतकी बीमारी एवं गंदगियाँ फैलती हैं। सदाचारको सुरक्षित रखनेमें उक्त मलोंकी सफाई, स्वच्छता एवं पवित्रता आवश्यक है। इस बाह्य शुद्धिके बिना आचारका अनुष्ठान नहीं हो सकता। शरीर, मन, बुद्धि और जीवात्माकी शुद्धि होनेपर ही जीवनमें सदाचार उतरता है। शरीरकी शुद्धि जलसे, मनकी शुद्धि सत्यसे, आत्माकी शुद्धि विद्या और तपसे तथा बुद्धिकी शुद्धि ज्ञानसे होती है (मनु० ५। १०९)।

सदाचारसम्पन्न व्यक्तिको ही लक्ष्यकी प्राप्ति होती है। बिना सदाचारके अध्यात्म या परमार्थकी उपलब्धि नहीं होती है। आचरणहीनको भगवत्प्राप्ति तो दुर्लभ है ही, वह लोकमें भी मान-प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर पाता। कहा भी गया है—

न किंचित् कस्यचित् सिध्येत् सदाचारं विना यतः।
तस्मादवश्यं सर्वत्र सदाचारो ह्यपेक्षते॥

सदाचारका रूप बड़ा व्यापक है। सड़कपर चलनेसे लेकर स्वर्गकी यात्रातक सदाचारके नियम हैं। शारीरिक सदाचारोंमें मल-मूत्र त्यागनेसे लेकर मानसिक शम-दम, यम-नियम और समाधितक पहुँचनेमें भी सदाचार-विधि ही सहायक होती है। परंतु यह देखकर बड़ा खेद होता है कि विश्वको सदाचारकी शिक्षा देनेवाला भारत भी आज स्वयं कदाचारके गर्तमें डूबता जा रहा है। प्रश्न उठता है, क्या हम किसी भी तरह सदाचारसम्पन्न बन सकते हैं? आत्मा, मन, वाणी, शरीर—सभी असद्-आचरणोंसे ग्रस्त हैं। क्या विदेशी संस्कृतियोंके प्रभावने हमारे उज्ज्वल जन-जीवनको धूमिल नहीं बना दिया है? क्या खान-पान, रहन-सहन, अध्ययन-अध्यापन, आहार-विहार पश्चिमकी चमक-दमकसे अभिभूत नहीं हो गये हैं?

बातें बहुत छोटी हैं, पर हैं बड़े महत्त्वकी। आज शिक्षित गृहस्थोंमें भी शुद्धता-पवित्रता दिखायी नहीं देती। शौचालय, स्नानघर, रसोईघर—सब एक ही मेजपर बैठ गये हैं। एक ही साबुनकी बट्टी शौचालयसे रसोई-घरतक घूमती है। जो बढ़िया साबुन चर्बीसे मिश्रित होकर बनता है वही स्नानका शुद्ध साधन बन गया है। माँ-बहनोंकी शृङ्गार-सामग्रियाँ लिपस्टिक आदि कितनी रक्तरञ्जित होती हैं, इसे प्रायः सभी जानते हैं। जूतोंका प्रवेश शौचालयसे निकलकर रसोईघर और मखमली गद्देतक पहुँच गया है। खान-पान और आहार-विहारमें विलासिता ही लक्ष्य रह गयी है। सदाचारकी वहाँ कोई चर्चा नहीं है। अखाद्य और अपेय पदार्थोंके प्रदर्शक होटल, विलास-प्रधान नाट्यशालाएँ, सिनेमाघर और भोगप्रधान अन्य समायोजन असदाचारसे और आगे बढ़ गये हैं। मन एवं इन्द्रियोंको व्यथित करनेवाले चित्र, गंदे उपन्यास और असत् पत्र-पत्रिकाएँ—जैसे सभीने मिलकर एक असहाय सदाचारपर हमला बोल दिया है। अब मात्र भगवान् ही सहायक हैं। अब भारतीय संस्कृतिके चिन्तक और सदाचारके प्रहरियोंको भी चुप न बैठकर सदाचारका प्रचार-प्रसार करना चाहिये। तभी भगवान्‌की भी सहायता मिलेगी—**'तत्र देवः सहायकृत्।'**

अहिंसाका प्रभाव

नाग महाशय दयाकी मूर्ति थे। इनके घरके सामनेसे मछुए यदि मछली लेकर निकलते तो आप सारी मछलियाँ खरीद लेते और उन्हें ले जाकर तालाबमें छोड़ आते। एक दिन इनके बगीचेमें एक सर्प आ गया। स्त्रीने इन्हें पुकारा—'काला साँप! लाठी ले आओ।'

नाग महाशय आये, किंतु खाली हाथ। आप बोले—'जंगलका सर्प कहाँ किसीको हानि पहुँचाता है। यह तो मनका सर्प है, जो मनुष्यको मार डालता है।'

इसके पश्चात् आप सर्पसे बोले—'देव! आपको देखकर लोग डर रहे हैं। कृपा करके आप यहाँसे बाहर पधारें।'

सचमुच वह सर्प नाग महाशयके पीछे-पीछे बाहर गया और जंगलमें निकल गया।

सदाचार--यत्र, तत्र और सर्वत्र

(लेखक--श्रीहर्षदराय प्राणशंकरजी बधेका)

जब लोग धर्मके अन्तस्तत्त्व हार्द और रहस्यको भूलकर उसके बाह्य कलेवरको ही विशेष महत्त्व देते हैं, तब धर्मकी आत्मा नष्टप्राय हो जाती है। पहला महत्त्वपूर्ण प्रश्न तो यही है कि धर्म है क्या? श्रीमद्भागवतमें स्वयं भगवान्ने कहा है कि तप, शौच, दया और सत्य नामके चार पैरोंवाला वृषका रूप धारण करनेवाला धर्म मैं हूँ--**'धर्मोऽहं वृषरूपधृक्'** (भाग० ११ । १७ । ११) । और इसीलिये हमें सत्य, दया, तप और शौचके चार पैरोंवाला सदाचार-स्वरूप धर्मका ही पालन करना चाहिये। दुराचारी कभी भक्त नहीं कहला सकता और भक्त कभी दुराचारी नहीं हो सकता। धर्मकी उत्पत्ति सत्यसे होती है। दया और दानसे वह बढ़ता है, क्षमामें वह निवास करता है और क्रोधसे उसका नाश होता है--**सत्याज्जायते, दयया दानेन च वर्धते, क्षमायां तिष्ठति, क्रोधान्नश्यति।**

भक्तिरूपी पक्षीके दो पंख होते हैं। इन पंखोंके नाम हैं--ज्ञान और वैराग्य। ज्ञान और वैराग्यसे रहित भक्ति सच्ची भक्ति नहीं है, सिर्फ उसका बाह्य रूप ही है। भगवान्को कैसा भक्त प्रिय है? तुलसीदासके शब्दोंमें--

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥

(मानस ७ । ४२ । २½)

भगवान्की आज्ञाका पालन करनेवाला ही सच्चा प्रेमी भक्त है। जैनधर्मकी परिभाषामें कहा जाय तो **'आणाए धम्मो आणारा तवो,'** यह उनका शास्त्रवचन है। भक्ति मुख्यतया आज्ञाके आराधनकी अपेक्षा करती है। आज्ञाका आराधन ही धर्म है, वही तप है। जैनधर्मके आचार्यश्री 'हरिभद्राचार्य'जीने स्वरचित 'अष्टक'में लिखा है कि भगवान्की आराधनाका श्रेष्ठ मार्ग उनकी आज्ञाका नित्य आराधन ही है। वे कहते हैं कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असङ्गता, तप, सद्गुरु-भक्ति और ज्ञान-रूप सत्पुरुषोंसे ही मुमुक्षु भगवान्की आराधना कर सकता है। वैदिक धर्मकी सामान्य आज्ञा यही है कि **'प्रशस्तानि सदा कुर्यात् अप्रशस्तानि वर्जयेत्।'** जैनधर्म भी कहता है--**'पाप कम्म नैव कुज्जा न काहवेज्जा,'**--पाप कर्म करना नहीं और दूसरोंसे करवाना नहीं। सदाचारके विषयमें बौद्धधर्मका भी कहना है--

सब्ब पापस्स अकरण कुसलस्स उपसम्पया
सचित्त परियोदपने एतं बुद्धान सासनं।

'किसी प्रकार कर्म करना नहीं, पुण्य कर्मोंका सम्पादन करना, चित्तको परिशुद्ध रखना--यही बुद्धका आदेश है।'

हमारा शत्रु कोई बाहर नहीं है। स्वेच्छाविहारिणी इन्द्रियाँ, न जीता हुआ मन और विपरीत निर्णय करनेवाली बुद्धि ही साधककी वैरी है। निगृहीत और विशुद्ध चित्त ही साधकका परम हितकारी है। भोगोंमें भटकनेवाला अपावन चित्त ही सबसे बड़ा वैरी है। शास्त्र कभी स्वच्छन्द प्रवृत्तिका समर्थन नहीं करता। शास्त्रीय मर्यादासे सीमित, संयत भोगके द्वारा विषय-वासनाको मर्यादित और कुण्ठित करना विहित है, न कि अपरिमित भोगोंद्वारा उसे उत्तेजित करना। अर्थ और कामयुक्त व्यवहारोंको धर्मके अङ्कुशमें रखना और वृत्तियोंको निग्रहपरायण, विशुद्ध और प्रभुसम्मुख रखना चाहिये। शास्त्रविहित विषयोंमेंसे भी वासना कम करना जिसे विहित भोग संकोच कहते हैं। भक्तश्रेष्ठ नारदने भी मुनिके धर्मोंसे च्युत होकर और मनोवृत्तियोंपर विश्वास करके अम्बरीषपुत्री जयन्तीका हाथ देखा, तब भी वे मर्कट-मुख प्राप्त करके जगत्में निन्दाके भाजन हुए।

चित्तकी क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध—ये पाँच अवस्थाएँ हैं। इनमेंसे क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़-अवस्थामें पारलौकिक कार्य सिद्ध नहीं होता। इस चञ्चल चित्तको एकाग्र और निरुद्ध करनेमें सदाचार ब्रह्मपाशका कार्य करता है।

कोई अजितेन्द्रिय पुरुष श्रीहृषीकेश भगवान्‌को प्राप्त नहीं कर सकता। इन्द्रियाँ बड़ी उन्मत्त होती हैं। इन्हें जीतनेका तरीका सावधानीसे भोगोंको त्याग देना है। प्रमाद और हिंसासे दूर रहना ही ज्ञानका मुख्य साधन है। इन्द्रियोंको सावधानीके साथ काबूमें रखनेसे बुद्धिमान् लोग परमपदकी ओर बढ़ते हैं। मनोमय रथपर चढ़कर विषयोंकी ओर दौड़नेवाली इन्द्रियाँ वशमें न रहनेके कारण बीचमें ही मनुष्यको पतनके मार्गमें गिराती हैं। अतः पुरुषार्थद्वारा शीघ्र इन्हें वशमें करके मनको समतामें ले जाना चाहिये। योगवासिष्ठमें कहा है—

मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः।
द्वारमुद्घाटयन्त्येते मोक्षराजगृहे तथा॥
(२।११।५९)

मोक्षके द्वारपर चार द्वारपाल कहे गये हैं—शम, विचार, संतोष और चौथा सत्सङ्ग। इनका भलीभाँति सेवन करनेपर मोक्षराजगृहके द्वार मुमुक्षुओंके प्रवेशके लिये खुलते हैं।

कानोंसे विकारकी बातें न सुने, आँखोंसे विकार पैदा करनेवाली वस्तुएँ न देखे, जीभसे विकार पैदा करनेवाली स्वादकी चीजें न खाये और हाथसे विकारोंको बढ़ानेवाली वस्तुएँ न छुए। ऐसा करनेसे मोहाच्छन्न अविवेक-पिशाचग्रस्त बुद्धि शुद्ध होती है। निर्मल सात्त्विक बुद्धि ही भगवत्तत्त्वको धारण कर सकती है। जिस तरह कच्चे घटमें जल नहीं रह सकता, ठीक उसी तरह अनधिकारीके हृदयमें ज्ञान नहीं ठहर सकता। अविशुद्ध चित्त और संयमहीन अचेताका प्रयत्न सफल नहीं होता। साधनचतुष्टयकी सम्पन्नताके बिना बौद्धिक ज्ञान किसी कामका नहीं। भगवान् शंकराचार्यरचित 'आत्मबोध'नामक प्रकरण-ग्रन्थका प्रथम श्लोक यह है—

तपोभिः क्षीणपापानां शान्तानां वीतरागिणाम्।
मुमुक्षुणामपेक्ष्योऽयमात्मबोधो विधीयते॥

तात्पर्य है कि तपके द्वारा जिनके पाप क्षीण हो गये हैं, जो शान्त और वीतराग हैं—ऐसे मुमुक्षुओंके लिये यह आत्मबोधका विधान किया जा रहा है। वे ही आचार्य 'उपदेश-साहस्री' नामके प्रकरण-ग्रन्थमें आत्मज्ञानश्रवण करनेवाले अधिकारियोंके लक्षण दिखाते हुए कहते हैं—

'तदिदं मोक्षसाधनं ज्ञानं साधनसाध्यादनित्यात् सर्वस्माद्विरक्ताय, त्यक्तपुत्रवित्तलोकैषणाय, ...शास्त्रप्रसिद्धशिष्यगुणसम्पन्नाय, शुचये, ब्राह्मणाय विधिवदुपसन्नाय, शिष्याय जातिकर्मवृत्तविद्याभिजनैः परीक्षिताय ब्रूयात्।' (उपदेशसा० शिष्यानुशा० प्र० २)

'मुण्डकोपनिषद्'में कहा गया है कि शुद्ध ज्योतिर्मय आत्माको, जिसको क्षीणदोष यतिलोग अपने भीतर देखते हैं, वह सत्य, तप, ज्ञान और ब्रह्मचर्यके द्वारा प्राप्त किया जाता है। सत्यकी विजय होती है, झूठकी नहीं। वह देवयानमार्ग जिसे आप्तकाम ऋषिगण सत्यके उस परम निधानपर पहुँचते हैं, सत्यके द्वारा ही खुलता है (३।१।५-६)। कठोपनिषद्‌में इसीलिये कहा है कि जो अविज्ञानवान्, अनिगृहीत-चित्त और सदा अपवित्र रहनेवाला है वह ब्रह्मपदको नहीं प्राप्त कर सकता, प्रत्युत संसारमें ही जाता है। जो विज्ञानवान् संयतचित्त तथा सदा पवित्र रहनेवाला है, वह उस पदको प्राप्त कर लेता है, जहाँसे वह फिर उत्पन्न नहीं होता (कठ० १।३।७-८)।

पद्मपुराणमें कहा है—'ब्रह्मलोकसे ऊपर भगवान् विष्णुका परम पद है। वह शुद्ध, सनातन और ज्योतिस्वरूप है और उसे परब्रह्म कहते हैं। दम्भ, मोह, भय, द्रोह, क्रोध और लोभसे अभिभूत विषयासक्त, अज्ञानी पुरुष

वहाँ नहीं जा सकता। ममता और अहंकाररहित, द्वन्द्वरहित, इन्द्रियविजयी, ध्यानयोगमें सदा लगे हुए साधु पुरुष ही वहाँ जाते हैं।

पुराणोंमें कहा गया है कि जिस व्यक्तिने अपनी इन्द्रियोंकी वासनाओंको वशमें कर लिया है, वह जहाँ कहीं निवास करता है, वहीं उसके लिये कुरुक्षेत्र, नैमिषारण्य और पुष्करादि तीर्थ हो जाते हैं। दुष्ट सौ बार तीर्थस्नानसे भी शुद्ध नहीं होता, जैसे मदिराका पात्र आगमें तपानेसे भी शुद्ध नहीं होता। महाभारत उद्योगपर्वमें भी कहा है कि सब तीर्थोंमें स्नान और सभी प्राणियोंके साथ कोमलताका व्यवहार—ये दोनों एक समान हो सकते हैं। स्कन्दपुराणमें कहा है कि जलचर प्राणी तीर्थके जलमें जन्म लेते हैं और मर जाते हैं; लेकिन वे स्वर्ग या मोक्ष नहीं पाते। आगे कहा गया है कि सत्य, क्षमा, इन्द्रियनिग्रह, सर्वभूतदया, आर्जव, दान, दम, संतोष, ब्रह्मचर्य, प्रियवादिता, ज्ञान, धृति, तप और चित्त-शुद्धि ही सच्चा तीर्थ है। महाभारतमें भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डुपुत्रोंको बताते हैं कि तीर्थस्नानसे पाप-शुद्धि नहीं होती। तब कौनसे तीर्थमें स्नान करे—इसे दिखाते हुए वे कहते हैं—'आत्मा नदी है, संयम जल है, शील किनारा है, दया उसमें ऊर्मियाँ हैं, हे पाण्डुपुत्र! वहाँ स्नान करो'—**'न वारिणा शुद्ध्यति चान्तरात्मा।'** (हितोपदेश० ४ । ८७, वामनपुराण ४३ । २५, प्रपन्नगीता १०३, वसिष्ठ १३)।

भगवान् महावीर यज्ञकी परिभाषा करते हुए भी इसी बातपर जोर देते हैं। जिस यज्ञमें तप ही यज्ञ है, जीवात्मा अग्निका स्थान है, मन-वचन-कायाका योगरूप स्रुवा (चमचा) है, शरीररूप यज्ञ-वेदिका है। कर्मरूप लकड़ी और संयमरूप शान्तिमन्त्र है। ऐसे प्रशस्त चारित्ररूप भावयज्ञको महर्षियोंने उत्तम माना है। शास्त्रोंने नाम-स्मरणकी अत्यधिक महत्ता गायी है और यह विधान अक्षरशः सत्य है। नामस्मरणकी फलश्रुतियाँ तनिक भी गलत नहीं हैं। मन्त्र लेने योग्य शिष्यके अधिकारके विषयमें भद्रगुप्ताचार्य कहते हैं कि जो चतुर, बुद्धिमान्, शान्त, अक्रोधी, सत्यवादी, निर्लोभी, सुख-दुःख और अहंकारसे रहित, दयायुक्त, परस्त्रीत्यागी, जितेन्द्रिय और गुरुका भक्त हो, वही मन्त्र लेने योग्य हो सकता है। इस तरह प्रायः सर्वत्र ही सदाचारकी महत्ता गायी गयी है।

संतकी सरलता

संत जाफर सादिकका नाम प्रसिद्ध है। एक बार एक आदमीके रुपयोंकी थैली चोरी चली गयी। भ्रमवश उसने इन्हें पकड़ लिया।

आपने पूछा—'थैलीमें कुल कितने रुपये थे?'

'एक हजार' उसने बताया।

आपने अपनी ओरसे एक हजार रुपये उसे दे दिये।

कुछ समय बाद असली चोर पकड़ा गया, रुपयेका स्वामी घबराया और एक हजार रुपये ले जाकर उनके चरणोंपर रखकर भ्रमके लिये उसने क्षमा-याचना की।

आपने बड़ी नम्रतासे उत्तर दिया—'दी हुई वस्तु मैं वापस नहीं लेता।'

संतके साधुतापूर्ण उज्ज्वल व्यक्तित्वपर वह मुग्ध हो गया और अपने पूर्वकृत्यपर पश्चात्ताप करने लगा।

आचार परमावश्यक

(लेखक—डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, व्याकरण-साहित्याचार्य)

आधिभौतिक या आध्यात्मिक दृष्टिसे मानव-जीवनकी चरम सफलताके लिये धर्म और सदाचारकी परमावश्यकता है। जिस धर्मके बिना मनुष्य-जीवन पशु-जीवन है, उस धर्मका प्रथम प्रकाश मानवके आचारमें ही होता है। इस रहस्यका उद्घाटन महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यासने महाभारतमें—**'आचारप्रभवो धर्मः'** इस सिद्धान्तमें किया है। यहाँ **'प्रभवति प्रथमं प्रकाशते वा आचारात्'** इस व्युत्पत्तिसे 'प्रभव'का अर्थ प्रथम प्रकाशन-स्थान है (पाणि० ३ । ३ । १९, ५७) । तात्पर्य यह है कि आचार धर्मका प्रथम प्रकाशन-स्थान है। व्यक्तिका धार्मिकत्व उसके आचारसे ही ज्ञात होता है।

कलियुगमें विशेषतः आजकलके समयमें सदाचारकी महती आवश्यकता है। सत्ययुगमें तो सृष्टिमें सत्त्वगुणका प्राधान्य होनेसे मानवमें त्याग, तप, सत्य, अहिंसा, शम, दम, यम, नियम आदि स्वभावसे ही विद्यमान थे। मनुष्यके शरीर स्वस्थ और सुपुष्ट थे। शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंसे कोई भय नहीं था। संशयरहित मन पूर्णतः सबल था। अतः मनःसंकल्पके पूर्ण होनेमें किसी बाह्य चेष्टाकी आवश्यकता न थी। मनुष्यमें दोष, दुर्गुण न होनेसे उन्हें नियमबद्ध करनेके लिये विधि-निषेधकी भी आवश्यकता न थी। शम-दम-सम्पन्न मानव-जीवन स्वभावतः भगवान्‌के ध्यान और तपमें संलग्न था। त्रेतायुगके मानवमें सम्मान और स्वर्गकी वासना जाग्रत् हुई। रजोगुणका प्राधान्य हुआ। यज्ञानुष्ठान होने लगा और दान भी उस समयमें प्रेयोमार्गका एक साधन बना। यज्ञ तथा दानके लिये मनुष्यमें संग्रहकी भावना आयी। भोग-लिप्सा संग्रहका कारण नहीं थी। यज्ञ करानेवाले ऋषिगण, सत्ययुगके समाजके समान त्यागी, वासनाहीन और तपस्वी थे और यज्ञ सफल होते थे।

कुछ समय बाद, दुर्योगवश, राजा वेनके दुराचारसे अशान्ति फैली। अकाल पड़ा और जनतामें हाहाकार मचा। फिर आदिनरेश पृथुकी छत्रच्छायामें पृथ्वीका दोहन हुआ। प्रचुर अन्न उपजे, ग्राम और नगर बसे तथा मानव-समाज शान्त और सुखी हुआ। क्योंकि इस समयतक मानवमें विशेष भोगेच्छा उत्पन्न नहीं हुई थी, इसलिये शारीरिक तपरूप कठोर नियन्त्रण नहीं हुआ था। लोग स्वभावतः धर्मात्मा थे और थी उनका वेदोंमें विश्वास और श्रद्धा। वे यज्ञसे विष्णुरूप यज्ञके यजनमें संलग्न थे। द्वापरमें भोगेच्छाके कारण संग्रहकी प्रवृत्ति बढ़ी। संग्रहके चलते वस्तुएँ आपाततः कम होने लगीं; परंतु लोग तबतक धर्मभीरु थे। अन्यायसे उपार्जन करना नहीं चाहते थे। न्यायपूर्वक धर्माचरणसे जो कुछ अर्जित करते, उसका ही उपयोग करते। यज्ञके सम्बन्धमें उनका मन इतना संदिग्ध हो गया कि यज्ञानुष्ठान और त्यागके कार्य बंद-से हो गये। भोगेच्छा बहुत बढ़ गयी, जिसे नियन्त्रित करनेके लिये शास्त्रोंका कठोर नियम आवश्यक हुआ। परंतु इस समयमें भी ईश्वरमें श्रद्धा अवशिष्ट थी, जिससे द्वापरयुगके लोग भगवान् विष्णुकी आराधना करते थे। वे वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध—इन चतुर्व्यूहात्मक रूपोंकी आराधना और परिचर्यामें संलग्न रहते थे।

कलियुगके मनुष्योंमें सत्त्वगुणके ह्रास और रजोगुण-तमोगुणके प्राधान्य होनेसे छल, कपट, प्रमाद, दम्भ, ईर्ष्या, क्रोध आदि दुर्गुणोंका सहज ही आधिक्य हो जाता है। श्रद्धा-विश्वासके अभाव हो जानेसे मनमें कुतर्कका वास होने लगता है। शारीरिक शक्तिके ह्रास हो जानेसे व्रत, उपवास आदि करनेको मन नहीं चाहता है। सत्ययुगका ध्यान, त्रेताका यजन और द्वापरका आराधन

इस युगमें विलुप्त हो जाते हैं। श्रद्धा, विश्वास और सच्ची भावनाके अभावमें भगवान्‌का प्राकट्य भी कलिकालमें पूर्ववत् नहीं होता है। विषय-भोगेच्छाकी वृद्धिसे विचारहीन प्रवृत्ति बहुत बढ़ जाती है। मनोबलके अभावमें आचारहीन प्रवृत्तिको रोकना कठिन हो जाता है। आचार, व्यवहारकी अशुद्धतासे आधि-व्याधिका आधिक्य हो जाता है और शारीरिक दौर्बल्य बढ़ जाता है। अतः इस घोर कलिकालमें सदाचारकी और अधिक आवश्यकता है।

जिस प्रकार भयंकर रोग हो जानेपर बहुत बड़े संयमकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार सांसारिक विविध रोगोंसे पीड़ित मनुष्यके लिये आज सदाचारकी अधिक आवश्यकता है। आहार-व्यवहारके सदाचारोंसे जो आज शारीरिक और मानसिक कष्ट हो रहे हैं, वे किसी विवेकी व्यक्तिसे अप्रत्यक्ष नहीं हैं। दुराचारसे इहलोक तथा परलोक दोनों बिगड़ते हैं। आज मनुष्य यदि केवल अपने जीविका-कार्यमें सदाचारका पालन करे तो बहुत बड़ी अव्यवस्था दूर हो जायगी और समाजका बहुत बड़ा कल्याण होगा। इसी प्रकार आहारमें सदाचार बरतनेसे अनेक रोगोंसे मुक्त होकर मनुष्य दीर्घजीवी होगा। अतः वैयक्तिक अभ्युदयके साथ सामाजिक कल्याणके लिये आज सदाचरण मानव-जीवनके लिये परमावश्यक है।

चमत्कार नहीं, सदाचार चाहिये

गौतम बुद्धके समयमें एक पुरुषने एक बहुमूल्य चन्दनका एक रत्नजटित शराव (बड़ा प्याला) ऊँचे खम्भेपर टाँग दिया और उसके नीचे यह लिख दिया कि 'जो कोई साधक, सिद्ध या योगी इस शरावको बिना किसी सीढ़ी या अङ्कुश आदिके, एकमात्र चमत्कारमय मन्त्र या यौगिक शक्तिसे उतार लेगा, मैं उसकी सारी इच्छा पूर्ण करूँगा।' फिर उसने इसकी देख-रेखके लिये वहाँ कड़ा पहरा भी नियुक्त कर दिया।

कुछ ही समयके बाद कश्यप नामके एक बौद्ध भिक्षु वहाँ पहुँचे और केवल उधर हाथ बढ़ाकर उस शरावको उन्होंने उतार लिया। पहरेके लोग आश्चर्यचकित नेत्रोंसे देखते ही रह गये और कश्यप उस शरावको लेकर बौद्धविहारमें चले गये।

बात-ही-बातमें एक भीड़ एकत्रित हो गयी। वह भीड़ भगवान् बुद्धके पास पहुँची। सबने प्रार्थना की—'भगवन्! आप निःसंदेह महान् हैं; क्योंकि कश्यपने, जो आपके अनुयायियोंमेंसे एक हैं, एक शरावको, जो बड़े ऊँचे खम्भेपर टँगा था, केवल ऊपर हाथ उठाकर उतार लिया और उसे लेकर विहारमें चले गये।' भगवान्‌का इसे सुनना था कि वे वहाँसे उठ पड़े। वे सीधे चले और पहुँचे उस बिहारमें सीधे कश्यपके पास! उन्होंने झट उस रत्नजटित शरावको पटककर तोड़ डाला और अपने शिष्योंको सम्बोधित करते हुए कहा—'सावधान! मैं तुमलोगोंको इन चमत्कारोंका प्रदर्शन तथा अभ्यासके लिये बार-बार मना करता हूँ। यदि तुम्हें इन मोहन, वशीकरण, आकर्षण और अन्यान्य मन्त्र-यन्त्रोंके चमत्कारोंसे लोक (प्रतिष्ठा)का प्रलोभन ही इष्ट है तो मैं सुस्पष्ट शब्दोंमें कह देना चाहता हूँ कि अबतक तुम लोगोंने धर्मके सम्बन्धमें कोई भी जानकारी नहीं प्राप्त की है। यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो इन चमत्कारोंसे बचकर केवल सदाचारका अभ्यास करो।'

(Charus 'Gospel of Buddha' p. 99, 101)

प्रजा-पालनका सदाचार

प्राचीन समयकी बात है। कुरुवंशके देवापि और शंतनुमें एक-दूसरेके प्रति स्वार्थ-त्यागकी जो अनुपम भावना थी, वह भारतीय इतिहासकी एक विशेष समृद्धि है।

देवापि बड़े और शंतनु छोटे थे। पिताके स्वर्गगमनके बाद राज्याभिषेकका प्रश्न उठनेपर देवापि चिन्तित हो उठे। वे चर्मरोगी थे, उनके शरीरमें छोटे-छोटे श्वेत दाग थे। उनकी बड़ी इच्छा थी कि राज्य शन्तनुको मिले। इसमें वे प्रजाका कल्याण समझते थे।

*　　*　　*　　*

'महाराज! आपके निश्चयने हमारे कार्यक्रमपर वज्रपात कर दिया है। बड़े भाईके रहते छोटेका राज्याभिषेक हो, यह बात समीचीन नहीं है,' प्रधान मन्त्रीके स्वरमें स्वर मिलाकर प्रजाने करबद्ध निवेदन किया।

'आपलोग ठीक कहते हैं, पर आपको विश्वास होना चाहिये कि मैं आपके कल्याणकी बातमें कुछ भी कमी न रक्खूँगा। राजाका कार्य ही है कि वह सदा प्रजाका हितचिन्तन करता रहे।' देवापिने छिपे तरीकेसे शंतनुका पक्ष लिया।

'महाराजकी जय!' प्रजा नतमस्तक हो गयी। शंतनुके राज्याभिषेकके बाद ही देवापिने तप करनेके लिये वनकी ओर प्रस्थान किया। शंतनु राज्यका काम सम्हालने लगे।

*　　*　　*　　*

'प्रजा भूखों मर रही है। चारों ओर अकालका नंगा नाच हो रहा है। महाराज देवापिके वनगमनके बाद बारह सालसे इन्द्रने तो मौन ही धारण कर लिया है।' महाराज शंतनुने प्रधान मन्त्रीका ध्यान अपनी ओर खींचा।

'पर यह तो भाग्यका फेर है, महाराज! अनावृष्टिका दोष आपपर नहीं है और न इसके लिये प्रजा ही उत्तरदायी है।'............प्रधान मन्त्री कुछ और कहना चाहते थे कि महाराजने बीचमें ही रोक दिया।

'हम प्रजासहित महाराज देवापिको मनाने जायँगे। राजा होनेके वास्तविक अधिकारी तो वे ही हैं।' प्रधान मन्त्रीने सहमति प्रकट की। महाराज शन्तनुकी चिन्ता दूर हो गयी।

*　　*　　*　　*

वास्तवमें जंगलमें मङ्गल हो रहा था। वनप्रान्त नागरिकोंकी उपस्थितिसे प्राणवान् था। 'भैया! अपराध क्षमा हो। हमारे दोषोंकी ओर ध्यान न दीजिये। औचित्यका व्यतिक्रम करके मेरे राज्याभिषेक स्वीकार करनेपर और आपके वनमें आनेपर सारा-का-सारा राज्य भयंकर अनावृष्टिका शिकार हो चला है। आप हमारी रक्षा कीजिये। देवापिके कुटीसे बाहर निकलनेपर शंतनुने उनके चरण पकड़ लिये।

'भाई! मैं तो चर्मरोगी हूँ, मेरी त्वचा दूषित है। मुझमें रोगके कारण राजकार्यकी शक्ति नहीं थी, इसलिये प्रजाके कल्याणकी दृष्टिसे मैंने वनका रास्ता लिया था—यह सत्य बात है। पर इस समय अनावृष्टिके निवारणके लिये तथा बृहस्पतिकी प्रसन्नताके लिये मैं आपके वृष्टिकाम-यज्ञका पुरोहित बनूँगा।' देवापिने महाराज शंतनुको गले लगा लिया। प्रजा उनकी जय बोलने लगी।

*　　*　　*　　*

तपस्वी देवापि राजधानीमें लौट आये। उनके आगमनसे चारों ओर आनन्द छा गया। दोनों भाइयोंके सद्भाव और औचित्य-पालनसे अनावृष्टि समाप्त हो गयी। यज्ञकी काली-काली धूमरेखाओंने गगनको आच्छादित कर लिया। बृहस्पति प्रसन्न हो उठे। पर्जन्यकी कृपा-वृष्टिसे नदी-तालाब, वृक्ष और खेतोंके प्राण लौट आये। देवापिने अपने सत्यव्रतसे प्रजाकी कल्याण-साधना की।

(बृहद्देवता अ० ७। १५५-५७, अ० ८। १-६)

सत्-तत्त्व और सदाचार

(लेखक—पं० श्रीवैद्यनाथजी अग्निहोत्री)

सदाचार मानव-जीवनका अविच्छेद्य अङ्ग है। सदाचार-सम्पन्न जीवन सुखमय होता है। सदाचार साधन भी है और साध्य भी। सिद्धावस्थामें भी सदाचार या लोकसंग्रहका सर्वश्रेष्ठ स्थान है। सदाचारीकी संसारमें प्रतिष्ठा होती है और संसारातीत सत्तत्त्वकी प्राप्ति। सत्तत्त्व प्राप्त होनेपर जीवन सदाचारसे ओत-प्रोत हो जाता है। सदाचारमें दो पद हैं—'सत्' और 'आचार'। सत्का अर्थ है—त्रिकालाबाधित अखण्ड चेतन सत्ता अथवा दिक्-देश-कालादिकी अधिष्ठानभूत परम चेतन सत्ता। 'उपनिषदें' कहती हैं—**सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। तन्नित्यमुक्तमविक्रियं सत्यज्ञानानन्दं परिपूर्णं सनातनमेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।** (पैङ्गलोप० १।१) 'हे प्रियदर्शन! इस सृष्टिसे पूर्व सत् ही था। वह नित्य, मुक्त, अविकारी, सत्य, ज्ञान, आनन्द, परिपूर्ण, सनातन एक ही अद्वितीय ब्रह्म था।'—**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।** (छान्दो० ६।२।१) 'सोम्य! इस सृष्टिसे पूर्व सजातीय-विजातीयस्वगतभेदशून्य एक ही अद्वितीय सत् था।' **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म** (तैत्ति० २।१) 'सत्य, ज्ञान तथा अनन्तस्वरूप ब्रह्म है।'

यह सत् ही सत्य कहा गया है। वही ज्ञान, आनन्द, अनन्त, ब्रह्म, आत्मा, शिव, विष्णु, नारायण आदि नामोंसे भी कहा जाता है। यह अखण्ड सत्तत्त्व ही सम्पूर्ण संसारका अधिष्ठान है और समस्त जडचेतनात्मक पदार्थोंमें व्यापक आत्मा है। स्वरूपभूत सत्तत्त्वके अज्ञानसे ही समस्त प्राणी जन्म-मरणादि दुःख-परम्परामें प्रवाहित हो रहे हैं। वे स्वरूपाभिन्न सत्तत्त्वज्ञानद्वारा जन्म-मरणादि बन्धनसे विमुक्त हो परमानन्दस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्त होते हैं। यही सर्वोच्च स्थिति है। अब यह कैसे प्राप्त किया जाय, यह प्रश्न विचारणीय है।

परमानन्द प्राप्त करनेका साधन है—'आचार'। आचारको सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता, यह असीम है। जिस आचरण, व्यवहार, क्रिया, भक्ति, योग, उपासना, ज्ञानादिद्वारा परमेश्वरकी ओर अग्रसर होना है, वही आचार 'सदाचार' कहा जाता है। इससे विपरीत आचार 'दुराचार'संज्ञक होता है। फलाकाङ्क्षारहित परोपकार, दान, सत्सङ्ग, स्ववर्णाश्रमानुकूल आचरण, भक्ति तथा ज्ञानादि अर्थात् शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक समस्त क्रियाएँ सदाचार हैं। ज्ञानोत्तरकालीन सत्तत्त्वमें रमण, क्रीडन आदि समस्त क्रियाएँ भी सदाचार ही हैं। इस प्रकार सदाचार साध्य, साधन और इनसे अतीत भी है।

प्रत्येक पुरुष मोक्षाकाङ्क्षी है। अमर जीवन, अखण्ड ज्ञान और अनन्त आनन्द कौन नहीं चाहता? वही ब्रह्मस्वरूप है और वही मोक्ष। मोक्ष ही मानवकी वास्तविक अभिलषित वस्तु है। तत्त्वतः मानव मुक्त होते हुए मोक्ष चाहता है; क्योंकि उसे बन्धनकी प्रतीति होती है। भ्रान्ति-निवारण कैसे हो आदिका साधनरूपसे वर्णन उपनिषदोंमें अतीव मार्मिक ढंगसे किया गया है। 'त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्'में गुरु-शिष्य-संवादमें कहा गया है—

'कथं बन्धः कथं मोक्ष इति विचाराभावाच्च। तत्कथमिति अज्ञानप्राबल्यात्। कस्मादज्ञानप्राबल्यमिति। भक्तिज्ञानवैराग्यवासनाभावाच्च। तदभावः कथमिति। अत्यन्तान्तःकरणमलिनविशेषात्। अतः संसारतरणोपायः कथमिति। देशिकस्तमेव कथयति। सकलवेदशास्त्रसिद्धान्तरहस्यजन्माभ्यस्तात्यन्तोत्कृष्टसुकृतपरिपाकवशात् सद्भिः सङ्गो जायते। तस्माद्विधिनिषेधविवेको भवति। ततः सदाचारप्रवृत्तिर्जायते। सदाचारादखिलदुरितक्षयो भवति। तस्मादन्तःकरणमतिविमलं भवति।' (अध्याय ५)

प्रश्न—बन्धन कैसे हुआ और मोक्ष कैसे होगा? उत्तर—विचार न होनेसे बन्धन होता है। प्रश्न—वह विचार क्यों नहीं होता? उत्तर—अज्ञानकी प्रबलतासे नहीं होता। प्र०—अज्ञानकी प्रबलताका कारण क्या है? उ०—भगवद्भक्ति, ब्रह्मज्ञान तथा विषयोंमें वैराग्य-वासनाका न होना अज्ञानका कारण है। प्र०—उनका अभाव क्यों है? उ०—अन्तःकरण अत्यन्त विशेषरूपसे मलिन होनेके कारण। प्र०—संसार-सागरसे पार जानेका क्या उपाय है? उ०—उस उपायका कथन सद्गुरु कहते हैं—समस्त वेद तथा शास्त्रोंका सिद्धान्त और रहस्य है कि अनेक जन्मोंके अभ्यास और अत्यन्त उत्कृष्ट शुभकर्मोंके परिपाकके फलस्वरूप सज्जन पुरुषोंका सङ्ग होता है। उनके द्वारा वर्णाश्रमविहित तथा निषिद्ध कर्मोंका विवेक उत्पन्न होता है। तब वर्णाश्रमविहित कर्म अर्थात् सदाचारमें प्रवृत्ति होती है। सदाचारसे समस्त पापोंका विनाश होता है। उससे अन्तःकरण अत्यन्त निर्मल हो जाता है। यही मूल है मोक्षका, मुक्तिका और स्वस्वरूप-प्राप्तिका। अस्तु।

अन्तःकरण निर्मल होनेपर सद्गुरु-कृपाकी आकाङ्क्षा होती है। जब सद्गुरुकी कृपादृष्टि होती है, तब भगवत्कथाश्रवण तथा ध्यानादिमें श्रद्धा उत्पन्न होती है। इससे हृदयमें स्थित अनादिकालीन दुर्वासना-ग्रन्थिका विनाश होता है और हृदयमें स्थित समस्त कामनाएँ प्रक्षीण हो जाती हैं। फिर हृदयकमलकी कर्णिकामें परमात्माका आविर्भाव होता (आभास मिलने लगता) है। इसके अनन्तर परमात्मामें सुदृढ़ वैष्णवी भक्ति उत्पन्न होती है। भक्तिसे वैराग्योदय होता है और वैराग्यसे बुद्धिमें विज्ञानका आविर्भाव होता है। ज्ञानाभ्यास करनेपर क्रमशः ज्ञान परिपक्व हो जाता है। परिपक्व विज्ञानसे मानव जीवन्मुक्त होता है। उस स्थितिमें समस्त शुभाशुभ कर्म और जन्म-जन्मान्तर तथा कल्प-कल्पान्तरकी वासनाएँ विनष्ट हो जाती हैं। फिर दृढ़तर शुद्ध सात्त्विक वासनासे अतिशय भक्ति होती है। निरतिशय भक्तिसे समस्त अवस्थाओंमें सर्वमय नारायण प्रकाशित होने लग जाते हैं। समस्त संसार नारायणमय ही दिखायी पड़ता है; क्योंकि तत्त्वतः नारायणके अतिरिक्त और कुछ नहीं है—

भक्त्यतिशयेन नारायणः सर्वमयः सर्वावस्थासु विभाति। सर्वाणि जगन्ति नारायणमयानि प्रविभान्ति। नारायणव्यतिरिक्तं न किंचिदस्ति।

(त्रिपाद्विभू० अ० ५)

जीव किस प्रकार परमात्मस्वरूप होता है, इसका दृष्टान्त-वर्णन इस उपनिषद्में इस प्रकार है—

'अहं ब्रह्मेति भावनया यथा परमतेजोमहानदी-प्रवाहपरमतेजःपारावारे प्रविशति। यथा परमतेजःपारावारतरंगाः परमतेजःपारावारे प्रविशन्ति, तथैव सच्चिदानन्दात्मकोपासकः सर्व-परिपूर्णाद्वैतपरमानन्दलक्षणे परब्रह्मणि नारायणे मयि सच्चिदानन्दात्मकोऽहमजोऽहं परिपूर्णोऽहम-स्मीति प्रविवेश। तत उपासको निस्तरंगाद्वैतापार-निरतिशयसच्चिदानन्दसमुद्रो बभूव। यस्त्वनेन मार्गेण सम्यगाचरति स नारायणो भवत्यसंशयमेव।'

(त्रिपाद्विभू० महोप० अ० ८)

'जैसे अतीव वेगवती महानदीका प्रवाह महार्णवमें प्रवेशकर महार्णवस्वरूप हो जाता है अथवा जैसे परम तेज सागरकी तरंगें परम तेज सागरमें प्रवेश करती हैं, वैसे ही मैं ब्रह्म हूँ—इस भावनासे सच्चिदानन्द आत्माका उपासक सर्वपरिपूर्ण, अद्वैत, परमानन्दस्वरूप, मुझ परब्रह्म नारायणमें, मैं सच्चिदानन्दात्मक हूँ, अजन्मा हूँ तथा मैं परिपूर्ण हूँ—इस रूपसे प्रवेश करता है। वह उपासक तरंगरहित, अद्वैत, अपार, निरतिशय, सच्चिदानन्दसमुद्र होता है। जो इस मार्गसे भलीभाँति आचरण करता है, वह नारायण ही होता है, इसमें संदेह नहीं।

इस प्रकार जन्म-मरणशील प्राणी सदाचारद्वारा शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर ही हो जाता है। सर्वात्मभावापन्न प्राणी अकर्ता, अभोक्ता होता हुआ भी कर्ता, भोक्ता प्रतीत होता है। वह कर्तव्या-कर्तव्यसे अतीत होता है, जीवन्मुक्त होता है और सदाचारस्वरूप होता है। श्रुतिका कथन है—

अन्तःसंत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः।
बहिःसर्वसमाचारो लोके विहर विज्वरः॥
(महोप० ६। ६७)

'अन्तःकरणद्वारा समस्त आशाओंका भलीभाँति त्यागकर, वीतराग तथा वासनाशून्य होकर बाहरसे समस्त समाचार—सदाचार करते हुए, संसारमें संतप्त-शून्य होकर विचरण करो।' ब्रह्मज्ञानीमें ही वास्तविक शम, दम, शान्ति, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान आदि सदाचार निवास करते हैं। उसमें अपने-परायेका भेद नहीं होता। वह समस्त संसारको स्वस्वरूप समझता है। कहा भी है—

अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥
(महो० ६। ७१)

'यह बन्धु है, यह बन्धु नहीं है—इस प्रकारकी भावना क्षुद्रचित्तवालोंकी होती है। उदार चरित्रवालों सदाचारियोंका कुटुम्ब तो संसार ही है।'

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।
(मुण्ड० ३। ४)

'आत्मक्रीड तथा आत्मरति क्रियावान् ऐसा ब्रह्मविद् वरिष्ठ होता है।' आत्मामें रमण करना, आत्मामें क्रीडन करना तथा आत्मामें ही संतुष्ट रहना—यही सर्वश्रेष्ठ सदाचार है। सत्तत्त्व प्राप्त कर लेनेपर जीवन सदाचारमय हो जाता है। सदाचारसम्पन्न व्यक्तिके सम्पर्कमें जो भी आता है, वह सदाचार-सम्पन्न हो जाता है। अतः साध्य, साधन तथा सिद्धावस्थामें भी ब्रह्मवेत्ता सद् आचारसे ओत-प्रोत रहता है, यही तत्त्वतः सत्तत्त्वका सदाचार है।

आचार-धर्म

(लेखक—पं० श्रीगदाधरजी पाठक)

मनुष्यके जिस व्यवहारसे स्वयं अपना हित तथा संसारका हित होता है, उसीको आचार और उसके विरुद्ध व्यवहारको अनाचार कहते हैं। आचारको सदाचार और अनाचारको दुराचार भी कहते हैं। वेद और शास्त्रोंमें आर्य शब्दका भी यही अर्थ निर्दिष्ट है कि जिसका आचार श्रेष्ठ हो और जो सदैव अकर्तव्यका त्याग और कर्तव्यका पालन करता हो—

कर्तव्यमाचरन् कार्यमकर्तव्यमनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारे स वै आर्य इति स्मृतः॥
(वाचस्पत्यकोश पृ० ८१२)

'जो कर्तव्य-कार्यका आचरण करता हो और अकर्तव्यका आचरण न करता हो तथा सदैव अपने स्वाभाविक सदाचारमें स्थित रहता हो, वही आर्य है।' अब प्रश्न यह है कि कर्तव्य क्या है और अकर्तव्य क्या है तथा आर्योंका, हिंदुओंका प्रकृतिसिद्ध आचरण क्या है, इस प्रश्नका उत्तर मनु महाराज देते हैं—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥
(२। ६)

आर्यजनोंके धर्मका, कर्तव्यका ज्ञापक सम्पूर्ण वेद हैं। इसके अतिरिक्त वेदके जाननेवाले ऋषि-मुनि लोग जो स्मृति आदि शास्त्र लिख गये हैं, उनमें भी धर्मका वर्णन है और जैसा वे आचरण कर गये हैं, वह भी हमको कर्तव्य सिखलाता है। फिर इसके सिवा अन्य साधु-

पुरुषोंका जो आचार देखते हैं वह भी धर्ममूल है। इन सबके साथ ही कर्तव्याकर्तव्यकी परीक्षा करनेके लिये मनुजीने एक बहुत ही उत्तम उपाय बताया है और वह है—**'आत्मनस्तुष्टि'**। जिस कर्तव्यसे हमारी आत्मा संतुष्ट हो, मन प्रसन्न हो, वही धर्म है; अर्थात् जिस कार्यके करनेमें हमारे आत्मामें भय, शङ्का, लज्जा, ग्लानि इत्यादिके भाव उत्पन्न न हों, उन्हीं कर्मोंका सेवन करना उचित है। देखिये, जब कोई मनुष्य मिथ्या-भाषण, चोरी, व्यभिचार इत्यादि अकर्तव्य-कार्योंकी इच्छा करता है, तभी उसकी आत्मामें भय, शङ्का, लज्जा, ग्लानि इत्यादिके भाव उठते हैं और मनुष्यकी आत्मा स्वयं उसको ऐसे कार्योंके करनेसे रोकती है। इसलिये सज्जन पुरुषोंको जब कभी कर्तव्यके विषयमें संदेह उत्पन्न होता है, तब वे अपने आत्माकी प्रवृत्तिको देखते हैं। वे सोचते हैं कि किस कार्यके करनेसे हमारे आत्माको धर्मके विषयमें भय न होगा; और ऐसा ही कार्य वे करते भी हैं। महाकवि कालिदासने भी कहा है—

सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।
(अभिज्ञानशाकुन्तल १)

संदेह उपस्थित होनेपर सत्पुरुष लोग अपने अन्तःकरणकी शुद्ध प्रवृत्तियोंको ही प्रमाण मानते हैं। अन्तःकरणकी स्वाभाविक शुद्ध प्रवृत्ति सदाचार है और सदाचारसे ही चित्त प्रसन्न होता है। भगवान् पतञ्जलि इस चित्तप्रसन्नतारूप सदाचारका वर्णन इस प्रकार करते हैं—**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥** (योगदर्शन)

स्थितिके भेदसे—संसारमें चार प्रकारके प्राणी होते हैं—सुखी, दुःखी, धर्मात्मा और पापात्मा—इन चारों प्रकारके लोगोंसे यथायोग्य व्यवहार करनेसे ही चित्त प्रसन्न होता है—मनको शान्ति मिलती है। जो लोग सुखी हैं उनसे मैत्री या प्रेमका बर्ताव करना चाहिये, जो लोग दीन-हीन, दुःखी, पीड़ित हैं, उनपर करुणा या दया करनी चाहिये। जो पुण्यात्मा पवित्र आचरणवाले हैं, उनको देखकर मुदित या हर्षित होना चाहिये और जो दुष्ट दुराचारी हैं, उनसे उदासीन रहना चाहिये, अर्थात् उनसे न प्रीति करे और न वैर। इस प्रकारके व्यवहार करनेसे हम अपने-आपको उन्नत कर सकते हैं, सद्भावनाओंकी जागर्ति और असद्भावनाओंका त्याग करनेके लिये यही सदाचारका मार्ग ऋषियोंने बताया है। जिन सज्जनोंने ऐसा आचार धारण किया है, उन्हींको लक्ष्य करके राजर्षि भर्तृहरिजी प्रणाम करते हुए कहते हैं—

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद् भयम्।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खलै-
रेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः॥
(नीतिशतक ५१)

'सज्जनोंके सत्सङ्गकी इच्छा, दूसरोंके सद्गुणोंमें प्रीति, गुरुजनोंके प्रति नम्रता, विद्यामें अभिरुचि, अपनी ही स्त्रीमें रति, लोकनिन्दासे भय, ईश्वरमें भक्ति, आत्मदमनमें शक्ति, दुष्टोंके संसर्गसे मुक्ति (बुरी संगतिसे बचना)—ये निर्मल गुण जिसके मनमें बसते हैं, उस सदाचारी पुरुषको हमारा नमस्कार है।'

ईश्वरीय पथका सदाचार

संसारमें मनुष्य अहंभावके कारण अनेक कष्ट सहता है, लक्ष्मी चञ्चला और क्षणस्थायिनी है, लाभके साथ हानि छायाकी भाँति रहती है। जीवात्माको परमात्माका अंश समझकर मृगतृष्णाका पीछा छोड़ो। भ्रम त्यागकर ज्ञान प्राप्त करो और ईश्वरके मार्गमें प्रविष्ट हो।
—आचार्य शंकर

सदाचारका आधार सद्विचार

(लेखक—श्रीशिवानन्दजी)

पशुजगत्‌की तुलनामें मनुष्यकी विशेषता—उसके विचार और आचार हैं। विचार और आचार एक दूसरेके पूरक हैं तथा परस्परसम्बद्ध भी। इन दोनोंमें विचार प्रमुख है तथा आचार गौण। यदि किसी आचारके पीछे उसे सबल एवं स्थैर्य देनेवाला कोई सम्प्रेरक विचार नहीं है तो वह उत्तम होकर भी प्रभावहीन ही रहता है। विचारकी उत्कृष्टता अथवा निकृष्टताका प्रभाव आचारपर अवश्य ही पड़ता है। आचारकी उत्तमता अथवा अधमताका निर्णय केवल उसके बाह्य स्वरूपसे ही नहीं, प्रत्युत उसके पृष्ठगत विचारसे भी होता है।

मनुष्यमें ऊँचा उठनेकी स्पृहा बहुत गहरी होती है एवं उसकी आत्यन्तिक तृप्ति इसकी पूर्तिपर आधृत होती है। स्वप्नमें ऊपर उठकर आकाशमें उड़ना कदाचित् इसीका द्योतक है। मनुष्यको वायुयानद्वारा ऊँचे उड़कर स्वयं गगनविहार करना तथा पक्षियोंको ऊँचे उड़कर विशाल व्योममें मँडराते हुए देखना उल्लास प्रदान करता है। पक्षिगण ऊँचे—बहुत ऊँचे उड़कर एक अद्भुत आनन्दका अनुभव करते हैं। मनुष्यने सदैव दीपार्चिसे, जो ऊर्ध्वगमनमें सचेष्ट रहकर प्रकाश-दान करती रहती है, प्रेरणा प्राप्त की है। ऊर्ध्वगामी व्यक्ति ही दूसरोंको प्रकाश दे सकता है। क्षुद्र स्वार्थकी पूर्तिके लिये भोगैश्वर्य-सामग्रीका संचय एवं पद, सत्ता और ख्यातिकी प्राप्तिसे भौतिक उन्नति अथवा प्रगति तो हो सकती है; किंतु उनसे मनुष्यकी न तो तृप्ति होती है और न उसका कल्याण ही। तुच्छ स्वार्थसे हटकर वैचारिक स्तरपर ऊँचा उठनेमें ही मानवका कल्याण होता है।

इस संसारमें जो कुछ भी मानव-जगत्‌की हलचल है, उसके पृष्ठमें एक सूक्ष्म विचार-जगत् है। कुटुम्ब, राष्ट्र एवं संसारमें समस्त क्रिया-कलापका सूत्र विचार ही है। व्यक्ति और समाजके कर्मका बीज विचारमें ही निहित होता है, विचारकी महिमा अकथ्य है। व्यक्ति, कुटुम्ब, राष्ट्र एवं संसारके अभ्युदय, सुखशान्ति और कल्याणके लिये विचारका परिष्कार एवं परिमार्जन होना परम आवश्यक है। सद्विचारसे बुद्धिको संस्कृत या चमत्कृत किया जा सकता है। सद्विचारसे मनुष्य बन्धनमुक्त हो जाता है। वैचारिक मोक्ष ही मनुष्यका मोक्ष है। अतः विचार सदाचारका उपेय पाथेय है। देखना यह है कि विचारका स्वरूप क्या है।

मनके क्षेत्रमें चेतनास्तरपर विचारका आविर्भाव होता है, जैसे अगाध जलमें तरंगका उद्भव होता है। विचार सूक्ष्म एवं निराकार होता है। विचारकी शक्ति निःसीम और उसका प्रभाव अपरिमेय होता है। शब्दके रूपमें प्रवाहित एवं प्रसारित होनेपर विचार स्थूलता ग्रहण कर लेता है। विचार शब्दातीत होता है तथा शब्द उसकी अभिव्यक्तिका एक स्थूल माध्यम है। विचार ही शब्दकी आत्मा है, जिसके बिना वह निर्जीव एवं निष्प्रभाव हो जाता है। सद्विचार सदाचारका उपजीव्य होता है। सादा जीवन उच्च विचार उसीकी परिणति है।

महात्माका मौन विद्वान्‌की मुखरतासे अधिक प्रभाव-शाली होता है। सत्पुरुषके पवित्र मनकी अव्यक्त विचार-तरंग जनमानसको अलक्षित रूपमें आकृष्ट कर लेता है तथा उसके सरल शब्द मनको मुग्ध कर लेते हैं। ऋषिगण, बुद्ध, महावीर, कबीर, नानक, सुकरात, कन्फ्यूशस, ईसा और मोहम्मदकी सहज वाणी उद्बोधक एवं कालजयी है। महात्मा तुलसीके उदात्त मानससे समुद्भूत विचारोंकी सहजाभिव्यक्ति अमर है। आन्तरिक

स्वच्छता एवं निर्मलता विचारको द्युतिमान् बना देती है। बाह्य शौचको भी वैचारिक शुद्धता ही चरितार्थ करती है।

चिन्तन, मनन, अनुभव और अनुभूतिसे सम्पुष्ट विचार आचरणद्वारा अभिव्यक्त होनेपर प्रभावोत्पादक हो जाता है। पवित्र मनमें गहरे स्तरपर साक्षात्कृत विचार ही 'दर्शन' हो जाता है। स्वच्छ विचारके आदान-प्रदानसे मनका मैल धुलता है। ज्ञान, अनुभव और अनुभूतिका आधार लेकर सहज भावसे सीधा सोचना, सीधा बोलना तथा आचरण करना अपना और दूसरोंका हित-सम्पादन करना किया जा सकता है। विचार, वचन और आचरणमें एकरूपताका होना व्यक्तिके सम्बल एवं प्रभावको दृढ़ कर देता है।

विचार ज्ञान-विज्ञानकी आत्मा है, विचार ही प्रकाश है, विचार ही समस्त प्रगतिका मूलाधार है। विचार ही कर्म-प्रेरक होता है तथा वैचारिक प्रेरणासे कर्म महान् हो जाता है। विचार मानवमात्रकी सम्पदा है, उसपर किसीका एकाधिकार नहीं होता। विचार-स्वातन्त्र्य सभ्यताका गौरव होता है। पर उसे संयत होना चाहिये। विचार और उसकी अभिव्यक्तिकी स्वतन्त्रताके प्रति गहरी आस्था जीवनमें स्वातन्त्र्य चेतनाके स्वरोंको प्रखर बना देती है। विचारका बरबस लादना विचारका हनन है—हिंसा है। विचारका विकास, प्रचार एवं प्रसार सभ्यता एवं संस्कृतिकी उन्नतिका प्रतीक है।

धर्मके दो प्रमुख अङ्ग हैं—(१) विचार और (२) आचार। रामका उदात्त चरित्र सद्विचार और आचारका समन्वित उज्ज्वल उदाहरण है। अतएव '**रामो विग्रहवान् धर्मः**।'—राम स्वयं धर्मकी साक्षात् मूर्ति हैं। 'रामने अपने सद्विचार और सदाचारद्वारा उपनिषद्के मूलभूत उपदेश '**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**' (त्यागपूर्वक भोग) को चरितार्थ करके मानवमात्रके समक्ष सदाचारका एक आदर्श प्रस्तुत कर दिया है। निदान, सदाचारकी प्रतिष्ठाके लिये वैचारिक मर्यादाका पालन और पोषण नितान्त आवश्यक है। वस्तुतः विचार ही सदाचारका आधार है।

आर्य-नारीका सदाचार-विचार

अपनी पुत्रीके दृढ़ धर्मनिश्चयको देखकर धर्मात्मा नरेशने अधिक आग्रह करना उचित नहीं माना। अचिर वैधव्यकी सूचना देनेवाले देवर्षि नारदजीने भी सावित्रीके निश्चयकी प्रशंसा की। राजा अश्वपति कन्यादानकी सब सामग्री लेकर वनमें राजा द्युमत्सेनकी कुटियापर गये और वहाँ उन्होंने विधिपूर्वक अपनी पुत्रीका विवाह सत्यवान्के साथ कर दिया। विवाहकार्य समाप्त होनेपर राजा अश्वपति अपनी राजधानी लौट आये।

पिताके लौट जानेपर सावित्रीने रत्नजटित सब गहने और बहुमूल्य रंग-बिरंगे वस्त्र उतार दिये। जब सावित्रीने बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण उतारे और पहननेके लिये साससे नम्रतापूर्वक वल्कल-वस्त्र माँगे, तब सासने विषण्ण होकर उससे कहा—'बेटी! तुम राजकन्या हो। अपने पिताके दिये हुए वस्त्राभूषणोंको पहनो।'

सावित्रीने सविनय उत्तर दिया—'मैं आपके पुत्रकी सेविका हूँ। आप तथा मेरे पूज्य श्वशुर एवं मेरे स्वामी जैसे रहते हैं, वैसे ही मैं भी रहूँगी। उससे अधिक सुख मेरे लिये सर्वथा त्याज्य है। मैं आपकी अपेक्षा उत्तम वस्त्र एवं आभूषण कैसे पहन सकती हूँ? मेरे लिये सच्चा आभूषण तो आप गुरुजनोंकी सेवा ही है।'

वह वल्कल वस्त्र पहनकर मुनि-पत्नियोंकी भाँति रहने लगी। सावित्री अपने शील, सेवा, इन्द्रिय-संयम, मधुर वाणी तथा सदाचारपरायणताके कारण सबका प्रेम-भाजन हो गयी। सास-ससुर तथा पतिकी सेवामें वह निरन्तर तत्पर रहती थी। उसकी सदाचारिताने उसके पतिको चिर-जीवनदान दिला दिया। पतिव्रताका सदाचार यमराजपर विजयी हुआ।

सदाचारका प्रशस्त व्रत

(लेखिका—साध्वी श्रीकनकप्रभाजी)

अमरीकाके प्रसिद्ध विचारक हेनेरी थोरोने किसी किसानसे सस्ते मूल्यपर कुछ भूमि खरीदी। किसानने घर जाकर भूमि-विक्रयकी बात अपनी पत्नीको बतायी। पत्नीको वह बात उचित न लगी; क्योंकि किसानने बाजारके भावसे बहुत कम मूल्यमें अपनी जमीन बेच दी थी। पत्नीके परामर्शसे वह पुनः हेनेरीके पास पहुँचा और जमीनका सौदा रद्द करनेके लिये अनुनय-विनय करने लगा। हेनेरीने इसका कारण पूछा तो वह बोला—मेरी पत्नी इस सौदेसे संतुष्ट नहीं है। उनकी प्रसन्नताके लिये मैं सौदा वापस करनेकी प्रार्थना कर रहा हूँ। इतना कहनेपर हेनेरी सहमत नहीं हुआ तो उसने अपनी जेबसे दस डालर निकालकर उसके हाथमें रख दिये। हेनेरीने पूछा—यह क्यों? किसानने उत्तर दिया—'इसे आप हर्जानेके रूपमें स्वीकार करें।' हेनेरीकी प्रश्नायित आँखें किसानके चेहरेपर टिक गयीं, वह उत्सुक होकर बोला—'हर्जाना किस बातका?' इस बार किसान थोड़ा मुस्कराया और कहने लगा—मेरी मूर्खताका।

हेनेरीने दो क्षण चिन्तन किया और किसानका हाथ अपने हाथमें लेकर कहा—'भैया! तुम्हारी दृष्टिमें यह मूर्खता है और मेरी दृष्टिमें चोरी। मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ; क्योंकि तुमने मुझे अपने अपराधका बोध करा दिया। मुझे यह पता भी चल जाता कि मैंने सस्ते भावमें जमीन खरीदी है तो भी मैं तुम्हारे पास नहीं आता। तुम आकर अधिक पैसा माँगते तो भी मैं नहीं देता, किंतु तुमने इस घटनाको अपने सिरपर ओढ़ लिया। कितनी सरलतासे तुमने अपनी मूर्खता स्वीकार की और उसके साथ ये दस डालर मुझे दे रहे हो। तुमने मेरा बहुत बड़ा उपकार किया है। ये दस डालर भी अपने पास रखो और सौदा भी वापस कर लो। आज तुमने मुझे एक अपराधसे बचा लिया, इसलिये मैं तुम्हें अपना पथदर्शक मानता हूँ।' हेनेरीका भीतरी सदाचार बोल रहा था।

यह एक छोटी-सी घटना है, पर इसके भीतरसे बहती हुई सदाचारकी सरिता किस समझदार व्यक्तिके तन-मनको न भिगो देगी। सदाचार मनुष्यका शृङ्गार है। सदाचारी व्यक्ति स्वयं सुखी रहता है तथा अपने सम्पर्कमें रहनेवाले लोगोंको सुख-शान्तिकी ओर अग्रसर करता है। सदाचारके द्वारा व्यक्ति यश और वैभव ही प्राप्त नहीं करता, श्रेयस् और मोक्षके पथपर अग्रसर भी होता है। असद् आचार व्यक्तिके गुणोंको वैसे ही समाप्त कर देता है जैसे शीतदाहमें उगते हुए पौधे झुलस जाते हैं।

आचार्य सोमप्रभसूरिने सदाचारकी गरिमा गाते हुए लिखा है—

वरं विभववन्ध्यता सुजनभावभाजां नृणा-
मसाधुचरितार्जिता न पुनरूर्जिताः सम्पदः।
कृशत्वमपि शोभते सहजमायतौ सुन्दरं
विपाकविरसा न तु श्वयथुसम्भवा स्थूलता॥'

(सूक्तिमुक्ता०)

'सदाचारी व्यक्ति यदि दरिद्र भी है तो वह सब लोगोंके लिये आदर्श अनुकरणीय है और प्रशस्य है; किंतु दुर्जनतासे प्राप्त विशाल सम्पदामें भी कोई सार नहीं है। शरीरकी स्वाभाविक कृशता भी व्यक्तिको सौन्दर्य प्रदान करती है, पर शोथजन्य स्थूलता नहीं।'

व्यक्तिके हाथमें जब रत्न-माणिक्यादि आ जाते हैं तो कंकड़-पत्थर स्वयं छूट जाते हैं।

उनका व्यामोह कौन रखता है ! इसी प्रकार जब जीवनमें सदाचार आ जाता है तो दुराचार स्वयं छूट जाता है । दुराचारको अपने पाँव जमानेके लिये स्थान वहीं मिलता है, जहाँ सदाचारका पहरा नहीं रहता । प्रहरी सजग होता है तो घरमें चोर नहीं घुस सकते; क्योंकि सजग व्यक्तियोंके सामने जानेमें वे स्वयं घबड़ाते हैं । सदाचार इतना जागरूक प्रहरी है कि इसको जो व्यक्ति अपना लेता है, उसके जीवनमें दुर्गुणरूप चोरोंका प्रवेश हो ही नहीं सकता ।

सदाचारी व्यक्तिमें आत्मख्यापन और परदोष-दर्शनकी वृत्ति नहीं होती । वह दूसरे लोगोंके सामान्य गुणोंका भी निरन्तर गान करता रहता है । वह दूसरोंकी प्रतिष्ठा और समृद्धि देखकर ईर्ष्या नहीं करता, अपितु प्रसन्न ही होता है । उन्हें विपदाओंसे घिरा देखकर वह व्यथित हो जाता है । वह किसी भी स्थितिमें न्यायनीतिसे विमुख नहीं होता, औचित्यका अतिक्रमण नहीं करता और अपना अप्रिय करनेवालों या सोचनेवालोंके प्रति भी दुर्भावना नहीं रखता । सद्भावना सब सदाचारोंका मूल है । ऐसे सदाचारी व्यक्ति जिस किसी परिवार, समाज या राष्ट्रमें होते हैं, वह परिवार, समाज और राष्ट्र गौरवशाली होता है । ऐसे व्यक्तियोंसे ही राष्ट्रिय चेतना जाग्रत् होती रहती है । भारत-जैसे अध्यात्म-प्रधान देशमें जन-जीवन सदाचारसे अनुप्राणित रहे, यह आजकी सबसे बड़ी अपेक्षा है । हमारा यह देश धर्म-प्राण देश है, और धर्मका एक मुख्यरूप सदाचार है, अतः इस सदाचार-निष्ठाकी आज सर्वाधिक आवश्यकता है ।

वन्य तीर्थस्थलीमें सदाचारकी एक झलक

(लेखक—पं० श्रीकामेश्वरजी उपाध्याय, शास्त्री)

स्नेहमयी प्रकृति माताकी पावन गोदमें—जो छल-छद्मसे सर्वथा अछूता था—हम चार साथी श्रमोत्पन्न क्लान्तिको मिटा रहे थे । वृक्षोंकी डालियों एवं फूलोंके बीचसे बहकर आता हुआ पवन श्रमसीकरमें लगकर एक दिव्य आनन्दकी अनुभूति प्रदान कर रहा था । यहाँके शान्त पत्थरोंमें भी एक शुद्ध सदाचार झलक रहा था । उस दिन भोजन करनेके लिये हमलोग घरका ही बनाया हुआ भोजन पर्याप्त मात्रामें लाये थे । थोड़ा-सा जलपान कर पुनः विश्राम करने लगे । फाल्गुन मासकी वासन्ती वायु एवं स्वर्णिम वनप्रान्त हृदयको रोमाञ्चित कर देता था ।

हाँ, मैं यह बताना भूल गया कि हमलोग कहाँ गये थे । वेदविश्रुत भगवान् शिवके दर्शनकी उत्कण्ठाने हमलोगोंको गुप्तधाम* जानेके लिये प्रेरित किया । कथा-प्रसङ्ग शिवपुराणका है । तात्पर्य, इस गुप्तधामकी प्रसिद्धिकी आख्यायिका शिवपुराणसे सम्बद्ध है । तपस्यानिरत भस्मासुरको आशुतोषकी अतुल एवं अगाध कृपाने विश्वविजयी बननेका महत्त्वाकाङ्क्षी बना दिया था । मन्मथारिकी सद्यःसम्भूता दयासे राक्षसोंने सर्वत्र अपना उल्लू सीधा किया है । परंतु विश्वेश्वर यदि ऐसा न करते तो भक्तोंकी भी दशा दयनीय हो जाती । सुकृत-कारियोंको दुष्कृतका फल भोगना पड़ता । प्रभुके तपः-पूत अन्तःकरणमें बुरे भावोंका प्राकट्य ही नहीं होता । देवोंके सिरपर चढ़नेवाला सुमन संयोगवश शवपर भी चढ़ जाता है, परंतु इससे उसकी अलौकिक विशेषतामें कोई कमी नहीं आती । दानी क्षणभरमें अपना सर्वस्व लुटा सकता है । उसे तो केवल माँगनेवालोंकी आवश्यकता होती है । यदि एक

* यह स्थान 'गुप्ताधाम' नामसे प्रसिद्ध है ।

साधारण मनुष्य ऐसा कर सकता है तो जगल्लीलामें निरत प्रभु जिनका एकमात्र उद्देश्य भक्त-मनोरञ्जन ही है, भक्तोंकी इष्टसिद्धिके लिये क्या नहीं कर सकते। उन्हें योनियों (races)—मनुष्य अथवा राक्षससे कोई तात्पर्य नहीं। उनके प्रशस्त पुण्यपथमें वर्गकी व्यवस्था भी बाधक नहीं हो सकती। भक्तोंका हृदय उनका क्रीडा-स्थल होता है। जिसकी प्रवृत्ति राक्षसी होती है, वह प्रभुके अनुग्रहका लाभ गलत ढंगसे उठाता है। गोमाताके स्तनमें भी लिपटकर जोंक सुस्वादु पयका पान न कर तृणादिसे निर्मित शोणित ही पीती है। कविने ठीक ही कहा है—

'नर मांस व्याघ्र जब पाता है,
कुछ और क्रूर हो जाता है।'

यही स्थिति उस राक्षसाधमकी हुई। आशुतोष भगवान्ने उसे सर्वस्व देनेको कह दिया। उस पिशाचने भयंकर वरदानकी प्रस्तावनाको उमापतिके समक्ष उपस्थापित किया—'प्रभो! आपकी कृपासे मेरा हाथ जिसके मस्तकपर फिर जाय, उसका सर्वनाश हो जाय।' प्रभु वचनबद्ध थे। अतः असुरकी अभिलाषाने यहाँ विजय पायी। प्रभुके विद्रुमसदृश होठ विस्फारित हुए और उनके मुखसे निकल पड़ा—'एवमस्तु।' पर उस कौणपकी इच्छा अब प्रभुके वरद हाथकी नहीं, अपने भयंकर विनाशकारी हाथकी शक्तिको देखनेकी हुई। संनिकटमें केवल शब्दब्रह्म ही थे, जो आकाशमें काँप रहे थे। आशुतोषको अपनी भूल समझमें आ गयी थी, पर हाथकी विवशता थी। मुखोद्भाषित वरदानको लौटाया नहीं जा सकता था। तबतक उस दुराचारीकी दृष्टि माँ पार्वतीकी अखण्ड एवं लावण्यपूर्ण सौन्दर्यपर गयी। जिनकी पदरेणुको भक्त श्रद्धापूर्वक स्वमस्तकपर रखते हैं, उन्हीं माँकी श्रीको कुत्सित करनेकी प्रबल इच्छा उस पशुको उत्पन्न हुई। जिन माँकी भ्रूभङ्गिमासे सृष्टिमें प्रलयका ताण्डवनृत्य होने लगता है, जिनके हुंकारादिसे विश्वजयी अजरामर महिषासुर, शुम्भ, निशुम्भ इत्यादि दैत्य भस्मसात् हो गये, उन्हीं माँके सौन्दर्यको दुष्टने बलात् पानेकी इच्छा की।

कहते हैं, जब मौत सिरपर छाती है तो प्रायः भले लोगोंकी भी बुद्धि मारी जाती है—'धियोऽपि पुंसां मलिनी-भवन्ति' फिर उस अधमके विषयमें तो कहना ही क्या, अतः मोहग्रस्त उस दैत्यने स्वमार्गमें महादेवजीको बाधक समझकर उनका ही अस्त्र उन्हींपर चलानेकी ठानी।

समयकी कुटिल गतिने मृत्युंजयको परेशान कर दिया। प्रभु भाग चले। आगे-आगे महादेवजी भागे और पीछेसे भस्मासुरका विनाशकारी हाथ! त्रैलोक्यका चक्कर लगानेके बाद भी भस्मासुर उनके पीछे ही दीख पड़ रहा था। विन्ध्याचल पर्वत तब गहन कानन एवं उच्छ्रितिमें सूर्यके प्रकाश तथा गतिके अवरोधकके रूपमें ख्याति प्राप्त कर चुका था।* उसका निर्दिष्ट भाग इस समय कैमूर पहाड़ी अथवा विन्ध्यपर्वतके नामसे प्रख्यात है। सासाराम (बिहार)से लगभग चौदह मील दूर दक्षिण दिशामें स्थित उक्त पर्वतमें एक रम्य गुफा है। गङ्गाधर भागते-भागते यहीं पहुँचे। वे प्रायः थक चुके थे। वह राक्षस अब भी उनके पीछे दीख रहा था। प्रभु विवश होकर स्वयंको छिपानेके लिये इस गुफामें प्रविष्ट हो गये। दुष्ट दैत्य यह सब देख रहा था। परंतु वह अवश्यम्भावी भवितव्यताको कैसे मिटा सकता था।

इधर अपने आराध्य देवाधिदेवको प्रत्यूहसे त्रस्त देख श्रीविष्णुभगवान्के विशाल बाहुद्वय फड़क उठे। उन्हें साधुरक्षाकी अपनी **'परित्राणाय साधूनां'** प्रतिज्ञा याद हो आयी। फिर क्या था? तत्काल अन्तरिक्षको व्याप्त करते हुए वहाँ एक दिव्य आलोकका प्रादुर्भाव हुआ। पार्वतीजीका रूप धारणकर उस दुष्टको रोकनेके लिये वासुदेवने स्वमायाका विस्तार किया। वे मधुर वाणीमें

* काशीखण्डके अनुसार यह अपने गुरु महाराजके चरणोंमें पड़ा हुआ है। इससे पूर्व यह आकाशतक पहुँचकर अपनी ऊँचाईसे सूर्यकी गतिको रोके हुआ था।

बोले—'दैत्येश्वर ! महेश्वरका मनोहारी ताण्डवनृत्य मुझे अत्यन्त प्रिय लगता है। यदि तुम भी वैसा ही कर दिखाओगे तो मैं तुम्हारी अनुगामिनी हो जाऊँगी।' फिर क्या था। महामृत्युका आह्वानकर उस दुष्टने अपने सिरपर ज्यों ही हाथ रखा, त्यों ही वह जलकर भस्म हो गया। तत्पश्चात् भगवान् नारायणने चन्द्रशेखरसे सम्पूर्ण कहानी कह सुनायी। इस प्रकारसे दोनों देवोंका संगम-स्थान गुप्तधाम कहलाया, जो अत्यन्त प्रसिद्ध एवं कल्याण-कारी है। प्रभुकी महामहिम मूर्ति जो प्रकृतिद्वारा विनिर्मित है—गुफाके अंदर सुशोभित है। आजकल वहाँतक जानेके लिये यातायातके साधन भी हो गये हैं। महाकालके सदृश गुप्तेश्वरनाथका भी विशेष महत्त्व है। विपत्तियोंसे संतप्त व्यक्ति इनके नामस्मरण एवं दर्शनसे छुटकारा पा जाता है।

भीड़की संख्या अधिक होती जा रही थी; अतः हमलोग भी दर्शन करनेके लिये (अंदर जानेकी) तैयारी करने लगे। अनुभवी लोगों तथा नागाओंका कहना था कि अंदर एक अथवा डेढ़ मील जाना पड़ेगा। हमलोगोंके साथ पंद्रह व्यक्ति और चले। पाँच लड़कियाँ भी थीं। सभीके शरीरपर हल्के कपड़े थे; क्योंकि पथ अत्यन्त संकीर्ण एवं आश्चर्यकर था। प्राणवायुकी भी कमी थी। प्रभुकी कृपा ही लौटनेमें सहायक थी। अन्य तीर्थ-स्थलोंकी भाँति यहाँ पहुँचना साधारण नहीं था, फिर भी प्रभुकृपासे अंदर पहुँचकर हमलोगोंने प्रभुका दर्शन एवं जयघोष किया। आशुतोषकी प्रतिमा स्पर्श-बिन्दुसे ऊपर थी। प्रतिमामें एक विशेष प्रकारकी ज्योति भासित हो रही थी। जटाजूटसे जलस्राव हो रहा था। कुछ लोग इसे गङ्गाजल कहते हैं। मुझे तो ऐसा लग रहा था कि मूर्तिकी सौम्यतासे सदाचारका ही स्राव हो रहा है। गुप्तेश्वरनाथके पदरजको मस्तकपर रखकर हमलोग किसी प्रकार बाहर आये। बाहर सर्वत्र स्निग्ध वातावरण व्याप्त था। झाड़ियोंसे सात्त्विकता—सदाचारिता परिलक्षित हो रही थी। पक्षियोंके कलरवसे, पत्थरोंकी निर्मलतासे तथा गौओंकी हुंकारोंसे सर्वत्र सदाचारका ही संदेश मिलता था।*

हमलोग गर्मीसे लथपथ हो गये थे, अतः हम स्नानके लिये सीताकुण्ड चल पड़े। यह स्थान प्रभुके धामसे दो मील दूर है। इस कुण्डका जल अत्यधिक ठंडा होता है। तीनों ओरसे एक ऊँचा पहाड़ इसे आच्छादित किये है। शिलाखण्डपर पानकी लताएँ चढ़कर कुण्डकी श्रीमें अपनी हरीतिमा एवं सौकुमार्यसे चारचाँद लगा रही थीं। ऊपरसे झरता हुआ झरना कलकल निनादद्वारा सदाचार-के गीतको गा रहा था। जलका निर्माल्य हृदयको भी पवित्र कर रहा था। नागालोगोंके आवश्यकता-शून्य एवं पवित्र जीवनसे प्रेम एवं विश्वबन्धुत्वका संचार हो रहा था। यत्र-तत्र जंगलोंसे आये निर्भीक बंदरों एवं हरिणोंके नेत्रोंसे सदाचार ही झलक रहा था। मुझे तो ऐसा लगा कि महादेवकी इस नगरीमें असत्-आचार कहीं है ही नहीं। पाखण्ड तथा धूर्तता देखनेको भी न मिली। प्रभुकी तपोमयी भूमिमें सभी तपस्वी एवं सदाचारी थे। श्रीशंकरजीका यशोगान करते हुए आस-पासके निवासी सादा जीवन एवं उच्चविचारमें अपने-आपको ढाले हुए थे। सदाचारके एकच्छत्र राज्यको विस्मय-विस्फारित नेत्रोंसे देखते हुए जी नहीं भरता था।

विज्ञानके इस नवीन युगमें व्यक्ति जहाँ एक ओर अपने नये-नये आविष्कारोंसे नयी-नयी चीजोंका निर्माण कर रहा है, वहीं अपने पुरातन नियमोंका उल्लङ्घन कर निरङ्कुश, अत्याचारी, भ्रष्टाचारी तथा स्वेच्छाचारी होता चला जा रहा है। यौवन और धनके मदमें सभी लोग केकड़ोंकी तरह तिरछे

* वहाँ नागालोगोंने पर्याप्त संख्यामें गायें पाल रखी हैं।

भ्रमण कर विनाशकी ओर उन्मुख हो रहे हैं। अपनी सभ्यता और संस्कृतिको लोग केवल हास्यके रूपमें देख रहे हैं। पाश्चात्त्य देशके मनीषी जिन नियमाचारोंको समाप्त करना चाह रहे हैं, भारतीय उन्हीं नियमाचारोंको अपना रहे हैं। अपनी स्थिति तो अब—**'विनाशकाले विपरीतबुद्धिः'** जैसी होती जाती दीखती है। आज सद्वृत्तियों और सदाचार-का लोप होता चला जा रहा है। अहर्निश उत्पीडन और छल-छद्मकी वृद्धि हो रही है। आज हम अपने वास्तविक ज्ञानको खोकर ऐसे भ्रष्ट पथका सहारा ले रहे हैं, जो सदाचार और सद्वृत्तियोंसे हीन है। वस्तुतः यदि हम अपने अध्यात्मज्ञान और लोकज्ञानका यथार्थ प्रयोग करें तो हम जगद्गुरु बन सकते हैं और हमारा देश जगद्गुरु बन सकता है। अतः हमें अपनी सभ्यता और संस्कृतिको जीवित रखनेके लिये अपने पूर्वजोंके अपनाये गये प्रशस्त पथपर ही चलना पड़ेगा। हमारी ये प्राचीन आख्यायिकाएँ भी जीवन-यापन-विधियोंकी निर्देशिका हैं।

महापुरुषोंके अपमानसे पतन

वृत्रासुरका वध करनेपर देवराज इन्द्रको ब्रह्महत्या लगी। इस पापके भयसे वे जाकर एक सरोवरमें छिप गये। देवताओंके ढूँढनेपर भी जब देवराजका कहीं पता नहीं लगा, तब वे बड़े चिन्तित हुए। स्वर्गका राजसिंहासन सूना रहे तो त्रिलोकीमें सुव्यवस्था कैसे रह सकती है? अन्तमें देवताओंने देवगुरु बृहस्पतिकी सलाहसे राजा नहुषको इन्द्रके सिंहासनपर तबतकके लिये बैठाया, जबतक इन्द्रका पता न लग जाय। नहुष स्थानापन्न इन्द्र हो गये।

इन्द्रत्व पाकर राजा नहुष प्रभुताके मदसे मदान्ध हो गये—*'प्रभुता पाइ काहि मद नाहीं।'* उन्होंने इन्द्र-पत्नी शचीदेवीको अपनी पत्नी बनाना चाहा। उन्होंने शचीके पास दूतके द्वारा संदेश भेजा—'मैं जब इन्द्र हो चुका हूँ, तब आपको मुझे स्वीकार करना चाहिये।'

पतिव्रता शचीदेवी बड़े संकटमें पड़ीं। अपने पतिकी अनुपस्थितिमें पतिके राज्यमें अव्यवस्था हो, यह भी उन्हें स्वीकार नहीं था और अपना पातिव्रत्य भी उन्हें परम प्रिय था। वे भी देवगुरुकी शरणमें पहुँचीं। बृहस्पतिजीने उन्हें आश्वासन देकर युक्ति बता दी। देवगुरुके आदेशानुसार शचीने उस दूतके द्वारा नहुषको कहला दिया—'यदि राजेन्द्र नहुष ऐसी पालकीपर बैठकर मेरे पास आवें जिसे सप्तर्षि ढो रहे हों तो मैं उनकी सेवामें उपस्थित हो सकती हूँ।'

काम एवं अधिकारके मदसे मतवाले नहुषने महर्षियोंको पालकी ले चलनेकी आज्ञा दी! राग-द्वेष तथा मानापमानसे रहित सप्तर्षियोंने नहुषकी पालकी उठा ली। लेकिन वे ऋषिगण इस भयसे कि पैरोंके नीचे कोई चींटी या क्षुद्र जीव दब न जायँ, भूमिको देख-देखकर, धीरे-धीरे पैर रखते चलते थे। उधर कामातुर नहुषको इन्द्राणीके पास शीघ्र पहुँचनेकी आतुरता थी। वे बार-बार ऋषियोंको शीघ्र चलनेको कह रहे थे, लेकिन ऋषि अपने इच्छानुसार ही चलते रहे।

'सर्प! सर्प!! (शीघ्र चलो! शीघ्र चलो!!)' कहकर नहुषने झुँझलाकर पैर पटका। संयोगवश उनका पैर पालकी ढोते महर्षि अगस्त्यको लग गया। महर्षिके नेत्र लाल हो उठे। उन्होंने पालकी पटक दी और हाथमें जल लेकर शाप देते हुए बोले—'दुष्ट! तू अपनेसे बड़ोंके द्वारा पालकी ढोवाता है और मदान्ध होकर पूजनीय लोगोंको पैरसे ठुकराकर 'सर्प, सर्प' कहता है, अतः सर्प होकर यहाँसे गिर।'

महर्षि अगस्त्यके शाप देते ही नहुषका तेज नष्ट हो गया। भयके मारे वे काँपने लगे और शीघ्र ही बड़ा भारी अजगर होकर स्वर्गसे पृथ्वीपर गिर पड़े। (यह है बड़ोंके अपमानका परिणाम।)

(महाभारत, उद्योग० १७)

सदाचारके कतिपय प्रसङ्ग

(लेखक—डॉ० श्रीमोतीलालजी गुप्त, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

जीवनके यावत् व्यवहार 'आचार'से व्यवहृत होते हैं। आचारके दो पक्ष हैं—अच्छे और बुरे। अच्छे आचार सदाचार हैं और बुरे आचार दुराचार हैं। इन्हें यहाँ हमें जीवनके विभिन्न स्तरोंपर देखना है। एतदर्थ वैयक्तिक अनुभवपर आधृत कतिपय भारतीय और विदेशीय उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

(१) स्थान–दिल्ली—मुहल्ला फतहपुरीमें एक हलवाई-की दुकान। दुकानपर हमने कुछ जलपान किया और बटुएमेंसे मूल्य चुकाकर चल दिये। उन दिनों दिल्लीमें ट्राम चलती थी। ट्राममें बैठे और फव्वारेपर आ गये। उतरे तो खाली हाथ देखकर कलेजा धक्से हो गया। थैला! थैला कहाँ रह गया? उसमें बारह हजारके नोट थे। मेरे साथ दो व्यक्ति और थे, परंतु स्वयंको अधिक सावधान समझकर थैला मैंने अपने पास ही रखा था। सौदा हो चुका था—प्रेसके लिये जो मशीन खरीदी थी, उसका पेमेंट करने जा रहे थे। सभी हक्के-बक्के रह गये। थैला कहाँ गया? कैसे? क्या? अनेक प्रश्न मस्तिष्कमें घूम गये। ट्राम दूर निकल गयी थी। अब क्या करें? नोटोंको कौन और कैसे वापस करेगा? पुलिसमें सूचना देना भी मूर्खता-सी लगी। फिर कुछ सोचा—एक ताँगा लिया और हलवाईकी दुकानपर पहुँचा। बिना कुछ कहे जहाँ बैठे थे, उसके आस-पास देखने लगे। गद्दीदार ताड़ गया। 'क्या देख रहे हैं, साहब?' 'भैया! हमारे पास एक थैला था, आपकी दुकानमें यहीं कुछ जलपान किया था—कहीं वह यहीं तो नहीं रह गया?' 'कैसा थैला था?' हमने विवरण दिया। 'यह तो नहीं था'—उसने कैश पेटीसे निकालकर हमें दिखाया। 'हाँ, हाँ, यही तो है'—हम तीनों एक साथ बोल उठे। 'लीजिये, सावधानीसे गिन लीजिये, इतनी असावधानी नहीं करनी चाहिये।' दुकानदारने थैलेके साथ शिक्षा भी दी। थैलेका मिलना ही इस बातका प्रमाण था कि सब कुछ ठीक है। थैला लेकर हमने उस दुकानदारको अनेक-अनेक धन्यवाद दिये। है न आजके अर्थ-प्रधान युगमें एक हलवाईके सदाचारकी पराकाष्ठा! यह सदाचारके एक-तत्त्व ईमानदारीका ज्वलन्त उदाहरण है।

(२) स्थान—जयपुर—साँगानेरी गेटके बाहर टैम्पू-स्टैंड। शीघ्रतासे टैम्पूसे उतरा और चल दिया। जौहरी बाजारके उस कोनेपर पहुँचा तो कुछ खरीदना चाहा, चीज पसंद भी कर ली। पैंटमें हाथ डाला, बटुआ गायब! बिना पैसेके आदमीका व्यक्तित्व क्या रह जाता है, यह उस समय प्रत्यक्ष हुआ। पैर अपने आप टैम्पू-स्टैण्डकी ओर फिर चले। वहाँ पहुँचा। वह ड्राइवर वहाँ नहीं था। और टैम्पू-ड्राइवरोंके बतानेपर पता लगा कि वह तो चला गया है, तीस-चालीस मिनिटमें वापस आ सकता है। मैं प्रतीक्षा करने लगा। करीब तीस मिनटमें ही वह वापस आ गया और मुझे देखते ही उसने मेरा बटुआ टैम्पूकी पाकेटसे निकालकर मुझे दे दिया और कहा—'आपका ही है न साहब?' मैंने उसे धन्यवाद देकर कुछ देना चाहा। वह बोला—'बाबूजी! क्यों शर्मिन्दा करते हैं—हमलोग भी बाल-बच्चेवाले हैं। आपकी चीज आपको लौटा-कर मुझे जो आनन्द मिल रहा है, वह किसी भी इनामसे ज्यादा है। आपने मेरे ऊपर बड़ा उपकार किया, जो यहाँ लौटकर आ गये और मेरा बोझ हलका किया, नहीं तो न जाने मैं कहाँ-कहाँ आपको खोजता फिरता।' देखा आपने, सदाचारका यह एक अद्भुत उदाहरण। यह है भारतके एक टैम्पू-ड्राइवरकी सदाचारिता जो उल्लेख्य ही नहीं, प्रत्युत अनुकरणीय भी है।

(३) स्थान–इटली—सुप्रसिद्ध रोम नगरका एक सार्वजनिक उद्यान। मैं एक बेंचपर बैठकर एक पुस्तक पढ़ रहा था, कोई गम्भीर विषय था—किताबमें खो

गया और पठित सामग्रीपर विचार करता हुआ बेंचसे उठकर चल दिया—हाथमें बंद किताब थी और मस्तिष्कमें थे घुमड़ते हुए विचार। उद्यानसे न जाने कब बाहर निकल आया। पर विचारधारा बराबर चल रही थी। इतनेमें तेजीसे दौड़ती हुई एक महिला यकायक मेरे पास आकर रुक गयी। मेरा ध्यान टूटा। देखा तो वह महिला मेरे पास खड़ी थी और उसके हाथमें मेरा बैग था, जिसमें मेरा पासपोर्ट, टैवलर चेक तथा कुछ विदेशी नोट थे। जेबके बटुएमें तो कुछ थोड़ा-सा ही पैसा था। मैंने उस महिलाकी ओर देखा और उसने —'आपका बेग' कहकर उसे मेरी ओर बढ़ा दिया। अब स्थिति साफ हुई, अपना बैग तो मैं बेंचपर ही भूल आया था—कैसी भारी गलती! मेरे पास कृतज्ञता-प्रकाशनके लिये शब्द न थे। विदेशमें पासपोर्ट परमावश्यक वस्तु है और साथ ही वह सीमित विदेशी मुद्रा जिनपर मेरा सब कुछ आधृत था। एक प्रकारसे उस महिलाका यह कार्य मेरे ऊपर परम उपकार था, अन्यथा मुझे बड़ी कठिनाई होती। यह है सदाचारका तीसरा उदाहरण और मेरी भूलकी तीसरी आवृत्ति !*

(४) स्थान—रूस—मास्को नगरका अन्ताराष्ट्रिय मिंस्क होटल। बात सन् १९६४ की है। हमारे राष्ट्रपति स्वर्गीय डॉ० सर्वपल्ली श्रीराधाकृष्णन् मास्को पधारे थे। रूसी नेता और अधिकारियोंको उन्होंने एक भोज दिया था, खाद्यसामग्रीकी अनेक वस्तुएँ—जैसे पापड़, आचार और पान भारतसे पहुँची थीं। उन दिनों मैं भी मास्कोंमें था और तत्कालीन भारतीय राजदूत कालसाहबके सौजन्यसे मुझे भी, उस भोजमें शामिल होनेका निमन्त्रण मिला था। भारतीय वेश-भूषामें मैं अपने कमरेसे होटल-के स्वागत-कक्षमें आया, पर न जाने क्या कारण था कि कोई भी टैक्सी उपलब्ध न हो सकी। मैं बाहर जाकर सड़कपर खड़ा हो गया। थोड़ी ही देरमें एक पुलिसमैन मेरे पास आया और सैल्यूट देकर मेरे मुँहकी ओर देखने लगा। हम लोगोंके पास पारस्परिक अभिव्यक्तिका साधन केवल संकेत थे। मैं रूसी नहीं जानता था और पुलिस मैन अंग्रेजीसे अनभिज्ञ था। मैंने अपना जेबसे निमन्त्रण-पत्र निकाला और रूसी भाषामें लिखा हुआ भाग उसके सामने कर दिया और फिर संकेतोंसे बताया कि मैं वहाँ अविलम्ब पहुँचना चाहता हूँ। घड़ीके माध्यमसे यह भी स्पष्ट कर दिया कि कुछ ही मिनट बाकी हैं। मैंने किसी प्रकार इस बातकी भी सूचना दे दी कि होटलसे टेलिफोन करनेपर भी टैक्सी नहीं मिली। अब वह सड़ककी ओर देखने लगा। दो-एक कारें निकल गयीं। जब एक अन्य कार आयी तो पुलिसमैनने अपना डंडा सड़कपर टेक दिया। गाड़ी खड़ी हो गयी और रूसी भाषामें बातें कर उसने मुझे उसमें बैठा दिया। कार द्रुतगतिसे गन्तव्यकी ओर बढ़ी और एक विशाल भवनके सामने, जहाँ अनेक कारें थीं, खड़ी हो गयी। मैंने धन्यवाद देते हुए अपना बटुआ निकाला। नकारात्मक संकेत बहुत आसान होता है—उसने किसी भी पेमेंटके लिये संकेतसे मना कर दिया और सलामकर तेजीसे लौट गया। अब दोनोंका आचरण देखिये—रूसके पुलिस-मैन और मोटरकारवाले दोनों ही सज्जन सदाशयताके आचरणात्मक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

५—जापान—विश्व-विश्रुत टोकियोका 'न्यू ओतानी' होटल। तृतीय विश्वध्वनिविज्ञान-परिषद्में प्रमुख वक्ताके रूपमें आमन्त्रित था। भाषण तो हो गया, पर तबीयत बहुत खराब हो गयी, सम्भवतः जलवायुका भारी परिवर्तन कारण था। रातमें तनिक भी नींद नहीं आयी, बदन बुरी तरह टूटता रहा और

* यह मेरी प्रथम विदेश-यात्रा थी और तबसे मैं पासपोर्ट तथा विदेशी द्रव्यका बड़ा भाग अपने कोटकी भीतरी जेबमें रखता हूँ और विदेश जानेवाले अपने पाठकोंको भी यही परामर्श देता हूँ।—ले०।

ज्वरका-सा आभास होने लगा । अगले दिन एक सेक्शनल मीटिंगका सभापतित्व था—किसी तरह उस उत्तरदायित्वका भी निर्वाह किया । पर जब लौटा, तब काफी ज्वर था, हाथ-पैर शक्तिहीन प्रतीत हुए, सारे शरीरमें वेदना और भयंकर बेचैनी थी । कुछ ही देरमें टेलीफोनकी घंटी बजी और समाचार मिला कि कोई कुमारी कीयोको नाकामूरा मुझसे मिलना चाहती हैं । मैंने सूचित किया कि लाउँजमें तो आ नहीं सकता, तबीयत बहुत खराब है, यदि वे मेरे कमरेमें आनेकी कृपा करें तो लेटे-लेटे कुछ बातें कर सकूँगा । थोड़ी देर बाद ही दरवाजेपर दस्तक (खटखटानेका शब्द) सुनायी दिया । किसी प्रकार कपड़े ठीक किये और दरवाजा खोला । एक महिला मेरे सामने खड़ी थीं । सौभाग्यसे वे अंग्रेजी जानती थीं । वैसे भी जापानमें सभी शिक्षित व्यक्ति अंग्रेजीका अभ्यास रखते हैं । उन्होंने मुझे लेट जानेको कहा और कम्बलको ठीक तरह ओढ़ा दिया । अपनी कुछ भी बातें न करके उन्होंने मेरी तबीयतके बारेमें पूरी जानकारी की और वहींसे डाक्टरको टेलीफोन किया, मुझे दम-दिलासा दिलाया और इधर-उधरकी सामान्य बातें कीं । मैंने उनसे आनेका मन्तव्य पूछा तो उत्तर केवल यही मिला—'आप ठीक हो जायँगे तो बताऊँगी ।' डाक्टर आये, कुछ दवा आदिकी व्यवस्था हुई और थोड़ी देर बाद 'सुनक्तम्' (गुडनाइट) कहकर वे चली गयीं ।

अगले दिन प्रातः वे महिला पुनः आयीं—दवा, जलपान आदिकी सारी व्यवस्था कर चली गयीं । तीसरे पहर उनके पुनः दर्शन हुए—अब मैं अपेक्षाकृत ठीक था । वे कुछ देर बैठीं और कहा—'आप किम्मी कायानोको तो जानते ही होंगे, मैं उनकी चचेरी बहन हूँ। उन्होंने मुझे लिखा था कि आप यहाँ आ रहे हैं, मैं आपकी देखभाल करूँ । मैंने कई होटलोंमें पता लगाया और अन्तमें न्यू ओतानीसे पता लगा कि आप यहाँ हैं । मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि मैं किम्मीके इच्छानुसार आपकी कुछ सेवा कर सकी ।' जापानकी पिछली यात्रामें मेरा किम्मीसे परिचय हुआ था, अब तो वे अमेरिकामें हैं । जब मैंने उनको किसीके परिचयके बारेमें लिखा तो उन्होंने अपनी बहनको उक्त पत्र लिखा । दोनों बहनोंका यह सद्व्यवहार क्या कभी भुलाया जा सकता है ? अतिथि-सत्कारका हमारा सदाचार यहाँ स्वतः मुखरित है ।

६—जर्मनी—म्यून्स्टर नामक नगर । एक विश्व-सम्मेलनमें गया था । भारतीय विद्या-सेमिनारके एक विद्वान्से परिचय हो गया । वे भारतीय थे और उन्होंने मेरी बड़ी सेवा की, जिसमें दोपहरको मेरे लिये मेरी रुचिके अनुसार प्रतिदिन भोजन बनाना प्रमुख था । पर्याप्त अभिन्नता हो जानेपर मैंने अपनी इच्छा व्यक्त की कि द्रव्यके अभावमें भी मैं हालैण्ड डेनमार्क तथा स्वीडेनके कुछ स्थान देखना चाहता हूँ । वे गम्भीर हो गये, पर थोड़े समय बाद बोले—'हालैंडका प्रबन्ध तो हो जायगा, डेनमार्क और स्वीडेनके लिये हवाई टिकट रिरूट (पथ-परिवर्तनीय) करा लेंगे ।' मैं संतुष्ट नहीं हुआ, पुनः पूछा—'कैसे ?' उन्होंने कहा 'मेरी परिचित एक जर्मन महिला हैं, यदि मैं उनसे प्रार्थना करूँगा कि आपको हालैण्डके कुछ स्थान दिखा दें तो मैं समझता हूँ, वे अस्वीकार नहीं करेंगी । टिकटको 'रि-रूट' करानेमें कुछ अधिक पैसे लगेंगे सो मेरे पास तो व्यवस्था है नहीं, मैं अपने एक मित्रसे कहकर आपका प्रबन्ध करा दूँगा और कुछ दिनों बाद उनका पैसा चुका दूँगा तथा यह रुपया आपसे आपके सुविधानुसार ले लूँगा । आप चिन्ता न करें ।' और हुआ भी यही । तीसरे ही दिन एक जर्मन महिला अपनी मोटरकारसे हालैण्डके नगर दिखा रही थीं—यूट्रेस्ट, ऑमस्टरडम, रौटरडम तथा डनहाग । उधर मेरा डसलडोर्फ—दिल्लीका टिकट भी कोपेनहागेन तथा स्टाकहोल्प होकर 'रि-रूट' हो चुका था । इन

दोनोंसे उपकृत होकर मैंने अत्यन्त संतोषका अनुभव किया और उन भारतीय सज्जन तथा जर्मन महिलाका आदर्श उपकार सदाचारका स्वरूप धारणकर मेरे हृदय-पटलपर सर्वदाके लिये अङ्कित हो गया।

वैसे तो सदाचारका अर्थ प्रायः सभी समझते हैं, पर सदाचारकी वैज्ञानिक व्याख्या इतनी दुःसाध्य है, जितना पाप-पुण्यका निर्णय करना; क्योंकि देश-काल और परिस्थितिसे भी सदाचारका घनिष्ठ सम्बन्ध है। जो व्यवहार किसी देश, काल या परिस्थितिविशेषमें सदाचार होता है, वह अन्यमें अन्यथा भी हो सकता है। भारतीय सदाचारका विश्लेषण तो और भी कठिन है, क्योंकि वह 'अच्छे व्यवहार'से ऊपर उठकर कुछ और विशिष्टता रखता है। वस्तुतः सदाचारका आधार-स्तम्भ एक स्वस्थ (साधु) मनोवृत्ति है और उसीके अनुरूप सदाचारके दर्शन होते हैं। कभी किसी स्थितिमें किसी अनाचारीको पुलिसके हवाले कर देना सदाचार है तो कभी किसी अबोध-निरीह व्यक्तिको कानूनकी परिधिसे बाहर निकालना भी सदाचार हो सकता है। व्यक्तिविशेषके प्रसङ्गमें भी हमारा एक ही प्रकारका व्यवहार कभी सदाचारकी कोटिमें होता है और कभी दुराचारकी; और, कभी-कभी तो ऐसी जटिल समस्या उपस्थित हो जाती है कि सदाचारका निर्णय करना कठिन हो जाता है। पर, साधारणतः जिस व्यवहारसे, अपनी किंचित् हानि होकर भी दूसरोंका हित होता हो और समाजकी व्यवस्था सुदृढ़ होनेमें सहायता मिलती हो, वैसा व्यवहार सदाचारकी श्रेणीमें ही परिगणित होगा। सदाचार किन्हीं सीमाओंसे परिवृत्त नहीं है—प्रत्येक देश, काल, धर्म, वर्ग, स्थितिमें सदाचरण करनेवाले हो सकते हैं और इसके विपरीत भी। इसी बातको ध्यानमें रखकर ऊपर विभिन्न स्तरोंके उदाहरण दिये गये हैं।

हमारे विचारसे शुद्ध 'सदाचार'के मूलमें त्याग तथा उपकार आदिकी पवित्र भावनाएँ निहित होती हैं और हमें देश-विदेशकी लम्बी यात्राओं एवं प्रवासमें इस प्रकारके अनेक अनुभव हुए हैं। दिल्लीके हलवाईमें जहाँ लोभ-लिप्साका अभाव है, वहाँ एक स्वस्थ, सामाजिक व्यवस्था भी परिलक्षित होती है। जयपुरका ड्राइवर अनाचार-की कल्पनासे ही आतङ्कित है और किसी पर-द्रव्यको अपने उपयोगमें लेना पाप समझता है। रूसकी महिलामें उपकारकी भावना और एक विदेशीके प्रति उदारता एवं कर्तव्यनिष्ठाका पता लगता है। मास्कोका पुलिसमैन अपने कर्तव्य-पालनमें तो रत था ही, एक विदेशीकी सहायता करना उसकी सदाशयता भी है और कार-ड्राइवर अपने समय और परेशानीका ख्याल न कर त्याग और उपकारका उदाहरण प्रस्तुत करता है।

टोकियोकी महिलामें जहाँ एक कोमल सदय नारी-हृदय है, वहाँ उसकी बहनके शब्दोंमें श्रद्धा एवं स्नेह तथा एक विदेशी (बन्धु)के प्रति सेवाकी भावना है। उनकी निःस्वार्थ भावसे उपयुक्त परिचर्याद्वारा मुझे स्वास्थ्यलाभ कराना परोपकार एवं सेवाका उत्कट उदाहरण है। इसी प्रकार म्यूंस्टरके भारतीय सज्जन बिना किसी निजी लाभके एक अपने भाई (स्वदेशी बन्धु)का उपकार करने तथा उसकी इच्छापूर्तिके लिये दूसरोंकी मदद लेते हैं तथा जर्मन महिला, अनायास ही एक विदेशीकी देश-दर्शन-इच्छाको पूरा करनेमें अपनी अपार उदारताका परिचय देती हैं। दोनों ही सदाचारसे प्रेरित होकर कार्यारूढ़ होते हैं और उपकृत व्यक्तिके हृदयस्थलपर अमिट छाप छोड़ते हैं। मेरा अनुमान है कि वसुंधरामें त्यागी-उपकारी मनोवृत्तिवाले सदाचारी सर्वत्र विद्यमान रहते हैं और उन्हींके आचरण तथा उदाहरणोंपर सामाजिक व्यवस्था सुसम्पादित होती है। सदाचारकी उपयोगिता सबके लिये सर्वत्र—देश-विदेशमें और सदैव है।

ऋषियोंका अन्यतम सदाचार—अपरिग्रह

(लेखक—श्रीबसन्तशेषगिररावजी कुलकर्णी)

'विष्णुपुराण'में कहा है कि सदाचारके वक्ता और निर्देशक हमारे ऋषि ही हैं। 'ऋषि कैसे थे' इसे जाननेके लिये हमें प्रथम ऋषि शब्दकी व्याख्या देखनी होगी। ऋष—गतौ (तुदादि ७) धातुसे ऋषि शब्द बनता है। जो ध्यान द्वारा ईश्वरके पास गया या ईश्वर तपश्चर्या करनेवाले ऋषिके पास चला गया, इसलिये वह 'ऋषति' इति 'ऋषि:'से ऋषि कहलाया। 'अजान् ह वै पृश्नीँस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् त ऋषयोऽभवन् (तैत्तिरीय आ० २।९)।' 'ऋषिर्दर्शनात्—(निरुक्त) जो अतिन्द्रिय तत्त्व थे, वे भी ईश्वरकृपासे प्रथम ऋषि लोगोंके दृष्टिपथमें आ गये, इसलिये वे ऋषि कहलाते हैं—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा॥
(वायुपुराण, अ० २)

यास्क भी ऐसा ही कहते हैं—'**ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः**' ऋषि लोग मन्त्रद्रष्टा थे। पुराणोंके अनुसार—

ऋषीत्येष गतौ धातुः श्रुतौ सत्ये तपस्यथ।
एतत् संनियतं यस्मिन् ब्रह्मणा स ऋषिः स्मृतः॥
गत्यर्थादृषतेर्धातोर्नामनिर्वृत्तिरादितः।
यस्मादेष स्वयम्भूतस्तस्माच्च ऋषिता स्मृता॥
(वायुपुराण २)

'ऋष् (६।७) धातु—गति, गमन-ज्ञान, श्रवण, सत्य और तप—अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। ये सब बातें जिसके अंदर एक साथ निश्चितरूपसे हों, ब्रह्माने उसे ही 'ऋषि' कहा है। गत्यर्थक 'ऋष्'-धातुसे ही ऋषि शब्दकी निष्पत्ति हुई है और आदिकालमें चूँकि यह ऋषिवर्ग स्वयं उत्पन्न हुआ है, इसलिये इसकी ऋषि संज्ञा है। कहते हैं, ऋग्वेदके अनुसार ऐसे मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंकी संख्या लगभग चार सौ है। 'आश्वलायनगृह्यसूत्र'में ऋषियोंके आये कुछ नाम इस प्रकार हैं—'**अथ ऋषयः शतर्चिनो, माध्यमा गृत्समदो, विश्वामित्रो, वामदेवोऽत्रिर्भरद्वाजो, वसिष्ठः**…।
प्रगाथाः पावमान्यः, रुद्रसूक्ताः महासूक्ताश्चेति।' अर्थात् शतर्चि, माध्यमा, गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ, प्रगाथ—ये मुख्य ऋषि हैं। इन्हीं नामोंके तथा अन्य पावमान्य, रुद्रसूक्त और महासूक्त—ये ऋषियोंके आधारपर ऋग्वेदके मुख्य मण्डल एवं सूक्त भी हैं। महाभारतमें मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ—इन ब्रह्माजीके मानसपुत्रोंको प्रथम सप्तर्षि कहा गया है। प्रायः ये सभी मन्त्रद्रष्टा ब्रह्मज्ञानी और तपस्वी थे। काम-क्रोधादि षडरिपुओंपर विजय पानेसे इन ऋषियोंका अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध था और वे पूर्ण साधु थे। विष्णुपुराण (३।११) आदिमें इनके आचरणोंको सदाचार बतलाया गया है।

पद्मपुराणमें इनकी त्यागपूर्ण सदाचारसम्बन्धी एक कथा आती है, जिसमें कहा गया है कि एकबार ये सप्तर्षि तीर्थस्थानोंका दर्शन करते हुए इस पृथ्वीपर विचर रहे थे। इसी बीच एक बड़ा भारी दुर्भिक्ष पड़ा जिसके कारण भूखसे पीड़ित होकर सम्पूर्ण जगत्के लोग बड़े कष्टमें पड़ गये। उसी समय उन ऋषियोंको भी कष्ट उठाते देख तत्कालीन राजाने, जो प्रजाकी देख-भालके लिये भ्रमण कर रहे थे, दुःखी होकर कहा—'मुनिवरो! ब्राह्मणोंके लिये प्रतिग्रह उत्तम वृत्ति है। अतः आपलोग मुझसे दान ग्रहण करें—अच्छे-अच्छे गाँव, धान, जौ आदि अन्न, घृत, दुग्धादि रस, तरह-तरहके रत्न, सुवर्ण तथा दूध देनेवाली गौएँ ले लें।' तब ऋषियोंने कहा—राजन्! प्रतिग्रह बड़ा भयंकर है। वह स्वादमें मधुके समान मधुर, किंतु परिणाममें विषके समान घातक है। इस बातको स्वयं जानते हुए भी तुम क्यों हमें लोभमें

डाल रहे हो? राजाका प्रतिग्रह अत्यन्त घोर है। जो ब्राह्मण लोभसे मोहित होकर राजाका प्रतिग्रह स्वीकार करता है, वह तामिस्र आदि घोर नरकोंमें पकाया जाता है। अतः महाराज! तुम अपने धनके साथ ही यहाँसे पधारो, तुम्हारा कल्याण हो। यह दान दूसरोंको देना। यह कहकर सप्तर्षि वनमें चले गये।

बादमें राजाकी आज्ञासे उसके मन्त्रियोंने गूलरके फलोंमें सोना भरकर उन्हें पृथ्वीपर बिखेर दिया। सप्तर्षि अन्नके दाने बीनते हुए वहाँ पहुँचे, तो उन फलोंको भी उन्होंने हाथमें उठाया। उन्हें भारी जानकर सप्तर्षियोंने देखा तो उनके भीतर सोना भरा हुआ था। इसे देखकर वे बोले—'इस लोकमें धन-संचयकी अपेक्षा तपस्याका संचय ही श्रेष्ठ है। जो सब प्रकारके लौकिक संग्रहोंका परित्याग कर देता है, उसके सारे उपद्रव शान्त हो जाते हैं। संग्रह करनेवाला कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है, जो सुखी रह सके। एक ओर अकिंचनता और दूसरी ओर राज्यको तराजूपर रखकर तौला गया तो राज्यकी अपेक्षा अकिंचनताका ही पलड़ा भारी रहा, इसलिये जितात्मा पुरुषके लिये कुछ भी संग्रह न करना ही श्रेष्ठ है।' ऐसा कहकर दृढ़तापूर्वक नियमोंका पालन करनेवाले ये सभी महर्षि उन सुवर्णयुक्त फलोंको छोड़ अन्यत्र चले गये। यह था, इन महर्षियोंका अपरिग्रहमय त्यागपूर्ण जीवन।

ऋषिप्रणीत सदाचार—उन ऋषियोंद्वारा निर्दिष्ट सदाचार बहुत ही विस्तृत है। अतः यहाँ हम विस्तारभयसे गृहस्थोपयोगी ऋषिप्रणीत सदाचारके कुछ अंशोंको उद्धृत कर इस लेखका उपसंहार करते हैं। (१) गृहस्थ पुरुषको नित्यप्रति देवता, गौ, ब्राह्मण, वयोवृद्ध, सिद्धगण तथा आचार्यकी पूजा करनी चाहिये और दोनों समय संध्या-वंदन तथा अग्नि-होत्रादि कर्म करने चाहिये। (२) किसीका थोड़ा-सा भी धन हरण न करे और थोड़ा-सा भी अप्रिय भाषण न करे। जो मिथ्या हो, ऐसा प्रिय वचन भी कभी न बोले और न कभी दूसरोंके दोषोंको ही कहे। (—महर्षि और्व।) (३) गृहस्थको चाहिये कि प्रारब्धसे प्राप्त और पञ्च-यज्ञ आदिसे बचे हुए अन्नसे ही अपना जीवन-निर्वाह करे। (—देवर्षि नारद।) (४) सत्य वचनका लोप नहीं करना चाहिये। स्वर्ग, मोक्ष तथा धर्म—सब सत्यमें ही प्रतिष्ठित है। जो अपने वचनका लोप करता है, उसने मानो सबका लोप कर दिया। (—महर्षि पुलस्त्य।) (५) इन्द्रियोंको लोभग्रस्त नहीं बनाना चाहिये। इन्द्रियोंके लोभग्रस्त होनेसे सभी मनुष्य संकटमें पड़ जाते हैं। जिसके चित्तमें संतोष है, उसके लिये सर्वत्र धन-सम्पत्ति भरी हुई है। जिसके पैर जूतेमें हैं, उसके लिये सारी पृथ्वी मानो चमड़ेसे मढ़ी है; अतः सुख चाहनेवाले पुरुषको सदा संतुष्ट रहना चाहिये। (—महर्षि गौतम।) (६) आचारसे धर्म प्रकट होता है और धर्मके स्वामी भगवान् विष्णु हैं। अतः जो अपने आश्रमके आचारमें संलग्न है, उसके द्वारा भगवान् श्रीहरि सर्वदा पूजित होते हैं। (—सनक मुनि।) (७) भगवान्‌की भक्तिमें तत्पर तथा भगवान् विष्णुके ध्यानमें लीन होकर भी जो अपने वर्णाश्रमोचित आचारसे भ्रष्ट हो, उसे पतित कहा जाता है। (—सनकमुनि।)

सदाचारके प्रतिष्ठापक—ऋषि-महर्षि

(१)

सनकादि कुमार

भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन
सत्सङ्गमं च लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार-
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः॥
(श्रीमद्भा०माहात्म्य २ । ७६)

'अनेक जन्मोंके किये हुए पुण्योंसे जब जीवके सौभाग्यका उदय होता है और वह सत्पुरुषका सङ्ग प्राप्त करता है, तब अज्ञानके मुख्य कारण रूप मोह एवं मदके अन्धकारको नाश करके उसके चित्तमें विवेकके प्रकाशका उदय होता है ।'

सृष्टिके प्रारम्भमें ब्रह्माजीने जैसे ही अपनी रचनाका श्रीगणेश करना चाहा, उनके संकल्प करते ही उनसे चार कुमार उत्पन्न हुए—सनक, सनन्दन, सनातन एवं सनत्कुमार । ब्रह्माजीने सहस्र दिव्य वर्षोंतक तप करके हृदयमें भगवान् शेषशायीका दर्शन पाया था । भगवान्ने ब्रह्माजीको भागवतका मूल-ज्ञान दिया था । इसके पश्चात् ही ब्रह्माजी मानसिक सृष्टिमें लगे थे । ब्रह्माजीका चित्त अत्यन्त पवित्र एवं भगवान्में लगा हुआ था । उस समय सृष्टिकर्त्ताके अन्तःकरणमें शुद्ध सत्त्वगुण ही था । फलतः उस समय जो चारों कुमार प्रकट हुए, वे शुद्ध सत्त्वगुणके स्वरूप हुए । उनमें रजोगुण तथा तमोगुण था ही नहीं । अतः उनमें न तो प्रमाद, निद्रा, आलस्य आदि थे और न सृष्टिके कार्यमें उनकी प्रवृत्ति थी । ब्रह्माजीने उन्हें सृष्टि करनेको कहा तो उन्होंने सृष्टिकर्त्ताकी यह आज्ञा स्वीकार करनेमें अपनी असमर्थता व्यक्त की । सच तो यह है कि विश्वमें ज्ञानकी परम्पराको बनाये रखनेके लिये स्वयं भगवान्ने ही इन चारों कुमारोंके रूपमें अवतार धारण किया था । कुमारोंकी जन्मजात रुचि भगवान्के नाम तथा गुणका कीर्तन करने, भगवान्की लीलाओंका वर्णन करने एवं उन पावन लीलाओंको सुननेमें थी । भगवान्को छोड़कर एक क्षणके लिये भी उनका चित्त संसारके किसी विषयकी ओर जाता ही नहीं था । ऐसे सहज स्वभावसिद्ध विरक्त भला सृष्टिकार्यमें कैसे लग सकते थे । वे तो सदैव भगवच्चिन्तनमें ही लगे रहते थे ।

उनके मुखसे निरन्तर 'हरिः शरणम्' यह मङ्गलमय मन्त्र निकलता रहता था । वाणी इसके जपसे कभी विराम लेती ही नहीं थी । उनका चित्त श्रीहरिमें सदा लगा रहता था । यही कारण है कि उनपर कालका कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ता । वे आज भी पाँच वर्षकी अवस्थाके ही बने रहते हैं । भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, निद्रा-आलस्य आदि कोई भी मायाका विकार उनको स्पर्श-तक नहीं कर पाता । कुमारोंका निवासधाम अधिकतर जनलोक है—जहाँ विरक्त, मुक्त, भगवद्भक्त तपस्विजन ही निवास करते हैं, उस लोकमें सभी नित्यमुक्त हैं । परंतु वहाँ सब-के-सब भगवान्के दिव्यगुण एवं मङ्गलमय चरित सुननेके लिये सदा उत्कण्ठित रहते हैं । वहाँ सदा-सर्वदा अखण्ड सत्सङ्ग चलता ही रहता है । किन्हीं-को भी वक्ता बनाकर वहाँके शेष लोग बड़ी श्रद्धासे उनकी सेवा करके, नम्रतापूर्वक उनसे भगवान्का दिव्य चरित सुनते ही रहते हैं । परंतु सनकादि कुमारोंका तो जीवन ही सत्सङ्ग है । वे तो सत्सङ्गके बिना एक क्षण भी रह नहीं सकते । मुखसे भगवन्नामका जप, हृदयमें भगवान्का ध्यान, बुद्धिमें व्यापक भगवत्तत्त्वकी स्थिति, श्रवणोंमें भगवद्गुणानुवाद—बस, यही उनकी सर्वदाकी दिनचर्या है ।

चारों कुमारोंकी गति सभी लोकोंमें अबाध है। वे नित्य पञ्चवर्षीय दिगम्बर कुमार इच्छानुसार विचरण करते रहते हैं। पातालमें भगवान् शेषके और कैलासपर भगवान् शङ्करजीके मुखसे भगवान्‌के गुण एवं चरित सुनते रहनेमें उनकी तृप्ति कभी होती ही नहीं और जनलोकमें किसीको अपनोंमेंसे भी वक्ता बनाकर वे श्रवण करते रहते हैं। कभी-कभी किसी परम अधिकारी भगवद्भक्तपर कृपा करनेके लिये वे पृथ्वीपर भी पधारते हैं। महाराज पृथुको उन्होंने ही तत्त्वज्ञानका उपदेश किया था। देवर्षि नारदजीने भी इन्हीं कुमारोंसे श्रीमद्भागवतका श्रवण किया था। अन्य अनेक महाभाग भी कुमारोंके दर्शनसे एवं उनके उपदेशामृतसे कृतार्थ हुए हैं। भगवान् विष्णुके द्वार-रक्षक जय-विजय कुमारोंका अपमान करनेके कारण वैकुण्ठसे भी च्युत हुए और तीन जन्मोंतक उन्हें आसुरी योनि मिलती रही।

सनकादि चारों कुमार भक्तिमार्गके मुख्याचार्य हैं। सत्सङ्गके वे मुख्य आराधक हैं; क्योंकि—

सत संगति मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥

श्रवणमें उनकी प्रगाढ़ निष्ठा है। ज्ञान, वैराग्य, नाम-जप एवं भगवच्चरित्र सुननेकी अबाध उत्कण्ठाका आदर्श ही उनका स्वरूप है। उनके उपदेश श्रेयः-सम्पादक एवं सदाचारके प्रतिष्ठापक हैं।

उपदेश—

निवृत्तिः कर्मणः पापात् सततं पुण्यशीलता।
सद्वृत्तिः समुदाचारः श्रेय एतदनुत्तमम्॥
मानुष्यमसुखं प्राप्य यः सज्जति स मुह्यति।
नालं स दुःखमोक्षाय सङ्गो वै दुःखलक्षणः॥

(नारदपु० पूर्व० ६०। ४४-४५)

'पाप-कर्मसे दूर रहना, सदा पुण्यका संचय करते रहना, साधु पुरुषोंके बर्तावको अपनाना और उत्तम सदाचारका पालन करना—यह सर्वोत्तम श्रेयका साधन है। जहाँ सुखका नाम भी नहीं है, ऐसे मानव-शरीरको पाकर जो विषयोंमें आसक्त होता है, वह मोहमें डूब जाता है। विषयोंका संयोग दुःखरूप है, वह दुःखसे छुटकारा नहीं दिला सकता।'

इसलिये—

नित्यं क्रोधात्तपो रक्षेच्छ्रियं रक्षेच्च मत्सरात्।
विद्यां मानापमानाभ्यामात्मानं तु प्रमादतः॥
आनृशंस्यं परो धर्मः क्षमा च परमं बलम्।
आत्मज्ञानं परं ज्ञानं सत्यं हि परमं हितम्॥

(ना० पूर्व० ६०। ४८-४९)

'मनुष्यको चाहिये कि तपको क्रोधसे, सम्पत्तिको डाहसे, विद्याको मान-अपमानसे और अपनेको प्रमादसे बचावे। क्रूर स्वभावका परित्याग सबसे बड़ा धर्म है। क्षमा सबसे महान् बल है। आत्मज्ञान सर्वोत्तम ज्ञान है और सत्य ही सबसे बढ़कर हितका साधन है।'

इस प्रकार सनत्कुमारोंके उपदेशमें हमें सदाचारकी अनेक अमूल्य शिक्षाएँ और दिशाएँ मिलती हैं।

(२)

ब्रह्मर्षि वसिष्ठका क्षमा-प्रसङ्ग

कुशिक-वंशमें उत्पन्न राजर्षि विश्वामित्र सेनाके साथ आखेट करने निकले थे। वे अपने राज्यसे दूर महर्षि वसिष्ठके आश्रमके समीप पहुँच गये। वसिष्ठजीने एक ब्रह्मचारीके द्वारा समाचार भेजा—'आप आश्रमके समीप आ गये हैं, अतः मेरा आतिथ्य स्वीकार करें।'

अरण्यवासी तपस्वीके लिये राजा असुविधा न उत्पन्न करे, यह समुदाचार है। लेकिन विश्वामित्रने महर्षि वसिष्ठकी प्रशंसा सुनी थी। उनके तपःप्रभावपर विश्वास था। अतः आतिथ्यका आमन्त्रण स्वीकार कर लिया। उन्हें आश्चर्य तो तब हुआ जब सेनाके साथ उनको राजोचित सामग्री प्रचुर मात्रामें भोजनको दी

गयी और वह भी तपःशक्तिसे नहीं, वसिष्ठकी होम-धेनु नन्दिनीके प्रभावसे ।

'आप यह गौ मुझे दे दें। बदलेमें जो चाहें मुझसे माँग लें।' विश्वामित्र उस गौके लिये लालायित हो गये। चलते समय उन्होंने अपनी यह इच्छा प्रकट की।

'ब्राह्मण गो-विक्रय नहीं करता। मैं इस गौको नहीं दे सकता।' ऋषिने अस्वीकार कर दिया। उग्रस्वभाव विश्वामित्र उत्तेजित हो उठे। झट उन्होंने बलपूर्वक गौको ले चलनेकी आज्ञा सैनिकोंको दे दी। लेकिन नन्दिनी साधारण गौ तो थी नहीं। उसकी हुंकारसे शत-शत योद्धा उत्पन्न हो गये। उन्होंने विश्वामित्रके सैनिकोंको मार भगाया।

विश्वामित्रने वसिष्ठपर आक्रमण किया। कुशका ब्रह्मदण्ड लिये वसिष्ठ स्थिर, शान्त बैठे रहे। विश्वामित्रके साधारण तथा दिव्य अस्त्र सब उस ब्रह्मदण्डसे टकराकर नष्ट हो गये। विश्वामित्रने कठोर तपसे लब्ध दिव्यास्त्र चलाये, किंतु वसिष्ठके ब्रह्मदण्डसे लगकर वे भी सब-के-सब नष्ट हो गये।

'ब्रह्मबल ही श्रेष्ठ है। क्षत्रिय-शक्ति तपस्वी ब्राह्मणका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। अतः मैं इसी जन्ममें ब्राह्मणत्व प्राप्त करूँगा।' विश्वामित्रने यह निश्चय किया और वे अत्यन्त कठोर तपमें लग गये।

सैकड़ों वर्षोंकी कठिन तपश्चर्याके पश्चात् ब्रह्माजी प्रसन्न हुए और प्रकट हुए। उन्होंने वरदान दिया—'वसिष्ठके स्वीकार करते ही तुम ब्रह्मर्षि हो जाओगे।'

महर्षि वसिष्ठसे प्रार्थना करना विश्वामित्रके लिये बहुत अपमानजनक था। संयोगवश जब महर्षि वसिष्ठ मिलते तो इन्हें 'राजर्षि' ही कहते। अतः विश्वामित्र वसिष्ठके घोर शत्रु हो गये थे। एक राक्षसको प्रेरित करके उन्होंने वसिष्ठके सौ पुत्रोंको मरवा दिया। स्वयं वसिष्ठको अपमानित करने, नीचा दिखानेका अवसर ढूँढ़ने लगे। उनका हृदय वैर तथा हिंसाकी प्रबल भावनासे पूर्ण था। यह थी 'राजर्षि' कहे जानेवालेकी कहनेवालेपर नृशंसता! यह ब्रह्मण्यता नहीं थी।

कौशिकने अपनी ओरसे कुछ उठा नहीं रक्खा। बड़ा दृढ़ निश्चय, प्रबल संकल्प था उनका; दूसरी सृष्टितक करनेमें लग गये। अनेक प्राणियोंतकका सृजन कर दिये। विभिन्न अन्नादि बना डाले। ब्रह्माजीने ही रोका उन्हें। अन्तमें स्वयं शस्त्र-सज्ज होकर सुनसान रात्रिमें छिपकर वसिष्ठको मारनेके लिये निकल पड़े। दिनमें प्रत्यक्ष आक्रमण करके तो वे अनेक बार पराजित हो चुके थे।

चाँदनी रात्रि थी। कुटियाके बाहर वेदीपर एकान्तमें पत्नीके साथ महर्षि बैठे थे। अरुन्धतीजीने कहा—'कैसी निर्मल ज्योत्स्ना है!'

वसिष्ठजी बोले—'ऐसा ही निर्मल तेज आजकल विश्वामित्रके तपका है।' वसिष्ठका निर्मल मन अहिंसा तथा क्षमासे पूर्ण था।

विश्वामित्र छिपे खड़े थे। उन्होंने सुना और उनका हृदय उन्हें धिक्कार उठा—'एकान्तमें पत्नीके साथ बैठा जो अपने सौ पुत्रोंके हत्यारेकी प्रशंसा करता है, उस महापुरुषको मारने आया है तू!' शस्त्र नोच फेंके विश्वामित्रने। दौड़कर महर्षिके चरणोंपर गिर पड़े। योगाचार्य पतञ्जलिने कहा है कि—

'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।'

विश्वामित्रके ब्राह्मण होनेमें उनका दर्प, उनका द्वेष, उनकी असहिष्णुता ही तो बाधक थी। वह आज दूर हुई। महर्षि वसिष्ठने उन्हें झुककर उठाते हुए कहा—'उठिये ब्रह्मर्षि!' विश्वामित्र अब ब्राह्मणत्वसे संयुक्त थे। महर्षि वसिष्ठके उपदेश योगवासिष्ठ, इतिहास-पुराण, धर्मशास्त्रोंमें भरे पड़े हैं।

(३)

महर्षि गौतम

प्रस्तुत महर्षि गौतम* वैवस्वत मन्वन्तरके सप्तर्षियोंमें एक ऋषि हैं। पुराणोंमें कथा आती है कि महर्षि दीर्घतमा बृहस्पतिके शापसे जन्मसे अन्धे थे। उनपर स्वर्गकी कामधेनु प्रसन्न हो गयी और उस गौने इनका तम हर लिया। ये देखने लगे। महर्षि गौतम इन्हींके पुत्र थे। (महाभा० १। १०४। २४)। पुराणोंमें ऐसी कथा आती है कि सर्वप्रथम ब्रह्माजीकी इच्छा एक स्त्री बनानेकी हुई। उन्होंने सब जगहसे सौन्दर्य इकट्ठा करके एक अभूतपूर्व स्त्री बनायी। उसके नखसे शिखतक सर्वत्र सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य भरा था। हल कहते हैं पापको, हलका अभाव अहल्य है और जिसमें पाप न हो, उसका नाम अहल्या है, अतः उस निष्पापका नाम भगवान् ब्रह्माने अहल्या रखा। यह पृथ्वीपर सर्वप्रथम इतनी सुन्दर मानुषी स्त्री हुई कि सब ऋषि, देवता उसकी इच्छा करने लगे। इन्द्रने तो उसके लिये भगवान् ब्रह्मासे याचना भी की, किंतु ब्रह्माजीने उनकी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। ऐसी त्रैलोक्यसुन्दरी ललनाको भला कौन न चाहेगा? उन दिनों भगवान् गौतम बड़ी घोर तपस्या कर रहे थे। ब्रह्माजी उनके पास गये और जाकर बोले—'यह अहल्या तुम्हें हम धरोहरके रूपमें दिये जाते हैं, जब हमारी इच्छा होगी ले लेंगे।' ब्रह्माजीकी आज्ञा ऋषिने शिरोधार्य की। अहल्या ऋषिके आश्रममें रहने लगी। वह हर तरहसे ऋषिकी सेवामें तत्पर रहती और ऋषि भी उसका धरोहरकी वस्तुकी भाँति ध्यान रखते। किंतु उनके मनमें कभी किसी प्रकारका बुरा भाव नहीं आया।

हजारों वर्षके बाद ऋषि स्वयं ही अहल्याको लेकर ब्रह्माजीके यहाँ गये और बोले—'ब्रह्मन्! आप अपनी यह धरोहर ले लें।' ब्रह्माजी इनके इस प्रकारके संयम और पवित्रभावको देखकर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अहल्याका विवाह इन्हींके साथ कर दिया। ऋषि सुखपूर्वक इनके साथ रहने लगे। इनके एक पुत्र भी हुए, जो महर्षि शतानन्दके नामसे विख्यात हैं, जो महाराज जनकके राजपुरोहित थे। महर्षि गौतमकी तपस्यासे सम्बद्ध अनेकों आश्रम भारतमें प्रसिद्ध है। (द्रष्टव्य—तीर्थाङ्क तथा 'कल्याण' वर्ष ४० अङ्क ६। पृ० ९९२-९३)

महर्षि गौतमका चरित्र अलौकिक है। इनके-ऐसा त्याग, वैराग्य और तप कहाँ देखनेको मिलेगा। इनके द्वारा रचित गौतम-स्मृति, वृद्ध-गौतम-स्मृति (वैष्णवधर्म शास्त्र) तथा गौतम-धर्मसूत्र आदि अनेकों श्रेष्ठ आध्यात्मिक शास्त्र हैं। इनके उपदेशोंमेंसे सारभूत उपदेश कुछ इस प्रकार हैं—

सर्वस्त्विन्द्रियलोभेन संकटान्यवगाहते॥
सर्वत्र सम्पदस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम्।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः॥
संतोषामृततृप्तानां यत् सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद् धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥
असंतोषः परं दुःखं संतोषः परमं सुखम्।
सुखार्थी पुरुषस्तस्मात् संतुष्टः सततं भवेत्॥

(पद्म० सृष्टि० १९। २५८-२६१)

'इन्द्रियोंके लोभग्रस्त होनेसे सभी मनुष्य संकटमें पड़ जाते हैं। जिसके चित्तमें संतोष है, उसके लिये

* वेद-पुराणोंमें गोतम और गौतम दो व्यक्ति हैं। शतपथ-ब्राह्मण १। ४। १। १०, शाङ्खायन आरण्यक ३। १, गोपथब्राह्मण १। ३। ११ बृहद्देवता २। ४६, २। १२९ आदिमें गोतम रहूगण ऋषि तथा भविष्यपुराण प्रतिसर्ग ४। २१ में कश्यपकुलोत्पन्न गौतमकी कथा है। महाभारतमें शरद्वान् गौतम (१। १२९। २), चिरकारी गौतम (१२। २६६। ४) आदि अनेक गौतमोंकी भी कथाएँ आयी हैं। इसके अतिरिक्त गौतम, आरुणि, गौतम अग्निवेश्य, गौतम हारिद्रुमत् गौतम और गौतम कौशेय आदि भी हुए हैं। बृहद्देवता १। ५९; ४। १२७, ४। १३३ आदिमें भी महर्षि गोतम और गौतमकी कथाएँ हैं।

सर्वत्र धन-सम्पत्ति भरी हुई है, जिसके पैर कपड़ेके जूतेमें हैं, उसके लिये सारी पृथ्वी मानो कपड़ेसे ढकी है। संतोषरूपी अमृतसे तृप्त एवं शान्त चित्तवाले पुरुषों-को जो सुख प्राप्त है, वह धनके लोभसे इधर-उधर दौड़नेवाले लोगोंको कहाँसे प्राप्त हो सकता है? असंतोष ही सबसे बढ़कर दुःख है और संतोष ही सबसे बड़ा सुख है, अतः सुख चाहनेवाले पुरुषको सदा संतुष्ट रहना चाहिये।'

(४)

महर्षि वाल्मीकि और सदाचार

(लेखक—श्रीहरिरामनाथजी)

'कौन हो तुम लोग?' रत्नाकरने पूछा। 'हम भी तो वही पूछ रहे हैं। तुम कौन हो?' यह सप्तर्षियोंने जवाब दिया। रत्नाकर सर्वथा अवाक् रह गये। फिर भी अपनी आन्तरिक भावनाओंको दबाते हुए रत्नाकरने गर्जना की और बोले—'साधुओ! भूलो मत! तुम्हें अपनी जान प्यारी हो तो जो कुछ भी तुम्हारे पास हो, उसे नीचे पटककर भागो।'

सप्तर्षियोंने उन्हें समझाते हुए कहा कि 'देखो बेटा! हमारे पास जो है, उसे तुम्हें देनेके ही लिये हम यहाँ आये हैं। यदि हमारे उपदेशके सामने तुम सिर न झुकाओगे तो तुम्हें नरकमें पड़ना होगा और अपने मानवत्वसे हाथ धोना पड़ेगा। तुम यह लूट-मार क्यों कर रहे हो? और तुम अपने पेट भरनेके लिये प्रत्येक दिन इतने प्राणियोंकी जो हिंसा कर रहे हो, क्या यह पाप नहीं है? इससे तुम कैसे सुखी बन सकते हो? यदि तुम कहो कि मैं इस दुनियामें सुख पा ही रहा हूँ, तो यह बुद्धिमत्ताकी बात नहीं है। ऐसा एक भी आदमी नहीं, जो पेट भरनेके लिये या अन्य प्रलोभनोंमें फँसकर पाप करके अपनेको सुखी समझता हो। विशेष बात यह है कि ऐसे प्राणीके द्वारा जितने प्राणियोंकी हिंसा होती है, वे सब प्राणी मिलकर उसे नरकमें पीड़ा पहुँचाते हैं। कहो तो सही कि तुम्हें इसकी चिन्ता नहीं है?'

'महात्माओ! मैं स्वर्ग-नरक कुछ भी नहीं जानता। यदि ऐसा न करूँ तो जीऊँ कैसे? मेरा व्यापार-व्यासङ्ग भी कुछ नहीं। मैं अकेले पेट नहीं, घरमें पत्नी है और लड़के-लड़कियाँ हैं। यदि इन लोगोंके लिये आहारका प्रबन्ध न करूँ तो वह भी पाप ही है? अतः मैं जो कर सकता, वह कर रहा हूँ।'

'बेटा! गृहस्थ मनुष्योंको तो अपने भार्या-पुत्रोंके लिये उचित व्यवस्था करनी ही चाहिये, अन्यथा पाप लगता है, यह बात सत्य है! परंतु बुरी प्रक्रियासे उनके पेट भरनेकी विधि कहीं भी नहीं बतायी गयी। भूखे मरना पड़े तो भी सदाचारको नहीं छोड़ना चाहिये। जिस हालतमें जिस मनुष्यको जिस तरह जिस धर्मका पालन करना चाहिये, हमें पहले इसकी शिक्षा लेनी चाहिये। हम कहते हैं कि पेट भरनेके लिये हम किसीकी धर्मबद्ध सेवा कर सकते हैं। यदि भाव धर्मकी ओर हो तो वह भगवान्की ही सेवा होगी, इसमें बिल्कुल पाप न लगेगा। इसके प्रतिकूल यदि बुरे काम करोगे तो उसका बुरा फल केवल तुम्हींको प्राप्त होगा।'

'ऐसा नहीं होना चाहिये महाराज! एक पेटके लिये तो मैं इतना नहीं कर सकता था। मेरे दस पेट हैं और निःसीम कामनाएँ हैं। इन सबके मारे मैं मार-लूट कर रहा हूँ। यदि ये न होते और मैं केवल अकेला होता तो किसी तरह बुरे कर्मोंसे बच सकता। लेकिन इन सबके कारण इतने गहरे दुःखमें आ फँसा हूँ। इसलिये अब जो कुछ पाप-पुण्य सुख-दुःख मिला है, उसके लिये मेरे वे सब घरके लोग भी हिस्सेदार हैं। इसी भावनाने मुझे आगे बढ़ाकर, इन हाथोंसे

उनके पेट भरा दिये हैं। इसमें मेरा कसूर ही क्या है? बताइये!

'अरे मन्द! ये सब घरके लोग, जो कहनेको तुम्हारे हैं, वे तुम्हारे पापमें कभी भाग न लेंगे। ये सब पूर्वजन्मके कर्मोंके वशीभूत होकर तुम्हारे कर्मोंके कारण तुम्हारे धन लेनेके लिये आ गये हैं। जिन्हें तुम अपने सुख-दुःखोंके हिस्सेदार समझ रहे हो। यदि इसके बारेमें तुम्हें संशय हो तो जाओ और भार्या-पुत्रोंसे पूछ आओ, तभी तुम्हें ज्ञात होगा।'

रत्नाकरकी समझमें भी यह प्रश्न निराला था। घर पहुँचते-ही-पहुँचते उसने आवाज लगायी—'अरे प्यारे लड़को! ओ पत्नि!! जरा जवाब दो। यह जीवनकी जटिल समस्या है। जैसे तुम लोग मेरे सुखोंसे हिस्से ले रहे हो वैसे ही यदि पाप भोगनेका अवसर, नरक या दुःख आ जायँ तो उनमेंसे हिस्से लोगे या नहीं?'

सब लोगोंने जोरसे कहा—'तुम्हारे पापोंके हिस्सेदार हम नहीं होंगे! नहीं होंगे!! नहीं होंगे!!!'

रत्नाकर तो ठीकसे सुन भी न पाया, उसके हृदयमें वेदना-की अन्तर्लहरें उठीं। हाय! इतने कृतघ्नोंको, मित्र दीखनेवाले शत्रुओंको इतने दिनोंतक मैंने अपना समझ रक्खा, धिक्कार है मेरे जीवनको! इन तन, धन एवं जीवनोंको जिनमें लगाना चाहिये था, उनमें नहीं लगा सका। कोई बात नहीं। अब वही होगा। झट उन्हें कर्तव्यताकी झलक हुई। झरीकी तरह वह उठी, उनकी अन्तरात्मा वहाँ जाकर रुकी, जहाँ सप्तर्षियोंका पादरूपी किनारा था। जो सच्चे मुमुक्षु हैं, उनके लिये कहाँ संसार-बन्धन?

वृत्यर्थं नातिचेष्टेत सा हि धात्रैव निर्मिता।
गर्भादुत्पतिते जन्तौ मातुः प्रस्रवितः स्तनौ॥

(हितोपदेश १। १८२)

'हे अज्ञमानव! पेट भरनेके लिये किसी व्यवसायार्थ ज्यादा कोशिश मत करो। क्योंकि वह विधाताद्वारा पहले ही बना दिया गया है। देखो, केवल मनुष्योंमें ही नहीं, पशुओंमें भी नवजात शिशुओंके लिये स्तनोंसे अखण्ड क्षीरधारा निकल रही है। बताओ कि उसका प्रबन्धकर्ता कौन है?'

'रत्नाकरके उद्धारके लिये क्या करना चाहिये?' सप्तर्षि सोचने लगे। इसके उद्धारका सर्वोत्कृष्ट मार्ग यही होगा कि यह सदाचारोंको अपनाये। कर्म किये बिना बन्धन नहीं छूटता और मालिन्य नहीं मिटता। बात यह है कि मनुष्यसे कर्म किये बिना एक क्षण भी चुपचाप नहीं बैठा जाता। मनुष्यका स्वभाव है कि वह कर्मोंमें ही लगा रहता है। जबतक मन एवं इन्द्रियोंका लगाव या झुकाव प्रकृतिकी ओर है तबतक वह प्राकृत कर्म करता रहता है, जिनसे बारंबार प्रकृतिमें आना पड़ता है। प्राकृत बुद्धिके लिये प्राकृत कर्म ही चाहिये और मनुष्यकी उन्नतिके लिये उन्हींमें थोड़ी-थोड़ी अप्राकृतकी स्फूर्ति चाहिये। इसलिये वेदोंने नाना प्रकारके धर्मोंके आचरणकी विधि बतायी है, महापुरुष कुछ धर्मोंका उद्घाटन करते हैं और वंशपरम्परागत कुछ धर्म चले आते हैं, जो सब-के-सब अनुकरणीय हैं। उन्हींके नाम सदाचार हैं।'

रत्नाकरके हृदयमें अब असह्य वेदना थी। उस वेदनाके लिये ऐसे सदाचार या धर्मकी आवश्यकता थी, जिसकी मुहर मनपर तुरंत लग जाय। एक बात और यह कि रत्नाकर अब कर्मोंके पीछे पड़ने लायक नहीं थे, उतनी चरम सीमातक उनके दुराचारोंकी पहुँच हुई। यदि वे धर्म-कर्मोंको आचरणमें उतारें तो भी वे उनको उतना शीघ्र कृतकृत्य नहीं बना सकते। इसीसे जो धर्म-कर्मोंमें लगकर सिद्ध

हुए हैं, वे ही सप्तर्षि मण्डली स्वेच्छासे उनके यहाँ पधारे। सबका जीवन रत्नाकरकी ही तरह परिवर्तित हो और सब लोगोंको सप्तर्षियोंके-जैसे आचार्य मिलें, जिनके सदाचारोंके द्वारा इन दुराचारियोंका देखते-ही-देखते उद्धार हो जाता है। वास्तवमें असली सदाचार वे ही हैं, जो दुराचारियोंको तुरंत सत्पुरुष बना दिखाये और सभी संकटपूर्ण परिस्थितियोंमें भी करनेमें आसान प्रतीत हो। हमारे वेद-शास्त्र ऐसे नहीं हैं, जो कठिन बातको बताकर हमें उसे करने न दें और नरकमें पटक दें।

सदाचारकी अनुभवपूर्ण सर्वोत्तम परिभाषा ईश्वर-प्रेम है; क्योंकि जो ईश्वरसे मिला दे, वही सर्वोत्तम सदाचार है, उसके मिलनेपर जो रसधाराका प्राकट्य होता है, वही प्रेमका विलक्षण दिव्यानुभव बन जाता है। तब प्रेम और प्रेमी दो नहीं रहते। बस एक प्रेम ही बच रहता है। प्रेम ही अन्तःकरण और बहिष्करण—सबके रूपमें दर्शन देगा।

जबतक अधर्म नहीं मिटेगा, तबतक धर्मकी बहुत आवश्यकता है। जबतक असत्य नहीं छूटेगा, तबतक सत्यकी बहुत आवश्यकता है। जबतक दुराचार नहीं मिटेंगे, तबतक सदाचारोंकी बहुत आवश्यकता है। यदि सदाचारोंके स्तम्भ नहीं हों, तो मानव किस सहारे ऊपर उठेगा ? अवश्य नीचे गिर ही जायगा। सदाचार ही प्रेमको जन्म देनेवाला है। इसी प्रेममें प्रेमी भगवान्-जैसे दिव्य-तत्त्वको प्राप्त करता है। इसीलिये प्रेमीमें वही फल शीघ्र ही पूर्णरूपसे और कुछ भी प्रयासके बिना तत्काल जबर्दस्तीसे आ जाता है, जो फल सदाचारोंके द्वारा मिल जाता है। इनमें प्रेमभावप्रधान है तो सदाचार क्रियाप्रधान हैं। आवश्यकता दोनोंकी ही है, पर मात्रामें अन्तर है।

ऋषियोंने सोचा—'सदाचारोंके द्वारा दुर्भावनाओंके बीज नहीं मर जाते। केवल बाह्यस्वरूप ही नष्ट होते हैं। इसलिये दुर्भावनाएँ फिरसे अवश्य पैदा होंगी। यदि पापी अपने पापका प्रायश्चित्त कर ले तो उसे नरकका दुःख नहीं भोगना पड़ता। लेकिन फिरसे पापकी भावना पैदा हो सकती है। इसका मूल भी मिटे इसके लिये भक्तिकी नितान्त आवश्यकता है। संसार-बन्धन व्याधिकी तरह चुभनेवाला है। सदाचार उस दुःखसे हमें केवल मुक्त करते हैं। जैसे व्याधि आ गयी, दवाइयाँ ली गयीं और रोग या दुःख मिट गया। लेकिन ठीकसे आहार-विहारका यदि कुछ कालतक प्रबन्ध न किया जाय तो व्याधि फिरसे सिर उठायेगी। यह तो अवाञ्छनीय है। यदि दुःख न मिलना हो और आनन्द या रस ही चाहिये तो रस-स्वरूप भगवान्‌की शरणमें जाना चाहिये और रसमयी भक्तिको पकड़ लेना चाहिये।

इस भक्तिके पाँच अवयव हैं, वे ये हैं—उन प्रभुके १—नाम, २—रूप, ३—गुण, ४—लीला और ५—धाम। उनमें भी भगवान् और नाममें कुछ भी अन्तर नहीं। बल्कि नामसे नामी शीघ्र ही हमारी पकड़में आते हैं। उसमें भी समयके अनुसार विशेष फल है—

कृते यद्दशभिर्वर्षैः त्रेतायां हायनेन यत्।
द्वापरे यच्च मासेन अहोरात्रेण तत्कलौ॥

(स्कन्दपुराण)

'नाम-संकीर्तन अथवा स्मरणका कृतयुगमें दस वर्षोंसे त्रेतायुगमें छः महीनोंसे और द्वापरमें एक माससे जो फल मिलता है, वही कलियुगमें एक दिन और एक रातसे हमें प्राप्त हो जाता है।' क्रमशः पहलेसे नाम, रूप, गुण, लीला और धामोंपर विश्वास जमाकर, उसे आचरणमें व्यक्त करनेका सदाचार ही हमारे लिये बिल्कुल अभीसे जीवनभर जीवन बनानेके योग्य है।'

अब सब कुछ सोच-समझकर सप्तर्षियोंने गर्जना की कि रत्नाकर! उठो!! पैर छोड़ो!!! वे रत्नाकरके हृदयमें

उलटे हुए रामनामामृतको सदाके लिये डालकर, अपनी राह पकड़े चलते बने।

रत्नाकरने मानो रामनामके प्रभावको सिद्ध करनेके ही लिये इतने पाप किये थे। वास्तवमें वे पाप भी न थे। भगवान्‌की इच्छासे बनी हुई पावन लीलाएँ थीं। तभी तो हम आजतक उन्हें पढ़ रहे हैं। रत्नाकर बड़े चावसे रामनामामृतको चाटने लगे। फलतः उनका पुराना जीवन समाप्त हो गया और पाञ्चभौतिक शरीर बिल्कुल नष्ट हो गया। नामामृतके नये शरीरसे वे वल्मीकसे लोगोंके सम्मुख प्रकट हुए। तबसे उनका नाम हुआ महर्षि वाल्मीकि!

(५)

भगवान् वेदव्यास

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति॥
(श्रीमद्भा० १।२।६)

'इन्द्रियातीत परम पुरुष भगवान्‌में वह निष्काम एवं निर्बाध भक्ति हो, जिसके द्वारा वे आत्मस्वरूप सर्वेश्वर प्रसन्न होते हैं—यही पुरुषका परम धर्म है।'

कलियुगमें अल्प सत्त्व, थोड़ी आयु तथा बहुत क्षीण बुद्धिके लोग होंगे। वे सम्पूर्ण वेदोंको स्मरण नहीं रख सकेंगे। वैदिक अनुष्ठानों एवं यज्ञोंके द्वारा आत्म-कल्याण-कर लेना कलियुगमें असम्भवप्राय हो जायगा—यह बात सर्वज्ञ दयामय भगवान्‌से छिपी न थी। जीवोंके कल्याणके लिये ये द्वापरके अन्तमें महर्षि वसिष्ठके प्रपौत्र, शक्तिऋषिके पौत्र और श्रीपराशरमुनिके अंशसे सत्यवतीमें प्रकट हुए। व्यासजीका जन्म द्वीपमें हुआ, इससे उनका नाम द्वैपायन हुआ, उनके शरीरका वर्ण श्याम है, अतः वे कृष्णद्वैपायन हैं और वेदोंका विभाग करनेसे वेदव्यास भी कहे जाते हैं। महर्षि कृष्णद्वैपायनके रूपमें भगवान्‌का यह अवतार कलियुगके प्राणियोंको शास्त्रीय ज्ञान सुलभ करानेके लिये हुआ था।

भगवान् व्यास प्रकट होते ही माताकी आज्ञा लेकर तप करने चले गये। उन्होंने हिमालयकी गोदमें भगवान् नर-नारायणकी तपोभूमि बदरीवनके शम्याप्रासमें अपना आश्रम बनाया। यज्ञकी संपूर्तिके लिये उन्होंने वेदोंको चार भागोंमें विभक्त किया। अध्वर्यु, होता, उद्गाता एवं ब्रह्मा—यज्ञके इन चार ऋत्विक्-कर्म करानेवालोंके लिये उनके उपयोगमें आनेवाले मन्त्रोंका पृथक्-पृथक् वर्गीकरण कर दिया। इस प्रकार वेद चार भागोंमें विभक्त हो गया।

भगवान् व्यासने देखा कि वेदोंके पठन-पाठनका अधिकार तो केवल कुछ ही श्रेष्ठ लोगोंतक—द्विजातिके पुरुषोंको ही है। किंतु स्त्रियों तथा अन्य लोगोंका भी उद्धार होना चाहिये—उन्हें भी धर्मका ज्ञान होना चाहिये। इसलिये उन्होंने महाभारतकी रचना की। व्यासजीने वेदोंके सारभूत इतिहासके नाना आख्यानोंद्वारा धर्मके सभी अङ्गोंका इसमें बड़े सरल ढंगसे वर्णन किया है। सदाचारका तो वह मानो विश्वकोश ही है। अनुशासन और शान्तिपर्वमें सदाचारका विशिष्ट विवेचन किया गया है।

भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासजीकी महिमा अगाध है। सारे संसारका ज्ञान उन्हींके ज्ञानसे प्रकाशित है। सब व्यासदेवकी जूँठन है। वेदव्यासजी ज्ञानके असीम और अनन्त समुद्र हैं, भक्तिके परम आदरणीय आचार्य हैं। विद्वत्ताकी पराकाष्ठा हैं, कवित्वकी सीमा हैं। संसारके समस्त पदार्थ मानो व्यासजीकी कल्पनाके ही मूर्तरूप हैं। जो कुछ तीनों लोकोंमें देखने-सुननेको और समझनेको मिलता है, वह सब व्यासजीके हृदयमें था। इससे परे जो कुछ है, वह भी व्यासजीके अन्तस्तलमें था। व्यासजीके हृदय और वाणीका विकास ही समस्त

जगत्का और उसके ज्ञानका प्रकाश और अवलम्बन है। व्यासजीके सदृश महापुरुष जगत्के उपलब्ध इतिहासमें दूसरा नहीं मिलता। जगत्की संस्कृतिने अबतक भगवान् व्यासके समान पुरुष उत्पन्न ही नहीं किया। व्यास व्यास ही हैं।

व्यासजी सम्पूर्ण संसारके परम गुरु हैं। प्राणियोंको परमार्थका मार्ग दिखानेके लिये ही उनका अवतार है। उन सर्वज्ञ करुणासागरने ब्रह्मसूत्रका निर्माण करके तत्त्वज्ञानको व्यवस्थित किया। जितने भी आस्तिक सम्प्रदाय हैं, वे ब्रह्मसूत्रको प्रमाण मानकर उसके व्याख्यानोंपर ही आधृत हैं। परंतु तत्त्वज्ञानके अधिकारी संसारमें थोड़े ही होते हैं। सामान्य समाज तो भाव-प्रधान होता है और सच तो यह है कि तत्त्वज्ञान भी हृदयमें तभी स्थिर होता है, जब उपासनाके द्वारा हृदय शुद्ध हो जाय। किंतु उपासना अधिकारके अनुसार होती है। अपनी रुचिके अनुसार ही आराधनामें प्रवृत्ति होती है। भगवान् व्यासने अनादिपुराणोंकी आराधनाकी पुष्टिके लिये पुनः रचना की। एक ही तत्त्वकी जो चिन्मय अनन्त लीलाएँ हैं, उन्हें इस प्रकार पुराणोंमें संकलित किया गया, जिससे सभी लोग अपनी रुचि तथा अधिकारके अनुकूल साधन प्राप्त कर सकें। तात्त्विक लीलाओंको सँवारनेकी उनकी पौराणिक कला अद्वितीय है।

वेदोंका विभाजन एवं महाभारतका निर्माण करके भी भगवान् व्यासका चित्त प्रसन्न नहीं हुआ था। वे सरस्वतीके तटपर खिन्न बैठे थे। उन्हें स्पष्ट भान हो रहा था कि उनका कार्य अभी अधूरा ही है। प्राणियोंकी प्रवृत्ति कलियुगमें न तो वैदिक कर्म तथा यज्ञादिमें रहेगी और न वे धर्मका ही सम्यक् आचरण करेंगे। किंतु उन्हें सदाचारका प्रचार अभीष्ट था। धर्माचरणका परम फल मोक्ष कलियुगी प्राणियोंको सुगमतासे प्राप्त हो, ऐसा कुछ हुआ नहीं था। व्यासजी अनन्त करुणा-सागर हैं। जीवोंकी कल्याण-कामनासे ही वे अत्यन्त चिन्तित थे। उसी समय देवर्षि नारदजी वहाँ पधारे। देवर्षिने चिन्ताका कारण पूछा और फिर श्रीमद्भागवतका उपदेश किया। देवर्षिके चले जानेपर भगवान् व्यासने श्रीमद्भागवतको अठारह सहस्र श्लोकोंमें अभिव्यञ्जित किया।

जीवका परम कल्याण भगवान्के श्रीचरणोंमें चित्तको लगा देनेमें ही है। सभी धर्मोंका यही परम फल है कि उनके सदाचरणसे भगवान्के गुण, नाम, लीलाके प्रति हृदयमें अनुरक्ति हो। व्यासजीने समस्त प्राणियोंके कल्याणके लिये पुराणोंमें भगवान्की विभिन्न लीलाओंका अधिकारभेदके समस्त दृष्टिकोणोंसे वर्णन किया। भगवान् व्यास अमर हैं, नित्य हैं। वे उपासनाके सभी मार्गोंके आचार्य हैं और अपने संकल्पसे वे सभी परमार्थके साधकोंकी निष्ठाका पोषण करते रहते हैं। जगत्के प्राणियोंके कल्याणहेतु सदाचरण-सम्बन्धी उनके कुछ उपदेश इस प्रकार हैं—

सत्य

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

(स्क० पु० ब्रा० ध० मा० ६। ८८)

'सत्य बोले, प्रिय बोले, अप्रिय सत्य कभी न बोले, प्रिय भी असत्य हो तो न बोले। यह धर्म वेद-शास्त्रों-द्वारा विहित है।'

पाप-वर्जन

अनृतात् परदाराच्च तथाभक्ष्यस्य भक्षणात्।
अगोत्रधर्माचरणात् क्षिप्रं नश्यति वै कुलम्॥

(पद्म० स्वर्ग० ५५। १८)

'असत्य-भाषण, परस्त्री-सङ्ग, अभक्ष्यभक्षण तथा अपने कुलधर्मके विरुद्ध आचरण करनेसे कुलका शीघ्र ही नाश हो जाता है।'

किसीकी निन्दा न करे, मिथ्या कलङ्क न लगाये

न चात्मानं प्रशंसेद् वा परनिन्दां तु वर्जयेत्।
वेदनिन्दां देवनिन्दां प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥

(पद्म० स्वर्ग० ५५। ३५)

'अपनी प्रशंसा न करे तथा दूसरेकी निन्दाका त्याग कर दे। वेदनिन्दा और देवनिन्दाका यत्नपूर्वक त्याग करे।' यह सदाचारीके लिये आवश्यक कर्तव्य है।

माता-पिताकी सेवा

पित्रोरर्चाथ पत्युश्च साम्यं सर्वजनेषु च।
मित्राद्रोहो विष्णुभक्तिरेते पञ्च महामखाः॥
प्राक् पित्रोरर्चया विप्रा यद्धर्मं साधयेन्नरः।
न तत्क्रतुशतैरेव तीर्थयात्रादिभिर्भुवि॥
पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः।
पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः॥
पितरो यस्य तृप्यन्ति सेवया च गुणेन च।
तस्य भागीरथीस्नानमहन्यहनि वर्तते॥
सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता।
मातरं पितरं तस्मात् सर्वयत्नेन पूजयेत्॥

(पद्म० सृष्टि० ४७। ७-११)

'माता-पिताकी पूजा, पतिकी सेवा, सबके प्रति समान भाव, मित्रोंसे द्रोह न करना और भगवान् श्रीविष्णुका भजन करना—ये पाँच महायज्ञ हैं। ब्राह्मणो! पहले माता-पिताकी पूजा करके मनुष्य जिस धर्मका साधन करता है, वह इस पृथ्वीपर सैकड़ों यज्ञों तथा तीर्थयात्रा आदिके द्वारा भी दुर्लभ है। पिता धर्म है, पिता स्वर्ग है और पिता ही सर्वोत्कृष्ट तपस्या है। पिताके प्रसन्न हो जानेपर सम्पूर्ण देवता प्रसन्न हो जाते हैं। जिसकी सेवा और सद्गुणोंसे पिता-माता संतुष्ट रहते हैं, उस पुत्रको प्रतिदिन गङ्गास्नानका फल मिलता है। माता सर्वतीर्थमयी है और पिता सम्पूर्ण देवताओंका स्वरूप है, इसलिये सब प्रकारसे यत्नपूर्वक माता-पिताका पूजन करना चाहिये।' माता-पिताकी सेवा सदाचारीकी दिनचर्या होती है।

(६)

महात्मा विदुर और उनका सदाचारोपदेश

(लेखक—स्वामी श्रीहीरानन्दजी)

भागीरथीके पावन तटपर हस्तिनापुर महाराज धृतराष्ट्रकी राजधानी थी। उसीके सामने गङ्गाके दूसरे तटपर विदुर-कुटी है, जहाँपर महात्मा विदुर अपना साधनामय जीवन बिताते हुए निवास करते थे। महात्मा विदुर हस्तिनापुरके विशाल राज्यके महामन्त्री थे। राज्य-कार्य करते हुए भी वे—'**पद्मपत्रमिवाम्भसा**' की उक्तिको चरितार्थ करते थे। महात्मा विदुर वीतराग पुरुष थे। उनके जीवनमें स्वार्थकी गन्ध भी न थी। वे निर्भीक, निष्पक्ष, न्यायप्रिय, संत पुरुष थे। उनके ये गुण महात्माकी महत्ताके सत्यस्वरूप थे। ऐसे ही वीतराग, सत्यव्रती, स्पष्टवक्ता महापुरुष मन्त्री और उपदेशक होनेके अधिकारी हैं। राज्याश्रित होकर राजाके सम्मुख निःशङ्कभावसे उनके दोष-गुणोंका वर्णन करना विदुरजीकी नीति-प्रौढ़ताका परिचायक है, जिनमें स्वार्थ और भयकी गन्धतक भी न थी। वे सदा कर्तव्यकी परिधिसे परिवेष्टित रहे। उनकी नीतिके तत्त्वोंमें व्यक्तिके प्रारम्भिक जीवनसे अन्तिम अवस्थातकका व्यावहारिक कर्तव्य-ज्ञान निरूपण किया गया है।

महाराजा धृतराष्ट्रको महात्मा विदुरने बड़ी निर्भीकता-से उपदेश करते हुए कहा था कि मधुर-मधुर ठकुर-सुहाती कहनेवालोंकी संसारमें कमी नहीं है, किंतु हित-भावनाओंसे ओत-प्रोत कटु सत्यके कहनेवाले और शान्तिपूर्वक सुनकर मनन करनेवाले पुरुष संसारमें विरलतासे मिलते हैं। दुर्योधनके जन्मके समय महात्मा विदुरने अपशकुनोंको लक्ष्यकर धृतराष्ट्रसे कहा था कि आप इस पुत्रका त्याग कर दें, इसीमें आपकी भलाई है; अन्यथा आपका यह राज्य नष्ट हो जायगा। नीति भी यही कहती है कि सम्पूर्ण कुलके लिये एक व्यक्तिको त्याग दे, ग्राम-हितके लिये कुलका त्याग कर दे, देशहितके लिये

ग्रामका परित्याग कर दे और आत्मकल्याणके लिये सारे भूमण्डलको त्याग दे, किंतु पुत्रमोहके कारण धृतराष्ट्रने उनकी सलाह नहीं मानी।

महात्मा विदुरने जब जूआ खेलनेकी बात सुनी तो उन्होंने धृतराष्ट्रको स्पष्टरूपमें भली प्रकार समझा दिया और कहा कि मैं इस कार्यका घोर विरोध करता हूँ। इससे समस्त कुलके विनाशका भय है। युधिष्ठिरके पूछनेपर भी विदुरजीने स्पष्ट ही कह दिया था कि जूआ अनर्थकी जड़ है। उन्होंने उसे रोकनेका प्रयत्न भी किया। पर वह तो होनी थी और होकर रही!

जब शकुनिके द्वारा युधिष्ठिरके प्रत्येक दाँवपर हार होती रही तो धृतराष्ट्रको विदुरजीने कठोर शब्दोंमें चेतावनी दी कि जैसे मरणासन्न रोगीको ओषधि भली नहीं लगती, उसी प्रकार उनकी शास्त्र-सम्मत बात उन्हें कटु लगती है। अनेक उदाहरण देते हुए उन्होंने फिर उसी नीतिको दुहराया जिसे कि दुर्योधनके जन्मपर कहा था। विदुरजीसे रुष्ट होकर दुर्योधनने उन्हें कठोर बातें कहीं; किंतु विदुरजीने उसे चेतावनी देते हुए बतलाया कि जो धर्ममें तत्पर रहकर स्वामीके प्रिय-अप्रिय वचनोंका विचार छोड़कर हितकर वचन बोलता है, वही राजाका सच्चा सहायक है।

जब युधिष्ठिर स्वयं अपनेको हारनेके बाद द्रौपदीको दाँवपर लगाकर उसे भी हार गये, तब दुर्योधनको फटकारते हुए महात्मा विदुरने कहा कि देवी द्रौपदी नहीं हारी गयी है। इसलिये दुर्योधनद्वारा दासी सम्बोधित नहीं की जा सकती; क्योंकि जब युधिष्ठिर पहले अपनेको हार चुके हैं, तब वे द्रौपदीको दाँवपर कैसे लगा सकते हैं? अपनेको हारकर वे द्रौपदीका अधिकार खो चुके हैं।

जब द्रौपदी दुःशासनद्वारा केश पकड़कर घसीटी जाती हुई सभामें लायी गयी और उसका कोई भी सहायक नहीं हुआ, तब द्रौपदीने भी वही प्रश्न सभासदोंके सामने रखा, जो विदुरजीने पहले ही कह दिया था। इसका उत्तर जब किसीने न दिया, तब विदुरजीने सभासदोंको सचाईके साथ निर्णय देनेको ललकारा और चेतावनी दी कि जो धर्मज्ञ पुरुष सभामें आकर वहाँ उपस्थित हुए प्रश्नका उत्तर नहीं देता, वह झूठ बोलनेके आधे फलका भागी होता है। उन्होंने दैत्यराज प्रह्लाद तथा विरोचनकी कथा कहकर सत्य निर्णयके लिये उन्हें उत्तेजित किया। जब कौरवोंने भगवान् श्रीकृष्णको बंदी बनानेकी मन्त्रणा की, तब विदुरजीने धृतराष्ट्रको भगवान् कृष्णके महत्त्व तथा वैभवके विषयमें समझाया और सचेत करते हुए कहा कि श्रीकृष्णका तिरस्कार करनेपर कौरवगण उसी प्रकार नष्ट हो जाँयगे, जैसे आगमें गिरनेवाले पतंग। किंतु कौरवोंने विदुरजीकी बात नहीं मानी। उन लोगोंने श्रीकृष्णको बंदी बनानेका प्रयास किया। पर श्रीकृष्णने जब अपना वैभव दर्शाया तो सभी सभासद स्तब्ध रह गये।

भगवान् श्रीकृष्णके हस्तिनापुरसे वापस जानेके पश्चात् विदुरजीने कौरव-सभामें दुर्योधन आदिको बहुत प्रकारसे समझाया, तब उनकी बात सुनते ही कर्ण, दुःशासन, शकुनि तथा दुर्योधनने इनके प्रति बहुत-से अपशब्द कहे और इनको नगरसे बाहर निकल जानेका आदेश दिया। महात्मा विदुर धनुर्धारी भी थे। कौरव-पक्षकी ओरसे जब अपनी प्रतिभाका अपमान होते देखा तो धनुषको राजद्वारपर रखकर वनकी ओर चले गये। यह भी उनका उपदेश ही हुआ। अपमानके स्थानपर रहना या जाना भी उचित नहीं होता।

भगवान् श्रीकृष्णने हस्तिनापुरसे लौटनेपर युधिष्ठिरको वे सब बातें बतायीं, जो विदुरजीने कौरव-सभामें भीष्म-

पितामहको सम्बोधित करते हुए दुर्योधनके दुराचरणके विषयमें कही थीं। इस प्रकारसे भगवान्‌ने स्वयं विदुरजीकी निर्भीकता तथा दुराचार-विरोधका परिचय दिया था। भगवान् श्रीकृष्ण महात्मा विदुरके सदाचार-युक्त जीवनसे अति प्रभावित थे; तभी तो दुर्योधनके राजसी भोजन और सत्कारको त्यागकर विदुरजीकी कुटियापर जा केलेके छिलकोंको प्रेमपूर्वक विविध प्रकारसे सराहना करते हुए ग्रहण किया था। महाभारत-युद्धमें कौरव-कुलके संहारका प्रमुख कारण महात्मा विदुरका अनादर एवं उनके वचनोंकी अवज्ञा ही है।

अबसे लगभग ५२०० वर्ष पूर्व महात्मा विदुरने मानव-मात्रको सदाचारका संदेश दिया था—**'न तत् परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः'** जो कार्य अपने लिये बुरा जान पड़े, वह दूसरोंके लिये कभी न करो। अबतक अनेकों संतों, महात्माओं, राजनेताओं तथा मनीषियोंने अपने-अपने शब्दोंमें अनेक प्रकारसे इसकी पुनरावृत्ति की है। यह सिद्धान्त आज भी मानवमात्रके लिये शाश्वत धर्म बना हुआ है।

(७)

परमज्ञानी श्रीशुकदेवजीकी सत्सङ्गनिष्ठा

शुकदेवजी महर्षि वेदव्यासके पुत्र हैं। इनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी कथाएँ मिलती हैं। महर्षि वेदव्यासने यह संकल्प करके कि पृथ्वी, जल, वायु और आकाशकी भाँति धैर्यशाली तथा अग्निके समान तेजस्वी पुत्र प्राप्त हो, गौरी-शंकरकी विहारस्थली सुमेरु-गिरिके रमणीय शृङ्गपर घोर तपस्या की। उनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर शिवजीने वैसा ही पुत्र प्राप्त होनेका वर दिया। यद्यपि भगवान्‌के अवतार श्रीकृष्णद्वैपायनकी इच्छा और दृष्टिमात्रसे कई महापुरुषोंका जन्म हो सकता था और हुआ है तथापि अपने ज्ञान तथा सदाचारके धारण करने योग्य संतान उत्पन्न करनेके लिये और संसारमें किस प्रकारके संतानकी सृष्टि करनी चाहिये, यह बात बतानेके लिये ही उन्होंने तपस्या भी की होगी। शुकदेवकी महिमाका वर्णन करते समय इतना स्मरण हो जाना कि वे वेदव्यासके तपस्याजनित पुत्र हैं, उनके महत्त्वकी असीमता सामने ला देता है।

उन्होंने एक दिन अपने पिता व्यासदेवके पास आकर बड़ी नम्रताके साथ मोक्षके सम्बन्धमें बहुत-से प्रश्न किये। उत्तरमें व्यासदेवने बड़े ही वैराग्यपूर्ण उपदेश दिये। उन्होंने कहा—

'बेटा! धर्मका सेवन करो। यम-नियम तथा दैवी सम्पत्तियोंका आश्रय लो। यह शरीर पानीके बुलबुलेके समान है। आज है तो कल नहीं। क्या पता किस समय इसका नाश हो जाय। इसमें आसक्त होकर अपने कर्तव्यको नहीं भूलना चाहिये। दिन बीते जा रहे हैं। क्षण-क्षण आयु छीज रही है। एक-एक पलकी गिनती की जा रही है। इसे व्यर्थ बीतने नहीं देना चाहिये।

'संसारमें वे ही महात्मा सुखी हैं, जिन्होंने वैदिक-मार्गपर चलकर धर्मका सेवन करके परमतत्त्वकी उपलब्धि की है। उनकी सेवा करो और वास्तविक शान्ति प्राप्त करनेका उपाय जानकर उसपर आरुढ़ हो जाओ। दुष्टोंकी संगति कभी मत करो। वे पतनके गड्ढेमें ढकेल देते हैं। वीरता और धीरता धारणकर काम-क्रोधादि शत्रुओंसे बचो और धीरताके साथ आगे बढ़ो। तुम्हें कोई तुम्हारे मार्गसे विचलित नहीं कर सकता। परमात्मा तुम्हारा सहायक है। वह तुम्हारी शुभेच्छा और सचाईको जानता है। तुम तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिये मिथिलाके नरपति जनकके पास जाओ। वे तुम्हारे संदेहको दूर कर स्वरूपबोध करा देंगे। तुम जिज्ञासु हो, बड़ी नम्रताके साथ उनके पास जाना। परीक्षाका

भाव मत रखना । घमंड मत करना । उनकी आज्ञाका पालन करना ।'

पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करके शुकदेवजी महाराज अनेक प्रकारके कष्ट सहन करते हुए मिथिलामें पहुँचे । द्वारपालोंने उन्हें अंदर जानेसे रोक दिया । परंतु उनकी जाज्वल्यमान ज्योतिको देखकर और तिरस्कारकी दशामें भी पूर्ववत् प्रसन्न देखकर एकने उनके पास आकर बड़ी अभ्यर्थना की । वह उन्हें बड़े सत्कारसे अंदर ले गया । मन्त्रीने उन्हें एक ऐसे स्थानपर ठहराया, जहाँ भोगकी अनेक वस्तुएँ थीं । उनकी सेवामें बहुत-सी सुन्दर स्त्रियोंको लगा दिया गया । परंतु वे अविचल रहे । सुख-दु:ख, शीत-उष्णमें एक समान रहनेवाले शुकदेवजीको उन्हें देखकर कुछ भी हर्ष-शोक नहीं हुआ । ब्रह्मचिन्तनमें संलग्न रहकर उन्होंने वह दिन और रात्रि बिता दी । दूसरे दिन प्रात:काल जनकने उनकी विधिवत् पूजा-अर्चा की । कुशल-मङ्गलके पश्चात् शुकदेवजीने अपने आनेका प्रयोजन बतलाया और प्रश्न किया । जनकने उनके अधिकारकी प्रशंसा करके कहा—

'बिना ज्ञानके मोक्ष नहीं होता और बिना गुरु-सम्बन्धके ज्ञान नहीं होता । इस भवसागरसे पार करनेके लिये गुरु ही कर्णधार है । ज्ञानसे ही कृतकृत्यता प्राप्त होती है । ज्ञान सभी साधनोंका आधार और फल है । जिसे किसीका भय नहीं है, वह किसीको भय नहीं पहुँचाता, जिसे न राग है और न द्वेष, वही ब्रह्मसम्पन्न होता है । जब प्राणी (मानव) मन, वाणी और कर्मसे किसीका अनिष्ट नहीं करता, काम, क्रोध, ईर्ष्या, असूया आदि मनके मलोंको त्याग देता है, दु:ख-सुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, शीत-उष्ण, निन्दा-स्तुति आदि द्वन्द्वोंमें समान दृष्टि रखने लगता है, तब वह ब्रह्मसम्पन्न हो जाता है । शुकदेव ! ये सभी बातें तथा अन्यान्य समस्त सद्गुण तुममें प्रत्यक्ष दीख रहे हैं । मैं जानता हूँ कि तुम्हें समस्त ज्ञातव्य बातोंका ज्ञान है । तुम विषयोंके परे पहुँच चुके हो । तुम्हें विज्ञान प्राप्त है । तुम्हारी बुद्धि स्थिर है । तुम ब्रह्ममें स्थित हो, तुम स्वयं ब्रह्म हो और क्या कहूँ !' इस प्रकार जनकके उपदेश सुनकर शुकदेवको बड़ा आनन्द हुआ । उनसे विदा होकर वे पुन: हिमालयपर (मतान्तरसे सुमेरुगिरिपर) अपने पिता व्यासजीके आश्रमपर लौट आये ।

इन भागवतवक्ता, परमभागवत शुकदेवके पास प्राय: बड़े-बड़े ऋषि आया करते थे । नारदीयपुराणमें सनत्कुमार-के और महाभारतमें नारदके आनेकी चर्चा आयी है । उनके आनेपर शुकदेवजी बड़े प्रेमसे उनकी पूजा करते और उनसे प्रश्न करके तत्त्वकी बातें सुनते थे ।

शुकदेवजीके इस प्रकारके सत्संगप्रसंग बहुधा चलते ही रहते थे । श्रीव्याससनन्दनके मार्मिक उपदेश इस प्रकार हैं—

देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि ।
तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति ॥
तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ॥

(श्रीमद्भा० २ । १ । ४-५)

'संसारमें जिन्हें अपना अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्धी कहा जाता है, वे शरीर, पुत्र, स्त्री आदि कुछ नहीं हैं, असत् हैं, परंतु जीव उनके मोहमें ऐसा पागल-सा हो जाता है कि रात-दिन उनको मृत्युका ग्रास होते देखकर भी चेतता नहीं है । इसलिये परीक्षित् ! जो अभय पदको प्राप्त करना चाहता है, उसे तो सर्वात्मा, सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णकी ही लीलाओंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये ।'

सत्यां क्षितौ किं कशिपोः प्रयासै-
र्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम्।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्नपात्र्या
दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः ॥

चीराणि किं पथि न सन्ति दिशन्ति भिक्षां
नैवाङ्घ्रिपाः परभृतः सरितोऽप्यशुष्यन्।
रुद्धा गुहाः किमजितोऽवति नोपसन्नान्
कस्माद् भजन्ति कवयो धनदुर्मदान्धान्॥
एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्ध
आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः।
तं निर्वृतो नियतार्थो भजेत
संसारहेतूपरमश्च यत्र॥
(श्रीमद्भा० २।२।४—६)

'जब जमीनपर सोनेसे काम चल सकता है, तब पलंगके लिये प्रयत्नशील होनेका क्या प्रयोजन। जब भुजाएँ अपनेको भगवान्‌की कृपासे स्वयं ही मिली हुई हैं, तब तकियेकी क्या आवश्यकता। जब अञ्जलिसे काम चल सकता है, तब बहुत-से बर्तन क्यों बटोरें। वृक्षकी छाल पहनकर या वस्त्रहीन रहकर भी यदि जीवन धारण किया जा सकता है तो वस्त्रोंकी क्या आवश्यकता! पहननेको क्या रास्तोंमें चिथड़े नहीं हैं? भूख लगनेपर दूसरोंके लिये ही शरीर धारण करनेवाले वृक्ष क्या फल-फूलकी भिक्षा नहीं देते? जल चाहनेवालोंके लिये नदियाँ क्या बिल्कुल सूख गयी हैं? रहनेके लिये क्या पहाड़ोंकी गुफाएँ बंद कर दी गयी हैं? अरे भाई! सब न सही, क्या भगवान् भी अपने शरणागतोंकी रक्षा नहीं करते? ऐसी स्थितिमें बुद्धिमान् लोग भी धनके नशेमें चूर घमंडी धनियोंकी चापलूसी क्यों करते हैं? इस प्रकार उससे तो समुदाचारका उल्लङ्घन होता है। अतः विरक्त हो जानेपर अपने हृदयमें नित्य विराजमान, स्वतःसिद्ध, आत्मस्वरूप, परम प्रियतम, परम सत्य जो अनन्त भगवान् हैं, उन्हींका बड़े प्रेम और आनन्दसे दृढ़ निश्चय-पूर्वक भजन करे, क्योंकि उनके भजनसे जन्म-मृत्युके चक्करमें डालनेवाले अज्ञानका नाश हो जाता है। यही सदाचारका महान् फल है।'

(८)

महर्षि पतञ्जलि

महर्षि पतञ्जलि योगके आचार्य थे। वे महर्षि अङ्गिराके वंशज और संहिताकार महर्षि प्राचीनयोगके पुत्र थे। इन्होंने अपने पिताके गुरु कौथुमसे ही वेदाध्ययन किया था। उनकी एक संहिता भी थी, जो अब नहीं मिलती। मत्स्य, वायु, लिङ्ग एवं स्कन्दपुराणोंमें इनकी चर्चा तथा योगसूत्रोंकी व्याख्या मिलती है। उनके योगसूत्रोंपर अनेक टीकाएँ हैं।

सांसारिक जीवनसे उनका बहुत कम सम्बन्ध रहा होगा, ऐसा अनुमान होता है। यही कारण है कि उनके जीवनकी कोई विशेष घटना प्रसिद्ध नहीं है। परंतु केवल एकान्तमें रहनेके कारण ही वे विश्व-कल्याणके कामसे अलग रहे हों, ऐसी बात नहीं। उनके बनाये हुए ग्रन्थोंसे सारे संसारका जो हितसाधन हुआ है और हो रहा है, उसके लिये सभी उनके ऋणी हैं और आगे भी रहेंगे।

चरकसंहिताका* प्रणयन करके उन्होंने हमारे स्थूल शरीरके दोषोंका निवारण किया और उसमें सांख्योक्त प्रक्रियाका वर्णन करके हमें योगकी ओर आकर्षित किया। व्याकरणके सूत्रोंके विशद विवेचनके द्वारा हमें पद-पदार्थका ज्ञान कराकर उन्होंने हमारी वाणीको शुद्ध और परिमार्जित किया तथा योगके द्वारा सम्पूर्ण चित्त-मलोंको धोकर अपना स्वरूप पहचाननेके योग्य बनानेका साधन बतलाया। अन्तमें परमार्थसार† के द्वारा हमें अद्वैत तत्त्व-ज्ञानका उपदेश दिया, जो सम्पूर्ण जीवों और उनकी साधनाओंका लक्ष्य है। उनकी कृतज्ञतामें हम उनका स्तवन निम्नाङ्कित श्लोकसे करते हैं—

* शोधकर्ता विद्वानोंके अनुसार पतञ्जलि भी कई हुए हैं। (Catalogus Calalogrum) History of Indian Medicines आदिके अनुसार चरक-संहिताकारसे व्याकरण-भाष्यकार पतञ्जलि और योगसूत्रकर्ता भिन्न हैं।

† परमार्थसार ग्रन्थमें उसके रचयिताको आदिशेष कहा गया है। 'पतञ्जलि-चरित' आदिमें उन्हें शेषका अवतार कहा गया है। इस प्रकार इसकी संगति सम्भव है।

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां
मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां
पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि॥

(विज्ञान भिक्षुकृत योगवार्तिक १ । १)

आचार्य पतञ्जलिने निःश्रेयसकी सिद्धिकी जो साधना पुरस्कृत की, वह योगशास्त्रके रूपमें हमें उपलब्ध है। योगके विविध अङ्गोंमें 'यम' और 'नियम' सदाचारके मूलाधार हैं—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरीका अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रहका अभाव)—ये पाँच यम हैं। और—

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति—ये पाँच नियम हैं। इनमें अहिंसा सदाचारकी पहली सीढ़ी है। जिसकी प्रतिष्ठासे निर्वैरताकी सिद्धि मिलती है।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।

अहिंसाकी दृढ़ स्थिति हो जानेपर उस योगीके निकट सब प्राणी वैरका त्याग कर देते हैं। निर्वैरता सदाचारका प्रमाण प्रस्तुत करती है।

इसी प्रकार शौचाचार सदाचारका मूल है। बाह्य और आन्तर शौचसे परकी असंसक्ति और स्वाङ्गजुगुप्सा होती है; और जब तपके प्रभावसे अशुद्धिका नाश हो जाता है, तब शरीर और इन्द्रियोंकी सिद्धि हो जाती है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।

ऐसी स्थितिमें सदाचार नैसर्गिक हो जाता है और संतोष-लाभ हो जाता है। संतोष अमृत है; क्योंकि उससे अनुत्तम सुखका लाभ होता है। आचार्य पतञ्जलि कहते हैं—**'संतोषादनुत्तमसुखलाभः।'** अर्थात् संतोषसे ऐसे सर्वोत्तम सुखका लाभ होता है, जिससे उत्तम दूसरा कोई सुख नहीं है।*

शुभाचार

अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्ववावतारय।
प्रयत्नाच्चित्तमित्येष सर्वशास्त्रार्थसंग्रहः॥
यच्छ्रेयो यदतुच्छं च यदपायविवर्जितम्।
तत्तदाचर यत्नेन पुत्रेति गुरवः स्थिताः॥

(योगवासिष्ठ मु० प्र० ७ । १२–१३)

'अशुभ कर्मोंमें लगे हुए मनको वहाँसे (अशुभकर्मसे) हटाकर प्रयत्नपूर्वक शुभ कर्मोंमें लगाना चाहिये, यही सब शास्त्रोंके सारका संग्रह है। जो वस्तु कल्याणकारी है, जो तुच्छ नहीं है (वही सबसे श्रेष्ठ है) तथा जिसका कभी नाश नहीं होता, उसीका यत्न-पूर्वक आचरण करना चाहिये—यही 'गुरुजनोंद्वारा उपदिष्ट सदाचार है।'

* योगसूत्रोंको समझनेके लिये योगभाष्य, योगवार्तिक एवं उसकी २० अन्य प्रमुख टीकाओंकी दृष्टि भी अवश्य समझनी चाहिये। उसके अनुसार योगका प्रथम पाद उत्कृष्ट समाहित चित्तके साधकोंके लिये तथा साधनपाद व्युत्थितचित्तवाले सामान्य साधकोंके लिये है—'उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः। कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते। (पात० सू० २ । १ की योगभाष्यभूमिका) योगका यहाँ वास्तविक अर्थ असम्प्रज्ञातयोग या निर्बीज समाधि है, युज्—समाधौ (दिवादि ४ । ६९) समाधिश्चित्तनिरोधः (माध० धातुवृ०) और योगीके लिये वही मुख्य साध्य वस्तु है। सिद्धावस्थामें ये यमादि बहिरङ्गसाधन साधकका प्रकृत्या अनुसरण करते हैं।

सदाचार—अतुल महिमान्वित

(लेखक—श्रीअश्विनीकुमारजी श्रीवास्तव 'अनल')

भगवान् वेदव्यासप्रणीत श्रीमन्महाभारतकी 'विदुर-नीति'*में सदाचारका अनुपम महत्त्व बतलाते हुए विदुरजी कहते हैं—

न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं
नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं
स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः॥
(२ । ३९)

'जो अपने सुखमें प्रसन्न नहीं होता, दूसरेके दुःखमें हर्ष नहीं मानता और दान देकर पश्चात्ताप नहीं करता वह सज्जनोंमें सदाचारी कहलाता है ।'

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः।
अन्त्येष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते॥
(२ । ४१)

'मेरा ऐसा विचार है कि सदाचारसे हीन मनुष्यका केवल ऊँचा कुल नहीं मान्य हो सकता; क्योंकि नीचे कुलमें उत्पन्न मनुष्योंका भी सदाचार श्रेष्ठ ही माना जाता है ।' विदुरजीका कथन है कि 'सदाचारसे कुलकी रक्षा होती है (२ । ३९½) ।' इस विषयमें वे चौथे अध्यायमें स्पष्ट कहते हैं कि 'गौओं, मनुष्यों तथा धनसे पूर्ण होकर भी जो कुल सदाचारसे हीन हैं, वे अच्छे कुलोंकी गणनामें नहीं आ सकते । अल्प धनवाले कुल भी यदि सदाचारसे सम्पन्न हैं तो वे अच्छे कुलोंकी गणनामें आते तथा महान् यश प्राप्त करते हैं । सदाचारकी रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिये, धन तो आता और जाता ही रहता है । धन क्षीण हो जानेपर भी सदाचारी मानव क्षीण नहीं माना जाता, किंतु जो सदाचारसे भ्रष्ट हो गया हो उसे तो नष्ट ही समझना चाहिये—**'वृत्ततस्तु हतो हतः ।'** 'जो कुल सदाचारसे हीन हैं वे गौओं, घोड़ों, पशुओं तथा हरी-भरी खेतीसे सम्पन्न होनेपर भी उन्नति नहीं कर पाते' (अध्याय ४, श्लोक २८, २९, ३० तथा ३१वाँ) ।

महर्षि पराशरका मत है कि 'आचार चारों ही वर्णों एवं आश्रमोंके धर्मोंका पालन करानेवाला है, क्योंकि आचारके बिना धर्मका पालन नहीं हो सकता । जो मनुष्य आचारभ्रष्ट हैं तथा जिन्होंने धर्माचरण त्याग दिया है, धर्म उनसे विमुख हो जाता है' (१ । ३७) । अपने इसी कथनका उदाहरण वे ग्रन्थके १२वें अध्यायमें यों देते हैं—

अग्निकार्यात्परिभ्रष्टाः संध्योपासनवर्जिताः ।
वेदं चैवानधीयानाः सर्वे ते वृषलाः स्मृताः ॥
(१२ । २९)

'दैनिक अग्निहोत्रसे भ्रष्ट, संध्योपासनादिसे रहित तथा वेदाध्ययनसे विमुख सभी ब्राह्मण शूद्रप्राय हैं ।' पुण्यश्लोक राजर्षि मनु भी कहते हैं कि 'वेदज्ञाता पुरुष भी आचारभ्रष्ट होनेपर वेदके सम्यक् फलको प्राप्त नहीं करता । जो आचारसे युक्त है, वही वेदके सम्यक् फलको प्राप्त करता है ।' तात्पर्य यह कि वेदाध्ययनके बाद भी सदाचारशून्य द्विज वास्तविक द्विज नहीं है ।

मनु महाराजद्वारा कथित धर्मके चार साक्षात् लक्षणोंमेंसे सदाचार भी एक है (मनु० २ । १२), जिसका पालनकर मनुष्य आत्मकल्याण कर सकते हैं (मनु० २ । ९) । महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास-प्रणीत पुराणोंमें भी प्रचुरतासे सदाचारकी महिमा वर्णित है । श्रीमद्भागवतमहापुराणके ७वें स्कन्धके ११ से १५वें अध्यायतक, अध्यात्मरामायणमें अरण्यकाण्डमें (एवं दूसरी रामायणोंमें भी) श्रीराम-लक्ष्मण-संवादान्तर्गत, किष्किन्धाकाण्डमें क्रियायोगान्तर्गत तथा उत्तरकाण्डमें 'रामगीता'के अन्तर्गत सदाचारका किंचित्

* महाभारत उद्योगपर्वके अन्तर्वर्ती तृतीय 'प्रजागर-पर्व'के ३३ से ४० तकके ८ अध्यायोंको 'विदुर-नीति' कहते हैं ।

वर्णन है। नृसिंहपुराणके ५७वें अध्यायमें मार्कण्डेयजीद्वारा कथित भक्तोंके लक्षणके व्याजसे सदाचार-की शिक्षा है। इसी प्रकार कूर्म, अग्नि, पद्म, वाराह, ब्रह्म, शिव, स्कन्द, वायु, गरुड़ इत्यादि पुराणोंमें भी इसकी चर्चा आयी है। उपनिषदोंमें भी किसी-न-किसी रीतिसे सदाचारका गुणगान हुआ है। इसी विषयमें कठोपनिषद्का कथन है कि पापकर्मोंमें प्रवृत्त, अशान्तेन्द्रिय तथा असमाहित चित्तवाला आत्मज्ञान नहीं पा सकता (१।२।२४)। छान्दोग्योपनिषद्का कथन है कि जो कर्म विद्या, श्रद्धा तथा योगसे युक्त होकर किया जाता है, वही प्रबलतर होता है (१।१।१०)।

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करते हैं, दूसरे लोग भी वही करते हैं। वह पुरुष जो आदर्श स्थापित करता है, अन्य लोग भी उसके अनुसार ही चलते हैं (३।२१)। इसलिये तेरे लिये कर्तव्य तथा अकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण हैं, यह जानकर तू शास्त्रविधिसे नियत कर्मको ही करने योग्य है (१६।२४)। मनुष्यको स्वयं ही अपने भाग्यका निर्धारक बताते हुए भगवान् केशव कहते हैं कि मनुष्य अपने द्वारा अपना संसार-सिन्धुसे उद्धार करे तथा स्वयंको अधोगतिमें न डाले, क्योंकि वह स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही शत्रु भी (६।५)। इसके अतिरिक्त १७वें अध्यायके (१४,१५ तथा १६वें श्लोकमें भी इन्हीं तीन) दोषों—मानसिक, कायिक तथा वाचिक दुराचार)की शुद्धिके उपाय हैं, जिनका वर्णन मनुस्मृतिके १२वें अध्यायके ५, ६ तथा ७वें श्लोकमें है। सदाचारके संदर्भमें शान्त पुरुषके लक्षणोंको बताते हुए 'योगवासिष्ठ'में कहा गया है कि 'जो प्रयत्नपूर्वक अपनी इन्द्रियोंको वशमें करके समस्त प्राणियोंके साथ सद्व्यवहार करता है, जो न तो भविष्यकी आकाङ्क्षा करता है और न प्राप्तका त्याग ही करता है, वह 'शान्त' कहलाता है (योगवा० मुमुक्षुकव० प्र० अ० १३)। यही लक्षण सदाचारी मनुष्यका भी है। महाभारतमें भी सदाचारकी महत्तापर बल देते हुए कहा गया है कि 'यदि शूद्रमें सत्यादि ब्राह्मणोचित लक्षण हों तथा ब्राह्मणमें न हों तो वह शूद्र शूद्र नहीं और वह विप्र विप्र नहीं। (वनपर्व, सर्प-युधिष्ठिर-संवाद-प्रकरण १८०।२५-२६)

सदाचारका वर्णन हमारे महान् नीतिशास्त्रों—'पञ्च-तन्त्र'में, 'चाणक्य-नीति'में, 'शुक्रनीति'में, 'गालव स्मृति'में, 'वसिष्ठस्मृति' और अन्य धर्म एवं नीतिके ग्रन्थोंमें भी आता है। 'वाल्मीकीयरामायण'के अतिरिक्त अन्य रामायणों और 'नारायणीयम्' तथा 'यादवाभ्युदयम्' आदि कृष्णपरक साहित्योंमें भी इसका वर्णन प्राप्य है। विश्वविख्यात एवं सर्वमान्य काव्य 'श्रीरामचरित-मानस'में गोस्वामी तुलसीदासजीने मनु-शतरूपा-तपस्या-प्रसङ्ग, पार्वती-तपस्या-प्रसङ्ग, भरतजीका क्षुरिकाधारवत् सूक्ष्म धर्माचरण-पालन-प्रसङ्ग, लक्ष्मणका सदैव संनद्ध रहकर प्रभु-सेवा-प्रसङ्ग, गोमहत्ताके माध्यम, नीतिपरक वचनों, आदर्श दम्पति श्रीसीताराम एवं श्रीगौरीशंकर-का पारस्परिक संवादादि, सुमन्त्रके पश्चात्ताप-प्रसङ्ग, राम-गीता-वर्णन (—शबरी, विभीषण, लक्ष्मण तथा पुरवासियोंके प्रति,) भरतके प्रति वसिष्ठका उपदेश (शोचनीय कौन है, इत्यादि प्रसङ्ग) तथा अनुसूया-सीता-मिलन आदि प्रसङ्गोंके माध्यमसे सदाचारकी महती शक्तिको व्यक्त किया गया है।

हिंदू-धर्मकी ही एक शाखा जैनमतमें भी सदाचार-पालन-हेतु नियम बनाये गये तथा उपदेश दिये गये हैं। भगवान् महावीरका कथन है कि साधक सदा शास्त्रानुकूल रहे, विना विचारे न बोले, सदा गुरुजनों-के निकट रहकर परमार्थ-साधक बातोंकी शिक्षा ग्रहण

करे, निरर्थक बातोंको छोड़ दे, विवेकी पुरुष दूसरेका तिरस्कार, अपनी बड़ाई, अपने शास्त्रज्ञान, जाति तथा तपका गर्व न करे ('कल्याण' भाग ४८ सं० १२)।

बौद्धधर्मके पञ्चशीलका सिद्धान्त भी सदाचारपर ही आधृत है। इसके अतिरिक्त अन्य सम्प्रदाय जैसे सिख, राधास्वामी, आर्यसमाजी, लिङ्गायत, आदिमें भी सदाचारकी अपरिहार्यतापर प्रकाश डाला गया है। हिंदू-धर्मके अतिरिक्त विश्वके अन्य पंथों जैसे यवन, पारसी, ईसाई इत्यादि भी सदाचार-पालनपर जोर देते हैं। इनका उदाहरण विस्तारभयसे देना शक्य नहीं है। इनके अतिरिक्त अन्य सामाजिक संगठन जैसे श्रीरामकृष्ण-मिशन, थियोसोफिकल सोसाइटी, रामतीर्थ-मिशन, अरविन्द सोसाइटी, राष्ट्रिय स्वयं-सेवक-संघ इत्यादि भी सदाचार-पालनको आवश्यक मानते हैं।

यह है हमारा नानापुराणनिगमागमसर्वग्रन्थसम्मत सदाचार। जिसपर चलनेसे सृष्टिसे आजतक यह दिव्य देश आर्यावर्त विश्वका स्तम्भ बना रहा। हमारा देश भारत बड़ा ही पवित्र क्षेत्र है। किम्पुरुषवर्ष, इलावृतवर्ष, भद्राश्ववर्षादि समस्त पुण्यमय प्रदेशोंसे आवृत, भगवान् शेषशायीके चौबीस पवित्र अवतारोंकी पावन लीलास्थली, सृष्टिका प्रारम्भ क्रीडाङ्गण, सर्व-शास्त्रप्रशंसित यह देश सदैवसे विश्वका प्रत्येक विषयोंका प्रत्येक क्षेत्रोंमें नेतृत्व करते हुए ब्रह्मर्षि मनुके इस आज्ञाका पालन कर रहा है कि—'इस देशमें उत्पन्न ब्राह्मणोंसे पृथ्वीके सभी मानव अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करें (मनु० २। २०)। अतः हमें मनुष्यताके पूर्ण आदर्श बनने, आत्मोद्धार करने, भगवत्कृपा प्राप्त करने, आत्मिक-पारिवारिक-सामाजिक, राष्ट्रीय तथा विश्वका कल्याण करने और कल्याणमार्गका पथिक बनने—'**ॐ स्वस्ति पन्थामनु चरेम**' (ऋक् ५। ५१। १५)के पालनके लिये मनुप्रोक्त आचरणसे धर्मपालन करते हुए अपना जीवन-निर्वाह करना चाहिये, तभी हम अपने पूर्वजोंका नाम उज्ज्वल कर सकेंगे।

सदाचारसे परम लक्ष्यकी प्राप्ति

(लेखक—श्रीव्योमकेश भट्टाचार्य, साहित्यभूषण)

रीलीजन(Religion)शब्द 'धर्म'का वास्तविक अर्थ-बोधक नहीं है। लैटिनमें री(Re)का अर्थ है—पुनः या पश्चात् और ligare लीजरका अर्थ है—ले जाना। अर्थात् जो परिदृश्यमान जगत्के पीछे सृष्टिकर्ता परमेश्वरकी ओर जीवको ले जाय, वह रीलीजन(Religion) है। इधर 'धृ' धातुमें 'मन्' प्रत्ययके योगसे धर्म होता है। 'धृ' अर्थात् धारण करना—जो धारण करे या किया जाय, वही धर्म है। '**धर्मो धराधारकः**'—धर्म ही पृथ्वीका धारक है। वैशेषिकसूत्रके अनुसार—'**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः**।' जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि होती है, वह धर्म है। अभ्युदयके लिये प्रवृत्ति-मार्ग और निःश्रेयसके लिये निवृत्तिमार्ग है। तात्पर्य यह कि जिस ज्ञान-कर्मकी सहायतासे प्रवृत्तिमार्गका पथिक इस लोक और परलोकमें सुखभोग और निवृत्तिमार्गी संसार-मुक्तिको प्राप्त करे, वही धर्म है। इस धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये एकमात्र अवलम्बन सदाचार है। धर्म भी दो प्रकारका है—सामान्य तथा विशेष। मानव-मात्रके लिये नीतिसम्मत आचरणीय धर्म सामान्य धर्म है और विशेष कालमें विशिष्ट व्यक्तिके लिये आचरणीय कर्म विशेष धर्म है। यहाँ धर्मका अर्थ धर्माचरण है।

अस्तु, पृथ्वीपर प्रचलित सारे धर्मोंने ही सदाचारको अङ्गीकृत किया है। दिव्य जीवनयापनके पथपर अग्रसर होनेके लिये सदाचारपालन आवश्यक है। लक्ष्यहीन निकृष्ट जीवन पशुतुल्य है। मनु एवं वसिष्ठने आचारको परमधर्म कहा है। भगवान् बुद्धने भी कहा है कि महान् अष्टमार्गमें मिथ्या कटूक्ति-वर्जन-पूर्वक, सत्य, शिष्ट तथा प्रियकर वाक्कथनका पालन और प्राणि-हत्या, चौर्य, लोभ, द्वेष-प्रभृतिका वर्जन आवश्यक है। जैन और सिख-धर्मोंमें भी सदाचारकी बातें विशेषरूपसे उल्लिखित हैं। यहूदी धर्ममें ईश्वरके दश आदेशोंमें अहिंसा, सत्य आदि सदाचार-पालनकी बात है। पारसी धर्ममें शौच, साधन, जीवदया, अतिथि-सत्कार आदि सदाचरणका विधान है। इस्लामधर्ममें जीवदया, सत्यकथा, दान-प्रभृति सदाचारकी बात विशेष-रूपसे कही गयी है।

सदाचार-पालनके लिये उल्लिखित वृत्ति-समूहोंमें ऋषियोंने अहिंसा, सत्य, शौच, संयम—इन चारोंका विशेष रूपसे वर्णन किया है। अब यहाँ इनका कुछ परिचय दिया जा रहा है।

अहिंसा—'हिंसि' धातुमें निषेधार्थक नञ् ('अ') समासके द्वारा अहिंसा शब्द बनता है। इसका अर्थ केवल प्राणि-वध ही नहीं, (साधारणतः हमलोग प्राणिवध नहीं करनेको ही अहिंसा कहते हैं,) बल्कि सभी प्रकारका पर-पीड़न भी है। परपीड़न न करना ही अहिंसा है। हिंसा तीन प्रकारकी होती है—कायिक, मानसिक, वाचिक। हाथसे प्रहार करना कायिक हिंसा है। मन-ही-मन किसीके प्रति हिंसाभाव रखना मानसिक और वाग्-वाणद्वारा दूसरेके मनमें आघात पहुँचाना वाचिक हिंसा होती है। शास्त्र कहते हैं—**मनोवाक्कायैः सर्वभूतानामुत्पीडनमहिंसा**। मन, वाक् या देहसे किसीको पीड़ित न करना ही अहिंसा है। श्रुति कहती है—**'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि।'** प्राणियोंकी हिंसा मत करो। सर्वभूतात्मवाद ही सनातनधर्मका चरम और परम तत्त्व है। **'एक एव हि भूतात्मा भूते-भूते व्यवस्थितः।'** एक ही आत्मा सब प्राणियोंमें अधिष्ठित है। इसलिये पीड़क और पीड़ितमें असम्बन्ध कहाँ? अहिंसा महाव्रत इसी अनुभूतिपर प्रतिष्ठित है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—**'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।'** (योगसूत्र २। ३३)। चित्तमें अहिंसा प्रतिष्ठित होनेपर सर्प, व्याघ्रादि प्राणी भी स्वाभाविक रूपसे हिंसात्याग करते हैं। यही प्राकृत भागवत-प्रेम है।

सत्य—श्रीमद्भागवतके प्रारम्भमें आता है—**'सत्यं परं धीमहि'** (१।१।१) 'हम सत्यस्वरूप उसी परमब्रह्मका ध्यान करते हैं। महात्मा गाँधीने कहा है—'Truth is God!' सत्य ही भगवान् है। **'परहितार्थं वाङ्मनसो यथार्थत्वं सत्यम्।'** परहितमें वाक् और मनका यथार्थ भाव ही सत्य है। सत्य-भाषण, सत्योपासना सदाचारके प्रधान उपकरण हैं। योगसूत्रके अनुसार **'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्'** (योगसूत्र २। ३६)। सत्य-प्रतिष्ठित व्यक्तिको वाक्-सिद्धि प्राप्त होती है। इसके प्रमाण इस युगके चटगाँवके साधु बाबा ताराचरण हैं। वाराणसीमें साधु बाबाके आविर्भावके उत्सवके समय उनके शिष्यके श्रीमुखकी वाणी है कि साधु बाबा जो कहते थे, वही यथार्थ होता था। किसी भी व्यक्तिके अतीत, वर्तमान और भविष्यत्का चित्रपट उनके सम्मुख यथार्थरूपसे प्रतिभासित होता था। इसका कारण पूछनेपर बाबाने कहा था—'जो कोई व्यक्ति बारह वर्षोंतक सत्यवादी रह सके, उसकी प्रत्येक बात यथार्थ होगी। इसमें संदेह नहीं।'

महामहोपाध्याय पद्मनाथ सरस्वती वाग्देवीके वरदपुत्र थे। एक दिनकी घटना है—वे एक छोटे शिशुके साथ अपने कर्मस्थल (Office)से रेलद्वारा अपने घर जा रहे थे। छोटा होनेके कारण शिशुका

टिकट नहीं लिया गया । घर पहुँचकर उसकी जन्मपत्रिका देखी तो शिशुकी अवस्था टिकटकी योग्यतासे एक दिन अधिक हो रही थी । फिर क्या था ! तत्क्षण मनीआर्डरद्वारा रेलवेको भाड़ा भेज दिया । परमभागवत डॉ० राधागोविन्दनाथकी सत्यनिष्ठाकी बात भी इसी तरह है । कालेजसे निकलनेके बाद उन्हें कुछ दिनोंतक कालेजभवनमें ही रहना पड़ा था । किराया देनेकी इच्छा प्रकट करनेपर कालेज-कमेटीने उसे लेनेमें असहमति प्रकट की, किंतु उन्होंने—'मैं किराया दिये बिना तो एक मुहूर्त भी यहाँ न रहूँगा'—कहकर सभीको भाड़ा लेनेपर विवश किया और वे किराया देकर ही रहे ।

सत्यनिष्ठा सदाचारका श्रेष्ठ सोपान है । पर वह हममें कहाँ है । छोटा शिशु रोता है तो हम उसे शान्त करनेके लिये बंदरका मिथ्या भय दिखाते हैं, चाहे बंदर उस क्षेत्रमें कभी आता भी न हो । पुनः उसे चुप करानेके लिये मिठाई और खिलौनेके प्रलोभन देते हैं । इन सबके मूलमें मिथ्या ही तो है । जीवन-धारणके हर क्षेत्रमें हम असत्यकी ही छवि मानस-नेत्रमें अङ्कित करते हैं । व्यवसायी व्यवसाय आरम्भके पूर्व ही वजन कम करनेका चिन्तन करते हैं । दूध-पानीके सम्मिश्रणसे अधिक लाभ कमानेकी हमारी दैनन्दिनी वृत्ति है । महाभागवत श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी कहते थे कि बारह वर्ष नहीं, मात्र तीन दिनतक भी पूर्ण सत्यनिष्ठ हो सकनेपर साधन-सिद्धि अवश्यम्भावी है । स्वामी विवेकानन्दने भी कहा था—'अर्थ नष्ट होनेसे कुछ खास हानि नहीं होती । स्वास्थ्य नष्ट होनेसे किंचित् हानि होती है । किंतु चरित्र भ्रष्ट होनेसे सर्वस्व नष्ट हो जाता है ।' चरित्रगठनके मूलमें सत्यनिष्ठा है और सदाचारद्वारा आत्मोत्थानका पथ चरित्र-गठन ही है ।

शौच—सभी प्राणियोंमें भगवान् अधिष्ठित हैं । देह और मनकी मलिनता दूर करनेका नाम शौच या पवित्रता-साधन है । शौच भी दो प्रकारका है—बाह्य और आन्तरिक । देहकी शुद्धि बाह्य और मनकी शुद्धि आन्तरिक शौच है । योगियाज्ञवल्क्य कहते हैं—

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्याभ्यन्तरतस्तथा ।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनःशुद्धिस्तथान्तरम् ॥

बाह्य शौचके लिये मिट्टी और जल आवश्यक है और मनकी शुद्धिके लिये सद्गुण प्रयोज्य है । सदाचारद्वारा चित्तशुद्धि होती है । चित्तशुद्धिद्वारा आत्मोत्थान या दिव्य जीवन-लाभ हो सकता है । छान्दोग्योपनिषद् **'अन्नमयं हि सौम्य मनः'** के अनुसार आहारके सूक्ष्मांशसे मन गठित होता है । सत्त्वगुणी आहार सदाचारकी ओर ले जायँगे, यह ध्रुव सत्य है । इस प्रकार सदाचारके द्वारा आत्मोत्थानके लिये बाह्य और मनःशौच दोनों ही प्रयोजनीय हैं ।

संयम दो प्रकारका कहा गया है—बाह्य-इन्द्रिय-संयम तथा मनःसंयम । पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रिय हमें हमेशा बहिर्मुखी बनाती हैं । पुनः मन अन्तरिन्द्रिय है । मन स्वकीय संकल्पद्वारा बहिरिन्द्रियको संयत कर सकता है । संयमका अर्थ इन्द्रियपीड़न नहीं, नियन्त्रण करना है । बाह्य और मनःसंयमका एकमात्र उपाय भगवदुपासना है । भगवन्मुखी मन होनेपर कामादि षड्रिपु अनायास ही वशीभूत होकर अन्तर्मुखी होनेके लिये बाध्य होते हैं । तभी भागवत चैतन्यका उदय होता है । हर व्यापारका मूल भगवदाराधन है । इस साधन-पथका ईंधन सदाचार है ।

'आचरणसे शिक्षा दो' श्रीमन्महाप्रभुकी यह वाणी अमृतमयी है । महात्मा गाँधीने भी यही कहा है । 'हमारा जीवन ही हमारी वाणी है ।' **शास्त्राण्य-धीत्यापि भवन्ति मूर्खा यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्'** (हितोपदेश० १ । १७१)के अनुसार कुछ लोग शास्त्राध्ययन करके भी मूर्ख ही रहते हैं । जो उसे क्रियामें लाते हैं, वे ही वास्तविक विद्वान् हैं। हमारे उपदेश कार्यकारी नहीं होते; क्योंकि हम—

'मुखमें राम, बगलमें छूरी' को चरितार्थ करते हैं। सभी लोग मरते हैं, किंतु एककी मृत्युपर लोग आँसू बहाते हैं और दूसरेकी मृत्युको भूल जाते हैं। कौन-सी मृत्यु श्रेयस्कर है, यह हमें अपने विचारसे स्थिर करना है। स्वामी विवेकानन्दजीने कहा था कि 'संसारमें पैदा हुए हो तो एक चिह्न छोड़ जाओ।' स्मृति-चिह्न छोड़ जाना ही दिव्य-जीवनयापन है। इसके मूलमें है—सदाचार। सदाचारसे आत्मोत्थान और उसके फलस्वरूप आत्मोपलब्धि किं वा मुक्ति——यही मानव-जीवनका चरम-परम लक्ष्य है।

सदाचारसे आत्मोत्थान

(लेखक—पं० श्रीबाबूरामजी द्विवेदी, एम्० ए०, बी० एड्०, साहित्यरत्न)

सदाचार (सद्वृत्ति) आत्मोत्थानका मूल कारण है। जिस (साधन)से इस लोकमें उन्नति (यश-प्रतिष्ठा एवं ऐश्वर्य-प्राप्ति) और परलोकमें कल्याण या मोक्षकी उपलब्धि हो, वही धर्म या सदाचार है। **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'** (कु० सं० ५। ३३)के द्वारा कालिदासने मानव-शरीरको मूलतः धर्मका साधन कहा है। इस सिद्धान्तसे यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि मानवके इहलौकिक और पारलौकिक विकासके सामञ्जस्य—विधानमें ही उसके आत्मोत्थानका रहस्य निहित है; जिसका मूल आधार सदाचार है। भर्तृहरिने भी नीतिशतकमें शील—सदाचारको सभी गुणोंका अलंकार और मूल बतलाते हुए उसके इहलौकिक स्वरूपको स्पष्ट कर दिया है, जिसका मानवके लौकिक अभ्युदयपर प्रकाश पड़ता है। वे कहते हैं जैसे ऐश्वर्य (वैभव)का भूषण सज्जनता, वीरताका वाणीपर नियन्त्रण, ज्ञानका शान्ति, शास्त्राध्ययनका विनय, धनका समुचित स्थानपर व्यय, तपस्याका क्रोधाभाव, स्वामित्वका क्षमा तथा धर्मका भूषण निश्छलता है, वैसे ही समस्त गुणोंका भूषण सदाचार है।

सदाचारी पुरुषका लक्षण बतलाते हुए विदुरजी कहते हैं कि जो मनुष्य अपने सुख-आनन्दसे प्रसन्न नहीं होता, दूसरेके दुःखको देखकर हर्षित नहीं होता, वरन् दुःखी होता है, दान देकर पश्चात्ताप नहीं करता, वह सज्जनोंमें सदाचारी कहलाता है। ब्रह्मचर्य सदाचारका साधनात्मक स्वरूप है। अथर्ववेदमें उसके मन्त्रद्रष्टा ऋषि कहते हैं कि ब्रह्मचर्यरूप तपके द्वारा राजा राष्ट्रका संरक्षण करता है। राजर्षि मनुने ब्राह्मणोंकी मृत्युके चार कारण बतलाये हैं—(१) वेदाभ्यास न करना, (२) आलस्यके वशीभूत होना, (३) आचार (सदाचार)का परित्याग करना और (४) दूषित भोजन करना। तात्पर्य यह कि ब्राह्मणके लिये सदाचार सर्वथा पालनीय धर्म है। सदाचारकी कसौटीपर जो व्यक्ति खरा उतरता है, वस्तुतः वही सत्पुरुष है और वही महात्मा है। विदुरजी कहते हैं कि जलती हुई आगसे सोनेकी परख होती है, सदाचारसे सत्पुरुषकी पहचान होती है, इसी प्रकार भयकी स्थितिमें वीरकी, आर्थिक कठिनाईमें धैर्यशाली मनुष्यकी और विपत्तिमें शत्रु एवं मित्रकी परीक्षा होती है (३। ४९)।

मनुष्यके इह-लौकिक अभ्युदयमें सदाचारका महत्त्व बतलाते हुए महात्मा मनुजी कहते हैं कि—आचार (सदाचार)का सम्यक् पालन करनेसे आयु प्राप्त होती है, आचारसे अभिलषित संतति प्राप्त होती है, आचारसे धन-ऐश्वर्यकी प्राप्ति होती है और आचारसे ही शरीरके अवगुण नष्ट होते हैं। सदाचार केवल मानव-जीवनके इहलौकिक अभ्युदयका ही साधन नहीं, वरन् वह उसके पारलौकिक

अभ्युदयका भी माध्यम है। मनुष्यके जीवनका लक्ष्य परम पुरुषार्थकी उपलब्धि, धर्म, अर्थ काम और मोक्ष (चतुर्वर्ग)की प्राप्ति है। इनमेंसे प्रथम तीन पुरुषार्थ तो मानव-आत्मोत्थानके अभ्युदय (इह लौकिक उन्नति) के बोध हैं, परंतु अन्तिम पुरुषार्थ (मोक्ष) आत्मोत्थान-के निःश्रेयस् (पारलौकिक विकास)का परिचायक है।

मोक्षके निम्नाङ्कित दस साधनोंमें ब्रह्मचर्य (सदाचार) का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए श्रीमद्भागवतके रचयिता श्रीव्यासजी कहते हैं कि मौन, ब्रह्मचर्य, शास्त्र-श्रवण, तप, अध्ययन, स्वधर्म-पालन, शास्त्र-विवेचन, एकान्तवास जप और समाधि—ये दस मोक्षके साधन हैं। (७। १। ४६)। ब्रह्मचर्य (सदाचार)का विधिवत् पालन हो जानेपर ज्ञान एवं मुक्ति प्राप्त हो जाती है; क्योंकि मन, प्राण और शुक्रका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः इनमेंसे एक (ब्रह्मचर्यद्वारा शुक्र)का निरोध हो जानेपर मन और प्राणका अपने-आप निरोध हो जाता है। ब्रह्मचर्यद्वारा वीर्यका निरोध, प्रकारान्तरसे मनोनिरोधका सफल प्रयोग है। यही निरुद्ध (संयत) मन मोक्षका साधन है। मनुजीने इन्द्रिय-निग्रहको ब्रह्मचर्यपालनका अमोघ अस्त्र कहा है। इन्द्रियोंके संसर्गसे जीव दुःखी होता है तथा इन्द्रियोंद्वारा विषय-परित्यागसे जीव सिद्धि प्राप्त करता है। विदुरजी भी कहते हैं कि मनुष्यके सामाजिक जीवनमें सदाचारका महत्त्व अक्षुण्ण है। इस संसारमें जाति-भाई तारते हैं और डुबाते भी हैं। उनमें जो सदाचारी हैं, वे तो प्रपञ्चाभिभूत अपने भाई-बन्धुको तारते हैं। उन्हें सत्पथगामी बनाते हैं; परंतु जो दुराचारी हैं, वे उन्हें डुबा देते हैं अर्थात् उनका सर्वनाश कर देते हैं। सदाचार कुलक्षणोंका नाश करके मनको सुलक्षणयुक्त सत्पथ-अनुगामी अथच मोक्षमार्गी बनाता है। 'विनय—नम्रभाव अपयशको नष्ट करता है, पराक्रम अनर्थको दूर करता है, क्षमा सदा ही क्रोधका नाश करती है और सदाचार कुलक्षणका अन्त करता है।'

आयुर्वेदके प्रचारक चरक एवं सुश्रुतने सदाचारको सुकृतियोंके पुण्य लोक (स्वर्णपद)का साधक बतलाते हुए कहा है कि 'जो इस आयुर्वेदोक्त सद्वृत्त अथवा शुद्धाचरणका सम्यक् पालन करता है, वह सौ वर्षतक जीवित रहता है। धर्म अर्थ और कामविषयक इहलौकिक सिद्धिको प्राप्त करनेके पश्चात् सार्वभौम-पक्षमें समस्त प्राणियोंकी बन्धुताको भी उपलब्ध करता है और अन्तमें पुण्यात्मा—मुमुक्षु पुरुषोंके प्राप्तव्य स्वर्गीय लोकोंमें सत् प्रयाण करता है। 'गीता'का भी सिद्धान्त यही है कि मन और इन्द्रियोंको संयत करके निष्काम बुद्धिसे कर्तव्य कर्मका पालन करना चाहिये, इसी प्रक्रियाद्वारा साम्यबुद्धि (स्थिरबुद्धि) उत्पन्न होती है। इन्द्रियनिग्रह (साधन) और स्थिरबुद्धिकी प्राप्ति (साध्य) से निरन्तरता स्थापित करनेवाला तत्त्व ही सदाचार कहलाता है।

सदाचार अथच ब्रह्मचर्यका महत्त्व बताते हुए महाभारतके शान्तिपर्वमें भीष्म पितामहजी युधिष्ठिरजीसे कहते हैं—'यह जो ब्रह्मचर्य नामक गुण है, इसे शास्त्रोंमें ब्रह्मका स्वरूप ही बताया गया है। यह सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है। ब्रह्मचर्यके पालनसे मनुष्य परम पदको प्राप्त कर लेते हैं। सदाचारका मुख्य तत्त्व दम—इन्द्रियों और मनका संयम है। धर्मके सिद्धान्तको भलीभाँति जाननेवाले श्रेष्ठ पुरुष दमको निःश्रेयस् (परम कल्याण)का साधन बताते हैं। विशेषतः ब्राह्मणके लिये तो दम ही सनातन धर्म है—

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं च दमः परम्।
विपाप्मा तेजसा युक्तः पुरुषो विन्दते महत्॥

भीष्मपितामहजी धर्मराज युधिष्ठिरसे कहते हैं कि दम तेजकी वृद्धि करता है, दम परम पवित्र साधन

है । दमसे पापरहित हुआ तेजस्वी पुरुष परम पदको प्राप्त कर लेता है ।

भारतीय संस्कृतिके इतिहासमें 'आचार'की विशेष गरिमा है । 'वर्णाश्रमानुकूल आचार-विचार ही हिन्दू-संस्कृतिका प्रत्यक्ष रूप है । देहेन्द्रियकी समस्त चेष्टाएँ 'आचार'के अन्तर्गत तथा मन-बुद्धि-चित्ताहंकारकी चेष्टाएँ विचारकी परिधिमें आती हैं; अतएव मनुष्यके लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदयके अनुकूल आचार-विचार ही संस्कृति हैं । सदाचारका सम्यक् पालन करनेवाला मनुष्य इस संसारमें दीर्घ आयु तथा ऐश्वर्य (इहलौकिक अभ्युदय) प्राप्त करता है, एवं परलोकमें अक्षय कीर्ति अथवा निःश्रेयस्-सिद्धि प्राप्त करता है । श्रुत, शील युक्त सदाचार निकष (कसौटी) पर मानवका खरा उतरना ही उसकी आदर्शोन्मुखता है । 'चाणक्यनीतिमें' सोनेके दृष्टान्तद्वारा इस बातको स्पष्ट किया गया है—

> यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते
> निघर्षणच्छेदनतापताडनैः ।
> तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते
> श्रुतेन शीलेन कुलेन कर्मणा ॥
> (५ । २)

अनाचार मनुष्यके जीवनको कण्टकाकीर्ण बनाता है, और सदाचारके फलस्वरूप मनुष्य ईश्वरका प्रिय भाजन बन जाता है ।

सदाचार अर्थात् जीवनका धर्ममें प्रवेश

(लेखक—श्रीरामसुखजी मन्त्री)

धर्मका एक लक्षण अर्थ या स्वभाव या प्रकृति भी है । जैसे अग्निका धर्म या स्वभाव है—उष्णता और जलका धर्म है—आर्द्रता, गीलापन । इसी प्रकार मनुष्यका धर्म क्या हो सकता है ? मनुष्यका स्वभाव क्या है ? मनुष्य चाहता है–ऐहिक और पारलौकिक सुख तथा शान्ति । उसकी स्वाभाविक इच्छा है—सुखसे जीना, शान्तिके साथ जीना । सुख और शान्तिके साथ जीवन जीनेके जो नियम हैं, वही धर्म है। पर इसका मार्ग क्या है ? वेदोंमें एक शब्द आता है—'ऋत' । ऋतका अर्थ है—विधान (The Law) । लाओत्सेने भी इसका नाम दिया है–ताओ । 'ताओ'का मतलब होता है—नियम, तो धर्मका मतलब है—ऐसे नियम जिनका पालन हम करेंगे तो सुख और शान्तिको उपलब्ध कर पायँगे और धर्मका मतलब है—उन नियमोंके प्रतिकूल हम चलेंगे तो दुःख और अशान्तिसे घिर जायँगे ।

सत्-संकल्प और साधना—ये दो मार्ग सदाचारको ग्रहण करने तथा दुराचारसे बचनेके हैं । एक है स्थूल या बाह्य तथा दूसरा है, सूक्ष्म या आन्तरिक । स्थूल या बाह्य मार्ग है—सत्-संकल्प और सूक्ष्म या आन्तरिक मार्ग है—साधना । संकल्प-मार्गको अपनानेके लिये प्रातःकाल और रातको दोनों समय चित्त शान्त करके एकान्तमें बैठना चाहिये और सोचना चाहिये कि मुझमें कौन-कौनसे दुर्गुण हैं, उनका संवर्धन कैसे करूँ ? और कौन-कौनसे दोष हैं, उनका निर्मूलन कैसे करूँ ? इसके पश्चात् आप विचारपूर्वक यह दृढ़ संकल्प करें कि 'मुझमें जो-जो गुण विद्यमान हैं, उनका संवर्धन मैं निश्चित ही करूँगा । वैसे ही मुझमें जो-जो दूषित विकार हैं, उनका निश्चित ही त्याग करूँगा । फिर प्रतिदिन प्रातःकाल उठते ही इस संकल्पको दोहराइये और रातको सोते समय दिनभरके कार्यका लेखा-जोखा लीजिये कि संकल्पके अनुसार आपने आचरण किया या नहीं ? स्वयंके गुण-दोषोंका निरीक्षण तटस्थ एवं निष्पक्ष बनकर करें । आत्म-निरीक्षण एवं चिन्तन मानसिक विकासकी प्रथम सीढ़ी

है । यह प्रक्रिया लगातार अनेक दिन करनेपर धीरे-धीरे क्रमशः सफलता दिखायी देने लगेगी । दुष्प्रवृत्तियाँ जब भी नजरमें आयें, उन्हें एक-एक करके ऐसे निकाल फेंकें, जैसे अनाजमेंसे कंकड़ोंको बीन-बीनकर निकाल दिया जाता है और सत्प्रवृत्तियोंको ऐसे ग्रहण करते रहें, जैसे उद्यानमेंसे माली पुष्पोंको चुन-चुनकर इकट्ठा करता है । यह दोष-निर्मूलनका और गुण-ग्रहणताका कार्य सरल-सा लगता है, फिर भी अति कठिन है, क्योंकि विकारोंका आवेग इतना तीव्र और सहज होता है कि हम अनजाने ही इनके जालमें फँस जाते हैं और पवित्र भावोंकी रक्षाके लिये प्रयत्नशील रहनेपर भी कई कठिनाइयाँ आ खड़ी होती हैं । इसलिये बड़ी सजगतासे पूर्ण सचेत रहकर, सावधानीपूर्वक इस कार्यको करना चाहिये । जरासे प्रमादमें, थोड़ी-सी तन्द्रामें और आलस्यमें रहे तो समझिये फिसले और गिरे । इसके लिये धैर्य, लगन और पुरुषार्थ नितान्त आवश्यक है ।

दूसरा मार्ग है साधनाका, जो अतिप्रभावी और निश्चित फलदायी है । यह है—मनको एकाग्र करना, उसको वशमें करना और उसे विशुद्ध बनाना । यह कार्य ध्यानके द्वारा साध्य हो सकता है । किसी भी विचार अथवा विकारका उद्गम-स्थान अचेतन मन है । संकल्पका प्रारम्भ यहींसे होता है और फिर यह अर्ध-चेतन और चेतन मन-तक पहुँचता है । तब हमें ज्ञात होता है कि अमुक विचार या अमुक विकार हमारे मनमें उठा । उसके बाद वह कृतिमें रूपान्तरित होता है । मनकी गहराइयोंतक पहुँचनेकी शक्ति ध्यानद्वारा ही प्राप्त हो सकती है । ध्यानके माध्यमसे हम शनैः-शनैः मनको एकाग्र करके उसको अपने वशमें कर सकते हैं । जैसे-जैसे हमारा ध्यान परिपुष्ट होता जाता है, वैसे-वैसे वह अन्तस्तलतक अर्थात् अचेतन मनतक पहुँचनेमें सक्षम होता चला जाता है । कृतिमें

उतरनेसे पूर्व ही यदि हमें विकारके उठनेका पता चल जाय, पहलेसे ही यदि हमें उसका आभास मिल जाय और उसे यदि हम देखनेमें, उसका निरीक्षण करनेमें सफल हो जायँ तो उठता हुआ विकार तुरंत दुर्बल हो जायगा । उसके आवेगमें शिथिलता आ जायगी और वह नष्टप्राय हो जायगा । इस प्रकार विकारोंपर नियन्त्रण पानेका सामर्थ्य हमें प्राप्त हो जाता है और हमारे दैनिक व्यवहारमें धीरे-धीरे सुधार होता चला जाता है । ध्यानकी विधि-को किसी अनुभवी मार्गदर्शकद्वारा ही सीखना श्रेयस्कर होता है ।

बौद्धिक सदाचार और अनुभूतिका स्तर— सदाचार, सद्गुण-सत्प्रवृत्तियों तथा दुराचार, दुर्गुण और असत्प्रवृत्तियोंके भले-बुरे परिणामोंको सभी लोग जानते हैं । शास्त्र-सत्सङ्ग-प्रवचन आदिमें जहाँ-कहीं इस विषयकी चर्चा चलती है, हम उससे प्रभावित हो जाते हैं । यह प्रभाव तात्कालिक स्वरूपका होता है और ऊपरी स्तरोंपर ही रहता है । इसका परिणाम स्थायी रूपसे नहीं रहता और यही कारण है कि हमारे जीवनमें इससे कोई विशेष अन्तर या परिवर्तन नहीं आ पाता । ऐसा परिवर्तन तो तभी सम्भव है, जब हम इसे प्रत्यक्ष कार्यान्वित करें—जीवनमें उतारें । केवल पढ़ने-सुनने-मात्रसे अथवा बुद्धिद्वारा समझ लेनेमात्रसे यह असम्भव है । इसे अनुभूतिके स्तरपर ही जाँचना, परखना और समझना होगा । तभी जीवनमें क्रान्ति घटित होगी और यही क्रान्ति फिर क्रियारूपमें परिणत होगी और तब फिर जीवनमें भी परिवर्तन आना शुरू हो जाता है, सुधारका प्रारम्भ दिखायी देने लगता है । सदाचार बाह्य एवं आन्तरिक जगत् दोनोंकी प्रगतिका प्रवेशद्वार है । इसीलिये इसकी अपार महिमा यत्र-तत्र गायी गयी है । फिर क्यों न हम सत्कर्म करते-करते

जीवनको पवित्र बनानेमें और अखण्ड शान्ति प्राप्त करनेमें प्रयत्नशील बने रहें, जिससे एक ओर ऐहिक जीवन तथा दूसरी ओर पारलौकिक जीवन दोनों ही उन्नत बन सकें। हमारे शास्त्रोंने एवं ऋषि-मुनियोंने तीर्थ-व्रत, उपवास, जप-तप, मन्दिर-उपासना, पूजा-अर्चा, सत्सङ्ग-स्वाध्याय-ध्यान-धारणा आदिके जो भी साधन बतलाये हैं, इन्हें सामान्य-से-सामान्य मनुष्य भी अपनी पात्रताके अनुसार ग्रहण कर सकता है। इन सभी साधनोंका मूल उद्देश्य यही है कि अपनी अन्तरात्माका परिशोधन करते हुए आन्तरिक जीवनको परिमार्जित करें, परिशुद्ध बनायें। इस पवित्र बनानेके मूल उद्देश्यको सामने रखते हुए हमें अपने जीवनका सम्पूर्ण दैनंदिन व्यवहार पवित्र रखते हुए करना चाहिये। केवल बाह्य शुचिता पर्याप्त नहीं है, वह तो गौण है। अन्तरकी शुचिता विशेष महत्त्वकी है। यही प्रमुख और प्रधान भी है। जीवनको विशाल, महान् और मूल्यवान् बनानेके लिये आन्तर शुद्धि आवश्यक है। और जिसने अन्तरकी मूल पवित्रताको स्थायी रूपसे धारण कर लिया है, वही सच्चे अर्थमें धार्मिक है और जिसकी अन्तरात्मा परिशुद्ध नहीं है, मलिन है, वह कभी धार्मिक नहीं हो सकता। उसकी धार्मिकता भ्रान्तिमात्र है। वस्तुतः वह अधार्मिक ही है।

इन साधनोंको आचरित करते हुए यह देखना भी आवश्यक है कि हमारे जीवनमें धीरे-धीरे ही क्यों न हो, पर पवित्रताका प्रवेश हो रहा है या नहीं? यदि हो रहा है तो हम ठीक मार्गपर चल रहे हैं और पवित्रताका जीवनमें प्रवेश नहीं हो रहा है तो यह समझना चाहिये कि सच्चे धर्मसे, शुद्ध धर्मसे इसका कोई लेन-देन नहीं है। सारी क्रियाएँ ऊपरी-ऊपरी स्तरपर औपचारिकताके रूपमें दिखावेके खातिर परिपाटी निभानेके लिये ही की जा रही हैं। और यही कारण है कि इन सारी धार्मिक विधियोंको करते हुए भी, इन सारे साधनोंको अपनाते हुए भी हमारे जीवनमें कोई परिवर्तन नहीं आता। हम कोरे-के-कोरे, जैसे हैं, वैसे ही रह जाते हैं। सारा जीवन तनावपूर्ण, अशान्त, दुःख और कष्टसे भरा हुआ बीतता जाता है। नीरसता और निराशा लिये हुए कल्पित अभावका अनुभव करते हुए निरन्तर भटकते ही रहते हैं।

सत्यकी उपलब्धि—जब हमारे बाहरके और भीतरके सारे कल्मष, सारे कषाय नष्ट हो जाते हैं, सारे दोष दूर हो जाते हैं तो शेष जो अवस्था बच रहती है, वही है परिशुद्ध अवस्था। इस परिपूर्ण निर्दोष अवस्थामें, उस अमूल्य सम्पदाके द्वार खुल जाते हैं, जो हमारे भीतर छिपी पड़ी है और फिर जीवनमें कोई अभाव नहीं रह जाता। उस अनन्त समृद्धिका मार्ग मिल जाता है, जो हमारी आँखोंसे ओझल है और तब जीवनसे अतृप्ति सदाके लिये विदा हो जाती है। हृदयमें उस परम आनन्दका झरना फूट पड़ता है, जो हमारे जीवनको सराबोर कर देता है। उस परम शान्तिका उदय हो जाता है, जिससे सारी लालसाओंका अन्त हो जाता है और अस्थिरता सदाके लिये तिरोहित हो जाती है। अन्ततः हमें उस परम सत्यकी उपलब्धि हो जाती है, जिसका जीवनसे छायाकी भाँति अटूट सम्बन्ध है और जिसे हम भ्रान्तिवश भूल बैठे हैं।

सदाचार ही है पहला कदम—उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवनमें सदाचारका कितना बड़ा महत्त्व है, ऐहिक और पारलौकिक जीवनसे इसका कितने निकटका और गहरा सम्बन्ध है। इस बातको परिलक्षित रखकर यदि हमारा कदम सदाचारके पथपर पड़ जाय तो चारों ओर हरे-भरे शस्य-श्यामल प्राङ्गणसे गुजरते हुए सर्वत्र सौन्दर्य-ही-सौन्दर्यके दर्शन करते हुए केवल मधुरता-ही-मधुरताका अनुभव लेते हुए हम निश्चित ही परम आनन्द, परम शान्तिके आखिरी मंजिलपर पहुँच जायँगे, जो मानवका परम लक्ष्य है।

धार्मिकता सदाचारद्वारा प्रकट होती है

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

धर्मका सबसे महत्त्वपूर्ण और उपयोगी तत्त्व उसका आचरण है। जब हमारे शुभ संकल्प हमारे दैनिक कार्यों और व्यवहारमें प्रकट होते हैं तो वह सदाचार कहलाता है। सदाचारका अर्थ है—उत्तम या उपयोगी आचरण (कार्य)। जिस शुभ विचारको कर्मद्वारा प्रकट न किया जाय, उससे क्या लाभ! कोरे विचारमात्रसे व्यक्ति या समाजको कोई स्थायी लाभ नहीं होता। लाभदायक तत्त्व तो 'सत्कर्म' ही हैं। 'चाणक्यनीति' में कहा गया है—

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥
(चाणक्यनीति ४। १, १३। ४, हितोपदेश, प्रस्ता० २८,)

'जीव जब गर्भमें ही रहता है, तभी उसके लिये आयु, कर्म, धन, विद्या और मरण—ये पाँचों रचे जाते हैं।' चाणक्यके अनुसार पुरुषकी परीक्षा उसके आचारसे ही होती है—

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते
निघर्षणच्छेदनतापताडनैः।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते
श्रुतेन शीलेन कुलेन कर्मणा॥
(चाणक्यनी० ५। २)

'सोनेकी परख जैसे कसौटीपर घिसकर, काटकर, तपाकर और पीटकर की जाती है, वैसे ही पुरुषकी परख उसके ज्ञान, त्याग, कुल और शीलसे की जाती है।' संसारमें कर्म ही प्रधान है। कर्मके अनुसार ही कोई जन्म-मृत्युके फंदेमें पड़ा रहता है। एक अपने कर्मोंका शुभाशुभ फल भोगता है, एक नरकमें पड़ता है, तो दूसरा परमगतिको प्राप्त होता है।

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते॥
(सुभाषि० भा० ४। १६२। २९०)

'जीव स्वयं कर्म करता है और उसके शुभाशुभ फलको भी वह स्वयं ही भोगता है। कर्मके कारण ही वह संसारमें चक्कर खाता और उत्तम कर्मोंके फलस्वरूप वह स्वयं ही मोक्ष भी प्राप्त करता है।'

मनुष्यका जीवन गुण-दोषोंसे परिपूर्ण है। जितने अंशोंमें दोष होते हैं, उतने ही अंशोंमें हमें अपने चरित्रमें दानवत्व या राक्षसत्व मानना चाहिये। दोष-दुर्गुण निन्द्य विकार हैं। ज्यों-ज्यों मानवताका विकास होता है, त्यों-त्यों गुणोंकी अभिवृद्धि होती है। सही दिशाओंमें बढ़नेका अर्थ ही है—विकारोंसे मुक्ति और गुणोंका कार्योंके माध्यमसे प्रकटीकरण। अच्छे कर्मोंसे ही यह पहचाना जा सकता है कि आदमी देवत्वके कितना निकट पहुँच गया है; क्योंकि देवत्व ही सर्वगुण-सम्पन्न हो सकता है। गुणोंका कार्योंद्वारा स्पष्ट होना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। सच्चरित्रताका अर्थ है—विषय-विकारोंसे मुक्ति, दुष्कर्मोंसे सुरक्षा, वासनाओंकी रोकथाम, चरित्रमें सत्य, न्याय, प्रेम, दया, उदारता, विनम्रता, सुशीलता और सहानुभूतिका विकास। किंतु ये सद्गुण सिर्फ कहने-सुननेकी बात नहीं हैं। प्रत्येक गुण या देवत्वकी विशेषताका पता तब लगता है, जब वह प्रत्यक्ष कर्मोंद्वारा प्रकट होता है। सच्चरित्रता हमारे उत्तम कार्यों और सद्व्यवहारसे ही प्रकट होती है। हम 'सत्य'को धारण कर रहे हैं अथवा नहीं, यह तब प्रकट होता है, जब हमारे उत्तम कार्य देखे जायँगे। आप जो कहते हैं, वही करते भी हैं या नहीं—यह सचाई आपके दैनिक व्यवहारसे प्रकट होगी। 'उदारता' कहा जानेवाला गुण उन कार्योंसे स्पष्ट होता है, जिसे आप समाजके दूसरे सदस्योंके प्रति दिखलाते हैं।

आपकी बातचीतसे विनम्रता, शिष्टाचारसे आपकी भावभङ्गिमा मालूम होगी। व्यक्तिकी सुशीलता सज्जनोचित व्यवहारपर निर्भर है। 'दया' नामक गुण अपनेसे दीन-हीन असहायके प्रति सहायता-सहयोगके कामोंसे स्पष्ट होगा। मनुष्यकी शूरता, वीरता, धैर्य और कष्टसहिष्णुता आदि कहनेमात्रकी बातें न होकर प्रत्यक्ष करनेकी हैं। आपका जीवन किस कोटिका है, यह आपके सदाचारसे ही स्पष्ट होता है। सच्चा सदाचारी वही है, जिसकी चारित्रिक विशेषताएँ उसके दैनिक कार्योंसे प्रकट होती रहती हैं। सदाचार वह सही नैतिक मार्ग है, जिसे अपनानेसे स्वास्थ्य, सुख, शान्ति और दीर्घजीवन प्राप्त होता है। सदाचार बुद्धि और विवेकको परिष्कृत करता है, चरित्रको दृढ़ बनाता है और मनमें अदम्य नैतिक साहस विकसित करता है।

शुद्ध आचार सब सफलताओंका मूल है। नैतिक आधार स्थायी जड़ है, जहाँसे सदाचारकी उत्पत्ति होती है। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम, त्यागी भाई भरत, सेवाके प्रतीक लक्ष्मण, हिंदुत्वके रक्षक शिवाजी, वीरवर महाराणा प्रताप, भारतकी स्वतन्त्रताका उद्घोष करनेवाले लोकमान्य तिलक, सुभाषचन्द्र बोस, महात्मा गाँधी अपने सदाचारके कारण ही पूजे जाते हैं। ईसाने शत्रुओंके प्रति प्रेमभाव रखनेके लिये कहकर उनसे एकान्तमें बताया था कि मनकी शान्ति कैसे प्राप्त की जाती है। शत्रुओंको बार-बार क्षमा कर दो—यह कहकर ईसा महान्ने बताया था कि इस प्रकारके आचरणसे हम रक्तचाप, हृदयरोग, उदरव्रण आदि अन्य व्याधियोंसे दूर रह सकते हैं। जिस मनुष्यमें सदाचार नहीं है, वह जड़ वृक्षकी तरह है। मानव-जीवन सदाचरणके लिये ही है। अतः सदाचारका पालन करते रहें और अपने जीवनको धन्य बनाते रहें।

जीवनका अमृत—सदाचार

(लेखक—कलाकार श्रीकमलाशंकर सिंहजी)

इस संसारमें सदाचारी-दुराचारी, संयमी-व्यभिचारी, सज्जन-दुर्जन, निर्मल-पतित, धनी-निर्धन, पण्डित-मूर्ख सभी प्रकारके लोग भरे पड़े हैं। उनमें हम किसी व्यक्ति-विशेषके प्रति जो आकर्षित होते हैं, उसमें उस व्यक्तिकी सुन्दरता, वेशभूषाकी विशेषता, वाणीकी मधुरता और विद्वता अथवा कार्यक्षमता आदि बातें ही हमारे आकर्षणका कारण होती हैं। पर इन सबसे परे किसीमें एक अन्तर्वर्ती तत्त्व भी होता है, जो जनसमूहको अपनी ओर स्थायी रूपसे आकृष्ट करता है। यह अन्तर्वर्ती तत्त्व होता है, उस व्यक्तिका आचार और उसके विचारोंकी पवित्रता, उसकी सत्यनिष्ठा तथा देश और समाजकी सेवामें संकल्पित मन, वचन और कर्मकी एकाग्रता—जिसे हम 'सदाचार' कहते हैं। सदाचारी व्यक्ति भले ही कुरूप हो, उसकी वेश-भूषा आकर्षक न हो, उसकी वाणी ओज-हीन हो अथवा उसमें बुद्धि-चापल्य और बुद्धिकी दार्शनिकता भी न हो तो भी वह अपने सद्वृत्तियोंके कारण एक दैवी प्रतिमा, एक दैवी गुणसे समादृत होनेके नाते सबके स्थायी आकर्षणका केन्द्र होगा।

सदाचारकी भावना इतनी पवित्र है कि वह जीवनमें, समाजमें, भीतर-बाहर सब जगह पवित्रता वितरित करती है और इसे ही प्रतिष्ठित करना चाहती है और हमारी सद्वृत्तियोंको भी जाग्रत् करती है। सदाचारीका सम्पूर्ण जीवन पवित्र रहता है। जिस प्रकार कलाकारकी कला उसके समस्त दृष्टिकोणको कलामय बना देती है, उसकी मात्र चित्रकला ही नहीं, उसकी समस्त कृतियाँ, उसकी वाणी, व्यवहार, उसके चलने-फिरने, उठने-बैठने, खाने-पीने-रहने आदि सभी क्रियाओंको प्राणवान् एवं कलात्मक बनाना चाहती है, उसी प्रकार सत्यका ध्येय

सदाचारोंके दृष्टिकोणको शुद्ध, सात्त्विक, प्रेमिल और निर्भय तो बनाती ही है, उसके सम्पूर्ण जीवनको अपने विशिष्ट सौरभ एवं माधुर्यसे **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** बना देती है।

सदाचार वह स्नेहयुक्त दीपक है, जो मानवको घने अन्धकारसे निकाल, असभ्यताके पङ्कसे खींचकर, बर्बरताकी सीमाका अतिक्रमण कराकर, संतोंकी कोटिमें ला बैठाता है। यह मनुष्यको ऊँचा उठाता है, नरसे नारायण बनाता है। यदि आप इतने उच्च स्थानपर पहुँच जायँ जहाँ दुश्चिन्ताकी गुंजाइश नहीं, दुष्कर्मके लिये स्थान नहीं और दुर्भावका भी अभाव है तो आप ब्रह्म हैं और आपकी और ईश्वरकी सत्तामें कोई अन्तर नहीं है। प्राणी अपने मन, वचन और शरीरसे जैसा कर्म करता है, फिर स्वयं वैसा ही फल भोगता है। आत्मा ही सुख और दुःखको उत्पन्न करनेवाला है। आत्मा ही कर्ता-धर्ता है। सदाचारसे आत्मा मित्र है और दुराचारसे अमित्र। 'आचार ही स्वर्ग है और अनाचार ही नरक'।

मनुष्यके जैसे विचार होते हैं, वैसे ही उसके आचरण भी होते हैं। कड़वे-विषैले विचारोंसे जीवात्मा दूषित हो जाता है। बुरे विचार बुरे कामोंसे भी भयंकर हैं। सद्विचारोंके अभावमें सदाचार, सत्कर्म असम्भव है। ऊँचे विचार रखना पावन जीवनके लिये अनिवार्य है। सद्विचारोंका जन्म होता रहे और असत् विचारोंका स्पर्श भी न होने पाये तो मनुष्य अपनी असीम आत्म-शक्तिका प्रत्यक्षीकरण कर सकता है। ऐसे ही व्यक्तियोंमें दृढ़ संकल्पकी शक्ति होती है और उसकी सुप्त शक्तियाँ जाग उठती हैं। विचारोंका कोई मूर्त रूप नहीं, उसका कोई आकार नहीं; फिर भी संसारमें कोई ऐसा बुद्धिमान् नहीं, जो विचारोंकी शक्तिमें विश्वास न करता हो। यह विचारोंकी शक्ति जब संकल्पके रूपमें परिवर्तित हो जाती है, तब मानव-जीवनमें आत्म-विश्वास और आत्म-निर्भरता उत्पन्न होती है। सदाचारका सीधा सम्बन्ध विचारसे है। पहले विचार, तब आचार—इस प्रकार **'असतो मा सद्गमय'**—असद्विचारोंसे निकालकर हम सद्विचारोंकी ओर चलते हैं।

स्वामी विवेकानन्दजी सदा ईश्वरसे ही प्रार्थना करते थे कि उनके हृदयमें सदा सद्विचारोंका ही जन्म हो। उनके विचारोंपर असत्‌की छाया भी न पड़ने पाये। वे यह जानते थे कि जबतक मनुष्य अपने सद्विचारोंके अनुरूप संसारमें अच्छे कार्य नहीं करेगा, तबतक उसके साथ कौन सद्व्यवहार करेगा?

सदाचारका मूल विनय है। जो उद्धत न हो, नम्र हो, चपल न हो, स्थिर हो, शिष्ट हो; वही सदाचारी है। सदाचारीमें सहृदयता, सज्जनता, उदारता, श्रद्धालुता और सहिष्णुता अपना स्फुटरूप लिये प्रत्यक्ष होती है। सदाचारीको अपने प्रति पूर्ण विश्वास होता है। उसमें आत्म-गौरव होता है। वह दीन-दुःखियोंकी दीनतापर अपनेको अर्पण करता है। वह सहृदय और उदार होता है। वह सभ्य और शीलवान् होता है। वास्तवमें, जिसका चित्त शान्त है, जो सबके प्रति कोमल भाव रखता है, जो अपना अपमान होनेपर भी क्रोध नहीं करता, जो मन, वाणी और क्रियाद्वारा कभी दूसरोंसे द्रोह करनेकी इच्छा नहीं रखता, जिसका चित्त दयासे द्रवित हो जाता है, द्वेष और हिंसासे सदा ही जो मुँह मोड़े रहता है—जिसमें क्षमाकी क्षमता है, उसका जीवन सदा उज्ज्वल, निष्कलङ्क बना रहता है। वह अपने आचारद्वारा, अपने व्यवहारद्वारा दूसरोंको प्रसन्न रखनेकी कला जानता है। जो कुछ वह अपने प्रति चाहता है, वैसा ही दूसरोंके प्रति भी करना वह अपना धर्म मानता है—

'यद्यदात्मनि चेच्छेत तत् परस्यापि चिन्तयेत् ॥'

आचारहीन व्यक्तिको वेद या ज्ञान पवित्र नहीं करता, उसे ऊँचा नहीं उठा सकता। जब ज्ञान

क्रियाशीलतामें परिणत होता है और आचरणकी शानपर चढ़ता है, तब वास्तविक चरित्रका निर्माण होता है। मनुष्य चाहे परम ज्ञानी हो, पर सदाचारी न हो तो उसके ज्ञानका कोई मूल्य नहीं। सदाचारके अभावमें ज्ञान विषके समान भयंकर हो सकता है। रावण विद्वान् था, ज्ञानवान् था, चारों वेद और छः शास्त्रोंका महान् पण्डित था, परंतु वह सदाचारी न था; चरित्रहीन था। अतः उसके दस सिरके ऊपर भी गदहेका सिर था। इसके विपरीत भगवान् राम केवल सदाचारके बलपर ही विजयी एवं पूज्य हुए। सदाचारसे ही मानव-जीवन सन्मार्गपर अग्रसर होता है, कोरे ज्ञानका कोई महत्त्व नहीं। मनुष्य अपने जीवनमें अपने आचरणद्वारा ही चरित्रकी शक्ति अर्जित करता है। चरित्रकी शक्ति असीम है। चरित्रवान् व्यक्ति कठिन-से-कठिन परिस्थितिमें भी अपने चरित्र और अपने शीलगुणका त्याग नहीं करता। संसार अपने पथसे भले ही विचलित हो जाय, परंतु वह अपने सत्याचरणका पथ कभी न छोड़ेगा। सत्यकी रक्षाके लिये वह अपने प्राणोंकी बाजी लगा देगा। सत्यकी रक्षा की थी—भीष्मपितामहने शर-शय्यापर; ईसाने सूलीपर चढ़कर और मीराने विष-पान कर।

सच्चे उद्देश्यको लेकर हजारों आदमी शूलीपर चढ़ते रहे हैं। यदि विचार विमल हो, जीवन निर्दोष हो, उद्देश्य उच्च हो और कष्टका पहाड़ सिरपर गिर पड़े तो कष्ट नहीं होता, ग्लानि नहीं होती, वरन् सत्पुरुष अपने प्राण लेनेवालोंपर दया ही करते हैं; आशीष ही देते हैं और ईश्वरसे उन्हें क्षमा कर देनेकी प्रार्थना भी करते हैं। सत्पुरुषोंकी यही महत्ता है। इनके ही लिये स्वामी विवेकानन्दजीने कहा है—'सारी दुनियाँ ही क्यों, स्वयं अपने द्वारा भी तिरस्कृत कपूतके होंठ जब सूखने लगते हैं तो माँके स्तनोंसे वात्सल्य फूट पड़ता है, वैसे ही पतित-से-पतितके लिये भी सत्यका हिमाचल अपने वक्षमें करुणारूपी गङ्गा छिपाये रहता है।' (Complete works of Swami Vivekananda)

भला करनेवालेका भला तो प्रायः सभी करते हैं, परंतु जो बुरा करनेवालेका भी भला करता है—वह शिवत्वको प्राप्त करता है, जो सदाचारसे ही सम्भव है—

उमा संत कइ इहइ बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥

जीवनमें सदाचारकी प्रेरणा सुरुचिसे ही मिलती है—यही भावस्रोत है। बहुत दिनों पहलेकी बात है। मिस्रमें 'नकिबेन' नामके एक सदाचारी राजा राज्य करते थे। उनके सत्याचरणसे देवता बड़े प्रसन्न हुए। प्रकट होकर नील देवताने राजाको एक तलवार दी और कहा—'राजन्! यह तलवार ले, इसे लेकर तू विश्व-विजयी होगा।' इसपर राजा बोला—'प्रभो! मुझे तलवार नहीं चाहिये। विश्व-विजय करके मैं क्या पाऊँगा?' 'अच्छा तो ले यह पारस-पत्थर! तू देवताओंसे भी अधिक धन एकत्र करेगा।' 'प्रभो! अपरिमित धन पाकर अन्ततः मैं क्या करूँगा?' 'तो ले, यह स्वर्गकी सबसे सुन्दर अप्सरा।' 'मगर प्रभो! अप्सरा पाकर मैं जीवनकी कौन-सी सिद्धि पा जाऊँगा?' 'तो ले, यह फूलका पौधा, यह जहाँ उगेगा, वहाँ जड़-चेतन, शत्रु-मित्र सभी सुगन्धसे आपूरित हो जायँगे।' देवताने कहा।

इसपर राजाने बड़ी कृतज्ञताके साथ वह पौधा उससे ले लिया। देवदूत स्वर्गकी समस्त नियामतें राजा नकिबेनके इस चतुर प्रवीण निश्चयपर न्यौछावर करते हुए चला गया। राजाके इस चयनपर दुनियाँ आज भी मुग्ध है। क्यों? इसलिये कि उसने ऐसी दैवी सम्पदा चुनी, जिसे व्यक्ति सम्पूर्णतः भोगकर भी अकेला नहीं भोगता है। ऐसी सम्पदा, जो व्यक्तिसे कुछ लेती नहीं, जो व्यक्ति-व्यक्तिको बिलगाती नहीं, प्रत्युत मिलाती है तथा जिसका मूल्य कभी घटता नहीं। तलवारका पानी

उतर जाता है, धनका भी दुरुपयोग हो जाता है, सुन्दरीकी श्री ढल जाती है, किंतु फूलका सम्मान कभी नहीं घटता। जो भी आँखें उसे देख लेती हैं, स्वयं खिल जाती हैं। जो भी दिल उसकी गन्ध छू लेता है, खुद फूल बन जाता है। फूलकी सौरभसे देवता भी स्वर्गसे धरतीपर आकर वरदान बिखेरने लगते हैं। वरदान ही है, सदाचारका साध्य।

सदाचार सहज साधना है। यदि हम ईश्वरकी सर्वव्यापकताका चिन्तन प्रत्येक श्वासमें करते रहें—इस अभ्याससे विरत न हों, तो हमारा जीवन सहज ही अमृतमय हो जाय।

आदमी मन्दिरमें पूजा तथा आरती करके और भिक्षुकोंको भिक्षा देकर मानने लगा है कि वह सदाचारी है तथा निर्वाण-अधिकारी हो गया है, किंतु दफ्तरमें कुर्सीपर और दुकानमें बैठकर उसे झूठ बोलना है, चोरी करनी है, घूस लेना है और हर सम्भव उपायसे, नैतिक-अनैतिक ढंगसे अपने लिये अर्थोपार्जन करना है, छलसे काम-तृप्ति करना है। पर 'सहज साधना'के लिये सारे जीवनको एक मानकर चलना होगा। जीवनका कोई खास क्षण या समय आराधनाके लिये निश्चित नहीं किया जा सकता, बल्कि जीवनके प्रत्येक क्षणको आराधनामय बनाना होगा। जीवनकी कोई खास क्रिया नहीं, बल्कि सारी क्रियाएँ पूजा होंगी—

'जहँ-जहँ जाऊँ सोइ परिकरमा, जोइ-जोइ करूँ सो पूजा।
सहज समाधि सदा उर राखूँ, भाव मिटा दूँ दूजा॥'

उसीका जीवन महत्त्वपूर्ण बनता है, जिसके जन्म तथा मृत्युने सदाचारका मार्ग प्रशस्त करनेमें सहयोग दिया है।

सदाचार आत्मगुण है—इसके द्वारा हृदय-मन्थनसे जो सत्य प्रकट होता है, वह है जीवनका अमृत और असत्य है विष। धन्य हैं सदाचारी वे, जो विषका शमन और अमृतकी निरन्तर वर्षा करते रहते हैं।

किसीके कष्टकी उपेक्षा उचित नहीं

कलकत्तेके एक कालेजके कुछ विद्यार्थी वहाँका 'फोर्ट विलियम' दुर्ग देखने गये। सहसा उनके एक साथीके शरीरमें पीड़ा होने लगी। उसने अपने मित्रोंसे अपनी पीड़ा बतायी और वह सीढ़ियोंपर बैठ गया, लेकिन उसके साथियोंने उसकी बातपर विश्वास नहीं किया; बल्कि उपेक्षा की और उसकी हँसी उड़ाते हुए वे सब ऊपर चले गये।

ऊपर पहुँचकर एक विद्यार्थीके मनमें संदेह हुआ—'कहीं सचमुच ही तो उसे पीड़ा नहीं है?' वह लौट पड़ा। नीचे आकर वह देखता क्या है कि वह विद्यार्थी मूर्च्छित पड़ा है। ज्वरसे उसका शरीर जल रहा है। दूसरे विद्यार्थीने दौड़कर एक गाड़ी मँगायी और उसे गाड़ीमें चढ़ाकर घर ले गया। उसके अन्य साथियोंको जब पता लगा, तब उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ।

उस विद्यार्थीका नाम तो ज्ञात नहीं, जो बीमार था; किंतु जो उसे गाड़ीमें रखकर ले आया था, वह था नरेन्द्र। आगे चलकर संसारमें वही स्वामी श्रीविवेकानन्दके नामसे विख्यात हुआ।

सदाचार मानव-मनकी महानुभावता है

(लेखक—पं० श्रीजगदीशजी पाण्डेय, बी० ए०, बी-एड्०)

विद्या-वैभव, कला, साहित्य एवं राज-ऐश्वर्य—इन सबसे अधिक सदाचार समृद्ध तथा प्रभावपूर्ण है। एक सदाचारी व्यक्ति भौतिक रूपसे गरीब होकर भी धनी-मानी श्रीमन्तोंके हृदयोंपर अपना प्रभाव डाल सकता है। नम्रता, दया, प्रेम, सहानुभूति, उदारता, त्याग—जीवनके प्रायः सभी आदर्शभाव सदाचारमें ओतप्रोत हैं। सदाचार मानव-मनका उत्फुल्ल कमल है। यह दानवके मनको भी अपनी मञ्जुल स्निग्ध सुगन्धसे अभिभूत कर सकता है। सदाचार आचरणकी पवित्रता है, मृदु वचनोंकी मिठास है और है—विद्याका व्यावहारिक धन्वन्तरि-कल्प। एक गरीब किसानकी सादगी और सचाईमें भी सदाचारका पौधा पनप सकता है, एक भूखे कंगालकी तंग-परस्तीमें भी इसका बिरवा लहलहा सकता है। इसपर किसी एक वर्गका विशेषाधिकार नहीं, यह सम्पूर्ण मानव-मनकी सच्ची मानवता है।

राजा दिलीप अपनी आश्रिता गौको सिंहद्वारा आक्रान्त देखकर उसके रक्षार्थ अपना शरीर सिंहको समर्पित करनेके लिये उद्यत हो गये। यह सदाचारकी अद्भुत झाँकी है। महाभारतमें वर्णित सक्तुप्रस्थीय ब्राह्मण-कथामें आता है कि किस प्रकार एक भूखे कंगाल परिवारके सदस्य बहुत दिनोंसे क्षुधातप्त होकर भी कठिनाईसे प्राप्त सत्तू एक अतिथिको खिलाकर स्वयं मर मिटे। यह सदाचारकी ज्वलन्त झाँकी है। तभी तो उस उच्छिष्ट सत्तूकी गन्धमात्रसे उस नेवलेका आधा शरीर स्वर्णमय हो गया। आजके युगमें भी बहुतसे गरीब भाई-बहन कहींसे प्राप्त रुपया-पैसा या अन्य सामग्री सूचना मिलनेपर मालिकको लौटा देते हैं। ऐसे कई उदाहरण हमलोगोंके जीवनमें मिलते हैं।

महात्मा बुद्धने किस प्रकार अपने जीवनकी परवा किये बिना अङ्गुलिमाल डाकूके दिलको जीत लिया—यह सर्वविदित है। सदाचार निर्मल अन्तः-करणका पवित्र सलिल है। छत्रपति शिवाजीके सैनिकोंने एक जनपदपर अधिकार करते समय एक सुन्दर कामिनीको पकड़ लाये और उसे शिवाजीके सम्मुख पेश किया। शिवाजीने सैनिकोंको कड़ी फटकार बतायी और उस रमणीको सम्बोधित करते हुए कहा—'मेरी माँ इतनी सुन्दर होती तो मैं इतना कुरूप न हुआ होता' और उसे सम्मानके साथ उसके घर पहुँचवा दिया। यह है—सदाचारका अनुपम उदाहरण!

इस प्रकार हम देखते हैं कि सदाचार जीवनका एक अनमोल रत्न है। यह सत् आचरण एक ऐसा भव्य एवं भद्र व्यवहार है, जो आचरणकर्ताके मनको तो तृप्ति प्रदान करता ही है, दूसरेको भी आनन्द-परिपूरित करता है। अतः यह सर्वथा सबके लिये अनुकरणीय है। सदाचारसे जीवनमें आनन्दको कौन कहे, परमानन्दकी प्राप्ति होती है।

संतका धन्यवाद!

उसमान हैरी नामके एक संत थे। वे एक बार एक गलीसे जा रहे थे। इसी समय किसीने अचानक उनपर ऊपरसे एक थाल राख डाल दी। संत अपने वस्त्र झाड़कर प्रभुका धन्यवाद करने लगे। लोगोंने पूछा कि 'इस समय धन्यवादका क्या प्रसङ्ग था।' वे बोले, 'मैं तो अग्निमें जलाये जाने योग्य था, किंतु प्रभुने दया करके राखसे ही निर्वाह कर दिया। इसीसे मैं उनका धन्यवाद करता हूँ।'

—पारसमणि

कर्णकी दानशीलता

एक बार इन्द्रप्रस्थमें पाण्डवोंकी सभामें ही भगवान् कृष्ण कर्णकी दानशीलताकी प्रशंसा करने लगे । अर्जुनको यह सब अच्छा न लगा । उन्होंने कहा—'हृषीकेश ! धर्मराजकी दानशीलतामें कहाँ त्रुटि है, जो उनकी उपस्थितिमें आप कर्णकी प्रशंसा कर रहे हैं ?', 'इस तथ्यको तुम स्वयं समयपर समझ लोगे ।' यह कहकर उस समय श्रीकृष्णने बातको टाल दिया ।

कुछ समय पश्चात् अर्जुनको साथ लेकर श्यामसुन्दर ब्राह्मणके वेशमें पाण्डवोंके राजसदनमें आये और बोले—'राजन् ! मैं अपने हाथसे बना भोजन करता हूँ । भोजन मैं केवल चन्दनकी लकड़ीसे बनाता हूँ और वह काष्ठ तनिक भी भीगा नहीं होना चाहिये ।'

उस समय खूब वर्षा हो रही थी । युधिष्ठिरने राजभवनमें पता लगा लिया, किंतु सूखा चन्दन-काष्ठ कहीं मिला नहीं । सेवक नगरमें गये, किंतु संयोग ऐसा कि जिसके पास भी चन्दन मिला, सब भींगा हुआ मिला । धर्मराजको बड़ा दुःख हुआ । किंतु उपाय कुछ भी न था ।

उसी वेशमें वहाँसे सीधे श्रीकृष्ण और अर्जुन कर्णकी राजधानी पहुँचे और वही बात कर्णसे भी कही। कर्णके राजसदनमें भी सूखा चन्दन नहीं था और नगरमें भी न मिला । कर्णने सेवकोंसे नगरमें चन्दन न मिलनेकी बात सुनते ही धनुष चढ़ाया । राजसदनके मूल्यवान् कलाङ्कित द्वार चन्दनके पायेके बने थे । कई दूसरे उपकरण भी चन्दनके बने थे । क्षणभरमें बाणोंसे कर्णने उन सबको चीरकर एकत्र करवा दिया और बोले—'भगवन् ! आप भोजन बनायें ।'

वह आतिथ्य प्रेमके भूखे गोपाल कैसे छोड़ देते । वहाँसे तृप्त होकर जब बाहर आ गये, तब अर्जुनसे बोले—'पार्थ ! तुम्हारे राजसदनमें भी द्वारादि चन्दनके ही हैं । उन्हें देनेमें पाण्डव कृपण भी नहीं हैं, किंतु दानधर्ममें जिसके प्राण बसते हैं, उसीको समयपर स्मरण आता है कि पदार्थ कहाँसे कैसे लेकर दे दिया जाय ।'

× × ×

'आज दानशीलताका सूर्य अस्त हो रहा है ।' जिस दिन कर्ण युद्धभूमिमें गिरे, सायंकाल शिविरमें लौटकर श्रीकृष्ण खिन्नमुख बैठ गये । 'अच्युत ! आप उदास हों, क्या इतनी महानता कर्णमें है ?' अर्जुनने पूछा ।

'चलो ! उस महाप्राणके अन्तिम दर्शन कर आयें । तुम दूरसे ही देखते रहना ।' श्रीकृष्ण उठे । उन्होंने वृद्ध ब्राह्मणका रूप बनाया । रक्तसे कीचड़ बनी, शवसे पटी, छिन्न-भिन्न अस्त्र-शस्त्रोंसे पूर्ण युद्धभूमिमें रात्रिकालमें शृगालादि घूम रहे थे । ऐसी भूमिमें मरणासन्न कर्ण पड़े थे ।

'महादानी कर्ण !' पुकारा वृद्ध ब्राह्मणने ।

'मैं यहाँ हूँ, प्रभु !' किसी प्रकार पीड़ासे कराहते हुए कर्णने कहा ।

'तुम्हारा सुयश सुनकर बहुत अल्प द्रव्यकी आशासे आया था !' ब्राह्मणने कहा । 'आप मेरे घर पधारें !' कर्ण और क्या कहते ?

'मुझे जाने दो ! इधर-उधर भटकनेकी शक्ति मुझमें नहीं !' ब्राह्मण रुष्ट हुए । 'मेरे दाँतोंमें स्वर्ण लगा है । आप इन्हें तोड़कर ले लें !' कर्णने सोचकर कहा ।

'छिः ! ब्राह्मण अब यह क्रूर कर्म करेगा !' ब्राह्मण-रूप कृष्ण और रुष्ट-से हुए ।

किसी प्रकार कर्ण खिसके । उन्होंने पास पड़े एक शस्त्रपर मुख पटक दिया । शस्त्रसे टूटे दाँतोंका

स्वर्ण निकाला, किंतु रक्तसना स्वर्ण ब्राह्मण कैसे ले। धनुष भी चढ़ानेकी शक्ति कर्णमें नहीं थी। मरणासन्न, अत्यन्त आहत कर्णने हाथ तथा घायल मुखसे धनुष चढ़ाकर वारुणास्त्रके द्वारा जल प्रकट कर स्वर्ण धोया और दान किया। अब श्रीकृष्ण प्रकट हो गये! अन्तिम समय कर्णको दर्शन देकर कृतार्थ करने ही तो पधारे थे लीलामय श्यामसुन्दर! उनके देवदुर्लभ चरणोंपर सिर रखकर कर्णने देहत्याग किया!

सदाचारकी महिमा

(रचयिता—श्रीमदनजी साहित्यभूषण, विशारद, शास्त्री, साहित्यरत्न)

सदाचार-मलयानिलकी मधु सुरभि व्याप्त जिस तनमें।
सुलभ उसे देवत्व सदा, सुविचार जागते मनमें॥

परोपकार, हितचिन्तन, सेवा, सत्सङ्गति वह करता।
पारसका गुण स्वतः हृदयमें क्रमशः प्रतिपल भरता॥

छिद्रान्वेषण जिसे न भाता, परनिन्दा न सुहाती।
अन्धकारमें नव प्रकाशकी, वही जलाता बाती॥

ऋषि, मुनि, संत-तपस्वी, पूर्वज सदाचार अपनाये।
सफल समुन्नत जीवनका सोपान इसे बतलाये॥

शुभाचरण, निर्मल चरित्रका निर्माता, व्याख्याता।
निष्ठा, स्नेह, सरल मानवता, सद्विवेकका दाता॥

सदाचार कुलकी मर्यादा, जन-जनकी प्रिय थाती।
सदा प्रेरणा देता सात्त्विक, ज्यों स्वर सुखद प्रभाती॥

दिशि-दिशि कीर्ति-प्रसारक, उरमें नव उमंग भरता है।
श्रद्धा-सुमन खिलाता जगमें, स्वजन-सृष्टि करता है॥

विश्ववन्द्य पुरुषोंने इसकी महिमा विशद बतायी।
आदि कालसे सद्ग्रन्थोंने गाथा जिसकी गायी॥

पग-पगपर नित सदाचारका जो विचार रखता है।
मृदुभाषी, विनम्र, संकल्पी, सिद्ध वही बनता है॥

सदाचारके प्रहरी

(१)

भगवान् आद्यशंकराचार्य

शंकरावतार आचार्य शंकर भारतके दार्शनिक अग्रणी आचार्य एवं महापुरुष थे। इनकी जीवनी तथा दार्शनिकतापर विभिन्न भाषाओंमें हजारों श्रेष्ठ पुस्तकें हैं। इनके जन्मसमय आदिके सम्बन्धमें बड़ा मतभेद है। आचार्यपीठके परम्परानुसार इनका आविर्भाव विक्रमसे एक शती पूर्व हुआ* था। 'दिग्विजयों'के अनुसार केरलप्रदेशके पूर्णानदीके तटवर्ती कालडी नामक गाँवमें एक बड़े विद्वान् और धर्मनिष्ठ ब्राह्मण श्रीशिवगुरुकी धर्मपत्नी श्रीसुभद्रा (विशिष्टा-)के गर्भसे वैशाख-शुक्ल पञ्चमीके दिन इनका जन्म हुआ था। इनके पिताने बड़ी श्रद्धा-भक्तिसे पुत्रजन्मके लिये भगवान् शंकरकी तीव्र आराधना की थी। उनकी सच्ची और आन्तरिक आराधनासे प्रसन्न होकर आशुतोष सदाशिवने उनके पुत्ररत्न होनेका वरदान दिया था। इसके फलस्वरूप उन्होंने न केवल एक सर्वगुणसम्पन्न पुत्रको, बल्कि पुत्र-रूपमें स्वयं भगवान् शंकरको ही प्राप्त किया और उनका नाम भी शंकर ही रख दिया।

बालक शंकरके रूपमें कोई महान् विभूति अवतरित हुई है, इसका प्रमाण लोगोंको इनके बचपनसे ही मिलने लगा था। एक वर्षकी अवस्था होते-होते बालक शंकर अपनी मातृभाषामें अपने भाव प्रकट करने लगे। दो वर्षकी अवस्थामें मातासे पुराणादिकी कथा सुनकर कण्ठस्थ करने लगे। तीन वर्षकी अवस्थामें उनका चूडाकर्म हुआ। इसके बाद उनके पिता स्वर्गवासी हो गये। पाँचवें वर्षमें यज्ञोपवीत करके इन्हें गुरुके घर पढ़नेके लिये भेज दिया गया। केवल सात वर्षकी अवस्थामें ही व्युत्पन्न शंकर वेद, वेदाङ्गों और वेदान्तका पूर्ण अध्ययन करके घर वापस आ गये! उनकी असाधारण प्रतिभा देखकर उनके गुरुजन आश्चर्य-चकित हो जाते थे।

विद्याध्ययन समाप्त कर ही शंकरने संन्यास लेना चाहा। उन्होंने मातासे आज्ञा माँगी। माताने अनुमति नहीं दी। भला इतनी बड़ी तपस्याके बाद वरदानमें प्राप्त पुत्रको पुत्रवत्सला प्रव्रज्याके लिये अनुमति कैसे दे सकती थी? माताका नवनीत-कोमल हृदय ममता-की सीमा होता है—वस्तुत: 'माता-सदृश ममता अन्य की न है न होगी।' शंकरको संन्यासकी अपनी प्रबल उत्कण्ठा प्रेरित कर रही थी, परंतु सदाचारी बालकके लिये जननीकी अनुमति श्रुतिकी ही भाँति अनिवार्य एवं मान्य थी। फिर भी शंकर, भगवान् शंकरके अवतार थे और भगवान्‌को उन्हें शंकराचार्य बनाकर सदाचार तथा अद्वैतवादकी साधनाका सम्यक् प्रचार-प्रसार कराना इष्ट था। भावीने अनुकूल परिस्थिति जुटा दी।

एक दिन शंकर माताके साथ नदीमें स्नान करने गये। वहाँ उन्हें एक मगरने पकड़ लिया। माता बेचैन हो उठी। भगवान् शंकरने शंकरके मुँहसे कहलाया—'मुझे संन्यास लेनेकी अनुमति दे दो तो मगर मुझे छोड़ देगा।' पुत्रवत्सलाने अपने प्रिय पुत्रके अत्यन्त प्रिय प्राणोंके रक्षा-हेतु संन्यास ले लेनेकी अनुमति दे दी। शंकर मगरसे छूट गये। माताको प्रसन्नता हुई।

माताकी अनुमति प्राप्त कर अष्टवर्षीय स्नातक ब्रह्मचारी शंकर संन्यासी होने घरसे निकल पड़े। घर

* पं० श्रीउदयवीर शास्त्रीके 'वेदान्तदर्शनका इतिहास'का प्रथम भाग मुख्यतया इनके जन्मकालके निर्णयपर ही पर्यवसित हुआ है। इनके जन्मकाल-विमर्शके लिये उसे देखना चाहिये। उसमें कल्याणके भी कुछ उद्धरण संगृहीत हैं।

छोड़ते समय शंकर मातासे कह गये कि 'माँ! तुम्हारी मृत्युके समय मैं घरपर तुम्हारे समक्ष उपस्थित रहूँगा।' माताकी यही अन्तिम इच्छा थी। × × ×

शंकरकी महोत्कण्ठा और विश्वजनीन धर्म तथा सदाचारकी प्रतिष्ठाके लिये विश्व-व्यवस्थाकी ईश्वरेच्छा पूर्ण होकर रही। एक घटना घटी और सदाचार-मर्यादाके साथ **'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्'** की श्रुति चरितार्थ हो गयी। शंकर संन्यासी होने चल पड़े।

घरसे चलकर शंकर नर्मदा-तटपर गये, जहाँ उन्होंने स्वामी गोविन्द भगवत्पादसे दीक्षा ली। गुरुने इनका नाम भगवत्पूज्यपादाचार्य रक्खा। इन्होंने गुरूपदिष्ट मार्गसे साधना आरम्भ कर दी और अल्प-कालमें ही बहुत बड़े योगसिद्ध महात्मा हो गये। इनकी सिद्धिसे प्रसन्न होकर गुरुने इन्हें काशी जाकर रहने और फिर वेदान्त-सूत्रोंके ऊपर भाष्य लिखनेकी आज्ञा दी। तदनुसार ये काशी चले आये। काशी आनेपर इनकी ख्याति बढ़ने लगी और लोग आकर्षित होकर इनका शिष्यत्व भी ग्रहण करने लगे। इसके बाद इन्होंने काशी, कुरुक्षेत्र, बदरिकाश्रम आदिकी यात्रा की और विभिन्न मतवादियोंको परास्त किया तथा अनेक ग्रन्थ लिखे। प्रयाग आकर कुमारिलभट्टसे उनके अन्तिम समयमें भेंट की और उनकी सलाहसे माहिष्मतीमें मण्डनमिश्रके पास जाकर शास्त्रार्थ किया। शास्त्रार्थमें मध्यस्था मण्डनमिश्रकी पत्नी भारती थीं। अन्तमें मण्डनने शंकराचार्यका शिष्यत्व ग्रहण किया। उनका नाम सुरेश्वराचार्य पड़ा। तत्पश्चात् आचार्यने धर्मप्रतिष्ठा तथा सदाचारके प्रचार-हेतु विभिन्न मठोंकी स्थापना की। उनके द्वारा औपनिषद सिद्धान्तोंकी शिक्षा-दीक्षा चलने लगी।

आचार्यने और भी अनेक मठ-मन्दिर बनवाये। अनेकोंको सन्मार्गमें लगाया और असदाचारका खण्डन करके भगवान्‌के वास्तविक स्वरूपको विवेचित किया। इन्होंने साधन-मार्गमें योगादि सभी मतोंकी उपयोगिता यथास्थान स्वीकार की है और सभी श्रेष्ठ साधनोंसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, ऐसा माना है। अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ही वास्तविक ज्ञानका बोध होता है। अशुद्ध बुद्धि और मनके निश्चय एवं संकल्प भ्रमात्मक ही होते हैं। अतः इनके सिद्धान्तके अनुसार सच्चा ज्ञान प्राप्त करना ही परम कल्याण है और उसके लिये अपने धर्मानुसार सदाचारपूर्वक कर्म, योग, भक्ति अथवा और भी किसी मार्गसे अन्तःकरणको शुद्ध बनाते हुए लक्ष्यतक पहुँचना चाहिये। आचार्य-पाद अद्वैतवेदान्त (विशुद्ध ज्ञानमार्ग)के प्रवर्तक तथा प्रबल पोषक होते हुए भी भक्ति, वैराग्य और आचरणकी पवित्रतापर भी विशेष बल देते थे।

उनकी प्रार्थनाका एक श्लोक देखिये—

अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृग-तृष्णाम्। भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः॥

अर्थात् हे विष्णो! आप हमारे अविनय (उच्छृङ्खलता, उद्दण्डता) को दूर करें, मनको नियन्त्रित और विषयोंकी मृगतृष्णाको शमित करें। प्राणियोंके प्रति दयाका विस्तार करें—हम सब प्राणियोंपर दयादृष्टि रखें और इस प्रकारके सदाचारमय जीवनसे संसार-सागरको सुगमतया पार कर जायँ।

(२)

स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य

(लेखक—व्रजकिशोरप्रसादजी साही)

श्रीरामानन्दाचार्यजीका अवतार उस कालमें हुआ, जिस समय सदाचारके अनेक विद्वेषी उत्पन्न हो चुके थे—

वर्णाश्रमसदाचारद्वेषलोलुपबुद्धयः।
बहवः किंनरा जाता यथा प्रावृषि दर्दुराः॥

(स्वा० श्रीभगवदाचार्यकृत रा० दि० १। ६१)

लोग संध्या, स्नान, पिण्डदान आदि सदाचारोंका उपहास करते हुए कहते थे—'संध्या तो स्वयं हो गयी, उसे तुम क्या करोगे?' यदि तीर्थजलमें स्नान करनेसे कोई पाप और शापसे छूटता है, तो उन नदियोंमें सर्वदा निवास करनेवाली पापयोनिवाली मछली आदि क्यों नहीं मुक्त हो जाती हैं? (वही ६६) 'जब प्राणी मर जाता है, तो

तुम्हारे दिये पिण्डदान और जलदानको ग्रहण करता है, इसमें क्या प्रमाण है ?'—

स्वीकरोति यदा देही शरणं मरणं तदा।
पिण्डोदकादिकं दत्तमादत्ते तत्र का प्रमा॥

(श्रीभगवदाचार्यकृत रा० दि० १६५)

सदाचारके विरोधी लोग सदाचारके मूल वेदोंका उपहास करते हुए कह रहे थे कि 'यदि वेदोंके क्रमरहित तथा विरुद्ध क्रमवाले वाक्य प्रामाणिक हों तो उन्मत्तोंके प्रलापमें आपको क्यों दोष दीख पड़ता है ? यदि 'जर्फरी' 'तुर्फरी' आदि वेदोंके असम्बद्ध वाक्योंको भी स्वतः प्रमाण मानते हो तो किसी अन्यके वाक्योंका स्वतःप्रामाण्य क्यों नहीं स्वीकार करते ?'—

अक्रमं विक्रमं वाक्यं श्रुतीनां चेत्प्रमा भवेत्।
तदोन्मत्तप्रलापेषु पुरोभागी कथं भवान्॥
जर्फरीतुर्फरीत्यादि वचसां चेत् प्रमाणता।
कस्याप्यन्यस्य वाक्येषु कोऽपराधो निरीक्ष्यते॥

(रामानन्ददि० १। ६९, ६८)

सदाचारविरोधी इन सभी भ्रान्त धारणाओंका निराकरण करते हुए आचार्यचरणने लोगोंका समाधान किया कि परब्रह्मसे श्रवणपरम्पराद्वारा यह श्रुति जीवोंके कल्याणके लिये प्राप्त हुई है। उसी श्रौतमार्गका अनुगमन करके मनुष्य पापादि कर्मोंका अपक्षय कर सकते हैं।

उन्होंने सदाचारका उद्घोष करते हुए सभीको सदाचारका पाठ पढ़ाया कि आचार और सद्विचार—ये दोनों ही वेदप्रतिपादित धर्म हैं। आचार—स्नान, शौच आदिसे बाह्य इन्द्रियाँ शुद्ध होती हैं और सद्विचारसे बन्धका कारण मन शुद्ध होता है। आभ्यन्तर और बाह्य दोनों शौच होना चाहिये। बाह्य पवित्रता प्रथम सोपान है और आन्तरिक पवित्रता उसके आगेका सोपान है। मनुष्योंकी वाणी सत्यसे शुद्ध होती है, कान भगवत्कथा-श्रवणसे, पग तीर्थाटनसे, हाथ दानसे और मन दम्भादिके त्यागसे शुद्ध होता है।

उन्होंने शिकार खेलना, चोरी करना, चोरीकी वस्तु लेना, द्यूत-क्रीडा (पासा खेलना या जूआ खेलना,) मदिरा-मांस—भङ्गादिका सेवन करना, गाँजा-तमाकू-चरस आदिका पीना इत्यादि सब प्रकारके व्यसनोंको छोड़नेका उपदेश दिया। साथ ही उन्होंने सबको दुराचारका त्याग और सदाचारका पालन करनेका पाठ पढ़ाया—

वाच्यान्यरुन्तुदवचांसि कदापि नैव
त्याज्यानि दम्भपरनिन्दनदुष्कृतानि।
भद्राय रामचरणाम्बुरुहानुरक्तः
सत्यव्रतं प्रतिदिनं परिपालनीयम्॥

(भगवदाचार्यविरचित रा० दि० १२। १६)

परलोकगमनकालमें भी उन्होंने अपने शिष्योंको सदाचारपालन करनेका ही उपदेश दिया।

स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराजने सम्पूर्ण भारतका भ्रमण कर सर्वत्र दुराचारका उच्छेद किया एवं सदाचारके बीज वपन किये। उन्होंने अपने विस्तृत शिष्य-समुदायको परम्परारूपसे इस सदाचारवृक्षका सिंचन करते रहनेका उपदेश दिया—

भक्तिकल्पलता येयं महायासेन रोपिता।
श्रद्धाजलप्रदानेन रक्षणीया मुहुर्मुहुः॥

(रा० दि० २०)

इस प्रकार उनके द्वारा स्थापित व्यवस्थासे अद्यावधि सदाचारका रक्षण और पोषण होता आ रहा है, जो स्तुत्य है। परमादरणीय आचार्यचरण निःसंदेह सदाचारके अमर प्रहरी हैं और—'**वाचं ते शुन्धामि**··· **चरित्रांस्ते शुन्धामि॥** (शुक्ल यजुः० ६। १४)' इस वेद-वचनके अनुपालक भी।

(३)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी

व्यक्ति, समाज या देश जब चारों ओरसे निराश होकर, सर्वथा निरीह और निराश्रित होकर सच्चे हृदयसे परमात्माको पुकारता है तो हृदयसे निकली हुई वह चीख, वह टेर, वह पुकार प्रभुतक अवश्य पहुँचती है और उस पुकारपर करुणावरुणालय दया-परवश हरिको या तो स्वयं इस धराधामपर उतर आना पड़ता है या उनके संदेशका प्रसाद लेकर कोई महापुरुष हमारे बीच आ जाता है, जिसके कारण नैराश्यजनित खिन्नता तो मिटती ही है, साथ ही जीवनमें एक अद्भुत प्रफुल्लता और अपूर्व शक्तिका संचार हो जाता है। जब-जब भी हमने एक स्वरसे, सच्चे और आतुर हृदयसे प्रभुको पुकारा है, इतिहास साक्षी है, स्वयं प्रभु हमारे बीच आये हैं अथवा उन्होंने किसी महापुरुषको भेजा है, जिसने हमारे भीतर प्रभुकी शक्ति और ज्योतिका संचार कर हमारे जीवनको सदाके लिये प्रभुचरणोंसे युक्त कर दिया है।

गोस्वामीजीका आविर्भाव जिस समय हुआ, वह समय हिंदूजातिके लिये घोर निराशाका ही था। हम चारों ओरसे अन्धकारसे घिरे हुए थे। कोई मार्ग सूझ नहीं रहा था। हिंदीके राजाश्रित कवि अपना तथा अपने आश्रयदाता नरेशका जीवनवृत्तान्त लिखा करते थे, परंतु गोस्वामीजीने स्वतन्त्र होनेके कारण ऐसा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं समझी। उन्होंने भगवान्‌का लोकमङ्गल रूप दिखाकर हिंदूजातिको मिटनेसे तो बचाया ही, साथ ही व्यक्तिके जीवनमें भी आशाका उदय हुआ। हमने भगवान् रामचन्द्रकी भक्तिका आश्रय लिया और उसकी शक्तिसे हमारी रक्षा हुई। गोस्वामीजीने ठेठ पूर्वी अवधी भाषामें हमें समझाया कि भगवान् हमसे दूर नहीं हैं। वे सर्वथा हमारे जीवनसे सटे हुए हैं। उनके ग्रन्थोंसे उनके जीवनके सम्बन्धमें कुछ भी पता नहीं चलता। हाँ, उनकी भक्तिजन्य दीनताकी झलक अवश्य सर्वत्र मिलती है। गोस्वामीजी वाल्मीकिके अवतार माने जाते हैं। आपका आविर्भाव वि० सं० १५५४की श्रावण शुक्ला सप्तमीको बाँदा जिलेके राजापुर गाँवमें एक सरयूपारीण ब्राह्मणके घर हुआ था—

पंद्रह सै चउवन विषै, कालिंदीके तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी धरेउ शरीर॥

आपके पिताका नाम आत्माराम दुबे और माताका नाम हुलसी था। जन्मके समय आप तनिक भी रोये नहीं और आपके बत्तीसों दाँत उगे हुए थे। आप अभुक्त मूलमें पैदा हुए थे, जिसके कारण स्वयं बालकके या माता-पिताके अनिष्टकी आशङ्का थी। बचपनमें आपका नाम तुलाराम था। कहते हैं—पहले स्त्रीके प्रति इनकी विशेष आसक्ति थी। एक दिन जब वे पीहर चली गयीं, आप उनके घर रातको छिपकर पहुँचे। उन्हें बड़ा संकोच हुआ और कहते हैं, उस समय उन्होंने यह दोहा कहा—

हाड़ मांसको देह मम, ता पर जैसी प्रीति।
तिसु आधो जो राम प्रति, तौ न होत भवभीति॥

यह बात आपको बहुत लगी और बिना विरमे ही आप वहाँसे चल दिये। वहाँसे आप सीधे प्रयाग आये और विरक्त हो गये तथा जगन्नाथ, रामेश्वर एवं द्वारका एवं बदरीनारायण पैदल गये और तीर्थाटनके द्वारा अपने वैराग्य और तितिक्षाको बढ़ाया। तीर्थाटनमें आपके चौदह वर्ष लगे। श्रीनरहरिदासको आपने गुरुरूपमें वरण किया।

घर छोड़नेके पीछे स्त्रीने एक बार यह दोहा गोस्वामीजीको लिख भेजा—

'जो पै तुलसी न गावतो'

आदर्श सदाचार के उद्बोधक-संत तुलसीदासजी

कटिकी खीनी कनक-सी, रहति सखिन सँग सोइ।
मोहि फटेको डरु नहीं, अनत कटे डर होइ॥

इसके उत्तरमें श्रीगोस्वामीजीने लिखा—

कटे एक रघुनाथ सँग, बाँधि जटा सिर केस।
हम तो चाखा प्रेमरस, पत्नीके उपदेश॥

बहुत दिन पीछे वृद्धावस्थामें आप एक बार चित्रकूटसे लौटते समय अनजानमें अपने ससुरके घर जा पहुँचे। इनकी स्त्री भी बूढ़ी हो गयी थीं। बड़ी देरके बाद इन्होंने उन्हें पहचाना। उनकी इच्छा हुई कि इनके साथ रहतीं तो रामभजन और पतिकी सेवा-दोनों साथ-साथ करके जन्म सुधारतीं। उन्होंने सबेरे अपनेको गोस्वामीजीके सामने प्रकट किया और अपनी इच्छा कह सुनायी। पर गोस्वामीजी तुरंत वहाँसे चलते बने।

गोस्वामीजी शौचके लिये नित्य गङ्गापार जाया करते थे और लौटते समय लोटेका बचा हुआ जल एक पेड़की जड़में डाल देते थे। उस पेड़पर एक प्रेत रहता था। जलसे तृप्त होकर वह एक दिन गोस्वामीजीके सामने प्रकट हुआ और उसने कहा कि मुझसे कुछ वर माँगो। गोस्वामीजीने श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनकी लालसा प्रकट की। प्रेतने बतलाया कि अमुक मन्दिरमें नित्य सायंकाल रामायणकी कथा होती है, वहाँ कोढ़ीके वेशमें नित्य हनुमान्‌जी कथा सुनने आते हैं। सबसे पहले आते हैं और सबसे अन्तमें जाते हैं। उन्हें ही दृढ़तापूर्वक पकड़ो। गोसाईंजीने ऐसा ही किया। श्रीहनुमान्‌जीके चरण पकड़कर आप जोर-जोरसे रोने लगे। अन्तमें हनुमान्‌जीने आज्ञा दी कि जाओ चित्रकूटमें दर्शन होंगे। आदेशानुसार आप चित्रकूट आये। एक दिन वनमें घूम रहे थे कि दो सुन्दर राजकुमार—एक श्याम और एक गौर—एक हरिनके पीछे धनुष-वाण लिये, घोड़ा दौड़ाते दिखलायी पड़े। रूप देखकर आप सर्वथा मोहित हो गये। इतनेमें हनुमान्‌जीने आकर पूछा 'कुछ देखा?' गोस्वामीजी बोले—हाँ, दो सुन्दर राजकुमार इसी राहसे घोड़ेपर गये हैं। हनुमान्‌जीने कहा—'वे ही राम-लक्ष्मण थे।'

वि०सं० १६०७को मौनी अमावस्या थी। दिन था बुधवार। चित्रकूटके घाटपर बैठकर तुलसीदासजी चन्दन घिस रहे थे। इतनेमें भगवान् सामने आ गये और आपसे चन्दन माँगा। दृष्टि ऊपर उठी तो उस अपरूप छविको देखकर आँखें मुग्ध हो गयीं—टकटकी बँध गयी। शरीरकी सभी सुध-बुध जाती रही।

संवत् १६३१की रामनवमी, मङ्गलवारको श्रीहनुमान्‌जीकी आज्ञा और प्रेरणासे आपने रामचरितमानसका प्रणयन प्रारम्भ किया। दो वर्ष, सात महीने, छब्बीस दिनमें आपने उसे पूरा किया। पूरा हो चुकनेपर श्रीहनुमान्‌जी पुनः प्रकट हुए और पूरी रामायण सुनी और आशीर्वाद दिया कि यह कृति तुम्हारी कीर्तिको अमर कर देगी।

एक दिन कुछ चोर तुलसीदासजीके यहाँ चोरी करने गये तो देखा कि दो सुन्दर बालक धनुष-वाण लिये पहरा दे रहे हैं। चोर लौट गये। दूसरे दिन भी वे आये तो उसी पहरेदारको देखा। सबेरे उन्होंने गोस्वामीजीसे पूछा कि आपके यहाँ कौन श्याम-सुन्दर बालक पहरा देता है। गोस्वामीजी समझ गये कि मेरे कारण प्रभुको कष्ट उठाना पड़ता है। अतएव आपके पास जो कुछ भी था, वह सब इन्होंने लुटा दिया।

आपके आशीर्वादसे एक विधवाका पति पुनः जीवित हो गया। यह खबर बादशाहतक पहुँची। उसने इन्हें बुला भेजा और यह कहा कि कुछ करामात दिखाओ। आपने कहा कि 'रामनाम'के अतिरिक्त मैं कुछ भी करामात नहीं जानता। बादशाहने इन्हें कैद कर लिया और कहा कि जबतक करामात नहीं दिखाओगे, छूटने नहीं पाओगे। तुलसीदासजीने

श्रीहनुमान्‌जीकी स्तुति की । हनुमान्‌जीने बंदरोंकी सेनासे कोटका विध्वंस कराना आरम्भ किया । बादशाहने आपके पैरोंमें गिरकर क्षमा माँगी ।

गोस्वामीजी एक बार वृन्दावन आये । वहाँ एक मन्दिरमें दर्शनको गये । श्रीकृष्णमूर्तिका दर्शन करके आपने यह दोहा कहा—

का बरनउँ छबि आजकी, भले बने हो नाथ ।
तुलसी मस्तक तब नवै जब धनुष-बान लेउ हाथ ॥

भगवान्‌ने आपको श्रीरामचन्द्रजीके स्वरूपमें दर्शन दिये ।

दोहावली, कवित्तरामायण, गीतावली, रामचरितमानस, रामलला नहछू, पार्वतीमङ्गल, जानकीमङ्गल, बरवै रामायण, रामाज्ञा, विनयपत्रिका, वैराग्यसंदीपनी और कृष्णगीतावली—ये बारह ग्रन्थ आपके विशेष प्रसिद्ध हैं । पर इनके अतिरिक्त तुलसी-सतसई, संकटमोचन, हनुमानबाहुक, रामशलाका, छप्पयरामायण, कुण्डलिया-रामायण, ज्ञानदीपिका, जानकीविजय, तुलसीहजारा आदि ग्रन्थ भी आपके नामसे प्रख्यात हैं* ।

गोस्वामी तुलसीदासजीकी रामायण (रामचरितमानस) भारतके घर-घरमें बड़े आदर और भक्तिके साथ पढ़ी और पूजी जाती है । मानसने कितने बिगड़ोंको सुधारा है, कितने मुमुक्षुओंको मोक्षकी प्राप्ति करायी है, कितने भगवत्-प्रेमियोंको भगवान्‌से मिलाया है, इसकी कोई गणना नहीं है । यह तरन-तारन ग्रन्थ है । कोई भी हिंदू इससे अपरिचित नहीं है ।

१२६ वर्षकी अवस्थामें संवत् १६८०की श्रावण कृष्ण तृतीया, शनिवारको आपने अस्सी घाटपर शरीर छोड़कर साकेतलोकको प्रयाण किया—

संबत सोलह सै असी, असी गंगके तीर ।
श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यौ शरीर ॥

(४)

राष्ट्रगुरु श्रीसमर्थ स्वामी रामदासजी

(लेखक—डॉ० श्रीकेशवविष्णुजी मुले)

अपने समयके महान् सदाचारवादीके नाते श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजीका नाम बड़े आदरके साथ लिया जाता है । दुर्भाग्यसे उस समयकी भारतवर्षकी सामाजिक, धार्मिक और नैतिक अवस्था अत्यन्त निकृष्टावस्थामें पहुँच गयी थी । स्वयं श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजीने उस समयकी परिस्थितिका वर्णन इस प्रकार किया है—

'असहनीय महँगाईके कारण लोग अपने गाँव और देश छोड़कर दूर चले जा रहे हैं । काफी लोग भूखमरीके शिकार हो रहे हैं । कई गाँव उजड़ चुके हैं । यवनसेनाके हमले बार-बार होते रहते हैं और दोनों दलोंकी सेना इधर-उधर जाते-आते धन-धान्य और फसलको नष्ट करती है । साथ-साथ कहीं अवर्षाके कारण तो कहीं अतिवर्षाके कारण निसर्ग भी कुपित होकर फसलका नाश करता है । देशकी यह सारी स्थिति श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजीने अपने लगातार बारह वर्षके भारत-भ्रमणमें स्वयं अपनी आँखोंसे देखी-परखी थी । इसीने उन्हें अन्तर्मुख बनाया था । जनताका कल्याण कैसे होगा ? धर्मस्थापना कैसे होगी ? और राष्ट्र फिरसे स्वतन्त्र

* श्रीविक्रमपरिषद् काशीने चार खण्डोंमें तुलसीदासजीके प्रायः ३० ग्रन्थ टीका-टिप्पणीसहित प्रकाशित किये हैं । इनकी जीवनी, जन्मस्थान आदिपर भी अबतक सैकड़ों ग्रन्थ भिन्न विचारयुक्त प्रकाशित हुए हैं । इनमें बहुत मतभेद भी हैं । भवानीदास, चन्द्रबली पाण्डेय, माताप्रसाद गुप्त, किशोरीलाल, डा० रामदत्त, डा० गोवर्धननाथ आदिकी पुस्तकें मुख्य हैं । यहाँ जीवनी-सम्बन्धी उनकी विशेष प्रसिद्ध बातें ही दी गयी हैं ।

कैसे होगा ? ये उनके चिन्तन और मननके विषय थे। परिणामतः उन्होंने समाजके सर्वस्तरीय लोगोंके लिये सदाचारका उपदेश अपने दासबोध, मनोबोध, स्फुट ओवी, अभंग आदि ग्रन्थोंमें विस्तारपूर्वक किया है। वैसे तो यह कहनेमें भी कोई अतिशयोक्ति न होगी कि श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजीका सम्पूर्ण साहित्य ही सदाचारका उपदेश करता है।

जनताके दुर्गुण तथा दुराचारोंका विवरण तथा विश्लेषण दासबोधमें मूर्ख, पढ़तमूर्ख, कुविद्या, तमोगुण, रजोगुण, बद्ध, कण्ठ लक्षण, जनस्वभाव, श्रोता-अवलक्षण, टोणपसिद्ध आदि 'समासों'में अर्थात् अध्यायोंमें विस्तारके साथ किया है। इन दुराचारोंको नष्ट करनेहेतु श्रीसमर्थजी कहते हैं—

रूप लावण्य अभ्यासता न ये। सहज गुणासी न चले उपाये।
काही तरी धरावी सोये। अगांतुक गणाची।
उत्तम लक्षणे ध्यावी। मूर्ख लक्षणे त्यागावी।

रूप और सौन्दर्य अभ्यास करनेसे बदल नहीं सकते, क्योंकि नैसर्गिक गुण नहीं बदल सकते हैं; किंतु दुष्ट और मूर्ख लक्षणोंका त्यागकर आगन्तुक ऐसे उत्तम गुणोंकी प्राप्ति मनुष्यमात्रको सहज साध्य है। इन उत्तम गुणोंका वर्णन 'दासबोध'ग्रन्थके उत्तम गुण, सत्त्वगुण, सद्विद्या-निरूपण, विरक्त, नवविधा भक्ति, साधक-लक्षण, सिकवण, महंत, निस्पृह-सिकवण, चातुर्य-लक्षण, उत्तम पुरुष, शिक्षा-लेखन, कण्ठपरीक्षा, विवरण, सदैव, लक्षण, बुद्धिवाद, यत्न, उपाधि, महंतराजकारण, विवेक आदि समासों या अध्यायोंमें विस्तारके साथ किया है। मानव-जीवनकी भिन्न अवस्थामें किये जानेवाले दुराचार तथा उन्हें छोड़कर स्वीकार करने योग्य सदाचारोंका वर्णन तथा विस्तृत मार्गदर्शन श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजीने इन समासोंमें सशक्त भाषामें किया है।

परमार्थके पथिकोंके लिये सदाचारका विवरण तो उनके सम्पूर्ण वाङ्मयमें ही व्याप्त है। उसका विस्तार

इतना है कि उसे मूल ग्रन्थोंमें ही देखना उचित होगा। उनके प्रमुख ग्रन्थका शीर्षक 'दासबोध' स्वयं ही संकेत करता है कि परमात्माका 'दास' बननेके हेतु मनुष्यको जिन आचार-विचारों तथा उपासनाओंका अनुसरण करना चाहिये, उसका 'बोध' देनेवाला ग्रन्थ। अतः यह स्पष्ट और स्वाभाविक है कि इस ग्रन्थमें 'दासभक्ति'का सम्पूर्ण विवरण प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ ही समर्थ-सम्प्रदायका प्रमुख मार्गदर्शक ग्रन्थ माना जाता है। अतः उसपर कुछ अधिक टिप्पणी करना अनावश्यक है। इस ग्रन्थके अन्तमें श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजी कहते हैं—

भक्ताचेनि साभिमानें। कृपा केली दाशरथीनें।
श्रीसमर्थकृपेची वचनें। तो हा दासबोध॥

'प्रभु श्रीरामचन्द्रने भक्तोंके साभिमानसे कृपालु बनकर उनके लिये जो कृपा-वचन कहे, वे ही इस 'दासबोध'में संगृहीत हैं। इस ग्रन्थमें बीस दशक हैं जिनका श्रवण और मनन करनेसे परमार्थ-प्राप्ति सुलभ होती है। इन बीस दशकोंमें अन्तर्भूत दो सौ समास अर्थात् अध्याय हैं। जिनका साधकद्वारा अत्यन्त विचारपूर्वक तथा विवेकसे श्रवण और मनन होना आवश्यक माना गया है। इस ग्रन्थका श्रवण, मनन और निदिध्यासन बार-बार करनेसे ही यह ग्रन्थ समझमें आ सकता है, अन्यथा नहीं। इस ग्रन्थकी फलश्रुति बताते समय श्रीसमर्थजी आश्वासन देते हैं कि इस ग्रन्थके श्रवण-मननसे मानवका आचार बदल जाता है और संशयका मूल नष्ट हो जाता है। सन्मार्गकी प्राप्ति होती है और किसी भी प्रकारकी कठोर साधनाके अभाव-में भी सायुज्य-मुक्तिका मार्ग प्रशस्त हो जाता है।'

श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजीके 'मनोबोध' अर्थात् 'मनको सदाचारका उपदेश'में दो सौ पाँच श्लोक हैं। इन श्लोकोंमें वेदान्त, श्रुति, स्मृति, गीता इत्यादि महान् ग्रन्थोंका महानुभावोंद्वारा अनुभवित गर्भितार्थ, अत्यन्त

सरल और प्रासादिक भाषामें अज्ञानी तथा दुराचारी लोगोंका उद्धार करनेके हेतु बतलाया गया है अर्थात् इन श्लोकोंका सार्थ श्रवण और मनन करनेपर बद्धका साधक बनता है तथा उसे परमार्थका मार्ग सुलभतासे प्राप्त होता है। जो बुद्धिहीन हैं, उन्हें भी साधनाके लिये योग्य बनानेकी सामर्थ्य इन श्लोकोंमें है। उन्हें निश्चय ही ज्ञान और वैराग्य प्राप्त होकर अन्तमें मुक्तिका मार्ग भी प्राप्त होता है। इस प्रकार इन श्लोकोंकी फलश्रुति बतायी गयी है।

इन दो ग्रन्थोंके अलावा 'आत्माराम', 'पञ्च समासी', 'स्फुट श्लोक', 'पुराना दासबोध', 'एक्कीस समासी', 'स्फुट ओवी', 'करुणाष्टक' आदि ग्रन्थोंद्वारा भी श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजीद्वारा पारमार्थिक सदाचारका विस्तृत दिग्दर्शन किया गया है।

उपासने ला दृढ़ चालवावे। भू देव संतांसि सदा लवावे॥
सत्कर्मयोगे वय घालवावे। सर्वांमुखीं मंगल बोलवावे॥

अपनी उपासना दृढ़तासे करना। संत-महंतोंके सामने सदा नम्र व्यवहार रखना। अपनी आयु सत्कर्मोंमें ही बिताना और सबके मुख मङ्गलमय बातें ही कहना। यही मानवीय जीवनका चरम उद्देश्य और यही है श्रीसमर्थ रामदास स्वामीजीके सदाचारसंहिता-का आदर्श!

'सर्वे जनाः सुखिनो भवन्तु'

(५)

संत पुरंदरदासके विचार

[सदाचार—जीवन-मार्गके कण्टक और निवारण]

(लेखक—डॉ० ए० कमलनाथ 'पंकज' एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भगवान्‌में उत्कट भक्ति और जीवनमें सदाचारनिष्ठा— इन दोनोंसे मानव इहलोक और परलोकोंपर विजय पा सकता है। सिद्धि प्राप्त करनेके लिये मानवको नामस्मरण करनेकी आवश्यकता तो है, पर केवल नामस्मरणसे मानवता परिपूर्ण नहीं होती, उसके लिये सदाचार-पालनकी आवश्यकता भी है। इसलिये भारतके भक्त कवियोंने नामस्मरणकी महिमाके साथ-साथ मानव-जीवनकी महानता दर्शाकर नैतिक व सदाचारपूर्ण जीवनपर बल दिया।

कन्नड़के दास—श्रेष्ठ कवि पुरंदरदास हिंदीके महाकवि सूरदासके समान कृष्णके अनन्य भक्त थे। परंतु ये एक ही स्थानपर बैठकर पाण्डित्यपूर्ण प्रौढ़-कृतियोंकी रचना करनेवाले कवि नहीं थे। ये एक ग्रामसे दूसरे ग्रामतक संचार करते हुए जनता-जनार्दनकी सेवामें सदा निरत रहा करते थे। देखनेवालोंको तो ऐसा लगता था कि पुरंदरदास भिक्षाटनके लिये कीर्तन करने निकले हैं, पर हर घरके सामने भिक्षा लेते समय वे कीर्तनोंद्वारा अनेक गहन तत्त्वोंको भिक्षाके विनिमयमें दे जाते थे। इन्होंने मानवके लिये सदाचारपूर्ण जीवनकी आवश्यकताको बतानेके लिये, माताके समान मीठी बातोंसे, पिताके समान कठोर वचनोंसे, आचार्यके समान अधिकार-वाणीसे पतन-मार्गपर फिसल रहे लोगोंको सावधान किया। इन्होंने बताया कि नैतिकताके बिना मानव परलोक-सुख पानेका कितना ही प्रयत्न करे, व्यर्थ है। समाजमें नैतिक एवं सदाचार-जीवनकी स्थापनाके लिये उन्होंने मानवको निज बुराइयोंसे दूर रहनेको कहा, जिन्हें इन रूपोंमें रखा जा सकता है—

दुर्जन-सङ्ग—दुर्जनोंसे दूर रहकर सत्सङ्गति प्राप्त करना सदाचार-जीवनका प्रथम सोपान है। कारण 'असत् पुरुषोंका अनुगमन करनेवाले पुरुषोंकी वैसी दुर्दशा होती है, जैसे अन्धेके द्वारा चलनेवाले अन्धेकी।'

(श्रीमद्भा० ११। २६। ३)

पुरंदरदास अपने एक पदमें बताते हैं कि दुर्जन उस कीकरके पेड़की तरह है, जिससे कोई सुख या लाभ नहीं मिलता—

दुर्जन कीकर पेड़ समान ।
काँटे ही हैं, जिसकी बान ॥
धूपमें आये लोगोंको जहाँ छाया नहीं मिलती ।
चाहने पर भी फूल नहीं मिलता भूख नहीं मिटती ॥
पासमें जिसके फूलोंकी सुगन्ध नहीं मिलती ।
विषय-जनोंके संगमें क्या सुख शांति कभी मिलती ?

(पुरंदरदासेर-साहित्य, भाग ५, पद ११, पृ० ८८)

दुर्जनके सहवाससे कितना दुःख मिलता है, इसे बतानेके लिये पुरंदरदास दुर्जनकी तुलना साँप एवं बाघसे करते हैं । वे कहते हैं—

खलकी दृष्टि ही एक साँप है,
अन्य साँपकी खोज क्यों करें ?
खलकी दृष्टि ही एक बाघ है,
अन्य बाघकी खोज क्यों करें ?
खलका कूट ही हलाहल है,
और जहरकी खोज क्यों करें ?

(पुरन्दरदासेर-साहित्य, भाग ६, पद ३६, पृ० २६)

परनिन्दा—'मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदि हालाहलं विषम्' (हितो० १ । ८२) अर्थात् सामने मीठी बातें करते हुए पीठ-पीछे निन्दा करना। यह नैतिक पतनका लक्षण समझा जाता है । ऐसे स्वभावको छोड़नेका प्रबोध करते हुए पुरंदरदास कहते हैं—

निंदे याडलु बेड़ नीचात्मा ।
निनगेंदेंदु दोरकनु परमात्मा ॥

(पुरंदरदासेर-साहित्य, भाग ५, पद १२३, पृ० १२०)

अर्थात्—

निंदा न करो हे नीचात्मा ।
तुमको न मिलेगा परमात्मा ॥

पुरंदरदासने जहाँ परनिन्दा न करनेका उपदेश दिया है, वहीं यह भी कहा है कि यदि कोई निन्दा करे तो मानवको सहन करना चाहिये । कारण, इस दुनियामें मानवको प्रशंसाके साथ-साथ निन्दा भी मिलती है और यह निन्दा मानव-अभिवृद्धिका कारण भी बन जाती है। लोग हमारी जितनी निन्दा करते हैं, उतना ही हम अपने दुर्गुणोंको दूर करनेका अवसर पाते हैं । अतः निन्दकोंका स्वागत करना चाहिये । पुरंदरदास कहते हैं—

निंदा करनेवाले रहें ।
शूकरके रहनेपर जैसे गली शुद्ध बन जाती है ।
पूर्व किये पापोंके मलको निंदक ही खा जाते हैं ॥

अभिमान-त्याग—अन्तःकरणके नैर्मल्यके लिये अहंकार व अभिमानका परित्याग आवश्यक है । गर्व मानवको पतनके गर्तमें गिरा देता है, इसलिये पुरंदरदासने लोगोंको बार-बार सावधान किया कि वे व्यर्थका अभिमान छोड़ दें—

उब्बदिक उब्बदिरु येले मानवा ।
हेब्बलियंते यम बोब्बिडुता बादिरुव ॥

(श्रीकर्नाटक-हरिदासेर-कीर्तन-तरंगिणी भाग १-२, पद ४६३, पृ० ३०४)

अरे मानव ! फूलकर कुप्पा न बन—तू गर्व मत कर । बाघ-जैसा यम तुझे ही ताकता गुर्रा रहा है ! एक अन्य पदमें कवि बताते हैं कि अभिमानसे तपकी हानि होती है—

मानदिंदलि अभिमान पुट्टवुदु, मानदिंदलि तपहानि यागुवदु ।

(श्रीपुरंदरदासेर-साहित्य, भाग २, पद ५५, पृ० ६४)

अर्थात्—

मानसे अभिमान होता है, मानसे तप नष्ट होता है ।

पर-नारी-मोह—भारतीय साहित्यमें जहाँ नारीको परम पुनीत मातृशक्तिके रूपमें अभ्यर्थनीय बताया गया है, वहीं 'किमत्र हेयं कनकं च कान्ता' 'द्वारं किमेकं नरकस्य नारी' कहकर नारी-मोहसे बचनेका भी आदेश दिया गया है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि 'बुद्धिमान् पुरुषको दुष्ट स्त्रियोंका कभी विश्वास नहीं करना चाहिये । जो मूर्ख इनका विश्वास करता है, उसे दुःखी होना पड़ता है। इनकी वाणी तो अमृतके समान कामियोंके हृदयमें संचार करती है, किंतु हृदय छुरेके समान तीक्ष्ण होता है ।'

(श्रीमद्भागवत-माहात्म्य ५ । १५)

नैतिक सदाचार-जीवनके लिये नारी-मोहसे दूर रहना आवश्यक समझा गया है। पुरंदरदासने अपने अनेक पदोंमें नारीके प्रेम-जालमें न फँसनेका उपदेश दिया है। 'कण्णेति नोडलु बेड' नामक पदमें वे कहते हैं—

'आँख उठाकर मत देखो। उसकी महीन माँगपर मोहित मत बनो। स्त्रीपर नजर डालकर कीचकको जान देनी पड़ी। रावणको सिर देना पड़ा। पर-स्त्रीसे मोह करनेवाला नष्ट हो ही जाता है।

(पुरंदरदासेर-साहित्य भाग ५, पद १०५, पृ० ७९)

उपर्युक्त विषयोंके अतिरिक्त पुरंदरदासने अपने पदोंद्वारा सत्यभाषण, अहिंसा, ब्रह्मचर्य-पालन, अस्तेय, परोपकार, सहनशीलता, सत्सङ्ग आदिकी महिमा बताकर मानवको सदाचारपूर्ण जीवन बितानेका संदेश दिया।

(६)

भगवान् महावीर और सदाचार

(लेखक—आचार्य श्रीतुलसी)

भगवान् महावीर ईसा-पूर्व छठी शताब्दीके महान् क्रान्तचेता धर्म-प्रवर्तक थे। उनके चिन्तनमें किसी प्रकारका पूर्वाग्रह और रूढ़ धारणाएँ न थीं। उन्होंने सत्यसे साक्षात्कार करनेके बाद तत्त्व-प्रतिपादन किया था। अतः तत्कालीन लोक-धारणाके प्रतिगामी मूल्योंको प्रस्थापित करनेमें उन्हें किसी प्रकारकी हिचक न हुई। उन्होंने अपने ज्ञानदर्पणमें मनुष्यकी उन शाश्वत प्रवृत्तियोंके प्रतिबिम्बोंको पकड़ा, जो मानव-जातिको नैतिक पतनकी ओर अग्रसर कर रहे थे। उनके अन्तःकरणमें आध्यात्मिक मूल्योंके उत्कर्षका सुदृढ़ संकल्प था। उसी संकल्पसे प्रेरित होकर उन्होंने एक सार्वभौम और सार्वकालिक आचार-संहिता निर्मित की, जो आज ढाई हजार वर्ष बाद भी अपनी उपयोगिताको भली प्रकार प्रमाणित कर रही है।

भगवान् महावीर किसी भी समस्याके मूल और परिणाम दोनोंको देखते थे और असत् परिणामसे अपनी रक्षा करते हुए उसका मूलोच्छेद करनेका पथ दिखाते थे। उनका निर्देश था—**'अग्गं च मूलं च विगिंच।'** धीरे-धीरे वह होता है, जो बुराईके मूल और फल दोनों-का पृथक्करण कर देता है। उनकी दृष्टिमें बुराईके संस्कारोंको मिटानेका मूल्य अधिक था; क्योंकि संस्कार मिटनेके बाद व्यक्ति कठिन-से-कठिन परिस्थितिमें भी वह काम करनेके लिये उद्यत नहीं होता।

भगवान् महावीरने सदाचारके जो सूत्र दिये, वे सबके लिये सदा उपयोगी रहे, वर्तमानमें हैं और भविष्यमें भी रहेंगे। उनकी समग्र चिन्तन-धारा मुख्यतः पाँच स्रोतोंसे प्रवाहित हुई। वे पाँच स्रोत हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन पाँचों सूत्रोंकी सर्वांगीण साधनाका पथ भगवान् महावीरको इष्ट था, इसलिये वे स्वयं इसी मार्गपर चले। उन्होंने उक्त पाँच सूत्रोंकी व्याख्या दो प्रकारसे की। जो व्यक्ति मन, वचन और कर्मसे हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रहसे विरत होना चाहते थे, उन्हें विशिष्ट साधनाका पथ दिखाया। जो व्यक्ति एक साथ इतनी बड़ी छलाँगें नहीं भर सकते, उन्हें यथाशक्ति सदाचारका पालन करनेकी दिशा उपलब्ध करायी। यथाशक्तिका सीमाङ्कन व्यक्ति अपनी सुविधाके अनुसार मनमाना न करे, इस दृष्टिसे भगवान् महावीरने कुछ व्यावहारिक मानदण्ड भी स्थापित कर दिये, जिनके आधारपर सदाचारकी मूलभूत किंतु प्रारम्भिक जानकारी हो सके।

महावीर-निर्दिष्ट सदाचारका पहला सूत्र है—'अहिंसा'। इसकी परिभाषा है—चलने-फिरनेवाले निरपराध प्राणियों-

की संकल्पपूर्वक हिंसा न करना। इसका विश्लेषण है—मनुष्य या पशुओंको रज्जु आदिके दृढ़ बन्धनसे न बाँधना, मनुष्य या पशुपर मारक प्रहार नहीं करना, मनुष्य या पशुके अवयवोंको विच्छिन्न नहीं करना और मनुष्य या पशुपर अधिक भार न लादना तथा अपने आश्रित प्राणियोंके आहार-पानी आदिका विच्छेद न करना।

उनके सदाचारका दूसरा सूत्र है—सत्य। व्यवहार और व्यवसायमें सत्यकी साधना करनेवाला व्यक्ति किसी अन्य व्यक्तिपर दोषका आरोपण नहीं करता। किसी व्यक्तिकी गुप्त मन्त्रणाका भेद नहीं देता। किसी व्यक्तिको असत्य सम्भाषणके लिये भी प्रेरित नहीं करता। झूठा हस्ताक्षर नहीं करता तथा विवाह-विक्रय आदिके प्रसङ्गमें धरोहर लौटाने तथा साक्षी देनेके सम्बन्धमें असत्यका सहारा लेकर किसीको धोखा नहीं देता।

सदाचारका तीसरा सूत्र चौर्यवृत्तिको निर्मूलित करनेवाला है। नीतिकारोंने चोरीको सात दुर्व्यसनोंमें एक व्यसनरूपमें स्वीकार कर सज्जन नागरिकोंके लिये इसे सर्वथा हेय बताया है। भगवान् महावीरने इस संदर्भमें मार्गदर्शन देते हुए कहा—तस्करीमें प्राप्त वस्तुको खरीदना, तस्करीकी प्रेरणा देना, राष्ट्रद्वारा निर्धारित व्यावसायिक सीमाओंका अतिक्रमण करना, झूठा माप-तौल करना, मिलावट करना, असली वस्तु दिखाकर नकली देना आदि प्रवृत्तियाँ मनुष्यके आचरणको दूषित करती हैं। अतः सदाचारी व्यक्तिको इन सबसे अवश्य बचना चाहिये।

सदाचारका चौथा सूत्र है—ब्रह्मचर्य। जीवनभर ब्रह्मचर्यकी परिपूर्ण साधना चेतनाके ऊर्ध्वारोहणकी प्रशस्त दिशा है, पर साधनाका यह क्रम प्रत्येक व्यक्तिके लिये इतना सरल नहीं है। इसलिये इस विषयमें उन्मुक्त यौन-सम्बन्धों और कामोत्तेजक प्रवृत्तियोंपर अङ्कुश लगानेके लिये कुछ नियम बना दिये गये, जो इस प्रकार हैं—विवाहित पति या पत्नीके अतिरिक्त किसी भी स्त्री-पुरुषके प्रति वासनापरक चिन्तन, वाणी और चेष्टाका परिहार करना एवं कुछ समयके लिये वेतन देकर किसीके साथ अनैतिक सम्बन्ध न रखना। अपरिगृहीत स्त्री या पुरुषके साथ गलत सम्बन्ध नहीं रखना तथा पारिवारिक व्यवस्थाके अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्तिको काम-भोगके लिये प्रेरित नहीं करना एवं इन्द्रियोंके विषयोंमें तीव्र आसक्तिका परिहार करना।

सदाचारका पाँचवाँ सूत्र है—अपरिग्रह। समाज और परिवारसे अनुबन्धित रहनेवाला व्यक्ति परिग्रहको सर्वथा छोड़ नहीं सकता, पर उसको सीमित अवश्य कर सकता है। इसलिये इस सदाचारको अपना आदर्श माननेवाला व्यक्ति भूमि, मकान, सोना-चाँदी, पशु-पक्षी, धन-धान्य तथा अन्य घरेलू उपकरणोंकी सीमा करता है और कृतसीमाका अतिक्रमण नहीं करता। इससे संग्रह और शोषणमूलक प्रवृत्तियोंका परिष्कार होनेके साथ विलासिताकी वृत्ति भी नियन्त्रित होती है।

भगवान् महावीर मानवीय मूल्योंके महान् मन्त्रदाता थे। उन्होंने इन पाँच मौलिक सूत्रोंको पोषण देनेके लिये अन्य अनेक सूत्र दिये। कहीं विस्तार और कहीं संक्षेपमें उन सूत्रोंका विश्लेषण हमें जैन-साहित्यमें उपलब्ध है। किंतु साहित्यिक उपलब्धिमात्रसे जन-जीवन सदाचारसे लाभान्वित नहीं हो सकता। सदाचारका लाभ सदाचारी बननेसे ही मिल सकता है। भगवान् महावीरने उस समय सदाचारकी जो मौलिक बातें बतायीं, वे आज भी उतनी ही मौलिक हैं। वे उस समय समस्याओंका जितना समाधान देती थीं, आज भी उतना ही देती हैं। वे उस युगमें मानव-जातिको जिस निराबाध और स्थायी शान्तिका आश्वासन देती थीं, आज भी देती हैं। इसलिये उस सदाचार-संहिताको जीवनगत कर पल-पल उसके प्रति सजग रहनेकी अपेक्षा है।

(७)

सदाचारके अद्भुत प्रहरी स्वामी दयानन्द

(लेखक—डॉ० श्रीसुरेशव्रतजी राय, एम्० ए०, डी० फिल्०, एल्-एल्० बी०)

स्वामी दयानन्द वर्तमान जागरण और सामाजिक व्यवस्थाके अग्रदूत थे। सामाजिक जीवनमें सदाचार, समानता, नारी-शिक्षा आदि सुधारोंमें उनका योगदान अद्वितीय रहा। आचरणकी उपेक्षा करनेवाले सम्प्रदायोंकी अपेक्षा स्वामी दयानन्दने सदाचारपर विशेष बल दिया है। मार्टिन लूथरकी भाँति उन्होंने धर्मके नामपर शोषण एवं पाखण्डका निर्भीकतापूर्वक खण्डन किया। अपने जीवनकी बलि भी दे दी। उनके विचारोंसे किन्हींको कहीं मतभेद हो सकता है, परंतु सदाचारके संदर्भमें उनकी विस्मृति सर्वथा कृतघ्नता होगी।

स्वामी श्रीदयानन्दने संतरूपमें सदाचारकी व्याख्या करते हुए कहा है कि 'धर्मयुक्त कामोंका आचरण, सत्पुरुषोंका सङ्ग और सद्विद्या-ग्रहणमें रुचि, जिसका सेवन राग-द्वेषरहित, सत्य कर्तव्यका बोधक हो, वही माननीय और अनुकरणीय है। वेदोक्त ज्ञान और तदनुसार अनुशीलन, आचरण, यज्ञ, सत्यभाषण, व्रत, नियम और यम—ये सदाचार हैं और आत्मा (मन)में भय, लज्जा, शङ्का उत्पन्न करनेवाले कर्म ही दुराचार हैं। वेदोक्त धर्मका अनुष्ठान करनेवाला लौकिक जीवनमें कीर्ति तथा सर्वोत्तम सुख प्राप्त होता है। इन्द्रियोंकी विषयासक्ति और अधर्मवृत्ति दुराचारकी ओर ले जाती है। प्रशंसासे हर्ष तथा निन्दासे शोक आदि-जैसी क्षणिक अनुभूतियोंसे परे व्यक्ति जितेन्द्रिय कहलाता है।

कभी बिना पूछे अथवा अन्याय एवं छलसे पूछनेवालेको उत्तर न दे। अधिक वर्षोंके बीतने मात्रसे, केश श्वेत होने अथवा धनवान् होनेके कारण कोई व्यक्ति वृद्ध एवं पूज्य नहीं हो जाता; जो आप्तशास्त्र-ज्ञान-विज्ञानरहित है, वह बालक है और जो बालक भी विज्ञानका दाता है वह वृद्ध एवं पूज्य है। विद्वान् पढ़े-लिखेको ही बड़ा मानते हैं, विद्या न पढ़नेवाला काठके हाथी अथवा चमड़ेके मृग-जैसा होता है, नाममात्रका मनुष्य है—

यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥
(मनुस्मृति २। १५६)

विद्वान्‌के लिये आवश्यक है कि विद्या-प्राप्तिके साथ मधुर सम्भाषणद्वारा समाजका मार्गदर्शन करे। नित्य स्नान, वस्त्र, अन्नपान, स्थान-शुद्धि सदाचारके अङ्ग हैं। नास्तिक, लम्पट, विश्वासघाती, चोर, मिथ्यावादी, स्वार्थी, कपटी, छली तथा दुष्ट लोगोंका साथ निषिद्ध है, सत्यवादी परोपकारी, धर्मात्माजनोंका साथ ही श्रेष्ठाचार है।

स्वामीजीके मतानुसार भोजन सदाचारका प्रमुख अङ्ग है। भक्ष्याभक्ष्यपर विस्तृत विचार व्यक्त करते हुए स्वामीजीने लिखा है—जैसा भोजन होता है, वैसी ही मनुष्यकी प्रवृत्ति बनती है और प्रवृत्तिके अनुसार उसका आचरण होता है। अतः बुद्धि नष्ट करनेवाले पदार्थों—सड़े अन्न, मद्य-मांसका सेवन नहीं करना चाहिये। मल-मूत्रके संसर्गसे उत्पन्न शाक-फल-मूल नहीं खाना चाहिये। गाँजा, भाँग, अफीम, मदिरा, बीड़ी, सिगरेट आदिका सेवन वर्जित है।

अभक्ष्यं च द्विजातीनाममेध्यप्रभवाणि च।
(मनुस्मृति ५। ५)

बुद्धिं लुम्पति यद् द्रव्यं मदकारी तदुच्यते।
(शार्ङ्गधर, प्रथम खण्ड, अ० ४। २१)

दुराचारकी गणनामें उल्लेखनीय दोष हैं—विषयीजनोंका सङ्ग, वेश्यागमन, वेदशास्त्र-विमुख होना, अतिभोजन, अतिजागरण, पढ़ने-पढ़ानेमें आलस्य, कपट, धूर्तता तथा असत्य-भाषण। इससे भिन्न एवं विपरीत संध्योपासन, योगाभ्यास, विद्वानोंकी सेवा, आदर, माता-पिता और आचार्यकी श्रद्धापूर्वक सेवाद्वारा संतुष्ट रखना, अतिथि-सत्कार आदि कार्य सदाचार हैं। वैडालवृत्तिवाले

कपटी, हठी, दुराग्रही, अभिमानी, कुतर्की साधुओंसे सावधान रहना चाहिये। प्रातःकाल उठते ही परमेश्वर-का ध्यान और दिनभर श्रेष्ठ आचरणका संकल्प करना अभीष्ट है। ऋत्विक्, पुरोहित, आचार्य, मातुल, अतिथि, आश्रित, बालक, वृद्ध, पीड़ित, वैद्य, स्वगोत्र-सम्बन्धी, बान्धव, माता, पिता, बहन, पुत्री, सेवकोंसे विवाद यथासम्भव कभी न करे। अशिक्षित तथा कुपात्रको दान न दे। अज्ञानी दाता तथा गृहीता दोनों दुःखको प्राप्त होते हैं। स्त्री-पुरुषोंको चाहिये कि शनैः-शनैः सदाचार और धर्मका संचय करें। परलोकमें माता-पिता-गुरु-स्त्री कोई सहायता नहीं कर सकता, धर्म ही सहायक होता है। दृढ़निश्चयी परंतु मृदुस्वभाव, जितेन्द्रिय, शिष्ट, हिंसक तथा क्रूर दुष्टाचारियोंसे दूर रहनेवाला, दुर्बल निरीह प्राणियोंपर दया करनेवाला सदाचारी व्यक्ति अनुकरणीय है।

आर्यसमाजके अन्तिम चार नियमोंमें सदाचारकी व्यापक परिभाषा सूत्ररूपमें निहित है। १—सबसे प्रीति-पूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य व्यवहार, २—अविद्याका नाश और विद्याकी वृद्धि, ३—अपनी उन्नतिमें संतुष्ट न रहकर सबकी उन्नतिमें अपनी उन्नति समझना और ४—सामाजिक सर्वहितकारी नियमोंके पालनमें परतन्त्रता तथा हितकारी नियममें स्वतन्त्रता ही सदाचारके आधार हैं, जिन्हें किसी भी देशकालमें अपनाया जा सकता है।

सूक्तियोंमें सदाचार

(लेखक—श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')

सदाचारकी नींव सद्विचार है। सदाचारी बनना है तो हम सदैव सद्विचाररत रहें। किसीका विश्वास प्राप्त करनेसे बढ़कर प्राप्तव्य और कुछ नहीं; और यह सदाचारीको सहज प्राप्त होता है।

अनाचारी अपकीर्तिवश जीवित ही मृतकसमान है और सदाचारी सुकीर्तिके फलस्वरूप मरकर भी जीवित रहता है।

जो मनका सच्चा हो, वाणीका सच्चा हो, हृदयका सच्चा हो, हाथका सच्चा हो, इन्द्रियोंका सच्चा (संयमी) हो—संक्षेपमें, सब प्रकार सच्चा-ही-सच्चा हो, उसे सदाचारी जानो।

आचारवानोंके आचार देश-काल और परिस्थितिकी विभिन्नतासे भिन्न-भिन्न प्रतीत भले ही हों, किंतु मूलतः उनमें अन्तर नहीं होता।

सदाचारीके परिचयकी आवश्यकता नहीं होती। उसका परिचय तो उस सदाचार-सुगन्धसे ही मिलता रहता है, जो उसके चतुर्दिक् सहज फैलती रहती है।

कोई भले ही धनी, सत्ताधीश, गुणी, विद्वान् हो; परंतु सदाचारविहीन है तो वह एक सदाचारी-को नहीं पा सकता।

अनाचारी सर्वसम्पन्न होते हुए भी विपन्न ही है और आचारवान् सर्वथा विपन्न होते हुए भी सर्वसम्पन्न है।

सदाचारी संयमी होता है। जो संयमी नहीं, वह सदाचारी कहाँ? आत्मप्रचार और अहंकार सदाचारीके सदाचारताको खा जाता है।

आज जगत्‌में सदाचारी प्रायः दीपक लेकर खोजनेपर ही मिलते हैं, परंतु यह टिका हुआ है उन्हींपर। सदाचारी न हों तो संसार ही उच्छिन्न हो जाय। सदाचार विश्व-व्यवस्थाका मूलाधार है।

परोपकारके आदर्श—महर्षि दधीचि

'वृत्रासुरके निधनका एक ही उपाय है—देवताओंकी प्रार्थनापर भगवान् नारायण प्रकट भी हुए तो उन्होंने एक अटपटा मार्ग बतलाया—'महर्षि दधीचिकी अस्थियोंसे विश्वकर्मा वज्र बनायें तो उस वज्रसे वह असुर मारा जा सकता है ।'

वृत्रासुरने स्वर्गपर अधिकार कर लिया था। इन्द्रादि देवता युद्ध करने गये तो उनके सब अस्त्र-शस्त्र उसने निगल लिये । अब देवता तो निर्वासित जीवन व्यतीत कर रहे थे और वृत्रके संरक्षणमें दैत्योंने अमरावतीको अपना निवास बना रखा था । तीनों लोक असुरोंके अत्याचारसे संतप्त थे । देवता ब्रह्मलोक गये और सृष्टिकर्ता ब्रह्माजीको साथ लेकर भगवान् नारायणकी स्तुति करने लगे ।

'दधीचिकी अस्थि !' देवताओंका मुख अवनत हो गया । उन महातपस्वीकी तपस्यासे भयभीत इन्द्रने पहले तपोभङ्गके लिये अप्सराओंको भेजा था, कामदेवको भेजा था और इस दुरभिसन्धिके असफल होनेपर दधीचिको मार देनेतकका उद्योग किया था। इन्द्र, वरुण, यम आदि सबने अपने आघात किये थे और किसी प्रकारका प्रतिकार किये बिना दधीचि अविचल बने रहे । उनके तेजसे ही लोकपालोंके दिव्यास्त्र व्यर्थ हो गये थे । अब उन्हीं महर्षि दधीचिकी अस्थि चाहिये—भला, उनकी अस्थि कैसे मिलेगी ? उन्हें मारना सम्भव होता तो इन्द्रने पहिले उन्हें मार देनेका क्या कम उद्योग किया था, मार दिया होता ।

'वे परम धर्मात्मा हैं । उनसे याचना करनेपर वे अपनी देह प्रसन्नतापूर्वक दे देंगे ।' भगवान् नारायणने देवताओंका नैराश्य देखकर उन्हें समझाया और फिर वे अदृश्य हो गये ।

'देवता महर्षि दधीचिके आश्रममें गये और उन्होंने महर्षिसे प्रार्थना की—'महात्मन् ! हम सब विपत्तिमें पड़ गये हैं । आपके समीप याचना करने आये हैं । हमको आपके शरीरकी अस्थियाँ चाहिये ।'

वे ही इन्द्र, वे ही देवता, जिन्होंने दधीचिकी तपस्या भङ्ग करनेके लिये तथा उनको मार देनेका कोई उद्योग ऐसा नहीं छोड़ा, जो उन्होंने अपने वशभर न किया हो । आज उन्हीं महर्षिसे उनकी अस्थि माँगने आये थे; किंतु ऋषिके ललाटपर एक सूक्ष्म संकुचन भी नहीं आया ! उनके अन्तरने कहा—'सृष्टिमें सदा सात्त्विकताकी विजय होनी चाहिये । संसारके प्राणियोंको असुरोंके उत्पीडनसे परित्राण मिलना चाहिये । इसका जो निमित्त बन सके—वह धन्य है ।'

'यह शरीर तो नश्वर है । एक दिन जब यह मुझे छोड़ देगा, तब मैं इसे क्यों पकड़े रहनेका आग्रह करूँ ?' महर्षिने कहा—'इससे आप सबकी सेवा हो सके तो इसकी सार्थकता स्वतःसिद्ध है । प्रभुकी यह बड़ी कृपा है, जो उन्होंने मुझे यह सुअवसर प्रदान किया ।'

महर्षि समाधि लगा करके बैठ गये । योगके द्वारा उन्होंने अपने प्राणोत्सर्ग कर दिये । जंगली गायोंने उनके शरीरका मेद-मांसतक चाट लिया । तब योजनानुसार अस्थियोंसे विश्वकर्माने वज्र बनाया और उस वज्रसे ही इन्द्रने वृत्रासुरको मारा । इस प्रकार महर्षि दधीचिके त्याग, तपस्या तथा परोपकारकी उत्कट भावनाके फलस्वरूप देवता भयमुक्त हो गये । यह था महर्षिका अद्भुत त्याग और परोपकार !

सदाचार-पथ

(लेखक—श्रीपरमहंसजी महाराज, श्रीरामकुटिया)

मनुष्यका परम एवं चरम उद्देश्य है—भगवत्प्राप्ति। उसके लिये शास्त्रविधिसे उद्यम करते रहना चाहिये। निरुद्यमीकी जीवन-यात्रा एवं शरीरका संरक्षण होना भी कठिन है। सज्जनको निरुद्यमीको उद्यममें, अधर्मीको धर्ममें, अनपढ़को विद्यामें, भूलेको सन्मार्गमें, अज्ञानीको ज्ञानमें संलग्न करने और बद्धको मुक्त करनेमें सहयोग देना चाहिये। भूखे-प्यासेको अन्न-जल, क्लान्तको आराम, निराधारको आधार, अनाश्रितको आश्रय, भयभीतको शान्ति और दुःखीको सुख पहुँचानेका सहयोग करना—कर्तव्य है। गुरुजनों एवं आश्रितकी सेवाका ध्यान रखकर उनका पालन करना परम धर्म है। भूखसे कम खाना, अपकारीका अपमान न करके गम खाना, आमदनीसे ज्यादा खर्च न करना एवं घर-जगत्‌का जिम्मेवार न होकर रहना बहुत हितकर है। नेत्रोंसे देख-देखकर पग रखना, सत्य-अहिंसासे तौलके वचन बोलना, वस्त्रसे छानकर पानी पीना, जान-परखके गुरु करना और विचारके कार्य करना चाहिये।

धन, जन और मन अपने नियन्त्रणमें होनेसे कार्यमें सफलता मिलती है। धन-यौवनमें मदान्ध होकर अपनी वार्षिक आयको किसी दिन यकायक व्यय कर देनेसे अपना जीवन संकटमय बनाना बुद्धिमानी नहीं। व्यसनी, जुआरी, मांसाहारी, दुराचारी, झगड़ालू, निर्लज्ज, शठ, पापी, कृतघ्नी, गरद (विष देनेवाले), जाति-देश-निर्वासित, सज्जनोंको दुःख देनेवाले, दिवाला निकालनेवाले, दगाबाज, चोर, दुष्ट, अपयशभाजन तथा नास्तिक, ज्ञान-भक्ति-मानवतारहित मनुष्यका कभी विश्वास नहीं करना चाहिये। समय और राजनीतिके विरुद्ध लेन-देन-व्यापार आदि भी नहीं करने चाहिये। यदि विश्वासपात्र हो तो राज्य-पञ्जीयनद्वारा कार्य करना चाहिये। पाखण्डी, मूर्ख, स्वार्थी, व्यसनी, आलसी और अपरिचितका विश्वास कभी नहीं करना चाहिये।

स्वयं ठगाना तो ठीक! पर दूसरेको कभी ठगना नहीं चाहिये। व्यक्ति यदि स्वयं ठगा गया तो भय नहीं; परंतु यदि वह दूसरोंको ठगेगा तो यम-यातना नरकका भय रहेगा। कटु वचन सहन करनेवाला, लोभकी सीमासे बचे रहनेवाला, क्रोधाग्निसे न जलनेवाला, परस्त्रीमें मन न लगानेवाला, याचकको कभी 'ना' (नहीं) कहनेवाला और अपकारीके प्रति उपकार करनेवाला—मनुष्य नहीं, देवता है।

आद्योपरान्त विद्या-अध्ययनका अभ्यास करना आवश्यक है और उसके माध्यमसे—'मैं देह नहीं हूँ, देह मेरा नहीं है, मैं देहातीत-सत्-चित्-आनन्दस्वरूप आत्मा हूँ—'यह विज्ञान हो जाना चाहिये। पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय—दस मन, इन ग्यारहोंको पाँचों शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धमेंसे मोड़कर भगवान्‌के भजनमें लगानेका ही नाम है—सच्चा 'एकादशीव्रत'—अर्थात् एकादशेन्द्रियद्वारा परमात्माका सेवन।

सुखी बननेका उपाय

अपनी अभिलाषाओंका त्यागकर प्रभुकी शरणमें जाओ। उनकी कृपा प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त दीन बनो, अपनी इच्छाओंका दमन करो, जिधर तुम्हारी इच्छाएँ ले जायँ, उधर मत जाओ। दुःख सहना सीखो और संसारके एकमात्र आधार—भगवान्‌की इच्छापर अपनेको सब प्रकारसे पूर्णरूपेण छोड़ दो। तभी सुखी बन सकोगे।

—रामकृष्ण परमहंस

सदाचार-विवेचन

(लेखक—पं० श्रीरामाधारजी दुबे)

मनुने कहा है कि मानव-जीवनको परिष्कृत एवं सुख-शान्तिसे समन्वित कर उसे **'सत्यं शिवं सुन्दरम्'** की पराकाष्ठातक पहुँचानेका जो निर्दिष्ट कर्तव्यानुष्ठान है, वही सदाचार है। 'सदाचार'के समान 'शिष्टाचार' भी एक बहुचर्चित शब्द है, पर इन दोनोंमें मौलिक अन्तर है। शिष्टाचारसे मनुष्यकी शिक्षा, सुरुचि और सभ्यताका परिचय मिलता है तथा इससे मनुष्यके विनम्र स्वभावकी भी परख हो जाती है, किंतु सदाचारका धर्मसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है और उसकी अवहेलना पाप समझा जाता है। शिष्टाचारको सदाचारका एक अङ्ग कहा जा सकता है, किंतु धर्मसे उसका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं दीखता। शिष्टाचारकी अवहेलना करना उतना गर्हित नहीं माना जाता, जितना सदाचारकी अवहेलना करनेसे होनेवाला पाप। शिष्टाचारकी अवहेलना करनेसे अन्य व्यक्ति ही असंतुष्ट अथवा विरोधी हो सकते हैं, किंतु सदाचारकी अवहेलना करनेसे स्वयं अपना भी अकल्याण होता है। शिष्टाचारका पालन करना आसान काम है, किंतु सदाचारका पालन करना उतना सहज नहीं है। शिष्टाचारी व्यक्ति सदाचारी हो भी सकता है और नहीं भी; किंतु जो सदाचारी होगा, वह तो शिष्टाचारी होगा ही। उदाहरणार्थ मिथ्यावादी और तस्कर भी 'शिष्टाचारी' हो सकते हैं, परंतु जो सदाचारी होगा उसमें मिथ्यावादिता एवं तस्करीकी प्रवृत्ति न होगी। अतः हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि शिष्टाचार सदाचारका एक आंशिक रूप—एक अवयवमात्र होता है, न कि उसका पर्याय अथवा विकल्प। उसी प्रकार सदाचारको भी धर्मका पर्याय अथवा विकल्प न मानकर उसका एक लक्षण—अङ्गमात्र माना गया है। स्वल्पान्तरसे मनुस्मृति (अध्याय २ के श्लोक १२) तथा याज्ञवल्क्यस्मृति (१ । ७)में यही बात कही गयी है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥

'श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित मार्गका अनुसरण, (सदाचरण) प्राणिमात्रमें एक आत्माका बोध और शुद्ध संकल्पसे उत्पन्न इच्छा इन सभीको धर्मका मूल समझना चाहिये।'

वास्तवमें सदाचारको न केवल हिंदू-धर्मका, अपितु सम्पूर्ण मानव-धर्मका प्राण कहा जाय तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। सभ्य मानव-संसारका कोई भी ऐसा धर्म नहीं, जिसमें सदाचारके नियमोंका पालन करनेका आदेश न दिया गया हो। इसलिये विश्वके सभी धर्मग्रन्थोंमें सदाचारका निरूपण मिलता है, जो अपनी-अपनी संस्कृतिके अनुरूप विभिन्न ढंग और स्तरपर किया गया है। (द्रष्टव्य Enyclopedea of Religion and Ethics)

बौद्ध-धर्मके अनुसार पंद्रह सदाचार इस प्रकार हैं—(१) शील, (२) इन्द्रिय-संवर, (३) मात्राशिता, (४) जागरणानुयोग, (५) श्रद्धा, (६) ह्री, (७) बहुश्रुतत्व, (८) उत्ताप अर्थात् पछतावा, (९) पराक्रम, (१०) स्मृति, (११) मति, (१२) प्रथम ध्यान, (१३) द्वितीय ध्यान, (१४) तृतीय ध्यान और (१५) चतुर्थ ध्यान।

जैन-धर्ममें जीवनके चरम लक्ष्य परमानन्दकी प्राप्तिके तीन मार्ग बताये गये हैं—सद्विश्वास, सत्ज्ञान और सत्आचरण। सत्आचरण (सदाचार)के लिये पाँच आदेश दिये गये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य। इनमें भी अहिंसापर सर्वाधिक जोर दिया गया है।

सिक्ख-धर्मके प्रवर्तक श्रीगुरुनानकदेवने भी सिक्खोंके शुद्ध आचरणपर विशेष बल दिया है। श्रीगुरुनानकदेवका जीवन विशुद्ध धार्मिक था, किंतु उनके बाद जो नौ अन्य

धर्म-गुरु हुए, उन्हें धार्मिक क्षेत्रके अतिरिक्त राजनीतिमें पदार्पण कर अत्याचारके विरोधमें मुगलोंसे लोहा भी लेना पड़ा। फिर भी इन्होंने सदाचारके अनेक निर्धारित नियमोंकी अवहेलना न होने दी। फलतः राजनीति सदाचारमें बाधक न बन पायी।

इस्लाम-धर्ममें भी सदाचारकी शिक्षा दी गयी है। अन्य धर्मोंकी तरह उसमें भी संयम, आचरण, शुद्धता, सत्यनिष्ठा आदिपर पर्याप्त जोर दिया गया है। उदाहरणार्थ 'कुरआन-शरीफ'में शराब पीने और जुआ खेलनेकी मनाही है (आयत २३५)। यतीमों (अनाथ orphans) की भलाई करनेको कहा गया है (आयत २३६)। रजस्वला-कालमें स्त्री-प्रसङ्ग वर्जित है (आयत २३८-२४०)। नम्रता, संयम, दया, क्षमा आदिको आवश्यक माना गया है (आयत २६१) और इत्यादि सूदखोरीको निन्द्य माना गया है (आयत ३१५-३३२)।

ईसाई-धर्ममें भी सदाचारका विषय प्रचुरतासे भरा पड़ा है। बाइबिलमें सदाचार-सम्बन्धी असंख्य शिक्षाएँ भरी पड़ी हैं। Psalms तथा Proverbs नामक अध्याय तो इस सम्बन्धमें विशेष रूपसे अध्ययन करने योग्य हैं। फिर भी मानना पड़ेगा कि हिंदू-धर्मके ग्रन्थोंमें सदाचारका सबसे अधिक और विस्तृत विश्लेषण किया गया है। वेद हमारे हिंदू-धर्मके आदि ग्रन्थ माने जाते हैं। पाश्चात्त्य विद्वानोंने उनका अध्ययन कर उन्हें गूढ़ ग्रन्थ या गुप्त ग्रन्थकी संज्ञा प्रदान की है। वेदोंकी कथनशैली गूढ़ है। उदाहरणार्थ—

आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः।

(ऋग्वेद १। ८९। १, वाजसनेयियजुःसंहि० २५। १४ निरुक्त ४। १९)

'सभी ओरसे हममें शुभ विचारोंका आगमन हो।' यहाँ यह कहा जा सकता था कि 'हममें' सदाचारका जागरण हो, पर 'शुभ विचारोंका आगमन हो'—इसलिये कहा गया है कि विचार ही आचारके बीज होते हैं। जो आज विचार है, वही कल अङ्कुरित होकर आचार बन जाता है। यदि वह शुभ विचार है तो शुभ आचार (सदाचार) बनेगा ही। इस प्रकार यहाँ फल नहीं, बीजकी प्राप्ति आवश्यक मानी गयी है। सदाचारके लिये सद्विचारोंकी प्राथमिक एवं अनिवार्य आवश्यकता होती है। यही कारण है कि 'हममें शुभ विचारोंका आगमन हो'—कहा गया है। विचार मनमें उत्पन्न होते हैं और मनकी ही प्रेरणासे इन्द्रियाँ कार्यरत होती हैं। मनमें सदा शुभ विचार ही उत्पन्न हो—मन निरन्तर शुभकी ही कामना करे, इसलिये कहा गया है कि—

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

(वाजसने० ३४। ३)

'जो ज्ञान, चेतना और धृतिका साधन है, जो प्राणियोंके भीतर अमर ज्योतिके रूपमें वर्तमान है और जिसके बिना कोई भी कर्म सम्पादित नहीं होता, वह मेरा मन शुभकी कामना करे।' मनमें शुभ विचारोंके उत्पन्न होनेपर हम सूर्य और चन्द्रमाकी तरह सन्मार्गपर अग्रसर हों, कथन भी सार्थक है—

'स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्यचन्द्रमसाविव'

(ऋग्वेद ५। ५१। १५)

'सूर्य और चन्द्रमाकी तरह' कहनेका तात्पर्य है कि जिस प्रतिबद्धता एवं कट्टरताके साथ सूर्य और चन्द्रमा प्रकृतिके विधानका अनुसरण करते हैं, उसी प्रकार हम मानव भी नैतिक विधानका; सदाचरणका अनुसरण करें। दुराचारसे प्रतिरोधके लिये और सदाचारका भागी बननेके लिये अग्नि-देवतासे भी प्रार्थना की गयी है—

परि माऽग्ने दुश्चरिताद्बाधस्वा
मा सुचरिते भज।
उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ२ अनु॥

(वाजसने० ४। २८)

'हे अग्निदेव ! दुराचारसे मुझे दूर रखो और सदाचारसे संयुक्त करो। मैं अमरोंका अनुसरण करते हुए सुन्दर जीवनके साथ उत्पन्न हुआ हूँ।' इसी प्रकार वेदोंमें सदाचारके विषयमें अनेक स्थलोंपर भिन्न-भिन्न रूपसे उल्लेख किया गया है, जो गहरे अध्ययनका विषय है।

स्मृतियोंमें वेद-मन्त्रोंका ही विस्तृत स्पष्टीकरण हुआ है, अतः उनमें सदाचारका विशद वर्णन उपलब्ध है। स्मृतियोंकी संख्या आज सौके आस-पास है। निबन्धोंके अनुसार स्मृतियाँ पहले और भी अधिक थीं। इनका विषय वर्णधर्म, आश्रमधर्म, राजधर्म तथा व्यवहारक्रम है; परंतु समय और आवश्यकताके अनुसार किसी स्मृतिमें किसी बातको प्रधान मानकर उसका विस्तारसे वर्णन किया गया है तो किसी अन्य स्मृतिमें दूसरे महत्त्वपूर्ण विषयको प्रधानता प्रदानकर उसका विस्तृत वर्णन किया गया है। सदाचारका उल्लेख यद्यपि दक्ष, शङ्ख, वसिष्ठ, व्यास एवं लघ्वाश्वलायन स्मृतियोंमें भी मिलता है, किंतु मनुस्मृति, बृहत्पराशरस्मृति और विष्णुस्मृतिमें सदाचारका वर्णन पर्याप्त विस्तारपूर्वक उपलब्ध है। राजर्षि मनु सदाचारकी उपादेयताका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि आचारसे हीन ब्राह्मण वेदका फल नहीं पाता और जो आचारसे युक्त है, वह सम्पूर्ण फल-का भागी होता है' (मनुस्मृति १ । १०९)।

इस प्रकार वेद और स्मृति दोनोंमें कहा गया आचार ही परम धर्म है। इसलिये आत्मवान् द्विज इस आचारमें सदा संलग्न रहे।' फिर वे यह भी कहते हैं—

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्निबद्धः स्वेषु कर्मसु।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः॥
(४ । १५५)

'श्रुति और स्मृतिमें जो सदाचार कहा गया है, जो अपने कर्ममें सम्यक् रूपसे मिला हुआ है, और जो धर्मका मूल है, उस सदाचारका पालन आलस्यरहित होकर करना चाहिये।' आदिराज मनुने सदाचारके जो-जो कार्य हैं उन्हें अपनी स्मृतिके चौथे अध्यायके श्लोकोंमें विस्तार-पूर्वक भी बताया है जिनका क्रियान्वयन हमारा कर्तव्य होता है।

'पराशरके अनुसार आचारवान् मनुष्यको आयु, धन, संतान, सुख, धर्म तथा शाश्वत परलोककी प्राप्ति होती है तथा इस लोकमें भी वह विद्वानोंद्वारा पूज्य होता है।' (६ । २०८) 'बृहत्पराशरस्मृति'के दूसरे तथा छठे अध्यायमें सदाचारका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है और यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि 'आचारहीन मनुष्य किसी भी कर्ममें सफल नहीं होता'—

आचारहीननरदेहगताश्च वेदाः
शोचन्ति किं नु कृतवन्त इति स्म चित्ते।
यन्नोऽभवद्वपुषि चास्य शुभप्रहीणे
स्थानं तदत्र भगवान् विधिरेव शोच्यः॥
कर्तव्यं यत्नतः शौचं शौचमूला द्विजातयः।
शौचाचारविहीनानां सर्वाः स्युर्निष्फला क्रियाः॥
(बृहत्पारा० स्मृति ६ । २११-१२)

'आचारहीन व्यक्तिके अभ्यन्तरमें प्रविष्ट वेद इस सोचमें पड़ जाते हैं कि इस अशुभ शरीरमें हमारा प्रवेश क्योंकर हो गया, यह भगवान् ही जानें। पवित्र कार्योंका अनुष्ठान यत्नपूर्वक अवश्य करना चाहिये; क्योंकि द्विजातिमात्रके लिये पवित्र कार्य ही मूल है। सदाचार-से विहीन व्यक्तियोंके सभी कार्य निष्फल होते हैं।'

'विष्णुस्मृति'के अध्याय ६०से अध्याय ७१ तक गृहस्थाश्रमीके सदाचारका विशद वर्णन किया गया है, जो पठन तथा मनन करने योग्य है। सदाचारकी उपादेयता-का प्रतिपादन करते हुए विष्णुस्मृतिकी उक्ति है कि—

'श्रुति और स्मृतिमें जिस सदाचारका उल्लेख है और सज्जनोंद्वारा जिसका सम्यग्रूपसे सेवन किया जाता है, उस आचारका पालन धर्मकामी जितेन्द्रियद्वारा किया जाना चाहिये। आचारसे दीर्घायु तथा इच्छित गतिकी प्राप्ति

होती है, आचारसे अक्षय धन प्राप्त होता है और आचारसे अशुभ लक्षणोंका नाश होता है । सभी लक्षणोंसे हीन होनेपर भी जो श्रद्धालु और सदाचारी व्यक्ति है, वह सौ वर्षोंतक जीता है ।'

उपनिषदोंमें भी सदाचार-सम्बन्धी पर्याप्त उल्लेख है । तैत्तिरीयोपनिषद्‌की शीक्षावल्लीके अनुवाक ९ और ११ इस सम्बन्धमें विशेषतया अवलोकनीय हैं । नवम अनुवाकमें यह बात समझायी गयी है कि अध्ययन और अध्यापन करनेवालोंको अध्ययन-अध्यापनके साथ-साथ शास्त्रोंमें बताये गये मार्गपर स्वयं चलना भी चाहिये । अर्थात् अध्ययन और अध्यापन दोनों ही अत्यावश्यक हैं; क्योंकि शास्त्रोंके अध्ययनसे ही मनुष्योंको अपने कर्तव्य तथा उसकी विधि और फलका ज्ञान होता है । अतः इसका पालन करते हुए यथायोग्य सदाचारका अनुष्ठान, सत्यभाषण, स्वधर्मपालनके लिये बड़ा-से-बड़ा कष्ट सहना, इन्द्रियों तथा मनको वशमें रखना, अग्निहोत्रके लिये अग्निको प्रदीप्त करना, फिर उसमें हवन करना, अतिथि-की योग्य सेवा करना, सबके साथ मनुष्योचित लौकिक व्यवहार करना तथा शास्त्र-विधिके अनुसार संतानोत्पत्ति आदि कार्य और सभी श्रेष्ठ कर्मोंका अनुष्ठान करते रहना चाहिये । अध्यापक तथा उपदेशकके लिये तो इन सब कर्तव्योंका समुचित पालन और भी आवश्यक है; क्योंकि छात्र और श्रोता उनके आदर्शका अनुकरण करते हैं । सत्यवचा ऋषि, तपोनिष्ठ ऋषि तथा नाक आदि मुनियोंके कथनानुसार सत्य, तप और शास्त्रोंका अध्ययन तीनों ही इसलिये आवश्यक हैं कि जो भी कर्म किया जाय, वह शास्त्रके अनुकूल होना चाहिये । उसके पालनरूपी तपमें दृढ़ रहना चाहिये तथा प्रत्येक क्रियामें सत्यभाव और सत्यभाषणपर विशेष ध्यान देना चाहिये ।

अष्टादश पुराणोंमें वेदव्यासजीने वेदोक्त बातोंको इतिहास और कथानकके रूपमें सुन्दर और सरल भाषामें आकर्षक और बोधगम्य बनाकर लोक-कल्याणका बहुत बड़ा काम किया है । एक ओर जहाँ श्रुतियोंका अनुगमन करती हुई विविध स्मृतियाँ हमारे लिये विधान अथवा आचारसंहिताका निर्माण करती हैं, वहीं दूसरी ओर अष्टादश पुराण भी मानवको ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, प्रेम, श्रद्धा, विश्वास, यज्ञ, दान, तप, संयम, यम, नियम, दया, वर्णधर्म, आश्रमधर्म, राजधर्म, मानवधर्म, स्त्रीधर्म और सदाचारकी कल्याणकारी शिक्षा देते हैं । प्रायः सभी पुराणोंमें सदाचारका वर्णन उपलब्ध है, किंतु विष्णुपुराणके तृतीय अंश, ११वें और १२वें अध्यायोंमें; शिवपुराणके विद्येश्वरसंहितामें; नारदपुराणके पूर्वभागके प्रथमपादमें; स्कन्दपुराणके ब्रह्म और काशीखण्डोंमें; कूर्मपुराण, ब्राह्मीसंहिता तथा भागवतीसंहिता; गरुड़पुराण, पूर्वखण्डमें तथा अग्निपुराणमें सदाचारका विस्तृत विवेचन किया गया है ।

महर्षि वाल्मीकिने योगवासिष्ठमें तत्त्व-निरूपणके अतिरिक्त शास्त्रोक्त सदाचार, सपुरुष-सङ्ग, त्याग-वैराग्ययुक्त सत्कर्म, वस्तु-विवेक, सद्गुण, आदर्श व्यवहार आदिपर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है । उन्होंने तो वास्तविक आर्यपुरुष उसीको माना है, जो कर्तव्यका पालन करता है और अकर्तव्यसे बचता है एवं प्रकृत आचार-विचारमें संलग्न रहता है—

कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन् ।
तिष्ठति प्राकृताचारे यः स आर्य इति स्मृतः ॥
(योगवासिष्ठ ६ । १२६ । ५४)

उनकी यह भी समुद्घोषणा है कि जो व्यक्ति शास्त्रीय सदाचार एवं परिस्थिति-सम्मत तथा मनःपूत व्यवहार करता है वही आर्य है—

यथाचारं यथाशास्त्रं यथाचित्तं यथास्थितिम् ।
व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः ॥
(योगवासिष्ठ ६ । २ । १२६ । ५५)

शास्त्रीय सदाचारका विस्तृत विवेचन योगवासिष्ठके मुमुक्षु-प्रकरण एवं स्थिति-प्रकरणमें किया गया है और

वहीं सदाचारकी उपादेयताका प्रतिपादन करते हुए महर्षि वाल्मीकिका कथन है कि—

यस्तूदारचमत्कारः सदाचारविहारवान्।
स निर्याति जगन्मोहान्मृगेन्द्रः पञ्जरादिव॥
(योगवा० मुमुक्षुप्रकरण ६ । २८)

'जो पुरुष उदार-स्वभाव तथा सत्कर्म-सम्पादनमें कुशल है, सदाचार ही जिसका विहार है, वह जगत्‌के मोह-पाशसे वैसे ही निकल जाता है, जैसे पिंजरेसे सिंह ।'

गीतामें भी सदाचारके विषयमें पुराणों, स्मृतियों और उपनिषदोंकी भाँति तालिकाएँ प्रस्तुत नहीं की गयी हैं; किंतु अधिकतर इसी प्रश्नपर विचार किया गया है कि मनुष्यको अपने कर्तव्य (सदाचार) का पालन किस प्रकार करना चाहिये । उसमें कार्यके स्वरूपकी अपेक्षा हमारा कार्य करनेके ढंगको विशेष महत्त्व दिया गया है । केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि हमारा कार्य उत्तम हो; बल्कि हमें उसे निर्दिष्ट उचित ढंगसे करना भी चाहिये । इस विषयमें गीताका सिद्धान्त संक्षेपमें यह है कि हमारी किसी भी कार्यमें आसक्ति न होनी चाहिये और दूसरी बात यह है कि हमारे अंदर कर्म-फलकी इच्छा न हो । गीताने इन तथ्योंपर सर्वाधिक प्रकाश डाला है । साथ ही मनुष्यके कर्तव्य (सदाचार) क्या हैं अथवा किसी व्यक्तिको अपने कर्तव्यका निर्णय किस प्रकार करना चाहिये, इस प्रश्नके उत्तरमें कहा गया है कि—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥
(गीता १६ । २४)

'अतः क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये, इसका निर्णय करनेके लिये शास्त्र ही प्रमाण हैं । शास्त्रके विधानको जानकर तुम्हें उसीके अनुसार आचरण करना चाहिये ।'

और यह भी कहा गया है कि 'जो पुरुष शास्त्र-विधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न तो सिद्धिको प्राप्त होता है, न परम गतिको और न सुखको' (१६ । २३) । इस प्रकार शास्त्र-विहित कर्तव्यको ही गीतामें मान्यता प्रदान की गयी है और शास्त्र-विहित कर्तव्य वही है, जिनका विस्तृत स्पष्टीकरण श्रुतियों, स्मृतियों, पुराणों और उपनिषदोंमें किया जा चुका है । इसी स्तरपर श्रुत्युक्त स्मार्त आचारको ही 'धर्म' कहकर प्रतिष्ठित किया गया है ।

गोस्वामी तुलसीदासके रामचरितमानसके मुख्य कथानक एवं प्रासङ्गिक उपाख्यानोंमें वर्णित जितने भी पात्र हैं, उनमें अधिकतर चरित्र मानो सदाचारके आगार हैं । इसके चित्रणमें गोस्वामीजीने उस स्वर्णिम रंगका प्रयोग किया है, जिसकी दिव्यता मानव-जगत्‌में सदाचार-का चिरन्तन आलोक विकीर्ण करती रहेगी । राम तो मर्यादापुरुषोत्तमके रूपमें अद्वितीय हैं ही, साथ ही वे पुत्रके रूपमें, शिष्यके रूपमें, युवराजके रूपमें, बड़े भाईके रूपमें, पतिके रूपमें, तपस्वीके रूपमें, सखाके रूपमें, राजाके रूपमें, आदर्श मानवके रूपमें—प्रत्येक रूपमें सदाचारका उत्कृष्टतम आदर्श उपस्थित करते हैं । उसी प्रकार सीता आदर्श पत्नी एवं आदर्श नारीके रूपमें सदाचारका श्रेष्ठतम दृष्टान्त प्रस्तुत करती हैं ! भ्रातृ-भक्त भरत और लक्ष्मणके भी सदाचारकी कोई तुलना नहीं की जा सकती । सेवकके रूपमें हनुमान्‌का सदाचार भी अद्वितीय है । निषादराज गुह, शबरी, जटायु, काकभुशुण्डि, सुग्रीव, जाम्बवन्त, अङ्गद, विभीषण, मन्दोदरी आदि अनेक पात्र हैं, जिनके चरित्रसे हमें सदाचारकी उत्तमोत्तम शिक्षा प्राप्त होती है । इन पात्रोंके चरित्रमें समाहित सदाचारसे पृथक् अन्य स्थलोंपर भी मानसमें सदाचारका वर्णन मिलता है । उदाहरणार्थ बालकाण्ड, अरण्यकाण्ड एवं उत्तरकाण्डमें जिन संत-असंतोंके स्वभाव और लक्षणोंपर प्रकाश डाला गया है,

उन्हें यदि हम सदाचारी और दुराचारी मान लें तो किसीको क्या आपत्ति होगी ? रामके वनवास और राजा दशरथके स्वर्गगमनसे शोकमग्न अयोध्यामें जब भरतजी ननिहालसे लौटकर आते हैं तो माताओंसे अपना स्पष्टीकरण देते हुए कहते हैं कि इस अनर्थमें यदि मेरी सम्मति हो अथवा इसके रहस्यकी मुझे जानकारी हो तो—

जे अघ मातु पिता सुत मारें। गाइ गोठ महिसुर पुर जारें॥
जे अघ तिय बालक बध कीन्हें। मीत महीपति माहुर दीन्हें॥
जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥

× × × ×

बेचहिं बेदु धरमु दुहि लेहीं। पिसुन पराय पाप कहि देहीं॥
कपटी कुटिल कलहप्रिय क्रोधी। बेद बिदूषक बिस्व बिरोधी॥
लोभी लंपट लोलुपचारा। जे ताकहिं परधनु परदारा॥
जे नहिं साधुसंग अनुरागे। परमारथ पथ बिमुख अभागे॥
जे न भजहिं हरि नरतनु पाई। जिन्हहि न हरि हर सुजसु सोहाई॥
तजि श्रुतिपंथु बाम पथ चलहीं। बंचक बिरचि बेषु जगु छलहीं॥
तिन्ह कै गति मोहि संकर देऊ। जननी जौं यहु जानौं भेऊ॥

(मानस २ । १६६ । ३-४, १६७—१, ३, ४)

भरतजीकी इन उक्तियोंसे हमें यह स्पष्ट पता चल जाता है कि ये सभी दुराचारके कार्य हैं और दुराचारीकी जो दुर्गति होती है, उसकी भयंकरताकी ओर भी ये पङ्क्तियाँ स्पष्ट प्रकाश डाल देती हैं। रामचरितमानसमें ऐसे भी पात्रोंकी भरमार है, जो आचारहीनताके कारण निन्द्य हैं—जैसे मन्थरा, अजामिल, दण्डक, नहुष, जयन्त, शूर्पणखा, बालि, रावण आदि। उत्तरकाण्डमें वर्णित कलियुगमें मानवोंका धर्मसे विमुख, विषयासक्त, पापकर्ममें लीन आदि होनेके प्रसङ्ग दृष्टिपात करने योग्य हैं।

कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ॥

× × × ×

द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥

× × × ×

जो कह झूँठ मसखरी जाना। कलिजुग सोइ गुनवंत बखाना॥

× × × ×

सब नर काम लोभ रत क्रोधी। देव बिप्र श्रुति संत बिरोधी॥
गुन मंदिर सुंदर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी॥
सौभागिनीं बिभूषन हीना। बिधवन्ह के सिंगार नबीना॥

× × × ×

सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा॥

(मानस ७ । ९७ क—९९ ख ६)

इन पङ्क्तियोंसे तत्कालीन सदाचारहीनताकी स्थितिका बोध भी स्पष्ट हो जाता है। क्या इनसे हमें बचना नहीं चाहिये ? इनसे भी हमें सदाचारमें प्रवृत्त होनेकी प्रेरणा मिलती है।

स्वास्थ्यके क्षेत्रमें सदाचार-शिक्षाके साथ ही आयुर्वेदका भोजनके सम्बन्धमें नियम है कि—

मधुरमधुरमादौ मध्यतोऽम्लैकभावः
कटुकटुकमथान्ते तिक्ततिक्तं तथैव।
यदि सुखपरिणामं वाञ्छसि त्वं हि राजन्
त्यज खलजनसङ्गं भोजनं मा कदाचित्॥

'आरम्भमें मीठा, बीचमें खट्टा, अन्तमें कटु एवं तिक्त—हे राजन्, इस प्रकार जो दुष्ट लोगोंका सङ्ग है उसे तो त्याग दें; किंतु इस प्रकारका जो भोजन है, उसे न छोड़े। दीर्घायुके लिये शिक्षा देते हुए कहा गया है—

वामशायी द्विभुञ्जानः षण्मूत्रो द्विपुरीषकः।
स्वल्पमैथुनकारी च शतं वर्षाणि जीवति॥

बायें करवट सोनेवाला, प्रतिदिन दो बार भोजन, छः बार पेशाब और दो बार दीर्घशङ्का (मलत्याग) करनेवाला तथा स्वल्प मैथुन करनेवाला व्यक्ति सौ वर्षोंतक जीवित रहता है।'

आज विभिन्न औद्योगिक संस्थानोंमें उत्पादन तथा अन्य प्रक्रियाओंको समुचित ढंगसे चालू रखनेके लिये कर्मचारियों एवं नियोजकोंके सम्बन्धोंका परस्पर सहयोग पूर्ण होना आवश्यक है। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये औद्योगिक आचार-संहिताका भी प्रणयन किया गया है,

जो कर्मचारियों एवं नियोजकोंपर समानरूपसे लागू है। वह भी सदाचारका एक अवयव होता है।

जो लोग नौकरी-पेशावाले हैं, वे चाहे जिस किसी भी सेवामें हों, उनकी सेवाओंके सम्बन्धमें एक नियमावली अवश्य होती है, जिसमें दुराचारके कार्योंका स्पष्ट उल्लेख रहता है और दुराचारका कार्य करनेपर दण्ड देनेकी भी व्यवस्था रहती है, जिससे सेवामें नियोजित व्यक्तिके सेवा-सम्बन्धी आचरणपर नियन्त्रण रहता है। उसी प्रकार प्रशासनद्वारा भी समाजमें शान्ति और सुव्यवस्था कायम रखना तभी सम्भव हो सकता है, जब समाजके व्यक्तियोंका आचरण उत्तम हो—जीवन सदाचार-मय हो। अतः इस उद्देश्यसे ही 'दण्ड-प्रक्रिया-संहिता' तथा 'व्यवहार-प्रक्रिया-संहिताएँ' बनायी गयी हैं, जो व्यक्तियोंके सामाजिक आचरणपर नियन्त्रण रखनेमें प्रशासनके लिये सहायक हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हमारे धर्म-शास्त्रोंके अतिरिक्त जो आचार-संहिताएँ या नियमावलियाँ वर्ग-विशेष, कार्य-विशेष अथवा क्षेत्र-विशेषके लिये बनायी गयी हैं, उनमें कोई भी बात ऐसी नहीं है, जो हमारे उन शास्त्रीय निर्देशोंके प्रतिकूल हों। हाँ, उनमें यथास्थान आवश्यकता-नुसार संशोधन या रूपान्तर अवश्य है। इसे भी सदाचारका सामान्य प्रकरण मानना चाहिये।

हमारे अनेक महर्षियों, शास्त्रकारों तथा मनीषियों-द्वारा सदाचारपर इतना अधिक प्रकाश डालने एवं सदाचारके अनुपालनपर इतना अधिक जोर देनेके बावजूद भी दुर्भाग्यकी बात है कि आज हम भारतवासियोंमें सदाचारके बदले भ्रष्टाचार अधिक व्याप्त हो रहा है। इसके मुख्य कारण हैं—सदियोंतक देशकी पराधीनता, पाश्चात्त्य सभ्यताका अन्धानुकरण तथा स्वतन्त्रताप्राप्तिके बाद भी चारित्रिक अथवा नैतिक उत्थानके प्रति हमारी उपेक्षा या उदासीनताकी भावना। वेदोंसे लेकर रामचरितमानसतक हमारे सभी प्राचीन एवं पथ-प्रदर्शक सद्ग्रन्थ प्रायः आज भी उपस्थित हैं और उनमें हमारे पूर्वजोंद्वारा निर्धारित सदाचारके नियमों आदिका भी उल्लेख ज्यों-का-त्यों है, पर उनकी उपयोगिताकी ऐसी स्थिति हो गयी है, जैसे किसी बसके ऊपर लिखा हुआ यह वाक्य—'अनुशासन ही देशको महान् बनाता है'—किंतु उसी बसके अन्दर बिना टिकट सफर करनेवाले कतिपय यात्री बसका किराया माँगनेके कारण कंडक्टरका गला टीप देनेपर ही उतारू रहते हैं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि अनुशासन अथवा सदाचार बाहरसे किसी व्यक्तिके ऊपर प्रचार, विज्ञापन अथवा किसी अन्य माध्यमसे थोपा नहीं जा सकता। उसके लिये तो आन्तरिक लगन अथवा प्रवृत्ति भीतरसे जागरित होनी चाहिये—तदनुकूल विचार उत्पन्न होना चाहिये।

ऊपर कहा जा चुका है कि विचार ही आचारके जनक होते हैं। यदि विचार अच्छे हुए तो आचार शुभ होगा ही। विचार मनमें उत्पन्न होते हैं, मन बहुत चञ्चल होता है और उसीकी प्रेरणासे इन्द्रियाँ सारा कार्य सम्पादित करती हैं, अतः मनमें शुभ विचार उत्पन्न हों, इसके लिये चाहिये कि मनको अशुभ विचारोंकी ओर जानेसे विषयोन्मुख होनेसे, रोका जाय। तभी इन्द्रियाँ भी शुभ कार्योंकी ओर उन्मुख होंगी। श्रुति, स्मृति पुराण, उपनिषद्, गीता, योगवासिष्ठ, पातञ्जलयोगदर्शन, रामायण, महाभारत आदि सभी ग्रन्थ हमें इन्द्रियोंको विषयोंसे विमुख रखनेके लिये पर्याप्त प्रेरणा प्रदान करते हैं। शास्त्रोंमें मानव-जीवनके जिन चिरन्तन नैसर्गिक रहस्योंको प्रकट करनेकी चेष्टा की गयी है, उनकी प्रासङ्गिकताको स्पष्ट करते हुए यह तो कहना ही पड़ेगा कि मनुष्य अपनी वासनाओंकी सूक्ष्म जंजीरोंमें जकड़ा हुआ उत्पन्न होता है और यदि वह उन वासनाओंकी जंजीरोंसे अपनेको मुक्त नहीं करता, तो वह इस जगत्में जीते हुए भी मानव-जीवनकी सार्थकता एवं कृतार्थतासे दूर ही रह जाता है। वह जीवन तो प्राप्त

करता है, किंतु उसकी जानकारी नहीं प्राप्त कर पाता, उसे कैसे जीना चाहिये, इस ज्ञानसे सर्वथा अनभिज्ञ ही रह जाता है और इतना ही नहीं, वह वासनाओंका अनुसरण करता हुआ नित्य नीचे ही गिरता जाता है। उसका यह पतन उसके अन्तःकरणके प्रसुप्त रहनेका द्योतक है—उसके विवेकके निष्क्रिय होनेका परिचायक है।

हमारे शास्त्रोंमें जिस अधर्म और धर्मकी, जिस पाप और पुण्यकी, जिस दुराचार और सदाचारकी विशद चर्चा की गयी है, वह हमारे अन्तःकरणके सोये या जागरित रहनेके परिणामकी चर्चा है। हमारी विवेकहीन बुद्धिके दुष्कर्मों अथवा विवेकयुक्त बुद्धिके सत्कर्मोंकी चर्चा है और उसी क्रममें हमें अपने जीवनकी चरितार्थताकी ऊँचाईतक पहुँचानेके मार्गका भी दिग्दर्शन कराया गया है। अतः हम कह सकते हैं कि मनुष्य इस संसारमें मनुष्यका केवल रूप लेकर पैदा होता है, मनुष्य बनकर नहीं। मनुष्य तो उसे यहाँ आकर अपनेको स्वयं बनाना पड़ता है। वह आत्मविकास-की और साथ-ही-साथ आत्मविनाशकी भी शक्ति लेकर इस संसारमें आता है। यदि वह वासना एवं अविवेकके ही वशीभूत रह गया, उनका परित्याग कर अपनेको मनुष्य नहीं बना सका तो अपनेको पशुसे भी निकृष्ट बना डालता है। जब वह पवित्र कार्योंमें लगा रहता है तो वह अपने जीवनकी ऊँचाईपर देवत्वके सांनिध्यमें होता है, जो सदाचारका लक्ष्य है, किंतु वही जब अपवित्र कार्योंमें संलग्न हो जाता है तो पशुसे भी नीचे गिर जाता है, जो कदाचारका परिणाम है। हमारे महर्षियों, शास्त्रकारों एवं मनीषियोंने सदाचार-की अनुष्ठेयता और कदाचारकी हेयता प्रतिपादित की है। तदनुसार हमें आचरणकर कल्याणभागी होना चाहिये।

सदाचार और उसका मनोवैज्ञानिक धरातल

(लेखक—पं० श्रीरामानन्दजी दुबे, साहित्याचार्य)

भारत सदासे चरित्रप्रधान देश रहा है। उसकी आस्था इन्द्रियोंको वशमें रखकर—चरित्रकी रक्षामें रही है। केवल शारीरिक सुखोपभोगको उसने अनार्य गुण माना है। पर बाहरी लहरके आनेपर इसमें कुछ अन्तर पड़ा, जिसमें सर्वाधिक अवाञ्छनीय अभिव्यक्ति है—'खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ' (Eat, drink and be merry) यह भावना हमारे लिये सर्वथा परकीय और हेय है। अपने देशकी संस्कृति, सुख और समृद्धिकी रक्षाके लिये हमें अपने सदाचारका सहारा लेना चाहिये।

'आचार' शब्दका प्रयोग भारतीय वाङ्मयमें प्रधानतः दो रूपोंमें चलता है। जिस प्रकार गुणी कहनेसे सद्‌गुणी-का ही ग्रहण होता है, दुर्गुणीका नहीं; उसी प्रकार आचार शब्दसे साधारणतः सदाचार ही समझा जाता है, अन्य आचार नहीं। हमारे साहित्यमें आचारका पूर्वोक्त व्यापक प्रयोग व्यवहारके अर्थमें होता आया है। अन्य तत्त्वोंकी भाँति आचार-तत्त्वके भी दो पक्ष होते हैं—१–सिद्धान्त और २–व्यवहार। जब हम कहते हैं—'पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे', तब आचारसे हमारा अभिप्राय व्यवहारसे ही होता है। तात्पर्य यह कि सिद्धान्त-पक्षपर बोलनेवाले, दूसरेको उपदेश देनेवाले तो बहुत लोग मिलते हैं, पर उसको अपने आचरणमें लानेवाले अधिक लोग नहीं मिलते। इसी प्रकार जब हम यह कहते हैं—'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः—' तब यह समझना चाहिये कि जो व्यक्ति आचारसे हीन है—केवल सिद्धान्तपक्षका वाचिकरूपसे ही कथन करता है और

उसे अपने आचरणमें उतारनेसे दूर रखता है, उसे परम पवित्र वेदोंका पाठ भी पवित्र नहीं बना सकता'— उसका उद्धार नहीं होता। अभिप्राय यह कि वेदपाठसे भी लाभ उठानेके लिये आवश्यक है कि हम मनको विकारके वश न होने दें और आचारयुक्त रहें; क्योंकि इसके विपरीत आचार मिथ्याचार है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
(गीता ३।६)

'जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको हठसे रोककर इन्द्रियोंके भोगोंको मनसे चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी अर्थात् दम्भी कहा जाता है।' इस प्रकार समझ लेनेपर गोस्वामी तुलसीदासजीकी 'कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहिं नहिं पापा', इस उक्तिका अर्थ भी सरलतासे लग जाता है।

कलियुगमें अथवा हमारे हृदयकी उस अवस्थामें जब परस्पर-विरोधी भावनाओंका बवंडर चल रहा हो, सन्मार्गको ध्वस्त कर रहा हो, तब न तप विधिवत् उतरता है, न यज्ञ पूरा होता है और न भगवान्‌की पूजा ही पूरी होती है। बस, एक पुण्य-संकल्पका— श्रीहनुमान्‌जीके शब्दोंमें 'रामकाज'का बल—अपने अच्छे विचारका ही अवलम्बन रह जाता है। विकार हमारे मनपर चाहे जो जुल्म ढाहे, पर हम यदि विकारके हामी नहीं होते तो फिर वे स्वतः क्षीण—हतबल हो जाते हैं। अन्तमें सदाशयताकी—धर्मकी ही विजय होती है।

मनोविज्ञान मानसिक जीवनके तथ्योंका वर्णन एवं व्याख्या करता है। तथ्योंको संकलित करने तथा उनकी व्याख्या करनेका इसका कार्य अन्य किसी वर्णनात्मक अथवा व्याख्यात्मक विज्ञानके कार्यसे भिन्न नहीं है। जो हो, कभी-कभी हम आकाङ्क्षा करते हैं कि ये तथ्य जैसे हैं, उससे भिन्न होते। ऐसे सभी अवसरोंपर किसी प्रमापक या किसी सामान्यकका संदर्भ रहता है। वे विज्ञान जो प्रमापक अथवा सामान्यकके रूपके अनुसंधानका उपक्रम करते हैं, आदर्श विज्ञान कहलाते हैं। उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा सौन्दर्यशास्त्र हैं। तर्कशास्त्र तर्कसिद्ध विचारके, सौन्दर्यशास्त्र सौन्दर्यके और नीतिशास्त्र औचित्यपूर्ण क्रियाके प्रमापका अध्ययन कराते हैं।

मधुर वाणी, सुन्दर स्वरूप आदि शारीरिक गुण हैं। इनका व्यक्तित्वपर भारी प्रभाव पड़ता है, किंतु इनका सदाचार या जीवनकी मुख्य सफलताओंसे अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। मिल्टन अन्धे थे, किंतु वे महान् कवि हुए। अमरीकी राष्ट्रपति रुजवेल्टकी टाँगें अनुपयुक्त थीं, किंतु वे अपने देशके सर्वोच्च पदपर आसीन हुए। असुन्दररूपवाले बर्नार्ड शा अपनी सुन्दर उक्तियोंके लिये विश्व-विश्रुत हुए। प्रायः देखा जाता है कि जिस व्यक्तिमें कोई हीनता होती है, वह शक्ति प्राप्त करनेकी इच्छाद्वारा सामान्य लोगोंसे बहुत ऊपर उठ जाता है। मानसिक गुणोंके अन्तर्गत इच्छा ही बढ़कर उद्वेग बन जाती है और उद्वेगसे एक स्वभाव-सा बनता है। इसी प्रकार क्रिया ही चरित्रका रूप धारण करती है। बुद्धिके भेदसे कोई मन्दबुद्धि तथा कोई उत्कृष्टबुद्धि होता है। सब कुछ हो, पर बुद्धि न हो तो मनुष्य शून्यके बराबर है। बुद्धि हो, पर आचार न हो तो सब कुछ व्यर्थ समझिये।

ऊपर स्वभावकी जो चर्चा की गयी है, उस दृष्टिसे व्यक्तियोंके प्रायः चार भेद किये जा सकते हैं— आशावादी, निराशावादी, अस्थिरस्वभावके और चौथे चिड़चिड़े स्वभावके व्यक्ति। स्वस्थ व्यक्तित्वके लिये यह आवश्यक है कि इन सब प्रकारके मानसिक उद्वेगोंमें समता हो। यह समानता चरित्रकी साधनासे हो सकती है। चरित्र पक्षके अच्छे-बुरे होनेमें कई कारण और कई आधार होते हैं। आधार जितना ऊँचा होता है, व्यक्तित्व भी उतना ही ऊँचा होता

है। जिस व्यक्तिमें आत्मसम्मानका स्थायीभाव भलीभाँति विकसित होकर उच्च आदर्शके साथ सम्बद्ध हो जाता है, उसका व्यक्तित्व ऊँचा हो जाता है। आदर्श जितना ऊँचा, व्यक्तित्व उतना ऊँचा। इसीलिये ऋषियोंने कहा था—**'दीर्घं पश्यत मा ह्रस्वम्'**। (वसिष्ठस्मृति)

मनुष्यकी चित्तवृत्तिके तीन पहलू होते हैं—ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और भावात्मक। चरित्रके उद्गमका पता चलाते हैं तो ज्ञात होता है कि संवेदनाओं और कल्पनाओंसे भाव, प्रबल भावोंसे संवेग और स्थायीभाव बनते हैं। संवेग मनकी क्रियमाण अवस्था है और स्थायीभाव अनेक प्रकारकी क्रियाओंका परिणाम। स्थायीभावोंका समुच्चय ही सर्वोच्च स्थायीभाव—आत्मसम्मानके स्थायीभावसे नियन्त्रित होकर चरित्र बनता है। चरित्र मनुष्यकी क्रियाओंको अनुप्रेरित करता है। कृतिमें ऐच्छिक तथा अनैच्छिक—सभी क्रियाएँ समाविष्ट हैं। इनमें केवल ऐच्छिक क्रियाएँ व्यवसायमें गिनी जाती हैं। व्यवसाय(यत्न)का प्रारम्भ ज्ञानसे होता है। ज्ञानके पश्चात् इच्छा आती है। व्यवसाय तभी होगा, जब किसी वस्तुके ज्ञानके साथ इच्छा हो और इच्छाके साथ भी यह विश्वास हो कि वह वस्तु हमें प्राप्त हो सकती है। क्रियात्मक अनुभवके चार सोपान कहे जा सकते हैं। प्रथमतः पर्यावरणके ज्ञानके साथ पूर्तिकी सम्भावनासहित प्रयोजन उत्पन्न हो जाता है। द्वितीयतः एक प्रयोजनपर दूसरा प्रयोजन आता है और द्विविध संघर्ष उत्पन्न होता है। प्रयोजनोंकी एक समष्टि बन जाती है। तृतीयतः आदर्श 'स्व'को केन्द्र बनाकर प्रयत्न विकीर्ण होता है। जिस प्रयोजनके साथ प्रयत्न सम्बद्ध हो जाता है, वह प्रबल हो जाता है। चतुर्थ सोपानमें कम महत्त्वके प्रयोजनोंका परित्याग हो जाता है और संकल्प कार्यान्वित होनेके लिये तैयार हो जाता है। विवेकशील व्यक्तिके सम्बन्धमें यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है कि उच्च आत्मबल परिस्थितिसे श्रेष्ठ है और यह सदाचारका आधार है।

मनुष्यके आचरणका संचालन या तो उसकी मूल प्रवृत्तियाँ करती हैं या उसके स्थायीभाव। स्थायीभावका रूप धारण करके ही मनुष्यके विचार उसके आचरणको प्रभावित करते हैं। जिनके आचरण नैसर्गिक रूपसे होते हैं, मूल प्रवृत्तियोंमें बिना परिवर्तन किये होते हैं, उनके लिये सदाचारका प्रश्न ही क्या ? इसीलिये हम पशुके आचरणमें सदाचारका प्रश्न नहीं उठाते। अबोध बालकमें भी न अधिक विचार करनेकी शक्ति होती है, न वह अपनी क्रियाओंको आत्मनियन्त्रित करनेकी चेष्टा कर सकता है और न हम उसके सदाचार-दुराचारका विशेष विचार करते हैं। उसका 'अहं' भाव, शरीर और उसके आस-पासकी कुछ वस्तुओंतक सीमित रहता है। जैसे-जैसे वह प्रौढ़ होता है, वैसे-वैसे उसका 'अहं' भाव विस्तृत होता जाता है और उसमें न केवल वस्तुओंकी संख्या बढ़ती जाती है, वरन् उसमें अनेक प्रकारके सिद्धान्त भी समाविष्ट होते जाते हैं। केवल विचार ऊँचे होनेसे कोई सदाचारी नहीं हो जाता। विचार जबतक स्थायीभावका रूप धारण नहीं करते, तबतक आचरणको प्रभावित नहीं कर पाते। जहाँ कोई आपत्ति आयी कि उसकी बुद्धि विचलित हुई। उसका विवेक उसे करनेको कुछ और कहता है, किंतु वह करने कुछ और लगता है। ऐसी ही स्थितिमें दुर्योधनने कहा था—**'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।'** (प्रपन्नगीता ६२)

'मैं जानता हूँ कि धर्म, सदाचार क्या है। किंतु उसके प्रति प्रवृत्ति नहीं होती और यह भी जानता हूँ कि यह अधर्म—दुराचार है, किंतु उससे निवृत्ति नहीं होती।' इस प्रकार विचार करनेपर ज्ञात होता है कि जिस मनुष्यके सिद्धान्त ऊँचे होते हुए भी स्थायीभावका रूप ग्रहण नहीं करते, वह अपने राग-द्वेषपर नियन्त्रण नहीं कर पाता और अवसर आनेपर वह मनुष्यकी मूल प्रवृत्तियोंसे ही परिचालित हो जाता है। राग-द्वेषके

नियन्त्रणके लिये तो मूल प्रवृत्तियोंके परिवर्तन एवं स्थायीभावोंके निर्माणकी आवश्यकता होती है। सदाचार तभी दृढ़ होता है, जब उच्च स्थायीभाव बन जाय। सर्वोच्च स्थायीभाव आत्मसम्मानका स्थायीभाव होता है। इस प्रकार निरे दार्शनिककी अपेक्षा भक्तका चरित्र अधिक सुदृढ़ लगता है। कोरे दार्शनिकोंमें विचार करनेकी शक्ति तो होती है, परंतु योग्य स्थायीभावोंकी निर्बलता होती है, आत्मनियन्त्रणकी शक्तिकी कमी होती है। इसके विपरीत भक्तोंमें उच्च स्थायीभाव एवं आत्मनियन्त्रणकी दृढ़ता होती है।

इस प्रसङ्गमें हमारा ध्यान एक विचित्र परिस्थितिकी ओर जा सकता है। हम देखते हैं कि एक ही व्यक्तिका व्यक्तित्व एक नहीं, दो दिखलायी पड़ता है। कभी-कभी ऐसे व्यक्तिके चरित्र-दोषको अबोध बालकके चरित्रके अभावकी भाँति देखना पड़ता है। ऊपर दो प्रकारके व्यक्तियों अथवा व्यक्तित्वमें सदाचार-अनाचारकी स्थितिकी चर्चा की गयी है। अब एक ही व्यक्तिमें उसकी दो अवस्थाओं अथवा व्यक्तित्वके कारण सदाचार-अनाचारकी दो स्थितियोंकी ओर संकेत किया जाता है। सदाचार-अनाचारका द्वन्द्व कुछ-न-कुछ प्रत्येक व्यक्तिमें होता है। कभी-कभी तो हम अपने किसी परिचित व्यक्तिके असंगत व्यवहारको देखकर कह उठते हैं कि वह इतना बदल गया! क्या वह वही है, जो पहले था? इसका क्या कारण है? बात यह है कि मनुष्यकी सभी इच्छाएँ उसे सदा एक ही दिशामें नहीं ले जातीं। कोई इच्छा एक ओर ले जाती है तो कोई दूसरी ओर। दबी हुई इच्छा मनुष्यके भीतर अज्ञात चेतनामें पड़ जाती है। अचेतन मनकी अनैतिक वासनाएँ चेतन मनमें आने नहीं दी जातीं। चेतनाके भीतर एक तनातनी छिड़ जाती है, जो भावना-ग्रन्थिके रूपमें बनी रहती है। अन्तर्द्वन्द्वसे उत्पन्न भावना-ग्रन्थिसे भीतर-ही-भीतर रगड़ होती है। मनकी इस अवस्थाको स्नायुरोग (Neorosis) कहते हैं। यह अवस्था प्रायः सभी मनुष्योंकी रहती है। इसके अधिक होनेसे व्यक्तिके पूर्वापर व्यवहारमें असंगति भी अधिक होती है। संगठित व्यक्तित्व बनकर उसमें सदाचारकी स्थितिके लिये इस अवस्थाका मिट जाना आवश्यक है।

इस असामञ्जस्यका जो दृष्टान्त ऊपर दिया गया है वह एकान्तर अवस्था अर्थात् एकके पश्चात् दूसरी अवस्थाका है। इसी असामञ्जस्यका दूसरा दृष्टान्त युगपत् अवस्था अर्थात् एक ही कालमें द्विपक्षीय अवस्थाका हो सकता है। जैसे कोई बालक सामान्यरूपसे आज्ञाकारी है, सदा आज्ञापालन करनेकी इच्छा भी रखता है, परंतु कभी-कभी देखते हैं कि वह कहना नहीं करता, फटकारे जानेपर भी नहीं करता। आदतका भी प्रश्न नहीं है। ऐसी दशामें कह सकते हैं कि उसमें अनेक अच्छे मानसिक गुण हैं, किंतु वे सब एक होकर काम नहीं कर रहे हैं, सब मिलाकर व्यक्तित्वकी ईकाई नहीं बना रहे हैं। व्यक्तित्व जबतक असंगठित रहता है, तबतक सदाचारकी स्थिति डाँवाडोल रहती है। उसकी एकरस अभिव्यक्ति नहीं होती।

सदाचारकी स्थिति जाननेके लिये मनकी कुछ अधिक गहराईमें, कुछ विश्लेषणमें जानेकी आवश्यकता है। मनके दो भाग किये जाते हैं—१—दृश्य या चेतन मन और २—अदृश्य या अचेतन मन। चेतन मन बाहरी संसारसे मनुष्यका सम्बन्ध जोड़ता है, उसे भले-बुरेका ज्ञान रहता है। इसके परे अचेतन मन है। अचेतन मनके भी दो भाग किये जा सकते हैं—एक व्यष्टि-सम्बद्ध और दूसरा समष्टि-सम्बद्ध। व्यष्टिसे सम्बद्ध अचेतन मन अनैतिक होता है, किंतु समष्टिसे सम्बद्ध अचेतन मन नैतिक होता है। वैयक्तिक अचेतन मन पाशविक है, किंतु सामष्टिक अचेतन मन नैतिक है। अतः जो मनुष्य नैतिकताकी अवहेलना करता है, वह

अपने स्वभावके प्रतिकूल जाता है । इसका परिणाम भी दुःखद होता है । मनकी ये तीन तहें तो सभी स्वीकार कर लेते हैं, पर इन तीन तहोंसे परे एक सर्वव्यापी अन्तर मन है । यह सब शक्तियोंका मूल केन्द्र और सृष्टिका रचयिता है । भारतीय शास्त्रोंमें इसे ही विराट् पुरुष कहा जाता है । जब मनुष्यका व्यक्तिगत मन विराट् मनसे सामञ्जस्य स्थापित कर लेता है तो सदाचारके लिये प्रयत्न करना शेष नहीं रह जाता । जो मनुष्य अहं-भावको जितना अधिक छोड़ता है, वह उतना ही अधिक सर्वव्यापी मनके समीप पहुँचता है । सर्वव्यापी मन सर्वहितैषी है, अतः मैत्रीभावनाके अभ्याससे हम अपने वैयक्तिक जीवनको सामष्टिक जीवनमें मिला देते हैं । यही कारण है कि हिंसक जन्तु भी मैत्रीभावनासे पूरित (अहिंसासिद्ध) व्यक्तिके मित्र बन जाते हैं—**'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ।'** यह है सदाचारके अति उत्कृष्ट प्रभावीरूपका दर्शन । इस मनः-स्तरके परे तो केवल प्रपञ्चशून्य शान्त स्थिति है, जहाँ दर्शन और दृश्य पदार्थका भेद समाप्त हो जाता है । इसको मनका सबसे ऊँचा सोपान कहें, चाहे आत्मा कहें, चाहे सच्चिदानन्द ! वही सभी साधनोंका प्राप्तव्य लक्ष्य या अन्तिम गति है ।

सदाचार और मानसिक स्वास्थ्य

(लेखक—डॉ० ओमणिभाई भा० अमीन)

प्रसिद्ध है कि जिस मनुष्यका मन बिगड़ता है, उसका स्वभाव भी बिगड़ जाता है । असंयम, असत्य, अभिमान, ईर्ष्या, दम्भ, क्रोध, हिंसा और कपट आदि दुर्गुण ही बिगड़े स्वभावके लक्षण हैं । ये सूक्ष्म रोग हैं । दुःस्वभावका व्यक्ति इन्द्रियोंके तेज और शक्तिको खो बैठता है और शरीरको भी रोगी बना देता है । अब यहाँ किस दोषसे कौन रोग होता है, थोड़ा इसपर विचार किया जाता है ।

(१) **असंयम**—जीभको असंयमी रखनेसे वह चाहे-जैसे स्वादमें रस लेती है और चाहे जितना खानेको आतुर रहती है । परिणामस्वरूप पेटमें अधिक या अयोग्य भोजन-जल चला जाता है और वह पेट या अँतड़ियोंमें रोग उत्पन्न करता है । इसी प्रकार जीभके असंयमी होनेपर यदि वह चाहे-जैसी वाणी उच्चारण करे तो जीभद्वारा सम्बन्धित मस्तिष्कके ज्ञान-तन्तुओंको हानि पहुँचती है और कुछ समय पश्चात् जीभ कैंसर या लकवा हो जानेकी स्थितिमें पहुँच जाती है । जन्मसे उत्पन्न गूँगे बालक वाणीके दुरुपयोगका दण्ड इस नये जन्ममें पाते हैं । यह देखकर हमें सीखना चाहिये । इसी प्रकार शरीरकी सब इन्द्रियाँ उनके असंयमी व्यवहारसे ही अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न करती हैं ।

(२) **असत्य**—असत्य बोलनेवाले व्यक्तिकी जीवनशक्ति नष्ट होती है और वह सामान्य रोगका भी भोग बन जाता है । जीवनशक्तिका आधार 'तेज' है और वह 'तेज' असत्यसे नष्ट होता है । असत्य बोलनेवाला तेज-हीन हो जाता है । साथ ही असत्यवाणी बोलनेसे हृदय और मस्तिष्कके ज्ञान-तन्तुओंकी हानि होती है । कुछ समय पश्चात् वह हृदयके रोग, पागलपन, पथरी, लकवा आदि रोगोंसे भी दुःखी हो जाय तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ।

(३) **अभिमान**—मनुष्यमें वायु, पित्त और कफ—तीनोंको एक साथ संनिपातके रूपमें उत्पन्न करनेवाला अभिमान है और इसीसे किसी कविने कहा है कि **'पाप-मूल अभिमान'** ।' यह अभिमान ही मनुष्योंके दुर्गुणोंका राजा है और

सब दोषों तथा रोगोंको आकर्षित करके लानेवाला बलवान् लोहेका चुम्बक है। अभिमानी व्यक्ति वायु, पित्त और कफके छोटे-बड़े अनेक रोगोंसे दुःखी रहता है।

(४) **ईर्ष्या**—ईर्ष्या करनेवाले मनुष्यमें पित्त बढ़ जाता है, जिससे उस मनुष्यकी इन्द्रियोंकी तेजस्विता नष्ट हो जाती है। ऐसे मनुष्यकी बुद्धि और हृदय पित्तके तेजाबमें जल जाते हैं एवं वह किसी काममें प्रगति नहीं कर पाता है। ऐसे मनुष्य पित्त, पथरी, जलन, लीवर-खराबी आदि रोगोंसे दुःखित रहते हैं।

(५) **दम्भ**—दम्भी लोग कफ*के प्रमाणमें गड़बड़ उत्पन्न करते हैं। उनके दम्भी स्वभावसे उनमें कफके समान भारीपन आ जाता है। उनकी समस्त इन्द्रियाँ तेजस्विता छोड़कर स्थूल होती जाती हैं। शरीरकी बुरी बनावट, भारीपन, गैस और इसी प्रकार कफजन्य अनेक रोग दम्भके कारण ही होते हैं।

(६) **क्रोध**—बिगड़े हुए मनसे अशक्य-जैसी अनेक कामनाओंके पूर्ण न होनेसे अथवा उनमें विघ्न आनेसे क्रोध उत्पन्न होता है। क्रुद्ध मनुष्य दूसरेकी हानि कर सकेगा या नहीं यह तो दैवाधीन है; परंतु सर्वप्रथम वह स्वयंकी भी हानि करता ही है। क्रोध करनेमें मनुष्यके मस्तिष्कको अपने बहुमूल्य एवं अधिक ओजःशक्तिका उपयोग करना पड़ता है। इस प्रकार अमूल्य ओज नष्ट हो जाता है और परिणामस्वरूप जीवनशक्ति नष्ट होती चली जाती है। तदुपरान्त क्रोधके मस्तिष्कमें आते ही ओजके विशाल एवं विकृत प्रवाहसे मस्तिष्कके ज्ञानतन्तु क्षीण हो जाते हैं। बिजलीका प्रवाह घरमें लगे हुए बल्वको प्रामाणिक मात्रामें आनेपर तो जलाता है, परंतु अधिक मात्रामें आनेपर बल्वको नष्ट कर देता है और कभी-कभी तो घरको भी हानि पहुँचाता है। इससे रक्षा पानेके लिये घरके बाहर फ्यूजकी व्यवस्था की जाती है। संयम और विवेक ही हमारे फ्यूज हैं। इन्हें त्याग देनेपर ओजका अत्यधिक प्रवाह क्रोधके रूपमें उत्पन्न हो जाता है और मस्तिष्कके कितने ही भागोंको खतरेमें डाल देता है। विशेषरूपसे क्रुद्ध मस्तिष्कको अधिक मात्रामें रक्तकी आवश्यकता पड़ती है। यह रक्तराशि मस्तिष्ककी ओर जानेवाले लघु रक्तप्रवाहको खींच लेता है। क्रोधी मनुष्यके मुख और आँखें कैसी लाल हो जाती हैं, यह सबको अनुभव होगा। हँसते समय मुँह लाल होता है। यह मुँहकी समग्र पेशियोंके विकसित होनेसे, उनमें हृदयकी ओरसे खून खिंच आनेसे तथा उन्हें विशेष शुद्ध खून मिलनेसे होता है। वैसे ही पेशियाँ पुलकित होनेसे यह लालिमा लाभप्रद है और सौन्दर्यवर्धक भी है। परंतु ठीक इसके विपरीत क्रोधीकी शक्ल बिगड़ती जाती है और बुद्धि, बल भी धीरे-धीरे उसके क्षीण होने लगते हैं।

(७) **हिंसा**—हिंसा क्रोध और अभिमानसे उत्पन्न होती है। इसमें प्रवृत्त रहनेवाले व्यक्तिका रक्त सदा खौलता व गर्म रहता है। हिंसामें मस्तिष्क और हृदय दोनों गंदे होते हैं। अभिमान और क्रोधसे उत्पन्न रोगोंके उपरान्त ऐसे मनुष्यको हृदयसे उत्पन्न रोग भी होते हैं। पराया दुःख देखकर जो हृदय एकदम नरम बनकर द्रवित होने लगता है, वही हृदय अपने दुःखोंके सामने वज्र-जैसा कठोर भी बन जाता है। यह हृदयकी सत्य और वास्तविक स्थितिका गुण है। हिंसावाले मनुष्यके हृदयके यह गुण नष्ट हो जाते हैं। वह लोगोंका दुःख देखकर हँसता है और अपने ऊपर दुःख पड़नेपर निम्नश्रेणीका भीरु बन जाता है। तत्पश्चात् हृदयमें और सम्पूर्ण शरीरमें गर्म रक्त भ्रमण करनेसे शरीरमें वायु, पित्त और कफ इन तीनोंको

* किंतु अथर्वपरिशिष्ट ६८ एवं 'योगरत्नाकर' आदिमें कफप्रकृतिवालोंको ही सर्वश्रेष्ठ धर्मात्मा कहा गया है।

उत्पन्न करता है जिससे वह महाभयंकर रोगोंका शिकार बन जाता है।

(८) **छल-कपट**—कपट करनेवाला व्यक्ति भी सूक्ष्मरूपसे हिंसा ही करता है। परंतु उसकी हिंसा करनेकी युक्ति मायामय कपट पूर्ण होनेसे दिखायी नहीं देती। वह साधारण विष-जैसी होती है। इससे ऐसे मनुष्य भी ऊपर वर्णित हिंसावाले व्यक्तिके समान ही रोगोंका शिकार बन जाते हैं। परंतु उसे जो रोगोंका दण्ड मिलता है, वह धीरे-धीरे असर करनेवाले विषके समान ही होता है। [अलग-अलग सामान्य तथा महान् रोगोंसे पीड़ित बहुत-से लोगोंका जीवन मैंने देखा है। उनके पिछले कार्योंका मैंने अनुसंधान किया है, अवलोकन किया है, उनका सारांश और शास्त्रोंमें जो 'पाप और उसका फल' वर्णित है, उसके साथ तुलना करके ये बातें लिखी गयी हैं। इसमें भूल हो तो क्षमा चाहता हूँ। रोगोंसे सम्बन्धित वैज्ञानिक कारण कोई स्पष्ट समझायेगा तो लोक-कल्याणकी दृष्टिसे मेरा श्रम सफल होगा।]

सुख-समृद्धि एवं आरोग्यका मूलाधार—सदाचार

(लेखक—आचार्य श्रीबृजमोहनजी दधीच)

सुदृढ़ स्वास्थ्य, अप्रतिम सौन्दर्य, अक्षत यौवन एवं दीर्घ आयुष्यके लिये सदाचार मानो अमृत है। भारतीय आचार सर्वथा वैज्ञानिक है तथा स्वास्थ्यको सुदृढ़ कर दीर्घायु प्रदान करनेवाला है। महर्षि चरकका कथन है कि मानव केवल शरीरमें विकार उत्पन्न होनेसे ही रुग्ण नहीं होता; मन, प्राण एवं आत्मामें विकार उत्पन्न होनेसे भी वह रोगी हो जाता है। चित्तको निर्मल रखने तथा मन-प्राण एवं जीवात्माको रोगोंसे बचानेके लिये 'चरक'-सूत्रस्थानके आठवें अध्यायमें जो प्रतिबन्धात्मक दिये हैं, वे विश्वके सभी धर्मों तथा मानवमात्रके लिये परम कल्याणकारी हैं। इन निर्देशोंपर चलनेवाला सुख-समृद्धि एवं अक्षय आरोग्यको निश्चित प्राप्त करता है।

नानृतं ब्रूयात्—कभी असत्य न बोले। **नान्यस्त्रियमभिलषेत्**—पर-स्त्रीकी अभिलाषा न करे। **नान्यच्छ्रेयमभिलषेत्**—किसी अन्यके धनकी इच्छा न करें। **न वैरं रोचयेत**—किसीसे भी शत्रुताकी इच्छा न रखे। **न कुर्यात् पापम्**—कभी पाप-कर्म न करे। **नान्यदोषान् ब्रूयात्**—दूसरोंके दोष-दुर्गुणोंका बखान न करे। **नान्यरहस्यं गायेत**—किसीकी भी गुप्त बातको प्रकट न करे। **नाधार्मिकः स्यात्**—कभी भी अधर्मपथपर न चले। **न नरेन्द्रद्विष्टेन सहासीत**—राजद्रोहीके साथ न बैठे। **नोन्मत्तैर्न पतितैर्न भ्रूणहन्तृभिर्न क्षुद्रैर्न दुष्टैः सहासीत्**— उन्मत्त, पतित, भ्रूणहत्यारे, क्षुद्र एवं दुष्टका सङ्ग न करे। **न पापवृतान् स्त्रीमित्रभृत्यान् भजेत**—पापवृत्तिवाले, मित्र, स्त्री एवं भृत्यका ग्रहण न करे। **न धार्मिकैर्विरुध्येत्**—धार्मिक लोगोंका विरोध न करे। **नावरानुपासीत**—नीचोंका सङ्ग छोड़ दे। **न जिह्मं रोचयेत**—जीभसे कटु वचन न कहे। **नानार्यमाश्रयेत**—अनार्य पुरुषका आश्रय न ले। **न संतो न गुरून् परिवदेत्**—संतों एवं गुरुजनोंकी निन्दा न करे। **न साहसातिस्वप्नप्रजागरस्नानदानाशनान्यासेवेत्**— अतिसाहस, निद्रा, जागरण, स्नान, दान, खान-पानसे बचे। **नातिसमयं भिन्द्यात्**—समय एवं मर्यादाका उल्लङ्घन न करे। **न गुह्यं विवृणुयात्**—गुप्त बातें प्रकट न करे। **नाहम्मानी स्यात्**—अभिमानी न बने। न **चातिब्रूयात्**—ज्यादा बकवाद न करे। **नाधीरो नासुस्थितसत्वः स्यात्**—अधीर एवं अस्थिर-चित्त न हो।

नैकः सुखी—अपने ही सुख न चाहो। **न मद्यद्यूत-वेश्याप्रसङ्गरुचिः**-शराब, जुआ, वेश्यागमनमें (तनिक भी) रुचि न ले। **नबालवृद्धलुब्धमूर्खक्रूरक्लीबैः सह सख्यं कुर्यात्**-बालक, वृद्ध, लोभी, मूर्ख, क्रूर एवं नपुंसकके साथ मैत्री न करे। **न सर्वविश्रम्भी**-हर एकपर विश्वास न करे। **न सर्वाभिषङ्गी**—हर एकको शङ्काकी दृष्टिसे न देखे। **न कार्यकालमतिपातयेत**-कामको न टाले। **नापरीक्षितमतिर्निविशेत्**-अपरिचित जल-थलमें प्रवेश न करें। **न चातिदीर्घसूत्री स्यात्**-दीर्घसूत्री न बने। **न बुद्धीन्द्रियाणामतिभारमादध्यात्**-बुद्धि, मन तथा इन्द्रियोंपर अधिक भार न डाले। **न वीर्यं जह्यात्**-वीर्यशक्ति नष्ट न करे। **नापवादमनुस्मरेत**-अपनी निन्दा (अपमान)का स्मरण न करे। **प्रकृतिमभीक्ष्णं न विस्मरेत**-अपने गुण, कर्म, स्वभाव (प्रकृति)को न भूले, उसके विपरीत आचरण न करे। **न सिद्धावुत्सेकं गच्छेन्नासिद्धौ दैन्यम्**-सफलतामें गर्व तथा असफलतामें दीनता न दिखाये।

महर्षि चरकने अकाल मृत्युसे बचनेके लिये भी सदाचारका अवलम्बन अनिवार्य माना है। उनके निर्देश हैं कि सुख, सौभाग्य, समृद्धि, आरोग्य-प्राप्तिके लिये निम्नलिखित नियमोंका पालन अनिवार्य है—(१) सदैव ब्रह्मचर्यका पालन करो, (२) ज्ञानी, दानी एवं परोपकारी बनो, (३) सबपर करुणा करो, (४) सदा प्रसन्न रहो, (५) वाद-विवादसे बचो, (६) मन एवं इन्द्रियोंको वशमें कर शान्ति धारण करो, (७) सायं-प्रातः दोनों समय स्नान करो, (८) चरण एवं गुह्याङ्ग सदैव स्वच्छ रक्खो, (९) पक्षमें केश तथा नखोंको साफ करो, (१०) स्वच्छ वस्त्र ही पहनो, (११) मनको शान्त बनाये रहो, (१२) पुष्प, इत्र, सुगन्ध धारणकर सत्कर्मका यश फैलाओ, (१३) सज्जनता कभी न त्यागो, (१४) सिर, नाक, कान, पाँवमें नित्य तैलमर्दन करो, (१५) अतिथिका स्वागत करो, (१६) दुःखियोंकी सहायता करो, (१७) सदैव यज्ञ करो, (१८) संत-विद्वान एवं गुरुका सम्मान करो, (१९) कम बोलो, कम खाओ, पवित्र अन्न खाओ, (२०) मधुर हितकारी सीमित शब्दोंका प्रयोग करो, (२१) मन, बुद्धि, चित्त-अहंकारको आत्माके वशमें कर धर्मपथपर चलो, (२२) धर्मका प्रचार करो, अधर्मसे बचो, (२३) फलासक्तिको त्यागकर पुरुषार्थ करो, (२४) चिन्ता-रहित रहो, निर्भय, बुद्धिमान्, उत्साही, दक्ष, क्षमाशील, श्रेयके पथिक बनो और (२५) राग-द्वेष एवं क्रोधके कारणोंसे दूर रहकर मुस्कराते रहो। इस प्रकारका सदाचार ही पूर्णता प्रदान करता है।

प्रबोध

नर ! तैं जनम पाइ कहा कीनो ?
उदर भर्‌यौ कूकर-सूकर लौं, प्रभु कौ नाम न लीनो ॥
श्रीभागवत सुनी नहिं श्रवननि, गुरु-गोबिंद नहिं चीनो।
भाव-भक्ति कछु हृदय न उपजी, मन बिषया मैं दीनो ॥
झूठौ सुख अपनौ करि जान्यौ, परस प्रिया कैं भीनो।
अघ कौ मेरु बढ़ाइ अधम ! तू, अंत भयौ बलहीनो ॥
लख चौरासी जोनि भरमि कै फिरि वाही मन दीनो।
सूरदास भगवंत-भजन बिनु ज्यौं अंजलि जल छीनो ॥

—श्रीसूरदासजी

शास्त्रोंका निष्कर्षार्थ—सदाचार

(लेखक—पं० श्रीसूरजचंदजी 'सत्यप्रेमी' डाँगीजी)

रामायण, महाभारत और भागवत—इन तीनों ग्रन्थोंमें विधि-निषेध-निर्णीत-अनुष्ठेय सदाचारका साक्षात्कार है। गोस्वामीजी 'मानस'में भगवान् श्रीरामके सदाचारको अङ्कित करते हुए कहते हैं—

प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥
(रामच० मा० १। २०४। ४)

प्रातःकाल उठते ही मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी अपने माता-पिता और गुरुजन यानी उम्रमें बड़े व्यक्तियोंके चरणोंमें मस्तक नवाते थे, जिससे कि उनके हृदयमें बड़ोंका आचरण प्रतिष्ठित हो। यह एक सामाजिक विज्ञान था, जिससे नम्रताके संस्कार पड़ते थे और यही ज्ञानका फल है, जैसा नीतिशास्त्रोंमें निर्दिष्ट किया गया है—

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद् धर्मस्ततः सुखम्॥
(हितोप० प्रस्ता० ६)

नीतिशास्त्रोंका कथन है कि विद्यासे विनय आती है, फिर विनयसे पात्रता और पात्रतासे धनकी प्राप्ति होती है तथा धनसे धर्म और धर्मसे सुख मिलता है। पात्रताका मूल विनय ही है। महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने 'सुबोधिनी' टीकामें सदाचारकी सुन्दर व्याख्या की है और यह भी कहा है कि

अनाचारः सदा त्याज्योऽत्याचारोऽपि मूर्खता।

'अनाचार तो हमेशाके लिये छोड़ने योग्य है, पर अति-आचारका आग्रह—अहंकार भी मूर्खता है। वस्तुतः विचारपूर्वक आचरण ही सदाचार है।

अभक्ष्य-भक्षण, अपेय-पान और अगम्यागमन आदि दुराचार हैं—इनका सेवन कभी नहीं करना चाहिये। मांस अभक्ष्य है, मदिरा अपेय है और परस्त्रीगमन परम त्याज्य है। ये अनाचार तीनों कालमें वर्ज्य हैं तथा युक्ताहार-विहार ही आचरणीय सदाचार है। परमात्माने हमको तीन वस्तुएँ धरोहरके रूपमें वरदान दी हैं—तन, मन और बुद्धि। इनको दुरुस्त रखना उत्तम सदाचार है। तन्दुरुस्तीके लिये ऋषि-महर्षियोंने एक ही साधन बताया है—वह है-'तप', अर्थात् इस शरीरको तपाते रहना। साधारणतः तन्दुरुस्तीकी कसौटी यह है कि दोनों समय अच्छी तरह भूख लग जाय। फिर दिलकी दुरुस्तीके लिये जप आवश्यक है। दोनों समय भजनकी भूख लग जाय तो समझ लें कि दिल दुरुस्त! उसी प्रकार बुद्धिके लिये स्वाध्यायकी आदत। दोनों समय सत्सङ्गकी भूख लग जाय तो समझ लें, अक्ल दुरुस्त।' बुद्धू वही है, जिसे बुद्धिका रोग है कि मेरी अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् कौन है? वह सत्सङ्ग क्यों करेगा? पर जो अपनी बुद्धिको स्वस्थ रखना चाहता है, वह अपनेसे बड़ोंके प्रति सर्वदा विनयशील होगा और छोटोंके प्रति वात्सल्य रखेगा।

प्रभुकी तरफ विवेकपूर्वक दृष्टिसे चलना चाहिये। प्रभु व्यापकतत्त्व है, विश्वव्यापक सत्ता है, जिसके तीन नियम हैं। हम सब उन नियमोंका पालन करें, तभी जगत्‌में मङ्गल हो सकता है। इन नियमोंसे बुद्धिमें सत्यका प्रकाश, मनमें प्रेमका उल्लास और जीवनमें सेवाका विकास होना चाहिये। यही सदाचारकी त्रिसूत्री है।

पहले प्रजा राजाके अनुशासनमें थी। राजा महाजनके अनुशासनमें था और महाजन सज्जनोंके अनुशासनमें एवं सज्जन शास्त्रोंकी मर्यादा मानते थे तब सुख था। इस सदाचारके विपरीत हो जानेसे ही आज क्लेश बढ़ गया है। अब राजाके अनुशासनमें प्रजा नहीं है। राजा महाजन*के मतको न मानकर बहुमतको

* यहाँ 'महाजन'का अर्थ श्रेष्ठजन ही अभिप्रेत है, किंतु—

एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः। भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्ता दोषेण लिप्यते॥
(महाभा० विदुर प्रजागरपर्व ३३। ४२)

आदि अनेक स्थलोंपर संस्कृतमें 'महाजन'का अर्थ जनसमूह भी है।

मानता है और संतोंसे मनमाने शास्त्र बनवाता है—इसीलिये दुःख है। पहले राजा पुण्यकर्मके उदयसे ईश-कृपासे पेटमेंसे निकलता था। वह सबके पेट भरता था। इसे अन्नदाता कहते थे; पर अब राजा, (मत-) पेटीमेंसे निकलता है। वह पेटी भरनेके फिक्रमें ही लगा रहता है। फिर वह भला किसका पेट भर सकता है? पहले सर्वसम्मतिसे माताका बड़ा पुत्र राजा होता था। उसमें चुनावका झगड़ा-रगड़ा नहीं था। इसलिये सर्वमान्य समुदाचार था कि उसकी आज्ञामें प्रजा चले। जब कठिनाई उपस्थित होती थी तो सदाचारी महाजनोंसे परामर्श किया जाता था। मेहता, कोठारी भंडारी, मोदी, बोहरा आदि पद-पदवियोंके अनुशासनसे सदाचारी शासन होता था—वहाँ सर्वत्र आनन्द-ही-आनन्द था। धर्मके लिये कोई झगड़ा न था। अपनी-अपनी योग्यता और अधिकारोंके अनुसार गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन होता था, परंतु आज सुविधाके साधन बढ़ जानेसे सुख-शान्तिका साधन—सदाचार दुर्बल पड़ गया है। शास्त्रके अनुकूल सज्जनोंकी सलाहसे चलना ही महाजनका सदाचार है, जिसका पालन करना और कराना शासकका धर्म है। इसी प्रकारकी सुव्यवस्थित सदाचार-प्रतिष्ठासे ही देश पुनः सम्पन्न और सुखी हो सकता है।

हमारे शास्त्रोंमें वेद प्रधान हैं। ये 'सुप्तप्रबुद्धन्यायसे महेश्वरकी सहज श्वास-प्रश्वास गतिसे प्रकट हुए हैं—'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी', (रामचरितमानस (१। २०३। ३)। वे कर्मोंके विधि-निषेधका—क्या करना कर्त्तव्य है और क्या वर्जनीय है—इसका वर्णन करते हैं। यह निर्णय वैदिक धर्म कहलाता था—यह पहला सदाचार है। दूसरा निर्णायक साधन 'वेदान्त' शास्त्र है, जो श्रीकृष्ण भगवान्‌द्वारा गीताके माध्यमसे उपनिषद् सार एवं व्यास ब्रह्मसूत्रके रूपमें प्रकट हुआ है। इससे 'ज्ञान'का प्रकाश होता है। तीसरा 'सिद्धान्त' वह है, जो 'मानस'में भगवान् शंकरजीके द्वारा प्रकट हुआ। इससे साधनाके द्वारा सिद्ध करके परम सुखकी सृष्टि होती है। ये ही तीनों हिंदुस्थानकी संस्कृतिके निधान हैं और ये ही हमारे सदाचारके मुख्य आधार हैं। भक्ति, ज्ञान और कर्म ही सम्मिलित रूपसे सदाचार है। यदि वह भगवान्‌से जुड़ जाय तो योग हो जाता है। 'उद्योग' (उत्) ऊँचा योग है। उसका फल है—'सहयोग'—सब योग सहयोगसे सफल है। तीर्थंकर भगवन्तोंके अनुसार—'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' जीवोंका सदाचार यही है कि परस्पर सहयोग बढ़े। भगवान् श्रीकृष्ण भी यही कहते हैं—

> परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ। (गीता)

इस प्रकार परस्पर सहयोग करके परम श्रेय प्राप्त करनेका उद्योग ही सदाचार है। हमारे मन, वचन और कर्म सबको परम आनन्द दे सकें, इसी कसौटीपर कसकर ही हमारा आचरण 'सत्' कहला सकता है। यही सदाचार है। वीतराग महापुरुषोंने द्वादशाङ्गी वाणीमें भी सर्वप्रथम आचाराङ्गका ही उपदेश किया है और यही बात भगवान् वेदव्यासने महाभारतमें कही है—

> सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते।

मनुष्य और पशु

> येषां गुणेष्वसंतोषो रागो येषां श्रुतं प्रति।
> सत्यव्यसनिनो ये च ते नराः पशवोऽपरे॥
> (योगवासिष्ठ, स्थिति-प्रकरण ३२। ४२)

'जिनका इन (शम-दमादि) गुणोंके विषयमें संतोष नहीं है—इनको जो और बढ़ाना चाहते हैं, जिनका शास्त्रके प्रति अनुराग है तथा जिनको सत्यके आचरणका ही व्यसन है, वे सदाचारी ही वास्तवमें मनुष्य हैं, दूसरे (असदाचारी) तो पशु ही हैं।'

सदाचार और संस्कार

(लेखिका—श्रीमती मञ्जुश्री एम्० ए०, साहित्यरत्न, रामायण-विशारद)

सम् उपसर्गसे परे सुट्के आगमपूर्वक कृ धातुसे घञ् प्रत्यय करनेसे 'संस्कार' शब्द बनता है। इसका प्रयोग अनेक अर्थोंमें किया जाता है। मीमांसकगण इसका 'यज्ञाङ्गभूत पुरोडाश आदिकी विधिवत् शुद्धि' अर्थ करते हैं। संस्कृत-साहित्यमें इसका व्यापक प्रयोग है। शिक्षा, संस्कृति, सौजन्य, व्याकरण-सम्बन्धी शुद्धि, परिष्करण, शोभा, आभूषण, प्रभाव, स्वरूप, स्वभाव, क्रिया, धार्मिक विधि-विधान, अभिषेक, विचार, भावना, धारणा, कार्यका परिणाम, क्रियाकी विशेषता आदि अर्थोंमें इसका प्रयोग मिलता है। इन अर्थोंमें संस्कारके प्रयोगसे उसका सदाचारसे निकटतम सम्बन्ध ज्ञात होता है और वे अर्थ अधिकांशतः सदाचारके पर्यायसे लगते हैं। साधारणतः व्यावहारिक रूपमें संस्कारका अर्थ है—पवित्र धार्मिक क्रियाओंद्वारा व्यक्तिके दैहिक, मानसिक, बौद्धिक और मुख्यतः आत्मिक परिष्कारके लिये किये जानेवाले अनुष्ठान, जिनसे व्यक्ति अपने व्यक्तित्वको पूर्ण विकसित करके समाजका अभिन्न सदस्य बनते हुए मोक्षकी ओर अग्रसर हो।

विवाहादि संस्कारोंके अङ्गभूत विधान, आचार, कर्मकाण्ड आदिके नियम प्रायः विश्वके सभी देशोंमें पाये जाते हैं। प्राचीन संस्कृतियोंमें इनका स्थान प्रतिष्ठित है। अब सभी आधुनिक धर्मोंमें भी कुछ संस्कारोंका प्रचलन हो गया है, किंतु वेदों तथा गौतम आदि स्मृतियोंके अनुसार हमारे यहाँ संस्कारोंकी संख्या ४८ तक रही है। इन्हींमेंसे विवाहादि कुछ मुख्य संस्कारोंका विकृत रूप विदेशोंमें भी गया। यहाँ भारतीय संस्कारोंमें स्वच्छता एवं पवित्रताका विशेष महत्त्व सदासे रहा है।

किसी राष्ट्रमें सुसंस्कृत सदाचरित वातावरण—मात्र अनिवार्य विधि या संविधानद्वारा नहीं लाया जा सकता, जबतक कि वह जनसामान्यके मनको आकर्षित न करे और जनसामान्य भी ये बातें न समझे और उनका आदर न करे। इसके लिये आवश्यक है कि व्यक्ति गर्भसे ही सुसंस्कृत हों। यह कार्य आध्यात्मिक संस्कार ही करता है। देशके अपने मूल्यों और प्रतिमानोंके प्रति आस्था और विश्वास उत्पन्न करनेके लिये प्रयत्न-पूर्वक संस्कार करना पड़ता है, तभी सामाजिक नीतियों और मूल्योंका विकास होता है। संस्कार जीवनके विभिन्न अवसरोंको महत्त्व और पवित्रता प्रदान करते हैं। वे इस विचार-दृष्टिपर बल देते हैं कि जीवनके विकासका प्रत्येक चरण केवल शारीरिक क्रिया नहीं है; किंतु उनका सम्बन्ध मनुष्यकी बौद्धिक, भावनात्मक और आत्मिक अभिव्यक्तिसे है, जिनके प्रति मनुष्यको सदैव जागरूक रहना चाहिये। अतः संस्कार जीवनके संघटनोंको शरीरकी दैनिक आवश्यकताओं और आर्थिक व्यापारके समान अनाकर्षक, चमत्कारहीन और जीवन-के भावुक संगीतसे रहित होनेसे बचाते हैं और इस प्रकार वे सदाचारपूर्ण जीवनमें दीप्ति एवं रोचकता भर देते हैं। संस्कार ही सदाचारकी नींव होते हैं।

प्राचीन समाजशास्त्र-ऋषियोंने मनुष्यको सहजगत्या विकासके लिये छोड़ देनेकी अपेक्षा विवेकपूर्वक वैयक्तिक चरित्रको पूर्वनियोजित समाजमें ढालनेकी आवश्यकताका अनुभव किया और इस प्रयोजनकी पूर्ति उन्होंने संस्कारोंद्वारा की। संस्कार जीवनके प्रत्येक भागको व्याप्त कर लेते हैं। इतना ही नहीं, जन्मसे पूर्व तथा मृत्युके बादके भी संस्कार हैं। जीवनके आरम्भसे ही व्यक्ति इनके प्रभावमें आ जाता है और इस प्रकार एक सुदृढ़ व्यक्तित्व तैयार होता है।

कहनेका तात्पर्य यह कि संस्कार सदाचारके घटक अङ्ग हैं और ये व्यक्ति, समाज, राष्ट्र सभीके लिये अनिवार्य-

से हैं। साधारणतः संस्कारोंको निम्नलिखित भागोंमें बाँटा जा सकता है—देह-प्राणजन्य संस्कार, बाल्यावस्थाके संस्कार, जीवनके शैक्षणिक संस्कार, विवाह-संस्कार और अन्त्येष्टि-संस्कार। विभिन्न ग्रन्थोंमें संस्कारोंकी विभिन्न संख्याएँ दी गयी हैं। सम्प्रति विशेष प्रसिद्ध संख्या सोलह है। जनसाधारण भी षोडश संस्कार ही मानते हैं। परवर्ती स्मृतियोंमें षोडश संस्कारोंकी सूची इस प्रकार दी गयी है। (इसमें कुछ भेद भी है।) आश्वलायन-स्मृतिके अनुसार ये संस्कार निम्नलिखित हैं—गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त, जातकर्म, नाम-करण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, वपनक्रिया, कर्णवेध, व्रतादेश, वेदारम्भ, केशान्तस्नान, उद्वाह, विवाहाग्नि-परिग्रह तथा अन्त्येष्टि।

गर्भधारणका निश्चय हो जानेके पश्चात् गर्भस्थ शिशुको पुंसवन नामक संस्कारद्वारा अभिषिक्त किया जाता था। पुंसवनका अभिप्राय उस कर्मसे था, जिसके अनुष्ठानसे पुरुष-संततिका जन्म हो। इस अवसरपर पठित तथा गीत पवित्र ऋचाओंमें दधि, माष, यव, पानका उल्लेख किया गया है। इस समय विधि-विधानरूपमें किये गये कार्य (जैसे वटवृक्ष, सहदेवी, विश्वदेवी आदि ओषधियोंके रसका प्रयोग) गर्भावस्थाके समस्त कष्टोंको भी हटाते थे। सीमन्त या सीमन्तोन्नयन-संस्कारमें गर्भिणी स्त्रीके केशोंको ऊपर उठाया जाता था। इस अवसरपर पठित ऋचाओंसे प्रकट होता है कि इस संस्कारका प्रयोजन माताके ऐश्वर्य तथा अनुत्पन्न शिशुके लिये दीर्घायुकी प्राप्ति था। गर्भिणी स्त्रीको यथासम्भव हर्षित एवं उल्लसित रखनेका प्रयोजन इस बातसे ज्ञात होता है कि स्वयं पति उसके केशोंको सजाने-सँवारनेका कार्य करता था। ये संस्कार केवल प्रथम गर्भमें ही होते थे।

जातकर्मसंस्कारका प्राकृतिक आधार प्रसवजन्य शारीरिक आवश्यकताओं तथा परिस्थितियोंमें निहित था, जो माता और शिशुकी रक्षा तथा शुद्धिके सांस्कृतिक उपायोंसे भी संयुक्त हो गया। विकासवादके अनुसार सभ्यता, भाषा एवं सामाजिक चेतनाके विकासकी प्रारम्भिक अवस्थामें मनुष्यके नामकरणकी आवश्यकताका बोध हुआ। किंतु हिंदू इसके अपौरुषेय वेदद्वारा निर्दिष्ट होनेके कारण सृष्टिके आरम्भसे ही इसे धार्मिक संस्कारमें परिगणित करते आये हैं। सामान्यतः नामकरण-संस्कार शिशु-जन्मके पश्चात् ग्यारहवें दिन सम्पन्न किया जाता है। इस दिन गृहको प्रक्षालित एवं शुद्धकर यज्ञादिद्वारा वातावरण पवित्र किया जाता है। जन्मके डेढ़-दो मास बाद वह प्रथम बार पिताद्वारा सूर्यदर्शनके लिये गृहसे बाहर लाया जाता है। इस समय उसकी रक्षाके लिये देवताओंसे प्रार्थना की जाती है।

धीरे-धीरे शिशुके शारीरिक विकासके साथ ही उसके भोजनकी मात्रा भी बढ़ती जाती है। प्रायः १॥ वर्ष बाद शिशुको मातासे दूध पर्याप्त मात्रामें प्राप्त नहीं होता, अतः माता एवं शिशु दोनोंकी शारीरिक स्वस्थताकी दृष्टिसे उसका अन्नप्राशन-संस्कार होता है। इस समय शिशुकी समस्त इन्द्रियोंकी संतुष्टिके लिये प्रार्थना की जाती है, जिससे वह सुखी तथा संतुष्ट जीवन व्यतीत कर सके। साथ ही वह संतुष्टि एवं तृप्तिकी खोजमें स्वास्थ्य और नैतिकताके नियमोंका सदा ध्यान रखे—इस बातपर भी बल दिया जाता था। आभूषण पहननेके लिये कान और नाकके छेदनेकी प्रथा भी अति प्राचीन कालसे है। सुश्रुतने कई रोगों—जैसे अण्ड-वृद्धि, अन्त्रवृद्धि आदि रोगोंसे रक्षा आदिके लिये कर्ण-वेधको उपयोगी बताया है। इस दिन पहले देवताओं तथा गौओंका पूजन किया जाता था, फिर वैद्य बालकका कर्णच्छेदन करता था। अन्तमें ब्राह्मणों, ज्योतिषियों और वैद्यको दान-दक्षिणा दी जाती थी। इसके बाद मित्रों और सम्बन्धियोंका सत्कार किया जाता था, जिससे शुद्ध सामाजिक सम्बन्धोंकी नींव दृढ़ हो।

बालकके अक्षरारम्भ एवं शिक्षाका प्रारम्भ बादमें होता था। इसके लिये कोई शुभ दिन निश्चित किया जाता

था । उस दिन आरम्भमें मातृपूजन, आभ्युदयिक श्राद्ध तथा अन्य आवश्यक कृत्य किये जाते थे । तब पारलौकिक अग्निकी प्रतिष्ठा कर विद्यार्थीको आमन्त्रित कर अग्निके पश्चिममें बैठाया जाता था । इसके पश्चात् साधारण आहुतियाँ दी जाती थीं । सभी वेदोंकी अलग-अलग आहुतियाँ होती थीं । इसके अतिरिक्त ब्रह्म, वेदों तथा प्रजापतिके लिये आहुतियाँ दी जाती थीं । अन्तमें आचार्य ब्राह्मण पुरोहितको पूर्णपात्र और दक्षिणा देकर वेदका अध्यापन आरम्भ करते थे । शिक्षाका यह अनुष्ठान बालकके मन एवं आत्मामें शिक्षाके प्रति पूर्ण रुचि उत्पन्न करता था । इस संस्कारमें मनोवैज्ञानिकता थी ।

केशान्तसंस्कार भी चार वैदिक व्रतोंमेंसे एक था । इनमें प्रथम तीन व्रत अपने जीवनके वैदिक स्वाध्याय-पर निर्भर थे, जब कि केशान्त-अनिवार्यता विद्यार्थीके आत्मा तथा संयमपूर्ण व्यवहारसे सम्बद्ध था । यह संस्कार सोलह वर्षकी आयुमें सम्पन्न होता था । इसमें युवकके दाढ़ी, मूँछ, सिरके बाल और नख जलमें फेंक दिये जाते थे । इसके पश्चात् ब्रह्मचारी गुरुको एक गौका दान करता था । संस्कारके अन्तमें उसे मौनव्रतका पालन करना होता था, फिर एक वर्षतक उसे कठोर अनुशासनमें रखा जाता था । स्नान या समावर्तन संस्कार ब्रह्मचर्यके समाप्त होनेपर सम्पन्न किया जाता था । समावर्तनका अभिप्राय है—वेदाध्ययनके बाद गुरुकुलसे गृहकी ओर प्रत्यावर्तन । इसे वेद-स्नान भी कहते हैं । यह कार्य अध्ययन सम्पन्नता-सूचक महत्त्वपूर्ण संस्कार था । विद्यार्थी-जीवनके अन्तमें किया जानेवाला सांस्कारिक स्नान विद्यार्थीके द्वारा विद्यासागरको पार करनेका भी प्रतीक था । विद्या एवं गुरुके प्रति निष्ठा तथा संयमका महत्त्व इस संस्कारसे अनायास ही अवगत हो जाता था ।

विवाहाग्नि-परिग्रह-संस्कारका हिंदू-संस्कारोंमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है । अति प्राचीनकालसे विवाहकी मान्यता है । विवाह स्वयं एक यज्ञ माना जाता था । तैत्तिरीयब्राह्मणमें अपत्नीक पुरुषको अयज्ञीय या यज्ञहीन कहा गया है । स्मृतियाँ आश्रमव्यवस्थाका पूर्ण समर्थन करती हैं तथा गृहस्थाश्रमको अनिवार्य बताती हैं । अनेक कारणोंसे विवाहको अत्यधिक आदरकी दृष्टिसे देखा जाता है । विवाह दाम्पत्य-जीवनको कामोपभोगकी आसक्तिसे दूरकर विवेकपूर्ण मर्यादित मार्गके अनुसरणपर बल देता है । विवाह पति-पत्नीसम्बन्धको वासना-गर्तसे यथासम्भव बचाता है । विवाहित जीवन उत्तरदायित्वोंका जीवन है । दम्पतिपर परिवार, समाज, राष्ट्र—सभीके महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व हैं । इन्हें वे अत्यन्त विवेकपूर्ण, संयमित, सदाचरित जीवन व्यतीत कर ही निभा सकते हैं । विवाह सामाजिक दृष्टिसे तो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ही, आध्यात्मिक दृष्टिसे भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है । विशुद्ध प्रेमके स्वरूपका बोध इस संस्कारद्वारा होता है । विवाहके बन्धनमें बँधकर पति-पत्नीका प्रेम अन्धकामुकतासे बहुत दूर समर्पणमय होता है । यह प्रेम परमेश्वर-प्राप्तिका साधन है और इसका ज्ञान विवाहद्वारा ही होता है । विवाह सभी दृष्टियोंसे सम्पूर्णतः गृहस्थधर्मको पावनता, शुचिता प्रदान करता है । जीवन कर्मक्षेत्र है । व्यक्ति विवाहके बाद ही जीवनके कर्मानुष्ठानमें सम्पूर्णतः भाग लेता है ।

हिंदू-जीवनका अन्तिम संस्कार अन्त्येष्टि-संस्कार है । व्यक्तिके इस संसारसे प्रस्थान करनेपर उस व्यक्तिके जीवित सम्बन्धी परलोकमें उसके भावी सुख एवं सुगतिके लिये मृत्यु-संस्कार करते हैं । धार्मिक दृष्टिकोणसे यह संस्कार इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि हिन्दुओंके लिये इस लोककी अपेक्षा परलोकका मूल्य उच्च है । 'बौधायनपितृमेधसूत्र'में कहा गया है—'यह सुप्रसिद्ध है कि जन्मोत्तर संस्कारोंके द्वारा व्यक्ति इस लोकको जीतता है और मरणोत्तर संस्कारद्वारा उस लोकको । पुनर्जन्मके भावी सुधारके लिये यह

संस्कार विधि-विधानसे किया जाता है। धार्मिक दृष्टिकोणके अतिरिक्त व्यावहारिकताकी दृष्टिसे भी यह संस्कार विशेष महत्त्व रखता है। मृत व्यक्तिके परिवारवालोंको गहरे अवसाद और नैराश्य तथा अध्यात्म-विमुखतासे बचानेका कार्य यही करता है।

संस्कार जीवनके सम्पूर्ण क्षेत्रको परिव्याप्त करते हैं, चूँकि संस्कार कई दृष्टियोंसे सदाचारके ही पर्याय हैं, अतः वे मानव-जीवनका परिष्कार करते हैं, व्यक्तित्वका विकास करते हैं। वे मानवको पवित्रता, महत्त्व तथा गरिमा प्रदान करते हैं और मनुष्यकी समस्त भौतिक एवं आध्यात्मिक महत्त्वाकाङ्क्षाओंको गति प्रदान करते हैं। ये जीवनके लिये सुरुचिपूर्ण, मर्यादित पथ प्रशस्त करते हैं और अन्तमें संसारसे मुक्तिके लिये सानन्द योग्यता प्रदान करते हैं। संस्कार सदाचारकी भावनाको अन्तर्मनमें प्रतिष्ठित करते हैं। प्रत्येक व्यक्तिका स्वधर्म होता है अर्थात् आचरण-सम्बन्धी कुछ नियम होते हैं, जिन्हें वह संस्कारोंद्वारा ज्ञात करता है। इसी प्रकार परिवार और समाजके प्रति सामान्य धर्म होते हैं तथा राष्ट्रके प्रति कर्तव्य अथवा युगधर्म होते हैं। सुसंस्कृत व्यक्ति इनका निर्वाह सरलतासे और दक्षतापूर्वक करता है। इस प्रकार मानव-जीवनको सदाचरित बनानेके लिये संस्कारोंका अतिशय महत्त्व सिद्ध है।

सहिष्णुता और सदाचार

(लेखिका—कु० निर्मल गुप्ता, प्राध्यापिका)

महाकवि कालिदासने कहा है—

'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः।'
(कुमारसम्भव १।५९)

'विकारके कारण उपस्थित होनेपर भी जिन महापुरुषोंका मन विकृत नहीं होता, वे ही धीर पुरुष हैं।' मानव पूर्णशक्ति सद्-चित्-आनन्द परमात्माका अविभक्त अंश है, अतः स्वतः स्वभावतः अपने अनजानेमें ही उस अविरल आनन्दस्रोतकी खोजमें तत्पर रहता है, परंतु इस छोटेसे जीवनमें अनेक विकारोंका पात्र बनकर वह अनजानेमें ही अपने स्रोतको भी भूला रहता है, कभी मार्गसे भटक भी जाता है, फलतः आनन्दसे दूर रहता है। इस प्रकार समय-समयपर अनेक विकारोंका कोप-भाजन बनकर साधारण मानव अपने बहुमूल्य जीवनकी इतिश्री कर बैठता है! क्रोध इन विकारोंमें प्रबलतम विकार है।

मनके प्रतिकूल कुछ भी होनेपर मनमें जो एक प्रकारका उद्वेग अपने-आप दूसरोंके प्रति उभर आता है, उसे क्रोध कहते हैं। जीवनमें प्रतिकूलताकी कमी नहीं, अतः क्रोधकी भी भरमार है। पर इसी संसारमें कुछ ऐसे भी महापुरुष होते हैं, जो जीवनपर्यन्त भगवद्भक्तिसे एवं अध्यात्मसे सम्पन्न होते हैं। आनन्दके अविभक्त अंश होनेके कारण वे परम शान्त, परम गम्भीर रहते हुए सभी प्रकारके विकारोंसे स्वभावतः जन्मसे ही उपरत रहते हैं। पृथ्वीतलपर इन महापुरुषोंका आविर्भाव स्वयं आनन्द-सागरमें निमग्न रहकर कुछ और संस्कारी जीवोंको इस खोजमें तत्पर करना होता है। भक्त कवि जयदेव, महाप्रभु चैतन्यदेव, महामना मालवीयजी प्रभृति इसी कोटिके मुक्तजीव थे। आज भी हमलोगोंके मध्य कुछ इस कोटिके पुरुष हैं, जिन्हें आगामी पीढ़ियाँ आनन्द-स्रोतके रूपमें स्मरण करेंगी। ऐसे मुक्त जीवोंके जीवन-प्रसङ्गमें क्रोध या अन्य किसी विकारका प्रश्न ही नहीं; क्योंकि उनका जीवन किसी भी संसारी स्वार्थका सम्पादन करनेके हेतु होता ही नहीं। उनकी प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक कार्य, प्रतिपल-प्रतिक्षण उन प्रियतम प्रभुकी आराधना है, पूजा

है, जो सभी विकारोंसे परे सुन्दर, स्वच्छ और आनन्दमय हैं, परंतु वे आदर्श जीवन गिने-चुने हैं। इसके लिये न कुछ करणीय है, न विचारणीय। इसके अतिरिक्त ऐसे संस्कारी जीव भी होते हैं, जो आनन्दसागरकी ओर उन्मुख होना चाहते हैं—सत्संगति या पूर्वसंस्कार जिन्हें उस प्रशस्त मार्गपर बढ़नेके लिये समय-समयपर प्रेरित करते रहते हैं। पर मायाबद्ध जीव होनेके कारण समय-असमय बेचारे अनेक विकारोंके पात्र बन जाते हैं और कभी-कभी विवेक-बुद्धिसे सम्पन्न होनेपर विकार-शमनके उपाय जाननेके इच्छुक होते हैं।

जिज्ञासु व्यक्ति काम-क्रोधसे दूर रह यदि सौभाग्यसे लक्ष्यबद्ध हो चुका है, यदि वह प्रभु-प्रेमकी प्राप्तिको जीवनके अन्तिम उद्देश्यके रूपमें वरण कर चुका है तब तो लक्ष्यकी प्राप्ति उसके लिये सुगम ही है। विचारनेकी बात है कि परमानन्द प्रभु कितने सुन्दर, कोमल, मञ्जुल और सुकुमार होंगे। उन प्रियतम प्रभुके तनिकसे ध्यान-गत दर्शन पानेके लिये भी खिले फूलोंके हास-उल्लासको अपने तन-मन-प्राण, दृष्टि और वाणीमें सँजोनेकी आवश्यकता है। संसारका सारा हासोल्लास भी यदि अपनी दृष्टिमें सँजोकर उन प्रियतमकी ओर नेत्र उठायें तो भी वे लज्जासे झुक-से जायँगे। ऐसी है उन श्रेष्ठ प्रियतमकी मुस्कानयुक्त चितवन। इस छोटे-से जीवनका प्रतिक्षण, प्रतिपल भी मिलनकी इस तैयारीके लिये बहुत कम है, अतः साधकको प्रमादसे सर्वथा दूर रहना परमावश्यक है। तभी वह शाश्वत मधुर मिलन संभव होगा।

प्रमाद या काम, क्रोधादि असमर्थताके ही द्योतक हैं, जब हम स्वरूपमें स्थित नहीं हो पाते तो हममें अज्ञानसे काम, क्रोध आदि आते हैं। साधकके जीवनमें असमर्थता-विवशता—कहीं कुछ है ही नहीं। जो कुछ वह नहीं कर पा रहा है, उसमें अपनी इच्छाके व्याहत होनेपर भी स्पष्टतः ही उसके प्रेष्ठ—प्रियतमकी इच्छा पूर्ण हो रही है। एक व्यक्ति एक ही वस्तु पूर्णतः चाहता है। कौन चाहता है कि वह किसी अन्यको चाहे और अपने अभीष्ट स्नेहीरूप पूर्ण परमात्माकी चाह न करे। फिर एक बात और भी तो है—वह हठीले प्रेमी क्रोध करना ही चाहें तो उन प्रेष्ठ—प्रियतमपर ही कर लें, क्योंकि वे तो सर्वसमर्थ हैं न! सभी प्रकारकी इच्छाएँ पूर्ण कर सकते हैं। यह तो हुई प्रेमी भक्तोंकी बात। उस व्यक्तिकी बात, जो किसीको अपना प्रेमास्पद बना चुका है। तन-मन-प्राण जब किसीकी चाहनासे पूर्णतः भर जाते हैं तो विकारोंको स्थान ही कहाँ रह सकता है?

ज्ञानी साधकके पास यों ही क्रोधके लिये स्थान नहीं। वह भलीभाँति जानता है कि संसार एक रङ्ग-मञ्च है, यहाँ विभिन्न पात्र विभिन्न प्रकारके अभिनयोंका सम्पादन उस सूत्रधारके इङ्गितपर कर रहे हैं। इस नाटकमें किन्हीं व्यक्तियोंको यदि मनके प्रतिकूल आचरणका अभिनय मिला है तो वही ठीक है। किसीकी प्रतिकूलतापर हमें अपने मनको क्रुद्ध करनेका कोई औचित्य नहीं। दूसरे, प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्वकर्म और संस्कारोंके वशीभूत होकर अपने स्वभावके अनुसार आचरण करता है। संसारके उस रङ्गमञ्चपर बस, उसे शान्तभावसे सुचारु रूपसे अपना जीवन-यापन करना है। ऐसे ज्ञानी व्यक्तिका मन स्वतः ही उस गम्भीर शान्त सागरकी भाँति होगा, जिसमें हजारों चन्द्रमा भी इकट्ठे उदित होकर ज्वारभाटा नहीं ला सकते।

यह तो हुई प्रभु-प्रेमी और लक्ष्यबद्ध जीवोंकी बात। अब साधारण मानवकी बात सोचनी चाहिये। सामान्य मानवको यदि वह क्रोधसे आविष्ट है तो कुछ निम्नाङ्कित बातोंपर उसे विचार करना चाहिये।

साधारण मानवको सुखी जीवन जीनेके लिये अपने घर-परिवार और समाजमें सम्मान-प्यार पानेके लिये स्वस्थ तन-मनकी आवश्यकता है। जिसका तन-मन स्वस्थ है, केवल वही व्यक्ति अपना और दूसरोंका हित-

सम्पादन कर सकता है। क्रोध मनुष्यके स्वास्थ्यको बिगाड़ देता है। हृदयरोग-जैसे भयंकर रोग क्रोधकी उपज हैं। क्रोध चेहरेको विकृत कर देता है। उसके अपने परिवारके सदस्य ऐसे व्यक्तिके पास आने, बैठने, बोलने-चालनेसे कतराते हैं। अतः उसका व्यक्तित्व अभावग्रस्त हो जाता है।

बात-बातपर क्रोध करनेसे परिवारके बच्चोंकी स्वाभाविक उन्नति रुक जाती है, उनकी कोमल भावनाएँ दब जाती हैं, परिणामस्वरूप बच्चे विभिन्न प्रकारकी हीन भावनाओंके शिकार बनकर समाजमें पिछड़ जाते हैं, तब कोई समय आता है जब हम पछताते रह जाते हैं—पर **'अब पछताये होत का, जब चिड़िया चुग गई खेत'**। समाजमें हम प्यार और सम्मान नहीं पाते। हर व्यक्ति हमसे कतराता है। कोई अपना दिल खोलकर हमसे बात नहीं करता। लोग हमें देखकर भयभीत-से हो जाते हैं और भाग निकलनेका प्रयास करते हैं। ऐसा व्यक्ति स्वय तो किसीके प्यार और विश्वासका पात्र बनता ही नहीं। जीवनमें कहीं किसीके भी काम नहीं आता। अनेक गुणोंके होनेपर भी स्वयं तो हीनभावना और अकेलेपनका शिकार बनता ही है। अपने आसपासवालोंको भी सभी प्रकारके सुख-सौभाग्यसे वञ्चित कर देता है।

क्रोध प्रायः स्वयं असमर्थताका द्योतक होता है। अनेक बार अपने किसी तन-मनकी दुर्बलतासे पीड़ित या अभिव्यक्तिके क्षीण होनेके कारण व्यक्ति स्वयंको स्पष्ट नहीं कर पाता तो क्रोधका भाजन बनता है और इस ज्वालामें दूसरे निरीह प्राणियोंको भी जलाता है। कई बार अध्यापकवर्ग इसी प्रकारके क्रोधमें विवश अनेकों निरीह प्राणियोंका जीवन बिगाड़ डालता है।

एक बात और भी है। प्रत्येक व्यक्तिकी कार्यक्षमता और कार्य करनेके तरीके भिन्न होते हैं। कई लोग स्वभावसे ही प्रमादी—लापरवाह होते हैं। मान लीजिये कोई व्यक्ति लापरवाह है और आपके अनुकूल कार्य नहीं कर पाता तो आप उसपर क्रोध करते हैं, परंतु वह बेचारा तो स्वभाव-विवश होकर वैसा कार्य करता रहता है। अतः आप तो भैंसके आगे बीन ही बजा रहे हैं। यदि वह आपकी इच्छाके अनुसार सामर्थ्य होनेपर भी करना ही नहीं चाहता तो आप उसपर क्रोध करके व्यर्थ अपने समय और स्वाभिमानका नाश कर रहे हैं। तीसरी बात यह भी हो सकती है और प्रायः हो भी जाती है कि जिस बातको आप गलत समझकर दूसरेपर क्रोध कर रहे हैं, आप स्वयं ही गलत हों और उसे गलत समझकर वैमनस्यकी दीवार बीचमें खड़ी कर रहे हों। किसी भी अवस्थामें क्रोध लाभप्रद वस्तु तो है ही नहीं। अनुभवी जनोंका स्पष्ट विचार है कि जिस व्यक्तिको अपनी बात समझनेके लिये क्रोध करना पड़ता है, उसमें अपनेमें कोई कमी अवश्य है और अपनी इस कमीसे वह अपने-आप और आस-पासवालोंके जीवनको नरक बना रहा है।

मानवकी तो बात ही क्या, विशुद्ध प्रेमका अंश होनेके कारण पेड़-पौधे, पशु-पक्षीतक भी प्यारकी कामना रखते हैं, प्यारकी भाषा समझते हैं। आप धैर्यसे अनुभव करके देखिये, जिस व्यक्तिको सौ बार क्रोध करके आप अपनी बात नहीं समझा सकते, उसे एक बार सरल निश्छल प्यारसे सहलाकर आसानीसे समझा लेंगे। आपकी विजय हृदय जीतनेमें है, उसका हनन करनेमें नहीं। और, फिर उन प्रेममय प्रभुसे आपको यह अधिकार भी तो नहीं मिला कि आप दूसरोंपर क्रोध करके उनका सुधार करें। उन प्रभुकी सदय दृष्टि आपपर पड़ रही है और आप दूसरोंको भयभीत कर रहे हैं—यह कहाँका न्याय है?

फिर एक प्रश्न यह उठता है—क्या कहीं भी कोई ऐसा स्थल नहीं, जहाँ क्रोधकी अनिवार्य आवश्यकता

हो। क्या क्रोध बेचारा प्रभुकी सृष्टिमें सर्वथा ही निरर्थक वस्तु है? उत्तर स्पष्ट है कि विधाताकी सृष्टिमें सभी कुछ सार्थक है। अतः ऐसे भी कुछ निश्चित क्षेत्र हैं जहाँ क्रोधकी अनिवार्य आवश्यकता होती है। कई बार आचार्यकोटिके ऊँचे उठे हुए महापुरुष अपने आश्रित-जनोंपर क्रोध करते दृष्टिगोचर होते हैं। उनका यह क्रोध सार्थक है—स्वागतके योग्य है। इसका एकमात्र लक्ष्य आश्रितजनोंके वृत्ति-व्यवहारको परिमार्जित करके उनके मार्गको प्रशस्त करना होता है, पर ऐसे क्रोधमें स्वार्थ नहीं होता। अतः उसमें कड़वाहट भी नहीं होती, वह मधुर होता है। ऐसे क्रोधका उसपर अनिवार्य प्रभाव पड़ता है और क्रोध करनेवालेके मनका उससे दूरका सम्बन्ध भी नहीं होता। परीक्षाका समय इसे प्रत्यक्ष कर देता है।

परिवारोंमें बच्चोंके सुधारके लिये माता-पिता और विद्यालयोंके अध्यापकवर्गद्वारा ऊपरी क्रोध भी इसी प्रकार क्षम्य है; क्योंकि शास्त्रोंमें आता है कि अध्यापकों-के दण्ड देनेवाले कर्तव्य, हाथ तथा हृदय सबमें ही अमृत रहता है। वे कल्याणके लिये ही छोटे बालकोंको ताड़ना देते हैं। उनके हृदयका इस प्रकारके क्रोधसे तनिक भी कोई सम्बन्ध नहीं होता। महाभाष्यकारने कहा है—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः।
(व्याकरणमहाभाष्य ८।१।८)

तथा 'महाभाष्यप्रदीप'कार कैयट भी कहते हैं—

गुरवो हि हितैषित्वादकुप्यन्तोऽपि भर्त्सनम्।
(८।१।८)

अतः गुरुओंकी बालकोंपर यह ताड़ना सदाचारामृत-का ही सृजन करती है।

सदाचार—भक्तिका एक महान् साधन

(लेखक—श्री के० वी० भातखण्डे, बी० ए०, बी० टी०)

भगवान्‌के प्रति प्रेम ही भक्ति है। इस परम प्रेमका सेवन करनेका जिन्हें निरन्तर अवसर मिला, जिन साधु-संतोंने निजके जीवनमें ऐसा आचरण किया, उन्होंने अन्य सभी लोगोंको भक्ति-सम्पादन करनेके लिये इन आचरणों-का उपदेश किया। भगवद्भक्तिके लाभके लिये ये सदाचार संतोंने अनेक प्रकार बताये हैं। 'सदाचारके लिये सदाचार' यह सदाचारका स्वरूप नहीं है, भक्तिके लिये सदाचार—(Bring us to God) यही सदाचारका स्वरूप है। सिर्फ सदाचारके लिये सदाचार इस भूमिकासे यदि सदाचारका पालन किया जाय तो जीवनमें केवल कर्मठता ही पैदा होगी। इस निरे कर्मठपनेका साधु-संतोंने अपने अनेक उपदेश-साहित्य-वाणियोंद्वारा तिरस्कार किया है। विभीषण, भरत, प्रह्लादादिने भगवद्भक्ति निभानेमें भगवद्विरोधी माता-पिता-भाई आदिका भी विरोध किया और भगवान्‌ने इनकी सहायता ही की—**'बलि गुरु तज्यो···भे मुद मंगलकारी'** देवर्षि नारदने अपने भक्तिसूत्रमें भक्तिके अन्तरङ्ग साधनोंपर बहुत सुन्दर विचार प्रकट किये हैं। इन अन्तरङ्ग-साधनोंमें हमें भक्तिके सदाचार सर्वत्र आसानीसे देखनेको मिलते हैं। देवर्षि नारदकी भक्ति-साधनाके निदर्शक ये सूत्र देखिये—

'अव्यावृतभजनात्। लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवण-कीर्तनात्। मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपा-लेशाद् वा।' (नारदभक्तिसूत्र ३६–३८)

इन सूत्रोंको अच्छी तरहसे विचार करनेपर विषयों-की अनासक्ति, अखण्ड भगवद्भजन और प्रमुखतासे साधुसङ्गति—ये ही भक्तिके अन्तरङ्ग-साधन दीखते हैं। नारदप्रोक्त साधनोंकी दृष्टिसे शब्दादि विषयोंके

प्रति एकाएक अनासक्ति कठिन ही है । शास्त्रोंके अनुसार विधिवत् विषयोंका सेवन करनेसे धीरे-धीरे अनासक्ति होती है । 'विधीने सेवन त्यागतें समन'—ऐसा श्रीसंत एकनाथजीका अभिप्राय है । अहंकाररहित भावनाके साथ वेदविहित सत्कर्म करनेसे भक्तिसम्पन्नता प्राप्त होकर मन शुद्ध होता है और इस शुद्धचित्तमें परमात्मा प्रकट होता है, ऐसा संतोंका अनुभव है । इसी प्रकार श्रीआद्यशंकराचार्यका कथन है—**'शुद्ध्यति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमृते'** (प्रबोधसुधा० १६७)

अपना वेदविहित कर्तव्य करते हुए भी अखण्ड भगवत्प्रेमके रंगमें रँगना हमारे लिये आवश्यक है—**'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च'**। भगवान्का कीर्तन एकान्तमें मनमें और जनसमुदायमें मुँहसे बोलकर किया जाय। भगवान्का नाम-संकीर्तन सबसे सरल और श्रेष्ठ भक्तियुक्त सदाचार है । भगवान्का गुण-संकीर्तन या नाम-स्मरण कैसे किया जाय—इसका निर्देशक श्रीगौराङ्ग महाप्रभुका—**'तृणादपि सुनीचेन'** इत्यादि श्लोक प्रसिद्ध है । सत्कर्मकी प्रवृत्ति, भजनकी चाह, दुर्बुद्धिका नाश आदिके लिये संतोंकी संगति भी आवश्यक है—**'सतां संगतिर्ह्यत्र प्रथमं साधनं स्मृतम्'** । श्रीरामजीने भी शबरीको उपदेश देते हुए बताया था—संत-संगति मिले, भजनमें रुचि पैदा हो, ईश्वरका स्वरूप आँखोंमें और चित्तमें बसे और शुद्ध आचरणकी प्रेरणा मिले । इन्हें ही प्राप्त करनेके लिये तुकाराम आदि महाराष्ट्रीय संतोंने पंढरी और आलंदी-की यात्रादि नियमपूर्वक करनेका मीठा उपदेश सामान्य जन-समाजको दिया और जगत्का उद्धार किया ।

नारदजीद्वारा प्रणीत भक्तिके आन्तरिक साधनोंको ठीक ढंगसे आचरणमें लानेके लिये दैवीसम्पत्तिसे युक्त सदाचारकी नितान्त आवश्यकता है । श्रीनारदजीने भी अपने भक्तिसूत्रमें महत्त्वपूर्ण ऐसे दैवी गुणोंके सम्बन्धमें भक्तोंको अमृतमय उपदेश किया है। दैवी गुणोंके सम्बन्धमें उपदेश करते हुए श्रीनारदजी कहते हैं—**'अहिंसासत्यशौचदयाऽऽस्तिक्यादि चारित्र्याणि परिपालनीयानि'** (सूत्र ७८) ईश्वर सर्वत्र है—यह भावना स्थिर रखकर दूसरेको मन, वचन या कर्मद्वारा किसी प्रकारका कष्ट न पहुँचाया जाय, यह अहिंसाका स्वरूप है । प्रिय भाषणके साथ ही सत्यभाषण भी होना बहुत आवश्यक है । मात्र प्रिय भाषण हितसाधक न होगा । शौचका तात्पर्य अन्तर्बाह्य-शुचितासे है । दयाका आविष्कार कायिक, वाचिक और मानसिक परोपकारके कार्योंमें होता है । दयाकी बहुत बड़ी पूँजी भगवद्भक्तोंके पास होती है । भगवान्, गुरु, संत, वेद, विप्र इनका आस्तिक्यपर पूर्ण श्रद्धा होना आवश्यक है; यह दैवी गुणोंका पवित्र स्वरूप है । इन दैवी गुणोंके सदाचारका अभेद्य कवच भगवद्भक्त सदा धारण करते हैं ।

प्रेममय भगवान्को जो भाये वे वही करें, पर जिससे भगवद्भक्तिकी वृद्धि हो, हम ऐसा बर्ताव करें, ऐसी निष्ठा भक्तकी ही होती है। इस निष्ठाके अनुसार वे अपना जीवन विपुल सुन्दर सदाचारोंसे सम्पन्न करते हैं ।

नारदजीने ठीक ही कहा है—

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधककर्माण्यपि करणीयानि ॥

(भक्तिसूत्र ७६)

अतः साधकगण भागवत, रामायण, ज्ञानेश्वरी आदि भक्तिप्रधान ग्रन्थोंका मनन करें और भक्तिका विरोध करने-वाले असदाचारोंका भक्तजन आचरण न करें । भक्तों-साधुओंके दिव्य जीवनमेंसे सदाचार उतरे थे और इन सदाचारोंके द्वारा भागवत-धर्म वृद्धिगत हुआ और अनेक साधकोंको इससे श्रीहरिकी प्राप्ति हुई । इससे उनके धर्म-कर्म और जीवन सर्वथा मङ्गलमय हुए ।

सदाचारका सर्वोत्तम स्वरूप—भगवद्भजन

(लेखक—श्रीराजेन्द्रकुमारजी धवन)

श्रीलाभसुभगः सत्यासक्तः स्वर्गापवर्गदः।
जयतात् त्रिजगत्पूज्यः सदाचार इवाच्युतः॥
(चारुचर्या १)

सदाचार भगवान् अच्युतकी भाँति त्रिलोकीमें पूज्य और विजयी हो। यह सदाचार भी विष्णुके ही समान श्रीलाभयुक्त, सौभाग्यशाली, सत्यासक्त* तथा स्वर्ग एवं मोक्षको प्रदान करनेवाला है। जो आचरण **'सत्'** हो वह सदाचार कहलाता है। साधु पुरुषोंके सभी आचरण 'सत्'—भले होनेके कारण सदाचार कहलाते हैं—**'साधूनां च यथावृत्तमेतदाचारलक्षणम्।'**
(महाभारत अनु० १०४। ६)

श्रीभगवान्के निमित्त जो कर्म किये जाते हैं, उन्हें भी सत् या भगवद्भजन कहते हैं—**कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते** । (गीता १७। २७)। अतएव भगवान्का भजन ही सदाचारका मूल स्वरूप है। बिना भगवद्भजनके कोई पुरुष सदाचारी नहीं बन सकता। इसीलिये कहा गया है कि दुराचारी पुरुष भगवान्का भजन नहीं करते—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
(गीता ७। १५)

'मनुष्योंमें नीच एवं मूढ़ दुराचारी पुरुष मुझको नहीं भजते।' परंतु इसके विपरीत 'यदि कोई अतिशय दुराचारी पुरुष भी भगवान्का अनन्यभावसे भजन करता है तो वह भगवद्भजनमें दृढ़ निश्चय रखनेवाला शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और सदा रहनेवाली परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।'

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
(गीता ९। ३०-३१)

भजन करनेवालोंमें निम्नविदित २६ दैवी सम्पदा या सदाचार गुणोंका आविर्भाव होता है। १—भयका सर्वथा अभाव, २—अन्तःकरणकी भलीभाँति शुद्धि ३—तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति, ४—सात्त्विक दान (गीता १७। २०), ५—इन्द्रियोंका दमन, ६—यथाधिकार अनेक प्रकारके यज्ञ (गीता ४। २४—३३), ७—सत्-शास्त्रोंका अध्ययन एवं भगवन्नामका जप-कीर्तन, ८—स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहना, ९—शरीर, मन और इन्द्रियोंकी सरलता, १०—मन-वाणी-शरीरसे किसी भी प्राणीको कष्ट न देना, ११—सत्य, प्रिय और हितकर भाषण, १२—क्रोधका सर्वथा अभाव, १३—शरीरादि सांसारिक पदार्थोंमें अहंता-ममताका त्याग, १४—चित्तकी चञ्चलताका नाश, १५—किसीकी निन्दा न करना, १६—सभी प्राणियोंपर हेतुरहित दया, १७—विषयभोगोंमें आसक्तिका न होना, १८—कठोरताका सर्वथा अभाव, १९—ईश्वर और शास्त्रके विरुद्ध कर्म करनेमें लज्जा, २०—मन-वाणी-शरीरसे व्यर्थ चेष्टा न करना, २१—तेजस्विता (ब्रह्मचर्य), २२—क्षमा अर्थात् अपना अपराध करनेवालेको किसी प्रकारके दण्ड देनेकी इच्छा न रखना, २३—धैर्य अर्थात् भारी-से-भारी दुःख आनेपर भी स्वधर्मका त्याग न करना, २४—बाहर-भीतरकी शुद्धि, २५—किसीके भी प्रति शत्रुभावका न होना, २६—अपनेमें किसी भी प्रकारका अभिमान न होना।

ये गुण भगवत्कृपासे ही आ सकते हैं। इन्हें अपना अर्जित मानकर कभी मनमें आसक्ति या अहंकार नहीं करना चाहिये; क्योंकि अहंकार आसुरी सम्पदाका लक्षण है।

* भगवान् कृष्ण सत्य (सत्या)में आसक्त कहे गये हैं और सदाचार सत्य वचनमें।
(श्रीकृष्णकी सत्या और सत्यभामा दो पट्टमहिषी प्रसिद्ध थीं)

वास्तवमें जिसके भीतर दैवीसम्पदाके गुण होते हैं, उस भगवद्भक्तको वे (गुण)दीखते ही नहीं हैं।

भगवद्भक्त तो गुणोंको भगवान्‌का और दोषोंको अपना समझते हैं—**गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा॥** (मानस० २। १३०। २)

अतएव दैवीसम्पदा भगवान्‌की होनेके कारण उन्हींकी कृपासे प्राप्त हो सकती है। गोस्वामीजी कहते हैं—

यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई॥
(मानस० ४। २०। ३)

क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटहिं सकल राम की दाया॥
(वही ३। ३८। २)

इसलिये दैवी-सम्पदाको प्राप्त करनेका सबसे सुगम उपाय भगवान्‌का भजन ही है—

मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥
(मानस० १। १९९। ३)

भगवद्भजनके बिना प्रथम तो दैवीसम्पदाके गुण अपनेमें आते ही नहीं और यदि किसी प्रकार आ भी जायँ तो वे अधिक समयतक टिकते नहीं। यह जीवात्मा परमात्माका ही अंश है—**'ममैवांशो जीवलोके'** (गीता १५। ७), इसलिये दैवीसम्पदा भी हमारे भीतर सहजरूपसे विद्यमान है। परंतु हमने अपने वास्तविक स्वरूपको भुला दिया है और मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा शरीरादिको ही अपना मानकर उनमें अहंता-ममता कर ली है, इसी कारण वे गुण लुप्त हो गये हैं। अतएव यदि हम इन सबमेंसे अपनापन हटा दें और भगवान्‌के साथ अपनापन जोड़ दें तो ये गुण स्वाभाविकरूपसे हममें आ जायँगे। 'सत्' (परमात्मा) के साथ सम्बन्ध होनेपर सद्गुण-सदाचार स्वाभाविक ही हममें आ जायँगे—

जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा।
(मानस ४। १३। ४)

इसलिये स्वार्थ और अभिमानका सर्वथा त्याग करके निरन्तर भगवद्भजन करना ही सदाचारका सर्वोत्तम स्वरूप है।

ये कामक्रोधलोभानां वीतरागा न गोचरे।
सदाचारस्थितास्तेषामनुभावैर्धृता मही॥
(विष्णुपुराण ३। १२। ४२)

'जो वीतराग महापुरुष कभी काम, क्रोध और लोभादिके वशीभूत नहीं होते तथा सर्वदा सदाचारमें स्थित रहते हैं, उनके प्रभावसे ही पृथ्वी टिकी हुई है।'

असत्-मार्गका त्याग

गृहस्थीमें रहते हुए ही यदि साधक बनना हो, तो सत्-मार्गका ग्रहण और असत्-मार्गका त्याग ही करना चाहिये; क्योंकि कुबुद्धि छोड़े बिना सुबुद्धि नहीं आ सकती। अतएव कुबुद्धि और असत्-मार्गको छोड़ना ही गृहस्थ या संसारी मनुष्यका त्याग है। प्रपञ्चको बुरा समझकर, मनसे जब विषयोंको त्याग दिया जाता है, तभी आगे चलकर परमार्थका मार्ग मिलता है। नास्तिकता, संशय और अज्ञानका त्याग धीरे-धीरे होता है। उपर्युक्त आन्तरिक त्याग तो सांसारिक और निःस्पृह (वैरागी) दोनों ही व्यक्तियोंमें अच्छी तरहसे होना चाहिये।

—दासबोध

सदाचार और भक्ति

(लेखक—आचार्य डॉ० श्रीसुवालालजी उपाध्याय, 'शुकरत्न', एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्याचार्य, शिक्षा-शास्त्री)

सदाचार मनुष्यजीवनका शतदल कमल है और उसका चतुर्दिक् फैलता हुआ सौगन्ध्य मानव-समाजकी प्राणशक्ति है। पर वह विद्युत्‌की तरह क्षणिक कौंधकर और चमत्कृतकर लोगोंको अँधेरेमें नहीं डालता। उसके सौन्दर्यकी उरुज्योति विराट् विश्वको वशीकृत करनेमें समर्थ है। वह अँधेरी गलियोंमें भटकते हुए जीवोंको सार्थकता प्रदान करता हुआ विश्वको महाकल्याणके मार्गतक पहुँचानेवाला महासेतु है। उसी ज्योतिशिखासे प्रकाशित, प्रज्वलित जीवनके जाज्वल्यमान क्षण इतिहासकी धाराको बदलते तथा उसे गति प्रदान करते हैं।

सदाचारका महत्त्व धर्मकी प्रत्येक स्थिति और भूमिकामें स्वीकार किया गया है; क्योंकि मानसिक हलचल और वासनाके व्याकुल आवेगोंसे अक्षुब्ध रहना प्रत्येक कार्यसाधनमें आवश्यक है। दुष्कर्मोंसे नाता तोड़े बिना परम सत्यको नहीं पाया जा सकता। साधकको अपनी समूची सत्ताको दिव्यतासे मण्डित करनेका प्रयत्न करना पड़ता है, तभी सदाचारमय जीवन बनता है; किंतु जिस प्रकार स्वास्थ्यकी उपेक्षा करनेवाला अपने स्वास्थ्यको चौपट कर लेता है, वैसे ही पवित्र और नैतिक नियमोंकी उपेक्षा करनेवाला अपने उच्चतर और दिव्यजीवनको भी नष्ट कर डालता है। इसलिये सदाचारकी श्लाघा और अनाचारकी निन्दा की गयी है। परंतु भक्तिकी एक दुर्लभ विशेषता है। जब परमोज्ज्वल प्रभु-भक्तिके अङ्कुर फूटकर फैलने लगते हैं, तब अमल, अखण्ड और प्रतिपल नव-नव भक्तिके रसास्वादनमें डूबे हुए भक्तके जीवनमें असत् प्रवृत्तियोंके आनेका अवसर ही नहीं मिलता। जब वह प्रभु-प्रेरित प्रत्येक परिस्थितिको सहर्ष स्वीकार कर लेता है, तब वह उनके हाथका केवल यन्त्र बनकर जीवनको बहाता चलता है। उसमें वासनाओंका निर्माण नहीं होता और अहंकार एवं वासनाओंकी पुकारके न होनेसे उसमें 'अशुभ' और 'बुराई'के अनेक प्रश्न भी नहीं उठते। उसके जीवनमें केवल शुभ और सद्गुणोंके ही फूल खिलते हैं। उसका सारा जीवन उन सुगन्धोंसे सुवासित हो जाता है।

परम प्रभु भक्तके जीवनके केन्द्रबिन्दु बन जाते हैं, इसलिये उससे प्रेम विकीर्ण होता है और सत्कर्म अपने-आप होते चलते हैं। वह अपनी गहराइयोंमें रहता है और जीवन अपने-आप उमड़ता है। जिसके हृदय-मन्दिरमें अखिल गुणसागर प्रभु ही आकर बैठ गये हों, वहाँ दुर्गुणोंके आनेका साहस कैसे होगा?—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना
सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो बहिः॥
(श्रीमद्भा० ५। १८। १२)

सदाचारकी खोजमें भटकते हुए समाज और राष्ट्रके लिये यह बहुत बड़ी उपलब्धि है। भक्तके मनमें यह विश्वास रहता है कि उसके प्रभु सर्वज्ञ हैं और सभीके भीतर निवास करते हैं। सर्वज्ञ होनेके कारण वे उसके मनके संकल्प और उसके मस्तिष्कके विचारतकको जान लेते हैं; अतः वह किसी कुकर्मका विचार कैसे कर सकता है? श्रीरूपगोस्वामीने भक्तिके लक्षणमें **'अन्याभिलाषिताशून्यम्'** भी जोड़ा है। इसका तात्पर्य है कि उत्तमा भक्ति वही है, जिसमें श्रीकृष्ण-सेवा-कामनाको छोड़कर और कोई भी कामना न हो, यहाँतक कि श्रीकृष्ण-सेवासे उत्पन्न होनेवाले अपने सुखकी गन्धमात्र भी जहाँ न हो।

भक्तकी चित्तवृत्तियोंकी किसी प्रकारकी बहिरङ्गता स्वतः बन्द हो जाती है। वह प्राणिक आवेगों और इन्द्रियोंकी पकड़से भी बाहर निकल जाता है। इन्द्रियाँ उसे परमात्मातक पहुँचानेके लिये मानो यन्त्र बन जाती हैं। शक्करका दाना सागरमें घुलकर फिर कभी शक्कर नहीं बनता। श्रीहरिरामजी व्यास लिखते हैं कि भक्तिके इस रससिन्धुकी माधुरी अनन्त अगाध है। जिसके तन-मनमें यह रस पैठ जाता है, उसे फिर संसारमें कुछ और नहीं सुहाता। इसके सुखके सामने और सुख हवामें पत्तेके समान उड़ जाते हैं—**'यह सुख देखत व्यास और सुख उड़त पुराने पात'** (व्यासवाणी, पृ० ३०, पद ७२)। रसिक भक्त इस सुखके सामने कोटि-कोटि मुक्तियोंको ठोकर लगा देता है—**'अलिकुल नैन चषक रस पीवत कोटि मुक्ति पग ठेली'** (वही पद ४९)। गीतामें भी अत्यन्त सरस रीतिसे इस भावको व्यक्त किया गया है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
(१०।९)

कामनाएँ—इच्छाएँ अहंकारको तृप्त करती हैं और अहंकार तीव्रतासे घूमती हुई फिल्म-जैसा है, प्रतिपल दीयेकी ज्योति-जैसा होता है। अतः मनुष्यकी कामनाओंका कोई अन्त नहीं है। कामनाएँ घूम-घूमकर अनेक द्वारोंसे हमें पकड़ती हैं। जीवनकी यह जो चारों तरफ दौड़ है, कामनाओंकी इन पर्तोंको छीले या उखाड़े बिना जीवनकी परम सम्पदाको पाने या जीवनकी गहराईमें उतरनेका दूसरा कोई भी उपाय नहीं है। हम जगत्में जितने पथोंका निर्माण करते हैं, वे सभी कामनाओंके पथ हैं और कामनाओंसे भरा हुआ चित्त कभी भी जीवनकी अतल गहराईके दरवाजे नहीं खोल सकता। परम रसको पानेके लिये हमें उसे प्रभु-भक्तिकी अनन्त लहरोंसे भरना होगा। यही **'अन्याभिलाषिताशून्यम्'** है। यह कृष्ण-भक्तिकी विशेषता है कि उससे हृदयके लबालब भर जानेपर कामनाओंके कलुष अपने-आप धुल जाते हैं—

शुद्ध्यति हि नान्तरात्मा कृष्णपदाम्भोजभक्तिमृते।
वसनमिव क्षारोदैर्भक्त्या प्रक्षाल्यते चेतः॥
(प्रबोधसुधा० १६७)

भक्तिका एक भेद 'शुभदा' भी है। शुभके भी चार भेद बताये गये हैं—

शुभानि प्रीणनं सर्वजगतामनुरक्तता।
सद्गुणाः सुखमित्यादीन्याख्यातानि महर्षिभिः॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व० १।१६)

१—समस्त जगत्को संतुष्ट करना, २—जगत्के समस्त प्राणियोंका अनुराग प्राप्त करना, ३—सद्गुणोंकी प्राप्ति और ४—सुख। जब मनुष्यके जीवनकी सारी ऊर्जा भक्तिके बिन्दुपर दौड़ने लगे, जब जीवनकी सारी किरणें प्रेम-पर ही ठहर जायँ तो उसके लिये समस्त जगत् प्रेम, मैत्री, करुणा और आनन्दसे भर उठता है। उस समय मनुष्यकी स्वार्थपूर्ण संकीर्ण वृत्ति समाप्त हो जाती है, उसके हृदयकी मलिनता धुल जाती है। आज हम मानव-इतिहासके बहुत ही उत्तेजनापूर्ण युगके द्वारपर खड़े हैं। विज्ञान और टेक्नालोजी—आधुनिक युगके आश्वासन और विनाश दोनोंसे भरे हैं। हम उनके द्वारा एक-दूसरेको प्रकाशित भी कर सकते हैं और नष्ट भी। ऐसी स्थितिमें समस्त जगत्को तृप्त करनेका संकल्प लेकर चलनेवाला भक्तिका यह गुण मनुष्य-मनको सद्भाव, सहयोग और मैत्रीकी किरणोंसे भर सकता है, जिससे एक-दूसरेसे लड़ना छोड़कर हम साथ-साथ सुखपूर्वक रह सकते हैं तथा मानवीय चेतनाको बन्दी बनानेवाली कट्टरतासे भी मुक्त हो सकते हैं। मनुष्य-जातिके लिये यह कितना बड़ा आश्वासन है!

तत्त्वतः, मनुष्य-जाति एक ही सूत्रमें गुँथी हुई है। जब भक्ति इस परम सत्यके अनुभवतक ले पहुँचती है,

तब स्वार्थकी परिधियाँ और भेदकी दीवारें लड़खड़ाकर टूटकर गिर जाती हैं। भक्त अपने उपास्यके विग्रहोंमें ही सम्पूर्ण विश्वको समेट लेता है, फिर वह किससे द्वेष करे, किससे घृणा! उसके लिये पूरी धरती ही मन्दिर बन जाती है। इसीलिये कहा गया है कि जिसने भगवान्‌को संतुष्ट कर लिया, उसने सारे जगत्‌को तृप्त कर दिया। उसके प्रति जगत्‌के समस्त प्राणी और स्थावर भी अनुरक्त हो जाते हैं—

येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि।
रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जङ्गमाः स्थावरा अपि॥
(पद्मपुराण)

वेदोंसे लेकर सम्पूर्ण भारतीय धर्मशास्त्रके ग्रन्थोंमें सदाचारके अतिशय महत्त्वका वर्णन उपलब्ध होता है। अथर्ववेदके 'पृथिवी-सूक्त'में कहा गया है कि '**बृहद्** सत्य (विशाल सत्य), उग्र ऋत (कठोर अनुशासन), दीक्षा (दृढ़ संकल्प), तप (मनः-संयम तथा शरीर-श्रम), ब्रह्म (विवेक) और यज्ञ आदि श्रेष्ठ गुण ही पृथ्वीको धारण करते हैं'—**सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति** (अथर्व० १२।१।१)

वैदिक वाङ्मयमें ऋतकी बड़ी गहन और व्यापक चर्चा मिलती है। वेदका यह ऋत शब्द ही अंग्रेजी-में राइट हो गया है। कठोपनिषद्‌का एक सुन्दर मन्त्र है, जिसके अनुसार जिसने बुरे आचरणका त्याग नहीं किया, जो अशान्त है, जिसका चित्त असमाहित है, वह प्रज्ञानसे—केवल बुद्धिवादसे वास्तविक तत्त्वको नहीं पा सकता (१।२।२४)। मनुस्मृति (४।१५५)में भी श्रुति एवं स्मृति-कथित धर्मके मूल सदाचाररूप कर्मों-का आलस्यरहित होकर सेवन करनेका आदेश है— और यह भी कहा गया है कि सदाचारहीन मनुष्यको वेद भी पवित्र नहीं कर सकते, भले ही उसने वेदोंका छहों अङ्गोंके साथ पाठ किया हो। महाभारतके अनुसार केवल विद्या या तपसे कोई पात्र नहीं बनता, किंतु जिस पुरुषमें सदाचार तथा ये दोनों विद्याएँ और तप भी हों, उसीको पात्र कहा गया है—

न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम्॥
(महा० शान्तिपर्व २००)

विष्णुधर्मोत्तरमें कहा गया है—जो अहिंसा, सत्य-वादिता, दया और सभी लोगोंपर करुणासे भरा हुआ है, हे राम! उससे केशव प्रसन्न रहते हैं—

अहिंसा सत्यवचनं दया भूतेष्वनुग्रहः।
यस्यैतानि सदा राम तस्य तुष्यति केशवः॥
(१।५८)

भक्तिरसामृतसिन्धुमें श्रीरूपगोस्वामीने साधन-भक्ति-के जिन ६४ अङ्गोंका वर्णन किया है, उनमें सदाचार-के प्रायः सभी श्रेष्ठ नियम अन्तर्भूत हो जाते हैं। इस प्रकार भक्ति और सदाचारका अविच्छिन्न सम्बन्ध है। श्रुति और स्मृति भगवान्‌की आज्ञा है, उनमें निर्दिष्ट सदाचारके नियमोंके निरन्तर तथा नियमित पालनसे भक्त शीघ्र ही भगवत्कृपा प्राप्त करनेका अधिकारी बन जाता है। बस, यही सदाचारका फल है। भगवत्कृपा अन्तिम लक्ष्य है। उसके प्राप्त कर लेनेपर—'**न किञ्चिदवशिष्यते**'—कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता।

भजनमार्गके बाधक

काम-क्रोध बड़े ही क्रूर हैं, इनमें दयाका नाम नहीं, इन्हें काल ही समझो। ये अज्ञाननिधिके साँप, विषयकन्दराके बाघ और भजनमार्गके घातक हैं। ये जलमें नहीं, विना जलके ही डुबो देते हैं, बिना आगके ही जला देते हैं और बिना शस्त्रके ही मार डालते हैं।

—संत ज्ञानेश्वर

सदाचारकी प्रेरणा-भूमि—सत्सङ्ग

(ले०—श्रीमती डॉ० धनवतीजी)

मानवका मन, वचन और कर्मद्वारा सत्य और प्रेमयुक्त व्यवहार ही सदाचार है। शिष्ट चरित्रके सभी गुण, विनय, धैर्य, संयम, आत्मविश्वास, निर्भीकता, दानशीलता, उदारता आदि सदाचारमें समाहित हैं। ये सद्गुण स्वभाव तथा सिद्धान्तमें जितने सरल हैं, जीवनके व्यवहारमें उतने ही कठिन हैं। इन गुणोंके आधारपर जहाँतक मानवके आचार-विचारका प्रश्न है, वह इस क्षेत्रमें सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। पूर्वजन्मके संचित संस्कार, वंश-परम्परा तथा वातावरणका आचार-विचारपर व्यापक प्रभाव रहता है। संचित कर्मके लिये **'जैसा बोया वैसा काटो'** कहना ही पर्याप्त है तथा वंश-परम्पराके लिये—**'बापपर पूत जातिपर घोड़ा, बहुत नहीं तो थोड़ा-थोड़ा।'** कहा जाता है।

इसके पश्चात् आता है—परिवेश या वातावरण। वातावरणके प्रभावका दृष्टान्त है—**काजरकी कोठरीमें कैसो हू सयानो जाय, एक लीक काजरकी लागि है पै लागि है।'**

यह है—दूषित वातावरणका प्रभाव, जहाँमनुष्यका सयानापन भी काम नहीं आता। ठीक इसी प्रकार अच्छे वातावरणके प्रभावकी बात कबीरने भी इस दोहेमें कही है—

कबिरा संगत साधकी, ज्यों गंधीकी बास।
जो कछु गंधी दे नहीं, तो भी बास सुबास॥

अब आती है, सदाचारकी बात। इसमें संदेह नहीं कि कुछ लोग जन्मसे ही सदाचारी होते हैं, उनके लिये किसी प्रकारकी शिक्षा-दीक्षा अपेक्षित नहीं होती, उनके पूर्वजन्मके संचित पुण्य ही उन्हें सदाचारी बनाये होते हैं। ऐसे सदाचारी व्यक्तियोंसे ही समाज गौरवान्वित और जन-मानस पवित्र होता है। किंतु जो लोग जन्मना सदाचारी नहीं हैं; साधारण हैं, सामान्य है, वे क्या करें?', यह एक प्रश्न है और इसका उत्तर है—उनके लिये प्रेरणा-भूमि है—सत्सङ्ग। सत्सङ्ग भी दो प्रकारका होता है—(१) साधु, सज्जनों तथा संतोंका सतत सांनिध्य एवं (२) सत्साहित्यका श्रवण, मनन तथा अध्ययन।

जहाँतक साधु-संतोंके सतत सामीप्यका प्रश्न है, सूरदासजीके अनुसार तो—

जा दिन संत पाहुने आवत।
तीरथ कोटि सनान करे पल, जैसो दरसन पावत॥

और कबीर पहले ही कह चुके हैं—

कबिरा सोई दिन भला, जा दिन संत मिलाहिं॥
अंक भरे भर भेटिया, पाप सरीरो जाहिं॥

केवल दर्शन और स्पर्शमात्र करोड़ों तीर्थोंमें स्नान करनेका फल तथा पाप काटनेकी सामर्थ्य रखता है। इसपर कोई शङ्का न कर बैठे, अतएव तुलसीदासजीने उदाहरण देकर बतलाया है—

धूमउ तजइ सहज करुआई। अगरु प्रसंग सुगंध बसाई॥

यह है सत्सङ्गतिका प्रभाव—जिसमें विषैला धुँआ देव-अर्चनाका साधन बनाता है तथा कठोर धातु सुहावना स्वर्ण। कुछ अन्य उदाहरण देखिये—

काचः काञ्चनसंसर्गाद्धत्ते मारकतीं द्युतिम्।
तथा सत्संनिधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम्॥
कीटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः।
अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः॥

(हितोप०, प्रस्ता० ४२, ४६)

एक छोटा-सा उदाहरण और—गुलाबके नीचेकी मिट्टीको मालीने सूँघा और आश्चर्यमें पड़ गया—अरे मिट्टीमें गुलाबकी गन्ध! यह है मिट्टीका गुलाबकी पँखुड़ियोंसे सतत सांनिध्यका परिणाम। ठीक इसी प्रकार मूर्ख तथा दुर्जन व्यक्ति भी सत्सङ्गसे सदाचारी बन जाते हैं।

अकेला आदिकवि वाल्मीकिका उदाहरण ही पर्याप्त है। वर्तमान समयमें भी सैकड़ों मनुष्य सज्जनोंके सम्पर्कसे साधु-जीवन व्यतीत करनेकी शपथ ले चुके हैं। आजके हिन्दीके एक विद्वान्ने लिखा है कि रवीन्द्रनाथके पास बैठकर मुझे ऐसा अनुभव होता था, मानो भीतरका देवता जागकर समस्त सद्वृत्तियोंको जगा रहा है।

सत्सङ्गका दूसरा साधन है—सत्-साहित्यका श्रवण, मनन या अध्ययन। सत्यहरिश्चन्द्रका नाटक देखकर गाँधीजी ऐसे प्रभावित हुए कि सत्य उनके जीवनका लक्ष्य बन गया और इसीके प्रभावसे वे सदाचारी 'महात्मा' हो गये तथा जन-जनकी पूजाके अधिकारी बन गये। सत्-साहित्यके सतत अध्ययनसे जड-मानसपर भी पत्थरपर रस्सी घिसने-जैसा कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ता ही है। व्यावहारिक जीवनमें अच्छे गुणोंका प्रादुर्भाव हो, इसके लिये धर्म-ग्रन्थोंका नियमित पाठ तथा नैतिक शिक्षाकी आवश्यकता बार-बार दोहरायी जाती है। प्रायः देखा जाता है कि सत्-साहित्यके अध्ययनसे लोगोंका जीवन-दर्शन ही बदल जाता है, दुर्गुणोंको छोड़ वे प्रसन्नतापूर्वक सद्गुणोंको अपना लेते हैं। यही है—सत्सङ्गकी प्रेरणा, जो मनुष्यको सदाचारकी ओर प्रेरित करती है।

भक्त तुलसीने तो स्पष्ट ही कह दिया है कि 'सदाचारकी प्रेरणा-भूमि 'सत्सङ्ग' ही है।' तुलसीके शब्दोंमें—

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ बेद न आन उपाऊ॥
(मानस १। २। ३)

अच्छे गुण, वस्तु या सदाचारको प्राप्त करनेका भी एकमात्र साधन सत्सङ्ग ही है; क्योंकि तथ्य है कि 'बिनु सत्संग बिबेक न होई।' और, विवेकके बिना सदाचारकी कल्पना ही हास्यास्पद है। सदाचारका शम्बल विवेक ही है। निष्कर्षरूपसे कहना चाहिये कि सदाचारकी प्रेरणा-भूमि सत्सङ्ग ही है।

स्वावलम्बन

बंगालके एक छोटे-से रेलवे-स्टेशनपर ट्रेन खड़ी हुई। स्वच्छ धुले वस्त्र पहने एक युवकने 'कुली! कुली!!' पुकारना प्रारम्भ किया। युवकके पास कोई भारी सामान नहीं था। केवल एक छोटी पेटी थी। भला, देहातके छोटे-से स्टेशनपर कुली कहाँ! परंतु एक अधेड़ व्यक्ति साधारण ग्रामीण-जैसे कपड़े पहने युवकके पास आ गया। युवकने उसे कुली समझकर कहा—'तुमलोग बड़े सुस्त होते हो। ले चलो इसे!'

उस व्यक्तिने पेटी उठा ली और युवकके पीछे चुपचाप चल पड़ा। घर पहुँचकर युवकने पेटी रखवा ली और मजदूरी देने लगा। उस व्यक्तिने कहा—'धन्यवाद! इसकी आवश्यकता नहीं है।'

'क्यों?' युवकने आश्चर्यसे पूछा। किंतु उसी समय युवकके बड़े भाई घरमेंसे निकले और उन्होंने उस व्यक्तिको प्रणाम किया। अब युवकको पता लगा कि वह जिससे पेटी उठवाकर लाया है, वे तो बंगालके प्रतिष्ठित विद्वान् ईश्वरचन्द्र विद्यासागर हैं। युवक उनके पैरोंपर गिर पड़ा।

विद्यासागर बोले—'मेरे देशवासी व्यर्थ अभिमान छोड़ दें और समझ लें कि अपने हाथों अपना काम करना गौरवकी बात है—वे स्वावलम्बी बनें, यही मेरी मजदूरी है।'

पुरुषार्थचतुष्टयका मूल सदाचार

(लेखक—अनन्तश्रीविभूषित पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराज)

धर्मोऽस्य मूलं धनमस्य शाखा
पुष्पं च कामः फलमस्य मोक्षः।
असौ सदाचारतरुः सुकेशिन्
संसेवितो येन स पुण्यभोक्ता ॥*
(वामनपुराण १४ । १९)

छप्पय—

सदाचार अति सरस सुतरु सुन्दर सुखदाई।
जा पादप को मूल धरम ही दृढ़तर भाई॥
शाखा जा को अरथ, धरम धनतैं ही होवै।
काम सुमन कमनीय धरमयुत कामहिं सेवै॥
पुण्यवान पावन पुरुष, सदाचार तरु सेवहीं।
धरम, अरथ अरु काम सुख, मोक्ष परम फल लेवहीं॥

आचार शब्दका अर्थ है, जो आचरण किया जाय (**आचर्यत इति आचारः**)। इसे व्यवहार, चरित्र तथा **शील** भी कहते हैं। आचारसे ही धर्म होता है—**आचारप्रभवो धर्मः**। आचारसे हीन पुरुषको वेद भी पवित्र नहीं कर सकते—**आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः**। वह आचार कैसा हो, सद् आचार हो। सज्जन पुरुषों-द्वारा अनुमोदित आचार हो; अर्थात् साधु पुरुष, **सज्जन** पुरुष जिस व्यवहारको, जिस आचार-विचारको मानते हों, करते हों, उसीका नाम सदाचार है। **—सतां साधूनां य आचारः स सदाचारः।**

शास्त्रोंमें सदाचारकी बड़ी महिमा गायी गयी है। प्रायः सभी स्मृतियों तथा पुराणोंमें सदाचारके प्रकरण हैं। इनमें विस्तारके साथ सदाचारका वर्णन किया गया है। प्रातःकालसे लेकर शयनपर्यन्त जो-जो कर्म किये जाते हैं, वे सब आचार-व्यवहारके अन्तर्गत आते हैं। जो दुष्टलोगोंका आचार है, वह दुराचार कहलाता है और जो साधु-पुरुषोंका—दोषरहित निष्कल्मष पुरुषोंका आचरण है, उसीका नाम सदाचार है। प्रातःकाल उठकर सर्वप्रथम मङ्गलमय स्तोत्रोंसे प्रातःस्मरण करना चाहिये, जिसका जो इष्ट हो उस देवताका स्मरण करके यह प्रार्थना करे कि 'मेरा प्रभात मङ्गलमय हो।' हमारे यहाँ बहुतसे पुण्यपुरुष प्रातःस्मरणीय कहे जाते हैं, उनका प्रातःकालमें स्मरण करना मङ्गलमय माना जाता है; जैसे—भृगु, वसिष्ठ, क्रतु, अङ्गिरा, मनु, पुलस्त्य, पुलह, गौतम, रैभ्य, मरीचि, च्यवन, ऋभु, सनत्कुमार, सनक, सनन्दन, सनातन, आसुरि, पिङ्गल, सात स्वर, सात रसातल, पञ्चमहाभूत, सात समुद्र, सात कुलाचल, सप्तर्षि, सात द्वीप तथा सात भुवन—ये सब प्रातःस्मरणीय हैं। प्रातःकालमें इन सबके स्मरण करनेसे आत्मा शुद्ध होता है, क्षुद्रता नष्ट होती है और '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' की भावना जाग्रत् होती है। इस प्रकार जिन महापुरुषोंमें, गुरुजनोंमें अपनी श्रद्धा हो उनका **स्मरण** भी प्रातःकालमें करना चाहिये। फिर शय्यासे उठकर पृथ्वीमातासे प्रार्थना करे—हे माता! समुद्र ही आपके पहननेके वस्त्र हैं, पर्वत ही आपके **स्तनमण्डल** हैं, आप भगवान् विष्णुकी पत्नी हैं, मैं आपको

* सदाचार मानो एक वृक्ष है, जिसकी जड़ धर्म है और अर्थ अर्थात् धन इसकी शाखाएँ हैं। काम इस वृक्षके फूल हैं और मोक्ष इसका फल है। ऋषिगण सुकेशी राक्षससे कह रहे हैं—हे सुकेशिन्! जिस पुरुषने सदाचार-रूप वृक्षका भलीभाँति सेवन किया है, वह पुरुष पुण्योंका भोक्ता होता है, तात्पर्य यह कि पुण्यात्मा पुरुष ही सदाचारका सेवन करते हैं।

नमस्कार करता हूँ । हे जननी ! मैं आपके ऊपर पैर रखता हूँ । माँ ! मेरे इस अपराधको क्षमा कर देना—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले ।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे ॥

इस प्रकार पृथ्वीसे क्षमा-याचना करके उठे । फिर शौच-दन्तधावनसे निवृत्त होकर यथाविधि स्नान करे ।

पुराणोंके अनुसार शौच जानेके बाद मिट्टी लगाकर अङ्गोंको शुद्ध करे । कितने अंगुलकी किस मन्त्रसे दातुन करे, इन सब बातोंका आयुर्वेद तथा पुराणोंमें विस्तारसे वर्णन मिलता है । शौच-स्नान, दन्तधावन—सबके पृथक्-पृथक् मन्त्र हैं । फिर संध्या-वन्दन, जप, उपासना, हवन आदि जो अपने कुलका सदाचार हो, उन सब कर्मोंको करे और अपने वर्ण, आश्रम, पद-प्रतिष्ठाके अनुरूप धर्मपूर्वक स्वधर्मका पालन करे । अर्थका संचय करे, धर्मपूर्वक कामका सेवन करे । फिर मध्याह्नमें धर्मानुसार संध्या-वन्दन करके स्वाध्याय करे, प्रातःकाल महाभारत आदि शिक्षाप्रद ग्रन्थ पढ़े, सात्त्विक भोजन करे । मध्याह्नमें रामायण आदि मर्यादा-ग्रन्थोंको पढ़े । रात्रिमें भागवतादि सरस धर्म-ग्रन्थोंका अध्ययन करे । परायी स्त्रीको माताके समान समझे । पराये धनको मिट्टीके ढेलेके समान मानकर उसे लेनेकी इच्छा न करे, सबपर दयाभाव रखे । जिस कामसे अपनेको दुःख हो, जो आचरण अपनेको अच्छा न लगे, उसका व्यवहार दूसरेसे न करे । सबमें आत्मभाव रखे । सदाचारमें विधि-निषेधका ध्यान पग-पगपर रखा जाता है । ऋषियोंने, ब्रह्मवेत्ताओंने, साधुपुरुषोंने जिन बातोंका निषेध किया है, उन्हें कभी न करे—वे कदाचार हैं । जिन्हें कर्तव्य मानकर करनेके लिये कहा है, उनका आचरण करे—वे सदाचार हैं । हमारे यहाँ सदाचारपर सबसे अधिक ध्यान रखा गया है । दूसरेका अनादर न करे, किसीको कुछ भी दुःख न दे । बिना बिचारे यत्र-तत्र अशुद्ध अन्नका भक्षण न करे । कहावत है—'जैसा खाय अन्न वैसा बने मन्न' । इसलिये हमारे यहाँ शरीरशुद्धि, अन्नशुद्धि और रज-वीर्यशुद्धिपर सबसे अधिक बल दिया गया है । अन्नका प्रभाव शरीरपर अवश्य पड़ता है । यह बात द्रोणाचार्य और द्रुपदके आचरणसे सिद्ध होती है । प्रसंग निम्नाङ्कित है ।

द्रोणाचार्य और राजा द्रुपद एक ही गुरुकुलमें साथ-साथ पढ़ते थे । द्रुपद राजकुमार थे और द्रोणाचार्य निर्धन ब्राह्मण, किंतु गुरुकुलमें तो सभी छात्र समान-भावसे रहते थे, अतः द्रोणाचार्य और द्रुपदमें घनिष्ठ मित्रता हो गयी थी । द्रुपद कहा करते थे—विप्रवर ! जब मैं राजा हो जाऊँगा, तब आपका बड़ा सम्मान करूँगा । कालान्तरमें द्रुपद राजा हो गये । द्रोणाचार्य निर्धनतामें अपना जीवनयापन करने लगे । कृपाचार्यकी बहन कृपीके साथ उनका विवाह हो गया । अश्वत्थामा एक पुत्र भी हो गया, किंतु इतने भारी शास्त्रों और सर्वशस्त्रोंके वेत्ता होनेपर भी वे इतने निर्धन थे कि एक गौ भी न रख सकते थे !

अश्वत्थामाने अन्य ऋषि-बालकोंको दूधकी महिमा गाते देखकर अपनी माँसे दूध माँगा । माँने बहुत समझाया; किंतु बालहठ, बच्चा अड़ गया । 'मैं तो दूध पीऊँगा ही' । तब माताने जलमें आटा घोलकर बच्चेसे कहा 'ले यह दूध है, पी ले ।' बच्चेने पहले दूध कभी पिया नहीं था । आटेके जलको पीकर प्रसन्नतासे नाचता हुआ अन्य बालकोंसे कहने लगा—'मैं दूध पीकर आया हूँ ।' बच्चोंने उसका तिरस्कार करके कहा—'तेरे गौ तो है ही नहीं, दूध कहाँसे पिया ?' तब बच्चा रोने लगा । द्रोणाचार्यको बड़ा दुःख हुआ कि इतना भारी विद्वान्, शस्त्र-शास्त्रोंका महान् वेत्ता मैं एक गौ नहीं ला सकता । तब उन्हें द्रुपदकी याद आयी । वे द्रुपदके दरबारमें पहुँचे और मित्र-मित्र कहकर

राजासे मिलना चाहा । इधर राजा राजमदमें भरा सिंहासनपर बैठा था । उसने (कृष्णकी सुदामासे मिलने-जैसी बात तो दूर)समुदाचारका त्याग करके अपने उस सहपाठीका तिरस्कार किया । वह कहने लगा—'रे दरिद्र ब्राह्मण ! तू गुरुकुलकी उन बातोंको भूल जा । मैत्री बराबरवालोंमें होती है । तू निर्धन ब्राह्मण, मैं मूर्धाभिषिक्त राजा, मेरी-तेरी मित्रता कैसी ! तुझे 'सीधा' लेना हो तो यज्ञशालामेंसे सीधा ले ले, नहीं तो सीधे अपने घर चला जा ।' द्रुपदकी उक्तिमें दम्भ था, तिरस्कार था ।

ब्राह्मण उसके अपमानको सहन नहीं कर सका। यहाँ उन्होंने अपनी सहिष्णुताका त्याग कर दिया । ब्राह्मणको चाहिये कि अपमानको अमृत समझकर उसे सह ले और सम्मानको विष समझकर उससे उद्विग्न हो, किंतु बदला लेनेकी भावनासे द्रोणाचार्यने भीष्मपितामहके घरमें बच्चोंको पढ़ानेकी नौकरी कर ली । पहले आचार्योंका सदाचार यह था कि उनके घरमें विद्यार्थी पढ़ने आते थे और उन विद्यार्थियोंको भोजन देकर वे पढ़ाते थे । द्रोणाचार्यजीने इस समुदाचारके विरुद्ध आचरण किया । वे विद्यार्थियोंके घरपर भोजनके लिये स्वयं पढ़ाने गये ! वे प्रतिक्रियाशील हो गये । अपने अपमानको भूले नहीं । द्रुपदसे बदला लेनेके लिये अपने शिष्योंसे यही दक्षिणा माँगी कि तुम द्रुपदको जीवित पकड़ लाओ। गुरुकी आज्ञा थी—**'गुरोराज्ञा गरीयसी'** गुरुकी आज्ञाका पालन शिष्यका समुदाचार है—यह विचारना उसका काम नहीं है कि आज्ञाका औचित्य पक्ष है या नहीं—**'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया।'** बस कौरव-पाण्डव सेना लेकर चले गये और द्रुपदको पकड़ लाये । तब द्रोणाचार्यने व्यङ्गके स्वरमें कहा—'राजन् ! मैं आपसे मित्रता करना चाहता हूँ ।' लज्जित द्रुपदने कहा—'ब्रह्मन् ! अब तो मैं आपका बंदी हूँ, मित्रताकी क्या बात ?' आचार्यने उन्हें क्षमा नहीं किया । वे बोले—'मित्रता बराबरवालोंमें होती है ! तुम मुझे अब अपना आधा राज्य दे दो ।' इतना कहा ही नहीं, अपितु गङ्गाके उस पारका आधा राज्य आचार्यने ले ही लिया । यह ब्राह्मण-सदाचारके विरुद्ध कार्य हुआ । राजाने आधा राज्य दे दिया, किंतु क्षत्रिय ही था, उसने भी ब्राह्मणको क्षमा नहीं किया । शस्त्रोंद्वारा तो वह ब्राह्मणसे बदला ले नहीं सकता था, उसने अभिचारका आश्रय लिया । वह ऐसे ब्राह्मणकी खोजमें चला जो अभिचारकर्म (मारणका तान्त्रिक प्रयोग) करके द्रोणाचार्यको मार सके । सैकड़ों ब्राह्मणोंके पास गया, किंतु इस क्रूर कर्मको करनेके लिये कोई ब्राह्मण तैयार न हुआ । उस समय शङ्ख और लिखित दो भाई तन्त्र एवं कर्मकाण्डमें बड़े प्रवीण थे । राजा शङ्खके पास जाकर रोने लगा । उसने कहा—'ब्रह्मन् ! आप दुगुनी-चौगुनी—जितनी भी दक्षिणा कहेंगे, मैं दूँगा । आप द्रोणाचार्यको मारनेके लिये मारक अभिचार-यज्ञ करा दीजिये ।' शङ्खने कहा—'राजन् ! आप ऐसा सदाचार-हीन प्रस्ताव मुझसे न करें । भला, मैं दक्षिणाके लोभसे ब्राह्मणको मारनेका प्रयोग कैसे करूँ ? आप किसी दूसरे सदाचारहीन ब्राह्मणके पास जाइये ।' सदाचारी कभी अभिचारका प्रयोग नहीं करते ।

यह सुनकर राजा महर्षि शङ्खके पैर पकड़कर रोने और नाना भाँतिकी अनुनय-विनय करने लगा । तब ऋषिको दया आ गयी । वे बोले—'राजन् ! देखो, मैं स्वयं तो ऐसा अभिचार-प्रयोग करा नहीं सकता, किंतु आपको एक उपाय बता सकता हूँ ।'

राजाने कहा—ब्रह्मन् ! उपाय ही बताइये । तब शङ्ख महर्षिने कहा—'देखो, मेरा एक छोटा भाई है, उसका नाम है लिखित । वह अतीव सदाचारहीन है, वैसे है बड़ा विद्वान् । वह जब पढ़ता था तब भी बिना आचार-विचारके खा-पी लेता था । एक दिन हम और वह साथ जा रहे थे । मार्गमें एक फल पड़ा था । उसने बिना विचारे कि यह कैसा फल है, किसका है, बिना धोये उसे उठाकर खाने लगा । ऐसा सदाचारहीन व्यक्ति ही अभिचारका क्रूर कर्म कर सकता है ।' राजाके अनुनय-विनयसे लिखितने विद्वान् होते हुए भी सदाचारका त्याग करके द्रव्यके लोभसे द्रोणाचार्यको मारनेके लिये अभिचार-

यज्ञ कराया। उसी यज्ञसे धृष्टद्युम्न उत्पन्न हुआ, जिसने आगे चलकर द्रोणाचार्यका वध किया। उसी यज्ञसे द्रौपदी उत्पन्न हुई, जो महाभारत-युद्धकी कारण बनी। समुदाचारके परित्यागसे ही महाभारतका इतना भारी युद्ध हो गया, जिसमें असंख्य प्राणियोंका संहार हुआ! इसीलिये सदाचार सबके लिये सदा पालनीय है। कैसी भी विपत्ति पड़े, मनुष्यको सदाचारका परित्याग नहीं करना चाहिये। इसीलिये वामनपुराणमें कहा है—

तस्मात् स्वधर्मं न हि संत्यजेत
न हापयेच्चापि तथा स्ववंशम्।
यः संत्यजेच्चापि निजं हि धर्मं
तस्मै प्रकुप्येत दिवाकरश्च॥

छप्पय—

सदाचार ही मूल कबहुँ नहिं ताकूँ त्यागे।
कदाचार ही पाप दूरि नित तातेँ भागे॥
जो स्वधर्म कूँ त्यागि अन्य धर्महिं अपनावै।
ताकूँ होवै दुःख कबहुँ सुख वह नहिं पावै॥
द्रुपद, द्रोण अरु लिखित ने, सदाचार त्यागन कियो।
ताही तैं संहार नर समर महाभारत भयो॥

बहुतोंके मतमें महाभारत भारतके लिये अभिशाप बना।

सदाचार और पुरुषार्थ

(लेखक—श्रीरामनन्दनप्रसादसिंहजी एम्० ए०, डिप्० इन्० एड्०)

मानव-जगत्में पुरुषार्थ ऐसा प्रकाश-स्तम्भ है, जिससे मानवजीवनकी शक्ति, साहस और संकल्प जगमगा जाते हैं। सदाचारकी गङ्गोत्तरीसे संयमकी वह गङ्गा प्रस्रवित होती है, जो आगे चलकर शक्तिकी यमुना और उन्नतिकी सरस्वतीसे मिलकर जीवनकी त्रिवेणीके रूपमें परिणत हो जाती है और वह वहाँसे कृतार्थतारूपी मार्गको प्रशस्त करती हुई सफलता-सागरमें मिल जाती है। इतिहास इस बातका साक्षी है कि जो कर्मवीर अपने कर्मपथपर सदाचार, पुरुषार्थ और दृढ़ संकल्पके साथ आगे बढ़ता है, उसके मार्गसे विपत्तियाँ हट जाती हैं, संकटकी ऊँची घाटियाँ पराजित सिद्ध होती हैं और जगत्में उसे सर्वोच्च यश तथा सम्मान प्राप्त होता है। इसीलिये तो सदाचार उपादेय है।

अपने जीवनमें सफलताकी ऊँची चोटीपर पहुँचकर जो विजयका ध्वज फहराना चाहते हैं, उनके लिये पुरुषार्थ दिव्य प्रकाश-स्तम्भ और सदाचार सच्चे जीवन-शम्बलका कार्य करता है। उपन्याससम्राट् प्रेमचन्दजीकी सदुक्ति है—'सदाचारका उद्देश्य संयम है, संयममें शक्ति है और शक्ति ही उत्थानकी आधारशिला है।' एक पाश्चात्त्य दार्शनिकका कथन है कि सबसे शक्तिशाली व्यक्ति वह है, जो संयमी और सदाचारी है। संयमसे ही शारीरिक बल, मनोबल और आत्मबल दृढ़ होते हैं, अन्तर्द्वन्द्व मिटता है और चित्तकी एकाग्रता बढ़ती है। पुरुषार्थपर विश्वास ही मानवको श्रेष्ठ कार्योंके लिये प्रेरित करता है। सामाजिक उत्तरदायित्व, साहस, दृढ़ संकल्प और उच्च विचार मानव-जीवनमें आशाकी किरणें उतार लाते हैं। पुरुषार्थी और सदाचारी मनुष्य बुभूषित व्यक्तित्वका प्रेरणाकेन्द्र होता है। वह अमर ज्योतिका आधार कहा जाता है। इसके विपरीत भाग्यवादी मानव पुरुषार्थका शत्रु और अपने ही अदम्य साहसका लुटेरा है। जो पुरुषार्थी और सदाचारी होता है, वह कभी थकता नहीं; बाधाओंसे जूझकर आगे निकल जाता है। सच्चे पुरुषार्थी अपने जीवनमें लक्ष्य निर्धारितकर उसकी प्राप्तिके लिये भगीरथप्रयास करते हैं, क्योंकि लक्ष्यकी स्थिरता मानवकी सफलताकी सीढ़ी है। पुरुषार्थी सदाचारके सहारे उसपर ऊपरतक चढ़ जाता है।

महान् वक्ता डिमास्थनीजका नाम कौन नहीं जानता। प्रकृतिने उसकी लक्ष्य-प्राप्तिके मार्गमें रुकावटें

डाली थीं। वह बाल्यावस्थामें तुतलाता था और उसके साथी उसकी बातोंपर हँसते थे। उस समय कौन बता सकता था कि मुखमें कंकड़ियाँ भरकर बोलनेवाला यह बालक विश्वका प्रख्यात वक्ता होकर रहेगा। वस्तुतः उस सदाचारी बालकके जीवनमें पुरुषार्थका दिव्य आलोक प्रस्फुटित हो गया था, जो विवेकसम्मत मार्ग (सन्मार्ग) पर बढ़नेके लिये उसे प्रेरित करता रहा। इसी तरह संकल्पका धनी और निर्धारित लक्ष्यकी सिद्धिके लिये व्यग्र गैलीलियो गणितका महान् पुजारी था। पुरुषार्थी गैलीलियो गणितके अध्ययनमें दिन-रात संलग्न रहा और १८ वर्षकी उम्रमें ही उसने पेंडुलम सिद्धान्तका आविष्कार कर दिया। आगे चलकर दूरवीक्षण यन्त्रकी रचना कर वह विज्ञान-जगत्‌में अमरत्वका भागी बना। यदि वह सदाचार-पूर्ण पुरुषार्थके सहारे बढ़कर निर्धारित लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये लगन और निष्ठाको नहीं अपनाता तो विश्वका प्रसिद्ध वैज्ञानिक नहीं बन पाता।

लक्ष्यकी स्थिरताके साथ-साथ आत्मविश्वास और साहस भी पुरुषार्थके अभिन्न अङ्ग हैं। आत्मविश्वासी कभी पराजित नहीं होता। इसी आत्मविश्वासने महाराणा प्रतापको अकबरसे जूझनेकी प्रेरणा दी और वीर शिवाजीको मुगल-सम्राट् औरंगजेबसे मोर्चा लेनेका साहस दिया और नेल्सनको महान् सेनापति बनाया। इसीने नेपोलियनको आल्प्स लाँघनेका उत्साह प्रदान किया था और वीर पोरसको सिकन्दरसे लड़नेकी प्रेरणा दी थी। यही आत्मविश्वास पुरुषार्थियोंका तेज, दुर्बलोंका प्रकाशदीप, जननायकोंका ओज और अनाथोंका जीवन-सर्वस्व है। आत्मविश्वास सदाचारीका एक लक्षण है।

इस क्रममें यह कहना समुचित होगा कि साहसमें जो शक्ति निहित रहती है, वह बड़ी-बड़ी विपत्तियोंको चकनाचूर करनेमें सहज समर्थ होती है। साहसी, पुरुषार्थी चूड़ावतने अपनी छोटी-सी सेनाके सहारे औरंगजेबकी विशाल सेनाके दाँत खट्टे किये थे। साहसी वीर दुर्गादासने अपनी सीमित शक्तिके बलपर राजपूती शानकी रक्षा की थी। वीर शिवाजीका साहस सम्पूर्ण भारतपर छा गया था और नेपोलियनके साहसका ही प्रताप था कि देखते-ही-देखते अपराजेय आल्प्स उसके पाँवोंके नीचे आ गया था। इतिहासमें ऐसे अनेक योद्धा मिलते हैं, जिनके साथियोंने उन्हें जीवन-संग्राममें विफल और पराजित समझ लिया था, किंतु आत्मविश्वास और साहसके बलपर वे सफलताकी चोटीतक जा पहुँचे। साहसमें निहित अमोघ शक्ति सदाचारकी देन होती है। वस्तुतः पुरुषार्थ और आत्मविश्वास उसका एक घटक तत्त्व हैं।

पुरुषार्थीके जीवनमें एकाग्रताकी महत्ता भुलायी नहीं जा सकती। वह तो मानवके अभ्युत्थानकी अभिन्न सहचरी है। अपनी सफलताका मूल रहस्य बताते हुए चार्ल्स किंग्सलेने कहा था—'किसी कार्यको करते समय उस कार्यके अतिरिक्त संसारकी कोई अन्य बात मेरे सामने नहीं आती।' वीरवर अर्जुनकी सफलताके मूलमें भी यही एकाग्रता थी, जिसका अन्य बन्धुओंमें अभाव था। एकलव्य और बर्बरीककी वीरता और निपुणताका रहस्य एकाग्रतामें निहित था। विश्वकी सभी आधुनिक महान् विभूतियों—महात्मा गाँधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर, मार्क्स और लिंकन, पण्डित नेहरू और सरदार पटेलकी सफलताकी आधारशिला थी—यही एकाग्रता, जिसके अभावमें व्यक्तिकी प्रतिभा असमयमें ही मुरझाकर नष्ट हो जाती है। एकाग्रता इन्द्रिय-निग्रहका सुफल होती है जो सदाचारका आधार बनती है।

सच्चे पुरुषार्थी अध्यवसायको अपने जीवनका मूल मन्त्र मानते हैं। भर्तृहरिने कहा है—'हम तो कर्मको ही नमस्कार करते हैं, जिसपर विधाताका भी वश नहीं चलता।' महान् लेखक रस्किनकी यह वाणी भी द्रष्टव्य है—'यदि तुम्हें ज्ञानकी पिपासा है तो परिश्रम करो। यदि तुम्हें भोजनकी आकाङ्क्षा है तो परिश्रम करो और यदि तुम आनन्दके अभिलाषी हो तो परिश्रम

सदाचारी ध्रुव पर भगवान् विष्णु का अनुग्रह

करो। पुरुषार्थ ही प्रकृतिका नियम है।' स्वामी विवेकानन्दकी वह दिव्य वाणी आज भी भारतीय जन-मानसमें गूँज रही है—'शरीर तो एक दिन जानेको ही है तो फिर आलसियोंकी तरह क्यों जाय?' वस्तुत: पुरुषार्थ और सदाचारके मणि-काञ्चन-संयोगसे मानव-जीवन सफल और सुरभित होता है। उसमें सूर्यका प्रताप और चन्द्रमाकी स्निग्ध ज्योत्स्नाका संगम होता है। ऐसे ही जीवनसे समाज और राष्ट्रका कल्याण होता है। व्यावहारिक सदाचारीका जीवन ऐसा ही होना चाहिये।

सदाचारी बालक ध्रुव

धर्मार्थकाममोक्षाख्यं य इच्छेच्छ्रेय आत्मनः।
एकमेव हरेस्तत्र कारणं पादसेवनम्॥
(श्रीमद्भा० ४।८।४१)

'जो कोई धर्म, अर्थ, काम या मोक्षरूप पुरुषार्थकी इच्छा करता हो, उसके लिये इन सबको देनेवाला इनका एकमात्र कारण श्रीहरिके श्रीचरणोंका सेवन ही है।'

पाँच वर्षके बालक ध्रुवने इसे ही चरितार्थ किया।

स्वायम्भुव मनुके दो पुत्र हुए—प्रियव्रत एवं उत्तानपाद। महाराज उत्तानपादकी दो रानियाँ थीं—सुनीति एवं सुरुचि। सुनीतिके पुत्र थे ध्रुव और सुरुचिके थे उत्तम। राजाको छोटी रानी सुरुचि अत्यन्त प्रिय थीं। वे सुनीतिसे प्रायः उदासीन रहते थे। एक दिन महाराज उत्तानपाद सुरुचिके पुत्र उत्तमको गोदमें लेकर खेला रहे थे, उसी समय बालक ध्रुव भी खेलते हुए वहाँ पहुँचे और पिताकी गोदमें बैठनेकी उत्सुकता प्रकट करने लगे। राजाने उन्हें गोदमें नहीं बैठाया तो वे मचलने लगे। तबतक वहाँ बैठी हुई छोटी रानी सुरुचिने ध्रुवको इस प्रकार मचलते देख ईर्ष्या और गर्वसे कहा—'बेटा! तूने मेरे पेटसे जन्म तो लिया नहीं है, फिर महाराजकी गोदमें बैठनेका प्रयत्न क्यों करता है? तेरी यह इच्छा दुर्लभ वस्तुके लिये है। यदि उत्तमकी भाँति तुझे भी पिताकी गोदमें या राज्यासनपर बैठना हो तो पहले तपस्या करके भगवान्‌को प्रसन्न कर और उनकी कृपासे मेरे पेटसे जन्म ले।'

तेजस्वी बालक ध्रुवको विमाताके ये वचन-बाण लग गये। वे तिलमिला उठे। वे रोते हुए वहाँसे अपनी माताके पास चले गये। महाराजको भी यह बात अच्छी नहीं लगी; किंतु वे कुछ बोल न सके। ध्रुवकी माता सुनीतिने अपने पुत्रको रोते देखकर गोदमें उठा लिया। बड़े स्नेहसे पुचकारकर कारण पूछा। सब बातें सुनकर सुनीतिको बड़ी व्यथा हुई। सपत्नीका शल्य चुभ गया। वे भी रोती हुई बोलीं—'बेटा! सभी लोग अपने ही भाग्यसे सुख या दुःख पाते हैं, अतः दूसरेको अपने अमङ्गलका कारण नहीं मानना चाहिये। तुम्हारी विमाता ठीक ही कहती है कि तुमने दुर्भाग्यके कारण ही मुझ अभागिनीके गर्भसे जन्म लिया। मेरा अभाग्य इससे बड़ा और क्या होगा कि मेरे आराध्य महाराज मुझे अपनी भार्याकी भाँति राजसदनमें रखनेमें लज्जित होते हैं; परंतु बेटा! तुम्हारी विमाताने जो शिक्षा दी है, वह निर्दोष है। तुम उसीका अनुपालन करो। यदि तुम्हें उत्तमकी भाँति राज्यासन चाहिये तो उन कमलनयन, अधोक्षज भगवान्‌के चरण-कमलोंकी आराधना करो। जिनके पादपद्मकी सेवा करके योगियोंके भी वन्दनीय परमेष्ठी-पदको ब्रह्माजीने प्राप्त किया है तथा तुम्हारे पितामह भगवान् मनुने यज्ञोंके द्वारा जिनका यजन करके दूसरोंके लिये दुष्प्राप्य भूलोक तथा स्वर्गलोकके भोग एवं मोक्षको प्राप्त किया है, उन्हीं भक्तवत्सल भगवान्‌का अनन्यभावसे आश्रय लो। उन कमल-लोचन भगवान्‌के अतिरिक्त तुम्हारा दुःख दूर करनेवाला और कोई नहीं है। अतएव तुम उन दयामय नारायणकी ही शरण लो।'

ध्रुव सब कुछ छोड़कर तपस्याके लिये चल पड़े। मार्गमें उन्हें नारदजी मिले। देवर्षिने ध्रुवकी दृढ़ निष्ठा और निश्चय देखकर द्वादशाक्षर-मन्त्र **'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'**की दीक्षा दी और भगवान्‌की पूजा तथा ध्यान-विधि बताकर यमुनातटपर मधुवनमें जानेका आदेश दिया। ध्रुवको भेजकर नारदजी उत्तानपादके पास आये। राजाने जब सुना कि ध्रुव वनको चले गये, तब वे अत्यन्त चिन्तित हुए। अपने व्यवहारपर उन्हें बड़ी ग्लानि हो रही थी। देवर्षिने आश्वासन देकर शान्त किया।

ध्रुव मधुवनमें यमुनातटपर श्रीकालिन्दीके पापहारी प्रवाहमें स्नान करके जो कुछ फल-पुष्प मिल जाता, उससे भगवान्‌की पूजा करते हुए द्वादशाक्षर-मन्त्रका अखण्ड जप करने लगे। पहले महीने तीन दिन उपवास करके, चौथे दिन कैथ और बेर खा लिया करते थे। दूसरे महीने सप्ताहमें एक बार वृक्षसे स्वयं टूटकर गिरे पत्ते या सूखे तृणका भोजन करके भगवान्‌के ध्यानमें तन्मय रहने लगे। तीसरे महीने नौ दिन बीत जानेपर केवल एक बार जल पी लेते थे। चौथे महीनेमें तो बारह दिनपर एक बार वायु-पान करना प्रारम्भ कर दिये और पाँचवें महीनेमें श्वास लेना भी छोड़ दिये। प्राणको वशमें करके भगवान्‌का ध्यान करते हुए पाँच वर्षके बालक ध्रुव एक पैरसे खड़े रहने लगे। अद्भुत तपस्या थी उस बालककी!

जब वे एक पैर बदलकर दूसरा रखते, तब उनके तेजोभारसे पृथ्वी जलमें नौकाकी भाँति डगमगाने लगती थी। उनके श्वास न लेनेसे तीनों लोकोंके प्राणियोंका श्वास बंद होने लगा। श्वासावरोधसे पीड़ित देवता भगवान्‌की शरणमें गये। भगवान्‌ने देवताओंको आश्वासन दिया—'बालक ध्रुव सम्पूर्णरूपसे मुझमें चित्त लगाकर प्राण रोके हुए है, अतः उसके प्राणायामसे ही आप सबका श्वास रुका है। अब मैं जाकर उसे इस तपसे निवृत्त करूँगा।' तपस्याके सदाचारसे 'प्रभु' भी परवश हो जाते हैं।

जब भगवान् गरुड़पर बैठकर ध्रुवके पास आये, तब ध्रुव इतने तन्मय होकर ध्यान कर रहे थे कि उन्हें कुछ भी ज्ञात न हो सका। भगवान् श्रीहरिने अपना स्वरूप-ध्यान ध्रुवके हृदयमेंसे अन्तर्हित कर दिया। हृदयमें भगवान्‌का दर्शन न पाकर व्याकुल होकर जब ध्रुवने नेत्र खोले तो अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य-धाम साक्षात् भगवान्‌को सामने देखकर उनके आनन्दकी सीमा नहीं रही। हाथ जोड़कर वे भगवान्‌की स्तुति करनेके लिये उत्सुक हुए, पर क्या स्तुति करें—यह समझ ही न सके। दयामय प्रभुने ध्रुवकी उत्कण्ठा देखी। उन्होंने अपने निखिल-श्रुतिरूप शङ्खसे तपस्वी बालक ध्रुवके कपोलको छू दिया। बस, उसी क्षण ध्रुवके हृदयमें तत्त्वज्ञानका प्रकाश हो गया। वे सम्पूर्ण विद्याओंसे सम्पन्न हो गये। अब उन्होंने बड़े प्रेमसे बड़ी ही भावपूर्ण स्तुति की जो विष्णुपुराण आदि अनेक पुराणोंमें उपनिबद्ध है।

भगवान्‌ने ध्रुवको वरदान देते हुए कहा—'वत्स ध्रुव! यद्यपि तुमने माँगा नहीं, किंतु मैं तुम्हारी हार्दिक इच्छाको जानता हूँ। तुम्हें वह पद देता हूँ, जो दूसरोंके लिये दुष्प्राप्य है—सत्य ही, उस अविचल पदपर अबतक दूसरा कोई भी नहीं पहुँच सका है। सभी ग्रह, नक्षत्र, तारामण्डल जिसकी प्रदक्षिणा करते हैं, वह ध्रुवका अटल उत्तमपद है।

पिताके वानप्रस्थ लेनेपर तुम पृथ्वीका दीर्घकालतक शासन करोगे और फिर अन्तमें मेरा स्मरण करते हुए उस सर्वश्रेष्ठ, ब्रह्माण्डके केन्द्रभूत धाममें पहुँचोगे, जहाँ जाकर फिर संसारमें लौटना नहीं पड़ता।' इस प्रकार वरदान देकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। इस तरह ध्रुवने सत्य-संकल्प हो गुरुनिष्ठा, आत्मसंयम तथा तितिक्षायुक्त तपस्या-व्रत धारण करके संसारके समक्ष आदर्श तपोमय सदाचारका अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत कर दिया।

दयाकी प्रतिमूर्ति राजा रन्तिदेव

'कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्'

रन्तिदेव राजा थे—संसारने ऐसे राजाको कभी कदाचित् ही पाया हो। एक राजा और वह अन्नके बिना भूखों मर रहा हो। वह भी अकेला नहीं; उसकी स्त्री और बच्चे भी थे—कहना चाहिये कि राजाके साथ रानी और राजकुमार—सब भूखों मर रहे थे। अन्नका एक दाना भी उनके मुखमें पूरे अड़तालीस दिनोंसे न गया था। अन्न तो दूर—जलके भी दर्शन नहीं हुए थे उन्हें।

राजा रन्तिदेवको न शत्रुओंने हराया था, न डाकुओं-ने लूटा था और न उनकी प्रजाने उनके प्रति विद्रोह किया था। उनके राज्यमें अकाल पड़ गया था। अवर्षण जब लगातार कई वर्षोंतक चलता रहे—प्रजा भूखी रहे तो राजाको पहले उपवास करना चाहिये, यह समुदाचारीय मान्यता थी राजा रन्तिदेवकी। राज्यमें अकाल पड़ा, अन्नके अभावसे प्रजा पीड़ित हुई—राज्यकोश और अन्नागारमें जो कुछ था, पूरा-का-पूरा वितरित कर दिया गया।

जब कोश और अन्नागार रिक्त हो गये—राजाको भी रानी तथा पुत्रके साथ राजधानी छोड़नी पड़ी। पेटके कभी न भरनेवाले गड्ढेमें डालनेके लिये उन्हें भी तो कुछ चाहिये था। राजमहलकी दीवारोंको देखकर पेट कैसे भरते! लेकिन पूरे देशमें अवर्षण चल रहा था। कूप और सरोवरतक सूख गये थे। पूरे अड़तालीस दिन बीत गये, अन्न-जलके दर्शन न हुए।

उनचासवाँ दिन आया। किसीने महाराज रन्तिदेव-को पहचान लिया था। सबेरे ही उसने उनके पास थोड़ा-सा घी, खीर, हलवा और जल पहुँचा दिया। भूख-प्याससे व्याकुल, मरणासन्न उस परिवारको भोजन क्या मिला, जैसे जीवन-दान मिला। लेकिन भोजन मिल-कर भी मिलना नहीं था। महाराज रन्तिदेव प्रसन्न ही हुए, जब उन्होंने एक ब्राह्मण अतिथिको आये देखा। तब इस विपत्तिमें भी अतिथिको भोजन कराये बिना भोजन करनेके दोषसे बच जानेकी अपार प्रसन्नता हुई उन्हें। ब्राह्मण अतिथि भोजन करके गये ही थे कि एक भूखा शूद्र आ पहुँचा। महाराजने उसे भी आदरसे भोजन कराया। लेकिन शूद्रके जाते ही एक दूसरा अतिथि आया। यह नया अतिथि अन्त्यज था और उसके साथ जीभ निकाले, हाँफते कई कुत्ते थे। वह दूरसे ही पुकार रहा था—'मैं और मेरे कुत्ते बहुत भूखे हैं! मुझे कृपा करके कुछ भोजन दीजिये।'

समस्त प्राणियोंमें जो अपने आराध्यको देखता है, वह किसी याचकको अस्वीकार कैसे कर दे—अपने प्रभु ही जब भूखे बनकर भोजन माँगते हों। रन्तिदेवने बड़े आदरसे पूरा भोजन इस नये अतिथिको दे दिया। वह और उसके कुत्ते तृप्त होकर चले गये। अब बचा था थोड़ा-सा जल। उस जलसे ही रन्तिदेव अपना कण्ठ सींचने जा रहे थे।

'महाराज! मैं बहुत प्यासा हूँ, मुझे पानी पिला दीजिये!' तबतक एक चाण्डालकी पुकार सुनायी पड़ी! वह सचमुच इतना प्यासा था कि उसका कण्ठ सूख गया था, वह बड़े कष्टसे बोल रहा है—यह स्पष्ट प्रतीत होता था। महाराज रन्तिदेवने जलका पात्र उठाया, उनके नेत्र भर आये। उन्होंने सर्वव्यापक सर्वेश्वरसे प्रार्थना की—'प्रभो! मैं ऋद्धि-सिद्धि आदि ऐश्वर्य या मोक्ष नहीं चाहता। मैं तो चाहता हूँ कि समस्त प्राणियोंके हृदयमें मेरा निवास हो। उनके सब दुःख मैं भोग लिया करूँ और वे सुखी रहें। यह जल इस समय मेरा जीवन है—मैं इसे जीवित रहनेकी इच्छावाले इस चाण्डालको दे रहा हूँ। इस कर्मका कुछ पुण्य-फल हो तो उसके प्रभावसे संसारके प्राणियोंकी भूख, प्यास, श्रान्ति, दीनता, शोक, विषाद और मोह नष्ट हो जायँ। संसारके सारे प्राणी सुखी हों।'

उस चाण्डालको राजा रन्तिदेवने जल पिला दिया। लेकिन वे स्वयं—उन्हें अब जलकी आवश्यकता कहाँ थी! अब तो विभिन्न वेष बनाकर उनके अतिथि होनेवाले त्रिभुवनाधीश ब्रह्मा, भगवान् विष्णु, महादेव शिव और धर्मराज स्वयं अपने रूपोंमें प्रत्यक्ष खड़े थे उनके सम्मुख!

सदाचारका आदर्श—सादा जीवन उच्च विचार

(लेखक—डॉ० श्रीलक्ष्मीप्रसादजी दीक्षित, एम्० एस्-सी०, पी-एच्० डी०)

सभी प्राणी सुख चाहते हैं और वे जो कुछ भी करते हैं, वे सुखप्राप्तिके लिये ही करते हैं। किंतु किस आचरणसे सही अर्थमें दुःखाभाव होता है, इसका ज्ञान कम ही लोगोंको होता है और ऐसे सदाचारको जीवनमें उतारनेमें विरले ही सफल होते हैं। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि हमारा जीवन दुःखालय बना हुआ है। समस्त संसारमें त्राहि-त्राहि मची हुई है। हम ऐशो-आरामकी चीजें जुटानेमें जी-जानसे लगे हुए हैं। हम विलासिताको ही, जो अत्यन्त क्षणभङ्गुर है, सुख मान बैठते हैं। स्त्री, पुत्र, गृह, धन, आयु और यौवन—ये सभी नश्वर हैं। हम इस वास्तव सत्यको भूल जाते हैं। इन्हींकी प्राप्तिके लिये हम अहर्निश खून-पसीना बहा रहे हैं। हमारी जड़पूजा-परायणता बढ़ती जा रही है और इस जड़पूजाके लिये हम पाप करनेमें भी नहीं हिचकते। सदाचार, संयम और सरलताका ह्रास होता जा रहा है। **'मन मैला तन उजला'** आज अधिक चरितार्थ हो रहा है। ऐसे विषम समयमें सादा जीवन ही इस जड़पूजा-परायणतासे हमारा उद्धार कर सकता है। यह कर्मभूमि है और हमें हमारे कर्मानुसार ही फलोपलब्धि होती है। इस तथ्यको पूज्य गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने बड़े ही स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त किया है—

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा॥
(मानस, अयोध्याकाण्ड)

सादा जीवन जीनेकी सर्वोच्च कला है और सच्चे सुखप्राप्तिका सर्वोत्तम साधन है। स्वयं श्रीरामने अपने मुखारविन्दसे सदाचारी संतोंकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥
(मानस ५ । ४३ । ३)

वे श्रीनारदजीसे संत-स्वभावका वर्णन करते हुए कहते हैं—

सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती॥
× × × ×
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥
× × × ×
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित परहित रत सीला॥
(मानस ३ । ४५ । २, ४, ६-७)

मनुष्यका सर्वोच्च विचार गणितके किसी सूत्र या क्रान्तिकारी तकनीकीमें निहित नहीं है। संसारके सभी महान् पुरुषोंने 'परहित-विचार' को ही मानवका उच्चतम विचार माना है। श्रीगोस्वामीजीने भी इसको मानसमें प्रतिपादित किया है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
(मानस ७ । ४० । १)

सदाचरणका यही बीजमन्त्र है। जबतक मनुष्यके मनमें यह समा नहीं जाता, तबतक वह सदाचारीका स्वाँग तो कर सकता है; परंतु वस्तुतः सदाचारी हो नहीं सकता।

विचाराचारका नित्य सम्बन्ध—मनुष्यके विचारों और उसकी कर्मोंमें प्रवृत्ति दोनोंका अनादि पारस्परिक सम्बन्ध है। बृहदारण्यकोपनिषद्में ऋषिका स्पष्ट उद्घोष है—

'स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते।
(४ । ४ । ५)

मनुष्य जैसी कामनावाला होता है, वैसा ही संकल्प करता है। जैसा संकल्पवाला होता है, वैसा ही कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त

करता है।' इसी तथ्यको अन्यत्र भी व्यक्त किया गया है—'आपके जैसे विचार होंगे, वैसे ही आप हो जायँगे।' स्वयं भगवान् कृष्णने अपने श्रीमुखसे इस अनादि एवं अपृथक्करणीय सम्बन्धको समझाकर उच्च विचारोंमें मनको रमानेकी प्रेरणा दी है। तदनुसार 'यदि हमारा मन उच्च विचारोंसे परिपूर्ण नहीं है और मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन होता है, तो हमारी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है। आसक्तिसे (उन विषयोंकी) कामना उत्पन्न होती है, कामना (में विघ्न पड़ने) से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे मूढभाव उत्पन्न होता है, मूढभावसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृतिके भ्रमित हो जानेसे ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है और बुद्धिके नाश होनेसे (यह पुरुष) अपने श्रेय साधनसे गिर जाता है। आचरणानुसार ही हमारे विचार भी बनते हैं। श्रीगोस्वामीजीके शब्दोंमें—

कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं
(मानस ७। ३७। ३—८)

यह है सदाचरण करनेवाले संतोंका स्वभाव। इसके विपरीत अनाचरण, दुराचरण करनेवाले असंतोंका स्वभाव कैसा है, वह भी देखें—

काहू की जौं सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥
जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भए मानहुँ जग नृपती॥
(मानस ७। ३९। २-३)

जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सादा जीवन वाञ्छनीय तथा सराहनीय है। यदि हर व्यक्ति सादा जीवन जीने लगे तो अधिकांश सामाजिक कुरीतियोंका, राजनीतिक कुनीतियोंका और पारिवारिक कलहोंका स्वतः नाश हो जाय। व्यापारिक-वाणिज्य क्षेत्रमें व्याप्त असंतोष, अविश्वास, असहिष्णुता, पर-शोषण-नीति आदिका ह्रास भी प्रारम्भ हो जाय। हमारे देशमें आज सादे जीवनकी सर्वाधिक आवश्यकता है। इसपर सभी विचारक, राष्ट्रनेता या सुधारक जोर भी दे रहे हैं। परंतु हमारी शिक्षा-दीक्षा, सामाजिक व्यवस्था और सादा जीवनमें विरोधाभास है। मानव-मूल्योंमें गिरावट इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यदि हम अपने ऋषियोंद्वारा प्रतिपादित तथा समर्थित मानव-मूल्योंकी पुनः स्थापना कर सकें तो इस विरोधाभासका परिहार हो जायगा और सादे जीवन-के साथ हमें पुनः उच्च विचारका तत्त्वज्ञान भी सुलभ हो जायगा। हमें भौतिक सुख-सुविधाओंसे नहीं, अपितु भौतिक-वादी दृष्टिकोणसे मुँह मोड़ना है। भौतिक सुविधाओं और सादा जीवनमें कोई विरोध नहीं है। सादा जीवन सर्वोदयभावनापर आधारित है और यह उच्च विचारोंका परिणाम है।

मनुष्यके अन्तिम और परम ध्येयकी उपलब्धि भी सादे जीवनसे ही सम्भव है। (भारतीय संस्कृतिमें परमात्म-प्राप्ति ही परम उपलब्धि मानी जाती है।) परमात्मप्राप्तिहेतु अनेक मार्गोंका निर्देशन किया गया है—भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग, कर्मयोग आदि। सादे जीवनके बिना इनमेंसे एकको भी नहीं साधा जा सकता और कर्मयोग तो सादा जीवनका पर्याय माना जा सकता है। सादा जीवन-यापन करनेवाला वस्तुतः कर्मयोगी ही होता है। वह सदाचरण कर्तव्यके नाते करता है, फलासक्तिके कारण नहीं। फलासक्ति व्यक्तिको साधन-शुद्धिके ध्यानसे च्युत कर देती है। अनासक्ति साधन-शुद्धिपर अधिक जोर देती है, फलपर नहीं। सादा जीवनमें मान, दम्भ, कपट आदिका प्रायः अभाव होता है। इन दुर्गुणोंसे रहित हृदयमें ही प्रभु विराजते हैं।

सदाचार और शिष्टाचार

(लेखक—पं० श्रीउमेशकुमारजी शर्मा, गौड़)

भारतवर्षकी सदाचार-पद्धति बहुत ही विशिष्ट और सर्वजनस्पृहणीय है। ध्यान देनेसे ज्ञात होता है कि सदाचार-पद्धतिके आविष्कारक ऋषि-महर्षियोंने स्वयं भी सदाचार-पद्धतिके अनुरूप ही अपना समस्त जीवन व्यतीत किया था और उन्होंने अपने जीवनमें सदाचारका जो फल प्रत्यक्ष अनुभव किया था, उसको अपनी स्मृतियों तथा पुराणोंमें स्थान देकर मानव-जातिका महान् उपकार किया है। आज भी हम जब अपने पूर्वज—ऋषि-महर्षि-प्रणीत सदाचारपूर्ण धर्मग्रन्थोंको देखते हैं तो उनमें सदाचारका बहुत ही आदर्शपूर्ण वर्णन मिलता है, जिसके अनुसार यदि आचरण किया जाय तो निश्चित ही मनुष्यका जीवन आदर्शमय बन सकता है।

भारतवर्षकी सदाचार-परम्परा देश-देशान्तरमें प्रसिद्ध है। भारतके सदाचारसम्पन्न महापुरुषोंके विशिष्ट गुणोंसे प्रभावित होकर ही अन्य देशोंके निवासी भारतको 'जगद्गुरु' कहते हैं। दुःखका विषय है कि आज उसी भारतके निवासी अपने पूर्वजोंके निर्दिष्ट सदाचारका त्यागकर भ्रष्टाचारकी ओर प्रवृत्त हो गये हैं, जिससे उनमें स्वेच्छाचारिता, अनुशासनहीनता एवं आचरणहीनता आदि कुप्रवृत्तियोंका प्रादुर्भाव होता जा रहा है और राग-द्वेष, असत्य, अन्याय, पापाचार, व्यभिचार और चोरबाजारी आदिकी उग्ररूपसे वृद्धि हो रही है, इससे सारा भारत सब प्रकारसे दुःखित और पीड़ित है। अतः सर्वविध कष्टोंसे बचनेके लिये पूर्वकालीन ऋषि-महर्षि-प्रणीत भारतीय सदाचार-पद्धतिका अनुसरण करना चाहिये। ऋषि-महर्षियों-द्वारा निर्दिष्ट सदाचारका पालन करनेसे मनुष्यको निश्चित ही सुख-शान्तिकी प्राप्ति होगी।

हमारे स्मृतिकार ऋषि-महर्षियोंने अपने-अपने धर्म-ग्रन्थोंमें बतलाया है कि अपने माता, पिता और गुरुको देवता समझकर उन्हें प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर सर्व-प्रथम प्रणाम करना चाहिये। माता, पिता आदि गुरुजनोंको नित्य प्रणाम करनेसे अनेक लाभ होते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥
(मनुस्मृति २।१२१)

'जिस मनुष्यका अपने गुरुजनोंको प्रणाम करनेका स्वभाव है और जो नित्य वृद्धोंकी सेवा करता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बल—ये चार वस्तुएँ वृद्धिगत होती हैं।' इसी प्रकार ऋषि-मुनियोंने हमारे लिये प्रातःकाल उठनेके बादसे रात्रिमें शयनतकके जो-जो आवश्यक कर्तव्य बतलाये हैं, उनके पालनसे सभीका कल्याण निश्चय ही होता है। श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा जो आचरण किया जाता है, उसीके अनुसार नित्य आचरण करना चाहिये।

'श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा निर्धारित सदाचारका पालन करते हुए सदाचारमय जीवन व्यतीत करना ही प्रत्येक मनुष्यका परम धर्म है। सदाचारमय जीवनसे मनुष्यकी सर्वविध उन्नति होती है। सदाचारी मनुष्यकी सर्वत्र प्रशंसा और प्रतिष्ठा होती है तथा देवता भी सहायता करते हैं। अतः मनुष्यको सर्वदा सदाचारी बननेका प्रयत्न करना चाहिये। सदाचारी पुरुष जहाँ रहते हैं, वह भूमि पवित्र, गृह देवालय और स्थान तीर्थस्वरूप बन जाते हैं। सदाचारी पुरुषोंमें क्षमा, दया, धैर्य, सन्तोष, शान्ति आदि सद्गुणोंकी, तेज, ओज एवं ऐश्वर्य आदि विशिष्ट विभूतियोंकी और शक्ति, पराक्रम, दृढ़ता एवं प्रताप आदि उच्चभावोंकी स्थिति रहती

है। अतः समस्त प्रकारके विशिष्ट ऐश्वर्योंकी प्राप्तिके लिये सदाचारी बनना परमावश्यक है।

मनुष्यके लिये जिस प्रकार सदाचारका पालन आवश्यक है, उसी प्रकार शिष्टाचारका भी पालन आवश्यक है। सदाचारकी तरह शिष्टाचार भी विशेष महत्त्व रखता है, अतः हम यहाँ भारतीय शिष्टाचारके सम्बन्धमें कतिपय आवश्यक बातोंका उल्लेख करते हैं, जिनका पालन प्रत्येक शिष्ट पुरुषके लिये आवश्यक है। ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर अपने गुरुजनोंको चरणस्पर्श-पूर्वक प्रतिदिन प्रणाम करना चाहिये। अपने घरोंमें आये हुए साधु-महात्मा, विद्वान्, ब्राह्मण और अतिथिका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक सम्मान करना चाहिये। किसीके धर्मकी निन्दा या उसपर आक्षेप नहीं करना चाहिये। देवता, ब्राह्मण, साधु, महात्मा, गुरु, वेद और पतिव्रता स्त्रीकी निन्दा और परिहास नहीं करना चाहिये। यथाशक्ति दीन-दुःखियोंकी रक्षा और सहायता करनी चाहिये। अपनेसे बड़ोंकी तरफ पीठ करके बैठना और चलना नहीं चाहिये। अपनेसे बड़ोंको सदा 'आप' कहकर बोलना चाहिये। गुरु, माता, पिता और देवताकी तरफ पैर फैलाकर न तो बैठना चाहिये और न शयन ही करना चाहिये। अपनेसे बड़ों और छोटोंकी शय्या अथवा आसनपर सोना या बैठना नहीं चाहिये। राजा, ब्राह्मण, अपनेसे श्रेष्ठ, विद्वान्, गर्भवती स्त्री, गूँगा, लँगड़ा, अंधा, बहरा, पागल, बालक और नशेबाजके लिये मार्ग छोड़ देना चाहिये। अपने गुरुजनोंके दोषोंको दूसरोंसे न तो कहना चाहिये और न सुनना ही चाहिये। गुरुजनोंका दोष देखना भी नहीं चाहिये।

किसीके साथ विश्वासघात, अभिमान, दुष्टता और कठोरता नहीं करनी चाहिये। किसीको दुःखदायी कटुवाक्य कहना अथवा गाली आदि नहीं देनी चाहिये। क्रोध और अभिमानसे सर्वथा बचना चाहिये। पराये धनको मिट्टी और परायी स्त्रीको माता समझना चाहिये। आलस्यसे, अन्नदोषसे, चोरीसे और व्यभिचारसे सर्वदा बचना चाहिये। जूठे मुँह गौ, ब्राह्मण, अग्नि, देवता और सिरका स्पर्श नहीं करना चाहिये। एक वस्त्रसे भोजन और देवपूजन नहीं करना चाहिये। बिना वस्त्र पहने स्नान और शयन नहीं करना चाहिये। स्नान करनेके बाद शरीरमें तेल नहीं लगाना चाहिये। सूर्योदय और सूर्यास्तके समय शयन नहीं करना चाहिये। दूसरे व्यक्तिके पहने हुए वस्त्र और जूते नहीं पहनने चाहिये। दिनमें उत्तराभिमुख और रात्रिमें दक्षिणाभिमुख बैठकर मल-मूत्रका त्याग करना चाहिये।

ब्राह्मण, गौ, अग्नि, सूर्य और देवमन्दिरके समीपमें मल-मूत्रका त्याग करना सर्वथा निषिद्ध है। पवित्र स्थान, नदीके किनारे, जोते हुए खेत, वृक्षके नीचे, मार्गमें और गौओंके बाड़ेमें भी मल-मूत्रका त्याग करना वर्जित है। मल-मूत्रके त्याग करते समय बोले नहीं मौन रहना चाहिये। बालोंकी सजावट, दाँतका धोना और शीशेमें मुख देखना—ये सब पूर्वाह्णमें ही कर लेना चाहिये। दूसरोंकी मर्यादा और प्रतिष्ठाका सदा ध्यान रखना चाहिये।

परनिन्दा गर्हित-कर्म

किसीकी निन्दा न तो अभिरुचि लेकर सुननी चाहिये और न उसे याद रखनी चाहिये। उससे उस समय तो अपनी ईर्ष्या या अहंकारकी तृप्ति हो जाती है, पर शान्तिपूर्वक विचार करनेसे बोध होगा कि बादमें बहुत हानि होती है। दूसरेकी निन्दाको सुननेवाला भी चोरके समान निन्दित समझा जाता है।

—चेस्टर फील्ड

पड़ोसीधर्म और सदाचार

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

'पड़ोसीको प्यार करो !'—'Love one's neighbour as oneself.'—यह है 'प्रभु ईसाद्वारा दिया गया, सदाचारका एक सूत्र ! कैसा प्यार ? वैसा ही प्यार, जैसा तुम अपने-आपकेलिये करते हो !' इससे तुम्हारा जीवन निश्छल, शान्त और मधुर बन जायगा।

कानूनदाँ प्रश्नकर्ता पूछता है—'प्रभो ! कौन है मेरा पड़ोसी ! किसे मानूँ मैं अपना पड़ोसी ?' इसपर ईसा एक पहेली बुझाते हुए कहते हैं—'एक यहूदी अमीर आदमी यरुशलमसे यरीखो जा रहा था। उसे रास्तेमें डाकुओंने घेर लिया। उसके कपड़े उतार लिये और मार-पीटकर उसे अधमरा-सा कर दिया। बेचारा यात्री लाचार होकर वहीं पड़ा रहा। उसी राहसे एक यहूदी पादरी निकला। वह उससे कतराकर निकल गया। थोड़ी देर बाद एक दूसरा यहूदी पादरीका सहायक उधरसे निकला। वह भी उससे कतराकर निकल गया। दोनोंके बाद एक सामरी यात्री उधरसे निकला। उस घायलको देखकर उसका जी भर आया। (यहूदी लोग समरियावालोंको अपना पड़ोसी नहीं मानते; उन्हें 'विदेशी' और 'शत्रु' मानते हैं।) सामरीने उसके पास जाकर तेल और अंगूरका रस ढालकर उसे पट्टियाँ बाँधीं। फिर वह उसे अपनी सवारीपर बैठाकर एक सरायमें ले गया और उसकी अच्छी सेवा-शुश्रूषा की। दूसरे दिन जब वह सामरी यात्री सरायसे जाने लगा तो उसने एक भठियारेको एक रुपया देते हुए कहा—'देख भाई ! इस यहूदीकी ठीक ढंगसे सेवा-टहल करना। यदि तेरा और कुछ पैसा लगे तो लगा देना। मैं लौटते समय तुझे भर दूँगा।'

प्रश्नकर्तासे ईसा पूछते हैं—'तू अब बता, डाकुओंसे सताये हुए उस यहूदीका सच्चा पड़ोसी इन तीनोंमेंसे कौन था ?' वह बोला—'वही सामरी, जिसने उसपर दया की।' ईसाने कहा—'जा, तू भी ऐसा ही कर ! जिसके हृदयमें प्रेम है, उसके लिये हर आदमी पड़ोसी है, फिर वह चाहे किसी भी जातिका क्यों न हो !' (Luke 10. 27—37)

मोटे तौरपर हम ऐसा मानते हैं कि हम जिसके पड़ोसमें रहते हैं—वह हमारा पड़ोसी है। जिसके मकानकी दीवाल हमारे मकानकी दीवालसे सटी हुई है, अथवा जो हमारे आस-पास, बगल-बगल, पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण रहता है, जो नित्य हमारे सामने पड़ता है—वही है, हमारा पड़ोसी ! जो हमारे खेमेमें रहता है, हमारी सड़कपर रहता है, हमारे टोलेमें रहता है—हमारा पड़ोसी वही है। बात ठीक भी है। पास-पड़ोसमें—निकटमें रहनेवाला पड़ोसी होता ही है। पर हमने क्या इस निकटतापर कभी सोचा है ? दीवालें मिली हैं, मकान मिला है, गली-सड़क मिली हैं, पर यदि दिल नहीं मिला तो गली-दीवाल मिलनेसे क्या ? तब वह कैसा हमारा पड़ोसी ? हम देखते हैं, प्रायः देखते हैं; लोग एक मकानमें एक ही छतके नीचे रहते-सोते हैं, एक आँगन बरतते हैं, एक साथ एक रसोईमें भोजन करते हैं, पर एक-दूसरेसे किसीका कोई मतलब नहीं। एक दूसरेमें कोई दिलचस्पी नहीं। और जब एक घरके लोगोंकी यह दशा है, तब पास-पड़ोस-वाले तो दूर हैं, बहुत दूर—उनकी बात ही क्या ?

एक बार एक सज्जन विनोबाजीसे आकर कहने लगे—'हम दो आदमी एक साथ भोजन करते हैं, पर हमारी निभ नहीं सकती। मैंने अब अलग भोजन करनेका तय किया है।' विनोबाजीने पूछा—यह क्यों ? बोले—मैं नारंगियाँ खाता हूँ, वे नहीं खाते। वे मजदूर

हैं, इसलिये वे नारंगियाँ खरीद नहीं सकते। अतः उनके साथ खाना मुझे ठीक नहीं लगता।'

विनोबाजीने पूछा—'क्या एक घरमें रहनेसे आपकी नारंगियाँ उनके पेटमें चली जायँगी ? आप दोनोंमें आज जो व्यवहार चल रहा है, वही ठीक है। जबतक आप दोनों एक साथ खाते हैं, तबतक दोनोंके निकट आनेकी सम्भावना है। एकाध बार आप उन्हें नारंगियाँ लेनेका आग्रह भी करेंगे। लेकिन यदि आप दोनोंके बीच 'स्व'के रक्षाकी दीवार खड़ी हो जायगी तो भेद चिरस्थायी हो जायगा। हम सब भारतीय कहते हैं, हमारे संत पुकार-पुकारकर कहते हैं कि ईश्वर सर्व-साक्षी है, सर्वत्र है; फिर दीवारकी ओटमें छिपनेसे क्या लाभ ? इससे दोनोंका अन्तर थोड़े ही घटेगा !'

'धीरेनदा'—धीरेन्द्रभाई मजूमदार—सर्वोदयके वयोवृद्ध सेवक हैं। कुछ दिनों पहले बिहारमें ग्राम-सेवाके दौरान उन्होंने एक आन्दोलन चलाया—'अपने-अपने चूल्हे जोड़ो।' गाँवोंमें उन्होंने देखा कि बहुतसे परिवारोंमें एक ही मकानमें, एक ही आँगनमें कई-कई चूल्हे जल रहे हैं। उन्हें यह बात अटपटी लगी। एक ही घरमें रहनेवाले सगे भाई-भतीजेके अलग-अलग चूल्हे ! यह तो ठीक नहीं। तब उन्होंने चूल्हे जोड़नेका आन्दोलन शुरू कर दिया। उनकी यह मान्यता है कि एक घरमें यदि एक चूल्हा जलेगा तो पास-पड़ोसवालोंको भी मिल-जुलकर रहनेकी, एकता-की—प्रेमकी प्रेरणा मिलेगी और इस तरह हम धीरे-धीरे 'वसुधैव कुटुम्बकम्'की दिशामें बढ़ने लगेंगे।

ईसाके भक्तोंकी संसारमें बहुत बड़ी संख्या है। वे लाखों-करोड़ोंमें नहीं, अरबोंमें है। पर उनके 'पड़ोसीको प्यार करो'—सूत्रको कितने लोग मानते हैं, सच्चे जीसे मानते हैं ? ईसाई लोग इस सूत्रका पालन करते होते तो संसारके सारे लड़ाई-झगड़े सदाके लिये समाप्त हो जाते। पर कहाँ हुआ है, ऐसा ? आइये, इस सूत्रपर थोड़ा गहराईसे विचार करें। पड़ोसीको प्यार करनेका अर्थ क्या है ? यही कि सबके साथ हिल-मिलकर रहना।

संत बेनेडिक्टने इसके लिये तीस लक्षण बताये हैं, वे हैं—'पड़ोसीसे प्यार करो। किसीकी हत्या मत करो। किसीके साथ व्यभिचार मत करो। किसीकी चीजकी लिप्सा—चोरी मत करो। झूठी गवाही मत दो। सभी मनुष्यों—स्त्री-पुरुषोंका आदर करो। अपने प्रति जो व्यवहार न चाहो, वैसा व्यवहार किसी दूसरेके प्रति भी मत करो। गरीबोंकी सेवा-सहायता करो। नंगोंको कपड़ा दो। बीमारोंको देखने जाओ। मृतक शवका सत्कार करो। किसीपर क्रोध मत करो। किसीसे बुराईका बदला लेनेकी भावना मत रखो। किसीसे छल-कपट मत करो। दयाशून्य मत बनो। किसीकी निन्दा न करो। किसीसे ईर्ष्या-डाह मत करो। लड़ाई-झगड़ेमें दिलचस्पी न लो। अपनेसे बड़ों-का आदर करो। अपनेसे छोटोंको प्यार करो। ईसाका प्रेम पानेको अपने दुश्मनोंके लिये प्रार्थना करो। अपने विरोधीसे सूर्यास्तके पहले ही सुलह कर लो।' कैसे बढ़िया नियम हैं। पड़ोसीके प्यारका यह कैसा क्रियात्मक स्वरूप है और पड़ोसी-धर्मका कैसा बढ़िया विवेचन है !

अब हम जरा अपनेको इस कसौटीपर कस कर देखें कि हम कहाँ हैं ? सबेरा हुआ नहीं कि हमने पड़ोसीके दरवाजेपर अपने घरका कूड़ा-करकट, अपने बरकी काँटोंकी बेलें फेंकी नहीं। हमारे बच्चेको 'छीछी' करनी है तो पड़ोसीके सामनेकी नाली इसीलिये बनी है। पड़ोसीके मकानपर सफेदी होती है, रंग लगता है, उसका कोई हिस्सा बनता है तो हमारे कलेजेपर साँप लोट जाता है। पड़ोसीके घर कोई नयी चीज आती है, उसकी समृद्धि होती है, उसे सम्मान मिलता है तो हमारा जी भीतरसे जल उठता है। पड़ोसीकी निन्दा

करनेमें-सुननेमें हमारी आँखें खिल जाती हैं। मतलब, पड़ोसीके—'उजरें हरष बिषाद बसेरें!' (मानस १। ३।१)की मनोवृत्ति हमने पाल रखी है। कहाँ ईसाका आदेश और कहाँ हम! कोई आपसे कहता है कि पड़ोसीको प्यार करना हमारा सहज धर्म है तो आप खटसे कह बैठते हैं—'अजी! पड़ोसीको प्यार करना मुश्किल है, बहुत मुश्किल! क्यों? रोज उससे हमारे स्वार्थोंकी टक्कर जो होती है। पड़ोसी हमारी जमीनको बरतना चाहता है। वह हमारी जमीनमें अपनी गायें-भैंसें बाँधता है। हमारे खेतकी मेंड़ कम करके अपना खेत बढ़ाना चाहता है। हम सावधान न रहें तो वह हमारा खेत अपने जानवरोंसे चरवा लेता है। हमारी फसल चुरा लेता है।

'पड़ोसी हमसे लाभ तो पूरा लेना चाहता है, पर हमें कोई लाभ नहीं देना चाहता। हम उसके यहाँ कुछ माँगने जायँ तो चीज रहते हुए भी बहाना बना देता है। पड़ोसी हमें कदम-कदमपर परेशान करता है, दुःखी करता है, सताता है, हमारे हकोंपर हमला करता है। फिर भी आप हमसे कहते हैं—"पड़ोसीको प्यार करो!" हमसे ऐसा प्यार नहीं हो सकता। हम तो 'शठे शाठ्यम्' वाले जीव हैं। ईंटका जवाब पत्थरसे देने-वाले प्राणी हैं। वह हमारी एक आँख फोड़ना चाहेगा तो हम उसकी दोनों फोड़ देंगे।'—जैसाको तैसा।

अब जरा हम सिक्केको उलटकर देखें! कोई हमें सताता है, कोई हमें कष्ट पहुँचाता है, कोई हमारी बहू-बेटियोंपर कुदृष्टि डालता है, कोई हमारी चोरी करता है, हमारा माल हड़प लेता है, हमारे साथ छल-प्रपञ्च करता है—तो हमें कैसा लगता है? तब हम क्या चाहते हैं? हम संकटमें होते हैं, कष्टमें होते हैं, पीड़ामें होते हैं, तो हमारी कैसी उत्कट इच्छा होती है कि कोई हमें इस कष्टसे, मुसीबतसे छुड़ा ले, हमारे प्रति सद्भाव दिखाये, हमारे आँसू पोंछे!

तब? अपने लिये एक पैमाना, दूसरेके लिये दूसरा?

Heads I win, tails you lose.

'चित भी मेरी, पट भी मेरी!' 'मेरे प्रति सब सद्भाव बरतें, मैं दूसरोंके साथ चाहे जैसा व्यवहार करूँ।' यह बात चलनेवाली नहीं। यह तो कलियुग है! और कलियुग ही क्यों, नजीरके अनुसार—कलियुग नहीं, करयुग है यह,—इस हाथ दे, उस हाथ ले! यह तो नकद सौदा है। 'भलाईका बदला भलाई, बुराईका बदला बुराई'! तो सामान्य विवेकका तकाजा है कि पड़ोसीके साथ हम सद्व्यवहार करें, उसके प्रति सद्भाव रखें। उससे हम प्रेम करें।

ईसा तो बहुत बादमें हुए, उनसे बहुत-बहुत पहले हमारे धर्मशास्त्री लोग कहते आये हैं—'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' कन्फ्यूशियस हो या लाओत्से—भारत हो या चीन—सब एक ही स्वर्णनियम (Golden Rule) पर जोर देते हैं कि दूसरोंके साथ वैसा ही व्यवहार करो, जैसा व्यवहार तुम अपने प्रति चाहते हो। भगवान् बुद्धने यही तो कहा था—

सब्बे तसंति दंडस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥
सब्बे तसंति दंडस्स सब्बे संजीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥
(धम्मपद, दण्डवग्गो० १०।१-२)

'दण्डसे सभी भय खाते हैं। मृत्युसे सभी डरते हैं। दूसरोंको अपने-जैसा ही समझकर मनुष्य न तो किसीको मारे और न किसीको मारनेकी प्रेरणा ही करे। दण्ड सबको अप्रिय है। जीवन सबको प्यारा लगता है। दूसरोंको अपने-जैसा ही समझकर मनुष्य न तो किसीको मारे और न किसीको मारनेके लिये उकसाये।' भगवान् महावीर भी यही कहते हैं—

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स पाणे पीयायए।
न हणे पाणिणो पाणे भय वेराओ उवरए॥
(उत्तराध्ययनसूत्र ६।७)

'सबके भीतर एक ही आत्मा है। हमारी ही तरह सबको अपने प्राण प्यारे हैं, यह मानकर भय और वैरसे मुक्त होकर किसी प्राणीकी हिंसा न करे। किसीको न सताये।' घूम-फिरकर वही एक बात कि हमारे प्रति दूसरे सद्व्यवहार करें, सदाचार बरतें, इसका एक ही उपाय है—हम स्वयं भी दूसरोंके प्रति सदाचार बरतें। अत्याचार और सदाचार दोनोंका प्रतिकार है—सदाचार।

ऋषियोंके इस सूत्रपर ईसाने भी एक कलम लगा दी—'तुम सुन चुके हो कि प्राचीन कालमें ऐसा कहा गया था कि अपने पड़ोसीसे प्रेम रखना और वैरीसे वैर। परंतु मैं तुमसे कहता हूँ कि अपने वैरियोंसे प्रेम रखो। जो तुम्हें अभिशाप देते हैं, उन्हें आशीर्वाद दो और जो तुमसे घृणा करते हैं, उनके प्रति प्रेम करो। जो तुम्हें धिक्कारते हैं और तुम्हें सताते हैं, उनके लिये प्रार्थना करो। यदि तुम अपने प्रेम रखनेवालोंसे ही प्रेम रखते हो तो इसमें तुम्हारी कौन विशेषता रही? क्या भठियारे भी ऐसा नहीं करते? (मत्ती—५। ४३-४७) बाबा कबीरका भी वही उपदेश—

'जो तोकूँ काँटा बुवै, ताहि बोउ तू फूल।'

माना अपकारीके प्रति उपकार करना आसान बात नहीं, पर हमें यदि पड़ोसी-धर्मका पालन करना है तो कुछ-न-कुछ त्याग और बलिदान करना ही पड़ेगा। अपना जीवन सुखमय बनाना है तो पड़ोसीके जीवनको सुखमय बनाना ही पड़ेगा। कारण, पड़ोसी पड़ोसी है! उसके घरमें आग लगेगी तो हमारा छप्पर भी झुलसे बिना न रहेगा। बाढ़में उसीका घर डूबेगा, ऐसा नहीं, तब हमारा घर भी सूखा न रह सकेगा। उसके दरवाजेपर लगी ट्यूबलाइटसे हमारा घर भी आलोकित होगा ही। सचमुच पत्थर हैं वे, जो पड़ोसीकी स्थितियोंमें कोई सुधार नहीं लाना चाहते। पड़ोसी-धर्मका तकाजा है कि हम पड़ोसीके दु:ख-दर्दको अपना समझकर उसमें हाथ बटायें। उसमें **'लोक लाहु'** भी है और **'परलोक निबाहू'** भी। शिष्टाचार भी है, सदाचार भी।

अब लीजिये—एक सूफी कहानी। काश! हम इससे कुछ सीख सकें। एक सूफी फकीर थे—अब्दुल्ला बिन मुबारक। एक दफा वे हजको गये। हजसे फारिग होकर वे काबामें ही सो गये। मुसलमानोंके पवित्र कर्तव्यों-में है—'काबाकी जियारत करना'। रातमें उन्होंने एक सपना देखा। एक फरिश्ता दूसरेसे पूछ रहा है—'क्यों जी! इस साल हज करनेके लिये कितने लोग तशरीफ लाये और उनमेंसे कितनोंका हज कबूल हुआ?' दूसरा बोला—'हजको चालीस लाख लोग आये, मगर किसीका भी हज कबूल न हुआ।' 'ऐसा क्यों?' बात ऐसी ही है! हाँ, एक आदमीका हज कबूल हुआ और तमाशा यह है कि वह हज करनेके लिये काबा तशरीफ भी नहीं ला सका था। और उसीके तुफैलमें अल्लाहने तमाम हाजियोंको बख्श दिया!' 'कौन है यह पाकहरती?' बोला—'वह है दमिश्कका एक मोची—अलीबिन मूफिक!'

आँख खुली तो अब्दुल्ला बिन मुबारक चल पड़े दमिश्कके लिये। चलें उस खुशनसीबकी कदमबोसी तो कर आयें। अलीबिन मूफिकसे मिले तो उसने हाथ जोड़कर अर्ज की—'हाजी साहब! मैं बहुत दिनोंसे हज जानेकी सोच रहा था। बड़ी मुश्किलसे मैंने ७०० दिरम (चाँदीके बने सिक्के) बचाये। एक दिन मेरी बीबीने कहा—'पड़ोससे कुछ झक आ रही है। जरा माँग तो लाओ, क्या पक रहा है? मेरा जी खानेको कर रहा है।' पड़ोसीसे जाकर मैंने कहा तो वह गिड़गिड़ाकर बोला—'भाई जान! मैं जो पका रहा हूँ, वह किसी आदमीके खानेके लायक नहीं है। सात दिनसे मेरे बच्चे भूखे हैं। बड़ी मजबूरीमें मुर्दा जानवरका गोश्त उठा लाया हूँ, जो आपके लिये हराम है।'

'पड़ोसीकी यह हालत देखकर मेरा दिल दहल उठा। मैंने हजके लिये जमा सात सौ दिरम* उठाकर उस भाईको दे दिये। मुझे लगा कि पड़ोसीकी मुसीबत दूर करना हजसे कहीं—ज्यादा बेहतर है!'

* यह मिस्रदेशका सिक्का है, जिसका मूल्य एक रुपयेके लगभग होता है।

सदाचार-मूर्ति—श्रीहनुमान्‌जी

'साधुसंत के तुम रखवारे'

(लेखक—साहित्य-वारिधि डॉ० श्रीहरिमोहनलालजी श्रीवास्तव, एम० ए०, एल्० टी०, एल्-एल्० बी०)

'आचारः परमो धर्मः'की सूक्तिके अनुसार आचार (सदाचार) परम धर्म है। सदाचार समस्त मानवताका अलंकरण है, जो धर्मके गूढ़ तत्त्व-ज्ञानकी ओर प्रेरित करता है। सदाचार उस पथका प्रारम्भ है तो धर्म उसकी परिणति। सदाचारके क्रियान्वयका ही प्रतिफल धर्मकी गम्भीरताके लिये पथ प्रशस्त करता है।

शंकर-सुवन, पवन-तनय, केसरीनन्दन, अञ्जनि-पुत्र हनुमान्‌जीमें श्रेष्ठ विभूतियोंके संस्कारोंका समन्वय था और वे सदाचारकी साक्षात् प्रतिमा थे। सर्वलोक-महेश्वर शिवने अपने एक अंशसे हनुमान्‌को जन्म देकर श्रीरामकी मङ्गलमयी लीलामें सहयोग किया। अतएव लोककल्याण और भगवद्भक्तिसे सम्पन्न होकर हनुमान्‌ने वायुके वेग और गतिसे सीतामाताके शोक-निवारणका तथा संतप्त मानवताके संकट-हरनका व्रत लिया। श्रीरामकी सेवामें संलग्न हनुमान्‌ने श्रीरामके विश्वजनीन कार्योंमें सहयोग दिया।

'वाल्मीकिरामायण'के अनुसार तेज, धृति, यश, चातुर्य तथा शक्ति, विनय, नीति, पुरुषार्थ, पराक्रम और बुद्धि—ये दस गुण हनुमान्‌जीमें सदैव विद्यमान हैं। उनकी बालोचित चपलताके कारण ऋषियोंकी थोड़ी-सी खिन्नता भी उपयुक्त समयपर काम आयी। ऋषियोंने कहा—'तुम जिस बलका आश्रय लेकर हमें सता रहे हो, उसे दीर्घकालतक भूले रहोगे। जब कोई दूसरा तुम्हें तुम्हारी कीर्तिका स्मरण दिलायेगा, तभी तुम्हारा बल बढ़ेगा।' एक बड़ी सीख थी कि बल और पौरुषका प्रदर्शन लोगोंको सतानेके लिये नहीं होना चाहिये और न सब समय होना चाहिये।

हनुमान्‌जीने अपने गुरुदेव भगवान् सूर्यको वचन दिया था कि वे सुग्रीवकी रक्षामें संनद्ध रहेंगे। प्रतापी बालिसे भरपूर आदर पाकर भी उन्होंने कमजोर सुग्रीवका पक्ष लिया और उसे उन्नतिके उच्च शिखरपर पहुँचानेके साथ ही श्रीरामकी कृपाका अमित लाभ दिलानेके निमित्त बने। भगवान् श्रीराम भी प्रथम परिचयमें हनुमान्‌की संस्कार और क्रमसे सम्पन्न कल्याणमयी वाणीसे प्रभावित हुए और उन्होंने लक्ष्मणसे कहा—'इनके विद्वत्तापूर्ण शुद्ध उच्चारणसे स्पष्ट है कि ये व्याकरणशास्त्रके पारंगत विद्वान् हैं। इन्होंने वेदों और शास्त्रोंका ज्ञान भी प्राप्त किया है। उत्तम संस्कार और शिष्टाचार प्रत्येक प्राणीपर अपना प्रभाव डालते ही हैं। हनुमान्‌की वाग्मिताने श्रीरामको प्रभावित कर दिया।

हनुमान्‌जीको उनके बलका कुछ स्मरण तो सुग्रीवने दिलाया, जब उन्हें श्रीसीताजीकी खोजमें भेजा गया। सुग्रीवने कहा—'कपिश्रेष्ठ! तुममें अपने महापराक्रमी पिता वायुदेवके समान अबाध-गति, वेग, तेज और स्फूर्ति आदि सभी सद्‌गुण हैं। भूमण्डलमें कोई भी प्राणी तुम्हारे तेजकी समानता करनेवाला नहीं है।' अपने आराध्य श्रीरामसे आशीष पाकर उनके नामका अखण्ड जप करते हुए हनुमान्‌जी वृद्ध जाम्बवान्‌का निर्देशन स्वीकार कर उत्साहपूर्वक चल पड़े। समुद्र-तटपर जाम्बवान्‌ने भी हनुमान्‌जीको उनके असीम, अपरिमित बलका सच्चा स्मरण दिलाया। उन्होंने कहा—'हे वज्राङ्ग हनुमान्! श्रीरामके कार्यके लिये ही तुमने अवतार लिया है। ब्रह्मादि देवताओंने तुम्हें अलौकिक वरदान प्रदान किये हैं। तुम अपरिमित शक्ति-सम्पन्न हो। तुम्हारी गति अबाधित और अव्याहत है। यह विशाल
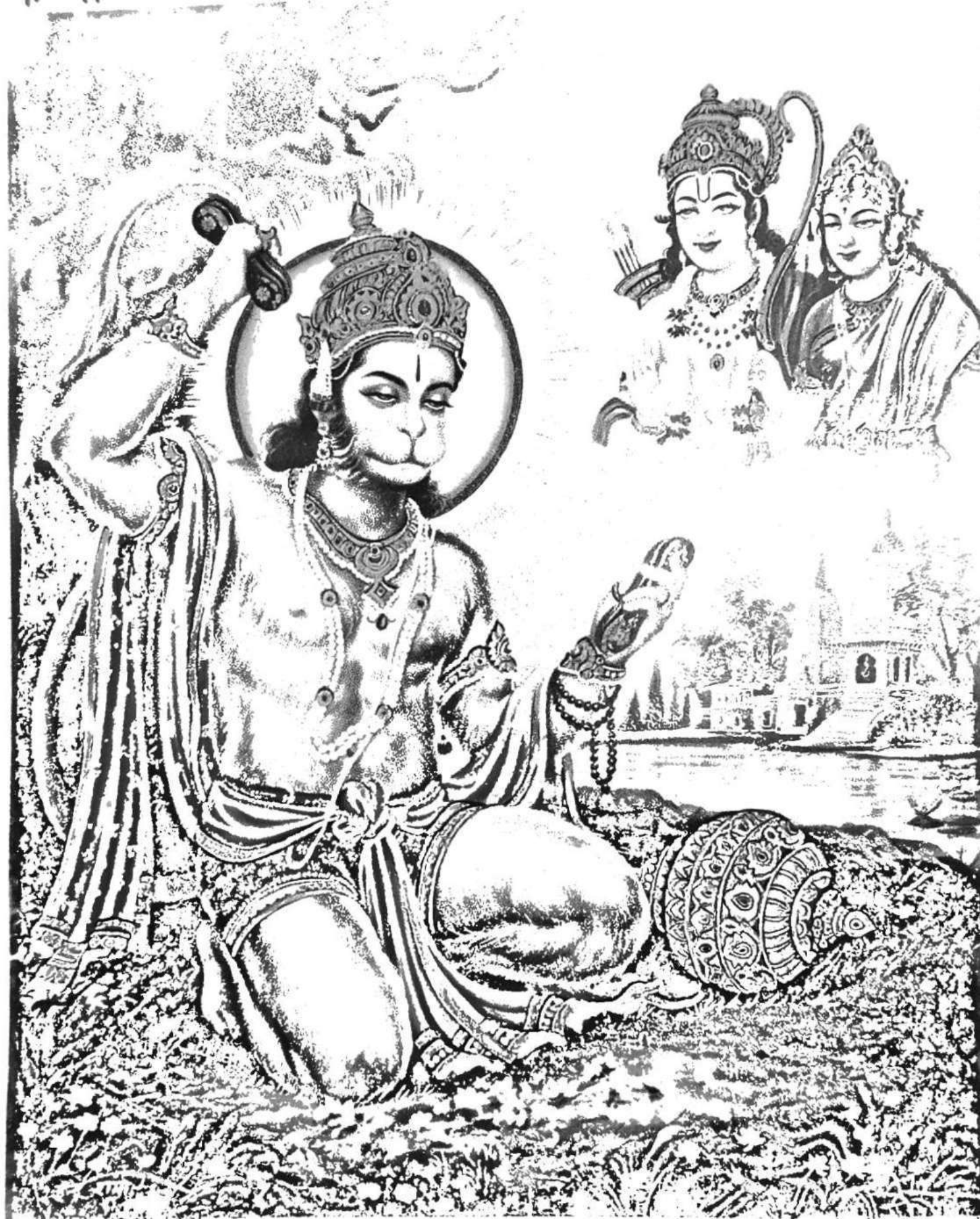
समुद्र तो तुम्हारे लिये तुच्छ और नगण्य है। उठो तथा समुद्रको लाँघकर लंका पहुँच जाओ और सीतामाताके दर्शन कर तुरंत लौट आओ।

आज्ञा-पालनमें विनम्र, कर्तव्य-निर्वाहमें सुदक्ष, वयका सम्मान करनेवाले, हृदयमें अनन्य भक्तिसे विभूषित, बुद्धि, तेज, शक्ति एवं पराक्रमके सजीव विग्रह हनुमान्‌जी सेवा और सदाचार, मङ्गल एवं परोपकारके जाज्वल्यमान आदर्श हैं। समुद्रोल्लङ्घनकी कठिनाई उनके लिये कोई अर्थ नहीं रखती थी। उनकी प्रशस्तिमें गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने कहा—**'दुर्गम काज जगत के जेते। सुगम अनुग्रह तुम्हरे तेते॥'**

लंकामें रामदूतकी अनेक लीलाओंके बीच उनके सदाचारी स्वरूपका उन्नत उत्कर्ष दिखायी देता है। सूक्ष्म देह धारण करते हुए जब उन्होंने रात्रिमें राक्षसोंके अन्तःपुरमें सीतामाताकी खोज की तो उन्हें सब कहीं विलास-मग्न अर्द्ध-नग्न राक्षस-राक्षसी देखनेको मिले। बाल-ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय हनुमान्‌जीके मनमें क्षणभरके लिये नारी-दर्शनके पातकके लिये आत्मग्लानिका संचार हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं। उनके मनमें कभी तनिक गर्वका उद्रेक होनेपर जिस प्रकार भगवान् श्रीराम उन्हें ज्ञान करानेमें सहायक रहे, उसी प्रकार धर्म-संकटके इस अवसरपर हनुमान्‌जीके सम्भ्रमका समाधान उनके इस बोधसे हुआ कि उनकी सारी निष्ठा तो सीता-माताके ध्यानमें केन्द्रित है—सुरापान और भोगविलासमें शिथिल निद्रामग्न ये हाड़-मांसके जीव तो निरे शव हैं। वस्तुतः कामजित् हनुमान्‌में अखण्ड सदाचारका उत्तम निदर्शन है, जो किसी भी साधारण मानवके लिये अलभ्य होते हुए भी मनोनिग्रह और संयम-सदाचारकी सतत साधना-से सुलभ भी हो सकता है। सदाचारका तात्त्विक स्वरूप मानसमें होता है और जिनकी मनःस्थिति परिस्थितियोंसे भी अस्थिर नहीं होती। वे ही तत्त्वतः सदाचारी होते हैं। हनुमान्‌जी ऐसे ही सदाचारी ब्रह्मचारी थे। धर्मलोपकी चिन्ता होनेपर उन्होंने स्वयं सही निर्णय लिया है—

मनो हि हेतुः सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तने।
शुभाशुभास्ववस्थासु तच्च मे सुव्यवस्थितम्॥

(वाल्मी० रा० ५। ११। ४२)

'सम्पूर्ण इन्द्रियोंको शुभ और अशुभ अवस्थाओंमें लगानेकी प्रेरणा देनेमें मन ही कारण होता है, किंतु वह मेरा मन सुव्यवस्थित है—तत्त्वमें सुव्यवस्थित है। (उसमें राग-द्वेषका प्रभाव नहीं है; अतः परस्त्री-दर्शन यहाँ धर्मका लोप करनेवाला नहीं हो सकता।')

तभी तो युद्धमें अमित विक्रम दिखानेवाले और द्रोणगिरिसे संजीवनी लानेवाले हनुमान्‌को जगदम्बा जानकीजीने आशीर्वाद दिया था—'वत्स! समस्त सद्गुण तुममें निवास करें। **'अजर अमर गुननिधि सुत होहू।'** और यह भी कि अनुजसमेत प्रभु तुमपर सदा अनुकूल रहें।

समस्त सद्गुणोंके समूह भक्तप्रवर हनुमान्‌जी बल, सेवा और सदाचारकी मूर्ति हैं। अपने पावन चरित्रसे वे शक्ति, भक्ति, सेवा, समर्पण, त्याग और बलिदानकी प्रेरणा जगानेवाले 'संकटहरन एवं मङ्गलमूर्ति' हैं। उनकी तान्त्रिक उपासना' उग्र मानी जाती है, परंतु वे महावीर निश्छल सौम्यतापर सहज रीझनेवाले हैं। आस्तिकता और परोपकार—सदाचारके दो बड़े लक्षणोंके कारण ही हनुमान्‌जी सदैव पूजनीय हैं। कहीं श्रीराम-कीर्तन सुनकर वे हाथ जोड़े खड़े रहते हैं और कहीं दीन-दुःखियोंकी सहायताके लिये दौड़े जाते हैं। कथा-श्रवण सदाचार-निष्ठाका द्योतक है। सदाचारकी अनूठी सिद्धि ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्यकी सिद्धि ही जीवन है। हनुमान्‌जी अपने सदाचारी सद्गुणोंके ही कारण चिरंजीवी और मङ्गलमूर्ति हैं। सच है—

सूर सिरोमनि साहसी, सुमति समीर कुमार।
सुमिरत सब सुख संपदा, सुदमंगल दातार॥

(दोहा० २३७ रामाज्ञाप्र० ५।४।१)

चारित्र्य और सदाचार

(लेखक—श्रीरामाश्रयप्रसाद सिंहजी)

चारित्र्य और सदाचार जीवनके दो ऐसे पहलू हैं, जिनके सहारे यह जीवन अपने गन्तव्यस्थलतक पहुँच सकता है । इनके अभावमें मानव-जीवन उन्नतिशील नहीं हो सकता । अतः इनकी उपादेयता अत्यन्त आवश्यक है । यही कारण है कि भारतीय धर्म-साधना एवं संस्कृतिमें चारित्र्य और सदाचारको सबसे अधिक महत्त्व दिया गया ।

भारतीय जीवन-दर्शन जीवनके उच्च मूल्योंको महत्त्व देता है । भारतीय मन जिस उच्च जीवनकी कामना करता है, उसमें शील और सदाचारको, सत्य-अहिंसाको, सेवा और सद्भावको, करुणा और दयाको, क्षमा और शान्तिको एवं प्रेम और चरित्रको सबसे ऊँचा स्थान दिया जाता है । हमारा दर्शन धन-वैभव, ऐश्वर्य-समृद्धि तथा भौतिक सुख-सम्पदाको महत्त्व नहीं देता, बल्कि जीवनके उच्चतम मूल्योंको महत्त्व देता है । धन तो आने-जानेवाली वस्तु है । धनके समाप्त होनेपर भी हम मनुष्य बने रह सकते हैं; पर शील, सदाचार और चारित्र्यके विनष्ट होनेपर हम मानवतासे सर्वदाके लिये गिर जाते हैं । यही कारण है कि ऋषियों और महात्माओंने शील, सदाचार और चारित्र्यके रक्षणपर सबसे अधिक बल दिया है । नीतिज्ञ विदुरजी कहते हैं कि सदाचारकी रक्षा यत्नपूर्वक करनी चाहिये, धन तो आता और जाता रहता है । किंतु जो सदाचारसे भ्रष्ट हो गया, उसे तो नष्ट ही समझना चाहिये ।

चारित्र्य और सदाचार एक ही सिक्केके दो पहलू हैं, एक ही धातुखण्डके दो टुकड़े हैं या एक ही भावके दो रूप हैं । इन दोनोंके मूलमें शील है । शील, सदाचार और चारित्र्यकी त्रिवेणी-धारामें ही समस्त भारतीय दर्शन प्रवाहित होता रहा है । शील, सदाचार, वृत्त, चारित्र्य सभी पर्यायवाची शब्द हैं । समस्त धर्म-ग्रन्थों एवं शास्त्रोंमें शील, सदाचार एवं चारित्र्यकी महिमाका गान है । वाल्मीकि-रामायणका प्रायः शुभारम्भ चारित्र्यके प्रश्नसे होता है—**'चारित्र्येण च को युक्तः ?'** चारित्र्य ही मानव-जीवनकी असली पूँजी है । धम्मपदमें शीलगन्धको सबसे उत्कृष्ट गन्ध माना गया है—**'सील गन्धो अनुत्तरो'** (४ । १२) श्रीरामचरितमानसमें धर्म-रथके वर्णनमें शीलको सबसे ऊँचा स्थान दिया गया है, उसे पताका कहा गया है—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥

(६ । ७९ । ५)

इससे यह स्पष्ट है कि मानव-जीवनमें सदाचारका महत्त्व अद्वितीय है । हमारा यह मानव-जीवन जबतक अस्तित्वमें रहे, उसमें सदाचारकी सुगन्ध, शीलका सुवास और चारित्र्यका परिमल रहना चाहिये । हमारे जीवनसे यदि शीलकी सुगन्ध न छिटकी, सदाचारकी ज्योति विकीर्ण न हुई तो हमारा जीवन अर्थहीन है । शील ही जीवनकी शोभा है और सदाचार ही जीवनकी आभा है । शील, सदाचारसे हीन व्यक्तिका जीवन पतित या पशुका जीवन है; राक्षसका जीवन है । विदुरजी सदाचारको ही मानव-जीवनका सारसर्वस्व मानते हैं । उनकी स्पष्ट घोषणा है कि 'सदाचारसे हीन मनुष्यका कुल—चाहे जितना भी ऊँचा क्यों न हो, वह निम्न ही समझा जायगा और नीच कुलोत्पन्न मनुष्यका यदि सदाचार ऊँचा है तो वह श्रेष्ठ माना जायगा'—

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः ।
अन्तेष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते ॥

(महा० उद्योग० ३६ । ३०)

महाभारतमें विदुरने नीतिकी जितनी बातें बतलायी हैं, उनके मूलमें सदाचार ही निहित है। वास्तवमें सदाचार धर्मका मूल है। शास्त्रोंमें सदाचारकी जो प्रभूत प्रशस्ति मिलती है, इसका कारण यही है कि सदाचार और धर्मका आधाराधेय-सम्बन्ध है। वेदविहित अथवा शास्त्र-निर्दिष्ट आचरण ही सदाचार है। मानवके जो उच्चतम गुण हैं, उसके जो सुन्दर आचरण हैं, वे ही सदाचार हैं। सदाचारसे रहित व्यक्तिको वेद भी पवित्र नहीं कर सकते—**'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।'** इसीलिये हमारे पूज्य पुरुषों और ऋषियोंने कुल, जाति, धन, वैभव, रूप आदिको महत्त्व न देकर शील-सदाचार और चारित्र्यको महत्त्व दिया। संसारमें जाति और कुलको लेकर आज कितना कोलाहल मचा है तथा कितनी अशान्ति और असंतोष है? लगता है—सारा संसार जाति, कुल और वर्णको लेकर ही पागल हो गया है; किंतु हमारे शास्त्र व्यक्ति और उसके चरित्र तथा शील-सदाचारको महत्त्व देते हैं। हमारे शास्त्रोंकी यह मान्यता है कि जाति, गोत्र, कुलकी अपेक्षा भी विशेष महत्त्व है—चारित्र्यका, शीलका और सदाचारका। महर्षि व्यासदेव महाभारतमें कहते हैं—

कुलानि समुपेतानि गोभिः पुरुषतोऽर्थतः।
कुलसंख्यां न गच्छन्ति यानि हीनानि वृत्ततः॥
वृत्ततस्त्वविहीनानि कुलान्यल्पधनान्यपि।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद्यशः॥
(उद्योग० ३६। २२)

'गौओं, मनुष्यों और धनसे सम्पन्न होकर भी जो कुल सदाचारसे हीन हैं, वे अच्छे कुलोंकी गणनामें नहीं आ सकते। थोड़े धनवाले कुल भी यदि सदाचारसे सम्पन्न हैं तो वे अच्छे कुलोंकी गणनामें आ जाते हैं और महान् यशको प्राप्त करते हैं।'

सदाचारसे जीवनमें सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। आयु, बल, तेज, कान्ति, धन, यश, कीर्ति, सब कुछ सदाचारपर निर्भर हैं। मनुस्मृति (४। १५६) में कहा गया है कि आचारसे सौ वर्षका दीर्घ जीवन प्राप्त होता है, पुत्र-पौत्रादि उत्तम संतानें प्राप्त होती हैं, अक्षय धन मिलता है और दुर्गुणोंका नाश होता है। अतः प्रत्येक राष्ट्रने, प्रत्येक जातिने, प्रत्येक धर्मने सदाचार और चारित्र्यकी महिमाका गान किया है।

रूसके महान् चिन्तक लेव तलस्तोय (Leo Tolstoy)ने 'धर्म और सदाचार' नामसे एक पुस्तक ही लिख डाली है। आजका युग राजनीतिका युग है, किंतु राजनीतिके लिये भी धर्म, सदाचार और नैतिकता-की आवश्यकता है। आज राजनीतिमें जो गंदगी आयी है, उसका एकमात्र कारण है—राजनीतिमें सदाचार और नैतिकताका अभाव, धर्म और चारित्र्यकी न्यूनता। मनीषी तलस्तोयकी यह स्पष्ट मान्यता है कि 'धर्म, सदाचार और नीतिके बिना न तो पहले और न अब कोई मनुष्य-समाज या राष्ट्र जिंदा रहा है, न रह सकता है।' नेपोलियन बोना-पार्टकी मान्यता थी—'कर्मशील और सदाचारी बनो' (Be a man of Action and Character.) अंग्रेज कवि वेल्सने कहा है कि वही मनुष्य वास्तवमें मनुष्य है, जिसका हृदय निर्दोष और पवित्र है, जिसने जीवनमें बेईमानी और बुरा कर्म नहीं किया है और जिसका मन अभिमानसे रहित है—

"The man of upright life,
Whose guiltless heart is free,
From all thoughts of vanity,
Is a real man indeed."

बाइबिलमें ईसामसीहने उपदेश देते हुए कहा है—'Blessed are those, pure in heart; for they shall see God" 'वे धन्य हैं! जो हृदयसे शुद्ध हैं; क्योंकि उन्हें परमात्माका दर्शन होगा।'

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् राम अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥

(मानस ५ । ४४ । ५)

अतः चारित्र्य और सदाचार मानवके लिये आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी हैं। ये जीवनके अङ्ग हैं। इन्हें हम मानवके दो पंख कह सकते हैं। पक्षीको आकाशमें उड़नेके लिये दो पंख चाहिये। साधकको भी चिदाकाशकी यात्राके लिये ज्ञान-वैराग्यके दो पंख चाहिये। उसी प्रकार मानवको अपने जीवनके लक्ष्यतक पहुँचनेके लिये सदाचार और चारित्र्यके दो पंखोंकी अपेक्षा है। आखिर हम मनुष्य हैं, मानव हैं। मानवका जीवन पशु-जीवन नहीं है। वह जमीनमें बिल बनाकर नीचे घुसनेके लिये नहीं है। वह कीड़े-मकोड़ेकी तरह जमीनपर रेंगनेके लिये नहीं बना है। मानवका जीवन ऊपर उठनेके लिये है, ऊर्ध्व संचरणके लिये है। मानवकी परिभाषा क्या है? 'मननात्—मनुष्यः'—जो मनन करे, चिन्तन करे, वह मनुष्य है।' मानवका यह जीवन साधारण जीवन नहीं है; यह दिव्य जीवन है। भारतके जनमानसके इष्टदेव भगवान् श्रीराम श्रीमुखसे कहते हैं—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सद ग्रंथन्हि गावा॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

(मानस ७ । ४२ । ४)

वेद भगवान्‌की भी घोषणा है कि—**'उद्यानं ते पुरुष नावयानम्।'** (अथर्व० ८ । १ । ६) हम हैं ही ऊपर चलने (उत्थान)के लिये। नीचेकी ओर हमें यान अर्थात् गति नहीं करनी है—**'न अवयानम्'**। मानवको ऊपर उठनेके लिये सदाचार और चारित्र्यका ही सहारा लेना होगा। बिना इनके वह कदापि ऊपर नहीं उठ सकता।

'कठोपनिषद्'में नचिकेताने कितना सत्य कहा है—**'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'**—मनुष्यको धनसे कभी भी तृप्त नहीं किया जा सकता। धन और वैभव तो आते-जाते रहते हैं, क्षणिक और नश्वर हैं। कितने सम्राट् और तानाशाह आये और गये, उनके साथ ही सत्ता और सामर्थ्य, धन और वैभव सभी समाप्त हो गये। एक शायरने कितना सच कहा है—**मकबरोंमें पैर फैलाये हुए सोते हैं वो। जमींसे आसमांतक जिनका सेहरा था एक दिन॥'** परंतु सदाचार और चारित्र्यकी पूँजी नहीं मिटती। सदाचारी, चरित्रवान् तथा शीलवान् व्यक्ति मरकर भी अमर रहते हैं। इनके सदाचरण, इनके सुकर्मकी सुवाससे सारा संसार सुवासित रहता है। सदाचारी पुरुषका हर आचरण धर्ममय होता है। उसका हर कर्म प्रकाशकी एक किरण है और उसका हर आचरण आलोक है, जिसके प्रकाशमें सामान्य मानव-प्राणी अपना मार्ग निर्धारित करता है।

हमारे राष्ट्रमें अति प्राचीन कालसे ही सदाचारकी एक सात्त्विक सरिता सतत प्रवाहित होती रही है; अजस्र स्रोत प्रवहमान रहा है। सदाचारके इसी अक्षय स्रोतसे हम आजके युद्ध-जर्जर और विषाक्त विश्वके लिये शीतल जल लेकर कल्याणका कार्यक्षेत्र सिक्त कर सकते हैं, मानवताका पथ प्रशस्त कर सकते हैं, प्रेमका पावन प्रकाश विकीर्ण कर सकते हैं। सदाचारके सोपानपर आरूढ़ होकर ही हम स्वर्गीय गौरव एवं आनन्दकी प्राप्ति कर सकते हैं और चारित्र्यकी फुलवारीमें ही हम जीवन-पुष्पकी सर्वश्रेष्ठ सुगन्ध फैला सकते हैं। जबतक हम अपने जीवनमें सदाचारका सुवास और चारित्र्यकी कान्ति नहीं लायेंगे, तबतक हमारे जीवनमें शान्ति और विश्रान्ति नहीं आ सकती। अमृतत्वकी प्राप्ति ही मानव-जीवनका एकमात्र लक्ष्य है। सदाचार, शील और चारित्र्यकी पावन त्रिवेणी-धारामें गोता लगाये बिना वह अमृतत्व नहीं प्राप्त हो सकता।

सदाचार और चारित्र्यकी कमीके चलते आज समस्त संसारमें एक कड़ुआहट पैदा हो गयी है, एक भयंकर तिक्तता आ गयी है। भौतिक सम्पदाके संग्रहकी होड़ने वातावरणको विषाक्त बना दिया है।

मानवका ऐसा चारित्रिक अधःपतन किसी भी युगमें न हुआ है। जीवनका प्रत्येक क्षेत्र गँदला हो गया है। सत्ता और स्वार्थने व्यक्ति और समाज दोनोंको भ्रष्ट बना दिया है। इसका एकमात्र कारण है हमारे जीवनसे शील और सदाचारका विदा होना। शील, सदाचार और चारित्र्यके हटते ही सत्य, अहिंसा, धर्म, कर्म, धन, ऐश्वर्य, शक्ति, ईमान सभी समाप्त हो जाते हैं। आज मानव-मनमें जो बेचैनी और अशान्ति आयी है, वह इसलिये कि हमारे जीवनसे सदाचारका सोता सूख गया है, शीलकी सरिता सूख गयी है।

आज हमारे ज्ञान-विज्ञान सभी व्यर्थ सिद्ध होंगे, यदि हम सदाचारी नहीं हैं, शीलवान् नहीं हैं, चरित्रवान् नहीं हैं। शास्त्रों, धर्मग्रन्थों और नीतिग्रन्थोंके पढ़नेसे क्या लाभ जो आज हम दुःशील बन रहे हैं, कठोर और क्रूर बन गये हैं, हिंसक और अत्याचारी बन गये हैं, उद्दण्ड और अहंवादी बन गये हैं? शास्त्राध्ययनका फल तो सुशीलता और सदाचार है—'शीलवृत्तफलं श्रुतम्'। फिर यह कड़वाहट, तिक्तता और दुःशीलता क्यों? क्या हम अपने पूज्य पुरुषों, संतों और महात्माओंके सदाचार, उनके चरित्र और उनके उदात्त विचारोंसे कुछ न सीखेंगे? क्या हमारा जीवन भी उन्हींकी तरह उदात्त और महान् नहीं बनेगा? यदि नहीं तो नर-शरीर प्राप्त करना व्यर्थ है, मानवकी योनि पाना निरर्थक है। आइये, हम फिरसे अपने जीवनमें शील, सदाचार, धर्म, नीति और चारित्र्यको प्रतिष्ठित करें, अपने जीवनको पवित्र बनायें। व्यक्ति पवित्र बन जाय तो समाज सात्त्विक हो जाय और विश्व विमल बन जाय। तो फिर हम आर्य सदाचार और शीलको अपनाकर अपना, राष्ट्रका और विश्वका कल्याण करें।

आधुनिक वेष-भूषा और विलासितासे चारित्रिक ह्रास

[विलासिताकी सामग्रियोंके प्रचारसे युवक-युवतियोंके धन, स्वास्थ्य तथा चरित्रका नाश]

अङ्गराग, अधरराग, नखरञ्जिका आदि सोलह शृङ्गारके प्रसाधनोंका वर्णन वात्स्यायनसूत्र, नाट्यशास्त्र, काव्य एवं नाटकोंके अतिरिक्त पुराणोंमें तथा महाभारतादि ग्रन्थोंमें भी आया है। पुराने समयमें भी शृङ्गार किया जाता था, किंतु उस समयके शृङ्गारमें दो बातें थीं—संयम तथा सात्त्विकता। उस समयके शृङ्गार-प्रसाधनोंमें स्वास्थ्यके लिये हितकारी पवित्र ओष[illegible] पड़ती थीं। उन ओषधियोंसे युक्त शृङ्गारको धारण करनेसे शरीर स्वस्थ रहता था, चित्त प्रफुल्लित रहता था और मनपर सात्त्विक प्रभाव पड़ता था। इतनेपर भी शृङ्गार कामवर्धक ही माना जाता था। अङ्गरागादि धारण करनेका अधिकार केवल गृहस्थको था और स्त्री तभी अपने शरीरका शृङ्गार करती थी, जब कि उसका पति उसके पास हो। अभिप्राय यह कि शृङ्गार केवल पतिके सुखके लिये ही किया जाता था। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यासाश्रममें किसी भी प्रकारका शृङ्गार वर्जित है। '**नाकामी मण्डनप्रियः**'के अनुसार शरीरको सुन्दर दिखानेकी भावना और संयम या आदर्श—ये दोनों बातें एक साथ नहीं चल सकतीं। सौभाग्यवती स्त्रीके लिये आदेश है कि यदि पति कहीं दूर चला गया हो तो वह सब प्रकारके शृङ्गारोंको छोड़ दे और अपने सौभाग्यके चिह्न सिन्दूर, चूड़ी आदिके अतिरिक्त अपने शरीरका अन्य कोई शृङ्गार न करे।

कोई भी अविवाहिता बालिका यदि अपनेको इस प्रकार सजाती है कि लोगोंके नेत्र सहसा उसकी ओर जायँ तो यह उसके मानसिक पतनकी सूचना

है। आज तो बात इससे बहुत अधिक बढ़ गयी है। शृङ्गारकी—विलासिताकी बहुप्रचलित सामग्रियोंका उपयोग लड़कियोंके समान ही लड़के भी बहुलतासे करने लगे हैं। विद्यालयोंके छात्रोंके लिये तो ये विलासिताकी सामग्रियाँ आवश्यक पदार्थ बन गयी हैं। अध्ययनके स्थानपर उनका ध्यान अपनेको सजाये रखनेपर अधिक रहने लगा है। फलतः उनके चरित्रके विनाशकी चर्चा आज सर्वत्र है।

विद्यार्थीका भूषण है—शील, सहिष्णुता एवं अध्ययन। भारतीय सम्राटोंके युवराज भी गुरुकुलोंमें भूमिपर ही सोते थे और भिक्षामें मिला रूखा-सूखा अन्न खाते थे। उनकी कमरमें मूँजकी मोटी रस्सी होती थी, जिसमें वे कौपीन लगाते थे। उनके शरीरपर मृगचर्म रहता था और हाथमें एक लकड़ीका दण्ड। मस्तक उनका या तो घुटा (मुड़ा) रहता या उसपर जटाएँ होतीं थीं। उनका स्वस्थ, सुदृढ़ शरीर और तेजोमय मुख देवताओंके समान प्रतीत होता था। इसके विपरीत, आजका विद्यार्थी भड़कीले वस्त्रोंमें ढका, मुखपर क्रीम-पाउडर लगाये, स्त्रियोंके समान बालोंको बार-बार हिलाता, सजाता, दुर्बल, निस्तेज और सर्वथा दयनीय प्रतीत होता है! बचपनमें ही नेत्रोंकी ज्योति क्षीण हो जानेसे उसे उपनेत्र (चश्मा) लगाना पड़ता है। उसकी विलासप्रियता उसके चरित्रको नष्ट कर देती है। फलतः वह युवक होनेपर भी वृद्ध-जैसा दीखता है—विलासिता उसे वृद्धावस्थामें पहुँचा रही है।

पहले कन्याएँ प्रातःकाल सूर्योदयसे पूर्व ही स्नान कर लेती थीं। वे गौरी-पूजन करती थीं। उनका आभूषण था लज्जा। शील और संकोचकी वे मूर्ति होती थीं। घरमें माताके घरेलू कामोंको यथासम्भव पूरा कर लेनेका उनमें पूरा उत्साह होता था। उनके मुखपर लज्जाके साथ भोलापन भी रहता था। लेकिन आज तो नींद टूटते शय्यापर ही चायकी आवश्यकता होती है। इसके बाद तुरंत पाउडर-क्रीम लेकर मुखको सजाना आवश्यक हो जाता है। घरके काम करना तो दूर, अपने स्वयंके कामके लिये भी सेवकोंकी आवश्यकता होती है। इस विलासप्रियताके कारण चरित्र, स्वास्थ्य तथा सौन्दर्य भी नष्ट होते चले जा रहे हैं। चरित्रसे सौन्दर्य चमक उठता है और उसके बिना सौन्दर्य घृणित हो जाता है। पर चरित्रकी ओर दृष्टि ही कहाँ है?

आज भारतीय जीवनपर पाश्चात्त्य सौन्दर्य-विज्ञान (Aesthetic Seince, Douglas Ainslic)का प्रभाव सुस्पष्ट है। किंतु इन पाउडर, क्रीम, लिपस्टिक आदिमें जो पदार्थ पड़ते हैं, उनका यह सहज स्वभाव है कि वे त्वचाकी कोमलता तथा स्वाभाविक सौन्दर्यको नष्ट कर देते हैं। किसी ऐसे व्यक्तिको, जो नित्य पाउडर लगाता है, सबेरेके समय जब उसने अपना शृङ्गार न किया हो, आप देख लें तो आपको उसके पीले, बदरंग चेहरेसे घृणा हो जायगी। त्वचामें जो एक प्रकारकी मनोहर स्निग्धता होती है, पाउडरका उपयोग करते रहनेसे वह नष्ट हो जाती है। इस प्रकार विलासिताके ये पदार्थ स्वाभाविक सौन्दर्यको नष्ट करके इस बातके लिये विवश कर देते हैं कि व्यक्ति अपनेको कृत्रिमरूपसे सदा सजाये रहे। जब वह इन पदार्थोंका उपयोग किये बिना दूसरोंके सामने जाता है तो उसका चेहरा, उसकी त्वचा रूखी तथा अनाकर्षक दिखायी देती है।

यह कैसे सम्भव है कि नखोंपर, ओष्ठपर तथा शरीरपर आप जो पदार्थ लगाते हैं, उनका कोई भाग आपके पेटमें न पहुँचे। नख तथा ओष्ठ रँगनेमें जिन रंगों तथा पदार्थोंका उपयोग होता है, उनमेंसे अनेक विषैले भी होते हैं। वे पेटमें पहुँचकर पाचनक्रियाको दूषित कर देते हैं, जिससे अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं। शरीरमें जो रोम हैं, उनकी जड़ोंमें सहस्रों सूक्ष्म छिद्र (रोमकूप) हैं। इन छिद्रोंसे पसीनेके द्वारा शरीरका दूषित द्रव्य सदा बाहर आया करता है। पाउडर, स्नो आदिके

उपयोगसे ये रोमछिद्र बंद हो जाते हैं। पसीनेके प्रवाहमें बाधा पहुँचती है। शरीरका दूषित द्रव्य निकल नहीं पाता। इससे त्वचाकी कान्ति नष्ट हो जाती है। त्वचा-सम्बन्धी रोगोंकी आशङ्का बढ़ जाती है। ऐसे लोगोंको यदि कोई त्वचा-सम्बन्धी रोग (खुजली आदि) हो जाता है तो बहुत कष्ट होता है। साधारण फुंसियाँ भी ऐसी त्वचापर अत्यन्त पीड़ा देनेवाली बन जाती हैं। विलासिताकी वस्तुओंमें पाउडर, स्नो, क्रीम, लिपस्टिक, नखका रंग आदि सेवन करनेवालोंको प्राय: आमाशय तथा त्वचाके रोग भी होते हैं।

विलासिताकी सामग्रियोंका अधिक उपयोग युवक तथा युवतियाँ करती हैं। विद्यालय एवं महाविद्यालयोंमें पढ़नेवाले छात्र एवं छात्राएँ अन्धाधुन्ध इन वस्तुओंका उपयोग करने लगे हैं। उनके माता-पिता तथा अभिभावक समझते हैं कि उनके बालक पढ़ते हैं और पढ़ाईमें खर्च होता ही है, किंतु सच्ची बात यह है कि छात्र-छात्राएँ माता-पिताकी गाढ़ी कमाईका धन विलासिताकी सामग्रियोंमें, सिनेमा तथा पार्टियोंमें एवं अभक्ष्य-भक्षणमें नष्ट करते हैं। अपने परिवारकी स्थितिका उन्हें तनिक भी ध्यान नहीं रहता। वे नहीं सोचते कि व्यर्थ वस्तुओंमें वे जो पैसा नष्ट कर रहे हैं, वह उनपर विश्वास करनेवाले उनके अभिभावकने कितने यत्नसे प्राप्त किया है। पाउडर, स्नो, क्रीम, हेजलीन, लिपस्टिक, सेंट आदि वस्तुओंके उपयोगसे केवल धनका नाश होता हो, इतनी ही बात नहीं, इनके द्वारा चरित्रका नाश भी होता है और स्वास्थ्य भी बिगड़ता है। इन वस्तुओंमें प्राय: हानिकर एवं अपवित्र पदार्थ पड़े होते हैं। कुछ तो चर्बी-जैसे या उससे भी अपवित्र पदार्थ इनमेंसे अनेक वस्तुओंमें पड़ते हैं और फिर इनको मुख एवं होठतक लगाया जाता है। जो लोग आचारका तनिक भी ध्यान रखते हैं, उन्हें इन वस्तुओंके उपयोगसे सर्वथा ही दूर रहना चाहिये। आचारसे ही सदाचारकी रक्षा हो सकती है।

श्रीरोम्यारोलाँने नि:शस्त्रीकरणके सम्बन्धमें कहा था कि 'शस्त्र युद्धके प्रतीक हैं। जब सभी राष्ट्र अपने-अपने शस्त्रास्त्र बढ़ानेकी धुनमें लगे हैं, तब युद्ध अनिवार्य है। इससे कोई मतलब नहीं कि सभी राष्ट्र युद्ध न करनेके पक्षमें हों ही।' इसी प्रकार यह भी सोचनेकी बात है कि शृङ्गारका लक्ष्य क्या है? शृङ्गार किया जाता है—दूसरोंकी दृष्टिमें अपनेको सुन्दर सिद्ध करनेके लिये, दूसरोंके नेत्र अपनी ओर आकर्षित करनेके लिये, अपनेको सुन्दर सिद्ध करने तथा दूसरोंकी दृष्टि अपनी ओर आकर्षित करनेकी चेष्टाके मूलमें काम-भावना होती है।

एक बार एक परिचित विद्वान् कह रहे थे—'ये लड़कियाँ आधुनिक वेष-भूषामें सज-सँवरकर, नंगे सिर, खुली भुजाएँ अपने अर्धनग्न शरीरका प्रदर्शन करती बाजारोंमें निकलती हैं और फिर शिकायत करती हैं कि लोग उन्हें कुदृष्टिसे देखते हैं।' अपनेको इस प्रकार प्रदर्शनकी वस्तु बनानेका तात्पर्य दूसरा हो ही क्या सकता है? क्या यह शिष्ट और भारतीय परम्परा है, क्या यह सदाचारके विपरीत नहीं है?

शृङ्गार करनेवालेके मनमें क्या है, इससे कोई मतलब नहीं। शृङ्गार स्वयं शरीरके प्रति एक आकर्षण है। इसके द्वारा अनजानमें ही कामुकता बढ़ती रहती है, दूसरेके नेत्र आकर्षित होते हैं और फिर यह आकर्षण एवं पतनका भी कारण बन जाता है। जैसे—राष्ट्र चाहें या न चाहें, शस्त्रास्त्रकी वृद्धि होगी तो युद्ध होकर ही रहेगा, वैसे ही शृङ्गारप्रियता आयगी तो चरित्रका नाश होगा ही। शृङ्गारिता सच्चरित्रताकी विरोधिनी है।

आजकल अज्ञानवश माताएँ छोटे शिशुओंको भी पाउडर लगाकर सजाती हैं। बालककी कोमल त्वचापर इसका बहुत ही हानिप्रद प्रभाव पड़ता है।

बालकके लिये धूलिमें खेलना स्वाभाविक स्वास्थ्यप्रद है । शिशुके अङ्गोंमें शुद्ध सरसोंके तेलकी मालिश करनेसे शिशुके अङ्ग पुष्ट होते हैं । बच्चोंको पाउडर, क्रीम आदि नहीं लगाना चाहिये । इससे बालकका स्वास्थ्य नष्ट होता है ।

आवश्यकता तो इस बातकी है कि सरकार विलासिताके पदार्थोंका विदेशोंसे देशमें आना सर्वथा बंद कर दे और देशमें इनके निर्माणपर प्रतिबन्ध लगा दे । मनुष्य-जीवनके लिये ये पदार्थ किसी प्रकार आवश्यक नहीं हैं । इनसे धन, चरित्र तथा स्वास्थ्यका नाश होता है । प्रत्येक व्यक्तिको इन पदार्थोंके उपयोगसे बचना चाहिये और अपने बच्चोंको बचाना चाहिये । तभी सदाचारकी रक्षा होगी ।

सर्वसुखी एवं सदाचारी बननेके लिये आचरणीय कर्तव्य

[यदि तुम चाहते हो कुछ—]

करना—तो गुरुजनों एवं गुणियोंका यथायोग्य सम्मान और उनकी यथावश्यक सेवा-शुश्रूषा करो ।

जानना—तो स्वयं अपने एवं अपने कर्तव्योंको जानो ।

जीतना—तो क्रोध, लोभ, मान, छल, कपट, काम-वासना आदि आत्मोन्नतिमें बाधक, मनके विकारोंको जीतो ।

त्यागना—तो कुविचारों, दुराचारों और दुर्व्यसनोंको त्यागो ।

बचना—तो मात्र नामधारी गुरुओं एवं दुराचारी मित्रोंकी संगतिसे बचो ।

लिखना—तो जिससे स्व-परका हित हो, सदैव वैसा ही लिखो ।

सोचना-विचारना—तो स्वयंको योग्य, गुणी एवं सुखी बनानेकी बात सोचो ।

देना—तो स्व-पर-कल्याणके कार्योंके किये जानेमें अपने तन, मन, धनका भरपूर सहयोग दो ।

लेना—तो जहाँसे भी मिले, वहींसे अच्छी शिक्षा लो ।

खाना—तो शरीर एवं मन, दोनोंको ही जो स्वस्थ बनाये रक्खें, ऐसी ही सात्त्विक वस्तुओंको खाओ ।

पीना—तो प्रभु-गुण-गानका मधुर रस पिओ ।

बोलना—तो प्रिय, सत्य और स्व-पर-हितकारी वचन बोलो ।

देखना—तो अपने दोषों तथा दूसरोंके गुणोंको देखो ।

सुनना—तो श्रीभगवान्‌की गुणगाथा, रामचर्चा एवं पीड़ितोंकी आह सुनो ।

शान्ति प्राप्त करना—तो राग-द्वेष, ईर्ष्या-तृष्णा, माया-मोह, ममता और दुराशा-निराशा आदिकी बातें न कभी सोचो, न करो ।

—श्रीशान्तिचन्द जैन

चरित्र-निर्माणका प्रेरणा-स्रोत—'श्रीरामचरितमानस'

(लेखक—पं० श्रीरामप्रसादजी अवस्थी, एम्० ए०, शास्त्री, 'मानस-व्यास')

सदाचार मानवताका वह प्रकाश-स्तम्भ है, जहाँसे सर्वतोमुखी प्रतिभाकी देदीप्यमान रश्मियाँ प्रस्फुटित होती हैं। व्यक्ति ही समाजका घटक है। सदाचारी व्यक्ति ही समाज तथा सशक्त राष्ट्रका निर्माण करता है। व्यक्तियोंसे समाजका और समाजसे राष्ट्रका परस्पराश्रित सम्बन्ध होता है। राष्ट्रका उन्नयन, उत्कर्ष, वहाँके निवासियोंके चरित्रपर निर्भर होता है। चरित्रमें वह सब कुछ आ जाता है, जो विचारके आचारमें परिणत हो जानेसे सम्भूत होता है।

गोस्वामी तुलसीदासकी अमरकृति—'मानस' अपने-आपमें चरित्रकी विशद व्याख्याका एक विश्वकोश-सा है। चरित्र मानवका सर्वस्व है। मानव-उत्थानका वह उच्चतम शिखर है, जहाँसे गिरकर पुनः मूलस्थानपर पहुँचना दुष्कर होता है—

गिरि ते जो भूपर गिरै, मरै सो एकहि बार।
जो चरित्रगिरि ते गिरै, बिगरै जनम हजार॥

रामचरित्र विश्वमें सर्वश्रेष्ठ आदर्श चरित्र है और 'मानस' उसका परिष्कृत प्रतिनिधि है। वह सदाचारकी प्रेरणाका मूल उत्स है। यही कारण है कि इसमें अवगाहन करनेवालेका जीवन आदर्श, अनुकरणीय बन जाता है। मानसके प्रतिपाद्य तत्त्व हैं—श्रीरविकुल-मण्डल-मण्डन मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम। उनका विशद चरित्र ही सदाचारकी सर्वाङ्गीण प्रतिभा है। नित्य नवीन जीवनमें उल्लासकी उपलब्धि उनके चरित्र-श्रवण, मननके द्वारा होती है। इसीलिये इसकी फलश्रुतिमें कहा गया है—

सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई॥
जे गावहिं यह चरित सँभारे। तेइ एहि ताल चतुर रखवारे॥

जिस समय आततायियोंकी तूती बोल रही थी, अत्याचारका तुमुल नाद छाया था, क्षत्रियोंका बाहुबल क्षीण हो चुका था, ज्ञान-भानु अस्ताचल-शृङ्गमें समा चुका था, चोटियाँ विलुम्पित और बेटियाँ प्रकम्पित थीं, उसी समय तुलसीने श्रीरामचरितका विशद यश जनताके समक्ष उपस्थित किया। उन्होंने श्रुति-शास्त्र-पुराणोंका समस्त सदाचार-सार राघवके यशमें रख दिया और असाध्यको साध्य, अगम्यको गम्य कर दिया। आज तुलसी विश्वके मानसमें राजहंसके रूपमें विराजमान हैं।

सदाचरणपूर्वक भक्ति एवं भगवत्-प्राप्तिके लिये साधन-क्रमका विधान 'मानस' इस प्रकार करता है—

भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥
बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥
मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग जप जाग बिरागा॥

भ्रातृत्वका अलौकिक उदाहरण श्रीराम और भरतके पारस्परिक सौहार्द, सौजन्यमें दीखता है। भरत यदि **'मेरे सरन रामहि की पनही'**के उद्घोषक हैं तो राम उनके नामके जापक हैं। यह कहना कठिन है कि चरित्रबलमें कौन आगे है! भ्रातृत्वका ऐसा सदाचार और कहाँ है?

अनेक स्थलोंपर चरित्रकी झाँकी मानसमें विस्तारसे वर्णित है। पितासे पुत्रका, भाईसे भाईका, पतिसे पत्नीका, मित्रसे मित्रका क्या व्यवहार होना चाहिये—इसका विवेचन बड़ी शालीनताके साथ मानसमें सँजोया हुआ है। मानसके चरित्रनायक श्रीराम हैं, जो आदर्शके अनूठे उदाहरण हैं। अतः कहा गया है कि विश्वमें ऐसा कौन है, जो श्रीरामका अनुव्रती न हो—**'लोके न हि स विद्यते यो न राममनुव्रतः।'**

इष्टके बिना जीवनके अनिष्ट दूर नहीं होते। श्रीराम ही इष्ट हैं, उपास्य हैं एवं जीवनके पग-पगपर आनेवाली परिस्थितियोंके दिव्य आलोक हैं। भारतको राष्ट्रके रूपमें एवं मानवके चरित्र (ज्ञान-कर्म) के स्वरूपमें श्रीरामको चित्रित किया गया है—

हिम गिरि कोटि अचल रघुबीरा। कोटि सिंधु सत सम गंभीरा ॥

तुलसीके राम ब्रह्म भी हैं, ऐतिहासिक भी हैं और सभी परिस्थितियोंमें, सर्वकालमें, सर्वदेशमें उपलब्ध भी हैं। यहाँतक कि रामके अतिरिक्त कुछ अन्य है ही नहीं। वे भारतके शीर्षभाग हिमालयके समान अडिग हैं और उनकी कटि एवं अधोभागमें अनन्त सिन्धु सुशोभित है। हिमालयके समान उनका ज्ञान अडिग और सिन्धुके समान उनका कर्म प्रगल्भ है। अतः भगवान् श्रीराम उत्तरभागसे दक्षिणभागकी यात्रा करते हैं, मानो शीर्षस्थ ज्ञानको कर्ममें उतार रहे हैं। हिमालयसे पुण्य-सलिला भागीरथीका उद्गम है और अनन्त सिन्धुमें उनका विलय होता है। इसी प्रकार भगवान् अनन्त, भगवान्‌की शक्ति अनन्त, भगवान्‌का शासन अनन्त और भगवान्‌का प्रेम अनन्त है। श्रीरामकी मान्यताका सशक्त उदाहरण कविवर 'विनय'में देते हैं। दीनोंके प्रति प्रगाढ़ प्रेमके कारण वे उपास्य हैं। वन-यात्रासे पूर्व तथा वापसीके बाद भी माता कौसल्या, भगवती जानकी, गुरुमाता अरुन्धती और जनकपुरके सम्बन्धियोंके यहाँ उन्हें मधुर भोजन करनेका अवसर मिला। पर जब पूछा गया कि भोजनमें स्वाद कैसा है तो श्रीरामने शालीनता-शिष्टतायुक्त वाग्मिता-सहित शबरीकी फल-माधुरीका अभिनन्दन किया—

घर गुरु गृह, प्रिय सदन सासुरे भइ जब जहँ पहुनाई।
तब तहँ कहि सबरी के फलन की रुचि माधुरी न पाई ॥

आतिथ्यकी स्मृतिका यह उदाहरण कदाचित् ही कहीं अन्यत्र मिलेगा। लक्ष्मणको रणस्थलमें शक्तिबाण लगा है, किंतु उनकी वेदनाको गौण स्थान देकर श्रीराम विभीषणके कल्याणका ही विचार कर रहे हैं—

रन पर्‌यो बंधु बिभीषन ही को सोच हृदय अधिकाई ॥
(विनयप० १६४ । ३)

आश्रितकी चिन्ता हमारे प्राचीन सदाचारका प्रतीक है। जिस पिताने स्नेह एवं धर्मकी रक्षामें अपना शरीर भी छोड़ दिया, उससे भी अधिक गीधका स्नेह इन शब्दोंमें प्रस्फुटित होता है—

नेह निबाहि देह तजि दसरथ, कीरति अचल चलाई।
ऐसेहु पितु तें अधिक गीधपर ममता गुन गरुआई ॥
(विनयप० १६४ । २)

कृतज्ञताका यह कितना श्रेष्ठ आदर्श है! श्रीरामका चरित्र, जीवन सभी कुछ अपनेमें ही सीमित नहीं है। उनका चरित्र और जीवन विश्वके लिये आदर्श सदाचार है एवं 'मानस' है उसका उज्ज्वल प्रेरणा-स्रोत। मानस आदर्श चरित्र और अनुकरणीय सदाचारका सद्ग्रन्थ है। वस्तुतः मर्यादा कविका यह मर्यादा काव्य-ग्रन्थ है।

सदाचार-संजीवन

अपने आचरणकी बहुत सँभाल रक्खो; क्योंकि जहाँ चाहो, खोजो—सदाचारसे बढ़कर सहायक जीते-मरते कहीं नहीं पा सकते। जिस पुरुषका आचरण पवित्र है, उसकी सभी इज्जत करते हैं, इसलिये सदाचारको प्राणोंसे भी अधिक मूल्यवान् समझो। दृढ़प्रतिज्ञ सदाचारसे कभी नहीं हटते; क्योंकि वे जानते हैं कि सदाचार-त्यागसे कितनी आपत्तियाँ आती हैं।

—महात्मा तिरुवल्लुवर

सदाचार

(लेखक—पूज्यपाद महात्मा ठाकुर श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज)

श्रीविष्णुपुराणमें महर्षि और्व कहते हैं—'गृहस्थ व्यक्ति प्रतिदिन देवता, गो, ब्राह्मण, सिद्धपुरुष, वृद्ध एवं आचार्यगणोंकी अर्चना करे एवं प्रातः तथा संध्या-कालोंमें संध्यादेवीको प्रणाम करे। वह होमादिद्वारा अग्नि आदिका उपचरण करे और सदा संयत होकर अनुपहत वस्त्रद्वय, महौषधि, गारुड़रत्न आदि माङ्गलिक वस्तुएँ धारण करे तथा अपने केश चिकने एवं परिष्कृत रखे। वह सुगन्धित, मनोहर वस्त्र एवं उत्तम श्वेत पुष्प धारण करे, कभी किसीका कुछ अपहरण न करे, किसीको कभी अप्रिय वाक्य न कहे, मिथ्या प्रियकथन भी न करे, परदोष-वर्णन न करे, अन्यकी सम्पत्तिको देखकर लोभ न करे, किसीसे वैर न करे, निन्दित पथग्रहण न करे और नदी-कूल-छायाका आश्रय न ले। पण्डित लोकविद्विष्ट, पतित, उन्मत्त, बहु-शत्रु-समन्वित, कुदेशस्थित, वेश्या या वेश्यापति, अल्प लाभसे गर्वित होनेवाले, मिथ्यावादी, अतिव्ययकारी, परनिन्दापरायण एवं शठ व्यक्तिके साथ मित्रता न करे। स्रोतस्विनी (नदी) आदिके स्रोतरहित स्थानमें या तीव्र धारमें स्नान न करे। प्रज्वलित गृहमें प्रवेश न करे। वृक्षके शिखरपर आरोहण न करे। मुख ढके बिना जम्हाई न ले। दण्ड-से-दण्डका घर्षण न करे। नासिका-कुञ्चन न करे। श्वास एवं खाँसी खुले मुखसे न छोड़े। उच्च हास्य एवं सशब्द अधोवायु परित्याग न करे। नखवाद्य या नखद्वारा तृणच्छेद न करे एवं नखद्वारा भूमिपर लेखन न करे।

विचक्षण व्यक्ति श्मश्रुचर्वण, लोष्टमर्दन न करे। अपवित्र अवस्थामें सूर्यादि ज्योतिष्पदार्थ तथा ब्राह्मणादि एवं प्रशस्त पदार्थोंका दर्शन न करे। निर्वसना पर-नारी एवं उदयास्तकालीन सूर्यका दर्शन न करे। शव-दर्शन करके एवं शवगन्ध ग्रहण करके घृणा न करे; क्योंकि शवगन्ध सोमका अंश होता है।

रात्रिकालमें चतुष्पथ, चैत्यवृक्ष, श्मशान, उपवन एवं दुष्टा नारीसे बचकर चले। अपनेसे पूज्य व्यक्तियों, देवता, ध्वज तथा तेजःपुञ्ज-पदार्थकी छायाका अतिक्रम विज्ञ व्यक्ति न करे। कल्याणकामी व्यक्ति शून्य-गृहमें निवास न करे एवं एकाकी एकान्त वनमें न रहे। केश, अग्नि, कण्टक, अपवित्र वस्तु, भस्म, तुष, स्नान-जलसे आर्द्रभूमिका दूरसे ही परित्याग करे। अनार्य-व्यक्तिका आश्रय न ले। हिंस्र प्राणीके पास न जाय। निद्राभङ्गके बाद अधिक देरतक पड़ा न रहे। कुटिल व्यक्तिसे स्नेह न करे। अधिक समयतक निद्रा, जागरण, अवस्थान, स्नान, उपवेशन, शय्या-सेवन तथा व्यायाम न करे। प्राज्ञ व्यक्ति दन्तघाती एवं सींगवाले जीवोंके पास न जाय। सामनेकी हवा और धूप तथा नीहारका परित्याग करे। नग्न होकर स्नान, निद्रा तथा आचमन न करे। होम, देवपूजा आदि क्रिया, आचमन, पुण्याहवाचन, जपकार्यमें एकवस्त्र होकर प्रवृत्त न हो।

कुटिलमन मानवका साथ कभी न करे। क्षण-मात्रका साधु-सङ्ग प्रशस्त है। ज्ञानी जन उत्तम या अधम जनोंसे विरोध नहीं करते हैं। विवाद और विवाह समशील लोगोंके साथ ही करना चाहिये। वस्तुतः ज्ञानी जन किसीसे भी विवादारम्भ नहीं करे। निष्फल शत्रुता न करे। अल्प हानि सह लेना ठीक किंतु किसीसे शत्रुता करके अर्थलाभ करना उचित नहीं। स्नानके बाद शुद्ध परिपूत वस्त्र या हाथद्वारा शरीरमार्जन नहीं करना चाहिये। केश-कम्पन नहीं करना चाहिये। स्नानके बाद जलसे बाहर स्थलपर आचमन करना चाहिये। पदसे पदमें आघात न करे। पूज्य व्यक्तिके सामने पाँव न पसारे। गुरुजनोंके सामने सदा विनयी रहे, वीरासनका परित्याग करे। देवालय, चौराहा,

पूज्य व्यक्ति और मङ्गल-द्रव्यादिको वामाङ्ग करके न जाय। पण्डितजन सूर्य, चन्द्र, अग्नि, जल, वायु, पूज्य व्यक्ति इन सबके सामने बैठकर मल-मूत्र त्याग न करे। खड़े होकर पेशाब न करे। मार्गमें पेशाब न करे। श्लेष्मा, मल-मूत्र तथा रक्तका लङ्घन न करे। आहारके समय, देवपूजा, माङ्गलिक कार्य, जप, होम आदिके समय एवं महाजनोंके समीप श्लेष्माका त्याग न करे, छींके नहीं। अशिष्ट (अकुलीन) नारीका विश्वास न करे। किंतु उसका जानकर तिरस्कार न करे। उसके प्रति ईर्ष्यालु न हो। उसपर किसी भी प्रकार धौंस न जमाये । सदाचारपरायण विद्वान् व्यक्ति, माङ्गलिक वस्तु—पुष्प, रत्न,घृत तथा पूज्य व्यक्तिको नमस्कार किये बिना घरसे बाहर न निकले। चतुष्पथको नमस्कार करे। यथावसर होमादि कार्य करे एवं विद्वान्-साधु व्यक्तियोंका सम्मान करे। जो व्यक्ति देव, ऋषिगणके पूजक हैं, पितरोंके प्रति श्राद्ध-तर्पण करते हैं, अतिथि-सत्कार-परायण हैं, वे ही उत्तम लोकमें जाते हैं। जो जितेन्द्रिय होकर समयपर स्वल्प, हितकर प्रिय वाक्य बोलते हैं, उन्हें देहावसानके बाद आनन्दप्रद अक्षयलोक प्राप्त होते हैं। जो धीमान्, श्रीमान्, क्षमावान्, आस्तिक एवं विनीत हैं, वे सत्कुलोत्पन्न विद्यावृद्ध व्यक्तियोंके योग्य उत्तमलोकमें गमन करते हैं।

सूर्य एवं चन्द्रग्रहणके समय, पर्वोंके दिन, अशौच-समय या अकालमें तथा मेघगर्जनके समय पण्डित व्यक्ति अध्ययन न करे। जो सबके बन्धु हैं एवं मत्सररहित तथा भीत व्यक्तिको आश्वस्त करनेवाले हैं, उनके लिये स्वर्गलाभ अति सामान्य फल है। जो शरीर-रक्षा करना चाहते हैं, वे धूप तथा वर्षाकालमें छतरी (छाते) का प्रयोग करें। रात्रि-कालमें गमन या वनमें प्रवेश करते समय दण्डपाणि (हस्त-लगुडधारी) होकर चलें एवं बाहर जाते समय सदा पादुका ग्रहण करे। दायें-बायें, ऊपर या दूर देखते हुए पण्डित व्यक्ति न चले। चलते समय सामनेसे चार हाथ दूरकी भूमिको देखते हुए चलें। जो व्यक्ति जितेन्द्रिय होकर पूर्वोक्त आचरणोंका पालन तथा अन्यान्य दोषोंके हेतुको विनष्ट करता है उसके धर्म, अर्थ, काम और मोक्षमें किंचित् बाधा नहीं पहुँचती। पापी व्यक्तिके प्रति भी जो पाप न करे, किसीके निष्ठुर वाक्योंके बदले प्रिय वाक्य बोले, जो सम्पूर्ण प्राणियोंके बन्धु हैं एवं उस बन्धुत्व-निबन्धनके लिये आर्द्रचित्त हैं, मुक्ति उनके हाथोंमें होती है। जो व्यक्ति सदा सदाचारपरायण, वीतराग, काम-क्रोध-लोभ-जयी हैं, उन्हींके सहारे पृथ्वी अवस्थित है। सत्य सबमें प्रीति जागरण करता है। जहाँ सत्य कहनेसे किसीका अनिष्ट होता हो, वहाँ मौन रहना चाहिये और जहाँ प्रिय वाक्य हितकर तथा युक्ति-संगत न हो, वहाँ प्रिय वाक्य भी न कहे। क्योंकि हितवाक्य नितान्त अप्रिय होनेपर भी अनन्त श्रेयस्कर होता है। जो कार्य इहलोक और परलोकमें प्राणियोंके लिये मङ्गलकारी हो, बुद्धिमान् व्यक्ति उसी काममें मनसा, वाचा, कर्मणा दत्तचित्त होता है। सदाचारके ये कुछ पालनीय नियम हैं, जिनके आचरणमें आ जानेपर लोक और परलोक दोनोंका सुधार सम्भव है। सभीको इनका आचरण मनोयोगसे करना चाहिये।

साधुके लक्षण

जो झूठ नहीं बोलता, परनिन्दा नहीं करता, सद्गुणोंको धारण करता है, सबसे निर्वैर है, सबमें समभावसे आत्माको देखता है और श्रीहरिके चरणोंका प्रेमी है वही साधु है।

—संत दादूजी

सदाचारका मूल मन्त्र—भगवत्-शरणागति

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

यजुर्वेद (२२ । २२)में याजक परमात्मासे प्रार्थना करता है कि 'प्रभो ! हमारे राष्ट्रमें श्रेष्ठ ब्राह्मण, क्षत्रिय, स्त्री-पुरुष, दूध देनेवाली गायें उत्पन्न हों, सुभिक्ष बना रहे, वृक्ष फल-फूलसे लदे रहें तथा आपकी कृपासे हमारे योग-क्षेमका समुचित प्रबन्ध (कल्पना) होता रहे—**'योगक्षेमो नः कल्पताम् ।'*** इसी श्रुतिका अनुसरण करते हुए महर्षि गौतम अपने वैदिक धर्मसूत्र ९ । ६३-६४ में **'योगक्षेमार्थमीश्वरमधिगच्छेत् । नान्यमन्यत्र देवगुरुधार्मिकेभ्यः'** की आज्ञा देकर **'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्'**को चरितार्थ करते हैं । अर्थात् सदाचारी पुरुष योगक्षेमके लिये परमेश्वर, श्रेष्ठ राजा, देवता, गुरु आदिका आश्रय ले । मनु आदि अन्य स्मृतिकार भी ऐसा ही कहते हैं । गीता (९ । २२) में स्वयं भगवान् भी इसका समर्थन करते हुए अनन्य आश्रितोंके अपने द्वारा योगक्षेम-वहनकी बात कहते हैं—**'योगक्षेमं वहाम्यहम् ।'** इसपर अनेक भाष्य एवं विस्तृत व्याख्याएँ हैं । महाभारतान्तर्गत 'नारायणीयम्'के अनुसार इसमें शरणागतिका भाव है और कहा गया है कि भगवान् अहंकाररहित पूर्ण शरणागत व्यक्तिद्वारा, सदाचारका सम्यक् पालन कराकर उसे शम-दमादि षट्-सम्पत्ति एवं सम्यक् योग-ज्ञान-कैवल्यादिप्रदानरूप योगक्षेमका वहन करते हैं । इसमें—'लाद दे, लदा दे और लादनेवालेको साथ कर दे'—का भाव है—

मनीषिणो हि ये केचिद् यतयो मोक्षधर्मिणः ।
तेषां विच्छिन्नतृष्णानां योगक्षेमवहो हरिः ॥

(महा० शा० ३४८ । ७२)

सदाचारके प्रेरक भगवान्—वस्तुतः वेदोंसे लेकर गीतातक सभी सच्छास्त्रोंका पर्यवसान-तात्पर्य भगवत्-शरणागतिपूर्वक सदाचरणमें ही है—**'मामेकं शरणं व्रज'** 'एकमात्र मेरी शरणमें आओ' आदि । इसका कारण यही है कि सदाचार तथा जीवकी सारी बाह्य एवं अन्तश्चेष्टाओंके प्रेरक श्रीभगवान् ही हैं । कौषीतकि ब्राह्मण (३ । ९) की श्रुति कहती है— **'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति'** 'यह परब्रह्म परमात्मा ही जीवसे श्रेष्ठ कर्म कराकर उसे श्रेष्ठ लोकोंको प्राप्त कराता है' । 'अन्तर्यामी ब्राह्मण' भी यही कहता है—**'अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम्'** । 'वेदान्त-सूत्रके' **'परात्तु तच्छ्रुतेः'**(२ । ३ । ४१, २ । १ । ३४, १ । १ । २) आदि प्रायः पचासों सूत्र भी जीवकी समस्त चेष्टाओंको ईश्वरायत्त ही मानते हैं' । उपनिषदोंके **'स कर्ता कारयिता जनाधिपः'**—वही कर्ता तथा सब कुछ करानेवाला है, **'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति'**(बृहदारण्यक० ५ । ७ । २२), वह आत्माके भीतर बैठकर आत्माको नियन्त्रित करता है । भागवतके **'योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमाम् प्रसुप्ताम्**(४ । ९ । ६) —'मेरे अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर सोयी परावाणीको प्रेरित करता है', तथा सभी गायत्रीमन्त्रोंके—मैं परमात्माका ध्यान, शरण ग्रहण करता हूँ, वे मुझे सदाचारमें प्रेरित करें—का यही भाव है । कर्मबन्धनसे मुक्तिका भी यही मार्ग है । गीताके भी—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत । (१८ । ६१-६२)

—'ईश्वर सभी प्राणियोंके हृदयदेशमें स्थित होकर अपनी मायासे यन्त्रारूढ जीवोंको घुमाता, प्रेरित करता

* यह मन्त्र कृष्णयजुः काठकसंहिता ४५ । १४, तैत्तिरीय-संहिता ७ । ५ । १८, मैत्राय० सं० ३ । १२ । ६ और शुक्ल काण्व-संहिता २४ । ३०-३२में भी आया है । इसके प्रयोगक्रमपर मीमांसादर्शन, काण्व, माध्यंदिनशतपथ, कात्यायन-श्रौत्रसूत्र कर्क, देवयाज्ञिकभाष्य-पद्धतियोंमें मीमांसा है । ऋग्वेद १० । १६६ । ५ की प्रार्थना भी कुछ ऐसी ही है । उसमें कुछ-कुछ संवर्गविद्याका भाव है ।

है' तुम सर्वात्मना उन्हींकी शरण लो, **'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च'** (१५ । १५) 'मैं ही ज्ञान, स्मृति और उनके विलोपका कारण हूँ' आदि कथनोंसे भी यही बात सिद्ध होती है । श्रीमद्भागवतादिमें ब्रह्माजीसे स्वयं भगवान्‌ने कहा है कि आपसे तपस्या एवं प्रार्थना आदि मैंने ही करवायी है, यह मेरी ही कृपाका परिणाम है—

यच्चकर्थाङ्ग मत्स्तोत्रं मत्कथाभ्युदयाङ्कितम् ।
यद्वा तपसि ते निष्ठा स एष मदनुग्रहः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । ९ । ३८, मत्स्यपु० २७३ । १३–१५)

"भागवतमें ही भक्तराज वृत्रासुर भी कहता है कि इन्द्र ! यह समस्त भूतवर्ग कठपुतलीकी तरह उस परमात्मा विष्णुके सर्वथा परतन्त्र है—।"

यथा दारुमयी नारी यथा यन्त्रमयो मृगः ।
एवं भूतानि मघवन्नीशतन्त्राणि विद्धि भोः ॥
(श्रीमद्भा० ६ । १२ । १०)

गोस्वामी तुलसीदासजीके 'मानस'के—

उमा दारु जोषित की नाईं । सबहि नचावत राम गुसाईं ॥
नर मरकट इव सबहि नचावत । राम खगेस बेद अस गावत ॥
'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन ।' (७ । ११२ । १) **'माया-प्रेरक सीव'** (३ । १५) **'प्रेरकानंत वन्दे तुरीयं'** (विनयपत्रिका ५३ । ३) **'जब प्रेरक प्रभु बरजै** (विनयप० ८९ । ४) आदि कथनोंमें भी वही वेदानुगतिता है ।

सदाचारद्वारा प्राप्य भी भगवान्—इन्हीं सब कारणोंसे श्रुतिपुराणोंने सदाचार-पालनके लिये और उसके एकमात्र परमलक्ष्य प्रभुकी प्राप्तिके लिये भी भगवच्चरणोंकी शरणागतिको, उनकी स्मृतिको ही परमोचित एवं सर्वथा निष्कण्टक मार्ग बतलाया है—

'श्रुति पुरान सद् ग्रंथ कहाहीं । रघुपति भगति बिना सुख नाहीं ॥
'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च' (गी० ८ । ७) ।

'सदा मुझे स्मरण करो और (स्ववर्णाश्रमादि) युद्ध सदाचार-का पालन करो ।' ध्रुव, प्रह्लाद, नारद, व्यास, वसिष्ठ, शुकदेव-जी आदि आप्त पुरुषोंका भी यही उपदेश एवं आचार है—

सिव अज सुक सनकादिक नारद । जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद ॥
सब कर मत खगनायक एहा । करिअ राम पद पंकज नेहा ॥
(मानस ७ । १२१ । ६)

अतः सदा भगवत्स्मरण, नमन और शरणागतिपूर्वक सदाचारका पालन करना चाहिये ।

सदाचार स्वयं भी भगवान्—यजुः (४० । १)के ईशा-वास्यादि मन्त्र, **'धर्मस्त्वं वृषरूपधृक् लोकानां त्वंपरो धर्मः'** (वाल्मी० ६ । ११७ । १४) तथा गीताके **ब्रह्मार्पणं'**, (४ । २४) **'परमात्मा समाहितः'** (गी० ६ । ७) आदि वचनोंसे शुद्ध सदाचार, संयम स्वयं भी परमात्मा सिद्ध है । तभी **'सुषुप्तावयवस्पन्दसाधर्म्येण चरन्ति हि'** (योगवासिष्ठ ५ । ४० । २०) **'सुनि गुन गान समाधि बिसारी'** (मानस ७ । ४१ । ४) आदिसे श्रेष्ठ आचारोंका समाधिवत् ही माहात्म्य है । योगवासिष्ठमें जडसमाधिकी अपेक्षा तत्त्वदर्शनपूर्वक जाग्रत् व्यवहार; लोकसंग्रहको बार-बार श्रेष्ठ बतलाया गया है (मुमुक्षु व्यव० १२ । २२, उपशम उत्त०)। निजमहिमामें प्रतिष्ठित श्रीभगवान्‌का अवतार-धारणपूर्वक सदाचाररक्षा एवं अधर्मका संहरण भी यही सिद्ध करता है ।

इस प्रकार श्रद्धा-विनय तथा सम्यग्दृष्टियुक्त सदाचार-पालनसे मनुष्य-जीवनकी कृतार्थता है । पर धर्मात्मा या सदाचारी बननेके भावके अहंकार तथा दम्भ, मोहादिसे अवश्य बचना चाहिये; क्योंकि इनसे ज्ञानियों एवं सदाचारियों-तकको भी पग-पगपर स्खलनका भय बना रहता है—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ॥
(दुर्गासत०, प्रबोधचन्द्रोदय०, अमृतोदय० आदि)

साथ ही कारयित्री शक्ति भी वही है । औपनिषद समयमार्गियोंके—**'सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये । सा विद्या परमा मुक्तेर्हेतुभूता सनातनी** तथा **'धर्म्याणि ··· सुकृती करोति, भवतीप्रसादात् ।'** (दुर्गास० ४ । १६) आदि कथनोंका भी यही रहस्य है। उस शक्ति या शक्तियुक्त ब्रह्मकी कृपाशक्ति और प्रसादसे ही सच्चे योगक्षेमका—निर्विघ्न सदाचारका पालन-कार्य चल सकता है और परम लक्ष्यकी प्राप्ति भी हो सकती है । इस वैदिकसूत्रोक्त शरणागतिद्वारा कभी गिरने-पड़ने या मार्गभ्रष्टताकी नौबत नहीं आती—**'न पतेन्न स्खलेदिह ।'** (श्रीमद्भा० ११ । २ । ३५)

श्रीरामस्नेहि-सम्प्रदायके सदाचार-सिद्धान्त

(लेखक—श्रीपुरुषोत्तमदासजी शास्त्री, रामस्नेहि-सम्प्रदायाचार्य, खेड़ापा)

सदाचार वह है, जो सत्पुरुषोंद्वारा आचरित या सद्ब्रह्मसे सम्बद्ध हो। 'रामस्नेहि-सम्प्रदाय'की सब प्रकारके सदाचारोंमें आस्था है। इसमें श्रीरामजीकी इष्टोपासना है, सत्त्वगुणमय श्रेष्ठ आचरण (रहन-सहन) है तथा पूर्ववर्ती महापुरुषोंके वर्णित ग्रन्थोंमें समस्त सद्गुणोंके द्वारा पालनीय सिद्धान्तोंका विवेचन है।

जिस सदाचारके सेवनद्वारा हम इस लोक व परलोकमें पूर्णतया सुखी बन सकते हैं, यह सम्प्रदाय उसीका एक प्रतिरूप (प्रतिक्रिया) है; क्योंकि इसका प्रादुर्भाव ही विश्वबन्धुत्वके साथ सदाचारकी शिक्षा देनेके लिये हुआ है। इसलिये इसके द्वारा जहाँ हमें नाम-साधनके द्वारा आत्मकल्याणका मार्ग उपलब्ध होता है, वहीं सबको सब प्रकारके सुख देनेवाले पूर्ण सदाचारकी शिक्षा भी मिलती रहती है। इस सम्प्रदायके समस्त पूर्वाचार्य जिस सदाचारको अच्छा मानते थे, उन्होंने उसका स्पष्ट वर्णन अपने वाणीसाहित्यमें कर दिया है। रामस्नेहि-सम्प्रदायके अनुयायी बननेवाले भक्तजनोंको सर्वप्रथम दुर्व्यसनोंसे मुक्त होकर एक श्रीराम महाराजका इष्ट धारण करने और तत्त्वविचारशील होकर सत्य बोलने आदिकी शिक्षा दी जाती है और तत्पश्चात् दीक्षा।

'पण इक राम कंठी भल राखो, तत का तिलक असत मत भाखो॥'

इस सम्प्रदायके पूर्ववर्ती आचार्योंने 'नियम-पञ्चदशी' आदि वाणी-ग्रन्थोंके द्वारा सदाचारके प्रायः सभी मुख्य सिद्धान्तोंपर प्रकाश डालकर हमारा पथ प्रशस्त किया है, जो एक उत्तम सदाचारीके लिये परमावश्यक होते हैं। इस पञ्चदशी 'नियम' का संक्षिप्त सार इस प्रकार है—(१) अपने इष्ट निर्गुण ब्रह्म (श्रीराम महाराज) की उपासना करना। (२) वेदवाणी आदिमें पूर्ण आस्था रखते हुए अधिक-से-अधिक प्रचार करना। (३) शारीरिक सुख छोड़कर अधिक-से-अधिक भजन, साधन, सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय पाठ आदि करना। (४) महापुरुषों (भक्तों)के प्रति श्रद्धा रखते हुए सत्सङ्ग-सेवा आदि करना। (५) सात्त्विक एवं हिंसारहित साधनोंसे जीवन-निर्वाह करना। (६) ईश्वरेच्छापर निर्भर रहकर (संतोषपूर्वक) उद्यम करते रहना। (७) नियमपूर्वक प्रभुप्रसाद-चरणामृत, दर्शनादि प्राप्त करना। (८) शील-शान्ति एवं सन्तोष रखते हुए सत्य-हित व मितभाषी बनना। (९) काम-क्रोधादिको छोड़कर पर-स्त्री आदिको माता-बहन मानते हुए संयमित जीवन-यापन करना। (१०) कपड़ेसे छानकर जलका उपयोग करना। (११) दूसरोंके सुख-दुःखको अपना ही मानते हुए सबकी सेवा करना। (१२) प्राणिमात्रको आत्म-स्वरूप देखते हुए किसीको कष्ट न पहुँचाना। (१३) सत्त्वगुणका आश्रय रखते हुए सबके साथ समताका व्यवहार करना। (१४) तम्बाकू, भाँग, मदिरा आदि समस्त दुर्व्यसनोंसे सदा दूर रहना। (१५) संत-वाणीद्वारा निर्दिष्ट मार्गपर चलते रहना।

(रामस्नेह-धर्मप्रकाश, प्रारम्भिक प्रकरण पृ० ७-८)

'रामस्नेहि-धर्म' जीवनकी प्रत्येक स्थितिमें सांसारिक वासनाओंसे हटाकर मानवको भगवदुन्मुख करता है। इस संदर्भमें खेड़ापा आचार्यचरण श्रीरामदासजी महाराजके अत्यन्त सरल, किंतु सारगर्भित शब्दोंमें सदाचारकी मुख्य-मुख्य शिक्षाओंका संक्षिप्त निदर्शन यहाँ पर्याप्त है—

वाणी-संयम—

काढ़ तैंने जीभड़ी, राम बिना कहै वेण।
रामदास इक रामबिन, कूण तुम्हारो वेण॥

मधुर वचन—

मीठी बाणी बोलिबो, रामा सोच विचार।
सुख पावै सांई मिलै, औरा को उपगार॥

सहनशीलता—

रामदास ऐसे हुवो, ज्यूँ मारग पाषाण।
ठोकर मारे सब दुनी, तोहिण न अन्तर काण॥

विनयशीलता—

मान बड़ाई कूकरी, साहिबके दरबार।
लघुता लाठी बाहिरो, केता खाया पार॥

कुसङ्गका त्याग—

उज्वल नीर अकाशका, पड्या धरणिमें आय।
मैली सूँ मिल बीछड्या, यूँ कुसंगत धाय॥

कपटभावका त्याग—

भावे केश मुंडाय ले, भावे केश वधार।
रामा सांई साच विन, रीझे नहीं लिगार॥

कथनी-करनीकी समानता—

कथणी तो बहुती कथे, रहणी रंच न काय।
रामदास रहणी विनां, कैसे मिले खुदाय॥

निन्दा-निषेध—

रामा नीच न निन्दिये, सब सू निरसा होय।
किणीक औसर आयकर, दुःख देवेगा तोय॥

'रामस्नेही-धर्म' साहसके साथ साधनपथपर निरन्तर आगे बढ़नेके लिये उद्बोधित करता है।

दुर्व्यसनोंमें (जो कि आज-कल सदाचारका नामो-निशान मिटानेके लिये महामारीकी तरह फैल रहे हैं उनमें) अनन्त दोष व पाप दिखाया है।

यह धर्म हमें दिखावटी सदाचार—अविचारपूर्ण आचरणकी ओरसे हटाकर आन्तरिक सद्विचारमय सदाचारकी ओर प्रेरित करता है—

दुराचार आचार है, पञ्चहत्या नितनेम।
आतम ब्रह्म विचार बिन, कदे न कुशला क्षेम॥
(श्रीदयालुवाणी)

इस धर्मके सिद्धान्त प्राणीमात्रको भगवद्रूप मानते हुए उनकी यथाशक्ति सेवा-सत्कार करनेकी शिक्षा देते हुए व्यक्तिको पूर्ण सदाचारकी ओर प्रेरित करके सर्वथा निर्भय बना देते हैं—

सबही कूं डर कालका, बिडर न दीखे कोय।
हरिया जा कूं डर नहीं, राम सनेही होय॥
(श्रीहरिरामदासजी म०)

इस प्रकार रामस्नेहि-सम्प्रदायका प्रायः सम्पूर्ण साहित्य और सिद्धान्त मानवको नाना प्रकारके दुराचारोंसे हटाकर सदाचारकी ओर ले जानेवाला पथ-प्रदर्शक है।

सदाचार-साखी

शील संतोष दया आभूषण, क्षमा भाव बढ़ाऊँ हो।
सुरति निरति साँईमें राखूँ, आन दिशा नहिं जाऊँ हो॥
गर्व-गुमान पाँव सें पेलूँ, आपों मान उड़ाऊँ हो।
साहिबकी सखियन सूँ कबहू, राग-द्वेष नहिं लाऊँ हो॥
पाँचूँ पकड़ पचीसूँ चूरूँ, त्रिगुण कूँ बिसराऊँ हो।
चौथी दाव चेत कर खेलूँ, मौज मुक्ति की पाऊँ हो॥
इस विधि करके राम रिझाऊँ, प्रेम प्रीति उपजाऊँ हो।
अनंत जन्मको अन्तर भागी, रामचरण हरि भाऊँ हो॥

—रामस्नेही-सम्प्रदायके संत स्वामी श्रीरामचरणजी महाराज

हमारे राष्ट्रिय जीवनकी आधारशिला—सदाचार

(लेखक—पं० श्रीभृगुनंन्दनजी मिश्र)

मानव-सभ्यताका इतिहास इस बातका साक्षी है कि जब और जहाँ भी सदाचारके नियमोंकी अवहेलना हुई और निरङ्कुश स्वच्छन्द आचरण प्रारम्भ किया गया, तभी वहाँ संघर्ष, विघटन एवं युद्ध हुए हैं। व्यक्तिगत सुखोपभोग एवं स्वार्थपरायणताकी भावना मनुष्यकी बुद्धि एवं विवेकको कुण्ठित कर देती है, जिससे वह असदाचारी, भोगपरायण एवं दुराग्रही बनकर पतन तथा विनाशके मार्गपर अग्रसर हो जाता है और उसके दुराचरणसे समाजमें अनेक दोष एवं बुराइयाँ पनपने लगती हैं—भारतीय ऋषि-महर्षियोंने मानवमात्रके कल्याणके लिये सुन्दर समाज-रचनाके उद्देश्यसे सदाचारी जीवन अपनानेपर विशेष जोर दिया है और '**आचारः प्रथमो धर्मः**'का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, जिसके अनुसार मनुष्यकी मानसिक एवं बौद्धिक योग्यताओंसे भी बढ़कर सदाचरणको विशेष महत्त्व दिया गया है।

अधिकतर पाश्चात्त्य दार्शनिकोंने केवल सद्‌विचारोंको ही व्यक्तित्वके विकासका मूल मान लिया है, जब कि भारतीय दार्शनिकोंने सद्‌विचारोंके साथ-साथ 'सदाचरण'-को व्यक्तिके विकासका मूल माना है। केवल विचारों या शब्दोंमें उतनी शक्ति नहीं होती, जितनी सदाचारी व्यक्तिके व्यक्तित्वमें निहित होती है। वस्तुतः सदाचरणके धनी व्यक्तियोंके अनुपातसे ही समूची मानवताके लिये कल्याणकारी समाजका ठोस निर्माण सम्भव होता है। अतीतकालमें हुए महापुरुषों तथा वर्तमान युगके महापुरुष रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, महामना मालवीय, लोकमान्य तिलक आदिके जीवनचरित्रोंसे और उनकी ओजस्वी वाणीद्वारा जनसमाजमें जाग्रत् की गयी नवचेतनाका स्पष्ट दर्शन होता है। ये महान् विभूतियाँ संयम एवं सदाचारकी प्रतीक थीं। साधारण समाजसुधारकों एवं जन-नेताओंकी मौखिक शब्दावली तो ग्रामोफोन या टेप-रिकार्डरके समान है, जिसका सुननेवालोंपर क्षणिक प्रभाव अवश्य होता है, जब कि संयमी एवं सदाचारी व्यक्तियोंका जीवन मानव-समाजको दिशा-निर्देशनमें युगोंतक प्रकाशस्तम्भकी भाँति पथप्रदर्शन करता रहता है। प्रचारकी अपेक्षा आचारका महत्त्व होता है।

सदाचरणका महत्त्व प्रत्येक धर्ममें विस्तारपूर्वक बतलाया गया है। उसका किसी अन्य धर्मके सिद्धान्तोंसे मतभेद नहीं है। सांसारिक सुखोपभोग, जिनके संसर्गसे मनुष्यकी शक्ति, सामर्थ्य तथा समयका दुरुपयोग होता है, उनका मर्यादित किया जाना समूचे मानव-समाजके लिये विश्वहितमें नितान्त आवश्यक है। मनुष्यकी जिन प्रवृत्तियोंसे समाजके बहुसंख्यक वर्गको आघात पहुँचता हो, विश्वमें तनाव एवं संघर्ष उत्पन्न होता हो, उनकी गणना तो असदाचार अथवा दुराचरणमें ही हो सकती है। आजके युगमें जब हम संसारमें बढ़ते हुए कलह, क्लेश, अशान्ति एवं उच्छृङ्खलतापर दृष्टिपात करते हैं तो उसका मूल कारण मनुष्योंका असदाचारी जीवन-यापन ही दिखायी देता है। हर नगरमें नित्यप्रति घटित होनेवाली चोरी, डकैती, लूटमार, हत्या, बलात्कार आदि अनाचारसम्बन्धी घटनाएँ नित्यप्रति ही हमारे सुनने एवं देखनेमें आती रहती हैं, जिन्हें शासनके कानून एवं शक्तिके प्रयोगद्वारा भी रोका जाना सम्भव नहीं जान पड़ता है, किंतु इनका रोकना नितान्त आवश्यक है।

व्यक्ति या समाजके सुधारके लिये कानून या सत्ताका प्रयोग तो एक बाहरी अस्थायी प्रयत्नमात्र है। मनुष्योंके मन-मस्तिष्कमें परिवर्तन हुए बिना बाहरी प्रयोग पूर्णरूपेण सफल सिद्ध नहीं हो सकते।

संयमी एवं सदाचारी व्यक्तियोंका जीवन उस सुगन्धित पुष्पोद्यानके समान है, जिसकी प्रभावक सुगन्धसे निकटवर्ती जनसमूह प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। सदाचारीजीवनसे समाज एवं राष्ट्रका ही नहीं, अपितु सारे विश्वका कल्याण-साधन होता है।

आज किसी भी विचारशील किं वा विवेकी पुरुषका हृदय इस बातको देखकर दुःखित हुए बिना नहीं रह सकता कि हमारे देशको राजनैतिक स्वतन्त्रताप्राप्तिके तीस वर्ष बाद भी उसके राष्ट्रिय जीवनमें नैतिक एवं चारित्रिक उन्नति होनेके बजाय अनैतिकता एवं चरित्रहीनताकी ही अधिक वृद्धि हुई है। कुछ भौतिक प्रगति तथा औद्योगिक उन्नतिमात्रको ही राष्ट्रकी सफलताओंका प्रतीक नहीं माना जा सकता; उसे अधिक-से-अधिक मिथ्या संतोष ही कहा जा सकता है। मनचाहा रहन-सहन, उच्छृङ्खलता, अनुशासनहीनता, परपीड़न (हिंसा), अपहरण, बलात्कारादि चरित्रहीनता, भ्रष्टाचार, मुनाफाखोरी आदि बुराइयोंने सारे समाज एवं राष्ट्रको अधःपतनकी जिस स्थितिमें पहुँचा दिया है, क्या इसीको हम अपनी प्रगति मान लें ? और क्या शासनके कानूनोंके भयसे इन समस्त उपर्युक्त बुराइयोंपर कोई नियन्त्रण हो पाया है ? यदि सत्ता एवं कानूनके प्रयोगसे स्थितिमें कोई सुधार अबतक नहीं हो सका तो हमारे राजनेताओं या सामाजिक कार्यकर्ताओंने इसका हल खोजनेका अन्य कौन-सा प्रयत्न किया है ?

हमारे विचारसे अपने बच्चों तथा नवयुवकोंमें सदाचार एवं चरित्र-निर्माणकी शिक्षापर पूरा जोर दिये बिना समाज एवं राष्ट्रके जीवनसे उपर्युक्त राष्ट्रघाती बुराइयोंका दूर होना सम्भव नहीं जान पड़ता। अतः शासकीय, अर्द्धशासकीय तथा निजी विद्यालयोंमें सर्वप्रथम सदाचार तथा चरित्र-निर्माण-सम्बन्धी शिक्षा प्रचलित करना आवश्यक एवं अनिवार्य कर दिया जाय। साथ ही नवयुवकों, श्रमिकों तथा बुद्धिजीवी वर्गोंके संगठन एवं संस्थाओंमें उच्चकोटिके प्रशिक्षित चरित्रवान् सामाजिक कार्यकर्ताओंको—चाहे वे गृहस्थ हों या वानप्रस्थ, साधु हों या संत—उनको भी सदाचार एवं चरित्र-निर्माणसम्बन्धी विषयोंपर प्रतिदिन या सप्ताहमें कम-से-कम दो बार प्रेरणा एवं उद्बोधन देनेकी व्यवस्था होनी चाहिये, जिससे संयमी, सदाचारी एवं चरित्रवान् पीढ़ीका निर्माण सम्भव हो सके।

हमारे देशके अतीत कालके इतिहासमें महाराज हरिश्चन्द्र, श्रीराम, भरत, लक्ष्मण, धर्मराज युधिष्ठिर, अर्जुन, भीष्मपितामह आदिके जीवन-चरित्रोंमें सदाचरण एवं संयमके बलसे अद्भुत शौर्य एवं पराक्रम दिखाने तथा अनेक भयंकर परिस्थितियोंपर विजय प्राप्त करनेकी अद्भुत गाथाएँ प्रसिद्ध हैं। परम शूरवीर एवं दृढ़प्रतिज्ञ महाराणा प्रताप, त्यागमूर्ति भामाशाह, अन्याय एवं अत्याचारके प्रबल विरोधी महाराज शिवाजी—(जिन्होंने साम्राज्य, पद, धन, रूप, सौन्दर्य-तकके बड़े-बड़े प्रलोभनोंको ठुकराकर अपनी सच्चरित्रता, त्याग एवं देशभक्तिका परिचय दिया उन)की सदाचारसे ओतप्रोत गाथाएँ हमारे लिये कितनी प्रेरणाप्रद हो सकती हैं, इस बातको हमारे राष्ट्रनायक तथा समाज-सुधारक अच्छी तरह जानते हैं, किंतु जनसाधारणको उपदेश देनेसे पूर्व उन्हें स्वयंको पूर्ण सदाचारी तथा चरित्रवान् बनना होगा; क्योंकि उनके आदर्शोंका ही जनसामान्य अनुशीलन तथा अनुगमन करते हैं। इस सम्बन्धमें श्रीमद्भगवद्गीतामें बहुत ही स्पष्ट घोषणा कर दी गयी है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
(३। २१, २३)

सदाचारका अर्थ है—मन, वाणी तथा कर्मसे सत्यके अनुकूल आचरण करना।

वस्तुतः सदाचरणसे मानव-जीवनका जो सर्वतोमुखी विकास होता है, उसमें एक-दो नहीं, अनन्त गुणोंकी प्रतिभा प्रकट होती है और जिसका चमत्कारी प्रभाव सर्वसाधारण लोगोंके जीवनको प्रभावित करता है। भारतीय जीवन-दर्शनकी यह विशेषता है कि मनुष्यका प्रत्यक्ष सदाचरण ही जनमानसके मन-मस्तिष्कको स्वेच्छापूर्वक बदल देनेकी सामर्थ्य रखता है। सदाचारी व्यक्ति अपनी ओजस्विनी विचारधारासे जन-जीवनमें जिन उत्साह-शक्ति, सामर्थ्य, त्याग एवं कर्तव्यपरायणताकी भावनाओंको जाग्रत् कर देता है, वे समाज एवं राष्ट्रके जीवनको महान् पवित्र एवं उच्चतरस्तरपर पहुँचा देती हैं।

सदाचारका अनिवार्य पक्ष—'अनुशासन'

(लेखक—प्रो० श्रीदेवेन्द्रजी व्यास, एम्० ए०, हिंदी, संस्कृत)

अनुशासनबाह्य (स्थूल) एवं आन्तर (सूक्ष्म) के भेदसे दो प्रकारका है। आत्मसंकेतित सूक्ष्म अनुशासनको आन्तर या आत्मानुशासनकी संज्ञा दी जाती है और पर-प्रेरित अथवा बाह्य नियन्त्रणको बाह्य-अनुशासनकी। जो पूर्ण एवं श्रेष्ठ है, वही सत् परमात्मा है। हमने सत्को स्वीकार किया है। सत् ही सत्य है, ज्ञान है, प्रकाश है, प्रभा है और असत् असत्य है, अन्धकार है। इसीलिये उपनिषदोंमें कहा गया है—

असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय॥

इस सत् सत्य, श्रेष्ठ तथा फिर पूर्णकी प्राप्तिके लिये जो आचरण किया जाय, वह सदाचार है और पूर्ण सत्यकी प्राप्ति, बिना अनुशासनके सम्भव नहीं।

अनुशासनका जीवनमें वही महत्त्व है, जो समाजमें विधि-निषेधरूप कानूनका। वेद भी विधि-निषेधमय होते हैं। वैदिक साहित्य करणीय-अकरणीय कार्योंका संकेत देता है। विधि-निषेधमय होनेके कारण अनुशासन भी सादर पालनीय हैं। जिसने अनुशासनको पूर्णतः जान लिया, पालन किया वह सदाचारी हो गया।

योगके नियम आन्तर अनुशासनके अन्तर्गत आते हैं और समाजके नियम बाह्य अनुशासनके अन्तर्गत।

'भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे। ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातम्' (अथर्ववेद १९। ४१। १)

इस अथर्ववेदोक्त राजानुशासनका सम्बन्ध भी सामाजिक सदाचारसे है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होनेके कारण समाजके अस्तित्वके प्रति भी पूर्ण उत्तरदायी है। समाजसे ही उसकी सत्ता है और उससे समाज सत्तात्मक है। इसीलिये उपर्युक्त वेदमन्त्रमें कहा गया कि दीक्षा, तप एवं अनुशासनसे ही राष्ट्रमें बल, ओज एवं समृद्धिकी परिव्याप्ति हुई। तैत्तिरीयारण्यकके अनुशासनमें आत्म-सम्बन्धी सदाचार भी है और समाजके प्रति सदाचरणीय कर्मोंकी चर्चा भी हैं। अपने परिवेशमें किस प्रकारका व्यवहार हो, यह भी वहाँ बताया गया है। इस अनुशासनमें केवल शिष्यके ही दायित्वकी बात हो, ऐसा नहीं, अपितु आचार्य स्वयंके कर्मोंकी भी चर्चा करते हैं। जो हमारे सुचरित हैं वे ही तुम्हें करने चाहिये अन्य नहीं। वैदिक आचार्योंका यह आदेश-उपदेश-अनुशासन आज भी उतना उपयोगी है, जितना उस समयमें था। समाजके प्रति यह 'सुचरित' सदाचार-पर निर्भर है और सदाचार अनुशासनपर आधारित है, अतः यह वैदिक अनुशासन ही सदाचारका मेरुदण्ड है।

क्रोध दिलानेपर भी चुप रहनेमें बुद्धिमानी और महत्त्व है। शक्तिकी परीक्षा तो जीभके रोकनेमें है तथा इससे भी बढ़कर महत्त्व मनके वेगको रोकनेमें है।

—जेम्स एलन

सदाचारसेवी कुछ आदर्श शासक तथा राजपुरुष

(१)

आत्मज्ञानी महाराज अश्वपति

एक बार अनेक ऋषि तथा ऋषिपुत्र एकत्र हुए। उनमें आत्मा तथा ब्रह्मके सम्बन्धमें विचार होने लगा, किंतु वे किसी निश्चयपर नहीं पहुँच पाये। इसलिये वे परामर्शकर महर्षि उद्दालकके पास पहुँचे। लेकिन उन्होंने कहा कि—'इस वैश्वानर आत्माका ठीक-ठीक बोध तो महाराज अश्वपतिको ही है। हम सब उनके समीप चलें। वे हमारा समाधान कर देंगे।'

बहुत-से ऋषि एवं ऋषिपुत्रोंको एक साथ आये हुए देखकर महाराज अश्वपतिको बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने सबका अभिवादन किया और यथायोग्य आसनोंपर बैठाया। महाराजने उनके यथाविधि चरण धोये। चन्दन, माला, पुष्प आदिसे उनका पूजन किया। इसके पश्चात् उनके भोजनके लिये नाना प्रकारके स्वादिष्ट सात्त्विक पदार्थ स्वर्णथालोंमें परोसे तथा दक्षिणाके रूपमें स्वर्णराशि भी निवेदित की। भारतीय संस्कृतिमें अतिथि-सत्कार आदर्श समुदाचार है। लेकिन उन अभ्यागतोंने न तो भोजनका स्पर्श किया और न धन लेना ही स्वीकार किया। वे वैश्वानर विद्याके भूखे थे, लौकिक-मधुर अन्न और स्वर्ण-राशिकी दक्षिणाके नहीं।

ज्ञानी अश्वपतिको ऋषियोंके इस व्यवहारसे तनिक आश्चर्य न हुआ। वे हाथ जोड़कर बोले—'मैं जानता हूँ कि शास्त्रोंमें राजाका अन्न अपवित्र बतलाया गया है और वह इसलिये है कि राजा चोर, डाकू, अनाचारी आदिपर अर्थदण्ड लगाता है। पापियोंतकका कुत्सित धन-संग्रहकर खजाना भरता है। प्रजाके पापमें भी राजाको भाग मिलता है। लेकिन वास्तवमें सच्ची बात तो यह है कि, 'मेरे राज्यमें न तो कोई चोर है और न कोई मद्यप ही, कोई अनाचारी पुरुष तो है ही नहीं; फिर अनाचारिणी स्त्री कहाँसे आयेगी? ऐसी अवस्थामें आप सब मेरे यहाँ भोजन क्यों नहीं करते? मेरा अन्न तथा धन तो निर्दोष है।'

उन ऋषियोंने कहा—'राजन्! मनुष्य जहाँ जिस प्रयोजनसे जाता है, उसका वह प्रयोजन पूर्ण हो, यही उसका सत्कार है। हम सब आपके पास धनके लिये नहीं आये हैं, अपितु वैश्वानर-आत्माका ज्ञान प्राप्त करने आये हैं। आप उसीकी पूर्ति कीजिये।'

'आज तो आप सब भोजन करके विश्राम करें, कल आपलोगोंकी बातपर विचार करूँगा।' महाराज अश्वपतिने उस दिन हँसकर बात टाल दी। ब्रह्मर्षियोंको कुछ विचित्र-सा लगा।

'राजाने हमारे प्रश्नका उत्तर क्यों नहीं दिया? उन्होंने कल भी उत्तर देनेका निश्चित आश्वासन नहीं दिया है।' भोजन करके अग्निशालामें बैठे वे अतिथि परस्पर विचार करने लगे। हम सब अविधिपूर्वक प्रश्न करेंगे तो उत्तर कैसे मिलेगा? महर्षि उद्दालकने बतलाया—'हम जिज्ञासु होकर आये और उच्चासनोंपर बैठकर पूजन स्वीकार करने लगे! ज्ञानकी प्राप्ति इस प्रकार नहीं होती। विद्या भी जलके समान अधःप्रवाहिनी है। जो नीचे बैठेगा, विनम्र होगा, ज्ञान उसकी ओर जायगा। हमने इस शिष्टाचारका पालन नहीं किया है।'

दूसरे दिन उन लोगोंने हाथमें समिधा ली और विनम्र भावसे महाराजके समीप गये। तब महाराज अश्वपतिने उन्हें आत्मज्ञानका उपदेश किया। वे कृतकृत्य हो गये।

(२)

सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र

सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान प्रगट मनु गाए॥

महर्षि विश्वामित्रजीकी कृपासे सशरीर स्वर्ग जानेवाले और वहाँसे देवताओंद्वारा गिराये जानेपर बीचमें ही अबतक स्थित रहनेवाले महाराज त्रिशङ्कुका उपाख्यान विख्यात ही है। राजर्षि हरिश्चन्द्र (पाणि० ६।१।१५३) इन्हींके पुत्र थे। ये प्रसिद्ध दानी, भगवद्भक्त तथा धर्मात्मा थे। इनके राज्यमें कभी अकाल नहीं पड़ता था, महामारी नहीं फैलती थी और दूसरे कोई दैविक या भौतिक उत्पात भी नहीं होते थे। प्रजा सुखी, प्रसन्न और धर्मपरायण थी। महाराज हरिश्चन्द्रकी सत्यनिष्ठा तीनों लोकोंमें विख्यात थी। देवर्षि नारदसे महाराजकी प्रशंसा सुनकर देवराज इन्द्रको भी ईर्ष्या हुई और उन्होंने परीक्षा लेनेका निश्चय करके इसके लिये विश्वामित्रजीको तैयार किया।

विश्वामित्रजीने अपने तपके प्रभावसे स्वप्नमें ही राजासे सम्पूर्ण राज्य दानमें ले लिया और दूसरे दिन अयोध्या जाकर उनसे राज्यको माँग लिया। सत्यवादी राजाने स्वप्नके दानको भी सत्य ही माना और पूरा राज्य तथा कोश मुनिको सौंप दिया। हरिश्चन्द्रने काशी जाकर रहनेका निश्चय किया। इसके बाद ऋषि विश्वामित्रने कहा—'इतने बड़े दानकी साङ्गताके लिये दक्षिणा दीजिये।'

अब राजा हरिश्चन्द्र, जो कलतक पृथ्वीके एकच्छत्र सम्राट् थे, कंगाल हो गये थे। अपने पुत्र रोहिताश्व तथा पत्नी शैब्याके साथ वे काशी आये। दक्षिणा देनेका दूसरा कोई उपाय न देखकर पत्नीको उन्होंने एक ब्राह्मणके हाथ धात्रीका काम करनेके लिये बेंच दिया। (बालक रोहित भी माताके साथ गया।) विश्वामित्रजी जितनी दक्षिणा चाहते थे, वह इतनेसे पूरी नहीं हुई। राजाने अपनेको भी भृत्य-वृत्तिपर बेंचना चाहा। उन्हें काशीके एक चाण्डालने श्मशानपर पहरा देनेके लिये और मृतक-कर वसूल करनेके लिये खरीद लिया। इस प्रकार हरिश्चन्द्रने ऋषिको दक्षिणा देनेका अपना व्रत निभाया। उन्होंने अपने और अपने परिवारको बेंचकर भी साङ्गता चुकायी।

सोना अग्निमें पड़कर जल नहीं जाता, वह और दीप्तिमान् हो जाता है। इसी प्रकार धर्मात्मा पुरुष भी संकटोंमें पड़कर और चमक उठते हैं अतः धर्मसे पीछे नहीं हटते। उनकी धर्मनिष्ठा विपत्तिकी अग्निमें भस्म होनेके बदले और उज्ज्वलतम हो जाती है, हरिश्चन्द्र चाण्डालके सेवक हो गये। एक चक्रवर्ती सम्राट् श्मशानमें रात्रिके समय पहरा देनेके कामपर लगनेको विवश हुए। परंतु हरिश्चन्द्रका धैर्य अडिग रहा। उन्होंने इसे भी भगवान्‌का अनुग्रह ही समझा; क्योंकि सत्यका सदाचार उनका शम्बल था।

महारानी शैब्या आज पतिदेवके धर्मका निर्वाह करनेके लिये ब्राह्मणके यहाँ धात्री हो गयीं। नन्हा-सा सुकुमार बालक ब्राह्मणके यहाँ आज्ञाका पालन करता, डाँटा जाता और चुपचाप रो लेता! एक दिन संध्या-समय कुछ अन्धकार होनेपर रोहिताश्व ब्राह्मणकी पूजाके लिये फूल तोड़ने गया था, वहाँ उसे सर्पने काट लिया। बालक गिर पड़ा और प्राणहीन हो गया! महारानी होकर भी 'बेचारी' शैब्या लाचारीमें पड़ी थी। उसका एकमात्र पुत्र उसके सामने मरा पड़ा था, न तो कोई उसे दो शब्द कहकर धीरज दिलानेवाला था और न कोई उसके पुत्रके शवको श्मशान ले जानेवाला ही था। रात्रिमें अकेली, रोती-बिलखती वह अपने हाथोंपर पुत्रके शवको लेकर उसकी अन्त्येष्टिके लिये श्मशानपर

गयी। श्मशानके स्वामी चाण्डालने हरिश्चन्द्रको आज्ञा दे रक्खी थी कि बिना कर दिये कोई भी लाश जलाने न पाये। शैब्याका रोना सुनकर हरिश्चन्द्र वहाँ आ पहुँचे और कर माँगने लगे। हाय! हाय!! अयोध्याके चक्रवर्तीकी महारानीके पास आज था ही क्या, जो वह करमें दे। आज अयोध्याके असहाय युवराजकी लाश उसकी माताके सामने पड़ी थी। माता कर दिये बिना उसे जला नहीं सकती थी! शैब्याके रुदन-क्रन्दनसे हरिश्चन्द्रने उसे पहचान लिया। कितनी करुणामय स्थिति हो गयी—अनुमान किया जा सकता है। पिताके सामने उसके एकमात्र पुत्रका शव लिये पत्नी विलख रही थी और भृत्य पिताको उस कंगालिनीसे भी कर वसूल करना ही था। परंतु हरिश्चन्द्रका धर्म अविचल था। उन्होंने कहा—'भद्रे! जिस धर्मके लिये मैंने राज्य छोड़ा, तुम्हें छोड़ा और रोहितको छोड़ा, जिस धर्मके लिये मैं यहाँ चाण्डालका सेवक बना, तुम दासी बनी, उस धर्मको मैं नहीं छोड़ूँगा। तुम मुझे धर्मपर डटे रहनेमें सहायता दो। पत्नीका यही धर्म है। आर्य ललनाओंका यही सदाचार है।'

शैब्या पतिव्रता थीं। पतिकी धर्मरक्षाके लिये जिस महारानीने राज्य छोड़कर दासी बननातक स्वीकार किया था, वे पतिके धर्मका आदर न करें—यह कैसे सम्भव था! परंतु आज माताके सामने उसके पुत्रका निर्जीव शरीर था माता शोक-विह्वल थी। फिर भी उसे दाह तो करना ही था। पतिका भृत्यधर्म कर माँग रहा था और देनेको कुछ नहीं था। कैसे क्या हो? विकट समस्या थी इस शोकमयी परिस्थितिमें। अन्तमें उस देवीने कहा—'धर्मश्रेष्ठ नाथ! मेरे पास तो दूसरा वस्त्र भी नहीं है। यही एक मैली साड़ी है, जिसे मैं पहने हूँ, इसके अञ्चलसे ढककर बेटेके शवको मैं ले आयी हूँ। आपके पुत्रके शवपर कफनतक नहीं है। आप मेरी इसी साड़ीको ही आधा फाड़कर ले लें 'कर' के रूपमें। आपका सत्यधर्म अविचल रहे और अन्त्येष्टि-संस्कार भी हो जाय।'

हरिश्चन्द्रने साड़ीका आधा भाग लेना स्वीकार कर लिया। जैसे ही शैब्याने साड़ी फाड़ना चाहा, स्वयं भगवान् विष्णु प्रकट हो गये! सत्य और धर्म भगवान्के स्वरूप हैं। जहाँ सत्य तथा धर्म हैं, वहीं स्वयं भगवान् प्रत्यक्ष हैं। देवराज इन्द्र तथा विश्वामित्रजी भी देवताओंके साथ वहाँ आ गये। धर्मने प्रकट होकर बताया कि 'मैं स्वयं चाण्डाल बना था।' इन्द्रने अमृतवर्षा करके कुमार रोहिताश्वको जीवित कर दिया! धर्म्य सदाचारकी विजय हुई!

भगवान्ने हरिश्चन्द्रको भक्तिका वरदान दिया। इन्द्रने उनसे पत्नीके साथ सशरीर स्वर्ग चलनेकी प्रार्थना की। हरिश्चन्द्रने कहा—'मेरी प्रजा मेरे वियोगमें इतने दिन दुःखी रही। मैं अपने प्रजाजनोंको छोड़कर स्वर्ग नहीं जाऊँगा।' यह था उस युगका प्रजावात्सल्य।

इन्द्रने कहा—'राजन्! आपके इतने पुण्य हैं कि आप अनन्त कालतक स्वर्गमें रहें। यह तो भगवान्का विधान है। प्रजाके लोगोंके कर्म भिन्न-भिन्न हैं। सब एक साथ कैसे स्वर्ग जा सकते हैं? कर्मवाद कर्मोंके कर्त्ताओंको अलग-अलग फल देनेका विधान करता है। यह अव्याहत सिद्धान्त है।'

राजा हरिश्चन्द्रने कहा—'मैं अपना समस्त पुण्य अपने प्रजाजनोंको देता हूँ। मैं स्वयं स्वर्ग जाना नहीं चाहता। आप उन्हीं लोगोंको स्वर्ग ले जायँ। मेरी प्रजाके लोग स्वर्गमें रहें। मैं उन सबके पाप भोगने अकेला नरक जाऊँगा।' महाराजकी यह उदारता, ऐसी प्रजावत्सलता देखकर देवता संतुष्ट हो गये। महाराजके प्रभावसे समस्त अयोध्यावासी अपने स्त्री-पुत्रादिके साथ सदेह स्वर्ग चले गये। हरिश्चन्द्रका सत्याचरण आदर्श धर्म्य सदाचरण बन गया और हरिश्चन्द्र 'सत्य हरिश्चन्द्र' बन गये। उनकी अलौकिक कथा सदाके लिये आदर्श सत्य-सदाचारकी दिव्य गाथा बन गयी।

(२)

गो-सेवा-व्रती महाराज दिलीप

गावो मे अग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः।
गावो मे सर्वतः सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

इक्ष्वाकुवंशमें महाराज दिलीप बड़े ही प्रसिद्ध राजा हो गये हैं। वे बड़े भक्त, सदाचार-परायण धर्मात्मा एवं प्रजापालक थे। महाराजको सभी प्रकारके सुख थे, किंतु उन्हें कोई संतान न थी। एक बार ये इसके लिये अपने कुलगुरु महर्षि वसिष्ठके आश्रमपर गये और अपने आनेका कारण बताकर उनसे विनयपूर्वक सन्तान-प्राप्तिका उपाय पूछा।

महर्षि वसिष्ठने दिव्यदृष्टिसे सब बातें समझकर कहा—'राजन्! आप एक बार देवासुर-संग्राममें गये थे। आप वहाँसे लौटकर जब आ रहे थे, तब रास्तेमें आपको कामधेनु गौ मिली। आपके सामने पड़नेपर भी आपकी दृष्टि उसपर नहीं पड़ी, इसलिये आपने उसे प्रणाम नहीं किया—प्रणम्यको प्रणाम न करना यह आपका समुदाचारोल्लङ्घन था। कामधेनुने इसे अविनय समझकर आपको संतानहीनताका शाप दे दिया। मर्यादाभङ्गका यही प्रति-विधान होता है। उस समय आकाशगङ्गा बड़े जोरोंसे शब्द कर रही थी, इससे आपने उस शापको सुना नहीं। अब इसका एक ही उपाय है कि किसी भी प्रकार उस गौको आप प्रसन्न कीजिये। वह गौ इस समय यहाँ नहीं है, पर उसकी बछिया मेरे पास है, आप सदाचार-परायण-व्रती होकर उसकी सेवा करें। भगवान्ने चाहा तो आपका मनोरथ शीघ्र ही पूरा होगा।' गो-ब्राह्मणकी सेवा सर्वथा अमोघ (सफल) होती है।

गुरुकी आज्ञा शिरोधार्य कर महाराज अपनी महारानीके सहित गौकी सेवामें लग गये। वे प्रातः बड़े ही सबेरे उठते, उठकर गौकी बछियाको दूध पिलाते, ऋषिके हवनके लिये दूध दुहते और फिर गौको लेकर जंगलमें चले जाते। गौ जिधर भी जाती, उसके पीछे-पीछे चलते। वह बैठ जाती तो स्वयं भी बैठकर उसके शरीरको सहलाते। हरी-हरी दूब उखाड़कर उसे खिलाते, जिधर ही वह चलती, उधर ही चलते। सारांश कि महाराज छायाकी तरह गौके साथ-साथ रहते। इस प्रकार महाराजके इक्कीस दिन व्यतीत हो गये।

एक दिन वे गौके पीछे-पीछे जंगलमें जा रहे थे। गौ एक बहुत बड़े गहन वनमें प्रविष्ट हो गयी। महाराज भी पीछे-पीछे धनुषसे लताओंको हटाते हुए आगे चले। एक वृक्षके नीचे जाकर उन्होंने देखा कि गौ नीचे है, उसके ऊपर एक सिंह चढ़ बैठा है और उसका वध करना चाहता है। महाराजने तरकससे बाण निकालकर उस सिंहको मारना चाहा, किंतु उनका हाथ जहाँ-का-तहाँ जडवत् रह गया। यह क्या? अब वे क्या करते! उन्होंने अत्यन्त दीनतासे कहा—'आप कोई सामान्य सिंह नहीं हैं, आप देवता हैं। इस गौको छोड़ दीजिये, इसके बदलेमें आप मुझे जो भी आज्ञा दें, मैं करनेको तैयार हूँ।' सिंहने मनुष्यवाणीमें कहा—'यह वृक्ष भगवती पार्वतीको अत्यन्त प्रिय है, मुझ कुम्भोदरको शिवजीने स्वयं अपनी इच्छासे उत्पन्न करके इसकी रक्षामें नियुक्त किया है। यहाँ जो भी आता है, वही मेरा आहार है। यह गौ यहाँ आयी है, इसे ही खाकर मैं उदर-पूर्ति करूँगा। अब इस विषयमें आप कुछ भी नहीं कर सकते।' विकट समस्या उपस्थित थी। महाराज दिलीप विवश थे।

महाराज दिलीपने कहा—'वनराज! यह गौ मेरे गुरुदेवकी है, मैं इसके बदले आपको सब कुछ देनेको तैयार हूँ, आप भले मुझे खा लें, पर इसे छोड़ दें।'

सिंहने बहुत समझाया कि 'आप महाराज हैं, प्रजाके प्राण हैं, गुरुको ऐसी लाखों गौएँ देकर संतुष्ट कर सकते

है। आप इस सुसाध्य उपायके रहते इतना बड़ा त्याग क्यों करते हैं ?' किंतु महाराज अपने निश्चयको दुहराते रहे। अन्तमें वह सिंह उनके मांस खानेको तैयार हो गया। महाराज जमीनपर पड़ गये। पर वे देखते क्या हैं कि न तो वहाँ सिंह है, न वृक्ष, मात्र कामधेनु ही वहाँ खड़ी है। उसने कहा—'राजन्! मैं आपपर बहुत प्रसन्न हूँ। यह सब मेरी ही माया थी, आप मेरा दूध अभी दुहकर पी लें, आपके पुत्र होगा।' महाराजने कहा—'देवि! आपका आशीर्वाद शिरोधार्य है, किंतु जबतक आपका बछड़ा न पी लेगा, गुरुके यज्ञार्थ दूध न दुह लिया जायगा और गुरुजीकी आज्ञा न होगी, तबतक मैं दूध कैसे पीऊँगा ?'

इसपर गौ बहुत संतुष्ट हुई। गौ संध्याको महाराजके आगे-आगे भगवान् वसिष्ठके आश्रमपर पहुँची। सर्वज्ञ ऋषि तो पहले ही सब जान गये थे। महाराजने जाकर जब यह सब वृत्तान्त कहा, तब वे प्रसन्न होकर बोले—'राजन्! आपका मनोरथ पूरा हुआ। गौकी कृपासे आपके बड़ा पराक्रमी पुत्र होगा। आपका वंश उसके नामसे चलेगा।' रघुवंशका 'अथ' नन्दिनीके आशीर्वादसे प्रतिफलित हो गया। भारतीय सदाचार-पद्धतिमें गो-सेवा ही सदासे माङ्गल्यप्रद है।

नियत समयपर ऋषिने नन्दिनीका दूध राजा और रानीको दिया। महाराज अपनी राजधानीमें आये और रानी प्रजावती हुईं। यथासमय उनके पुत्र उत्पन्न हुआ। यही बालक रघुकुलका प्रतिष्ठाता रघु नामसे विख्यात हुआ। ये महाराज दिलीप श्रीरामचन्द्रजीके वृद्धप्रपितामह थे। आदर्श सदाचारी रघुकुलका सदाचार विश्व-विश्रुत रहा है। गो-ब्राह्मणकी पूजा इस वंशकी विशेषता थी।

(३)

सर्वस्वदानी महाराज रघु

सूर्यवंशमें जैसे इक्ष्वाकु, हरिश्चन्द्र आदि बहुत प्रसिद्ध राजा हुए हैं, उसी प्रकार महाराज रघु भी बड़े प्रसिद्ध, पराक्रमी, धर्मात्मा, भगवद्भक्त और पवित्रजीवन हो गये हैं। इन्हींके नामसे 'रघुवंश' प्रसिद्ध हुआ। इनके जन्मकी कथा यहाँ ऊपर आ चुकी है। इन्हींके नामके आधारपर मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजीके रघुवर, राघव, रघुपति, रघुवंश-विभूषण, रघुनाथ आदि नाम प्रचलित हुए। ये बड़े वीर, दानी और धर्मात्मा थे। इन्होंने अपने पराक्रमसे समस्त पृथ्वीको अपने अधीन कर लिया था। चारों दिशाओंमें दिग्विजय करके ये समस्त भूमिखण्डके एकच्छत्र सम्राट् हुए। ये अपनी प्रजाको बिल्कुल कष्ट-रहित—सुखी देखना चाहते थे। 'राज्यकर' भी ये बहुत ही कम लेते थे और विजित राजाओंको भी केवल अधीन बनाकर छोड़ देते थे। उनसे किसी प्रकारका कर वसूल नहीं करते थे। इनका शासन आदर्श था और चरित्र सदाचारपूर्ण।

एक बार ये राजसभामें बैठे थे। इनके पास महर्षि वरतन्तुके शिष्य कौत्स नामके एक स्नातक ऋषिकुमार आये। अपने यहाँ स्नातकको आये देखकर महाराजने उनका विधिवत् स्वागत-सत्कार किया। पाद्य-अर्घ्यसे उनकी पूजा की। भला ऐसे आदर्श शासक शिष्टाचार-का उल्लङ्घन कैसे कर सकते थे। ऋषिकुमारने भी उनकी पूजा विधिवत् ग्रहण की और कुशल-प्रश्न पूछा। थोड़ी देरके अनन्तर ऋषिकुमार चलने लगे, तब महाराजने कहा—'ब्रह्मन्! आप कैसे पधारे और बिना कुछ अपना अभिप्राय बताये लौटे क्यों जा रहे हैं ? मैं यद्यपि आपके आगमनसे कृतकृत्य हूँ, पर सेवाके बिना संतोष नहीं हो रहा है, अतः अपने शुभागमनका प्रयोजन कहें।'

ऋषिकुमारने कहा—'राजन्! मैंने आपके दानकी ख्याति सुनी है, आप अद्वितीय दानी हैं। मैं एक

प्रयोजनसे आपके पास आया था, किंतु मैंने सुना है कि आपने विश्वजित् यज्ञमें अपना समस्त वैभव दान कर दिया है। यहाँ आकर मैंने प्रत्यक्ष देखा कि आपके पास अर्घ्य देनेके लिये भी धातुका कोई पात्र नहीं बचा है। आपने मुझे मिट्टीके पात्रमें अर्घ्य दिया है, अतः अब मैं आपसे कुछ नहीं कहता। आपका कल्याण हो; मैं जाता हूँ।'

राजाने कहा—'नहीं, ब्रह्मन्! आप मुझे अपना अभिप्राय बताइये। मैं यथासाध्य उसे पूरा करनेकी चेष्टा करूँगा।' कौत्सने कहा—'राजन्! मैंने अपने गुरुके यहाँ रहकर साङ्गोपाङ्ग चौदह विद्याओंका अध्ययन किया है। अध्ययनके अनन्तर मैंने गुरुजीसे गुरुदक्षिणाके लिये प्रार्थना की। उन्होंने कहा—'हम तुम्हारी सेवासे ही संतुष्ट हैं, मुझे और कुछ भी दक्षिणा नहीं चाहिये।' गुरुजीके यों कहनेपर भी मैं बार-बार उनसे गुरुदक्षिणाके लिये आग्रह करता ही रहा। तब अन्तमें उन्होंने झल्लाकर कहा—'अच्छा तो चौदह कोटि सुवर्णमुद्रा लाकर हमें दो।' मैं इसीलिये आपके पास आया था।'

महाराजने कहा—'ब्रह्मन्! मेरे हाथोंमें विजय-सामर्थ्य रहते हुए कोई विद्वान् ब्रह्मचारी ब्राह्मण मेरे यहाँसे विमुख चला जाय यह मेरे लिये परिवादका नया विषय होगा। आप तबतक मेरी अग्निशालामें चतुर्थ अग्निके रूपमें निवास कीजिये, जबतक कि मैं कुबेर-लोकपर चढ़ाई करके उनके यहाँसे धन लाकर आपको देनेकी व्यवस्था कर रहा हूँ।'

महाराजने सारथीको रथ सुसज्जित करनेकी आज्ञा दी और निश्चय किया कि प्रातः प्रस्थान करूँगा। किंतु प्रातः होते ही कोषाध्यक्षने आकर साश्चर्य महाराजसे निवेदन किया कि 'महाराज! रात्रिमें सुवर्णकी वृष्टि हुई और समस्त कोष सुवर्ण-मुद्राओंसे भर गया है। महाराजने जाकर देखा कि कोश स्वर्ण-मुद्राओंसे भरा हुआ है। वहाँ जितनी स्वर्ण-मुद्राएँ थीं, उन सबको महाराजने ऊँटोंपर लदवाकर ऋषिकुमारके साथ भेजना चाहा। ऋषिकुमार-ने देखा, ये मुद्राएँ तो नियत संख्यासे बहुत अधिक हैं। उन्होंने राजासे कहा—'महाराज! मुझे तो केवल चौदह कोटि ही चाहिये। इतनी मुद्राओंको लेकर मैं क्या करूँगा, मुझे तो केवल गुरुजीके लिये दक्षिणामात्र द्रव्य चाहिये।' महाराजने कहा—'ब्रह्मन्! ये सब आपके ही निमित्त आयी हैं, आप ही इन सबके अधिकारी हैं, आपको ये सब मुद्राएँ लेनी ही होंगी। आपके निमित्त आये हुए द्रव्यको भला, मैं कैसे रख सकता हूँ?'

भारतीय सदाचारकी यह अनूठी घटना है कि दाता याचककी वाञ्छासे अधिक देना चाहता था और याचक आवश्यकतासे अधिक लेना नहीं चाहता था। आज भी वे दोनों अभिवन्द्य हैं।

ऋषिकुमारने बहुत मना किया, किंतु महाराज मानते ही नहीं थे, अन्तमें ऋषिको जितनी आवश्यकता थी, वे उतना ही द्रव्य लेकर अपने गुरुके यहाँ चले गये। शेष जो धन बचा, वह सब ब्राह्मणोंको दे दिया गया। ऐसा दाता पृथ्वीपर कौन होगा, जो इस प्रकार याचकोंके मनोरथ पूर्ण करे और याचक वह, जो आवश्यकतासे अधिक न ले। अयोध्यावासियोंने दोनोंकी प्रशंसा की।

(५)

प्रेमप्रवण विदेहराज जनक

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥
(श्रीमद्भा० १।७।१०)

'जिनकी माया-ग्रन्थियाँ टूट गयी हैं, ऐसे आत्माराम, आप्तकाम, जीवन्मुक्त मुनिगण भी भगवान् श्रीहरिकी अहैतुकी भक्ति करते हैं, क्योंकि उनमें ऐसे ही दिव्य गुण हैं।'

महाराज निमिका शरीर मन्थन करके ऋषियोंने जिस कुमारको प्रकट किया, वह 'जनक' कहा गया। माताके देहसे न उत्पन्न होनेके कारण 'विदेह' और मन्थनसे उत्पन्न होनेके कारण उनकी मैथिल संज्ञा भी हुई। इस वंशमें आगे चलकर जो भी नरेश हुए, वे सभी जनक और विदेह कहलाये। इनमें १४ जनक तो विशेष प्रसिद्ध हुए (द्रष्टव्य महाभारतनामानुक्रमणिका कोश, गीताप्रेस)। महर्षि याज्ञवल्क्यकी कृपासे ये सभी राजा योगी और आत्मज्ञानी हुए। इसी वंशमें उत्पन्न सीताजीके पिता महाराज 'सीरध्वज' जनकको कौन नहीं जानता? आप सर्वगुणसम्पन्न और सर्वसद्भावाधार, परम तत्त्वज्ञ, कर्मज्ञ, असाधारण ज्ञानी, धर्मधुरंधर और नीतिनिपुण महान् पण्डित थे। आपकी विमल कीर्ति विविध भाँतिसे गायी गयी है, परंतु आपके यथार्थ महत्त्वका पता बहुत थोड़े लोगोंको लग सका है। तुलसीदासजी इन्हें प्रणाम करते हुए कहते हैं कि मैं योगको राज्यभोगमें गुप्तकर रखनेवाले महाराज जनक तथा उनके सम्पूर्ण परिवारकी वन्दना करता हूँ।

प्रनवउँ परिजन सहित बिदेहू। जाहि राम पद गूढ़ सनेहू॥
जोग भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई॥
(मानस १। १७। १-२)

पूर्णब्रह्म सच्चिदानन्दघनके अवतार महाराज श्रीराघवेन्द्रके साथ श्रीजनकजीका जो अत्यन्त 'गूढ़ सनेह' और 'नित्य योग' (प्रेमका अभेद सम्बन्ध) है, वह सर्वथा अनिर्वचनीय है।

प्रायः लोग महाराज जनकको एक महान् ऐश्वर्य-सम्पन्न राजा, नीतिकुशल प्रजारञ्जक नरपति समझते हैं। कुछ लोग इन्हें ज्ञानियोंके आचार्य भी मानते हैं, परंतु आपके अन्तस्तलके 'निगूढ़ प्रेम'का परिचय बहुत कम लोगोंको है। सीताके स्वयंवरकी तैयारी है, देश-विदेशके राजा-महाराजाओंको निमन्त्रण दिया गया है। पराक्रमकी परीक्षा देकर सीताको प्राप्त करनेकी लालसासे बड़े-बड़े रूप-गुण और बल-वीर्यसे सम्पन्न राजा-महाराजा मिथिलामें पधार रहे हैं।

इसी अवसरपर गाधिके पुत्र मुनि विश्वामित्रजी अपने तथा अन्यान्य ऋषियोंके यज्ञोंकी रक्षाके लिये अवधेश महाराज दशरथजीसे उनके प्राणाधिक प्रिय पुत्रद्वय श्रीराम-लक्ष्मणको माँगकर आश्रममें लाये थे, यह कथा प्रसिद्ध है। श्रीविश्वामित्र मुनि भी महाराज जनकका निमन्त्रण पाते हैं और दोनों राजकुमारोंको साथ लेकर मिथिलाकी ओर प्रस्थान करते हैं। रास्तेमें शापग्रस्ता मुनिपत्नी अहल्याका उद्धार करते हुए परम कृपालु श्रीकौसलकिशोरजी कनिष्ठ भ्रातासहित गङ्गा-स्नान करके वनोपवनके प्राकृतिक सौन्दर्यको देखते हुए जनकपुरीमें पहुँचते हैं और मुनिसहित नगरसे बाहर मनोरम आम्रवाटिकामें ठहरते हैं।

मिथिलेश महाराज इस शुभ संवादको पाकर श्रेष्ठ समाजसहित विश्वामित्रजीके दर्शन और स्वागतार्थ आते हैं और मुनिको साष्टाङ्ग प्रणाम करके आज्ञा पाकर बैठ जाते हैं। इतनेमें फुलवारी देखकर श्रीराम-लक्ष्मणकी श्याम-गौर-शरीर किशोर वयवाली, नेत्रोंको परम सुख देनेवाली, अखिल विश्वके चित्तको चुरानेवाली 'युगलजोड़ी' वहाँ आ पहुँची—**स्याम गौर मृदु बयस किसोरा। लोचन सुखद बिस्व चित चोरा॥** ये थे तो बालक, परंतु इनके आते ही लोगोंपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि सब लोग उठ खड़े हुए—'**उठे सकल जब रघुपति आए।**' अब विश्वामित्र सबको बैठाते हैं। विनय और अनुशासनसे दोनों भाई शील-संकोचके साथ गुरुजीके श्रीचरणोंमें बैठ जाते हैं। यहाँ जनकरायजीकी बड़ी विचित्र दशा होती है। उनकी प्रेमरूपी सूर्यकान्तमणि श्रीरामरूपी प्रत्यक्ष प्रचण्ड सूर्यकी रश्मियोंको प्राप्त कर द्रवित होकर बह चलती है। उनका गुप्त प्रेमधन श्रीरामकी मधुर छबि देखते ही सहसा प्रकट हो गया। युगोंके संचित धनका खजाना अकस्मात् खुल पड़ा।

मूरति मधुर मनोहर देखी। भएउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥

प्रेम मगन मनु जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गभीर॥

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुल तिलक कि नृपकुल पालक॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥
सहज बिरागरूप मनु मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
ताते प्रभु पूछउँ सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ॥

जनकजी कहते हैं—'मुनिनाथ! छिपाइये नहीं, सच बतलाइये—ये दोनों बालक कौन हैं? मैं जिस ब्रह्ममें लीन रहता हूँ, क्या वह वेदवन्दित ब्रह्म ही इन दो रूपोंमें प्रकट हो रहा है? मेरा स्वाभाविक ही वैरागी मन आज चन्द्रमाको देखकर चकोरकी भाँति बेसुध हो रहा है।' जनकजीकी इस दशापर विचार कीजिये।

जनकका मन आत्यन्तिक प्रेमके कारण विवशतया शील-सौन्दर्यनिधान ब्रह्मसुखको छोड़कर श्रीरामरूपके गम्भीर, मधुर सुधासमुद्रमें निमग्न हो गया। कैसी विचित्र दशा थी!

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा॥

धीरबुद्धि महाराज जनकके लिये यही उचित था। अभेद भक्ति-निष्ठ विदेहराजकी पराभक्ति संशयरहित है। यहाँ ज्ञान भक्तिका संबल बन गया—इसी प्रकार वे बारातकी विदाईके समय जब अपने जामातासे मिलते हैं, तो उनका प्रेमसमुद्र मर्यादाको पार कर जाता है। उस समयके उनके वचनोंमें असीम प्रेमकी मनोहर छटा है। थोड़ी उस समयकी झाँकी भी देखिये। बारात बिदा हो गयी। जनकजी पहुँचानेके लिये साथ-साथ जा रहे हैं। दशरथजी लौटाना चाहते हैं, परंतु प्रेमवश राजा लौटते नहीं। दशरथजीने फिर आग्रह किया तो आप रथसे उतर पड़े और नेत्रोंसे प्रेमाश्रुओंकी धारा बहाते हुए उनसे विनय करने लगे।

बार बार मागउँ कर जोरें। मनु परिहरै चरन जनि भोरें॥

धन्य जनकजी! धन्य आपकी गुप्त प्रेमाभक्ति!

उन्हें जब श्रीरामके वनवास और भरतकी राज्य-प्राप्तिका समाचार मिला तो उन्होंने पूरा समाचार—भरतकी गतिविधि जाननेके लिये गुप्तचरोंको अयोध्या भेजा। भरतलालके अनुरागका परिचय पाकर वे चित्रकूट अपने समाजके साथ पहुँचे। चित्रकूटमें महाराजकी गम्भीरता जैसे मूर्तिमान् हो जाती है। वे भरतजीसे न तो कुछ कह पाते हैं और न कुछ श्रीरामसे ही कहते हैं। उन्हें भरतकी अपार भक्ति तथा श्रीरामके परात्पर स्वरूपपर अटूट विश्वास है। महारानी कौसल्यातक सुनयनाजीद्वारा उनके पास संदेश भिजवाती हैं, किंतु वे कहते हैं कि भरत और श्रीरामका जो परस्पर अनुराग है, उसे समझा ही नहीं जा सकता। वह अतर्क्य है'—

देबि परंतु भरत रघुबर की। प्रीति प्रतीति जाइ नहिं तरकी॥

स्वयं महाराजके बोधभरित चित्तमें कितना निगूढ़ प्रेम है, इसका कोई भी अनुमान नहीं कर सकता। जनकजी कर्मयोगके सर्वश्रेष्ठ आदर्श हैं, ज्ञानियोंमें अग्रगण्य हैं और बारह प्रधान भागवताचार्योंमें हैं, उन्हें क्या कोई समझे—वे अथाह हैं।

ज्ञानको प्रेमके पवित्र द्रवरूपमें परिणत करके उसकी अजस्र सुधाधारासे जगत्‌को प्लावित कर देना ही उसकी महानता है। श्रीजनकजीने यही प्रत्यक्ष कर दिखला दिया।

(६)

सत्यप्रतिज्ञ पितामह भीष्म

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः।
यद्वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कथञ्चन॥

—भीष्म (महाभारत)

महर्षि वसिष्ठके शापसे आठों वसुओंको मनुष्यलोकमें जन्म लेना था। श्रीगङ्गाजीने उनकी माता होना स्वीकार किया। वे महाराज शंतनुकी पत्नी हुईं। सात

वसुओंको तो जन्म लेते ही उन्होंने अपने जलमें डालकर उनके लोक भेज दिया, पर आठवें वसु द्यौको शंतनुजीने रख लिया। इसी बालकका नाम 'देवव्रत' हुआ। महाराज शन्तनु दाशराजकी पालिता पुत्री सत्यवतीपर मुग्ध हो गये और उससे विवाह करनेकी इच्छा व्यक्त की। किंतु दाशराज चाहते थे कि उनकी पुत्रीकी संतान ही सिंहासनपर बैठनेकी अधिकारिणी मानी जाय, तब वे महाराजको अपनी कन्या दें। सिद्धान्ततः महाराजका सत्यवतीपर मुग्ध होना कुछ अस्वाभाविक-सा था, पर वे उसके लिये अपने ज्येष्ठ सुशील पुत्र देवव्रतका स्वत्व छीनना नहीं चाहते थे। उनकी यह विवशता थी कि वे सत्यवतीकी आसक्ति भी नहीं छोड़ पाते थे। वे उदास रहने लगे।

मन्त्रियोंसे पिताकी उदासीका पता लगाकर देवव्रत दाशराजके पास गये और कहा—'मैं राज्यासन नहीं लूँगा।' जब दाशराजने आशङ्का की कि आप तो राजगद्दीपर नहीं बैठेंगे, पर आपकी संतान राज्यके लिये झगड़ सकती है।' तब उन्होंने आजन्म अविवाहित रहनेकी प्रतिज्ञा की। देवताओंने इस प्रतिज्ञासे प्रसन्न होकर उनपर पुष्पवर्षा की और ऐसी भीषण प्रतिज्ञा करनेके कारण उनको 'भीष्म' कहकर सम्बोधित किया। महाराज शंतनु अपने पुत्रकी पितृभक्तिसे परम सन्तुष्ट हुए। मातृ-पितृ-भक्ति सदाचारकी अनूठी कड़ी है। उन्होंने भीष्मको आशीर्वाद दिया—'बेटा! जब तुम चाहोगे, तभी तुम्हारा शरीर छूटेगा। तुम्हारी इच्छाके बिना तुम्हारी मृत्यु नहीं होगी।'

भीष्मजीने भगवान् परशुरामसे धनुर्वेद सीखा था। जब परशुरामजी काशिराजकी कन्या अम्बाकी प्रार्थना मानकर भीष्मजीके पास आये और उनसे कहने लगे कि 'तुम उस कन्यासे विवाह कर लो', तब इन्होंने बड़ी नम्रतासे कहा—'गुरुजी! मैं त्रिलोकीके राज्यके लिये या स्वर्गके सिंहासनके लिये अथवा दोनोंसे भी अधिक महान् पदके लिये भी सत्यको कभी नहीं छोड़ सकता।'

परशुरामजीने भय दिखाया और अन्तमें वे इनसे युद्ध करनेको उद्यत हो गये। बड़ा ही उग्र संग्राम हुआ। ऋषियोंने भीष्मको समझाना चाहा, पर उन्होंने कहा—'भय, दया, धनके लोभ और कामनासे मैं क्षात्रधर्मका त्याग नहीं कर सकता। मैं युद्धमें पीठ नहीं दिखाऊँगा। मेरी प्रतिज्ञा है कि प्रतिपक्षका आघात सहता हुआ भी पैर पीछे न रखूँगा।' अन्तमें देवताओंके कहनेसे परशुरामजीको ही मानना पड़ा। भीष्मका व्रत अटल रहा। सत्याचारका ऐसा ज्वलन्त और अद्वितीय उदाहरण अन्यत्र कहाँ मिलेगा? पिताके सदाचारके उल्लङ्घनपर भी पुत्रने सदाचारका सम्यक् पालन किया।

जब सत्यवतीके दोनों पुत्र मर गये, तब भरतवंशकी रक्षा एवं राज्यके पालनके निमित्त सत्यवतीने भीष्मको सिंहासनपर बैठने तथा संतानोत्पादन करनेके लिये कहा। इसपर इन्होंने मातासे कहा—'पञ्चभूत चाहे अपना गुण छोड़ दें, सूर्य चाहे तेजोहीन हो जायँ, चन्द्रमा चाहे शीतल न रहें, इन्द्रमेंसे बल और धर्मराजमेंसे धर्म चाहे चला जाय, पर त्रिलोकीके राज्यके लिये भी मैं अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ सकता। मातः! तुम इस विषयमें मुझसे कुछ मत कहो।'

युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें भीष्मजीने ही पहले कहा—'तेज, बल, पराक्रम तथा सभी गुणोंमें श्रीकृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ हैं और वे ही अग्रपूजा पानेके अधिकारी हैं। जब इस बातसे जलकर शिशुपाल तथा उसके समर्थक उनकी भर्त्सना करने लगे, तब उन्होंने खुलकर घोषणा करते हुए कहा—'हम जानते हैं कि श्रीकृष्ण ही समस्त लोकोंकी उत्पत्ति तथा विनाशके मूल कारण हैं। इन्हींके द्वारा यह सचराचर विश्व रचा गया है। ये ही अव्यक्त प्रकृति हैं, ये ही कर्ता ईश्वर हैं, ये ही

समस्त भूतोंमें सनातन ब्रह्म हैं। ये ही सर्वश्रेष्ठ एवं सबके पूज्य हैं। समस्त सद्गुण श्रीकृष्णमें ही प्रतिष्ठित हैं।' सदाचारी-ब्रह्मचारी भीष्म श्रीकृष्णके ब्रह्म (तात्त्विक-स्वरूप)को पहचान रहे थे।

आश्रयदाताकी सहायता करना धर्म है, इसीलिये भीष्मजी महाभारतके युद्धमें दुर्योधनको उसके अन्यायोंके लिये सदा धिक्कारते हुए भी सचाईसे उसके पक्षमें लड़ते रहे, पर हृदयसे धर्मपर स्थित पाण्डवोंकी विजय ही उन्हें अभीष्ट थी। उन्होंने 'यतो धर्मस्ततो जयः'के लिये ही स्वयं अपनी मृत्युका उपाय बताया और युधिष्ठिरको अपने बधके लिये आज्ञा दी। यह भी उनकी न्याय-निष्ठा, जो उन-जैसे सदाचारीमें ही सम्भव थी।

महाभारतके युद्धमें भगवान् श्रीकृष्णने शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी। दुर्योधनद्वारा उत्तेजित किये जानेपर भीष्मजीने प्रतिज्ञा कर ली कि 'भगवान्को शस्त्र ग्रहण करा कर ही रहूँगा।' दूसरे दिनके युद्धमें भीष्मने अर्जुनको अपनी बाण-वर्षासे विकल कर दिया। भक्त-वत्सल भगवान् अपने भक्तके प्राणोंकी रक्षाके लिये अपनी प्रतिज्ञा भङ्ग करके सिंहनाद करते हुए अर्जुनके रथसे कूद पड़े और हाथमें रथका टूटा हुआ पहिया लेकर भीष्मकी ओर दौड़े। सेनामें हाहाकार मच गया। लोग चिल्लाने लगे—'भीष्म मारे गये! भीष्म मारे गये!!' पृथ्वी काँपने लगी, किंतु भीष्म देख रहे थे कि श्रीकृष्णचन्द्रका पीताम्बर कंधेसे गिरकर भूमिमें लोटता जा रहा है। वे (श्रीकृष्ण) युद्धभूमिमें रक्तसे लथपथ हो बढ़ते चले आ रहे हैं। अलकें उड़ रही हैं। भालपर स्वेद तथा शरीरपर कुछ रक्तकी बूँदें झलमला रही हैं। भृकुटियाँ कठोर किये वे हुंकार करते आ रहे हैं। भीष्म मुग्ध हो गये भगवान्की भक्तवत्सलता-पर। वे उनका स्वागत करते हुए बोले—

'पुण्डरीकाक्ष! देवदेव! आइये! आइये! आपको मेरा नमस्कार। पुरुषोत्तम! आज इस युद्धभूमिमें आप मेरा वध करें। परमात्मन्! श्रीकृष्ण! गोविन्द! आपके हाथसे मरनेपर मेरा कल्याण अवश्य होगा! आज मैं त्रिलोकीमें सम्मानित हूँ। प्रभो! इच्छानुसार आप अपने इस दासपर प्रहार करें।' अर्जुनने दौड़कर पीछेसे श्रीभगवान्के चरण पकड़ लिये और बड़ी कठिनाईसे उन्हें रथपर लौटा लाये। अर्जुनके प्रेममें वे प्रतिज्ञा भूल चुके थे।

भीष्मजीके हृदयमें भगवान्की यह मूर्ति बस गयी। वे उसे अन्ततक भूल न सके। सूरदासजीने भीष्म-जीका मनोभाव इस प्रकार प्रकट किया है—

वा पट पीतकी फहरान।
कर धरि चक्र चरन की धावनि, नहिं बिसरति वह बान॥
रथ तें उतरि अवनि आतुर ह्वै, कच रजकी लपटान॥
मानौ सिंह सैल तें निकस्यो, महामत्त गज जान॥
जिन गुपाल मेरो पन राख्यो, मेटि बेदकी कान॥
सोई सूर सहाय हमारे निकट भए हैं आन॥

भीष्मजीने अपनेको रणशय्या देनेकी विधि स्वयं बतायी थी। जब शिखण्डीको आगे करके अर्जुन उनपर बाण चलाने लगे, तब भी उन्होंने शिखण्डीपर आघात नहीं किया। इसे कहते हैं विकट स्थितिमें भी समुदाचार—मर्यादाका यथावत् पालन।

पितामह भीष्मका रोम-रोम बाणोंसे बिंध गया। जब वे रथसे गिरे तो उनका शरीर उन बाणोंपर ही उठा रह गया। केवल उनका मस्तक लटक रहा था। पितामहने अर्जुनसे कहा—'वत्स! मेरे योग्य एक तकिया दो।' अर्जुनने तीन बाण उनके मस्तकमें मारकर सिरको ऊपर उठा दिया। दुर्योधनके भेजे चिकित्सक जब वहाँ आये, तब पितामहने उन्हें आदरपूर्वक लौटा दिया। यह थी उनकी धैर्य और सहिष्णुताकी सीमा!

महायुद्ध समाप्त होनेपर जब युधिष्ठिरका अभिषेक हो गया, तब वे रात्रिमें एक दिन भगवान् श्रीकृष्णके पास गये। युधिष्ठिरने भगवान्को प्रणाम करके कुशल पूछी, पर उन्हें कोई उत्तर नहीं मिला। उन्होंने देखा

कि श्रीकृष्णचन्द्र ध्यानस्थ हैं। उनका रोम-रोम पुलकित हो रहा है। युधिष्ठिरने पूछा—'प्रभो! आज आप किसका ध्यान कर रहे हैं?' भगवान्‌ने बताया—शरशय्यापर पड़े हुए पुरुष-श्रेष्ठ भीष्म मेरा ध्यान कर रहे थे, उन्होंने मेरा स्मरण किया था, अतः मैं भी उनका ध्यान करनेमें लगा था। मैं उनके पास चला गया था।'

भगवान्‌ने फिर कहा—'युधिष्ठिर! वेद एवं धर्मके सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता, नैष्ठिक ब्रह्मचारी पितामह भीष्मके न रहनेपर जगत्‌के ज्ञानका सूर्य अस्त हो जायगा। अतः वहाँ चलकर तुमको उनसे उपदेश लेना चाहिये।' वे सदाचार और धर्मके तात्त्विक उपदेष्टा हैं।

युधिष्ठिर श्रीकृष्णचन्द्रको लेकर भाइयोंके साथ जहाँ भीष्मजी शरशय्यापर पड़े थे, वहाँ गये। बड़े-बड़े ब्रह्मवेत्ता ऋषि-मुनि वहाँ पहलेसे ही उपस्थित थे। श्रीकृष्णचन्द्रने पितामहसे कहा—'आप युधिष्ठिरको उपदेश करें।' भीष्मजीने बताया कि 'मेरे शरीरमें बाणोंकी अत्यधिक पीड़ा है, इससे मन स्थिर नहीं है।' उन्होंने स्पष्ट कहा—'आप जगद्गुरुके सामने मैं उपदेश करूँ, यह साहस मैं नहीं कर सकता।'

भगवान्‌ने स्नेहपूर्ण वाणीमें कहा—'पितामह! आपके शरीरका क्लेश, मूर्च्छा-दाह, ग्लानि, क्षुधा-पिपासा, मोह आदि सब अभी नष्ट हो जायँ और आपके अन्तःकरणमें सब प्रकारके ज्ञानका स्फुरण हो। आप जिस विषयका चिन्तन करें, वह आपके चित्तमें प्रत्यक्ष हो जाय।' भगवान्‌की कृपासे पितामहकी सारी पीड़ा दूर हो गयी। उनका चित्त स्थिर हो गया। उनके हृदयमें भूत, भविष्य, वर्तमानका समस्त ज्ञान यथावत् स्मृत-(प्रकट) हो गया। उन्होंने बड़े उत्साहसे युधिष्ठिरको धर्मके समस्त अङ्गोंका उपदेश किया। [भीष्मपितामहका सदाचारोपदेश महाभारतके अनुशासन और शान्तिपर्वोंमें द्रष्टव्य है।]

अन्तमें सूर्यके उत्तरायण होनेपर एक सौ पैंतीस वर्षकी अवस्थामें माघशुक्ल अष्टमीको सैकड़ों ब्रह्मवेत्ता ऋषि-मुनियोंके बीचमें शरशय्यापर पड़े हुए पितामहने अपने सम्मुख खड़े पीताम्बरधारी श्रीकृष्णचन्द्रका दर्शन तथा स्तुति करते हुए चित्तको उन परम पुरुषमें स्थित करके शरीरका परित्याग कर दिया।

महात्मा भीष्मका सदाचार-धर्मोपदेश

पिता धर्मः पिता स्वर्गः पिता हि परमं तपः। पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः॥
सर्वप्रियाभ्युपगतं धर्ममाहुर्मनीषिणः। पश्यैतं लक्षणोद्देशं धर्माधर्मे युधिष्ठिर॥
सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्। सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥
नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्। स्थितिर्हि सत्यं धर्मस्य तस्मात् सत्यं न लोपयेत्॥

(महाभारत, शान्ति०)

भीष्मजी कहते हैं—पिता ही धर्म, पिता ही स्वर्ग और पिताकी सेवा ही सबसे बड़ी तपस्या है। पिताके प्रसन्न होनेपर सभी देवता प्रसन्न हो जाते हैं। युधिष्ठिर! जो बर्ताव अपनेको प्रिय जान पड़ता है, वही सब यदि दूसरोंके प्रति किया जाय तो उसे ही मनीषी पुरुष धर्म मानते हैं। संक्षेपमें धर्म-अधर्मको पहचाननेका यही लक्षण समझो। सत्य ही धर्म, तपस्या और योग है; सत्य ही सनातन ब्रह्म है और सत्य ही सबसे श्रेष्ठ यज्ञ है; सत्यमें ही सब कुछ प्रतिष्ठित है; सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है और झूठसे बढ़कर और कोई पातक नहीं है, सत्य ही धर्मका आधार है। अतः सत्यका कभी लोप नहीं करे।

महाराज युधिष्ठिरके जीवनसे सदाचारकी आदर्श शिक्षा

(ब्रह्मलीन श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

महाराज युधिष्ठिरका जीवन सदाचारका महान् आदर्श था। जिस प्रकार त्रेतायुगमें साक्षात् मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी धर्मपालनमें परम आदर्श थे, लगभग उसी प्रकार द्वापरयुगमें केवल नीति और धर्मका पालन करनेमें महाराज युधिष्ठिरको भी आदर्श पुरुष कहा जा सकता है। अतः महाभारतके समस्त पात्रोंमें नीति और धर्मके पालनके सम्बन्धमें महाराज युधिष्ठिरका आचरण सर्वथा आदर्श एवं अनुकरणीय है। भारतवासियोंके लिये तो युधिष्ठिरका जीवन सन्मार्गपर ले चलनेवाला मानो एक अलौकिक पथ-प्रदर्शक ज्योतिःस्तम्भ है। वे सद्गुण और सदाचारकी मूर्ति थे। जहाँ उनका निवास हो जाता था, वह स्थान सद्गुण और सदाचारसे परिपूत हो जाता था। उनके-जैसा धर्मपालनका उदाहरण संसारके इतिहासमें कम ही मिलता है।

गुरु द्रोणाचार्यके पूछनेपर अश्वत्थामाकी मृत्युके सम्बन्धमें उन्होंने जो छलयुक्त भाषण किया, उसके लिये वे सदा पश्चात्ताप करते रहे। उनका व्यवहार इतना शुद्ध और उत्तम होता था कि उनके भाई, माता, स्त्री, नौकर आदि सभी उनसे सदा प्रसन्न रहते थे। इतना ही नहीं, वे जिस देशमें निवास करते थे, वहाँकी सारी प्रजा भी उनके सद्व्यवहारके कारण उनको श्रद्धा और पूज्यभावसे देखा करती थी। तात्पर्य यह कि महाराज युधिष्ठिर एक बड़े भारी सद्गुणसम्पन्न, सदाचारी, स्वार्थत्यागी, सत्यवादी, ईश्वरभक्त, धीर, वीर और गम्भीर स्वभाववाले तथा क्षमाशील एवं धर्मात्मा थे। कल्याण चाहनेवाले महानुभावोंके लाभार्थ उनके जीवनकी कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओंका दिग्दर्शनमात्र यहाँ कराया जाता है। उनके गुण और आचरणोंको समझकर तदनुसार आचरण करनेसे बहुत भारी लाभ हो सकता है।

निर्वैरता—एक समयकी बात है, राजा दुर्योधन कर्ण, शकुनि और दुःशासन आदि भाइयोंके सहित बड़ी भारी सेना लेकर गौओंके निरीक्षणका बहाना करके पाण्डवोंको संताप पहुँचानेके विचारसे उस द्वैत नामक वनमें गया, जहाँपर पाण्डव निवास करते थे। देवराज इन्द्र उसके उद्देश्यको जान गये। बस, उन्होंने चित्रसेन गन्धर्वको आज्ञा दी कि 'शीघ्रतासे जाकर उस दुष्ट दुर्योधनको बाँध लाओ!' देवराजकी इस आज्ञाको पाकर वह गन्धर्व दुर्योधनको युद्धमें परास्त करके उसको साथियोंसहित बाँधकर ले चला। किसी प्रकार जान बचाकर दुर्योधनका वृद्ध मन्त्री कुछ सैनिकोंके साथ तुरंत महाराज युधिष्ठिरकी शरणमें पहुँचा। और उसने इस घटनाका सारा समाचार सुनाया तथा दुर्योधन आदिको गन्धर्वके हाथसे छुड़ानेकी भी प्रार्थना की। महाराज युधिष्ठिर दुर्योधनकी रक्षाके लिये तुरंत प्रस्तुत हो गये। उन्होंने कहा—'नरव्याघ्र अर्जुन, नकुल, सहदेव और अजेय वीर भीमसेन! उठो, उठो, तुम सब लोग शरणमें आये हुए इन पुरुषोंकी और अपने कुलवालोंकी रक्षाके लिये शस्त्र ग्रहण करके तैयार हो जाओ! जरा भी विलम्ब मत करो। देखो, गन्धर्व दुर्योधनको बंदी बनाकर लिये जा रहे हैं। उसे तुरंत छुड़ाओ।' महाराज युधिष्ठिरने फिर कहा—'मेरे वीरश्रेष्ठ बन्धुओ! शरणागतकी यथाशक्ति रक्षा करना सभी क्षत्रिय राजाओंका महान् कर्तव्य है। शत्रुकी रक्षाका माहात्म्य तो और भी बड़ा है। मैंने यदि यह यज्ञ आरम्भ न किया होता तो मैं स्वयं ही उस बंदी दुर्योधनको छुड़ानेके लिये दौड़ पड़ता, पर अब विवशता है। इसीलिये कहता हूँ, वीरवरो! जाओ—जल्दी जाओ!' कुरुनन्दन भीमसेन! यदि वह गन्धर्वराज

समझानेसे न माने तो तुमलोग अपने प्रबल पराक्रमसे अपने भाई दुर्योधनको उसकी कैदसे छुड़ाओ।' इस प्रकार अजातशत्रु धर्मराजके इन वचनोंको सुनकर भीमसेन आदि चारों भाइयोंके मुखपर प्रसन्नता छा गयी। उन लोगोंके अधर और भुजदण्ड एक साथ फड़क उठे। उन सबकी ओरसे महावीर अर्जुनने कहा—'महाराज! आपकी जो आज्ञा। यदि गन्धर्वराज समझाने-बुझानेपर दुर्योधनको छोड़ देंगे, तब तो ठीक ही है; नहीं तो यह माता पृथ्वी गन्धर्वराजका रक्तपान करेगी।'

अर्जुनकी इस प्रतिज्ञाको सुनकर दुर्योधनके बूढ़े मन्त्री आदिको शान्ति मिली। इधर ये चारों पराक्रमी पाण्डव दुर्योधनको मुक्त करनेके लिये चल पड़े। सामना होनेपर अर्जुनने धर्मराजके आज्ञानुसार दुर्योधनको मुक्त कर देनेके लिये गन्धर्वोंको बहुत समझाया, परंतु उन्होंने इनकी एक न सुनी। तब अर्जुनने घोर युद्धद्वारा गन्धर्वोंको परास्त कर दिया। तत्पश्चात् परास्त चित्रसेनने अपना परिचय दिया और दुर्योधनादिको बंदी बनानेका कारण बताया। यह सुनकर पाण्डवोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। वे चित्रसेन और दुर्योधनादिको लेकर धर्मराजके पास आये। धर्मराजने दुर्योधनकी सारी करतूत सुनकर भी बड़े प्रेमके साथ दुर्योधन और उसके सब साथी बंदियोंको मुक्त करा दिया। फिर उसको स्नेहपूर्वक आश्वासन देते हुए उन्होंने सबको घर जानेकी आज्ञा दे दी। दुर्योधन लज्जित होकर सबके साथ घर लौट गया। ऋषि-मुनि तथा ब्राह्मणलोग धर्मराज युधिष्ठिरकी प्रशंसा करने लगे।

यह है महाराज युधिष्ठिरके आदर्श जीवनकी एक घटना और निर्वैरता तथा धर्मपालनका अनूठा उदाहरण! उनके मनमें दुष्ट दुर्योधनकी काली करतूतोंको सुनकर क्रोधकी छायाका स्पर्श भी न हुआ। उन्होंने जल्दी ही उसको गन्धर्वराजके कठिन बन्धनसे मुक्त करवा दिया। यही नहीं, उनकी इस क्रियासे दुर्योधन दुःखी और लज्जित न हो, इसके लिये उन्होंने प्रेमपूर्ण वचनोंसे उसको आश्वासन भी दिया। मित्रोंकी तो बात ही क्या, दुःखमें पड़े हुए शत्रुओंके प्रति भी हमारा क्या कर्तव्य है, इसकी शिक्षा स्पष्टरूपसे हमें धर्मराज युधिष्ठिर दे रहे हैं।

धैर्य—दुर्योधनने कर्णकी सम्मतिसे शकुनिके द्वारा धर्मराज युधिष्ठिरको छलसे जूएमें हराकर दाँवपर रक्खी हुई द्रौपदीको जीत लिया था। उसके पश्चात् दुर्योधनकी आज्ञासे दुःशासनने द्रौपदीको केश पकड़कर खींचते हुए भरी सभामें उपस्थित किया। द्रौपदी अपनी लाज बचानेके लिये रुदन करती हुई पुकारने लगी। सारी सभा द्रौपदीके व्याकुलतासे भरे हुए करुणापूर्ण रुदनको सुनकर दुःखी हो रही थी। किंतु दुर्योधनके भयसे विदुर और विकर्णके सिवा किसीने भी उसके इस घृणित कुकर्मका विरोधतक नहीं किया। द्रौपदी उस समय रजस्वला थी और उसके शरीरपर एक ही वस्त्र था। ऐसी अवस्थामें भी दुःशासनने भरी सभामें उसका वस्त्र खींचकर उसे नंगी कर देना चाहा। और, कर्ण नाना प्रकारके दुर्वचनोंद्वारा द्रौपदीका अपमान करने लगा। दुष्ट दुर्योधनने तो अपनी बायीं जाँघ दिखलाकर उसपर बैठनेका संकेत करके द्रौपदीके अपमानकी हद ही कर दी! वस्तुतः भारतकी एक सती अबलाके प्रति अत्याचारकी यह पराकाष्ठा थी!!

अब भीमसेनसे न रहा गया। क्रोधके मारे उनके होठ फड़कने लगे, रोमकूपोंसे चिनगारियाँ निकलने लगीं, किंतु धर्मराजकी आज्ञा और संकेतके बिना उनसे कुछ भी करते न बना। धर्मात्मा युधिष्ठिर तो वचनबद्ध थे, इसलिये वे यह सब देख-सुनकर भी मौनव्रत धारण किये हुए चुपचाप शान्तभावसे बैठे रहे। द्रौपदी चीख उठी। उसने अपनी रक्षाके लिये आँखोंमें आँसू भरकर सारी सभासे अनुरोध किया, पर सबने सिर नीचा कर लिया। अन्तमें उसने सबसे निराश होकर भगवान् श्रीकृष्णको सहायताके

लिये पुकारा। आर्त भक्तकी पुकार सुनकर भगवान्‌ने ही द्रौपदीकी लाज बचायी। हमें यहाँ युधिष्ठिर महाराजके धैर्यको देखना है। वे जरा-सा इशारा कर देते तो एक क्षणमें वहाँपर प्रलयका दृश्य उपस्थित हो गया होता, परंतु उन्होंने उस समय धैर्यका सच्चा स्वरूप प्रत्यक्ष करके दिखला दिया (जो सदाचारका एक स्तम्भ है)। धन्य हैं अपूर्व धैर्यशाली सदाचारी युधिष्ठिरजी महाराज!

अक्रोध, क्षमा—महाराज युधिष्ठिर अक्रोध और क्षमाके मूर्तिमान् विग्रह थे। महाभारतके वनपर्व (अ० २७–२९)में एक कथा आती है कि द्रौपदीने एक बार महाराज युधिष्ठिरके मनमें क्रोधका संचार करानेके लिये अतिशय चेष्टा की। उन्होंने महाराजसे कहा—'नाथ! मैं राजा द्रुपदकी कन्या हूँ, पाण्डवोंकी धर्मपत्नी हूँ, धृष्टद्युम्नकी भगिनी हूँ, मुझको जंगलोंमें मारी-मारी फिरती देखकर तथा अपने छोटे भाइयोंको वनवासके घोर दुःखसे व्याकुल देखकर भी यदि आपको धृतराष्ट्रके पुत्रोंपर क्रोध नहीं आता तो इससे मालूम होता है कि आपमें जरा भी तेज और क्रोधकी मात्रा नहीं है। परंतु देव! जिस मनुष्यमें तेज और क्रोधका अभाव है, जो क्रोधके पात्रपर भी क्रोध नहीं करता, वह तो क्षत्रिय कहलाने योग्य ही नहीं है। जो उपकारी हो, जिसने भूल या मूर्खतासे कोई अपराध कर दिया हो, अथवा अपराध करके जो क्षमाप्रार्थी हो गया हो, उसको क्षमा करना तो क्षत्रियका परम धर्म है, परंतु जो जान-बूझकर बार-बार अपराध करता हो, उसको भी क्षमा करते रहना क्षत्रियका धर्म नहीं है। अतः स्वामिन्! जान-बूझकर नित्य ही अनेक अपराध करनेवाले ये धृतराष्ट्रपुत्र क्षमाके पात्र नहीं, प्रत्युत क्रोधके पात्र हैं। इन्हें समुचित दण्ड मिलना ही चाहिये।' यह सुनकर महाराज युधिष्ठिरने उत्तर दिया—'द्रौपदी! तुम्हारा कहना ठीक है, किंतु जो मनुष्य क्रोधके पात्रको भी क्षमा कर देता है, वह अपनेको और उसको दोनोंको ही महान् संकटसे बचानेवाला होता है।[1] अतः द्रौपदी! धीर पुरुषोंद्वारा त्यागे हुए क्रोधको मैं अपने हृदयमें कैसे स्थान दे सकता हूँ[2]? क्रोधके वशीभूत हुआ मनुष्य तो सभी पापोंको कर सकता है। वह अपने गुरुजनों-का भी नाश कर डालता है। श्रेष्ठ पुरुषोंका तिरस्कार कर देता है। क्रोधी पुत्र अपने पिताको तथा क्रोध करनेवाली स्त्री अपने पतितकको भी मार देती है।

'क्रोधी पुरुषको अपने कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान बिल्कुल नहीं रहता, वह बात-की-बातमें अनर्थ कर डालता है। उसे वाच्य-अवाच्यका भी ध्यान नहीं रहता।[3] वह मनमें जो आता है, वही बकने लगता है। अतः तुम्हीं बतलाओ, महा अनर्थोंके मूल कारण क्रोधको मैं कैसे आश्रय दे सकता हूँ? द्रौपदी! क्रोधको तेज मानना अज्ञता है। वास्तवमें जहाँ तेज है, वहाँ तो क्रोध रह ही नहीं सकता। ज्ञानियोंका यह वचन है तथा मेरा भी यही निश्चय है कि जिस पुरुषमें क्रोध होता ही नहीं अथवा क्रोध होनेपर भी जो अपने विवेकद्वारा उसे शान्त कर देता है,[4] उसीको तेजस्वी कहते हैं, न कि क्रोधीको तेजस्वी कहा जाता है।

१–आत्मानं च परांश्चैव त्रायते महतो भयात्। क्रुध्यन्तमप्रतिक्रुध्यन् द्वयोरेष चिकित्सकः॥ (वन० २९। ९)

२–(वन० २९। ८)

३–वाच्यावाच्ये हि कुपितो न प्रजानाति कर्हिचित्। नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते तथा॥ (वन० २९। ५)

४–शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्। कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ (गीता ५। २३)

सुनो, जो क्रोधपात्रको भी क्षमा कर देता है, वह सनातनलोकको प्राप्त करता है।

'महामुनि कश्यपने तो कहा है कि 'क्षमा ही धर्म है, क्षमा ही यज्ञ है, क्षमा ही वेद है और क्षमा ही शास्त्र है। इस प्रकार क्षमाके स्वरूपको जाननेवाला सबको क्षमा ही करता है।[5] क्षमा ही ब्रह्म, क्षमा ही भूत, भविष्य, तप, शौच, सत्य—सब कुछ है। इस चराचर जगत्को भी 'क्षमा'ने ही धारण कर रखा है।[6] तेजस्वियोंका तेज, तपस्वियोंका ब्रह्म, सत्यवादियोंका सत्य, याज्ञिकोंका यज्ञ तथा मनको वशमें करनेवालोंकी शान्ति भी क्षमा ही है[7]। जिस क्षमाके आधारपर सत्य, ब्रह्म, यज्ञ और पवित्र लोक स्थित हैं, उस क्षमाको मैं कैसे त्याग सकता हूँ[8]। तपस्वियोंको, ज्ञानियोंको, कर्मियोंको जो गति मिलती है, उससे भी उत्तम गति क्षमावान् पुरुषोंको मिलती है। जो सब प्रकारसे क्षमाको धारण किये रहते हैं, उनको ब्रह्मकी प्राप्ति होती है।' अतः सबको निरन्तर क्षमाशील बनना चाहिये।[9] द्रौपदी! तू भी क्रोधका परित्याग करके क्षमा धारण कर। क्षमाशील होना परम सदाचार है।''

कितना सुन्दर उपदेश है, कितने भव्य भाव हैं! जंगलमें दुःखसे कातर बनी हुई अपनी धर्मपत्नीके प्रति निकले हुए धर्मराजके ये वचन अक्रोधके ज्वलन्त उदाहरण हैं! तेज, क्षमा और शान्तिका इतना सुन्दर सम्मिश्रण अन्यत्र ढूँढ़नेसे भी नहीं मिलता। क्षमा सदाचारका महत्त्वपूर्ण अङ्ग है

सत्य—महाराज युधिष्ठिर सत्यवादी थे, यह शास्त्र तथा लोक दोनोंमें ही प्रसिद्ध है। भीमसेनने एक समय धर्मराजसे अपने भाइयों तथा द्रौपदीके कष्टोंकी ओर ध्यान दिलाकर जूएमें हारे हुए अपने राज्यको बलपूर्वक वापस कर लेनेकी प्रार्थना की।[10] इसपर महाराज युधिष्ठिरने उत्तर दिया—'भीमसेन! राज्य, पुत्र, कीर्ति, धन—ये सब एक साथ मिलकर सत्यके सोलहवें हिस्सेके समान भी नहीं हैं। अमरता और प्राणोंसे भी बढ़कर मैं सत्यपालनरूप धर्मको मानता हूँ। तू मेरी प्रतिज्ञाको सच मान[11]। कुरुवंशियोंके सामने की गयी अपनी उस सत्य प्रतिज्ञासे मैं जरा भी विचलित नहीं हो सकता। तू बीज बोकर फलकी प्रतीक्षा करनेवाले किसानकी तरह वनवास तथा अज्ञातवासके समाप्तिकालकी प्रतीक्षा कर।' भीमसेनने फिर प्रार्थना की—'महाराज! हमलोग तेरह महीनेतक तो वनवास कर ही चुके हैं, वेदके शब्दानुसार आप इसीको तेरह वर्ष क्यों न समझ

५–क्षमा धर्मः क्षमा यज्ञः क्षमा वेदाः क्षमा श्रुतम्। य एतदेवं जानाति स सर्वं क्षन्तुमर्हति॥

६–(क) क्षमा ब्रह्म क्षमा सत्यं क्षमा भूतं च भावि च। क्षमा तपः क्षमा शौचं क्षमयेदं धृतं जगत्॥
(वन० २९। ३६-३७)

(ख) 'क्षमा'का एक अर्थ पृथ्वी भी है।

७–क्षमा तेजस्विनां तेजः क्षमा ब्रह्म तपस्विनाम्। क्षमा सत्यवतां सत्यं क्षमा यज्ञः क्षमा शमः॥

८–तां क्षमां तादृशीं कृष्णे कथमस्मद्विधस्त्यजेत्। यस्यां ब्रह्म च सत्यं च यज्ञा लोकाश्च धिष्ठिताः॥
(वन० २९। ४०-४१)

९–क्षन्तव्यमेव सततं पुरुषेण विजानता। यदा हि क्षमते सर्वं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥
(वन० २९। ४२)

१०–महाभारत वनपर्वके अध्याय ३३-३४ में यह प्रसङ्ग है।

११–मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां वृणे धर्मममृताज्जीविताच्च।
राज्यं च पुत्राश्च यशो धनं च सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति॥
(वन० ३४। २२)

लें ?[१२] किंतु धर्मराजने इसको भी छलयुक्त सत्यका आश्रय लेना मानकर उसे स्वीकार नहीं किया। वे अपने यथार्थ सत्यपर ही डटे रहे।

धर्मराजकी सत्यतापर उनके शत्रु भी विश्वास करते थे। सत्यपालनकी महिमाके कारण उनका रथ पृथ्वीसे चार अङ्गुल ऊपर उठकर चला करता था। सत्यपालनका इतना माहात्म्य है। महाभारतमें तो एक जगह कहा गया है कि एक बार सहस्र अश्वमेध-यज्ञोंके फल केवल सत्यके महाफलके साथ तौले गये, किंतु उनकी अपेक्षा सत्यका फल ही अधिक भारी सिद्ध हुआ।[१३] वस्तुतः सत्य सदाचारका प्रमुख अङ्ग है।

परंतु पग-पगपर मिथ्याका आश्रय ग्रहण करनेवाला आजकलका संसार कहाँ जा रहा है!

विद्वत्ता, बुद्धिमत्ता, समता—एक समय साक्षात् धर्मने महाराज युधिष्ठिरकी परीक्षा लेनेके उद्देश्यसे हरिण-का रूप धारण किया। वे किसी अग्निहोत्री ब्राह्मणकी अरणी (यज्ञार्थ अग्नि उत्पन्न करनेवाली काष्ठ-मथनी) को अपने सींगोंमें उलझाकर साथ लिये हुए जंगलमें चले गये। ब्राह्मण व्याकुल होकर महाराज युधिष्ठिरके पास पहुँचा और उनसे हरिणद्वारा अपनी अरणीके ले जानेकी बात कही। ब्राह्मणने धर्मराज युधिष्ठिरसे यह याचना की कि वे किसी प्रकार उस अरणीको ढुँढवाकर उसे दे दें, जिससे अग्निहोत्रका काम बंद न हो। यह सुनना था कि महाराज युधिष्ठिर अपने चारों भाइयोंको साथ लेकर उस हरिणके पदचिह्नोंका अनुसरण करते हुए जंगलमें बहुत दूरतक चले गये। किंतु अन्तमें वह हरिण अन्तर्धान हो गया और सभी भाई प्याससे व्याकुल होकर और थककर एक वटवृक्षके नीचे बैठ गये। कुछ देर बाद धर्मराजकी आज्ञा लेकर नकुल जलकी खोजमें निकले। वे जल्दी ही एक जलाशयपर पहुँच गये। परंतु ज्यों ही उन्होंने वहाँके निर्मल जलको पीना चाहा, त्यों ही यह आकाशवाणी हुई—'माद्रिपुत्र नकुल! यह स्थान मेरा है। मेरे प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना कोई इसका जल नहीं पी सकता! इसलिये तुम पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो, फिर स्वयं जल पीओ तथा भाइयोंके लिये भी ले जाओ।' किंतु नकुल तो प्यासके मारे बेचैन थे, उन्होंने उस आकाशवाणीकी ओर ध्यान नहीं दिया और जल पी लिया। फल-स्वरूप जल पीते ही उनकी मृत्यु हो गयी। इधर नकुलके लौटनेमें विलम्ब हुआ देखकर धर्मराजकी आज्ञासे क्रमशः सहदेव, अर्जुन और भीम—ये तीनों भाई भी उस जलाशयके निकट आये और इन तीनोंने भी प्याससे व्याकुल होनेके कारण यक्षके प्रश्नोंकी परवाह न करते हुए जलपान कर लिया और उसी प्रकार इन लोगोंकी भी क्रमशः मृत्यु हो गयी। अन्तमें महाराज युधिष्ठिरको स्वयं ही उस जलाशयपर पहुँचना पड़ा। वहाँ उन्हें अपने चारों भाइयोंको मरा हुआ देखकर बड़ा भारी दुःख तथा आश्चर्य हुआ। वे उनकी मृत्युका कारण सोचने लगे। जलकी परीक्षा करनेपर उसमें कोई दोष नहीं दिखायी पड़ा और न उन मृत भाइयोंके शरीरपर कोई घाव ही दीख पड़े। अतः उन्हें उनकी मृत्युका कोई कारण समझमें नहीं आया। थोड़ी देर बाद अत्यन्त प्यास लगनेके कारण जब वे भी जल पीनेके लिये बढ़े, तब फिर वही

१२–अस्माभिरुषिताः सम्यग्वने मासास्त्रयोदश। परिमाणेन तान् पश्य तावतः परिवत्सरान्॥
(वन० ३५ । ३२)

'यो मासः स संवत्सर इति श्रुतेः'।

१३–अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्। अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥
(शान्ति० १६२ । २६)

आकाशवाणी हुई। उसे सुनकर धर्मराजने आकाशचारीसे उसका परिचय पूछा। आकाशचारीने अपनेको यक्ष बतलाया तथा उसने यह भी कहा कि 'तुम्हारे भाइयोंने सावधान करनेपर भी मेरे प्रश्नोंका उत्तर नहीं दिया—लापरवाहीके साथ जल पी लिया। इसलिये मैंने ही इनको मार डाला है। तुम भी मेरे प्रश्नोंका उत्तर देकर ही जल पी सकते हो। अन्यथा तुम्हारी भी यही गति होगी।' महाराज युधिष्ठिरने कहा—'यक्ष! तुम प्रश्न करो। मैं अपनी बुद्धिके अनुसार तुम्हारे प्रश्नोंका उत्तर देनेकी चेष्टा करूँगा।' इसपर यक्षने बहुतेरे प्रश्न किये और महाराज युधिष्ठिरने उसके सब प्रश्नोंका यथोचित उत्तर दे दिया।

यहाँ उन सारे-के-सारे प्रश्नोंका उल्लेख न करके केवल धर्मराजद्वारा दिये गये उत्तरोंका अधिकांश भाग दिया जाता है। महाराज युधिष्ठिरने यक्षसे कहा—वेदका अभ्यास करनेसे मनुष्य श्रोत्रिय होता है। तपस्यासे महत्ताको प्राप्त करता है। धैर्य रखनेसे दूसरे सहायक बन जाते हैं। वृद्धोंकी सेवा करनेसे मनुष्य बुद्धिमान् होता है। तीनों वेदोंके अनुसार किया हुआ कर्म नित्य फल देता है। मनको वशमें रखनेसे मनुष्यको कभी शोकका शिकार नहीं होना पड़ता। सत्पुरुषोंके साथ हुई मित्रता जीर्ण नहीं होती। मानके त्यागसे मनुष्य सबका प्रिय होता है। क्रोधके त्यागसे शोकरहित होता है। कामनाके त्यागसे अर्थकी सिद्धि होती है। लोभके त्यागसे सुखी होता है। स्वधर्मपालनका नाम तप है, मनको वशमें करना दम है, सहन करनेका नाम क्षमा है, अकर्तव्यसे विमुख हो जाना लज्जा है, तत्त्वको यथार्थरूपसे जानना ज्ञान है, चित्तके शान्तभावका नाम शम है, सबको सुखी देखनेकी इच्छा (ऋजुता) का नाम आर्जव है। क्रोध मनुष्यका वैरी है। लोभ असीम व्याधि है। जो सब भूतोंके हितमें रत है, वह साधु है और जो निर्दयी है, वह असाधु है। धर्मपालनमें मूढ़ता ही मोह है, अभिमान ही मान है, धर्ममें अकर्मण्यता ही आलस्य है, शोक करना ही मूर्खता है, स्वधर्ममें डटे रहना ही स्थिरता है। इन्द्रियनिग्रह धैर्य है, मनके मैलका त्याग करना स्नान है। प्राणियोंकी रक्षा करना दान है। धर्मका जाननेवाला ही पण्डित है। नास्तिक ही मूर्ख है। जन्म-मरणरूप संसारको प्राप्त करानेवाली वासनाका नाम काम है। दूसरेकी उन्नतिको देखकर जो मनमें संताप होता है, उसका नाम मत्सरता है। अहंकार ही महान् अज्ञान है। मिथ्या धर्माचरण दिखानेका नाम दम्भ है। दूसरेके दोषोंको देखना पिशुनता है।

जो पुरुष वेद, धर्मशास्त्र, ब्राह्मण, देवता, श्राद्ध और पितर आदिमें मिथ्याबुद्धि रखता है, वह अक्षय नरकको पाता है। प्रिय वचन बोलनेवाला लोगोंको प्रिय होता है। विचारकर कार्य करनेवाला प्रायः विजय पाता है। मित्रोंकी संख्या बढ़ानेवाला सुखपूर्वक रहता है। धर्ममें रत पुरुष सद्‌गुणोंको प्राप्त करता है। प्रतिदिन प्राणी यमलोककी यात्रा करते हैं, इसको देखकर भी बचे हुए लोग सदा स्थिर रहना चाहते हैं। इससे बढ़कर और आश्चर्य क्या है?[१४] जिसके लिये प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, भूत-भविष्य आदि सब समान हैं, वह निःसंदेह सबसे बड़ा धनी है।[१५] इस प्रकार अनेक प्रश्नोंका समुचित उत्तर पानेके बाद यक्ष प्रसन्न हुआ। उसने महाराज युधिष्ठिरको जल पीनेकी आज्ञा दी और कहा—'इन चारों भाइयोंमेंसे तुम जिस एकको कहो, मैं उसे जिला दूँगा।' इसपर महाराज युधिष्ठिरने अपने भाई नकुलको जिलानेके लिये कहा। यक्षने आश्चर्यचकित

१४—अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालयम्। शेषाः स्थावरमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥ (वन० ३१३। ११६)

१५—तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च। अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः॥ (वन० ३१३। १२१)

होकर पूछा—'अजी ! दस हजार हाथियोंका बल रखनेवाले भीमको तथा जिसके अपार बाहुबलका तुमलोगोंको भरोसा है, उस अर्जुनको छोड़कर तुम नकुलको क्यों जिलाना चाहते हो ?' महाराज युधिष्ठिरने कहा—'जो मनुष्य अपने धर्मका पालन नहीं करता है, या यों कहो कि उसका त्याग कर देता है, धर्म भी उसे छोड़ (तिरस्कृत कर) देता है। परंतु जो धर्मकी रक्षा करता है, उसकी रक्षा धर्म करता है।[१६] यक्ष ! मुझको लोग सदा धर्मपरायण समझते हैं, मैं धर्मको नहीं छोड़ सकता।[१७] मेरे पिताकी कुन्ती और माद्री दो स्त्रियाँ थीं, वे दोनों पुत्रवती बनी रहें, ऐसा मेरा निश्चित विचार है। इसलिये मेरा भाई नकुल ही जीवित हो, क्योंकि मेरे लिये जैसी मेरी माता कुन्ती है, वैसी ही माद्री है। मैं उन दोनों माताओंपर समान भाव रखना चाहता हूँ (कुन्तीका पुत्र मैं तो जीवित हूँ ही, अब माद्रीका पुत्र नकुल भी जीवित हो जाय); क्योंकि समता ही सब धर्मोंमें सबसे बड़ा धर्म है।'

महाराज युधिष्ठिरका यह धर्ममय उत्तर सुनकर यक्ष बड़ा ही प्रसन्न हुआ। उसने कहा—'हे युधिष्ठिर ! तुम सचमुच बड़े धर्मात्मा हो, अर्थ और कामसे बढ़कर तुम धर्मको मानते हो। तुम्हारे सभी भाई जीवित हो जायँ।' यक्षके यह कहते ही चारों भाई तत्काल जी उठे। महाराज युधिष्ठिरने यक्षसे यथार्थ परिचय देनेकी प्रार्थना की। तब यक्षने खुलकर कहा—'वत्स युधिष्ठिर ! मैं तुम्हारा पिता साक्षात् धर्म हूँ। तुम्हारी परीक्षा लेनेके लिये मैंने ही हरिणका रूप धारण किया था और उस ब्राह्मणकी अरणी उठा ले गया था।' इसके पश्चात् धर्मने महाराज युधिष्ठिरको अरणी लौटा दी तथा युधिष्ठिरसे वर माँगनेके लिये कहा। महाराज युधिष्ठिरने प्रार्थना की—'देव ! आप सनातन देवोंके देव हैं। मैं आपके दर्शनसे ही कृतार्थ हो गया। आप जो कुछ भी मुझे वर देंगे, उसे मैं शिरोधार्य करूँगा। विभो ! मुझको आप यही वर दें कि मैं क्रोध, लोभ, मोह आदिको सदाके लिये जीत लूँ तथा मेरा मन दान, तप और सत्यमें निरन्तर लगा रहे। (मैं सदाचारमें लगा रहूँ।)' धर्मने कहा—'पाण्डव ! ये गुण तो स्वभावसे ही तुममें वर्तमान हैं। तुम तो साक्षात् धर्म हो, तथापि तुमने मुझसे जितनी वस्तुएँ माँगी हैं, वे सब तुम्हें प्राप्त हों[१८]।' यह कहकर धर्म अन्तर्धान हो गये।

महाराज युधिष्ठिरद्वारा दिये गये इन उत्तरोंकी मार्मिकताको हमलोग समझें। इस प्रकार धर्मराजके सदाचारसम्पन्न महान् व्यक्तित्वका प्रत्यक्षीकरण करें तो क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणोंसे बचकर दान, तप, सत्य आदि दैवी गुणोंके उपासक हो सकते हैं, जिससे हमारा कल्याण निश्चित है।

पवित्रताका प्रभाव—जब महाराज युधिष्ठिर अपने सब भाइयोंके साथ विराट-नगरमें छिपे हुए थे, तब कौरवोंके द्वारा उन लोगोंकी खोजके लिये अनेक प्रयत्न किये गये, पर कहीं भी उनका पता न चला। सभी सभासदोंने नाना प्रकारके उपाय बतलाये, परंतु सभी निष्फल हो गये। अन्तमें भीष्मपितामहने एक युक्ति बतलायी। उन्होंने कहा—'अबतक पाण्डवोंका पता लगानेके लिये जितने भी उपाय काम लाये गये हैं तथा अभी काममें लाये जानेवाले हैं, वे सब मेरी सम्मतिमें सर्वथा अनुपयुक्त हैं; क्योंकि साधारण दूतोंद्वारा उनका पता नहीं लग

१६—धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ॥

१७—जयेयं लोभमोहौ च क्रोधं चाहं सदा विभो। दाने तपसि सत्ये च मनो मे सततं भवेत् ॥
(वन० ३१४ । २४)

१८—उपपन्नो गुणैरेतैः स्वभावेनासि पाण्डव। भवान् धर्मः पुनश्चैव यथोक्तं ते भविष्यति ॥
(वन० ३१४ । २५)

सकता है । उनकी खोज करनेका साधन यह है, आपलोग इसको ध्यानपूर्वक सुनें । जिस देश और राज्यमें पवित्रात्मा जितेन्द्रिय राजा युधिष्ठिर होंगे, वहाँके राजाका अमङ्गल नहीं हो सकता । उस देशके मनुष्य निश्चय ही दानशील, उदार, शान्त, लज्जाशील, प्रियवादी, जितेन्द्रिय, सत्यपरायण, हृष्ट-पुष्ट, पवित्र तथा चतुर होंगे । वहाँकी प्रजा असूया, ईर्ष्या, अभिमान और मत्सरतासे रहित होगी तथा सब लोग स्वधर्मके अनुसार आचरण करनेवाले होंगे ।[१९] वहाँ निःसंदेह अच्छी तरहसे वर्षा होती होगी । सारा-का-सारा देश प्रचुर धनधान्यसम्पन्न और पीड़ारहित होगा । वहाँके अन्न सारयुक्त होंगे, फल रसमय होंगे, पुष्प सुगन्धित होंगे, वहाँका पवित्र पवन सुखदायक होगा और वहाँ प्रचुर मात्रामें दूध देनेवाली हृष्ट-पुष्ट गौएँ होंगी । वहाँ स्वयं धर्म मूर्तिमान् होकर निवास करेंगे । वहाँके सभी मनुष्य सदाचारी, प्रीति करनेवाले, संतोषी तथा अकालमृत्युसे रहित होंगे । देवताओंकी पूजामें प्रीति रखनेवाले, उत्साहयुक्त और धर्मपरायण होंगे । वहाँके मनुष्य सदा परोपकारपरायण होंगे । हे तात ! महाराज युधिष्ठिरके शरीरमें सत्य, धैर्य, दान, परमशान्ति, ध्रुव, क्षमा, शील, कान्ति, कीर्ति, प्रभाव, सौम्यता, सरलता आदि गुण निरन्तर निवास करते हैं । ऐसे धर्मात्मा युधिष्ठिरको बड़े-बड़े ब्राह्मण भी नहीं पहचान सकते, फिर साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है ?' इस प्रकारके भीष्म महाराजके वचनोंको सुनकर कृपाचार्यने उनका समर्थन किया ।

महाराज युधिष्ठिरके जीवनमें कितनी पवित्रता थी । इस वर्णनमें तो पवित्रताकी पराकाष्ठा हो गयी है । जिस धर्मराजके निवास करनेसे वहाँका देश पवित्रताकी चरम सीमापर पहुँच जाता था, उनकी पवित्रताकी कल्पना भी आजके हमलोग नहीं कर सकते ! किंतु यह अतिशयोक्ति नहीं, तथ्य है ।

उदारता—महाराज युधिष्ठिरमें इसी प्रकार उदारता भी अद्भुत थी । जिस धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको जला देनेके लिये लाक्षाभवनमें भेजा, जिसके हृदयमें पाण्डवोंको तेरह वर्षके लिये वनवासकी यात्रा करते देखकर जरा भी दया नहीं आयी, उसी धृतराष्ट्रने महाभारतकी लड़ाईके पन्द्रह वर्ष बाद तपस्या करनेके लिये वन जाते समय दान-पुण्यमें खर्च करनेके लिये, विदुरको भेजकर जब धनकी याचना की और उसपर उनके साथ महाराज युधिष्ठिरने जैसा व्यवहार किया, उसको देखकर हृदय मुग्ध हो जाता है । महाराज युधिष्ठिरने धृतराष्ट्रका यह संदेश सुनते ही विदुरसे कहला भेजा कि 'मेरा शरीर और मेरी सारी सम्पत्ति आपकी ही है । मेरे घरकी प्रत्येक वस्तु आपकी है । आप इन्हें इच्छानुसार संकोच छोड़कर व्यवहारमें ला सकते हैं ।' इस वचनको सुनकर धृतराष्ट्रकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा । वे भीष्म, द्रोण, सोमदत्त, जयद्रथ, दुर्योधन आदि पुत्र-पौत्रोंका एवं समस्त मृत सुहृदोंका श्राद्ध करके दान देने लगे । वस्त्र, आभूषण, सोना, रत्न, गहनोंसे सजाये हुए घोड़े, ग्राम, गौएँ आदि अपरिमित वस्तुएँ दान दी गयीं । बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरकी आज्ञासे धृतराष्ट्रने जिसको सौ देनेको कहा था, उसे हजार और जिसे हजार देनेको कहा था, उसे दस हजार दिये गये । तात्पर्य यह कि जिस प्रकार मेघ वृष्टिद्वारा भूमिको तृप्त

१९–तत्र तात न तेषां हि राज्ञां भाव्यमसाम्प्रतम् । पुरे जनपदे चापि यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥
दानशीलो वदान्यश्च निभृतो ह्रीनिषेवकः । जनो जनपदे भाव्यो यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥
प्रियवादी सदा दान्तो भव्यः सत्यपरो जनः । हृष्टः पुष्टः शुचिर्दक्षो यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥
नासूयको न चापीर्षुर्नाभिमानी न मत्सरी । भविष्यति जनस्तत्र स्वयं धर्ममनुव्रतः ॥
(विराटप० २८ । १४–१७, ३०–३२, आश्रम० १४ । १०)

कर देता है, उसी प्रकार भाँति-भाँतिके द्रव्योंके प्रचुर दानसे ब्राह्मणोंको तृप्त कर दिया गया। लगातार दस दिनोंतक इच्छापूर्वक दान देते-देते धृतराष्ट्र थक गये।

अब हमलोग महाराज युधिष्ठिरकी इस अनुपम उदारता-की ओर देखें और फिर आजकलकी संकीर्णतासे उसकी तुलना करें तो हमें आकाश-पातालका अन्तर दिखायी देगा। अपनी बुराई करनेवालोंकी बात तो दूर रही, आजकलके अधिकांश लोग अपने माता-पिता एवं सुहृदों-के प्रति भी कैसा असत्-व्यवहार करते हैं, यह किसीसे छिपा नहीं है। उनकी वृद्धावस्था आनेपर उनके लिये साधारण अन्न-वस्त्रकी भी व्यवस्था नहीं हो पाती। यह अवस्था भारतीय सदाचारकी दृष्टिमें अत्यन्त चिन्त्य है।

त्याग—स्वर्गारोहणके समयकी कथा है। महाराज युधिष्ठिर हिमालयपर चढ़ने गये। द्रौपदी तथा उनके चारों भाई एक-एक करके बर्फमें गिरकर स्वर्ग सिधार गये। किसी प्रकार साथका एक कुत्ता बच गया था, वही धर्मराज युधिष्ठिरका अनुसरण करता जा रहा था। उसी समय देवराज इन्द्र रथ लेकर महाराज युधिष्ठिरके सम्मुख उपस्थित हुए। उन्होंने महाराज युधिष्ठिरको रथपर बैठनेके लिये आज्ञा दी। युधिष्ठिरने कहा—'यह कुत्ता अबतक मेरे साथ चला आ रहा है। यह भी मेरे साथ स्वर्ग चलेगा।' देवराज इन्द्रने कहा—'नहीं, कुत्तेके लिये स्वर्गमें स्थान नहीं है। तुम कुत्तेको छोड़ दो।' इसपर महाराज युधिष्ठिरने कहा—'धर्मराज! आप यह क्या कह रहे हैं? भक्तोंका त्याग करना ब्रह्महत्याके समान महापातक बतलाया गया है। इसलिये मैं अपने सुखके लिये इस कुत्तेको किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता। डरे हुएको, भक्तको, 'मेरा कोई नहीं है'—ऐसा कहनेवाले शरणागतको, निर्बलको तथा प्राणरक्षा चाहनेवालेको छोड़नेकी चेष्टा मैं कभी नहीं कर सकता, चाहे मेरे प्राण भी क्यों न चले जायँ। यह मेरा सदाका दृढ़ व्रत है।'

यह सुनकर देवराज इन्द्रने कहा—'हे युधिष्ठिर! जब तुमने अपने भाइयोंको छोड़ दिया, अपनी धर्मपत्नी प्यारी द्रौपदीको छोड़ दिया तब इस कुत्तेपर तुम्हारी इतनी ममता क्यों है? युधिष्ठिरने उत्तर दिया—'देवराज! उन लोगोंका त्याग मैंने उनके मरनेपर किया है, जीवित अवस्थामें नहीं। मरे हुएको जीवनदान देनेकी क्षमता मुझमें नहीं है। मैं आपसे फिर निवेदन करता हूँ कि शरणागतको भय दिखलाना, स्त्रीका वध करना, ब्राह्मणका धन हरण कर लेना और मित्रोंसे द्रोह करना—इन चारों पापोंके बराबर केवल एक भक्तके त्यागका पाप है, ऐसी मेरी सम्मति है[२०]। अतः मैं इस कुत्तेको किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता।'

युधिष्ठिरके इन दृढ़ वचनोंको सुनकर साक्षात् धर्म—जो कुत्तेके रूपमें विद्यमान थे, प्रकट हो गये। उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—'युधिष्ठिर! कुत्तेको तुमने अपना भक्त बतलाकर स्वर्गतकका परित्याग कर दिया, अतः तुम्हारे त्यागकी समता कोई स्वर्गवासी भी नहीं कर सकता। तुमको दिव्य उत्तम गति मिल चुकी।' इस प्रकार साक्षात् धर्म तथा उपस्थित इन्द्रादि देवताओंने महाराज युधिष्ठिरकी प्रशंसा की और वे प्रसन्नतापूर्वक महाराज युधिष्ठिरको रथमें बैठाकर स्वर्गमें ले गये।

आज भी सहस्रों नर-नारी बदरिकाश्रम आदि तीर्थोंकी यात्रा करते हैं, परंतु साथियोंके प्रति उनका व्यवहार कैसा होता है? कुत्ते आदि जानवरोंकी बात तो छोड़ दें, आजकलके तीर्थयात्रियोंके यदि निकट-सम्बन्धी भी संयोगवश मार्गमें बीमार पड़ जाते हैं तो वे उन्हें वहीं

२०-भीतिप्रदानं शरणागतस्य स्त्रिया वधो ब्राह्मणस्वापहारः। मित्रद्रोहस्तानि चत्वारि शक्र भक्तत्यागश्चैव समो मतो मे॥
(महाभा० महाप्रास्थानिक० ३। १६)

छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं। भगवान् हमारी परीक्षाके लिये ही ऐसे अवसर उपस्थित करते हैं। यदि ऐसा अवसर प्राप्त हो जाय तो हमलोगोंको बड़ी प्रसन्नतासे, प्रेमपूर्वक भगवान्‌की आज्ञा समझकर अनाथों, व्याधि-पीड़ितों और दुःखग्रस्तोंकी सहायता करनी चाहिये। उन्हें मार्गमें छोड़ जाना तो स्वयं अपने हाथोंसे मङ्गलमय भगवान्‌के पवित्र धामके पटको बंद कर देना है। यदि हम अपने ऐसे कर्तव्योंका पालन करते हुए तीर्थयात्रा करें तो इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस प्रकार धर्मके लिये कुत्तेको अपनानेके कारण महाराज युधिष्ठिरके सामने साक्षात् धर्म प्रकट हो गये थे, ठीक उसी प्रकार हमारे सामने भगवान् भी प्रकट हो सकते हैं! (जनसेवा भगवान्‌की भक्ति ही है। यथासाध्य हमें सेवासे चूकना नहीं चाहिये।)

उपसंहार—इस संसारमें बहुत-से धार्मिक महापुरुष हुए हैं, किंतु 'धर्मराज' शब्दसे केवल महाराज युधिष्ठिर ही सम्बोधित किये गये हैं। महाराज युधिष्ठिरका सम्पूर्ण जीवन ही धर्ममय था। इसी कारण आजतक वे 'धर्मराज' के नामसे प्रसिद्ध हैं। शास्त्रोंमें धर्मके जितने लक्षण बतलाये गये हैं, वे प्रायः सभी उनमें विद्यमान थे। स्मृतिकार महाराज मनुने धर्मके जो दस लक्षण बतलाये हैं[२१], वे तो मानो उनमें कूट-कूटकर भरे थे। गीतोक्त दैवी सम्पदाके छब्बीस लक्षण[२२] तथा महर्षि पतञ्जलिके बतलाये हुए दस यम-नियमादि[२३] भी प्रायः उनमें विद्यमान थे। और महाभारतमें वर्णित सामान्य धर्मके तो आप आदर्श ही थे। इस लेखमें उनके जीवनकी केवल आठ घटनाओंका ही उल्लेख किया गया है, परंतु उनका सारा जीवन ही सद्गुण और सदाचारसे ओतप्रोत था। (सदाचारकी शिक्षाके लिये इतना पर्याप्त है।)

महाराज युधिष्ठिरने अवसर उपस्थित होनेपर अपने निर्वैरता, धैर्य, क्षमा, अक्रोध आदि सद्गुणोंका केवल वाचिक ही नहीं, बल्कि क्रियात्मक आदर्श सामने रक्खा। सत्य-पालन तो उनका प्राण-पण था। इस विषयमें आज भी वे अद्वितीय एवं अप्रतिम माने जाते हैं। धर्मराजका प्रत्येक वचन विद्वत्ता और बुद्धिमत्तासे परिपूर्ण होता था—यह यक्षकी आख्यायिकासे भी स्पष्ट हो जाता है। समताकी रक्षाके लिये तो उन्होंने अपने सहोदर भाइयोंतककी उपेक्षा कर दी थी! उनकी पवित्रता तो यहाँतक बढ़ी हुई थी कि उनकी निवास-भूमि भी परम पवित्र बन जाती थी। उनके शम-दमादि शुभ गुणोंसे प्रभावित होकर उनसे अधिष्ठित देश संयमी बन जाता था। स्वार्थत्यागकी तो उनमें बात ही निराली थी। एक क्षुद्र कुत्तेके लिये उन्होंने स्वर्गको भी ठुकरा दिया था। उनका प्रत्येक कर्म स्वार्थत्याग और दयासे परिपूर्ण होता था। धृतराष्ट्रकी याचनापर उन्होंने जो महान् औदार्य दिखलाया, वह भी उनके अपूर्व स्वार्थ-त्यागकी भावनाका ही परिचायक है। यज्ञ, दान, तप, तेज, शान्ति, लज्जा, सरलता, निरभिमानता, निर्लोभता, भक्तवत्सलता आदि अनेकों गुण उनमें एक साथ ही भरे थे। ऐसे सर्वगुणसम्पन्न सदाचारी महाराज युधिष्ठिरके जीवनको यदि हम आदर्श मानकर चलें तो हमारे कल्याणमें तनिक भी संदेह न रह जायगा।

२१—धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ (मनु० ६।९२)
'धृति, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—धर्मके ये दस लक्षण हैं।'

२२—गीता १६ वें अध्याय के १, २, ३ श्लोकोंको देखिये।

२३—अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः (योग० सू० २।३०)
'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये यम हैं।'
शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (योग० सू० २।३२)
'शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान—ये नियम हैं।'

प्रशासनमें सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीसुरेन्द्रप्रसादजी गर्ग, एम० ए०, एल०-एल० बी०)

जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सदाचारकी महती आवश्यकता है; पर प्रशासनमें तो यह अपरिहार्य है। **'यथा राजा तथा प्रजाः'**के नियमानुसार प्रशासनिक अधिकारियोंके निजी जीवनके भले-बुरे आचरणोंका प्रभाव जनता एवं अधीनस्थ जनोंपर पड़े बिना नहीं रह सकता। भगवान्ने गीतामें कहा है—'श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करता है, वही दूसरेको भी मान्य और अनुकरणीय होता है। वह श्रेष्ठ पुरुष जिस आचरणको प्रमाण मानता है, दुनियाके लोग उसका अनुसरण करते हैं (३ । २१)। भाव यह कि श्रेष्ठ पुरुषका आचरण समाजके लिये दृष्टान्त है। प्रशासनिक अधिकारीके सदाचारी होनेसे अत्यन्त सुख-शान्ति-व्यवस्थाका प्रादुर्भाव स्वतः होता है। प्रशासनिक अधिकारीमें धर्म एवं नीति-संगत अनेक गुण होने चाहिये। उनमेंसे कुछ यहाँ अङ्कित किये जा रहे हैं।

मधुर व्यवहार—प्रत्येक अधिकारीको उसके सम्पर्कमें आनेवाले प्रत्येक व्यक्तिके साथ अत्यन्त मधुर व्यवहार करना चाहिये। मधुर व्यवहारका अर्थ यह नहीं है कि वह धर्म, नियम एवं कानूनोंको ताकपर रखकर जनताकी इच्छाएँ पूरी करे। इसका अर्थ यह है कि वह व्यवहारमें कठोरता न बरते। जो सहायता-सहयोग नियमान्तर्गत हो, उसे अवश्य दे। जनता उससे आतङ्कित न हो, अपितु यह समझे कि अधिकारी उन्हींके परिवारका एक सम्मानित सदस्य है। उर्दूके कविने कहा है—'अगर जबान मीठी है तो जहान मीठा है।' जनताका सच्चा प्रेम एवं सम्मान प्राप्त करनेके लिये अधिकारीको अत्यन्त मधुरभाषी होना चाहिये। वह किसी भी परिस्थितिमें तामसिकताका शिकार होकर कठोर-कर्कश शब्द मुँहसे न निकाले।

एकमात्र जनतोष ही पर्याप्त नहीं, अपितु अपने अधीनस्थोंके साथ भी मधुर एवं कोमल व्यवहार करना चाहिये। अधीनस्थोंकी वास्तविक आवश्यकताओं, कठिनाइयोंको समझना और मानव-दृष्टिकोण अपनाना तथा उन्हें कष्टसे बचाना प्रशासनिक अधिकारीका परम धर्म है।

निष्पक्षता—अधिकारीको हर दशामें सर्वथा निष्पक्ष तथा न्याययुक्त बने रहना चाहिये। किसी भी सिफारिश, दलबंदीय अनुचित प्रोत्साहनके वशीभूत होकर उसे कोई कार्य नहीं करना चाहिये। यदि परिस्थितिवश उसकी निजी हानि होती हो तो भी कोई विचार न करे और भर्तृहरिके उपदेश—**'न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः'**—को सदा ध्यानमें रखे। हमारे देशमें ब्रिटिश-कालमें भी ऐसे उच्चाधिकारी हुए हैं, जिन्होंने न्यायोचित कार्यवाही करनेमें अंग्रेज अधिकारियोंकी तनिक परवा न की और उनके सामने कभी नहीं झुके। निष्पक्ष न्याय एवं व्यवहारसे एकमात्र जनता ही नहीं, सरकार भी संतुष्ट एवं प्रसन्न होती है। कभी-कभी दुर्दैववश कोई अधिकारी अपने अधीनस्थ अधिकारीसे स्वार्थवश किसी कार्यमें पक्षपातपूर्ण व्यवहारकी कामना करता है, पर सदाचारीको न्यायसे ही चिपके रहकर अपनेको निष्पक्ष रखना चाहिये।

भ्रष्टाचार—अधिकारीको सब प्रकारके भ्रष्टाचारोंसे सदा मुक्त रहना चाहिये। अपने उचित वेतनके अतिरिक्त नाममात्रके किसी प्रकारके लाभकी आशा वह कतई न रखे। 'अनुचित आय'के लिये लोभ करना अथवा उसका समर्थन देना भ्रष्टाचार है। इससे नैतिकता तथा पापाचारको बढ़ावा मिलता है।

प्रशासनतन्त्रको स्वस्थ रहने तथा प्रशासनको स्वच्छ रखनेके लिये एवं निजी सदाचारिता और उन्नतिके लिये भी

भ्रष्टाचारसे सर्वथा बचना चाहिये। सरकारी सामग्री—टाइप-राइटर, स्टेशनरी, वाहन, टेलीफोन आदिका निजी कार्य-हेतु उपयोग करना भ्रष्टाचारके अन्तर्गत है। पर मोहवश इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता। एक-मात्र उत्कोचका लेना ही भ्रष्टाचार नहीं है। भ्रष्टाचारके अनेक रूप हैं। प्रशासनिक अधिकारीको सतर्क-सावधान रहकर अपनेको सब प्रकारके भ्रष्टाचारोंसे उन्मुक्त रखना चाहिये।

भ्रष्टाचारके दो मुख्य कारण हैं—आर्थिक कठिनाई एवं अर्थलोलुपता। आर्थिक कठिनाईका हल अनुचित रूपसे धनार्जन नहीं, अपितु अपनी आवश्यकताओंको सीमित करना, मितव्ययी बनना और शुद्ध आयको सद्विवेकसे व्यय करना है। जहाँतक अर्थलोलुपताका प्रश्न है, यह रोग लोकके अन्तर्गत आता है और इसकी न कोई सीमा है, न चिकित्सा। बस, एकमात्र कर्मके सिद्धान्त, परलोक आदिके विचार, भगवद्भजन एवं सत्सङ्गके द्वारा अनुचित धनसंग्रहकी वृत्तिको रोका जा सकता है। न्याय और धर्मसे उपार्जित धनसे ही मानव सुख प्राप्त कर सकता है। उपनिषद्का प्राचीन सिद्धान्त है—**'मा गृधः कस्य स्विद् धनम्।'** (शुक्लयजुः० ४०।१) अपने सुखके लिये दूसरेके धनकी लिप्सा मत करो।

अनुशासन—अधिकारीको अत्यन्त अनुशासनप्रिय होना चाहिये। स्वयं अनुशासनके नियमोंका पालन करना, समयपर कार्यालयमें आना, कार्यालयके समयमें निजी काम न करना अथवा अन्य प्रकारसे समयको नष्ट न करना और समयपर कार्यालय छोड़ देना भी आवश्यक है। अपने कार्यका समायोजन इस प्रकार किया जाय कि वादोंमें अकारण तारीखें बदलनेसे पक्षकारोंको परेशानी न उठानी पड़े। बुलाये गये सभी गवाहोंकी साक्षी लिपिबद्ध करना और उन्हें समयपर छुट्टी दे देना, प्रवास (कैम्प)को प्रोग्रामानुसार पूरा करना और जनताके दुःख-दर्द सुनकर यथाशक्य स्थल-विशेषपर ही उसका निवारण करना भी सदाचारके अङ्ग हैं। थोड़ेमें विभागीय कर्तव्य-संहिताके अनुसार अपने समस्त कर्तव्यका समुचित पालन करना सदाचारिता है।

अधिकारीको परम सात्त्विक आहार भगवत्प्रसादके रूपमें ग्रहण करना चाहिये। वह नशीली वस्तुएँ—शराब, बीड़ी, सिगरेट आदि सर्वथा छोड़ दे और भोज्यको भगवदर्पणके प्रसाद रूपमें पाये। ऐसा करनेसे उसके संस्कार शुद्ध होंगे। इसके अतिरिक्त नित्य प्रातः सरकारी कार्यपर लगनेसे पूर्व पूजा, जप, ध्यान आदि करना आवश्यक है। इस दैवकार्यमें लगाया गया समय सर्वोत्कृष्ट होता है और दिनभर सात्त्विक बुद्धि बनी रहती है। राजकीय कार्यकी कठिनाइयाँ स्वतः दूर हो जाती हैं। इस कार्यमें भारतके प्राचीन इतिहास, पुराण, राजनीतिशास्त्र, विधिशास्त्र एवं विद्वानोंके विचारोंसे भी पर्याप्त सहायता और प्रेरणा मिल सकती है।

राज्यके प्रशासनाधिकारियोंको भारतीय प्राचीन नीति-ग्रन्थों, आदर्श शासन-पद्धतियों एवं प्राचीन आदर्श राजनयिकों और शासकोंका जीवन-चरित्र पढ़ना-पढ़ाना चाहिये। इस प्रकारका अनुशीलन उन्हें पर्याप्त ज्ञान (अनुभव) प्रदान करेगा, जिससे वे न्यायपरायण होकर अपने कर्तव्योंका यथार्थ-रूपमें पालन कर देशको अधिक स्वच्छ लोकहितकारी आदर्श प्रशासन देनेमें सक्षम हो सकेंगे।

सदाचार और समाज

(लेखक—डॉ० श्रीधर्मध्वजजी त्रिपाठी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

सदाचारका आशय है—सत्यका आचरण, अनुष्ठान। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जो वैयक्तिक प्रयासों द्वारा जीवनके एक अपरिहार्य व्यवहारके रूपमें धारण एवं विकसित की जा सकती है। इस प्रवृत्तिकी प्राप्तिके लिये मानवको सतत जागरूक रहना पड़ता है। मानव जिस वर्ग अथवा समुदायसे सम्बन्धित होता है, उस वर्ग एवं समुदायकी स्थितियोंका उसपर प्रभाव अवश्य पड़ता है। साथ ही उस व्यक्तिविशेषकी क्रियाओंका भी वहाँके वातावरणपर किसी-न-किसी सीमातक प्रभाव पड़ता ही है। व्यक्ति और समाजका इस प्रकार अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध है। वह सामाजिक चेतना-प्रवाहसे अपनेको पृथक् रखनेमें सर्वथा असमर्थ होता है।

समाज मानवसमुदायका एक विशाल स्वरूप है। विभिन्न वर्गोंके मनुष्य इसी समाजमें अपनी मानसिक, शारीरिक क्रियाओंद्वारा समाजको व्यवस्थित, विकसित एवं गति प्रदान करनेका कार्य सम्पादित करते हैं। मानवकी सहज प्रवृत्ति है—विश्लेषण करना, समीक्षा करना और दूसरोंके भले लगनेवाले कार्योंका अनुसरण करना और अन्तमें तदनुरूप अपने चरित्रका विकास करना। प्रायः देखा जाता है कि प्रतिभावान् बालक बाल्यावस्थासे ही सामाजिक स्थितियोंका सम्यक् अध्ययन करके अपने चरित्र-में उनका समावेश करनेका प्रयास करते हैं। कुसंगतियों एवं संकीर्ण परिधिमें सोचनेवाले बालक विपरीत दिशामें अग्रसर होनेकी चेष्टा करते जाते हैं। इसका मूलकारण है—स्वीय आन्तरिक संस्कार, समाजकी स्थिति एवं उसमें निवास करनेवाले उत्तरदायी नागरिकोंकी क्रियाएँ। अंग्रेजी साहित्यके सुप्रसिद्ध साहित्यकार विलियम वर्डसवर्थने बालकों-की कोमल प्रवृत्तिका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है- — 'Child is the father of man' तात्पर्य 'बालक सदैव मनुष्यकी उन क्रियाओंका अनुसरण करता है, जिन्हें समाजमें करते हुए देखता है और वह वैसा ही बनता है।

सदाचारकी प्रवृत्ति सहसा उत्पन्न नहीं होती। यह एक ऐसी निर्मल-शीतल धारा है, जिसका उद्गम मानवका बाल्यावस्थासे ही सम्भव है। साथ ही समाजकी उस स्थितिसे सम्बन्धित है; जिसमें सत्प्रवृत्तियोंका निर्माण होता है। यदि कोई यह प्रयास करे कि सदाचारकी विजयिनी पताका मात्र एक दिनमें फहरा दी जा सकती है तो यह अतिरञ्जना है। समाजमें सदाचारका व्यापक प्रभाव हो अथवा सामाजिक चेतना सदाचारके अविच्छिन्न प्रवाहसे निरन्तर आप्लावित रहे—एतदर्थ सम्पूर्ण समुदायको त्याग, परोपकार, सात्त्विकता, अनाविल चिन्तन, विनम्रता एवं सदाशयताका समावेश अपने चरित्रमें करना आवश्यक है। इसी धरित्रीपर ऐसे अनेक महापुरुष अवतरित हुए हैं, जिन्होंने अपनी दिव्य वाणी एवं अपने सत्प्रयासोंसे अनेक प्रकारके संघर्ष-विरोध सहते हुए भी समाजको सदाचारकी सुदृढ़ नींवपर प्रतिष्ठापित करनेका प्रयास किया है।

पृथ्वीपर जब-जब अनाचार, अत्याचार एवं अधर्म-की अभिवृद्धि होती है, तब-तब एक अद्भुत शक्तिका प्रादुर्भाव होता है, जो इस विषम स्थितिपर नियन्त्रण रखती है और मानवताको आपद्मुक्त कर देती है।

सामाजिक चेतनाको किस प्रकार व्यवस्थित किया जाय अथवा मानव-समुदाय किस प्रकारकी प्रवृत्तिका अनुसरण करे, जिससे समाजमें मानवका अस्तित्व सुरक्षित रहे—यह आजकी आवश्यकता है। समाजमें मानवको मानवताका व्रत किसी भी दशामें भङ्ग नहीं करना चाहिये, अन्यथा वह अपने पुरातन सिद्धान्तोंके राजमार्गसे च्युत होकर पङ्किल-पथमें चला जायगा।

ऐसी स्थितिमें जीवन एक प्रश्न-चिह्न बनकर ही रह जायगा और सामाजिक असंगतियोंका जो ज्वार उठेगा, सम्भव है, वह सम्पूर्ण मानवताको भी निगल जाय।

सदाचारका जीवनकी प्रत्येक साँससे घनिष्ठतम सम्बन्ध है। यदि हम चाहें कि इसकी उपेक्षा करके जीवन व्यतीत कर लें तो यह अति दुष्कर है। समाजमें ही 'परिवार'की स्थिति है। यदि मानव समाजके विकासकी बात नहीं सोचता तो कोई आश्चर्य नहीं; क्योंकि समाजका निन्यानबे प्रतिशत व्यक्ति सर्वप्रथम 'स्व'पर केन्द्रित होता है। इस 'स्व'में वह एवं उसका परिवार ही सम्मिलित है। यदि वह अपने परिवारके प्रति चिन्तित होता है तो क्रमशः वह सामाजिक चेतनासे जुड़ जाता है। दया, क्षमा, परोपकार, सहानुभूति, स्नेह-ममता, करुणाकी भावनासे सिक्त होकर—**'वसुधैव कुटुम्बकम्'**की भावनाकी ओर अग्रसर होता है। यदि व्यक्ति केवल अपनी भौतिक आवश्यकताओंकी पूर्तिमें ही प्रतिक्षण लिप्त रहता है तो उसका जीवन पशु-पक्षियोंसे भी निम्नस्तरका है। पशु-पक्षी भी अपने बच्चोंके लिये अपनत्व-ममत्व प्रदर्शित करते हैं। ऐसा मनुष्य प्रस्तरकी कठोरतम शिला है, जो अनगढ़, नीरस एवं उपेक्षित हैं।

सदाचार मानवका धर्म है। सदाचारका मात्र क्षणिक प्रभाव नहीं है, शास्त्रोंमें इसका पारलौकिक महत्त्व भी बताया गया है। सदाचार ही मनुष्यको जीवनमें उन्नतिशील सुखी-दुःखी, जय-लाभकी स्थिति उत्पन्न करता और जरामरणकी स्थितियोंसे ऊपर ले जानेका कार्य करता है। सदाचारकी महिमा अनन्त है। भारतीय मनीषियोंने सदाचारको सामाजिक चेतनासे विच्छिन्न करना मानवताका विनाश सिद्ध किया है। इस सम्बन्धमें कतिपय उद्धरण कथनकी पुष्टि-हेतु उद्धृत है—

(क) सदाचाराद् भवेन्मोक्षः सदाचारो हि कामधुक्।
(ख) आचारात् प्राप्यते विद्या विद्यया रोचते कुलम्।
(ग) सदाचारेण सम्पन्ना मनुष्या मङ्गलालयाः।
तेनैव रहितास्ते तु काया इव गतासवः॥

जो धारण करने योग्य है, वही धर्म है। सदाचार तो मानवका अनिवार्य धर्म है। इसके अभावमें मानव दानवमें परिवर्तित हो जाता है। धर्मकी रक्षामें ही सदाचार संनिहित है, अतएव इसे श्रुति-स्मृतियोंके साथ बैठाकर धर्मका लक्षण कहा गया है। (मनु० २, याज्ञ० १)

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सदाचार समाजसे अलग किसी प्रकार नहीं किया जा सकता। जबतक मानव है तबतक समाज है और जबतक समाज है तबतक सदाचारकी उत्ताल तरङ्गें मानव-मानसको स्नेहसिक्त किये रहेंगी। समाजकी आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और नैतिक बिन्दुओंको सम्पूर्णता प्रदान करनेका कार्य सदाचार ही सम्पादित करता है। **'सर्वभूतहिते रताः'** अथवा **'परहित सरिस धर्म नहिं भाई'** का प्रेरणा-स्रोत भी यह सदाचार ही है। **'अहिंसा परमो धर्मः', 'सत्यमेव जयति', 'प्रमादं मा कार्षीः'**—आदि अमृतवाणीका रत्नाकर सदाचार ही है। समाजमें इस पावन जलधाराका पान प्रत्येक प्राणी करता है, यह निर्विवाद बात है।

सदाचारकी भावनाका विश्व-व्यापी प्रसार आवश्यक है। विश्वकी परिवर्तमान परिस्थितियोंमें इसकी महत्ता एवं आवश्यकताको नकारा नहीं जा सकता, इसकी अपेक्षा नहीं की जा सकती। इसकी उपेक्षाका अभिप्राय है—मानवताका विनाश। मनुष्य शक्तिपुञ्ज है, वह घनीभूत होकर शक्तिका विशाल समूह बनता है—जो सदाचारको गति प्रदान करता है। इसलिये मानव-इकाईकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। बूँदसे ही समुद्रकी गति है।

समाजके सदाचारकी स्थापनाका यह मूलमन्त्र है। अपनी अतीतकी मान्यताओंको यदि अक्षुण्ण रखना है, सदाचारकी नींवको सुदृढ़तम करना है तो मानव-मनकी विषम अवस्थाओंका सम्यक् अध्ययनकर परिवर्तित समाजके परिवेशमें समाधानोंको खोजना होगा और सदाचारकी प्रतिष्ठा प्रत्येक दशामें करनी पड़ेगी। सदाचार ही विषम परिस्थितियोंमें 'कोमलतम पँखुड़ियों'-को पथमें बिछानेका कार्य करेगा। इसकी सम्भावनापर समाजको भी चिन्तन करना होगा, अन्यथा मात्र वाद-विवादसे अथवा अतीतके स्वप्निल उदाहरणोंसे कार्य-सिद्धि असम्भव है। प्राचीन मान्यताओं, सत्प्रयासों एवं उत्कृष्ट विचारोंको लेकर आधुनिक सामाजिक स्थितियोंका समन्वय करके ही सदाचारकी स्थितिको बनाये रखा जा सकता है। 'सदाचारका जयघोष' सदा होता रहा है और होता रहेगा—ध्रुव सत्य है—

आचारः परमो धर्मः सर्वशास्त्रानुमोदितः।
प्रशस्तश्चापि दृष्टान्तैर्दिश्यान्निर्वहणीं श्रियम्॥

दूषित अन्नका प्रभाव

महाभारतका युद्ध समाप्त हो गया था। धर्मराज युधिष्ठिर एकच्छत्र सम्राट् हो गये थे। श्रीकृष्ण-चन्द्रकी सम्मतिसे वे महारानी द्रौपदी तथा अपने भाइयोंके साथ युद्धभूमिमें शरशय्यापर पड़े प्राणत्यागके लिये सूर्यके उत्तरायण होनेके प्रतीक्षार्थी धर्मज्ञ भीष्मपितामहके समीप आये थे। युधिष्ठिरके प्रश्न करनेपर भीष्मपितामह उन्हें वर्ण, आश्रम तथा राजा-प्रजा आदिके विभिन्न धर्मोंका उपदेश कर रहे थे। यह धर्मोपदेश चल ही रहा था कि महारानी द्रौपदीको हँसी आ गयी।

'बेटी! तू हँसी क्यों?' पितामहने उपदेशको बीचमें ही रोककर पूछा।

द्रौपदीने संकुचित होकर कहा—'मुझसे भूल हुई पितामह! मुझे क्षमा करें।'

पितामहको इससे संतोष नहीं हुआ। वे बोले—'बेटी! कोई भी शीलवती कुलवधू भक्त गुरुजनोंके सम्मुख अकारण नहीं हँसती। तू गुणवती है, सुशीला है। तेरी हँसी अकारण नहीं हो सकती। संकोच छोड़कर तू अपने हँसनेका कारण बता।'

हाथ जोड़कर द्रौपदी बोली—'दादाजी! यह बहुत ही अभद्रताकी बात है; किंतु आप आज्ञा देते हैं तो कहनी पड़ेगी। आपकी आज्ञा मैं टाल नहीं सकती। आप धर्मोपदेश कर रहे थे तो मेरे मनमें यह बात आयी कि 'आज तो आप धर्मकी ऐसी उत्तम व्याख्या कर रहे हैं, किंतु कौरवोंकी सभामें जब दुःशासन मुझे नंगी करने लगा था, तब आपका यह धर्मज्ञान कहाँ चला गया था! मुझे लगा कि यह धर्मका ज्ञान आपने पीछे सीखा है। मनमें यह बात आते ही मुझे हँसी आ गयी, आप मुझे क्षमा करें।'

पितामहने शान्तिपूर्वक समझाया—'बेटी! क्षमा करनेकी कोई बात नहीं है। मुझे धर्मज्ञान तो उस समय भी था, परंतु दुर्योधनका अन्यायपूर्ण अन्न खानेसे मेरी बुद्धि मलिन हो गयी थी, इसीसे उस द्यूतसभामें धर्मका ठीक निर्णय करनेमें मैं असमर्थ हो गया था। परंतु अब अर्जुनके बाणोंके लगनेसे मेरे शरीरका सारा रक्त निकल गया है। दूषित अन्नके बने रक्त शरीरके बाहर निकल जानेके कारण अब मेरी बुद्धि शुद्ध हो गयी है, इससे इस समय मैं धर्मका तत्त्व ठीक समझता हूँ और उसका विवेचन कर रहा हूँ।'

सुशील नारीकी दिनचर्या

स्वच्छ रखती हैं, घर-द्वारको बुहार सदा, धान कूट लेतीं और चाकी भी चलाती हैं।
सूत कातती हैं और माखन भी बिलोतीं वे, भोजन विशुद्ध निज हाथसे बनाती हैं॥
करतीं सिलाई सीख देतीं नित-लालको हैं, करतीं स्वाध्याय निज पतिको जिमाती हैं।
आय और व्ययका हिसाब नित्य लिखतीं वे, हरि-गाथा सुनि पुण्य जीवन बिताती हैं॥

नारी और सदाचार

(लेखक—श्रीमूलचन्दजी गौतम, एम्० ए० (हिंदी, संस्कृत), बी० एड्०)

समस्त मानवी सृष्टिमें पुरुष और स्त्री—यही दो विभाग हैं। पशु, पक्षी भी नर और मादा दो विभागोंमें बँटे हैं,—पालतू पशुओंको छोड़कर शेष सभी आयुपर्यन्त स्थायीरूपसे साथ-साथ रहते हैं। फिर, इसके पीछे भी सात जन्म एक साथ निभानेकी बात कहते हैं! इसके पीछे कोई कारण है, पर पशु और मनुष्यमें आहार, निद्रा, भय और मैथुनकी समानता होते हुए भी मनुष्य-बुद्धिके कारण, धर्म एवं ज्ञानशीलताके कारण अंदरसे बहुत कुछ भिन्न है। यही एक कारण है जो मानवके मनमें आचारकी एक आवश्यकता बनकर उत्पन्न होता है, आखिर वह भी तो पशुओंकी तरह स्वतन्त्र जीवन व्यतीत कर सकता है, फिर परिवार, समाज, समूह, देशकी संज्ञाओंकी उसे क्या आवश्यकता है। लेकिन यह आवश्यकता है; क्योंकि मानवकी प्रवृत्ति प्रारम्भमें चाहे जितनी स्वतन्त्र रही हो, बादमें एक आचारसे नियन्त्रित होती रही है।

यही सदाचार प्रारम्भसे हमारे ऋषियों, मुनियोंद्वारा प्रणीत ग्रन्थोंमें, उनके मौखिक प्रवचनोंमें अभिव्यक्त होता रहा है। मानवकी आकाङ्क्षा आत्म-विकासके प्रति रहती है। कुछ संकुचित विचारोंमें, सीमामें न रहकर वह असीमतक पहुँचना चाहता है, पूर्ण होना चाहता है, अपूर्णता उसे खलती है। इसीलिये सत्-युगसे ही आचारकी प्रधानता रही है। स्मृतिकारोंने इस सदाचारकी धारणाको नियमोंका रूप प्रदान किया। इन्हीं नियमोंके आधारपर व्यक्तिकी उत्कृष्टता-निकृष्टताका भी निर्धारण होता रहा है। सदाचारी अन्त्यज भी ब्राह्मण-जैसा सम्मान प्राप्त कर सकता था। दुराचारी ब्राह्मण भी निन्द्य होता था। किसी समाजकी, संस्कृतिकी श्रेष्ठता उसके सदाचारी व्यक्तियों, सदस्योंपर निर्भर करती है। आज यदि समाज पतित हो गया है, उसमें नैतिक मूल्योंका अभाव है, भक्ष्याभक्ष्यका प्रचलन हो गया है तो कारण एक ही है कि लोग आचारविहीन हो गये हैं।

वेदों और यज्ञोंके नामपर समाजमें पशुबलिका प्रचलन हो गया था। बादमें जैनियों एवं बौद्धोंने इसका विरोध किया। यह विरोध उपनिषदोंकी विचारधाराके अनुसार था। ईशोपनिषद्‌में स्पष्टतः कहा गया था कि—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥

जो व्यक्ति सभी भूतप्राणियोंमें स्वयंको देखता है वह सभी प्राणियोंमें अपने आत्माको देखकर किसीसे घृणा नहीं करता।' यही धारणा बादमें स्मृतियोंमें एक व्यापक सदाचार लेकर उपस्थित हुई थी। इस धारणामें परस्त्री-परधनके त्यागके साथ समग्र जीव-जगत्‌के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया। यही आचारका मूलमन्त्र, मूल दृष्टि-कोण रहा। इससे बड़ा कोई सदाचार वस्तुतः हो भी नहीं सकता; क्योंकि व्यक्ति अपने साथ सम्मानका व्यवहार चाहता है,

गृहणियों के सदाचरण

अपने लिये समग्र सुख-सुविधाएँ चाहता है, साथ ही सबको अपने आत्मरूपमें देखता है तो तुरंत दूसरोंकी सेवाके लिये प्रस्तुत हो जाता है, अभेदरूपमें अपनी ही सेवा करता है, दूसरोंको सुख देता है, उनके बारेमें अच्छे विचार रखता है अर्थात् सदाचारके द्वारा आत्माको महत्त्व देता है। यही आत्मभाव विश्वरूपमें परिवर्तित हो जाता है, भेदभाव मिट जाता है; सारा संसार एक कुटुम्ब बन जाता है और फिर इसी सदाचार-से यह भावना उठती है—

सबकी सेवा न परायी, वह अपनी सुख-संसृति है।
अपना ही अणु-अणु कण-कण, इयत्ता ही तो विस्मृति है॥

(कामायनी)

सदाचारी व्यक्ति केवल अपने परिवारी जनों—माता-पिता, भाई-बहन, पुत्रादितक ही सीमित न रहकर समग्र जगत्के जीवोंके साथ तादात्म्य अनुभव करता है। सारा जगत् उसे सियाराममय दिखायी देने लगता है। सियारामके प्रति जो उसके आदर्श हैं, पूज्य हैं, ईश्वर हैं, वह दुराचरण कैसे कर सकता है। वह तो रामके नाते अपने सम्बन्ध निर्धारित करता है, आत्माके नाते सबके सामने विनय, सम्मान और कृतज्ञताके साथ नतमस्तक हो जाता है। अतः हमारे यहाँ सदाचारकी यह भावना विश्वात्मभावकी प्रेरक है। किसीके प्रति द्वेष, ईर्ष्या, कलहकी भावना नहीं रहती। यही कारण है कि सदाचारी व्यक्ति निर्भय, निःशङ्क होता है। वह आत्मोन्नतिके शिखरकी तरफ बढ़ता जाता है और दैवी सम्पदाका अक्षय स्रोत उसकी रक्षा करता है। इधर दूसरी तरफ दुराचारी व्यक्ति सदैव दूसरोंके अपकारमें लगा रहता है, अपने शत्रुओंको नीचा दिखानेको दाँव-पेंच लगाता रहता है। उसका हृदय प्रत्येक समय ईर्ष्या, द्वेषकी प्रचण्ड अग्निमें जलता रहता है, शान्ति उसे चाहते हुए भी नहीं मिल पाती; क्योंकि शान्ति सदाचारीके लिये है, कदाचारीके लिये कदापि नहीं।

आज सदाचारका उपदेश तो बहुत होता है, परंतु उसका पालन कुछ भी नहीं किया जाता। इन बातोंसे व्यक्तिका निजका नैतिक, चारित्रिक, आध्यात्मिक पतन तो होता ही है, समाज भी दुराचारपूर्ण हो जाता है और इसी दुराचारकी समाप्तिके लिये, दुराचारियोंके विनाशके लिये, धर्मकी स्थापनाके लिये श्रीकृष्णका आगमन होता है। दुराचार बढ़ता क्यों है? इसका कारण इतना ही है कि चढ़नेमें देर लगती ही है गिरनेमें तो क्षणभरकी भी देर नहीं लगती। एक ही दुराचरण (पाप) पुण्योंके ढेरके प्रभावको समाप्त कर देता है और यह स्वाभाविकरूपसे ही होता है; क्योंकि मानवकी सहज प्रवृत्ति पापकी ओर ही होती है, पुण्य तो बड़े प्रयत्नसे ही हो पाता है। गेंदको अगर ढलानके ऊपरी भागसे छोड़ दिया जाय तो वह तुरंत ही सबसे नीचे स्थान-पर पहुँच जायगी; परंतु ऊपर चढ़ानेके लिये प्रयत्न करना पड़ेगा। लेकिन फिर भी तनिक-सा मौका मिलते ही वह नीचे ही आनेका प्रयास करेगी। इसी प्रकार सदाचारका पथ प्रयत्नसाध्य है, श्रमसाध्य है; दुराचारका पथ सहज पतनका गर्त है। गीताके तृतीय अध्यायमें अर्जुनने कृष्णसे यही पूछा था—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

(३६)

'कृष्ण! फिर यह पुरुष बलपूर्वक लगाये हुएके सदृश न चाहता हुआ भी किससे प्रेरा हुआ पापका आचरण करता है?' और भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि रजोगुणसे उत्पन्न यह कार्य अतृप्त काम-भावनाका ही है, इसीके परिणामस्वरूप जीवकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, वह सदाचार और दुराचारका विवेक नहीं कर सकता। इसी प्रकारका उत्तर दुर्योधनने अधर्ममें प्रवृत्ति तथा धर्मकी निवृत्तिके संदर्भमें दिया था—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
(प्रपन्नगीता)

और यही कारण है कि मानवके लिये मन और इन्द्रियों-के संयमकी बात गीतामें कही गयी है; क्योंकि कर्मेन्द्रियों-को रोककर मनसे कामके विषयका चिन्तन मिथ्याचार है, सदाचार नहीं । अतः सदाचारके लिये सत् प्रवृत्ति, प्रबल इच्छा-शक्ति, अदम्य साहस और धैर्यकी परम आवश्यकता है ।

यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि पुरुष और स्त्री ही इस समग्र मानवी सृष्टिमें सदाचारके दृढ़ स्तम्भ हैं । उनमें एक सदाचारी हो, दूसरा दुराचारी हो तो गाड़ीका चलना दु:साध्य है, असम्भव है; सदाचारी श्रेष्ठ समाजकी स्थापना भी असम्भव है। अतः समाजमें, जगत्में पुरुषों और स्त्रियों—दोनोंका उत्तरदायित्व है । वे उत्कृष्ट सदाचारमय समाजकी स्थापनामें, सदाचारका पालन करनेमें योग दें । यदि वे ऐसा न कर स्वच्छन्द आचरण करते हैं, आचारविहीन हो जाते हैं तो यह उनके पतनका लक्षण है । इस सदाचारके पालनमें स्त्रीका उत्तरदायित्व कुछ अधिक है—ऐसा मैं मानता हूँ और इसका भी कारण है । प्रारम्भसे ही कन्याको सदाचार, पातिव्रतधर्म, परिवारधर्म, गुरुजनोंकी सेवा आदिकी शिक्षा दी जाती है । इन सबका यदि वह अक्षरशः पालन करती है तो इसका प्रभाव आगे आनेवाली संततिपर पड़ता है; क्योंकि उसका मानस एक लम्बे अन्तरालतक माँके मानससे, उसके गर्भकालीन चिन्तनसे जुड़ा रहता है। इन्हीं कारणोंसे स्त्रियोंको गर्भधारणकालसे लेकर बच्चेके जन्मतक विशेषरूपसे धार्मिक, उत्साहयुक्त, प्रेमपूर्ण वातावरणमें रखनेका निर्देश शास्त्रोंमें दिया गया है । इस प्रकारके वातावरणके विपरीत यदि माको गंदे, अधार्मिक, कलहपूर्ण, अभावमय वातावरणमें रखा जाता है तो संतान भी वैसी ही होती है; क्योंकि उसके आन्तरिक मनके निर्माणका यही समय है । जिन महापुरुषोंने जन्म सार्थक किया है, उसके पीछे हमें उनकी माताओंकी प्रेरणा, उदात्त भावना ही विद्यमान दिखायी पड़ती है । अतः निश्चित है कि सदाचारपूर्ण समाजका समस्त उत्तरदायित्व स्त्रियोंपर निर्भर करता है। यही कारण था कि समाजमें स्त्रियोंका सम्मानजनक स्थान बना था । मनुने कहा है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥
(मनुस्मृति ३ । ५६)

'जहाँ नारियोंका आदर होता है वहाँ सभी देवता निवास करते हैं; और जहाँ इनकी पूजा नहीं होती वहाँ सभी क्रियाएँ निष्फल हो जाती हैं ।'

अब राम क्यों पैदा नहीं होते, इसलिये कि कोई माँ कौसल्या बनना नहीं चाहती, सदाचार निभाना नहीं चाहती, पतिपरायणा होना नहीं चाहती । हनुमान्, गणेश, कृष्ण, अर्जुनको पैदा करनेके लिये अब कोई माँ तैयार हो जायगी या उन्हें इसी प्रकारके पुत्रोंकी आवश्यकता होगी, यह एक दुरारूढ़-कल्पना ही है ।

चाहे जो हो, इतना सत्य है कि माँ ही बालकका मूलस्रोत है, वह स्रोत जैसा होगा—सदाचार-युक्त या दुराचारयुक्त, उसका जल (बालक) भी वैसा ही होगा । इस तथ्यपर समाजको कोसना व्यर्थ है । अगर पूछा जाय कि सदाचार-धर्म क्या है, तो एक ही उत्तर होगा—स्त्री, सदाचारिणी स्त्री । जिस समाजमें, कुलमें स्त्री सदाचारिणी है, वहाँ अनाचार, व्यभिचार, अधर्म हो नहीं सकता, ऐसी संतान भी नहीं उत्पन्न हो सकती । अतः सारे सदाचारका मूल सदाचारिणी स्त्री है ।

गोस्वामी तुलसीदासजीने स्त्रियोंके सदाचारपर विशेष बल दिया है, उनके पातिव्रतधर्मकी महत्ताका प्रतिपादन किया है । अनुसूयाद्वारा सीताको दिये गये पातिव्रतधर्मके उपदेशमें इसी सदाचारकी शिक्षा

है। वहाँ पतिपरायणताको ही श्रेष्ठ गुण माना है। गोस्वामीजीने लिखा है—

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा॥
(मानस ३ । ४ । ५)

संसारमें भी सदाचारका ही महत्त्व अधिक है, क्षणिक सुखोंका नहीं। जहाँ स्त्रीके लिये परपुरुषको भोग्य दृष्टिसे देखना पाप है, वहीं आत्मकल्याण चाहनेवाले पुरुषके लिये परनारीका ललाट भाद्रशुक्ला चतुर्थीके अशुभ चन्द्रमाके समान पतनकारक है। गोसाईंजीकी प्रत्येक नारी-पात्रा—चाहे वह मन्दोदरी हो या त्रिजटा हो—पातिव्रतधर्मका पालन करती है।

निष्कर्ष यह कि सदाचार और धर्म स्त्रीके ऊपर निर्भर रहते हैं—ऐसा कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। स्त्री विशेषरूपसे सदाचारिणी हो, तभी समाजको दोषमुक्त, धर्म तथा सदाचारयुक्त किया जा सकता है और तभी महाराज अश्वपतिके राज्यकी तरह आदर्श राज्य हो सकेगा, जिसमें चोर-मद्यप, स्वैरी-स्वैरिणी न थे। आजके युगमें आचारके दर्शन विरले स्थानोंपर, विरले व्यक्तियोंमें हो पाते हैं। तीर्थस्थानोंमें भी अनाचार, दुराचार व्याप्त हैं; समाजमें दुःख, रोग, असंतोष-जैसे दुर्गुण व्याप्त हैं; क्योंकि व्यक्ति क्षणिक सुखके लिये, भोगके लिये सब तरहका अनाचार करनेको तैयार है। चारों ओर अनाचारका ताण्डव हो रहा है। इसे तभी रोका जा सकता है, जब सभी पुरुष तथा स्त्री सदाचारका उपदेश हृदयसे पालन करे, इन्द्रियसुखको संयमित करके आत्मविकास, आध्यात्मिक उन्नतिके पथपर बढ़ें। फिर समाज अपने-आप सुधर जायगा। पशुप्रवृत्ति समाप्त कर मानव मानव होगा। विश्वात्मभाव विकसित होगा, फिर कौन किससे घृणा करेगा, कौन किसे ठगेगा, धोखा देगा। आवश्यकता है कि हमारी माताएँ सदाचारका पालन करें, अच्छे विचार रक्खें, इससे संतानें भी वैसी ही उत्पन्न होंगी जिससे सदाचारयुक्त स्वस्थ समाजकी स्थापना स्वतः हो सकेगी।

कदाचारका कुपरिणाम

संसारमें मनुष्य अपने क्षणिक सुखके लिये नाना प्रकारके दुष्कर्म कर डालता है, उसे यह खबर नहीं रहती कि इन दुष्कर्मोंका फल हमें अन्तमें किसी प्रकार भुगतना पड़ेगा। इस जीवनमें जो नाना प्रकारके दुःख हम लोगोंको उठाने पड़ते हैं, वे हमारे पूर्वकर्मोंके ही फल-भोग हैं। यह देह मुख्यतः कर्मका साधन है और यह लोक मुख्यतः कर्मलोक है। इस शरीरके रहते जो भोग प्राप्त होता है, वह कितना ही अधिक होनेपर भी उस भोगसे तो कम ही है, जिस भोगकी पूर्णताके लिये मनुष्यको मृत्युके पश्चात् भोग-देह प्राप्त होता है। यह भोग-देह भी दो प्रकारका है—एक तो वह सूक्ष्म शरीर, जिससे सत्कर्मके फलस्वरूप स्वर्गादि भोग भोगा जाता है और दूसरा वह यातनादेह, जिससे दुष्कर्मके फलस्वरूप नाना प्रकारकी नारकीय यन्त्रणाएँ भोगी जाती हैं। मृत्युके पश्चात् तुरंत ही नवीन मनुष्य-देह नहीं प्राप्त होता। नया देह प्राप्त होनेके पूर्व मनोमय और प्राणमय देहसे सुकृत-दुष्कृतके सुख अथवा दुःखरूप फल उसे भोगने पड़ते हैं।

सुकृतोंके स्वर्गादि सुखरूप फल हैं, जो इस संसारमें प्राप्त होनेवाले सुखोंसे अनन्तगुना अधिक हैं और दुष्कृतोंके नरकादि दुःखरूप फल हैं, जो इस जीवनमें प्राप्त होनेवाले दुःखोंसे अनन्तगुना अधिक हैं। श्रीमद्भागवतके पञ्चम स्कन्धमें उन भोगोंके भोगनेके स्थान—नरकोंका वर्णन है। यदि मनुष्यको उन नरकोंकी जानकारी हो तो वह अनेक ऐसे दुष्कर्मोंसे बच सकता है, जिनके अति भीषण परिणामोंकी कल्पना भी अज्ञानके कारण उसे यहाँ नहीं होती।

कुछ लोग तो श्रीमद्भागवत और गरुडादि पुराणोंमें इन नरकोंकी बात पढ़-सुनकर उसे असत्य समझनेमें ही अपनी

बुद्धिमत्ता समझते हैं, जैसे बिल्लीको देखकर कबूतर आँखें मीच लेनेमें ही अपना समाधान समझ बैठता है। परंतु इस तरह आँखें बंद कर लेनेमात्रसे न तो कबूतर बिल्लीसे बच पाता है, न हमलोग अपने कर्मोंके भीषण परिणामोंसे बच सकते हैं। कुछ लोग यह भी तर्क करते हैं कि मनुष्य जब मर जाता है, तब उसका शरीर तो यहीं छूट जाता है, फिर इन दुःखोंको भोगता ही कौन है? पर वे थोड़ा विचार करें तो उन्हें यह मालूम होगा कि सुख-दुःख जितने मन और प्राणको होते हैं, उतने शरीरको नहीं होते। मरनेके बाद मनोमय और प्राणमय कोश तो रहते ही हैं, पार्थिव शरीर छूटनेपर इन्हें आतिवाहिक या यातनादेह भी प्राप्त होते हैं। यातना-शरीर इसको इसीलिये कहते हैं कि यह इस प्रकारके उपादानोंसे बना होता है जिससे वह यातनाभोग ही करता रहता है। वह जलती हुई आगमें दग्ध होनेपर भी नष्ट नहीं होता। यहाँ श्रीमद्भागवत निर्दिष्ट नरकोंका विवरण दिया जा रहा है। इसमें मृत्युके पश्चात् नरकोंमें प्राप्त होनेवाली उन भीषण पीड़ाओंका वर्णन है, जो जीवके उस देहको यमदूतोंद्वारा दी जाती हैं—जैसे जलते हुए तेलके कड़ाहमें गिरना, कोड़ोंकी मारका पड़ना, जलाया जाना, क्षत-विक्षत होना इत्यादि।

ये सब कष्ट जिस शरीरको प्राप्त होते हैं, वही यातनाशरीर है। यह पार्थिव शरीर जलने, गिरने, मरने, मारे जाने आदिके जो-जो कष्ट अनुभव करता है, वे सब कष्ट यातना-शरीरको भी होते हैं। पार्थिव शरीरसे इस शरीरमें विशेषता यह है कि पार्थिव शरीर जलाने आदिसे जल जाता है, अङ्ग-भङ्ग हो जाता है, नष्ट हो जाता है, परंतु यातनाशरीर इन सब कष्टोंको केवल भोगता है, पार्थिव शरीरकी तरह वह नष्ट नहीं होता। यातनाभोगके लिये ही यह शरीर प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवतमें जिन मुख्य २८ नरकोंका वर्णन है, उनके नाम, उनके पात्र और उन्हें प्राप्त होनेवाले दुःखोंका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

नरक-अपराधी और दण्ड

(१) **तामिस्र**—परधन, परस्त्री और परपुत्रका हरण करनेवाला मनुष्य कालपाशसे बाँधा जाकर इस नरकमें ढकेला जाता है। वहाँ उसे भूख-प्यास लगती है, पर खाने-पीनेको कुछ नहीं मिलता। दण्ड-ताडन-तर्जनादि बड़ी पीड़ाएँ दी जाती हैं।

(२) **अन्धतामिस्र**—जो किसी पुरुषको धोखा देकर उसकी पत्नीके साथ समागम करता है तथा जो इस शरीरको आत्मा और धनको आत्मीय समझकर प्राणियोंसे द्रोहकर केवल अपने ही शरीर, स्त्री, पुत्र और कुटुम्बका भरण-पोषण करता है, ऐसे दोनों ही प्रकारके लोग इस नरकमें गिरते हैं। यहाँ उनकी स्मृति भ्रष्ट और बुद्धि विनष्ट हो जाती है।

(३) **रौरव**—निरपराध प्राणियोंकी जो हिंसा करता है, वह इस नरकमें गिरता है, यहाँ वे ही प्राणी महाभयंकर रुरु नामक सर्पसे भी अधिक भयंकर जन्तु बनकर उससे बदला लेते हैं।

(४) **महारौरव**—प्राणियोंको पीड़ा पहुँचाकर जो अपने शरीरका भरण-पोषण करता है, उसे यह नरक प्राप्त होता है। यहाँ रुरुगण उसके शरीरको नोच-नोचकर खाते हैं।

(५) **कुम्भीपाक**—सजीव पशु या पक्षीको मारकर जो उसका मांस राँधता है, वह इस नरकमें गिरकर अपने-आपको जलते हुए तेलके कड़ाहेमें सीझता हुआ पाता है।

(६) **कालसूत्र**—पितर, ब्राह्मण और वेद—इनका द्रोही इस नरकमें गिरता है। वहाँ ताँबेकी दस सहस्र योजन विस्तीर्ण समतल भूमि है, जो सदा जला करती है। इस जलती हुई भूमिपर उसे नीचेसे तो अग्नि जलाती है

भोगेप्सा

असदाचरण (दुर्गुण - दुराचार) और परिणाम

और ऊपरसे सूर्यकी किरणें। अंदरसे भूख-प्यासकी आग भी सताती है। उसकी व्यथा बड़ी ही भयंकर होती है। वह कभी लेटता है, कभी बैठता है, कभी खड़ा होता है, कभी चारों ओर दौड़ता-फिरता है। मारे हुए पशुओंके शरीरमें जितने रोम होते हैं, उतने ही हजार वर्ष उसे ऐसी यातना भोगनी पड़ती है।

(७) असिपत्रवन—आपत्तिकालके बिना भी स्वेच्छासे जो वेदमार्ग छोड़कर पाखण्डमत ग्रहण करता है, वह असिपत्रवनका भागी होता है। यहाँ यमदूत उसे कोड़ोंसे मारते हैं। उस मारकी यातनासे वह इधर-उधर भागता है, पर असिपत्रोंमें दोनों ओर धार रहता है, इससे उसका शरीर छिन्न-भिन्न हो जाता है। अत्यन्त व्याकुल होकर वह बार-बार मूर्च्छित हो-होकर गिरता है।

(८) सूकरमुख—अदण्डनीय व्यक्तिको अन्यायसे अथवा किसी ब्राह्मणको जो शासक या शासकीय अधिकारी शरीरदण्ड देता है, वह इस नरकमें गिरता है। यहाँ वह कोल्हूमें ईखकी तरह दबाया जाता है, जिससे उसके सब अङ्ग टूटने लगते हैं। वह आर्त्तस्वरसे चिल्लाता और बार-बार मूर्च्छित होता है।

(९) अन्धकूप—सब जीवोंकी वृत्ति ईश्वरद्वारा नियत है—यह जानकर तथा किसी भी जीवकी वेदनाको समझनेकी क्षमता रखकर जो मच्छर आदि जीवोंको मार डालता है, वह इस नकरमें गिरता है और यहाँ उसके द्वारा मारे गये सब पशु, पक्षी, साँप, मच्छर, जूँ, खटमल आदि उससे बदला लेते और काटते हैं। घोर अन्धकारमें उसकी निद्रा भङ्ग होती है और कहीं चैनसे ठहरनेकी जगह उसे नहीं मिलती, महाक्लेश उसे निरन्तर होते हैं।

(१०) कृमिभोजन—खानेकी चीज सबको न देकर जो आप ही खाता है, जो पञ्च-महायज्ञ आदि नहीं करता, उसे ऋषिगण कौएके समान विष्ठाभोजी कहते हैं और वह इस नरकमें गिरता है। यहाँ लाखों योजन चौड़ा एक कृमिकुण्ड है, जिसमें गिरकर वह उन कीड़ोंको खाता है और कीड़े उसे खाते हैं।

(११) संदंश—जो कोई चोरी करता है या बलपूर्वक ब्राह्मणके सुवर्ण आदि छीनता है अथवा और किसीका भी सुवर्ण हरण करता है, वह यमदूतोंद्वारा नरकमें लाया जाता है एवं अग्निपिण्ड तथा सन्दंशद्वारा उसका शरीर क्षत-विक्षत किया जाता है।

(१२) तप्तसूर्मि—जो पुरुष या स्त्री अगम्यागमन करते हैं, वे इस नरकको प्राप्त होकर पुरुष स्त्रीकी जलती हुई लोहेकी प्रतिमासे और स्त्री जलते हुए लोहेकी पुरुष-प्रतिमासे लिपटाये जाते हैं।

(१३) वज्रकण्टकशाल्मली—मनुष्येतर योनियोंमें जो सहवास करता है, वह इस नरकमें गिरता है और वज्रतुल्य काँटोंवाली शाल्मलीपर यमदूतोंद्वारा चढ़ाकर घसीटा जाता है।

(१४) वैतरणी—जो शासक अथवा शासनपुरुष उत्तम कुलमें उत्पन्न होकर भी धर्मको दूषित करता है, वह मरकर वैतरणीमें गिरता है। यह एक नदी है, जो सब नरकोंको घेरे हुए है। इसमें हिंस्र जल-जन्तु रहते हैं, जो उसे खा जाते हैं; फिर भी उसके प्राण नहीं निकलते। वह अपने अधर्मका स्मरण करता हुआ विष्ठा, मूत्र, पीब, रुधिर, केश, नख, हड्डी, मेदा, मांस और वसासे परिपूर्ण इस वैतरणीमें बहता रहता और अत्यन्त व्यथित होता है।

(१५) पूयोद—शूद्राके पति होकर जो लोग अपने शौच, आचार और नियमसे पतित होते हैं और बेहया होकर स्वेच्छाचारी बनकर घूमते हैं, वे पीब, विष्ठा, श्लेष्मा और लारसे भरे हुए इस पूयोद नामक नरकसमुद्रमें गिरते और इन्हीं बीभत्स पदार्थोंको भक्षण करते हैं।

(१६) प्राणरोध—जो ब्राह्मण कुत्ते और गधे पालते हैं और शिकार करते हैं, वे इस नरकमें गिरकर यमदूतोंके शरसन्धानके लक्ष्य बनते हैं।

(१७) विशसन—जो केवल दम्भके लिये यज्ञमें पशु-हिंसा करते हैं, वे इस नरकमें गिरते हैं। यहाँ यमदूत उन्हें अनेक यातनाएँ देकर उनके अङ्ग चूर-चूर कर डालते हैं।

(१८) लालभक्ष—द्विजकुलमें उत्पन्न हुआ जो व्यक्ति कामके वश हो सगोत्रा स्त्रीमें गमन करता है उसे शुक्रकी नदी रूप इस नरकमें गिरकर शुक्रपान करना पड़ता है।

(१९) सारमेयादन—दस्युवृत्ति करनेवाले और विषपान करानेवाले लोग तथा गाँवों और काफिलोंको लूटनेवाले राजा या राजसैनिक इस नरकमें गिरते और सात सौ बीस कुत्तोंकी वज्रकराल दाढ़ोंसे चबाये जाते हैं।

(२०) अवीचिमान्—जो साक्षी देनेमें झूठ बोलता है, क्रय-विक्रयमें कम तौलता है, दान देते मिथ्या बोलता है, उसे यमदूत सौ योजन ऊँचे पर्वतके शिखरसे नीचे सिर ऊपर पैर कर निरालम्ब, अवीचिमान् नरकमें गिरा देते हैं। यहाँ स्थल भी पाषाणपृष्ठस्थ तरंगशून्य जलके समान जान पड़ता है। नीचे गिरनेमें प्राणीका शरीर चूर्ण हो जाता है, पर उसके प्राण नहीं निकलते। इस तरह बार-बार वह वहाँसे उठाकर ऊपर लाया जाता और फिर गिराया जाता है।

(२१) अयःपान—जो द्विज, द्विजपत्नी, व्रती जाने या अनजानेमें मद्यपान करते हैं, उन्हें मरनेपर यमदूत पटक देते हैं और छातीपर बलपूर्वक पैर देकर आगमें गला हुआ शीशा पिलाते हैं।

(२२) क्षारकर्दम—स्वयं अधम होकर भी जो अपनेको बड़ा मानता और मारे घमण्डके अपनेसे जन्म, तप, विद्या, सदाचार, वर्ण और आश्रममें श्रेष्ठ पुरुषको आदर नहीं देता, उनका निरादर करता है, वह जीवन्मृत मनुष्य 'क्षारकर्दम' नरकमें गिरता है। वहाँ उसका सिर नीचे हो जाता है और वह अनेक यातनाएँ भोगता है।

(२३) रक्षोगणभोजन—जो लोग अन्य पुरुषोंके प्राण लेकर भैरवादिकी बलि देते हैं और जो स्त्रियाँ मनुष्यों और पशुओंका मांस खाती हैं, वे स्त्री-पुरुष रक्षोगणभोजन नरकमें गिरकर उन्हीं मारे हुए, राक्षसरूपको प्राप्त पशुओं और पुरुषोंद्वारा खड्गसे काटे जाते हैं और उनके भोजन बनते हैं।

(२४) शूलप्रोत—वन या ग्रामके पशु-पक्षी सभी जीना चाहते हैं, उन्हें जो अनेक उपायोंसे विश्वास दिलाकर शूल या सूत्रसे अङ्ग छेदकर उड़ाते या यन्त्रणा देते हैं, वे शूलप्रोत नरकमें गिरते हैं। उन्हें यमदूत शूलीपर चढ़ाते हैं और भूख तथा प्यासके मारे उन्हें तड़पना पड़ता है। कंक, बट आदि तीक्ष्ण चोंचवाले पक्षी उन्हें चोंच मार-मारकर जर्जर कर डालते हैं। तब वे अपने अनाचारोंका स्मरण कर पश्चात्ताप करते हैं।

(२५) दन्दशूक—जो मनुष्य उग्रस्वभाव बनकर प्राणियोंको भयभीत करता है वह मरनेपर दन्दशूक नरकमें गिरता है। वहाँ पञ्चमुख, सप्तमुख विषधर सर्प आकर उन्हें चूहोंकी तरह निगल जाते हैं।

(२६) अवटनिरोध—प्राणियोंको जो अन्धे गढ़े या अन्धे कुएँ या अँधेरी गुफाओंमें बंद कर देते हैं, वे अवटनिरोधन नरकके भागी होते हैं। वे वैसे ही बंद और अन्धस्थानोंमें कैद होते हैं और वहाँके विषमय धुएँसे उनका दम घुटा करता है।

२७-पर्यावर्तन—अतिथि-अभ्यागतके आनेपर क्रोधसे लाल-लाल आँखें निकालकर जो मानो अंगारे बरसाता है, वह पर्यावर्तन नरकमें गिरता है। उसके नेत्र वज्रचञ्चु कंकादि पक्षियोंद्वारा निकाले जाते हैं।

२८-सूचीमुख—धनके गर्वसे जो अपनेको श्रेष्ठ समझता है—दूसरोंको वक्र दृष्टिसे देखता है, गुरुजनोंसे अपने धनके विषयमें सशंक रहता है, धन-व्ययकी चिन्तासे सूखता रहता और यक्षकी तरह उसीकी रक्षामें दक्ष रहता है, उसका सदुपयोग या भोग नहीं करता,

वह मरनेपर सूचीमुख नरकमें गिरकर यमदूतोंद्वारा सुइयोंसे छेदा जाता और सिया जाता है ।

ये अट्ठाईस नरक मुख्य हैं । वैसे साधारण नरक तो सहस्रों हैं । जितने प्रकारके दुष्कर्म हो सकते हैं, उतने ही प्रकारके नरक हैं, ऐसा समझा जा सकता है । पर ये अट्ठाईस नमूने इस बातका अनुसंधान करनेके लिये काफी हैं कि किसी प्रकारके दुष्कर्मका कैसा फल हो सकता है । कर्म और उसका फल किसी वृक्षके बीज और फलके समान ही हैं । इनका परस्पर विच्छेद नहीं हो सकता । यातनादेहसे दुष्कर्मोंके फलभोगके पश्चात् नरकसे उद्धार होकर नया जन्म होता है और यह जन्म यदि मनुष्यजन्म है तो पूर्व कर्मोंके शेष फलको इस नवीन शरीरमें भोगते हुए भावी सुधारनेके साधनका अवसर मिलता है । इसलिये शास्त्रोंका सर्वत्र यही उपदेश है कि पूर्वजन्मार्जित कर्मफलको अपने ही कर्मका फल जानकर इस मनुष्य-शरीरको स्थायी सुख देनेवाले सत्कर्मोंमें लगाना चाहिये ।

शुभाशंसा

श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तो वर्णाश्रमविभूषकः ।
सत्याचारसमायुक्तः सताचारः प्रसीदतु ॥
यस्य संस्थापनार्थाय काले काले जगद्गुरुः ।
अजोऽपिसन्नव्ययात्मा चात्मानं सृजति स्वयम् ॥
रक्षार्थं यस्य धर्मस्य धर्म्याचारस्य सर्वथा ।
धार्मिकाः संस्कृतिज्ञाश्च आर्याः प्राणांश्च तत्यजुः ॥
सोऽयं पीडितो विष्णो ! सदाचारपराङ्मुखैः ।
भ्रष्टाचारेण संतप्तो दुर्बलत्वं गतस्तथा ॥
सदाचारप्रचारार्थं सर्वभूतहिताय च ।
विश्वजन्यां मतिं यच्छ उद्धर्षय मनांसि नः ॥
'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।'

वेदों, धर्मशास्त्रों और पुराणोंमें प्रतिपादित चारों वर्णों और चारों आश्रमोंको सुशोभित करनेवाला, सच्चे व्यवहारसे युक्त सज्जनोंका आचरण—सदाचार विश्वमें फैले और फूले-फले ।

जिस मर्यादारूप सदाचारके प्रतिष्ठापनके लिये समय-समयपर भगवान् अजन्मा और अनश्वर होते हुए भी स्वयं अपनेको प्रकट करते हैं, और जिस धर्म और धर्म्याचारकी सब प्रकारसे रक्षा करनेके लिये ही पुराने धार्मिक और सांस्कृतिक (संस्कारी) आर्यलोगोंने अपने प्राणोंका भी त्याग (बलिदान) किया, हे विष्णो ! वह (धर्म्य सदाचार) आज सदाचारसे पराङ्मुख हुए लोगों-(और व्यवहारों-) द्वारा पीड़ित और भ्रष्टाचारसे संतप्त है । अतः सब प्राणियोंकी भलाईके लिये उस सदाचारके प्रचारार्थ हमें विश्व-कल्याण-कारिणी मति दीजिये और तदर्थ हमारे मनको ऊपर उठाइये । 'वह हमारा मन मङ्गलमय संकल्पवाला हो—'*तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।*'

क्षमा-प्रार्थना और नम्र निवेदन

कलिका प्रभाव तीव्रतासे बढ़ रहा है। जन-जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें अरीति, अनीति, अनाचार, अत्याचार, दुराचार एवं भ्रष्टाचार व्याप्त हो चला है। चारों ओर अनर्थ, अपराध, द्वेष, दुर्भावके काले घने मेघ अन्धकार फैलाते बढ़ते चले जा रहे हैं। सद्व्यवहार, सदाचार और शिष्टता-शालीनताका प्रकाश धुँधला पड़ता जा रहा है। आज विश्व विविध ताप-संतापों और दुःख-द्वन्दोंसे संतप्त है। मानवता दिक्भ्रमित है। विश्वकी कल्याणकारिणी व्यवस्था बिगड़ती जा रही है। देशकी साधारण जनता, धार्मिकजन, संत-महात्मा, आचार्यगण और मान्य मनीषी इस स्थितिको अवाञ्छनीय एवं चिन्त्य अनुभूत कर रहे हैं। उनका अनुभव-निर्देश है कि संसारमें जबतक सदाचारकी पुनःस्थापना नहीं हो जाती तबतक विश्वमें सुख-शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। सदाचारकी उपयोगिता और उपादेयता निर्विवाद है। अपने देश और संस्कृतिके लिये तो वह एकमात्र प्राण-तत्त्व है।

सदाचारके महत्त्वप्रतिपादन, उसकी समसामयिक एवं शाश्वत उपादेयता एवं उपयोगिताको सर्वोपरि स्वीकार करते हुए प्रभुकी कृपा-प्रेरणासे 'कल्याण'ने अपने ५२वें वर्षके विशेषाङ्कके रूपमें 'सदाचार-अङ्क' प्रकाशित करनेका लघु प्रयास किया है। यह जैसा भी बन पड़ा है, कल्याणके प्रेमी पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत है। इस अङ्कमें जो कुछ भी उपयोगी और अच्छी—सदाचार प्रेरक सामग्रियाँ एकत्र हो सकी हैं, उनका सारा श्रेय हमारे उन पूज्यपाद आचार्यों, संत-महात्माओं और श्रद्धेय मनीषियोंको ही है, जिन्होंने अपना अमूल्य समय देकर लोकहितकी दृष्टिसे ऐसी सामग्रियाँ भेजकर हमें सहयोग देनेकी कृपा की है; हम अत्यन्त कृतज्ञ-हृदयसे उन सभी आदरणीय विद्वान् लेखक-महानुभावोंका आभार मानते हैं। उनके सद्भावपूर्ण विचारोंसे 'कल्याण'के लाखों पाठक लाभ उठायेंगे और इससे उन सभी लेखक महानुभावोंको प्रसन्नता भी होगी—ऐसा हमारा विश्वास है। उनकी कृतियोंसे लोगोंको अधिकाधिक प्रेरणा मिले और सदाचारका जन-जनमें प्रचार हो—यही हमारी प्रभुसे मङ्गल-प्रार्थना है।

जिन लेखकोंके लेख हम स्थानाभाव या विलम्बसे आनेके कारण विवशतया विशेषाङ्कमें या यथास्थान प्रकाशित नहीं कर पाये हैं, उन सबसे हम विनीत क्षमाप्रार्थी हैं। हमारी अल्पज्ञताके कारण सामग्रीके चयन, संयोजन, अनुवाद आदि सम्पादन-कार्योंमें अनेक त्रुटियाँ रह सकती हैं, इसी प्रकार मुद्रणमें भी (अक्षर-संयोजन-प्रूफ आदि देखनेमें) असावधानीसे जो भी भूलें रह गयी हैं, उन सबके लिये भी हम सम्मान्य लेखक महानुभावों और पाठक-पाठिकाओंसे क्षमायाचना करते हैं।

इस अङ्कके प्रकाशनसे सदाचारकी हमारी सुप्त, भव्य भावनाएँ कुछ भी जग सकीं, हम असदाचारकी दिशा बदलकर किंचित् भी सदाचारकी ओर प्रवृत्त हो सके तो यह भगवान्‌की मङ्गलमयी कृपाका शुभ परिणाम होगा। वस्तुतः इसमें जो कुछ शुभ तथा सत् है—सब भगवान् एवं संतोंका है, जो असत् और प्रमाद है, वह हमारी अल्पज्ञताका है। पूज्यचरण संत-महात्मा, आचार्य, विद्वान्—सभी महानुभाव हमें ऐसा शुभाशीर्वाद दें, जिससे हम सब और हमारा देश-राष्ट्र अपनी संस्कृति और सदाचारका जीवन व्यतीत करते हुए भगवान्‌के मङ्गलमय स्वरूपको सदा स्मरण रखें। उनकी आज्ञा **'मामनुस्मर युध्य च'** के अनुसार स्वकर्त्तव्योंके यथावत् पालनमें कभी शिथिल न बनें, सर्वदा तत्पर रहें। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

विनीत-प्रार्थी—मोतीलाल जालान

श्रीहरिः

'कल्याण'के नियम

उद्देश्य—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

नियम

(१) भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वर-परक, कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेपरहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदायी नहीं हैं।

(२) इसका डाकव्ययसहित वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें रु० १४.०० और भारतवर्षसे बाहरके लिये रु० २९.२० पैसे (२ पौंड) नियत है। सजिल्द विशेषाङ्क देनेकी व्यवस्था नहीं है।

(३) 'कल्याण'का नया वर्ष जनवरीसे आरम्भ होकर दिसम्बरमें समाप्त होता है, अतः ग्राहक जनवरीसे ही बनाये जाते हैं। वर्षके किसी भी महीनेमें ग्राहक बनाये जा सकते हैं और जनवरीके अङ्कके बादके सब अङ्क भी उन्हें बिना मूल्य दिये जाते हैं। 'कल्याण'के बीचके किसी अङ्कसे ग्राहक नहीं बनाये जाते; छः या तीन महीनोंके लिये भी ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका अङ्क समयपर न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये।

(६) पता बदलनेकी सूचना कम-से-कम १५ दिन पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। पत्र लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये। महीने-दो-महीनेके लिये पता बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये। पता-बदलीकी सूचना न मिलनेपर अङ्क पुराने पतेसे चले जानेकी अवस्थामें उसकी दूसरी प्रति नहीं भेजी जा सकेगी।

(७) जनवरीसे बननेवाले ग्राहकोंको रंग-बिरंगे चित्रोंवाला जनवरीका अङ्क (चालू वर्षका विशेषाङ्क) दिया जाता है। विशेषाङ्क ही जनवरीका तथा वर्षका पहला अङ्क होता है। फिर दिसम्बरतक प्रतिमास अङ्क बिना मूल्य दिये जाते हैं। किसी अनिवार्य कारणवश 'कल्याण' बंद हो जाय तो जितने अङ्क मिले हों, उतनेमें ही वर्षका मूल्य समाप्त समझना चाहिये; क्योंकि केवल विशेषाङ्कका ही मूल्य १४.०० रुपये है।

आवश्यक सूचनाएँ

(८) 'कल्याण'में किसी प्रकारका कमीशन या 'कल्याण'की एजेन्सी किसीको देनेका नियम नहीं है।

(९) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ ग्राहक-संख्या अवश्य लिखनी चाहिये। पत्रमें आवश्यकताका उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिये।

(१०) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है। एक बातके लिये दुबारा पत्र देना हो तो उसमें पिछले पत्रकी तारीख तथा विषय भी देना चाहिये।

(११) ग्राहकोंको मूल्य मनीआर्डरद्वारा भेजना चाहिये। वी० पी० से अङ्क बहुत देरसे जा पाते हैं।

(१२) प्रेस-विभाग, 'कल्याण' व्यवस्था-विभाग तथा सम्पादन-विभागको अलग-अलग समझकर अलग अलग पत्रव्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। 'कल्याण'के साथ पुस्तकें और चित्र नहीं भेजे जा सकते। (प्रेससे २.०० रु०से कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती)।

(१३) चालू वर्षके विशेषाङ्कके बदले पिछले वर्षोंके विशेषाङ्क नहीं दिये जाते।

(१४) मनीआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी संख्या, रुपये भेजनेका उद्देश्य, ग्राहक-नम्बर (नये ग्राहक हों तो 'नया'), पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(१५) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनीआर्डर आदि व्यवस्थापक-'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)के पतेसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि सम्पादक-'कल्याण', पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)के पतेसे भेजने चाहिये।

(१६) स्वयं आकर ले जाने या एक साथ एकसे अधिक अङ्क रजिस्ट्रीसे या रेलसे मँगानेवालोंसे मूल्य कम नहीं लिया जाता।

(१७) आजीवन ग्राहक अब नहीं बनाये जाते हैं। (अतः रुपया भेजनेका कष्ट न करें।)

व्यवस्थापक—'कल्याण', पत्रालय—गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रेष्ठ विचार और सदाचार

लोभः पापस्य बीजं हि मोहो मूलं च तस्य हि।
असत्यं तस्य वै स्कन्धो माया शाखासु विस्तरः ॥
दम्भकौटिल्यपत्राणि कुबुद्ध्या पुष्पितः सदा।
नृशंसं तस्य सौगन्धं फलमज्ञानमेव च ॥
छद्मपाखण्डचौर्येर्ष्याः क्रूराः कूटाश्च पापिनः।
पक्षिणो मोहवृक्षस्य मायाशाखासमाश्रिताः ॥
अज्ञानं यत्फलं तस्य रसोऽधर्मः प्रकीर्तितः।
तृष्णोदकेन संवृद्धिस्तस्याश्रद्धा ऋतुः प्रिय ॥

× × × ×

अस्य च्छायां समाश्रित्य यो नरः परितुष्यते।
फलानि तस्य चाश्नाति सुपक्वानि दिने दिने ॥
फलानां तु रसेनापि ह्यधर्मेण तु पालितः।
स संतुष्टो भवेन्मर्त्यः पतनायाभिगच्छति ॥
तस्माच्चिन्तां परित्यज्य पुमाँल्लोभं न कारयेत्।
धनपुत्रकलत्राणां चिन्तामेव न कारयेत् ॥

(पद्मपु० भूमि० ११। १६–२३)

(सुमना अपने पतिसे कहती है—) 'हे पतिदेव ! पाप एक वृक्षके समान है, उसका बीज है लोभ और मोह उसकी जड़ है। असत्य उसका तना और माया उसकी शाखाओंका विस्तार है। दम्भ और कुटिलता पत्ते हैं। कुबुद्धि फूल है और नृशंसता उसकी गन्ध तथा अज्ञान फल है। छल, पाखण्ड, चोरी, ईर्ष्या, क्रूरता, कूटनीति और पापाचारसे युक्त प्राणी उस मोहमूलक वृक्षके पक्षी हैं, जो मायारूपी शाखाओंपर बसेरा लेते हैं। अज्ञान उस वृक्षका फल है और अधर्मको उसका रस बताया गया है। तृष्णारूप जलसे सींचनेपर उसकी वृद्धि होती है। अश्रद्धा उसके फूलने-फलनेकी ऋतु है। जो मनुष्य इस वृक्षकी छायाका आश्रय लेकर संतुष्ट रहता है, उसके पके हुए फलोंको प्रतिदिन खाता है और उन फलोंके अधर्मरूप रससे पुष्ट होता है, वह ऊपरसे कितना ही प्रसन्न क्यों न हो, वास्तवमें पतनकी ओर ही जाता है। इसलिये पुरुषको निश्चिन्त होकर लोभ (मोह आदि)का त्याग कर देना चाहिये। स्त्री, पुत्र और धनकी चिन्ता तो कभी करनी ही नहीं चाहिये।'